जिनागमसार

कोई तीव्र प्रतिकूलता आ पड़े; कोई उग्र कठोर मर्मच्छेदक वचन कहे, तो शीघ्र ही शरीर स्थित परमानन्दस्वरूप परमात्मा का ध्यान करके शरीर का लक्ष्य छोड़ देना; समताभाव करना।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या ९५, पृष्ठ ६७)

जीवन में कोई बार पहाड़ जैसी प्रतिकूलताएँ आ पड़ें, तो भी आत्मश्रद्धा गँवाना नहीं। मन को समतोल रखना। किसी भी दु:ख का सुलझाव (हल; समाधान; उपाय) एवं अन्त होता है। तुझे किसी अन्य के सहारे की जरूरत नहीं है। तेरा ज्ञायक तेरे पास ही है।

—पू० बहिनश्री चम्पाबेन

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल
देहरादून—२४८००१

प्रेरणा :
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन,
मै० आजाद ट्रेडिङ्ग कम्पनी,
जैन मन्दिर के नीचे, चौक बाजार,
बुलन्दशहर-२०३००१

सङ्कलन एवं सम्पादन :
पवन जैन,
'विमलांचल', हरी नगर,
अलीगढ़-२०२००१

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल,
३२, गांधी रोड,
देहरादून-२४८००१

कम्प्यूटर टाइप सेटिङ्ग :
टैली कम्प्यूटर्स,
किशोरी भवन, अन्सारी रोड
बुलन्दशहर-२०३००१

—प्रथमावृत्ति—३०००

—विक्रम सम्वत् २०५२; वीर निर्वाण सम्वत् २५२२; ३० अक्टूबर १९९६

— मूल्य २१.०० रुपये मात्र

मुद्रक :
श्री इन्द्रजीत शर्मा
लक्ष्मी प्रिन्टिङ्ग वर्क्स
लाल कुआँ, दिल्ली-११०००६

'जिनागमसार' के लिये सम्पर्क करें-

१. **श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर,**
३२, गान्धी मार्ग, देहरादून—२४८००१
✆ ०१३५—६५१९००

२. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
ए—४, बापूनगर, जयपुर—३०२०१५
✆ ०१४१—५१५५८१, ५१५४५८

३. **श्री हीराभाई भीखाभाई शाह**
५७—५८, कहाननगर सोसायटी,सोनगढ़—३६४२५० (सौराष्ट्र)

४. **श्री हेमन्तभाई गान्धी,**
लाटी उटारा, सोनगढ़—३६४२५०

५. **श्री प्राणभाई पी० कामदार,**
३२, कहाननगर, २७१/२९१, एन० सी० केलकर रोड,
दादर (वेस्ट), मुंबई—४०००२८

६. **श्री बसन्तभाई जे० दोशी**
१३, जयलक्ष्मी, १७३—१२, एम० जी० रोड,
बैंक ऑफ इण्डिया के सामने, घटकोपर, मुंबई—४०००८६
✆ ०२२—५१३३९७४

७. **श्री शीतलप्रसाद जैन**
आजाद ट्रेडिङ्ग कम्पनी,
जैन मन्दिर के नीचे, चौक बाजार, बुलन्दशहर—२०३००१
✆ ०५७३२—२४५१८, २५२२४

८. **श्री कान्ति प्रसाद जैन**
१/५५९५, गली नं० १४, बलबीर नगर विस्तार
शाहदरा, दिल्ली—११००३२ ✆ ०११—२२७२५३६

९. **श्री पदमचन्द जैन (सर्राफ)**
चैतन्यसदन, ३/२८६ ए०, एम० जी० रोड
आगरा—२८२०१० ✆ ०५६२—२६०५३५, २६०२१५

१०. **पवन जैन**
'विमलांचल', हरीनगर, अलीगढ़—२०२००१
✆ ०५७१—४१०३९५, फैक्स—४१००१९

११. **पावना ग्रुप ऑफ इन्डस्ट्रीज,**
१०/११३६, नाईवाला, करोलबाग,
नई—दिल्ली—११०००५
✆ ०११—५७३१९९८, फैक्स—५७१९६६३

आभाराभिव्यक्ति

सर्वप्रथम पूज्य पिताजी पण्डित कैलाशचन्द्रजी जैन के चरणों में प्रणाम। पूज्य पिताजी मेरे जनक होने के साथ-साथ मेरे प्रेरणा के स्रोत और सत् पथप्रदर्शक भी हैं। पूज्य माताजी (श्रीमती विमलादेवी जैन) के निधन के समय मैं सोलह वर्ष का किशोर ही था। पूज्य पिताजी ने लालन-पालन के साथ साथ ही मुझे सस्कारित भी किया; साक्षर बनाया; स्वाध्याय, श्रवण, मनन का अभ्यास कराया; और सर्वोपरि बीसवीं शताब्दी के अद्वितीय महामनीषी, आध्यात्मिक सन्त, अपूर्व धर्म-व्याख्याता, परमश्रद्धेय, परमपूज्य गुरुदेवश्री श्रीकानजीस्वामी के दिव्यदर्शन, सानिध्य, एवं आशीर्वचन सुलभ कराये। 'जिनागमसार' पूज्य पिताजी के शुभाशीष एवं सत्प्रेरणा का ही सुफल है।

उन आदि तीर्थङ्कर सर्वज्ञदेव, अपरगुरु श्रीगणधरादि, श्रीमद्भगवतकुन्दकुन्दाचार्यदेवसहित समस्त आचार्यगणों, भावलिङ्ग सन्तों और ज्ञानियों को पुनः पुनः नमन, जिनकी दिव्यवाणी 'जिनागमसार' का प्राणाधार है। मैं नहीं जानता कि उनकी दिव्यवाणी को 'जिनागमसार' में साकार करने में मुझे कितनी सफलता मिली है? मेरे-जैसे एक सामान्य, अल्पबुद्धि, अज्ञानी मानव में दिव्यवाणी को इस रूप में प्रस्तुत करने की शक्ति, सामर्थ्य, और योग्यता भला कहाँ थी? 'जिनागमसार' उन्हीं के अनुग्रह का फल है।

'जिनागमसार' में मैंने शताधिक ग्रन्थों से वचन उद्धृत किये हैं। मैं उन सभी ग्रन्थों के मनीषी लेखकों, टीकाकारों, आदि के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के श्रीचरणों में सादर, सविनय, असंख्य नमन-प्रणाम। यह पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना का ही प्रताप है कि धर्म अपनी समस्त विकृतियों एवं कृत्रिमताओं से परिशुद्ध हो कर आज अपने भव्यतम, पवित्रतम, मौलिकतम रूप में सर्वत्र सुशोभित है। 'जिनागमसार' पूज्य गुरुदेवश्री के ही चरणों के प्रताप का परिणाम है। मैं सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे गुरु के रूप में ऐसे सन्त सुलभ हुए।

नीति के आचार्य चाणक्य ने ठीक ही कहा है-

-'एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्॥'

[अर्थात्- जो गुरु शिष्य को एक ही अक्षर का उपदेश करता है, पृथ्वी पर ऐसा (कोई) द्रव्य नहीं है जिसको देकर शिष्य उससे उऋण हो जाये।]

लेकिन, जिन्होंने पैंतालीस से भी अधिक वर्षों तक अपनी दिव्यदेशना के मुमुक्षु-समाज को निरन्तर 'आत्मा' शब्द से परिचित कराया, सन्मार्ग का दर्शन कराया, धर्म का सम्यक् स्वरूप समझाया -ऐसे परम पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के ऋण से कौन उऋण हो सकता है? पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीचरणों में शत-शत नमन, शत-शत प्रणाम।

पूज्य बहनश्री चम्पाबेन, जिनकी आध्यात्मिक उपलब्धि, प्रतिभा, एवं विद्वता की सराहना स्वयं पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने श्रीमुख से अपने अनेकानेक प्रवचनों में की है, बालपन से ही मेरी असीम श्रद्धा का केन्द्र रही हैं। 'जिनागमसार' में पूज्य बहनश्री के वचनामृतों को स्थान-स्थान पर समाहित किया गया है। मैं पू० बहनश्री के चरणों में अपनी श्रद्धा और आभार का भावहार अर्पित करता हूँ।

'जिनागमसार' के निर्माण काल में उठनेवाली प्रत्येक जिज्ञासा, शङ्का, और प्रश्न का जैनदर्शन के अनेक प्रख्यात विद्वान मनीषियों ने प्रत्यक्षत: अथवा पत्रोत्तर द्वारा निराकरण कर मुझे उपकृत किया है। मैं परमादरणीय पण्डित श्री हिम्मतलाल जेठालालशाह, सोनगढ़; बाबू श्री जुगलकिशोरजी 'युगल', कोटा; पण्डित श्री शशिभाई सेठ, भावनगर; डा० हुक्मचन्दजी भारिल्ल, जयपुर; पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल, जयपुर; पण्डित श्री प्राणभाई पी० कामदार, सोनगढ़; और श्री हेमन्त भाई गान्धी, मुम्बई का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग के बिना 'जिनागमसार' को उसका वर्तमान स्वरूप प्राप्त होना कठिन था।

मैं आदरणीय ब्रह्मचारी चन्दूभाई झोबालिया, पण्डित ब्रजलाल शाह (बिज्जू भाई), इंजीनियर पवन कुमार जैन, ब्र० आशा बहन, ब्र० कोकिला बहन, श्री हीराभाई शाह, एवं भाई जीतू मोदी (सभी सोनगढ़) से समय-समय पर प्राप्त अमूल्य सहयोग के लिये बड़ा कृतज्ञ हूँ। ये सब मेरे हितैषी स्वजन हैं। इनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हुए मैं अपने को परम सौभाग्यशाली, गौरवान्वित, एवं कृतकृत्य मानता हूँ।

देहरादून के विख्यात एडवोकेट श्री आर० के० जैन की पत्नी श्रीमती वीना जैन तो हमारे परिवार की अङ्ग ही हैं। श्रीमती वीना जैन ने मेरी अस्वस्थता के कारण मेरे अनुरोध पर 'जिनागमसार' के 'गुण' और 'पर्याय'- इन दो प्रकरणों का लेखन किया है। समय-समय पर मेरे लिये अपेक्षित प्रमाणों एवं सन्दर्भों की खोज कर और 'जिनागमसार' के प्रकाशन से पूर्व उसे आद्योपान्त पढ़कर अनेकानेक अशुद्धियों/भूलों को ठीक करके मुझे जिस प्रकार उपकृत किया है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं। मैं वीनाजी को उनके प्रभावी लेखन के लिये बधाई देता हूँ और उनके अनमोल सहयोग के लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

डा० वेदराम वेदार्थी, साहित्यरत्न, सिद्धान्तशास्त्री, विद्यावाचस्पति, एम० ए० (राजनीति), एम० ए० (मनोविज्ञान), एम० एड०, पी०-एच० डी० (शिक्षा), महानगर अलीगढ़ में जन-जन की श्रद्धा के केन्द्र हैं। वयोवृद्ध वेदार्थीजी ने 'जिनागमसार' की प्रूफ-रीडिङ्ग तथा विरामविधान में सहयोग देकर, और इस ग्रन्थ को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिये समय-समय पर परामर्श देकर मुझे प्रोत्साहित एवं उपकृत किया है। एतदर्थ वे मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। मैं उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

कुमारी अर्चना सक्सैना एक सुदक्ष टाइपिस्ट हैं। उन्होंने प्रात: सात बजे से लेकर निशागमन तक निरन्तर एक वर्ष से अधिक सक्रिय रहकर 'जिनागमसार' की पाण्डुलिपि को सहज मुस्कान, श्रद्धा, और नि:स्वार्थ भाव से टाइप किया है। मैं अर्चना जी की एकाग्रता, कर्मठता, तत्परता, दक्षता, एवं योग्यता की मुक्त कण्ठ से सराहना करता हूँ और उनके सतत सहयोग के लिये उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

श्री शीतलप्रसाद जैन, बुलन्दशहर, जिन्होंने 'जिनागमसार' के लिये कागज, मुद्रण, प्रकाशन, आदि की पूर्ण व्यवस्था अत्यन्त तत्परता और प्रसन्नता से की, मेरे अग्रज हैं। अग्रज-परिवार के सभी सदस्यों ने इस पुनीत कार्य को समापन तक पहुँचाने में अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार अपना-अपना सहयोग प्रदान किया है। वह चिरस्मरणीय है। मैं अपने आदरणीय अग्रज के प्रति श्रद्धानवत हूँ।

और, श्रीमती आशा जैन, मेरी पत्नी- ने 'जिनागमसार' के निर्माणकाल में प्रारम्भ से समापन तक एक सहज साथी, स्वाभाविक मित्र, और समर्पित सेविका के रूप में मेरा साथ दिया- माँग करते ही सन्दर्भ-ग्रन्थ निकाल कर, सुख-सुविधा की सामग्री जुटाकर, 'जिनागमसार' को सुन्दरतम बनाने के लिये अहर्निशि प्रेरणा देकर, और उसके प्रकाशनार्थ मुक्त हृदय से पर्याप्त धन जुटाकर। आशाजी के सम्बन्ध में औपचारिकताओं के पचड़े में पड़ने की अपेक्षा मौन कृतज्ञता-ज्ञापन ही पर्याप्त है।

'जिनागमसार' की कम्प्यूटर टाइप-सैटिङ्ग 'टैली कम्प्यूटर्स', बुलन्दशहर के श्री रोहित भार्गव (लूनाजी) ने की है। अस्वस्थ होनेपर भी लूनाजी ने तन्मयता पूर्वक अपने दायित्व का निर्वाह किया और सहज मुस्कान के साथ तब तक संशोधन पर संशोधन करते रहे, जब तक मैं पूर्णतया सन्तुष्ट न हुआ। मैं श्री रोहित भार्गव और उनके पथ प्रदर्शक एवं उनके सहयोगी माता-पिता के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में, मैं अपने प्रत्येक सहयोगी, जिसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग मुझे 'जिनागमसार' के सङ्कलन, सम्पादन, मुद्रण, अथवा व्यवस्था में प्राप्त हुआ, के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

'द्रव्य-गुण-पर्याय' और उनके सम्यग्ज्ञान के सुफल 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' के रूप में निबद्ध 'जिनागमसार' के सम्पादन/सङ्कलन के फलस्वरूप मुझे और अध्येताओं को 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र' की प्राप्ति हो- यही कामना है, यही भावना है।

पवन जैन

'विमलाँचल'
हरी नगर, अलीगढ़-२०२००१
अक्टूबर ३०, १९९६

देह से भिन्नता कर लेना ही योग्य है

मरण का समय कोई पूछकर नहीं आयेगा कि 'लो अब तुम्हारे मरने का समय आ गया है। अरे! स्वप्न जैसा संसार है। किसका कुटुम्ब और किसकी मकान-मल्कियत? देखते-देखते ही क्षणमात्र में देह छूट जायेगी। कुटुम्ब, कीर्ति, और मकान सब यहीं धरे रह जायेंगे। अन्तर से भगवान (आत्मा) को पृथक् किया होगा, तो मरण समय वह पृथक् रहेगा। जो देह से भिन्नता न की होगी, तो मरण समय भयाकुलता की चक्की में पिस जायेगा। अत: अवसर है! देह से भिन्नता कर लेना ही योग्य है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, परमागमसार, बोल संख्या ८७, पृष्ठ २२)

दो शब्द और...

श्रुत तो अनन्त है, लेकिन काल थोड़ा है। इस थोड़े से काल में अपना कल्याण कर लेना ही सर्वाधिक योग्यता है। आचार्य पद्मनन्दिदेव ने ठीक ही कहा है-

'अल्पायुषामल्पधियामिदानीं कुतः समस्तश्रुतपाठशक्तिः।
तदत्र मुक्तिं प्रति बीजमात्रमभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात्॥'

अर्थ- वर्तमान काल में मनुष्यों की आयु अल्प और बुद्धि अतिशय मन्द हो गयी है; इसलिये, उनमें समस्त श्रुत के पाठ की शक्ति नहीं रही है। इस कारण उन्हें यहाँ उतने ही श्रुत का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिए जो मुक्ति के प्रति बीजभूत हो कर आत्मा का हित करनेवाला है।

(श्रीपद्मनन्दि पञ्चविंशतिः, धर्मोपदेशामृतम्, गाथा १२७ व अर्थ, पृष्ठ ४९)

यह बात दूसरे मतो के नीतिकारों ने भी कही है-

'अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूत तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुध्यात्॥'

अर्थ- शास्त्र अनन्त हैं और विद्या बहुत। काल थोड़ा है और विघ्न बहुत। इस कारण जो सार है, उसको ले लेना उचित है; जैसे, हंस जल के मध्य से दूध ले लेता है।

(चाणक्यनीतिदर्पण, पन्द्रहवाँ अध्याय, श्लोक १० व अर्थ)

श्रुत के इस अनन्त सागर में 'जिनागमसार' एक छोटी-सी बूँद के समान है; लेकिन इस बूँद में अज्ञानतावश कोई अशुद्धि न आ जाये, इसके प्रति पूरी सावधानी बरतने का प्रयास किया गया है।

'जिनागमसार' मे महान पूर्वाचार्यों द्वारा रचित श्रुत के अतिरिक्ति, मान्य ज्ञानी मनीषियों के वचनों को ही उधृत किया गया है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी, पण्डित दीपचन्द जी काशलीवाल, पाण्डे राजमल्ल जी, कविवर पण्डित बनारसीदास जी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, पूज्य बहनश्री चम्पाबेन, आदि के वचनों को निःसङ्कोचभाव से इस ग्रन्थ में समाहित किया गया है। अपनी ओर से न तो कुछ बढ़ाया गया है, न कुछ घटाया गया है। हाँ, आवश्कतानुसार जहाँ-तहाँ आचार्यों एवं ज्ञानी मनीषियो के भावों को स्पष्ट अवश्य किया गया है, किन्तु प्रमाणपूर्वक।

तथापि, ग्रन्थ-निर्माण के समय यह आशङ्का बनी ही रही कि अल्पबुद्धि और अज्ञानता के कारण तत्त्व, भाव, अथवा परम्परा-सम्बन्धी कोई भूल न हो जाये। अतः 'जिनागमसार' के प्रकाशन से पूर्व पूरे ग्रन्थ की आठ फोटो प्रतियाँ जैनदर्शन के मूर्धन्य विद्वान मनीषियों को व्यक्तिगत पत्रवाहकों द्वारा इस निवेदन के साथ भेजी गयीं कि यदि इसमें तत्त्व, भाव, अथवा परम्परा-सम्बन्धी कोई त्रुटि कहीं रह गयी हो तो सूचित करें, जिससे ग्रन्थ में सुधार किया जा सके। साथ ही, प्रत्येक मनीषी विद्वान को प्रत्येक दूसरे-तीसरे दिन कोरियर-सेवा से पत्र भेजकर एवं टेलीफोन से सम्पर्क कर निरन्तर स्मरण कराया जाता रहा।

मैं उन सब मनीषी विद्वानों का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने अपनी अस्वस्थता एवं अतिव्यस्तता के बावजूद 'जिनागमसार' का अवलोकन कर इसे शुद्धतम, भव्यतमरूप में प्रस्तुत करने में मुझे अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया।

परमादरणीय बाबू श्री जुगलकिशोर जैन 'युगल', कोटा ने ब्रोन्काइटिस्; डा० हुकुमचन्द जी भारिल्ल, जयपुर ने नेत्ररोग-ग्रस्तता और दशलक्षण की मुंबई-दिल्ली की पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम -सम्बन्धी व्यस्तता; पूज्य पिताजी पण्डित कैलाशचन्द्र जी जैन ने अपने हृदय-रोग; ब्र० आशा बहन, सोनगढ़ ने परिवार में वैराग्य प्रसङ्ग; श्री नागरदासजी मोदी, सोनगढ़ ने हिन्दी के अल्पज्ञान; तथा डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच ने व्यस्त होनेपर भी 'जिनागमसार' का यथासम्भव/आद्योपान्त अवलोकन कर अपनी सहमति प्रदान की। श्री हेमन्तभाई गान्धी, सोनगढ़, प्रवचन के लिये लन्दन गये हुए थे; किन्तु अपने मित्र के असाधारणरूप से बीमार हो जाने के कारण उन्हें बीच में ही लौट आना पड़ा। प्रतिकूल परिस्थिति एवं समयाभाव के बावजूद उन्होंने 'जिनागमसार' को देखा और सराहा। मैं इन सभी के प्रति अपनी विशेष विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

'जिनागमसार' लगभग ९०० पृष्ठों का एक विशालकाय ग्रन्थ है। उसके मुद्रण-काल में इस प्रश्न पर अनेकबार विचार किया गया कि इसे एक खण्ड में रखना उचित रहेगा अथवा दो खण्डों में? समस्या के समस्त पक्षों पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श करने के उपरान्त अन्त में इसे एक ही खण्ड में रखने का निर्णय लिया गया। यद्यपि इससे कुछ अध्येताओं को कुछ असुविधा हो सकती है। यों भी धर्म ग्रन्थ को किसी अपरिहार्य कारण के बिना विभक्त करना उचित नहीं माना जाता।

'जिनागमसार' के कतिपय अध्येताओं को उसमें अनेक स्थानों पर पुनरुक्तिदोष भी प्रतीत हो सकता है। यहाँ प्रश्न उठता है : पुनरुक्तिदोष क्या है? मनीषी विद्वानों का मत है कि समान प्रसङ्ग में समान कथन की एक अथवा अनेक बार आवृत्ति पुनरुक्तिदोष है। 'जिनागमसार' में कथनों की पुनरावृत्ति तो हुई है, किन्तु विभिन्न प्रसङ्गों तथा विभिन्न सन्दर्भों में हुई है। यह पुनरावृत्ति पुनरुक्तिदोष नहीं, अपितु विषय की गम्भीरता एवं व्यापकता के कारण अङ्गीकृत अनिवार्यता है।

'जिनागमसार' में भाव, तत्त्व, एवं परम्परा की शुद्धता के साथ-साथ व्याकरण, विरामविधान, आदि की शुद्धता की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया गया है। इस कार्य में अलीगढ़ के प्रमुख शिक्षाविद् एवं व्याकरण-विशेषज्ञ डा० वेदराम वेदार्थी का निरन्तर, निःस्वार्थ सहयोग मुझे मिला है। इतने पर भी 'जिनागमसार' के सुविज्ञ अध्येताओं को यदि कहीं अशुद्धियाँ प्रतीत हों, तो उन्हें मेरी अज्ञानता और अल्पबुद्धि का परिणाम मानकर क्षमा करें। विद्वानों से विनती है कि 'जिनागमसार' का सही भाव ही ग्रहण करें। सुविज्ञ अध्येताओं से आग्रह है कि वे 'जिनागमसार' में पायी गयी त्रुटियों की सूचना, और ग्रन्थोपयोगिता-सम्बन्धी अपने बहुमूल्य सुझावों से मुझे अनुग्रहीत करना न भूलें।

सम्पादक

मेरा आत्मा कैसा : सिद्ध भगवान जैसा

हे जीव! एक बार हर्ष तो ला कि 'अहो! मेरा आत्मा ऐसा!' कैसा? कि सिद्ध भगवान जैसा। सिद्ध भगवान जैसी ज्ञान-आनन्द की परिपूर्ण शक्ति मेरे आत्मा में भरी पड़ी ही है, मेरे आत्मा की शक्ति नष्ट नहीं हो गयी है। 'अरेरे! मैं दब गया, विकारी हो गया, अब मेरा क्या होगा?' इस प्रकार डर मत, हताश न हो। एकबार स्वभाव का हर्ष ला, स्वरूप का उत्साह प्रगट कर, उसकी महिमा लाकर अपने पुरुषार्थ को उछाल, तो तुझे अपने अपूर्व आह्लाद का अनुभव होगा और तू सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या २३४, पृष्ठ १४०)

वे काले-कौए हैं

श्मशान में फूले पड़े मुर्दों को खाने में काले-कौओं को (चीलों; गिद्धों को) मजा आता है। ऐसे ही यह हृष्ट-पुष्ट दिखता शरीर फूले मुर्दे के समान है। जो इसमें (शरीर में) सुख मानते हैं, वे सभी काले-कौओं के समान हैं।

(पूज्य गुरुदेवश्री, परमागमसार, बोल संख्या ३१८, पृष्ठ ७३)

प्राक्कथन

अनादिकाल से परमगुरु सर्वज्ञदेव, अपरगुरु-गणधरादि, और उसी परम्परा में आचार्यों ने जिस वस्तुस्वरूप का वर्णन किया है, वही वस्तुस्वरूप पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने ४६ वर्षो तक जन-जन तक पहुँचाया। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों में जो वस्तुस्वरूप आया, सोनगढ़ में समय-समय पर लगनेवाले धार्मिक शिक्षण-शिविरो मे आदरणीय श्री रामजी भाई, सेठ श्री खीमचन्द्र भाई, आदि विद्वानो ने अपनी कक्षाओ मे जो पढ़ाया, और जो मैंने स्वय अनुभव किया, वह सब मैं सदा प्रश्नोत्तर के रूप मे लेखबद्ध करता रहा। इस तरह धीरे-धीरे सरल प्रश्नोत्तरों के रूप मे समस्त जैन-शासन का सार लिपिबद्ध हो गया।

प्रश्नोत्तरो के रूप मे लिपिबद्ध इस सामग्री को श्री मुमुक्षु मण्डल देहरादून, बुलन्दशहर, और शाहदरा ने 'श्रीजैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला' के आठ भागो मे प्रकाशित कराया। मुमुक्षु समाज के आग्रह एव माँग के कारण समय-समय पर इनके अनेक सस्करण प्रकाशित कराये गये। कभी-कभी कुछ जिज्ञासु मुमुक्षुओ के मस्तिष्क मे यह प्रश्न उठता था कि इन पुस्तकों में प्रकाशित प्रश्नोत्तरो का 'आगम-आधार' क्या है? मेरे पुत्र पवन जैन ने इस समस्या के समाधान के लिये शास्त्राधारो को खोजने का कार्य करने की इच्छा व्यक्त की और मेरी स्वीकृति के पश्चात् डेढ़ वर्ष से अधिक समय तक निरन्तर प्रयास कर उसने जैनधर्म में प्रवेश के मूल आधार और वास्तव में, 'जिनागम के सार'-'द्रव्य, गुण, पर्याय'-के सम्बन्ध मे उठनेवाले समस्त प्रश्नों के उत्तर यथासम्भव शास्त्राधारों के साथ सङ्कलित कर लिये। इस ग्रन्थ को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिये 'द्रव्य-गुण-पर्याय' को सम्यक् प्रकार से जानने के फल के रूप मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र प्रकरणों को भी इसमे सम्मिलित कर लिया गया।

मेरी मान्यता है कि सत्य का स्वरूप और जिनागम का रहस्य समझ में न आने का मुख्य कारण जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का ज्ञान/बोध न होना और अपनी निराधार/शास्त्रविरुद्ध मान्यताओं के अनुसार शास्त्रों का अभ्यास करना है। परिणामस्वरूप जीव स्वयं की अज्ञानता के कारण मोक्षमार्ग से भटककर संसारमार्ग का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करने लगते हैं।

यदि स्वाध्याय में रुचि रखनेवाले मुमुक्षु किसी भी अनुयोग के शास्त्राभ्यास से पहले निम्न

प्रश्नोत्तरों का मनन करलें तो उन्हें शास्त्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझने में सुविधा रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रश्न १- शास्त्रों के प्रत्येक वाक्य का अर्थ करते हुए क्या विचारना चाहिए?

उत्तर- प्रत्येक वाक्य का अर्थ करते हुए चार बातों का विचार करना चाहिए- (१) **जिन**[1], **जिनवर**[2], और **जिनवरवृषभ**[3] क्या कहते हैं, (२) जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों के कथन को पढ़ और सुनकर ज्ञानी क्या विचारते और करते हैं, (३) जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों के कथन को पढ़ और सुनकर मिथ्यादृष्टि लेकिन सम्यक्त्व के सम्मुख पात्र भव्य जीव क्या विचारते और करते हैं; और (४) जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों के कथन को पढ़ और सुनकर मिथ्यादृष्टि दीर्घ संसारी जीव क्या विचारते और करते हैं?

प्रश्न २- जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों ने शास्त्रों में क्या बताया है और उसका क्या लाभ है?

उत्तर- जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों ने शास्त्रों में वस्तुस्वरूप (पदार्थों का यथार्थस्वरूप) बताया है। वस्तुस्वरूप के ज्ञान, श्रद्धान, और आचरण से अनादि का दुःख दूर होकर सच्चे अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति होती है।

प्रश्न ३- वस्तुस्वरूप क्या है?

उत्तर- 'अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती।' 'तथा उन्हें यथार्थ मानना और परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगी- ऐसा मानना, सो ही दुःख दूर होने का उपाय है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५२)

'जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, और काल लोकप्रमाण असंख्यात हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण में प्रत्येक समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण ध्रुव रहता है। प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण में इसी प्रकार होता

---

१. **जिन**- मिथ्यात्व और रागादि जीते होने के कारण असंयत-सम्यग्दृष्टि आदि एकदेश जिन हैं। (यहाँ 'आदि' का अभिप्राय चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि, पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक, और छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती भावलिङ्गी मुनि से है।)

२. **जिनवर**- उनमें (जिनों में) जो वर अर्थात् श्रेष्ठ हैं, वे गणधरदेव हैं।

३. **जिनवरवृषभ**- उन जिनवरों के (गणधरों के) भी जो वृषभ अर्थात् प्रधान हैं, वे जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थङ्कर-परमदेव हैं।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १, पृष्ठ ५-६)

रहा है, होरहा है, और होता रहेगा।

(आधार-श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, गाथा ९९ का भावार्थ तथा श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९-३०[1] का भावार्थ)

प्रश्न ४- जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों के कथन को पढ़-सुनकर ज्ञानी क्या विचारते और करते हैं?

उत्तर- ज्ञानी को केवलज्ञानी के समान वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो चुका है। मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का अन्तर रहा है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को पुन: पुन: विचारकर, अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव में विशेष स्थिरता कर, श्रेणी माँडकर ज्ञानी सिद्धदशा की प्राप्ति कर लेते हैं।

प्रश्न ५- जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों के कथन को पढ़-सुनकर मिथ्यादृष्टि लेकिन सम्यक्त्व के सम्मुख पात्र भव्य जीव क्या विचारते और करते हैं?

उत्तर- सम्यक्त्व के सम्मुख पात्र भव्य जीव विचारते हैं कि अहो! जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों का कथन वस्तुस्वरूप तथा प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता बतानेवाला और महान उपकारी है। उनके कथन पर पूर्ण विश्वास करने और श्रद्धान करने से उन्हें भी ज्ञानी की तरह वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। वे भी ज्ञानी की तरह अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव में विशेष स्थिरता कर, श्रेणी माँडकर सिद्धदशा की प्राप्ति कर लेते हैं।

प्रश्न ६- जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों के कथन को पढ़-सुनकर मिथ्यादृष्टि दीर्घ संसारी जीव क्या विचारते और करते हैं?

उत्तर- जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभों के कथन का सही स्वरूप न जानकर वे अपनी मान्यता के अनुसार ही प्रवृत्ति करते हैं अथवा उनके कथन का विरोध करते हैं। परिणामस्वरूप अपने अनादि के मिथ्यात्व की पुष्टि करके, चारों गतियों में घूमते हुए, निगोद चले जाते हैं।

प्रश्न ७- निज कल्याण के लिये शास्त्राभ्यास से पूर्व किन बातों का निर्णय करना चाहिए?

उत्तर- पाँच बातों का निर्णय करना चाहिए-

१. व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध एक द्रव्य का उसकी पर्याय में ही होता है; दो द्रव्यों में कभी नहीं होता;

२. अज्ञानी का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध शुभाशुभ विकारीभावों के साथ तो कहा जा सकता है, लेकिन परद्रव्यों अथवा द्रव्यकर्मों के साथ किसी भी अपेक्षा नहीं है;

३. ज्ञानी का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध शुद्धभावों के साथ है;

---

१. 'सद् द्रव्यलक्षणम्॥ २९॥' 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्॥ ३०॥'
(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९ व ३०, पृष्ठ ३५२ व ३५५)

४. 'मैं आत्मा व्यापक और शुद्धभाव मेरा व्याप्य'- इस विकल्प से भी धर्म की प्राप्ति नहीं होगी; और

५. 'मैं अनादिअनन्त ज्ञायक भगवान हूँ। मेरी पर्याय में मेरी ही मूर्खता से अनादिकाल से एक-एक समय करके बहिरात्मपना चला आ रहा है'- ऐसा जाने-माने तो बहिरात्मपने का अभाव करके अन्तरात्मा बन सकता है।

उक्त पाँच बातों का निर्णय करके शास्त्राभ्यास करने से कल्याण का अवकाश है।

प्रश्न ८- अपने हित के लिये क्या निर्णय करना जरूरी है?

उत्तर- निम्न बातों का स्वीकार अर्थात् निर्णय करना जरूरी है-

१. सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है;

२. सम्यग्दर्शन से पहले सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यान, आदि नहीं होते, क्योंकि ये क्रियाएँ प्रथम पाँचवें गुणस्थान में शुभभावरूप से होती हैं;

३. शुभभाव ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को होते हैं। अन्तर इतना है कि अज्ञानी उन्हें धर्म का कारण, हितकारी, सुखकारक, और उपादेय मानता है जबकि ज्ञानी उन्हें संसार (बन्ध) का कारण, अहितकारी, दुःखकारक, और हेय मानता है। वह (ज्ञानी) उससे धर्म का होना कदापि नहीं मानता;

४. इससे ऐसा नहीं समझना कि धर्मी को शुभभाव होता ही नहीं; किन्तु वह शुभभाव को धर्म अथवा उससे क्रमशः धर्म होगा, ऐसा नहीं मानता क्योंकि अनन्त वीतराग देवों ने उसे बन्ध का कारण कहा है;

५. 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणमित, प्रभावित, लाभ-हानि, जीवन-मरण, सहायता, उपकार, अपकार, आदि कुछ भी नहीं कर सकता है'- ऐसी प्रत्येक द्रव्य, गुण, और पर्याय की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता अनन्त ज्ञानियों ने पुकार-पुकार कर कही है;

६. जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होनेपर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है। इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके, सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो। **-श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २१३; और**

७. पहले गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों को शास्त्राभ्यास, अध्ययन, मनन, ज्ञानीपुरुषों का धर्मोपदेश श्रवण, निरन्तर उनका समागम, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दान, आदि के शुभभाव होते हैं; किन्तु पहले गुणस्थान में सच्चे व्रत, तप आदि नहीं होते।

(आधार-छहढाला, श्रीरामजी माणेकचन्द दोशी जी की भूमिका, पृष्ठ ११)

प्रश्न ९- जैन शास्त्रों के अर्थ समझने की सही पद्धति क्या है?

उत्तर- प्रत्येक वाक्य के पाँच प्रकार से अर्थ निकालकर शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए -(१) शब्दार्थ, (२) नयार्थ, (३) मतार्थ, (४) आगमार्थ, और (५) भावार्थ।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १५)

-'इस प्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ यथासम्भव व्याख्यानकाल में सर्वत्र जानना चाहिए।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २ की टीका, पृष्ठ ११)

-'इसी तरह शब्द, नय, मत, आगम, भावार्थ व्याख्यान के अवसर पर सब जगह जान लेना।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, गाथा १ की टीका, पृष्ठ ७)

(१) **शब्दार्थ**- प्रकरण के अनुसार वाक्य या शब्द का योग्य अर्थ निकालना शब्दार्थ है;

(२) **नयार्थ**- सम्बन्धित वाक्य या शब्द, भेद-निमित्तादि का उपचार बतानेवाले व्यवहारनय का है अथवा वस्तुस्वरूप बतानेवाले निश्चयनय का है- इस प्रकार नय का निर्णय करके अर्थ करना नयार्थ है;

(३) **मतार्थ**- जो वस्तुस्वरूप से विपरीत मतों (सांख्य, बौद्ध, आदि) का खण्डन और स्याद्‌वाद मत का मण्डन करे, वह मतार्थ है;

(४) **आगमार्थ**- सिद्धान्तानुसार प्रसिद्ध अर्थ आगमार्थ है; और

(५) **भावार्थ**- जो अर्थ वाक्य अथवा शब्द का तात्पर्य, सारांश, हेय, उपादेय और प्रयोजन बताये, वह भावार्थ है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, भाग ३, प्रश्न संख्या ८५, पृष्ठ २१)

प्रश्न १०- तत्त्वाभ्यास के लिये किसका समागम करना चाहिए?

उत्तर- तत्त्वाभ्यास ज्ञानियों के समागम में ही करना उचित है। अज्ञानियों (मिथ्यादृष्टियों) के समागम में रहकर तत्त्वाभ्यास करना उचित नहीं है।

-'गुणों के धारक मुनि अथवा श्रावक के मुख से तो शास्त्र सुनना योग्य है, लेकिन पद्धति बुद्धि से अथवा शास्त्र सुनने के लोभ से श्रद्धानादि गुणरहित पापी पुरुषों के मुख से शास्त्र सुनना उचित नहीं है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पहला अधिकार, पृष्ठ १७)

-'विष भला, विषधर भी भला, अग्नि या वनवास का सेवन भी भला, लेकिन जिनधर्म से विमुख मिथ्यादृष्टियों का सहवास भला नहीं।'

(पाहुड-दोहा, दोहा २० का अर्थ, पृष्ठ १५)

प्रश्न ११- कार्य का सच्चा कारण कौन है?

उत्तर- कार्य अर्थात् पर्याय का सच्चा कारण 'अकारण परिणमता द्रव्य' स्वयं ही है, क्योंकि-

(१) कार्य का सच्चा कारण परद्रव्य (निमित्त) तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि परद्रव्य; अर्थात्, निमित्त का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सर्वथा पृथक् है।

(२) कार्य का सच्चा कारण त्रिकाली द्रव्य (स्वभाव) भी नहीं हो सकता, क्योंकि पर्याय; अर्थात्, कार्य एक समय का है और द्रव्यस्वभाव अनादिअनन्त। जिनागम में जहाँ त्रिकाली द्रव्य को कार्य का कारण कहा, वहाँ अपेक्षा यह है कि कोई भी कार्य (पर्याय) अपने आश्रयभूत द्रव्य के बिना नहीं होता।

-'परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं। अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता)।'

(श्रीसमयसार, कलश २११ का श्लोकार्थ, पृष्ठ ४८०)

(३) अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय; अर्थात्, कार्य की पूर्वपर्याय भी कार्य का सच्चा कारण नहीं है, क्योंकि अभाव में से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिनागम में जहाँ पूर्वपर्याय को कार्य का कारण कहा है, वहाँ स्थूल अपेक्षा से कहा है, क्योंकि कार्य पूर्वपर्याय के व्ययपूर्वक ही होता है।

यदि पूर्वपर्याय को ही कार्य का सच्चा कारण मान लें, तो पूर्वपर्याय के दो सम्यग्दृष्टि जीवों में से उत्तर (अगली) पर्याय में एक जीव पाँचवें गुणस्थानवर्ती और दूसरा मिथ्यादृष्टि हो सकता है। अत: पूर्वपर्याय को कार्य का सच्चा कारण नहीं कहा जा सकता।

(४) अत: अकारण परिणमता द्रव्य ही कार्य का सच्चा कारण है।

-**'पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं।**
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा।।'

अन्वयार्थ- पूर्वपरिणामयुक्त द्रव्य कारणभाव से वर्तता है और वह ही द्रव्य उत्तरपरिणामयुक्त होवे तब कार्य होता है, ऐसा नियम है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०२)

-'यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि **"दवियं जं उप्पज्जई"**; अर्थात्, प्रतिसमय अपने नये-नये परिणामरूप से द्रव्य ही स्वयं उत्पन्न होता है।' तथा

-'परिणामरूप से द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १३३)

-'पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत, संख्या २८१, पृष्ठ १६७ पर भी गुरुदेवश्री ने कार्य का सच्चा कारण- **"अकारण परिणामिकद्रव्य; अर्थात्, जिसका कोई कारण नहीं है, ऐसे भाव से**

परिणमने वाला द्रव्य"- बताया है।'

[जिनागम में अनेक स्थानों पर कार्य का सच्चा कारण- 'उस समय की पर्याय की योग्यता' को बताया है। इसका अभिप्राय भी वही है; अर्थात्, द्रव्य कार्य के काल में स्वयं उस कार्यरूप परिणमन की योग्यता रखता है।]

-'पर्याय स्वयं अपनी योग्यता से स्वतन्त्रपने होती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ २३१)

-'प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक समय विकारी अथवा अविकारी जो पर्याय होती है, वही उसकी काललब्धि है और वो ही पर्याय वहाँ होती है। पर्याय की उत्पत्ति के समय वो पर्याय स्वयं से होती है, पर के कारण नहीं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर-गुजराती, भाग ४, पृष्ठ १७७)

-'आत्मा में वर्तमान ज्ञप्तिक्रिया-धर्म की जो क्रिया हुई है, वह स्वत: सत् और अहेतुक है। उसका उत्पाद स्वउत्पाद से है और तत्कालीन पर्याय की योग्यता ही उसका कारण है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ १६८)

[**विशेष**- उक्त सभी कथनों का, जिनमें 'उस समय की पर्याय की योग्यता' को कार्य का सच्चा कारण बताया है, अभिप्राय इतना ही है कि कार्यरूप स्वयं द्रव्य ही परिणमित होता है। जो पूज्य गुरुदेवश्री के निम्न कथन से स्पष्ट है-

-'जिस जीव में या अजीव में जिस समय जिस पर्याय की योग्यता का काल है, उस समय उस पर्यायरूप से वह स्वयं (वह जीव अथवा अजीव द्रव्य) परिणमित होता है, किसी अन्य निमित्त के कारण वह पर्याय नहीं होती' **-श्रीसमयसार, गाथा ३०८ से ३११ पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १६१**]

प्रश्न १२- सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये जीव का कर्तव्य क्या है?

उत्तर- जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का अभ्यास रखे, उसके विशुद्धता बढ़ेगी; उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी; कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होगा; तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो **कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है**। इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है। उसमें जीव का कर्तव्य कुछ नहीं है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१२)

प्रश्न १३- इस पुस्तक का उद्देश्य क्या है?

उत्तर- यह पुस्तक तो आहारवर्गणा का कार्य है। व्यवहार से निरूपण किया जाता है- 'मैंने सङ्कलन किया है।' चारों अनुयोगों के ग्रन्थों से परमागम के रहस्य का संक्षेप में सङ्कलन करने का

प्रयास किया है, ताकि पात्र भव्यजीव सुगमता से धर्म-प्राप्ति कर सकें। इस पुस्तक का एकमात्र उद्देश्य मिथ्यात्व का अभाव और सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति करके मोक्ष का पथिक बनना है।

मेरे पुत्र पवन जैन ने असाध्यरूप से अस्वस्थ होनेपर भी पूरी लगन और तत्परता से 'जिनागमसार' के सङ्कलन और सम्पादन का कार्य किया है। मेरी भावना है कि वह शीघ्र आत्म-सन्मुख होकर, मोक्षमार्ग के प्रणेता बन पूर्ण सुखी होवे।

भवदीय

कैलाशचन्द्र जैन

सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता?

करोड़ों श्लोक धारणा में लिए, परन्तु अन्तर में सूक्ष्मरूप से पर-ओर के (परपदार्थों की तरफ के) झुकाव में कहीं न कहीं अच्छा लगता है। पर-ओर का ज्ञान है, सो तो परसत्तावलम्बी ज्ञान है। उसमें प्रमोदित होता है कि बहुत लोगों को समझाऊँ तथा वे रञ्जित हों- ऐसी सुख कल्पना रह जाती है। धारणा में यथार्थ ज्ञान होनेपर भी अन्तर में अयथार्थ प्रयोजन रहने से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

(पूज्य गुरुदेवश्री, परमागमसार, बोल संख्या ४११, पृष्ठ १२१)

परमोपकारी परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगस्रष्टा

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[ब्र० चन्दुलाल खीमचन्द झोबालिया]

भरतक्षेत्र की वर्तमान चौबीसी के चरम तीर्थङ्कर भगवान श्री महावीरस्वामी द्वारा समुपदिष्ट और भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव आदि निर्ग्रन्थ सन्तों द्वारा सुरक्षित, तर्कशुद्ध, अबाधित, सुविज्ञान-सिद्धान्तों की कसौटी पर पार उतर सके, ऐसा अध्यात्मरसप्रमुख वीतराग जैनधर्म कालदोष के कारण वैज्ञानिक भूमिका से च्युत होकर रूढ़िग्रस्त साम्प्रदायिकता में और क्रियाकाण्ड में फँस गया था। ऐसे इस युग में-विक्रम की २०-२१वीं शताब्दी में- भारतवर्ष के जीवों के महान पुण्योदय से जिस महापुरुष ने अवतार लेकर आत्मसाधना के अध्यात्मपथ को प्रकाशित किया, सम्प्रदाय की कैद में से बाहर निकालकर जिन्होंने हजारों जीवों में शुद्ध आत्मा समझने की जिज्ञासा जगाकर एक नये मुमुक्षु-समाज का सर्जन किया, स्वयं की स्वानुभवसमृद्ध भेदज्ञान-कला से जिनशासन के सूक्ष्म रहस्यों को खोलकर जिन्होंने 'तुझमें सब भरा पड़ा है'- ऐसा घोषित करके प्रत्येक जीव की शक्तिरूप प्रभुता का जगत में ढिंढोरा पीटा- इत्यादि अनेक प्रकार से भारतवर्ष के धर्मपिपासु जीवों पर जिनका अनन्त-अनन्त उपकार है -ऐसे अध्यात्मयुगस्रष्टा परमकृपालु परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का संक्षिप्त जीवनवृत्त एवं उपकारगुणकीर्तन यहाँ प्रस्तुत किया है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का पवित्र जन्म सौराष्ट्र के उमराला गाँव में वि० सं० १९४७ वैशाख सुदी दूज, रविवार के शुभ दिन प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में हुआ था। गुरुदेवश्री की मातश्री उजमबा व पिताश्री मोतीचन्दभाई जाति से दशाश्रीमाली वणिक एवं धर्म से स्थानकवासी जैन थे। बचपन से ही उनके मुख पर वैराग्य की सौम्यता और आँखों में बुद्धि और वीर्य की प्रतिभा झलकती थी। स्कूल में तथा जैनशाला में भी प्रायः प्रथम नम्बर ही रखते थे।

ग्यारह वर्ष की उम्र में एकबार जैनशाला की सीढ़ियों से उतरते समय सम्प्रदाय के एक साधु को वैराग्य की मस्त चाल से जाते हुए देखकर इस होनहार महापुरुष के हृदय में गहरी छाप पड़ी तथा अन्तर्मन में ऐसा लगा कि 'अहा! कैसी वैराग्य की धुन! झुके हुए नेत्रों के साथ कैसी मस्त चाल! नितान्त अकेले, कोई साथी-सङ्गी नहीं! कैसी अवधूत दशा!' इस प्रकार बचपन से ही वैरागी मस्त जीवन के प्रति उनका चित्त समर्पित हो जाता था। पाठशाला के लौकिक ज्ञान से उनको सन्तोष

नहीं होता था; उनको अन्तरङ्ग में लगता रहता कि 'जिसकी खोज में मैं हूँ, वह यह नहीं है।' कभी-कभी यह दुःख तीव्र हो जाता, और एक बार तो माँ से बिछुड़े बालक की भाँति यह बाल-महात्मा सत् के वियोग में बहुत रोये थे।

छोटी उम्र में ही माता का (वि० सं० १९५९ में) व पिताजी का (वि० सं १९६३ में) वियोग हुआ। वे पालेज में पिताजी की दुकान पर बैठने लगे। व्यापार में उनका वर्तन प्रामाणिक और सरल था। एक बार बड़ौदा की अदालत में जाना पड़ा था। वहाँ उन्होंने न्यायाधीश के समक्ष सत्य घटना स्पष्टता से बता दी। उनके मुख पर झलकती सरलता, निर्दोषता, और निर्भीकता की न्यायाधीश पर छाप पड़ी, और उनका कहा हुआ सारा विवरण यथार्थ है, ऐसा विश्वास आ जाने से उसे सम्पूर्णरूप से मान्य रखा।

वे कभी-कभी नाटक देखने जाते थे। अतिशय आश्चर्य की बात तो यह है कि नाटक का श्रृङ्गारिक प्रभाव होने के बदले किसी वैराग्य-प्रेरक दृश्य की उन पर गहरी छाप पड़ती थी और वह कितने ही दिनों तक रहती थी। कभी-कभी तो नाटक देखकर आने के बाद पूरी रात वैराग्य की धुन रहती। एकबार नाटक देखकर आने के बाद उसकी धुन में **'शिवरमणी रमनार तुं, तुं ही देवनो देव'** इन शब्दों से प्रारम्भ होनेवाला बारह कड़ी का एक काव्य उन्होंने बनाया था। अहा! सांसारिक रस के प्रबल निमित्तों को भी महान आत्माएँ वैराग्य का कैसा निमित्त बना लेती हैं?

दुकान पर भी वे वैराग्य-प्रेरक और तत्त्वबोधक धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। उनका मन व्यापारमय या संसारमय नहीं हुआ था। उनका आत्मा अन्दर कुछ और ही शोध में था। उनके अन्तर का झुकाव सदा धर्म व सत्य की शोध के प्रति ही था। उनका धार्मिक अभ्यास, उदासीन जीवन, और सरल अन्तःकरण देखकर सगे-सम्बन्धी उनको 'भगत' कहते थे। सगाई के सन्देश आने पर उन्होंने अपने बड़े भाई खुशालभाई को स्पष्ट कह दिया कि 'मेरी सगाई नहीं करना, मेरे आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा है और मेरे दीक्षा लेने के भाव हैं।' खुशालभाई और सगे-सम्बन्धियों के द्वारा बहुत समझाने पर भी उन महात्मा के वैराग्य-भीने चित्त को संसार में रहना पसन्द नहीं आया। उन्होंने योग्य गुरु के लिये बहुत शोध की। सौराष्ट्र, गुजरात, व राजस्थान के बहुत से साधुओं से मिले, पर कहीं भी मन स्थिर नहीं हुआ। अन्त में बोटाद सम्प्रदाय के श्री हीराचन्दजी महाराज से दीक्षा लेने का निश्चित हुआ। विक्रम सम्वत् १९७० के मागशिर सुदी ९वीं, रविवार के दिन उमराला में बड़ी धूमधाम से दीक्षा-महोत्सव सम्पन्न हुआ।

दीक्षा लेकर तुरन्त ही गुरुदेवश्री श्वेताम्बर के आगमों का कड़ा अभ्यास करने लगे। उन्होंने लगभग चार वर्ष में ४५ आगम, लाखों श्लोकों की टीकासहित, विचारपूर्वक पढ़ लिये। वे सम्प्रदाय की रीति अनुसार चारित्र भी कठोर पालते थे। थोड़े ही समय में उनकी आत्मार्थिता की, ज्ञान-पिपासा

की, और चारित्र की सुवास स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में खूब फैल गयी थी।

गुरुदेवश्री प्रारम्भ से ही तीव्र पुरुषार्थी थे। पुरुषार्थ ही उनका जीवनमन्त्र था। 'केवली भगवान ने देखा होगा, तब मोक्ष होगा'- ऐसी काललब्धि और भवितव्यता की पुरुषार्थहीनता भरी बातें कोई करे तो वे सहन नहीं कर सकते थे। वे दृढ़ता से कहते थे कि 'जो पुरुषार्थी है उसके अनन्तभव होते ही नहीं; केवली भगवान ने भी उसके अनन्तभव देखे ही नहीं; पुरुषार्थी को भवस्थिति आदि कुछ बाधक नहीं होते।'

दीक्षापर्याय के काल में उन्होंने श्वेताम्बर के शास्त्रों का खूब मननपूर्वक अभ्यास किया। उन्होंने एक लाख श्लोकप्रमाण टीकायुक्त भगवतीसूत्र सत्रह बार पढ़ा। हर कार्य करते समय उनका लक्ष्य सत्य की शोध के प्रति ही रहता था। फिर भी वे जिसकी शोध में थे, वह उन्हें अभी तक मिला नहीं था; अथकरूप उल्लसितवीर्य से उनकी शोधवृत्ति चालू ही थी।

तब, विक्रम सम्वत् १९७८ में विधि की किसी धन्य घड़ी में श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव-प्रणीत समयसार नाम का महान ग्रन्थ गुरुदेवश्री के करकमल में आया। उसे पढ़ते ही उनके हर्ष का पार न रहा। जिसकी शोध में वे थे, वह उन्हें मिल गया। गुरुदेवश्री के अन्तर्नयनों ने समयसार में अमृत के सरोवर छलकते देखे। एक के पीछे एक गाथाएँ पढ़ते हुए उन्होंने घूँट भर-भर के वह अमृत पीया। ग्रन्थाधिराज समयसार ने गुरुदेवश्री पर अपूर्व, अलौकिक, अनुपम उपकार किया और उनके आत्मानन्द का पार न रहा। गुरुदेवश्री के अन्तर्जीवन में परम पवित्र परिवर्तन हुआ; भूली हुई परिणति निज घर की ओर ढली- उपयोग का प्रवाह सुधासिन्धु ज्ञायकदेव की ओर ढला। उनकी ज्ञानकला अपूर्व रीति से खिल उठी।

विक्रम सम्वत् १९९१ तक स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहकर गुरुदेवश्री ने सौराष्ट्र के अनेक प्रमुख शहरों में चातुर्मास किया और शेषकाल में सैकड़ों छोटे-बड़े नगरों को पावन किया। हजारों श्रोताओं को उनके उपदेश के प्रति बहुमान जागृत हुआ। क्रियाकाण्ड में लुप्त हुए अध्यात्मधर्म का बहुत उद्योत हुआ। उनके प्रवचन में ऐसे अलौकिक आध्यात्मिक न्याय आते थे कि जो अन्यत्र कहीं भी सुनने को न मिले हों। 'जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म बँधे वह भाव भी हेय है।............शरीर के रोम-रोम में तीव्र रोग हो, तो भी वह दुःख नहीं; दुःखका स्वरूप ही कुछ और है।............. व्याख्यान सुनकर बहुत जीव समझें तो मुझे बहुत लाभ हो, ऐसा माननेवाले व्याख्याता मिथ्यादृष्टि हैं। ....इस दुःख में समता नहीं रखूँगा, तो कर्मबन्धन होगा- ऐसे भाव से समता रखना वह भी मोक्षमार्ग नहीं।....................पाँच महाव्रत भी मात्र पुण्यबन्ध के कारण हैं।' ऐसे हजारों अपूर्व न्याय व्याख्यान में अत्यन्त स्पष्ट रीति से लोगों को समझाते थे। प्रत्येक प्रवचन में वे कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन पर अत्यन्त अत्यन्त भार देते थे। वे कहते थे कि- 'शरीर की चमड़ी उतारकर नमक

छिड़कनेवाले के ऊपर भी क्रोध न किया- ऐसा व्यवहारचारित्र भी इस जीव ने अनन्त बार पालन किया, परन्तु सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त नहीं किया। लाखों जीवों की हिंसा के पाप से भी मिथ्यादर्शन का पाप अनन्तगुना है।................सम्यग्दर्शन प्राप्त करना सरल नहीं है। लाखों-करोड़ों में किसी विरल जीव को ही वह प्राप्त होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यक्त्व का निर्णय स्वयं ही कर सकता है। सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के भावों को पी गया होता है।....................सम्यक्त्व-वह कोई और ही वस्तु है।............सम्यग्दर्शन-शून्य क्रियाएँ बिना इकाई की बिंदी हैं।...............सम्यग्दर्शन का स्वरूप बहुत ही सूक्ष्म है।..........हीरे की कीमत तो हजारों रुपया होती है, परन्तु उसके पहल पाड़ते समय खिरी हुई रज का मूल्य भी सैकड़ों रुपया होता है; वैसे सम्यक्त्व हीरे की कीमत तो अमूल्य है, वह मिले तो कल्याण हो जाये; परन्तु न मिले तो भी 'सम्यग्दर्शन यह कोई जुदी ही वस्तु है'- इस प्रकार उसकी महिमा समझकर उसे प्राप्त करने की उत्कण्ठारूप रज भी बहुत लाभकारी है।...................मात्र जानना ही ज्ञान नहीं। सम्यक्त्वसहित जानना वही ज्ञान है। ग्यारह अङ्ग मुखाग्र हों, परन्तु सम्यग्दर्शन न हो तो वह अज्ञान है।..............आजकल तो सभी अपने-अपने घर का सम्यक्त्व मान बैठे हैं। सम्यग्दृष्टि को तो मोक्ष के अनन्त अतीन्द्रिय सुख की वानगी प्राप्त हो गयी है। वह वानगी मोक्षसुख के अनन्तवें भाग होनेपर भी अनन्त है।' इस प्रकार सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा अनेक सम्यक् युक्तियों से, अनेक प्रमाणों से, और अनेक सचोट दृष्टान्तों से वे लोगों को ठसा देते थे। उनका प्रिय और मुख्य विषय सम्यग्दर्शन था और वे सम्प्रदाय में थे तब से ही इसका स्पष्ट रीति से प्रतिपादन करते थे। प्रथम सत्य समझने की मुख्य आवश्यकता है- ऐसा वे अति दृढ़तापूर्वक पहले से ही कहते थे और प्रवचन के प्रारम्भ में एक गाथा बोलते थे- **'संबुज्झह जंतवो. ....'** जिसका सारांश था कि- हे जीवो! तुम सम्यक् प्रकार से समझो, समझो। इस प्रकार वे प्रारम्भ से ही सत्य समझने का उपदेश देते थे।

जैनधर्म पर उनकी अनन्य श्रद्धा, सारा विश्व न माने तो भी अपनी मान्यता में स्वयं अकेले टिके रहने की उनकी अजब दृढ़ता, और अनुभव के बलपूर्वक निकलती उनकी न्यायसङ्गत वाणी बड़े-बड़े नास्तिकों को भी विचार में डाल देती थी और बहुतों को आस्तिक बना देती थी। उनका सिंहनाद पात्र जीवों के हृदय की गहरायी को स्पर्शकर, उनके आत्मिक वीर्य को उछाल देता था। अहा! सत्य और अनुभव के जोर से सारे जगत के अभिप्रायों के सामने जूझते इस अध्यात्मयोगी की गर्जना जिन्होंने सुनी होगी, उनके कानों में उसकी झङ्कार अभी भी गूँजती होगी। थोड़े ही वर्षों में उनके प्रखर-ज्ञान, कड़े चारित्र और प्रवचनकौशल्य की सुवास इतनी अधिक फैल गयी कि स्थानकवासी जैनसमाज उनको साधु के रूप में **'काठियावाड़ का कोहनूर'** कहती थी।

लघु वय से ही गुरुदेव का वैरागी, चिन्तनपूर्ण, बुद्धिप्रतिभायुक्त, ध्येयलक्ष्यी भक्तजीवन था।

बालब्रह्मचारीरूप से दीक्षित होकर उच्चतम कोटि के स्थानकवासी साधु के रूप में विचरण करते समय, 'भवभ्रमण का अन्त लाने का सच्चा उपाय क्या?', 'द्रव्यसंयम से ग्रीबक पाया, फिर पीछो पटक्यो, वहाँ क्या करना बाकी रहा?'- इस विषय में गहरा मन्थन व अभ्यास करके उन्होंने खोज निकाला कि-मार्ग कोई जुदा ही है; वर्तमान में तो शुरुआत ही उल्टी है। क्रियाकाण्ड मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु पारमार्थिक आत्मा तथा सम्यग्दर्शन आदि का स्वरूप निश्चित कर स्वानुभव करना वह मार्ग है; अनुभव में विशेष लीनता, वह श्रावकमार्ग है और उससे भी विशेष स्वरूपरमणता, वह मुनिमार्ग है। साथ में होनेवाले बाह्य व्रत-नियम तो अधूरेपन की-अपरिपक्वता की प्रगटता है। मोक्षमार्ग की मूल बात में बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया है- ऐसा गुरुदेवश्री ने अन्तर से खोज निकाला।

समयसार-प्ररूपित वास्तविक वस्तुस्वभाव और वास्तविक निर्ग्रन्थ बहुत समय से भीतर सत्य लगता था, और बाह्य में वेश तथा आचरण अलग था,-यह विषम परिस्थिति उन्हें खटकती थी; इसलिये उन्होंने सोनगढ़ में योग्य समय-विक्रम सम्वत् १९९२ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ती), मङ्गलवार के दिन- 'परिवर्तन' किया; स्थानकवासी सम्प्रदाय का त्याग किया। सम्प्रदाय का त्याग करनेवालों को किस-किस प्रकार की अनेक महाविपत्तियाँ सहनी पड़ती है; उन पर कैसी-कैसी अघटित निन्दा की भडियाँ बरसती हैं, वह सब उनके ख्याल में था, फिर भी उस निडर और निस्पृह महात्मा ने उसकी कुछ भी परवाह न की। सत् के प्रति परम भक्ति में सब प्रकार की प्रतिकूलता का भय व अनुकूलता का राग अत्यन्त गौण हो गया। जगत से बिलकुल निरपेक्षरूप हजारों के जनसमुदाय में गर्जनवाला सिंह सत् के लिये सोनगढ़ के एकान्त स्थल में जा बैठा।

उनके 'परिवर्तन' से स्थानकवासी सम्प्रदाय में बहुत खलबली हुई, विरोध हुआ। परन्तु गुरुदेवश्री काठियावाड़ के स्थानकवासी जैनों के हृदय में बस गये थे। उनके पीछे काठियावाड़ पागल बना हुआ था; इसलिये 'गुरुदेवश्री ने जो किया होगा, वह समझकर ही किया होगा'- ऐसा विचार कर धीरे-धीरे लोगों का प्रवाह सोनगढ़ की ओर बहने लगा। साम्प्रदायिक मोह अत्यन्त दुर्निवार होनेपर भी, सत् के अर्थी जीवों की संख्या तीनों काल में अत्यन्त अल्प होनेपर भी, साम्प्रदायिक व्यामोह तथा लौकिक भय को छोड़कर सोनगढ़ की ओर बहता सत्सङ्गार्थी जनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन वेगपूर्वक बढ़ता ही गया।

पूज्य गुरुदेव कहते थे- 'जैनधर्म यह कोई सम्प्रदाय नहीं है, यह तो वस्तुस्वभाव-आत्मधर्म है। उसका अन्य किसी धर्म के साथ मेल है ही नहीं। उसका अन्य धर्मों के साथ समन्वय करना वह रेशम और टाट के समन्वय जैसा व्यर्थ है। दिगम्बर जैनधर्म वही वास्तविक जैनधर्म है और आन्तरिक तथा बाह्य दिगम्बरत्व के बिना कोई जीव मुनिपना और मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता'- ऐसी उनकी दृढ़ मान्यता थी।

गुरुदेव सम्प्रदाय में थे तभी से प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता की श्रद्धा उनके अन्तर में ओतप्रोत हो गयी थी। 'मैं एक स्वतन्त्र पदार्थ हूँ, मुझे कोई कर्म रोक नहीं सकते'- ऐसा वे बारम्बार कहते थे। विशेष स्पष्टता से समझने के लिये जामनगर में चातुर्मास के समय आत्मार्थी श्री हिम्मतभाई जे० शाह ने प्रश्न पूछा- 'महाराज! दो जीवों के १४८ कर्मप्रकार-सम्बन्धी सर्व भेद-प्रभेदों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग- सभी बिलकुल एक समान हों, तो वे जीव उत्तरवर्ती क्षण में समान भाव करेंगे या भिन्न-भिन्न प्रकार के?' गुरुदेव ने कहा : 'भिन्न-भिन्न प्रकार के।' पुन: प्रश्न किया : 'दोनों जीवों की शक्ति तो पूरी है और आवरण भी बिलकुल एक समान है, तो फिर भाव भिन्न-भिन्न प्रकार के कैसे कर सकते हैं?' गुरुदेव ने तुरन्त ही दृढ़ता से उत्तर दिया : 'अकारण पारिणामिक द्रव्य है', अर्थात् जीव, जिसका कोई कारण नहीं ऐसे भाव से स्वतन्त्रतया परिणमन करनेवाला द्रव्य है; इसलिये उसे अपने भाव स्वाधीनता से करने में वस्तुत: कौन रोक सकता है? वह स्वाधीनता से अपना सब कुछ कर सकता है? स्वाधीनता का कैसा सुन्दर स्पष्टीकरण!

परमपूज्य गुरुदेव के उपदेश में मुख्य वजन 'समझ' पर था। 'तुम समझो; समझे बिना सब व्यर्थ है' इस प्रकार वे बारम्बार कहते थे। 'कोई आत्मा-ज्ञानी या अज्ञानी- एक रजकण को भी हिलाने की सामर्थ्य नहीं रखता, तो फिर देहादि की क्रिया आत्मा के हाथ कहाँ से हो? ज्ञानी व अज्ञानी में प्रकाश और अन्धकार- जैसा महान अन्तर है, और वह यह है कि अज्ञानी परद्रव्य तथा रागद्वेष का- शुभाशुभ भाव का- कर्ता होता है और ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभव करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता। उस कर्तृत्वबुद्धि को छोड़ने का महापुरुषार्थ प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। वह कर्तृत्वबुद्धि ज्ञान बिना नहीं छूटती। इसलिये तुम ज्ञान करो।'- यह उनके उपदेश का प्रधान स्वर था।

परम पूज्य गुरुदेव के ज्ञान को सम्यक्त्व की छाप तो बहुत समय से लगी थी। वह सुधास्यन्दी सम्यग्ज्ञान सोनगढ़ के विशेष निवृत्तिवाले स्थान में अद्भुत सूक्ष्मता को प्राप्त हुआ; नयी-नयी ज्ञानकला खूब खिली। अमृतकलश में जिस प्रकार अमृत घोला जाता हो, उसी प्रकार गुरुदेव के परम पवित्र अमृतकलशस्वरूप आत्मा में तीर्थङ्कर देव के रचनामृत खूब घोले गये- घोंटे गये। अन्दर घोंटा गया वह अमृत कृपालु गुरुदेव हजारों मुमुक्षुओं को प्रवचन में परोसते थे व निहाल करते थे।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि शास्त्रों पर प्रवचन देते समय गुरुदेव के शब्द-शब्द में बहुत गहनता, सूक्ष्मता, और नवीनता निकलती जिससे श्रोताजन शास्त्र का मर्म सरलता से समझ जाते। जिस अनन्त ज्ञान और आनन्दमय पूर्ण दशा को प्राप्त करके तीर्थङ्कर देव ने दिव्यध्वनि द्वारा वस्तुस्वरूप का निरूपण किया, उस परम पवित्रदशा का सुधास्यन्दी स्वानुभूतिस्वरूप पवित्र अंश अपने आत्मा में प्रगट करके सद्गुरुदेव ने अपनी विकसित ज्ञानपर्याय द्वारा शास्त्रों में रहे हुए गूढ़ रहस्यों को समझाकर मुमुक्षुओं पर महान महान उपकार किया है। गुरुदेव की वाणी सुनकर सैंकड़ों

शास्त्रों के अभ्यासी विद्वान भी आश्चर्यचकित हो जाते थे और उल्लास में आकर कहते थे : 'गुरुदेव! आपके प्रवचन अपूर्व हैं; उनका श्रवण करते हमें तृप्ति ही नहीं होती। आप चाहे जिस बात को समझाओ, हमको उसमें से नया-नया ही जानने को मिलता है। नव-तत्त्व का स्वरूप या उत्पाद-व्यय -ध्रौव्य का स्वरूप, स्याद्वाद का स्वरूप या सम्यक्त्व का स्वरूप, निश्चय-व्यवहार का स्वरूप या व्रत-तप-नियम का स्वरूप, उपादान-निमित्त का स्वरूप या साध्य-साधन का स्वरूप, द्रव्यानुयोग का स्वरूप या चरणानुयोग का स्वरूप, गुणस्थान का स्वरूप या साध्य-साधकभाव का स्वरूप, मुनिदशा का स्वरूप या केवलज्ञान का स्वरूप- जिस-जिस विषय का स्पष्टीकरण आपके श्रीमुख से सुनते हैं, उसमें हमें अपूर्व भाव ही दृष्टिगोचर होते हैं। आपके शब्द-शब्द में वीतरागदेव का हृदय प्रगट होता है।'

पूज्य गुरुदेव की प्रवचनशैली भी अद्भुत थी। कठिन गिने जानेवाले अध्यात्म-विषय को भी खूब स्पष्टता से, अनेक सरल दृष्टान्तों द्वारा, शास्त्रीय शब्दों का बहुत ही कम प्रयोग करके घरेलू भाषा में समझाते थे कि जिससे कम पढ़े-लिखे सामान्य लोग भी सरलता से समझ जायें। गुरुदेवश्री प्रवचन करते-करते अध्यात्म में ऐसे मग्न हो जाते, परमात्मदशा के प्रति अगाधभक्ति उनके मुखारविन्द पर ऐसी झलकती कि श्रोताओ पर भी उसकी छाप पड़ती। अध्यात्म की जीवन्तमूर्ति गुरुदेवश्री की देह के अणु-अणु में से मानों अध्यात्मरस झरता हो, ऐसी चमत्कारभरी उनकी प्रतिभा थी। पूज्य गुरुदेव का प्रवचन सुननेवालों को इतना तो स्पष्ट लगता था कि 'यह कोई विशिष्ट प्रकार का पुरुष है; जगत से यह कुछ और ही कहता है; अपूर्व कहता है; इसके कथन के पीछे कोई अजब दृढ़ता और जोर है। ऐसा अन्यत्र कहीं भी सुनने में नहीं आता।' अहा! इस कलिकाल में, अन्तर में ऐसा अलौकिक पवित्र परिणमन-केवलज्ञान का अंश, और बाह्य में ऐसा प्रबल प्रभावना-उदय-तीर्थङ्करत्व का अंश, इन दोनों का सुयोग देखकर मुमुक्षुओं का हृदय नाच उठता था।

अहो! परम प्रभावक अध्यात्ममूर्ति गुरुदेव की उस मोहविनाशिनी वज्रवाणी की तो क्या बात, उनके दर्शन भी महापुण्य के थोक उछलें तब प्राप्त होते! इस अध्यात्ममस्त महापुरुष के समीप संसार की आधि-व्याधि-उपाधि फटक भी नहीं सकती थी। संसार तप्त प्राणियों को उनके पवित्र समागम में परम विश्रान्ति मिलती थी। जो वृत्तियाँ महाप्रयत्न से भी नहीं दबतीं, वे पूज्य गुरुदेव के सानिध्य में अपने आप शान्त हो जाती हैं- ऐसा अनुभव बहुत से मुमुक्षुओं को होता था। आत्मा का निवृत्तिमय स्वरूप, मोक्ष का सुख आदि आध्यात्मिक भावों की जो श्रद्धा अनेक तर्कों से नहीं हो पाती, वह गुरुदेव के दर्शन तथा समागम से सहजमात्र में हो जाती। इस प्रकार पूज्य गुरुदेव के स्वानुभवरस-झरते पवित्र ज्ञान और चारित्र ने मुमुक्षुओं पर महाकल्याणकारी अनुपम उपकार किया है।

सनातन सत्य वीतराग दिगम्बर जैनमार्ग अङ्गीकृत करने के बाद के वर्षों में शासनप्रभावक

पूज्य गुरुदेवश्री के जीवनवृत्तान्त के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मुमुक्षुओं को उपकारभूत हों, ऐसे प्रभावना के अनेक सुयोग बन गये।

विक्रम सम्वत् १९९४ की वैशाख कृष्णा अष्टमी के दिन प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन को आत्मध्यानमयी विमल अनुभूति में से उपयोग बाहर आनेपर, उपयोग की स्वच्छता में अनेक भवान्तर-सम्बन्धी सहज स्पष्ट जातिस्मरणज्ञान हुआ। पूज्य गुरुदेव को अनेक वर्षों से अपने भूत-भविष्य के भव के साथ सम्बन्धवाला जो अस्पष्ट 'भास' होता था, उसका स्पष्ट हल बहिनश्री के जातिस्मरणज्ञान द्वारा मिलने से स्वयं के मनोमन्दिर में एक प्रकार का उजाला हुआ और उनकी धर्म परिणति को एक असाधारण नवीन बल मिला। बहिनश्री के जातिस्मरणज्ञान की बातें आत्मार्थियों को उपकारक हों, ऐसा लगने से पूज्य गुरुदेवश्री उसके कितने ही तथ्य धीरे-धीरे मुमुक्षुओं के समक्ष अत्यन्त धर्मोल्लासपूर्वक रखने लगे थे, जिसे सुनकर आत्मार्थीजन अत्यन्त आह्लादित होते थे और उनके श्रद्धा जीवन में, भक्ति जीवन में, तथा 'इस अल्पायुषी मनुष्यपर्याय में निज कल्याण अवश्य कर लेना योग्य है'- ऐसे उद्यम जीवन में नयी चमक आ जाती थी।

जहाँ 'परिवर्तन' हुआ था वह मकान छोटा था; इसलिये भक्तों ने सम्वत् १९९५ में प्रवचन तथा पूज्य गुरुदेव के निवास हेतु एक मकान बनवाया और उसका नाम 'श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर' रखा। परम पूज्य अध्यात्म योगी को समयसार परमागम के प्रति अतिशय भक्ति होने के कारण स्वाध्यायमन्दिर में उसके उद्घाटन के दिन- ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी, रविवार के दिन- प्रशममूर्ति भगवती पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के पवित्र कर कमलों से श्रीसमयसार परमागम की मङ्गल प्रतिष्ठा की गयी। 'समयसार सर्वोत्तम शास्त्र है' -ऐसा गुरुदेव बारम्बार कहते थे। समयसार की बात करते ही उन्हें अति उल्लास आ जाता था। 'समयसार की प्रत्येक गाथा मोक्ष दे, ऐसी है'- ऐसा गुरुदेवश्री कहते थे। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के सभी शास्त्रों पर उन्हें अत्यन्त प्रेम था। 'भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का हमारे ऊपर अत्यन्त उपकार है, हम उनके दासानुदास हैं'- ऐसा वे अनेक बार भक्तिभीने हृदय से कहते थे। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग श्रीसीमन्धर भगवान के समवसरण में गये थे और वहाँ आठ दिन रहे थे, इस विषय में पूज्य गुरुदेव को अंशमात्र भी शङ्का नहीं थी। वे कुन्दकुन्दाचार्यदेव के विदेहगमन के सम्बन्ध में अत्यन्त दृढ़तापूर्वक अनेक बार भक्तिभीने हृदय से पुकार करके कहते थे कि- 'कल्पना नहीं करना, इन्कार मत करना, यह बात ऐसी ही है; मानो तो भी ऐसी ही है, न मानो तो भी ऐसी ही है; यथातथ्य बात है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाणसिद्ध है।' श्रीसीमन्धर भगवान के प्रति गुरुदेवश्री को अतिशय भक्तिभाव था। कभी-कभी सीमन्धर भगवान के विरह में परम भक्तिवन्त गुरुदेवश्री के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती थी।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सम्वत् १९९५ में माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन २०० मुमुक्षुओं के

संघसहित शत्रुञ्जय सिद्धक्षेत्र की पावन यात्रा अति उत्साह और भक्तिपूर्वक की। उसी वर्ष चैत्र कृष्णा एकम् के दिन स्वाध्यायमन्दिर में भगवान की दिव्यध्वनि 'ॐ' के शिलापट्ट की स्थापना की गयी थी। तत्पश्चात् राजकोट के मुमुक्षुओं का अति आग्रह होने से चातुर्मास करने के लिये पूज्य गुरुदेव राजकोट पधारे। वहाँ 'आनन्दकुञ्ज' में दस महीने तक रह कर समयसार, आत्मसिद्धि और पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका पर अपूर्व प्रवचन किये। पूज्य गुरुदेव की नित्य नयी निर्मल ज्ञान पर्यायों में से सहज स्फुरित जड़-चेतन के विभाग के, निश्चय-व्यवहार की सन्धि के, तथा अन्य अनेक आध्यात्मिक न्याय सुनकर राजकोट के हजारों लोग पावन हुए। वहाँ निशदिन आध्यात्मिक आनन्द का सुन्दर वातावरण गूँज उठा।

राजकोट से सोनगढ़ वापस लौटते समय पूज्य गुरुदेव ने ३०० भक्तों के साथ २२वें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ प्रभु के दीक्षा, केवल, और निर्वाण- तीन कल्याणकों से पावन हुए गिरिराज गिरनारतीर्थ की अत्यन्त भक्ति तथा उल्लाससहित यात्रा की। पहली टूँक पर दिगम्बर जिनमन्दिर में एवं दीक्षाकल्याणक-धाम सहस्राम्रवन में जमी हुई भक्ति की धुन तथा निर्वाण स्थल पाँचवीं टूँक पर पूज्य गुरुदेव परम अध्यात्म रस में सराबोर बनकर-

'मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थसे।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे।'

-आदि पद गाते हुए भक्ति कराते थे। उस समय प्रसरित हुआ भक्तिभीना शान्त आध्यात्मिक वातारवरण- उन सबके पवित्र संस्मरण तो भक्तों के स्मरण पट पर उत्कीर्ण हो गये हैं।

विहार के समय मार्ग में आनेवाले अनेक छोटे-बड़े गाँवों में पूज्य गुरुदेव वीतराग सद्धर्म का डङ्का बजाते गये। लोगों को गुरुदेव के प्रति भक्ति उमड़ पड़ती, भव्य स्वागत-समारोह होते, और हजारों की संख्या में प्रवचनसभा छलक उठती। गुरुदेव का प्रभावना-उदय देखकर, तीर्थङ्कर भगवान तथा समर्थ आचार्यभगवन्त जब विचरते होंगे उस समय धर्म का, भक्ति का, व अध्यात्म का कैसा वातावरण फैल जाता होगा, उसका तादृश चित्र कल्पनाचक्षु समक्ष खड़ा होता था।

सम्वत् १९९७ के वैशाख मास में पूज्य गुरुदेवश्री विहार पूर्ण कर सोनगढ़ पधारे। उसके बाद तुरन्त ही श्री नानालालभाई जसाणी तथा उनके भाइयों ने श्री सीमन्धरभगवान के जिनमन्दिर का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया, जिसमें श्रीसीमन्धरस्वामी आदि जिनभगवन्तों की वीतरागभाववाही प्रतिमाओं की पञ्चकल्याणकविधिपुरस्सर मङ्गल प्रतिष्ठा सम्वत् १९९७ के फाल्गुन शुक्ला दूज के शुभदिन हुई। प्रतिष्ठामहोत्सव के आठों दिन पूज्य गुरुदेव के मुखारविन्द से भक्तिरसभीनी अलौकिक वाणी छूटती थी। बिछुड़े हुए सीमन्धरभगवान का (भले स्थापना-अपेक्षा से) मिलन होने से पूज्य गुरुदेवश्री को कोई अद्भुत आनन्दोत्साह था। प्रतिष्ठा के पूर्व श्रीसीमन्धरभगवान की प्रतिमा के प्रथम दर्शन के समय पूज्य गुरुदेवश्री की आँखों से विरह वेदना के आँसू बहने लगे थे। सीमन्धरभगवान जब मन्दिर में प्रथम

पधारे, तब गुरुदेवश्री को भक्तिरस की मस्ती चढ़ गयी और सारा देह भक्ति रस से मूर्त स्वरूप जैसा शान्त-शान्त दिखने लगा। गुरुदेवश्री से साष्टाङ्ग प्रणमन हो गया और भक्तिरस में एकाग्रता के कारण शरीर ज्यों का त्यों थोड़े समय तक निश्चेष्टरूप से पड़ा रहा। भक्ति का यह अद्भुत पावन दृश्य, पास में खड़े मुमुक्षुओं से सहा नहीं जाता था; उनके नेत्रों में अश्रु भर आये और चित्त में भक्ति उमड़ पड़ी। पूज्य गुरुदेव ने प्रतिष्ठा भी अपने पवित्र हस्त से, भक्तिभाव में मानो शरीर का भान भूल गये हों, ऐसे अपूर्व भाव से की थी।

दोपहर के प्रवचन बाद पूज्य गुरुदेवश्री की मङ्गल उपस्थिति में इस जिनमन्दिर में प्रतिदिन पौन घण्टा भक्ति होती थी। प्रवचन सुनते समय आत्मा के सूक्ष्म स्वरूप के प्रणेता वीतराग जिनेन्द्रभगवन्त का माहात्म्य हृदय में स्फुरित हुआ हो, जिससे तुरन्त ही जिनमन्दिर में भक्ति करते हुए, वीतरागदेव के प्रति पात्र जीवों को अद्भुत भक्तिभाव उल्लसित होता था। इस प्रकार जिनमन्दिर ज्ञान व भक्ति के सुन्दर सुमेल का निमित्त बना।

इसके एक साल बाद श्री समवसरण-मन्दिर बना। उसमें श्रीसीमन्धरभगवान की अतिशय भाववाहि चतुर्मुख जिनप्रतिमा विराजमान है। समवसरण की सम्पूर्ण रचना अत्यन्त आकर्षक और शास्त्रोक्त विधि अनुसार है। मुनियों की सभा में श्रीसीमन्धरभगवान के सामने अत्यन्त भावपूर्वक हाथ जोड़कर खड़े हुए श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव की अति सौम्य मुद्रावन्त निर्ग्रन्थ प्रतिमा है। प्रतिष्ठा महोत्सव सम्वत् १९९९ के ज्येष्ठ कृष्णा छठ के दिन हुआ था। श्री समवसरण के दर्शन करते समय, श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव विदेह क्षेत्र के तीर्थङ्कर सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमन्धर परमात्मा के समवसरण में पधारे थे, वह पूज्य गुरुदेव ने पूर्वभव में प्रत्यक्ष देखा हुआ भव्य प्रसङ्ग उनकी आँखों के समक्ष खड़ा हुआ और उसके साथ सङ्कलित अनेक पवित्र भाव हृदय में प्रस्फुरित होने से उनका हृदय भक्ति और उल्लास से भर आया। समवसरण में भक्ति के समय **'रे! रे! सीमन्धरनाथना विरहा पड्या आ भरतमां'**- यह पंक्ति आने पर, भगवान के विरह-वेदन से पूज्य गुरुदेव का भक्त-हृदय अत्यन्त द्रवीभूत हो गया था और नेत्रों में से अश्रु की धारा बह निकली थी; उस विरह व्यथा का भक्तिभीना दृश्य अभी भी मुमुक्षुओं की दृष्टि समक्ष घूमता है। श्रीसमवसरणमन्दिर बनने से मुमुक्षुओं को समवसरण में विराजमान जिनेन्द्र भगवान के पावन दर्शन के साथ-साथ सीमन्धर-कुन्दकुन्द -मिलन का मधुर प्रसङ्ग दृष्टिगोचर करने का निमित्त प्राप्त हुआ।

वि० सं० १९९९ के श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन- श्रीमहावीरभगवान की दिव्यध्वनि छूटने के पावन दिन, वीरशासनजयन्ती के मङ्गल दिन- सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेव ने परमागम श्रीप्रवचनसार पर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया था। उसमें ज्ञेय अधिकार पर व्याख्यान देते समय, अनेक वर्षों में भक्तों ने जो सुना था उससे भी अधिक कोई अचिन्त्य, अद्भुत, और अपूर्व ऐसे श्रुत का स्रोत पूज्य

गुरुदेवश्री के अन्तर आत्मा में से- उनकी निर्मल भावश्रुतज्ञान की पर्याय में से- बहने लगा। द्रव्यानुयोग के अश्रुतपूर्व अद्भुत न्यायों से भरा हुआ वह आश्चर्यकारी स्रोत जिन्होंने बराबर श्रवण किया होगा, उनको उसकी महिमा अन्तरङ्ग में अङ्कित होगी। बाकी उसका वर्णन तो क्या हो सके? उस श्रुतामृत का पान करते समय ऐसा लगता था कि यह तो कोई सातिशय आश्चर्यकारी आत्मविभूति देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ! या कोई अचिन्त्य श्रुत की निर्मल श्रेणी देखने का सुभाग्य सम्प्राप्त हुआ!

सं० १९९९ की भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी को- दशलक्षण पर्युषणपर्व के प्रारम्भ के दिन सोनगढ़ में कुमार जैन युवकों के लिये, तत्त्वज्ञान का अभ्यास कराने के प्रयोजन से ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित किया गया था। उसमें तीन वर्ष का अभ्यासक्रम रखा गया था। उसमें शामिल होनेवाले ब्रह्मचारी भाई प्रतिदिन तीन घण्टे नियत की हुई धार्मिक पुस्तकों का शिक्षण प्राप्त करते थे, प्राप्त किये हुए उस शिक्षण को एकान्त में स्वाध्याय और परस्पर-चर्चा द्वारा दृढ़ करते थे, व पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, तत्त्वचर्चा, जिनेन्द्र भक्ति इत्यादि दैनिक क्रम में सम्मिलित होते थे; इस प्रकार सारा ही दिन धार्मिक प्रवृत्ति में व्यतीत होता था।

ज्ञानध्यानरत गुरुदेव को अन्तर में भावश्रुत की लब्धि नये-नये न्यायों से जैसे-जैसे दिन-प्रतिदिन खिलती जा रही थी, वैसे-वैसे उनका पुनीत प्रभावना-उदय भी प्रबलरूप से वृद्धिगत होता जा रहा था। सं० १९९९ की फाल्गुन शुक्ला पञ्चमी के दिन झालावाड़ होकर चातुर्मास हेतु राजकोट जाने के लिये पुनः विहार हुआ। पूज्य गुरुदेव, अमृत बरसते महामेघ की भाँति, मार्ग में आने वाले हरेक ग्राम में अध्यात्म-अमृत की झड़ी बरसाते थे और अनेकों-हजारों-तृषावन्त जीवों की तृषा शान्त करते थे। जैनेतर भी पूज्य गुरुदेव का आध्यात्मिक उपदेश सुनकर आश्चर्यचकित रह जाते थे। जैनदर्शन में मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड ही नहीं हैं, किन्तु उसमें तर्कशुद्ध सूक्ष्म अध्यात्मविज्ञान भरपूर भरा है, ऐसा समझ में आने पर उन्हें जैनदर्शन के प्रति बहुमान प्रगटता था। पूज्य गुरुदेव द्वारा प्रसारित आत्मविचार के प्रबल आन्दोलनों से प्रभावित होकर कितने ही अजैन तो वीतराग दिगम्बर जैन धर्म के श्रद्धालु हो गये थे। सचमुच गुरुदेव ने आत्मसाधना का अध्यात्म-पन्थ दर्शाकर भारत में तथा विदेश में हजारों जीवों को जागृत किया है। सौराष्ट्र में तो दिगम्बर जैन धर्म का नवसर्जन उन्हीं ने किया है। पूज्य गुरुदेव ने अन्तर से खोजा हुआ स्वानुभवप्रधान अध्यात्ममार्ग- दिगम्बर जैन धर्म ज्यों-ज्यों प्रसिद्ध होता गया, त्यों-त्यों अधिकाधिक जिज्ञासु आकर्षित हुए; ग्राम-ग्राम में मुमुक्षु मण्डलों की स्थापना हुई। सम्प्रदाय त्याग से जगी विरोध की आँधी शान्त हो गयी। पूज्य गुरुदेव का प्रभावना-उदय दिन प्रतिदिन अधिकाधिक विकसित होता गया।

मात्र बड़ी उम्र के गृहस्थ ही नहीं, किन्तु छोटी उम्र के बच्चे भी पूज्य गुरुदेव के तत्त्वज्ञान में

उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। गुरुदेव के भक्त हजारों की संख्या में बढ़ने लगे। सम्वत् १९९८ से प्रतिवर्ष विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा देने हेतु ग्रीष्मशिविर खोला जाता था। विद्यार्थी उसमें उत्साह से भाग लेते थे, लिखित परीक्षाएँ ली जातीं और पुरस्कार दिये जाते। सं० २००४ से श्रावण मास में प्रौढ़ गृहस्थों के लिये भी शिक्षण-शिविर चलता है।

पूज्य गुरुदेव के भक्त देश-विदेश में जगह-जगह निवास करते हैं। उन्हें गुरुदेव के अध्यात्म-उपदेश का नियमित लाभ प्राप्त हो, तदर्थ सं० २००० के मगसिर महीने से 'आत्मधर्म' गुजराती मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् करीब डेढ़ वर्ष बाद हिन्दी 'आत्मधर्म' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। बीच में कुछ वर्षों तक 'सद्गुरुप्रवचन-प्रसाद' नाम का दैनिक प्रवचन-पत्र प्रकाशित होता था। तदुपरान्त समयसार, प्रवचनसार आदि मूल शास्त्र तथा प्रवचनसार-ग्रन्थ इत्यादि अध्यात्म-साहित्य का विपुल मात्रा में- लाखों की संख्या में- प्रकाशन हुआ, हजारों प्रवचन टेप-रिकार्ड किये गये, जिनसे पूज्य गुरुदेव का अध्यात्म-उपदेश घर-घर में गूँजने लगा।

पूज्य गुरुदेव के मङ्गल प्रताप से सोनगढ़ 'अध्यात्म-तीर्थधाम' के रूप में बदल गया। सोनगढ़ का शान्त अध्यात्ममय वातावरण और वैविध्यपूर्ण धार्मिक कार्यक्रम देखकर बाहर से आनेवाले जिज्ञासु मुग्ध हो जाते थे। सोनगढ़ में उत्सव मात्र रूढ़िगत शैली से नहीं, किन्तु तद्नुरूप भावभीने वातावरण में एक विशिष्ट अनोखी शैली से मनाये जाते थे। कुछ दिन यहाँ रहनेवाले जिज्ञासु को फिर कहीं और जगह जाना अच्छा नहीं लगता था और उसे ऐसा लगता था कि वास्तव में आत्मार्थी की अध्यात्म -साधना का पोषक एवं प्रोत्साहक शान्त धार्मिक वातावरण गुरुदेव के इस पवित्रधाम जैसा अन्यत्र कहीं नहीं है?

सं० २००२ की ज्येष्ठ कृष्णा छठ के दिन दिगम्बर जैन समाज के सुप्रसिद्ध अग्रिम नेता, इन्दौर के श्री सेठ हुकमचन्दजी पूज्य गुरुदेव की आध्यात्मिक ख्याति सुनकर गुरुदेव के दर्शन तथा सत्सङ्ग हेतु सोनगढ़ आये। वे पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन सुनकर एवं भक्ति आदि का अध्यात्मरसयुक्त वातावरण देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए। पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से विशिष्ट बातें सुनकर तथा समवसरण की रचना देखकर उन्हें अति प्रसन्नता हुई। श्री सेठ हुकमचन्दजी के आने के बाद दिगम्बर समाज का प्रवाह सोनगढ़ की ओर विशेष बढ़ने लगा।

धीरे-धीरे सोनगढ़ एक अध्यात्मविद्या का अनुपम केन्द्र- तीर्थधाम बन गया। बाहर से हजारों मुमुक्षु भाई-बहिन, दूर-दूर से अनेक दिगम्बर जैन, पण्डित, त्यागी, ब्रह्मचारी पूज्य गुरुदेवश्री के उपदेश का लाभ लेने हेतु आने लगे।

पूज्य गुरुदेव का पावन प्रभावना-उदय बढ़ता गया। जिज्ञासुओं की आमद बढ़ती हुई। उत्सव के दिनों में स्वाध्यायमन्दिर छोटा लगने लगा; इसलिये जिसमें ढाई हजार लोग अच्छी तरह बैठकर

प्रवचन सुन सकें ऐसा विशाल, बीच में खम्भेरहित, अनेक पौराणिक सुन्दर चित्रों एवं तत्त्वबोधक सुन्दर सैद्धान्तिक सुवाक्यों से सुशोभित 'श्री कुन्दकुन्द-प्रवचन-मण्डप' का निर्माण हुआ। सम्वत् २००३ की फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा के दिन उसका उद्घाटन करते हुए श्री सेठ हुकमचन्दजी आनन्दविभोर होकर बोले कि 'मेरे हृदय में ऐसा भाव आ जाता है कि अपनी सारी सम्पत्ति इस सद्धर्म की प्रभावना हेतु न्योछावर कर दूँ, तब भी कम है।'

तत्पश्चात् फाल्गुन शुक्ला तीज के दिन वींछिया ग्राम में सोनगढ़ के बाद सर्वप्रथम दिगम्बर जिनमन्दिर का श्री सेठ हुकमचन्दजी के शुभ हस्त से शिलारोपण हुआ।

सम्वत् २००३ की चैत्र कृष्णा तीज को सोनगढ़ में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद का वार्षिक अधिवेशन पं० श्री कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री (बनारस) की अध्यक्षता में हुआ। उस अधिवेशन का प्रसङ्ग अत्यन्त प्रभावशाली था। सोनगढ़ का अध्यात्ममय वातावरण देखकर तथा पूज्य गुरुदेव द्वारा हो रही दिगम्बर जैनधर्म की अध्यात्मतत्त्वप्रचार-प्रमुख अभिवृद्धि को देखकर सभी विद्वान खूब ही प्रभावित हुए थे।

पूज्य गुरुदेव का समग्र जीवन ब्रह्मचर्य के अद्भुत तेज से अतिशय देदीप्यमान था। उनको पहले से ही ब्रह्मचर्य का असीम प्रेम था। दीक्षित पर्याय में उन्हें मात्र शास्त्रस्वाध्याय एवं तत्त्वचिन्तन की ही धुन रहती थी। चारित्र का पालन भी वे सख्ती से करते थे; स्त्रियों के प्रति न तो वे कभी दृष्टि डालते और न ही कभी उनसे वार्तालाप करते थे। सम्प्रदाय में एक बार उनके गुरु ने कहा : 'कानजी! इस बहिन को शास्त्र की गाथा समझा दो।' पूज्य गुरुदेव ने उनकी बात को अस्वीकार करते हुए सविनय कहा कि 'महाराज! स्त्रियों के सम्पर्क में आना पड़े, ऐसा कोई कार्य मुझे कभी न सौंपें।' अहा! कैसा प्रबल वैराग्य! ब्रह्मचर्य का कैसा अद्भुत रङ्ग! पूज्य गुरुदेव स्त्रियों के प्रति अत्यन्त उपेक्षावृत्ति से, मात्र पुरुषों की सभा पर दृष्टि जाये, इस प्रकार प्रवचन में कुछ टेढ़े पुरुषाभिमुख बैठते थे; स्त्रियों को न तो कभी सम्बोधन करते और न उनके साथ कभी प्रश्नोत्तर। दो बार के प्रवचनों के सिवा, तत्त्वचर्चा आदि पुरुषों के कार्यक्रम में स्त्रियों को आने का सख्त प्रतिबन्ध था। पुरुषों के धार्मिक शिविरों में भी स्त्रियों को बैठने की गुरुदेव सख्त मनायी करते थे। अकेली तो नहीं, किन्तु एक से अधिक स्त्रियाँ भी साथ में पुरुष की उपस्थिति के बिना उनके दर्शन करने नहीं आ सकती थीं। कोई स्त्रियाँ भूल से भी यदि दो प्रवचन तथा जिनेन्द्रभक्ति के सिवा, तत्त्वचर्चा आदि अन्य कार्यक्रमों में आ जायें, तो पूज्य गुरुदेव जोर से निषेध करते और उन्हें स्थान छोड़कर चले जाने को बाध्य होना पड़ता।

स्वानुभवसमृद्ध-शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानी ऐसे पूज्य गुरुदेव के ब्रह्मचर्य की छाप समाज पर खूब पड़ती थी। उनके ब्रह्मचर्यमय आध्यात्मिक जीवन से प्रभावित होकर निज हितार्थ कुछ कुमार भाइयों ने, अनेक कुमारिका बहिनों ने तथा अनेक दम्पत्तियों ने आजीवन ब्रह्मचर्यपालन की प्रतिज्ञा ली थी।

सं० २००५, कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन छह कुमारिका बहिनों ने, पूज्य गुरुदेव के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा अङ्गीकार की। बाद के वर्षों में क्रमशः ऐसी ही अन्य चौदह, आठ, नौ एवं ग्यारह कुमारिका बहिनों ने एकसाथ तथा अलग-अलग अन्य अनेक कुमारिका बहिनों ने भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों पर पूज्य गुरुदेव के समक्ष ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली। अहा! वास्तव में इस भौतिक विलास-प्रचुर युग में वीतरागविज्ञान के अध्ययन हेतु प्रशममूर्ति स्वात्मज्ञ पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन की कल्याणकारी शरण में जीवन को वैराग्य में ढालने का यह अनुपम आदर्श पूज्य गुरुदेव के पुनीत प्रभावनायोग का एक विशिष्ट अङ्ग है।

गुरुदेव का प्रभाव एवं अध्यात्म का प्रचार भारत में शीघ्रता से फैलने लगा। सौराष्ट्र में जगह-जगह दिगम्बर जिनमन्दिरों की तैयारी होने लगी। लोगों की जिज्ञासा बढ़ती गयी और अधिकाधिक जिज्ञासु सोनगढ़ आकर लाभ लेने लगे।

पूज्य गुरुदेव के पुनीत प्रभाव से सौराष्ट्र-गुजरात में दिगम्बर वीतराग जैनधर्म के प्रचार का एक अद्भुत अमिट आन्दोलन फैल गया। जो मङ्गल-कार्य भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने गिरनार पर वाद के समय किया था, उसी प्रकार का दिगम्बर जैनधर्म की सनातन सत्यता की प्रसिद्धि का गौरवपूर्ण कार्य अहा! पूज्य गुरुदेव ने श्वेताम्बर बहुल प्रदेश में रहकर, अपने स्वानुभूतिमुद्रित सम्यक्त्वप्रधान सदुपदेश द्वारा हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बरों में श्रद्धा का परिवर्तन लाकर, सहजरूप से तथापि चमत्कारिक ढङ्ग से किया। सौराष्ट्र में नामशेष हो गये दिगम्बर जैनधर्म के- पूज्य गुरुदेव के प्रभावनायोग से जगह-जगह निर्मित दिगम्बर मन्दिर, उनकी मङ्गल प्रतिष्ठाएँ, तथा आध्यात्मिक प्रवचनों द्वारा हुए- पुनरुद्धार का युग आचार्यवर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के मन्दिर-निर्माण युग का स्मरण कराता है। अहा! कैसा अद्भुत आचार्यतुल्य उत्तम प्रभावनायोग।

पूज्य गुरुदेव ने दो-दो बार विशाल मुमुक्षु-संघसहित की पूर्व, उत्तर एवं दक्षिण भारत के जैन तीर्थों की यात्रा तथा उस अवधि में पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से प्रवाहित सत्यतत्त्व-प्रकाशक प्रवचनों द्वारा हुई अभूतपूर्व प्रभावना की तो बात ही क्या! गाँव-गाँव में भव्य स्वागत, चौराहे-चौराहे पर बधायी, उमड़ता हुआ मानवसमुदाय, श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करते अभिनन्दन-समारोह- जैन जनता में धर्मोत्साह की ऐसी लहर फैल जाती, मानों तीर्थङ्करभगवान का समवसरण आया हो! गुरुदेव की अध्यात्मतत्त्व-सम्बन्धी गर्जना सुनकर विरोधी काँप उठते; हजारों जिज्ञासुओं के हृदय प्रभावित होकर नाच उठते! अहा! तीर्थयात्रा के दौरान हुई धर्म प्रभावना का आनन्दोल्लासकारी चित्र प्रत्यक्षदर्शी मुमुक्षुओं के स्मृतिपट पर आज भी अङ्कित है।

अहो! उस अभूतपूर्व यात्रा का क्या वर्णन हो सके! गुरुदेव जहाँ-जहाँ पधारते, वहाँ ऐसा भव्य स्वागत होता कि वहाँ की अजैन जनता भी आश्चर्यमग्न हो जाती और प्रमोद में बोल उठती

कि- अहा कौन हैं यह सन्त पुरुष? अपनी नगरी में हमने ऐसा भव्य और विशाल स्वागत नहीं देखा। इन्दौर में हुआ असाधारण भव्य स्वागत तो विशिष्टरूप से अविस्मरणीय है। पूज्य गुरुदेव के मङ्गल पदार्पण से सर सेठ श्री हुकमचन्द जी तो अत्यन्त आनन्दित हुए थे और उन्होंने अति आनन्दविभोर होकर हाथी-घोड़े तथा उनका सोने-मखमल का सारा कीमती साज-सामान पूज्य गुरुदेव की स्वागतयात्रा की विशिष्ट शोभा हेतु निकालने का अपने लोगों को आदेश दिया था। इन्दौर में हुए पूज्य गुरुदेव के प्रवचन भी कोई अद्भुत थे। पण्डित, त्यागी, और समाज खूब प्रभावित हुए थे।

सं० २०१३, फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन पूज्य गुरुदेव ने लगभग दो हजार भक्तोंसहित श्री सम्मेदशिखर की जीवन में प्रथम बार यात्रा की। (दूसरी बार सं० २०२३ में की) अहा! पहली टोंक पर- श्री कुन्थुनाथ भगवान की टोंक पर- पूज्य गुरुदेव ने सम्मेदशिखर तीर्थ की, वहाँ से मोक्ष पधारे तीर्थङ्करों, तथा सामान्य केवलियों की, निर्वाणधाम के रूप में सम्मेदशिखर की, शाश्वतता की, एवं तीर्थयात्रा की, अध्यात्मसाधना के साथ सुसङ्गत जो अद्भुत महिमा बतलायी थी; उस मधुर प्रसङ्ग का सुस्मरण आज भी भक्तों को आनन्दित कर देता है। मधुवन में पाँचेक हजार श्रोताओं की सभा में जो अद्भुत प्रवचनधारा बहती, उससे विद्वान तथा त्यागी भी प्रभावित होते थे। इन्दौर निवासी पं० श्री बंशीधरजी न्यायाचार्य ने अपने भावभीने भाषण में गद्‌गद्‌भाव से साहसपूर्वक समाज से स्पष्ट कहा था कि अनन्त चौबीसी के तीर्थङ्करों तथा आचार्यों ने सत्य दिगम्बर जैनधर्म को अर्थात् मोक्षमार्ग को प्रगट करनेवाला जो सन्देश दिया था, वह इन कानजीस्वामी की वाणी में हमें सुनायी दे रहा है।

सं० २०१५ में करीब सात सौ भक्तोंसहित गुरुदेव ने दक्षिण भारत के जैन तीर्थों की मङ्गल यात्रा हेतु प्रस्थान किया। कुन्दाद्रि, रत्नप्रतिमाओं का धाम मूडबिद्री, विश्वविख्यात बाहुबलिधाम-श्रवणबेलगोला, कुन्दकुन्दाचार्यदेव की तपोभूमि पोन्नूर आदि दक्षिण भारत के तथा मध्य भारत के अनेक तीर्थधामों की अति आनन्दपूर्वक मङ्गल यात्रा की। प्रवास के मार्ग में आनेवाले अनेक छोटे-बड़े नगरों में अध्यात्मविद्या की वर्षा की। गाँव-गाँव में भव्य स्वागत एवं अभिनन्दन समारोह हुए। पूज्य गुरुदेव के दक्षिण भारत में पदार्पण से वहाँ का समाज अति आनन्दित हुआ था और लोग उल्लास व्यक्त करते थे कि जिस प्रकार श्री भद्रबाहुस्वामी हजारों शिष्योंसहित उत्तर भारत से पधारे थे, उसी प्रकार अहा! श्री कानजीस्वामी हजारों भक्तों सहित पश्चिम भारत से दक्षिण भारत में पधारे और धर्म का महान उद्योत किया। (वि० सं० २०२० में दक्षिण भारत की दूसरी बार यात्रा की थी।)

अध्यात्ममूर्ति स्वानुभूतिसम्पन्न पवित्रात्मा पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावनागमन के धर्मोद्योतकारी अपार प्रसङ्गसितारों को गिनने से गिना नहीं जा सकता। एक घटना याद करो और दूसरी भूलो- ऐसी तो अनेक अद्भुत शासनप्रभावनापूर्ण घटनाओं से पूज्य गुरुदेव का जीवन विभूषित है। सोनगढ़ पूज्य गुरुदेव के पावन सत्समागम तथा प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन की पवित्र छाया

में अध्यात्मतत्त्वाभ्यासपूर्वक जीवन जीने हेतु, गुरुदेव के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा अङ्गीकार करके रहनेवाली कुमारिका ब्रह्मचारिणी बहिनों के लिये 'श्री गोगीदेवी दिगम्बर जैन श्राविकाब्रह्मचर्याश्रम' की स्थापना हुई; सङ्गमरमर निर्मित गगनचुम्बी भव्य मानस्तम्भ, श्री महावीर भगवान के विशाल भव्य जिनबिम्बयुक्त तथा समयसारादि परमागमों की सुन्दर कारीगरी से अत्यन्त सुशोभित अनुपम एवं अद्भुत 'श्री महावीरकुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागममन्दिर' आदि के निर्माणकार्य हुए तथा उनके प्रतिष्ठामहोत्सव मनाये गये; सौराष्ट्र, गुजरात और हिन्दीभाषी प्रदेशों में अनेक नगरों एवं ग्रामों में मुमुक्षु मण्डलों की स्थापना हुई; दिगम्बर जिनमन्दिर तथा समवसरण आदि रचे गए और उनकी भव्य प्रतिष्ठाएँ हुईं; तथा विदेश (नाइरोबी) प्रवास और वहाँ दिगम्बर जिनमन्दिर की भव्य प्रतिष्ठा तथा अध्यात्मतत्त्वोपदेश द्वारा सनातन सत्य जैनधर्म का प्रचार हुआ। इस प्रकार पूज्य गुरुदेव के पावन प्रभावना-उदययोग में विविधरङ्गी धर्मोद्योत हुआ। अहा! पूज्य गुरुदेव द्वारा हुए धर्मप्रभावना के उन पावन प्रसङ्गों के संस्मरण आज भी भक्तों के तन को रोमाञ्चित तथा मन को प्रफुल्लित कर देते हैं। वास्तव में पूज्य गुरुदेव ने इस युग में एक प्रभावक आचार्य- जैसा अद्भुत एवं अनुपम कार्य किया है।

पूज्य गुरुदेव के पुनीत प्रताप से सोनगढ़ का जीवन ही जगत से बिलकुल निराला था। प्रतिदिन प्रात: देव-गुरु के दर्शन, जिनेन्द्रपूजा, दो बार पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मरस झरते प्रवचन, जिनेन्द्रभक्ति, भगवान की आरती, और तत्त्वचर्चा आदि कार्यक्रम नियमित चलते थे; तदुपरान्त सत्साहित्य की- मूल शास्त्रों तथा प्रवचनों की- लाखों पुस्तकें और 'आत्मधर्म' पत्र प्रकाशित हुए। सोनगढ़ में तथा सौराष्ट्र, गुजरात और भारत के अन्य नगरों में अनेक पञ्चकल्याणपुरस्सर जिनबिम्ब-प्रतिष्ठाएँ, वेदी-प्रतिष्ठाएँ हुईं। उस हेतु तथा तीर्थयात्रा के निमित्त से भारतवर्ष में अनेक बाद गुरुदेव के जिनशासनप्रभावकारी मङ्गल विहार हुए, लाखों लोगों ने गुरुदेव की अश्रुतपूर्व अध्यात्मदेशना श्रवण की और हजारों लोगों में धार्मिक रुचि उत्पन्न हुई। इस तरह विविध प्रकार से कल्पनातीत व्यापक धर्मोद्योत गुरुदेव द्वारा हुआ।

यह असाधारण धर्मोद्योत स्वयमेव बिना प्रयत्न के साहजिक रीति से हुआ है। गुरुदेव ने धर्मप्रभावना के लिये कभी किसी योजना का विचार नहीं किया था। मन्दिर बनवाने की, प्रतिष्ठाएँ कराने की, पुस्तकें छपवाने की या धार्मिक शिक्षण-शिविर चलाने की- ऐसी किसी प्रकार की प्रवृत्तियों में वे कभी नहीं पड़ते थे। वह उनकी प्रकृति में ही नहीं था। मुनि को कोई कर्मप्रक्रम के परिणाम नहीं होते; अर्थात्, मुनि किसी प्रवृत्ति का कार्यभार नहीं लेते— इस प्रवचनसार की बात का विवरण करते हुए मानों अपने हृदय की बात शास्त्र में से निकल आयी हो, इस प्रकार वे बड़े प्रफुल्लित हो उठते थे। उनका समग्र जीवन निजकल्याणसाधना को समर्पित था। जगत, जगत की

जाने; मुझे अपना करना है- यह उनका हृदय था। **'आप मूए सब डूब गयी दुनिया'** यह कबीर ने गाया है, परन्तु गुरुदेव को तो जीवित ही **'मेरे लिये कोई है नहि दुनिया'** ऐसी परिणति जीवन में ओतप्रोत हो गयी थी। अहा! कैसी आश्चर्यकारी निस्पृह दशा!

जिन्होंने जो सुधाझरती आत्मानुभूति प्राप्त की थी, जिन कल्याणकारी तथ्यों को आत्मसात् किया था, उसकी अभिव्यक्ति 'वाह! ऐसी वस्तुस्थिति!'- ऐसे विविध प्रकार से सहजभाव से उल्लासपूर्वक उनसे हो जाती, जिसकी गहरी आत्मार्थप्रेरक छाप श्रोताओं के हृदयपट पर अङ्कित हो जाती। मुख्यतया इस प्रकार उनके द्वारा सहजरूप से धर्म का उद्योत हो गया था।

पूज्य गुरुदेव के निमित्त से ऐसी प्रबल बाह्य प्रभावना होनेपर भी वह स्वयं सहजरूप से हो गयी थी। गुरुदेव को बाह्य में किञ्चित्मात्र रस नहीं था। उनका जीवन तो आत्माभिमुख था। उनका दैनिक क्रम प्राय: निज ज्ञान, ध्यान, एवं शास्त्रस्वाध्याय में व्यतीत होता था। देवदर्शन, शास्त्रप्रवचन, जिनेन्द्रभक्ति, और तत्त्वचर्चा के सिवा अन्य प्रवृत्ति के प्रति उपेक्षाभाव वर्तता था। न कभी किसी के साथ इधर-उधर की बातें करते और न कभी पुस्तक प्रकाशनादि बाह्य कार्यों में रुचि बतलाते। गुरुदेव की परिणति ऐसी आत्मोन्मुख एवं वैराग्यपरिणत थी कि उन्हें सरस-नीरस आहार के प्रति लक्ष्य भी नहीं जाता था। वे हमेशा सादा आहार लेते थे। जो भी आहार आये, उसे उपेक्षित एवं उदासीन भाव से ग्रहण कर लेते थे। उनका जीवन मात्र आत्माभिमुख था। वे जगत से बिलकुल उदास-उदास थे। गुरुदेव के परम पावन आदर्श जीवन से, उनकी पवित्र आत्मसाधना से प्रभावित होने के कारण जिज्ञासुओं के दल हजारों की संख्या में पूज्य गुरुदेव की अध्यात्मरसझरती वाणी के प्रति आकर्षित हुए। हजारों भक्तों के श्रद्धाजीवन एवं भक्तिजीवन गुरुदेव के पुनीत चरणों में अर्पित हुए। अहा! गुरुदेव के प्रताप से, मरुस्थल में मीठे कुएँ की भाँति, पञ्चम काल के इस भौतिक विलास के विषमय युग में चतुर्थ काल का अंश-धर्मकाल का प्रवर्तन हुआ। वास्तव में गुरुदेव ने इस काल में अनेकान्त सुसङ्गत शुद्धात्मविद्या के नवयुग का प्रवर्तन किया है।

सचमुच तो पूज्य गुरुदेव इन सब कार्यों के 'कर्ता' थे ही नहीं; वे तो अन्तर से केवल उनके 'ज्ञाता' ही थे। उनकी दृष्टि और जीवन आत्माभिमुख था। बाह्य कार्य तो 'अकर्ता' भाव से- ज्ञाताभाव से सहजरूप से हो गये थे। स्वानुभूतिसमन्वित भेदज्ञानधारा में से प्रवाहित शुद्धात्मदृष्टिजनक अध्यात्मोपदेश द्वारा आत्मकल्याण का मार्ग बतलाया, यही वास्तव में उनका हमारे ऊपर असाधारण महान-महान मुख्य उपकार है। वे बारम्बार कहते थे- 'अल्पायुषी मनुष्यभव में निज कल्याण साधना तथा उसके कारणभूत सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही परम कर्तव्य है। सम्यग्दर्शन का माहात्म्य अपार है।'

श्रीमद्राजचन्द्रजी ने कहा है- 'अनन्त काल से जो ज्ञान भवहेतु होता था, उस ज्ञान को एक

समयमात्र में आत्यन्तर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार!' अरेरे! इस भवान्तकारी सम्यग्दर्शन-निजशुद्धात्मदर्शन-बिना अनादिकाल से अनन्त-अनन्त जीव संसार-परिभ्रमण के दुःख भोग रहे हैं। जीव चाहे जितने व्रत-तपादि क्रियाकाण्ड करे या शास्त्रों का ज्ञान कर ले, किन्तु जब तक राग को और परलक्ष्यी ज्ञान की दृष्टि तथा उसकी महिमा छोड़कर भीतर त्रैकालिक आत्मस्वभाव की महिमा न समझे; अन्तर्मुख दृष्टि न करे, तब तक उसकी गति संसार की ओर है। उसमें से जो कोई विरल जीव सुगुरुगम से तत्त्व को समझकर अपूर्व पुरुषार्थपूर्वक अपनी परिणति अन्तर्मुख करके सम्यग्दर्शन-निज शुद्धात्मानुभूति-प्राप्त कर ले, उसी ने वास्तव में संसारमार्ग पर चले जानेवाले विशाल पन्थसमुदाय से अलग होकर, मोक्षमार्ग पर अपना प्रयाण प्रारम्भ किया है। भले ही वह धीमी गति से चलता हो, असंयमदशा हो, अन्तर में साधना का-स्थिर हो जाने का उग्र पुरुषार्थ न हो; तथापि उसकी दिशा मोक्ष के ओर की है, उसकी जाति मोक्षमार्गी की है। सम्यग्दर्शन का ऐसा अद्भुत माहात्म्य कल्याणार्थी के हृदय में उतर जाना चाहिए।

अहा! मात्र सम्यग्दृष्टि होने का इतना माहात्म्य है, तो फिर भवसागर पार कर लेने का अमोघ उपाय बतलानेवाले ऐसे प्रत्यक्ष उपकारी सम्यग्दृष्टि के माहात्म्य की तो बात ही क्या? ऐसे अपने परमउपकारी सम्यग्दृष्टि सातिशयमाहात्म्यवन्त कृपालु कहानगुरुदेव के प्रति अपना सर्वस्व न्योछावर कर दें, तो वह भी कम है।

पूज्य गुरुदेव ने 'भगवान आत्मा.........भगवान आत्मा.........ज्ञायक' ऐसी ज्ञायकदेव की मधुर ध्वनि सदैव जीवन्तपर्यन्त गुंजायी। भौतिक जगत में जहाँ विशाल जनसमुदाय आत्मा के अस्तित्व सम्बन्ध में भी शङ्काशील है, वहाँ गुरुदेव ने युक्ति तथा स्वानुभव के अत्यन्त बलपूर्वक भेरी बजायी कि 'एक ज्ञायक आत्मा ही मैं हूँ, मैं सर्व के ऊपर तैरता परम पदार्थ हूँ।' वे आत्मा की मस्ती में गाते थे कि **'परम निधान प्रगट मुख निधान आगळे, जगत उल्लंघी हो जाये जिनेश्वर'**। उन्हें आश्चर्य होता कि यह, भीतर दृष्टि के समक्ष ही, परम निधान-समृद्धि से भरपूर ज्ञायकतत्त्व-विद्यमान है, उसका उल्लंघन करके-उसे लाँघकर-जगत क्यों चला जाता है? 'यह वस्तु सच्ची', 'यह वस्तु यहाँ यह दिख रही'- इस प्रकार दृश्य वस्तु को वह देखता है, किन्तु उसके देखनेवाले को वह क्यों नहीं देखता? क्यों उसे लाँघकर चला जाता है?

सर्व दृश्य वस्तुओं के द्रष्टा की-परमनिधान की-स्वानुभवयुक्त प्रतीति गुरुगम से होती है। अहा! ऐसे उस पवित्र गुरुगम के दाता अपने परमोपकारी गुरुदेव अपने को परम सौभाग्य से प्राप्त हुए।

पूज्य गुरुदेव कहते थे कि विश्व के सर्व द्रव्य परिपूर्ण स्वतन्त्र हैं। सभी द्रव्यों के गुण-पर्याय अथवा उत्पाद व्यय-ध्रौव्य भिन्न-भिन्न हैं। आत्मद्रव्य का शरीरादि पर द्रव्यों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा अन्य पदार्थों से बिलकुल भिन्न रहकर अपने शुभ, अशुभ, या शुद्धभाव को स्वयं

ही करता है। यहाँ स्वाभाविकरूप से ही प्रश्न होता है कि '(श्री प्रवचनसार-शास्त्र में कहे अनुसार) शुभ या अशुभ परिणमन में "शुभ या अशुभ" आत्मा बने'- ऐसा आप कहते हैं और साथ ही 'आत्मा "सदा शुद्ध" रहता है, जिस शुद्धता का आश्रय करना मोक्षमार्ग है'- ऐसा भी आपका कहना है; इन दोनों बातों का मेल किस प्रकार है?

इस अत्यन्त-अत्यन्त महत्व की बात का स्पष्टीकरण गुरुदेव इस प्रकार करते थे- स्फटिकमणि लाल वस्त्र के संयोग से लाल होता है, तब भी उसकी निर्मलता सर्वथा नष्ट नहीं हो गयी है; सामर्थ्य -अपेक्षा से- शक्ति-अपेक्षा से वह निर्मल रहा है; वह लालीरूप अवश्य परिणमित हुआ है, वह लाली स्फटिक की ही है, वस्त्र की बिलकुल नहीं; परन्तु वह लाली लालरङ्ग के चूरे की, हिङ्गड़े की या कुंकुम की लाली- जैसी नहीं है; लालदशा के समय भी सामर्थ्यरूप निर्मलता विद्यमान है। उसी प्रकार आत्मा कर्म के निमित्त से शुभभावरूप या अशुभभावरूप होता है, तब भी उसकी शुद्धता सर्वथा नष्ट नहीं हो गयी है, सामर्थ्य-अपेक्षा से- शक्ति-अपेक्षा से वह शुद्ध रहा है; वह शुभाशुभभावरूप अवश्य परिणमित हुआ है, वह शुभाशुभपना आत्मा का ही है, कर्म का बिलकुल नहीं; परन्तु शुभाशुभ दशा के समय भी सामर्थ्यरूप शुद्धता विद्यमान है। जिस प्रकार स्फटिकमणि को लाल हुआ देखकर कोई बालक रोने लगे कि 'अरेरे! मेरा स्फटिकमणि सर्वथा मैला हो गया', किन्तु जौहरी तो उस लाली के समय ही विद्यमान निर्मलता को मुख्यतापूर्वक जानता होने से वह निर्भय रहता है; उसी प्रकार आत्मा को शुभाशुभभावरूप परिणमता देखकर अज्ञानी उसे सर्वथा मलिन हुआ मानकर दुःखी-सुखी हो जाता है; परन्तु ज्ञानी शुभाशुभपने के समय ही विद्यमान शुद्धता को मुख्यतापूर्वक जानता होने से, वह निर्भय रहता है।

सामर्थ्य कहो, शक्ति कहो, सामान्य कहो, ज्ञायक कहो, ध्रुवत्व कहो, द्रव्य कहो, या परमपारिणामिक भाव कहो, यह सब एकार्थ हैं- ऐसा गुरुदेव कहते थे।

आत्मा 'भविष्य में' सर्वज्ञ होगा, सम्पूर्ण सुखी होगा, निर्विकारी होगा -ऐसा नहीं, किन्तु 'वर्तमान में ही' वह सामर्थ्य-अपेक्षा से सम्पूर्ण विज्ञानघन है, अनन्तानन्द का पिण्ड है, निर्विकारी है, जिसकी ज्ञानी को स्पष्ट अनुभवसहित प्रतीति होती है। गुरुदेव कहते कि **'तेरो सरूप न दुंदकी दोहीमें, तोहीमें है तोही सूझत नाहीं।'** तेरा स्वरूप राग-द्वेषादि द्वन्द्व की दुविधा में नहीं है, इसी समय राग-द्वेषरहित है; उसकी सूझ से ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। उसकी सूझ के बिना तू संसार में परिभ्रमण करता है।

सामर्थ्यरूप (शक्तिरूप) शुद्धत्व के-ध्रुवत्व के भान बिना शुद्ध परिणति नहीं होती। ध्रुवत्व अर्थात् अन्वय का अर्थ मात्र 'वह......वह......वह' इतना ही नहीं, किन्तु केवलज्ञान सामर्थ्य से भरपूर, अनन्त सुखसामर्थ्य से भरपूर, अनन्त वीर्यादिसामर्थ्य से भरपूर, ऐसा 'वह......वह......वह'- ऐसा

अन्वय, ऐसा सामान्य, ऐसा परमपारिणामिक भाव, ऐसा ज्ञायक। ऐसे शुद्धज्ञायक का गुरुदेव सतत् अनुभव कर रहे थे; इससे उनको निरन्तर आंशिक शुद्धपरिणति वर्तती थी। उनके साथ वर्तनेवाला प्रयोजनभूत विषयों का द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, नव तत्त्व, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, मोक्षमार्ग इत्यादि का- ज्ञान भी उनको विशदतापूर्वक सम्यक्‌रूप से परिणमता था, जिससे शास्त्रों के लुप्तप्राय हो गये सच्चे भाव उनके द्वारा खुले और जगत में खूब प्रचलित हुए।

वे कहते थे कि 'अहो जीवों! अशुभ तथा शुभ दोनों भाव बन्ध के कारण हैं, मोक्ष के नहीं।' 'तो मोक्ष का कारण कौन?' 'शुद्धभाव।' 'कषाय कम करें उतना तो शुद्धभाव होगा न?' दृढ़ता से उत्तर मिलता है कि 'वह तो शुभभाव है; निरन्तर शुद्ध ऐसे निज आत्मपदार्थ को श्रद्धना-जानना और उसमें लीन होना वह शुद्धभाव है'। 'अशुद्धभाव के समय भी शुद्ध? अशुद्ध और शुद्ध एक साथ कैसे हो सकते हैं?' 'हो सकते हैं। **यद् विशेषेपि सामान्यं एकमात्रं प्रतीयते।** अशुद्ध विशेषों के समय भी सामान्य तो एकरूप-शुद्धरूप रहता है।' शुभाशुभपर्याय के समय भी भीतर स्वभाव में सामर्थ्यरूप से परिपूर्ण भरपूर शुद्धता भरी पड़ी है, वह बात श्रीपञ्चाध्यायी के **'सन्त्येनकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः। आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः।।'** -इस श्लोक में कहे गये सुवर्ण, कमल, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिकमणि, ज्ञान, समुद्र, एवं लवण के दृष्टान्तों द्वारा गुरुदेव समझाते थे। विशेष-अपेक्षा से होनेवाली अशुद्धता के समय भी सामान्य-अपेक्षा से रहनेवाली द्रव्य की शुद्धता समझाते हुए गुरुदेव कहते कि द्रव्य-अपेक्षा से वर्तमान में शुद्धता विद्यमान न हो, तो किसी काल पर्यायशुद्धता हो ही नहीं सकती। जहाँ अज्ञानी विशेषों का आस्वादन करते हैं, वहीं ज्ञानी सामान्य के आविर्भावपूर्वक स्वाद लेते हैं। यही संक्षेप में बन्धमार्ग और मोक्षमार्ग का मूलभूत रहस्य है।

पूज्य गुरुदेव ने भारतवर्ष में सम्यग्दर्शन एवं स्वानुभूति की महिमा का पावन युगप्रवर्तन किया।

जिस प्रकार श्रीप्रवचनसार में आचार्यभगवान ने जगत के समक्ष घोषित किया है कि 'श्रामण्य को अङ्गीकार करने का जो यथानुभूत- हमने स्वयं अनुभव किया हुआ- मार्ग उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं'; उसी प्रकार अध्यात्मविद्या-युगस्रष्टा पूज्य गुरुदेव ने भी स्वयं अनुभव करके अत्यन्त दृढ़तापूर्वक सिंहनाद किया कि 'अनुभव करके कहते हैं कि स्वानुभूति का मार्ग ही मोक्ष का उपाय है, तुम निर्भयरूप से इस मार्ग पर चले आओ।'

स्वानुभूति होनेपर जीव को कैसा साक्षात्कार होता है? उस सम्बन्ध में गुरुदेव कहते थे कि स्वानुभूति होनेपर, अनाकुल-आह्लादमय, एक, समस्त विश्व पर तैरता विज्ञानघन परमपदार्थ- परमात्मा अनुभव में आता है। ऐसे अनुभव बिना आत्मा सम्यक्‌रूप से देखने में-श्रद्धने में ही नहीं आता; इसलिये बिना स्वानुभूति के सम्यग्दर्शन का-धर्म का प्रारम्भ ही नहीं होता।

ऐसी स्वानुभूति प्राप्त करने के लिये जीव को क्या करना? स्वानुभूति की प्राप्ति के लिये

ज्ञानस्वभावी आत्मा का किसी भी प्रकार निर्णय करने को गुरुदेव भारपूर्वक कहते थे। ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने में सहायभूत तत्त्वज्ञान का- द्रव्यों का स्वयंसिद्ध सत्‌पना और स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, नव तत्त्वों का सच्चा स्वरूप, जीव और शरीर की बिलकुल भिन्न-भिन्न क्रियाएँ, पुण्य और धर्म के लक्षण भेद, निश्चय-व्यवहार इत्यादि अनेक विषयों के सच्चे बोध का- गुरुदेव ने भारतव्यापी प्रचार किया। तीर्थङ्करदेवों द्वारा कहे गये ऐसे अनेक सत्य तो गुरुदेव द्वारा विविध माध्यमों से प्रकाशित हुए ही; साथ ही साथ सर्व तत्त्वज्ञान का सिरमौर- मुकुटमणि जो शुद्धद्रव्यसामान्य अर्थात् परमपारिणामिकभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभावी शुद्धात्मद्रव्यसामान्य जो स्वानुभूति का आधार है, सम्यग्दर्शन का आश्रय है, मोक्षमार्ग का आलम्बन है, सर्व शुद्धभावों का नाथ है- उसे बाहर लाकर पूज्य गुरुदेव ने अथाह उपकार किया है।

जीव परद्रव्य की क्रिया तो नहीं करता, किन्तु विकारकाल में भी स्वभाव-अपेक्षा से निर्विकार रहता है; अपूर्ण दशा के समय भी परिपूर्ण रहता है, सदा शुद्ध है, कृतकृत्य भगवान है। जिस प्रकार रङ्गित दशा के समय स्फटिकमणि के विद्यमान निर्मल स्वभाव की प्रतीति हो सकती है; उसी प्रकार विकारी अपूर्ण दशा के समय भी जीव के विद्यमान निर्विकारी, परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति हो सकती है। ऐसे शुद्धस्वभाव के अनुभव बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं होता; मुनिपने का पालन भी नरकादिक दुःखों के भय से या अन्य किसी हेतु से किया जाता है। 'मैं कृतकृत्य हूँ, परिपूर्ण हूँ, सहजानन्द हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिए'- ऐसी परम उपेक्षारूप, सहज उदासीनतारूप, स्वाभाविक तटस्थतारूप मुनिपना द्रव्यस्वभाव के अनुभव बिना कभी नहीं आता। ऐसे शुद्धद्रव्य-स्वभाव के-ज्ञायकस्वभाव के निर्णय के पुरुषार्थ की ओर, उसकी लगन की ओर आत्मार्थियों को मोड़कर, भवभ्रमण से आकुलित मुमुक्षुओं पर गुरुदेव में अकथ्य उपकार किया है।

जिस प्रकार पूज्य गुरुदेव का तात्त्विक उपदेश हमें सत्य मार्ग की ओर उन्मुख करता है; उसी प्रकार उनके ध्येयनिष्ठ जीवन का प्रत्यक्ष परिचय, उनका सत्सङ्ग हमारे समक्ष आत्मार्थीजीवन का आदर्श उपस्थित करके हमें पुरुषार्थ की प्रेरणा देता था। 'इस महँगे मनुष्यभव में भवभ्रमण के अन्त का ही उपाय करना'- यह एक ही जीवनध्येय गुरुदेव का पहले से ही था। उस ध्येय को उन्होंने समग्र जीवन समर्पित किया था। उसी के लिये अध्ययन, उसी का मन्थन, उसी का प्रयत्न, वही उपदेश, वही बात, वही चर्चा, वही धुन, उसी के स्वप्न, उसी की भनक-उनका समस्त जीवन उसी हेतु था। गत अनेक वर्षों में जगत में विविध आन्दोलन आये और गये; अनेक राजकीय, सामाजिक, धार्मिक झंझावात हुए, किन्तु मेरु समान अचल गुरुदेव के ध्येयनिष्ठ जीवन को वे लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सके। 'इस एक भव के सुखाभास के हेतु कल्पित व्यर्थ प्रयत्न से क्या लाभ? मुझे तो एक भव में अनन्त भवों का अन्त करना है'- ऐसे भावपूर्वक, फिर जन्म न हो उसके उपाय की धुन में, वे निज

अन्तर्मुख जीवन में अत्यन्त लीन रहे। भवान्त के उपाय के सिवाय अन्य सब उन्हें अत्यन्त तुच्छ लगता था।

पूज्य गुरुदेव का अन्तर सदा 'ज्ञायक......ज्ञायक......ज्ञायक, ध्रुव......ध्रुव......ध्रुव, शुद्ध... ...शुद्ध......शुद्ध, परमपारिणामिकभाव'- इस प्रकार त्रैकालिक ज्ञायक के आलम्बनभाव से निरन्तर-जागृति में या निद्रा में- परिणमित हो रहा था। श्रीसमयसार, नियमसारादि के प्रवचन करते हुए या चर्चा-वार्ता में वे ज्ञायक के स्वरूप का और उसकी महिमा का मधुर सङ्गीत गाते ही रहते थे। अहा! वे स्वतन्त्रता और ज्ञायक के उपासक गुरुदेव! उन्होंने मोक्षार्थी को सच्चा मुक्ति का मार्ग बतलाया।

ज्ञायक तणी वार्ता करे, ज्ञायक तणी दृष्टि धरे,
निजदेह-अणुअणुमां अहो! ज्ञातृत्वरस भाव भरे;
ज्ञायकमहीं तन्मय बनी ज्ञातृत्वने फेलावतो,
काया अने वाणी-हृदय ज्ञातृत्वमां रेलावतो।

-ऐसे ज्ञायकोपासक थे अपने गुरुदेव।

वे द्रव्य-अपेक्षा से '**सिद्धसमान सदा पद मेरो**'- ऐसे अनुभवते थे; तथापि पर्याय-अपेक्षा से 'हम कब सिद्धपना प्रगट करेंगे?' इस प्रकार भावना भी भाते थे। सिद्धत्व की तो क्या, किन्तु संयम की भावनारूप भी वे परिणमते थे। '**कल्पवृक्ष सम संयम केरी अति शीतल जहँ छाया जी, चरणकरणगुणधार महामुनि मधुकर मन लोभायाजी**'- ऐसे अनेक बार भावविभोर ललकार से तथा '**अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे? क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो?.......**' इस प्रकार हृदय की गहरायी से दैनिक प्रवचनों में तथा श्री जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा में दीक्षाकल्याणक के प्रासङ्गिक के प्रवचन में विविध प्रकार से संयम की भावना भाते हुए गुरुदेव की पावन-मूर्ति भक्तों की दृष्टि समक्ष तैरती है।

'सिद्धसमान अपने को पूर्ण शुद्ध देखें-मानें, तथापि संयम की भावना भायें?' हाँ; शक्ति-अपेक्षा से परिपूर्ण शुद्ध अपने को देखते-मानते हुए भी व्यक्ति-अपेक्षा से शुद्ध होने की भावना ज्ञानी को अवश्य होती है। गुरुदेव ऐसी शास्त्रोक्त यथार्थ सन्धिबद्ध सम्यक् परिणतिरूप परिणमित हो रहे थे। वास्तव में तो शुद्धस्वरूप के दृष्टा सम्यग्दृष्टि जीव को ही सच्ची संयम की भावना होती है, क्योंकि वह संयमपरिणति का सच्चा स्वरूप जानता है। मिथ्यादृष्टि को सच्ची संयम की भावना होती ही नहीं, क्योंकि उसे सच्चे संयम की खबर नहीं है।

'बहिनश्री के वचनामृत' के ३०८वें बोल में कहा है कि- 'जिस प्रकार सुवर्ण को जङ्ग नहीं लगता, अग्नि को दीमक नहीं लगती; उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती।' जिस प्रकार पूज्य गुरुदेव शक्ति-अपेक्षा के इस बोल का बारम्बार उल्लासपूर्वक स्मरण करते

थे, उसी प्रकार व्यक्ति-अपेक्षा का सिद्धत्व प्राप्त करने की भावना का ४०१वाँ बोल भी अनेक बार उल्लसितभाव से याद करके प्रसन्नतापूर्वक कहते थे- 'देखो! बहिन कैसी भावना भाती है?' 'यह विभावभाव हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। यहाँ हमारा कोई नही है।.........अब हम स्वरूपस्वदेश की ओर जा रहे हैं। हमें त्वरा से अपने मूल वतन में जाकर आराम से बसना है, जहाँ सब हमारे हैं।'

ऐसा अनेकान्तसुसङ्गत यथार्थ सन्धिवाला पूज्य गुरुदेव का जीवन हमें सच्चा मार्ग बतला रहा है। वह पवित्र जीवन हमें किन्हीं भी शुभभावों में सन्तुष्ट न होकर ध्रुव तत्त्व के आलम्बन के पुरुषार्थ की प्रबल प्रेरणा दे रहा है; तथा 'मैं ध्रुव हूँ' ऐसी दृढता के साथ-साथ 'हम अपने मूल वतन में जाने के लिये तरस रहे हैं' ऐसी आर्द्रता भी रहनी चाहिए, नहीं तो 'ध्रुव तत्त्व' की समझ के प्रकार में ही कुछ भूल है -ऐसी चेतावनी देकर, दीपस्तम्भरूप रहकर, हमारी जीवन नौका को चट्टानी मार्ग से बचाकर, हमें सच्चे मार्ग पर लगाते हैं। श्री सद्गुरुदेव की स्तुति में हम गाते हैं न-

भवजलधि पार उतारने जिनवाणी है नौका भली;
आत्मज्ञ नाविक योग बिन वह नाव भी तारे नहीं।
इसकालमें शुद्धात्मविद नाविक महा दुष्प्राप्य है;
मम पुण्यराशी फलि अहो! गुरुक्हान नाविक आ मिले।।

अहा! इस प्रकार परमकृपालु परमपूज्य गुरुदेव का स्वानुभवविभूषित पवित्र जीवन तथा अध्यात्मोपदेश हमें अत्यन्त उपकारक हो रहे हैं।

वस्तुतः पूज्य गुरुदेव ने स्वानुभूति प्रधानता के एक अद्भुत युग का प्रवर्तन किया है। **'मेरो धनी नहि दूर दिसंतर, मोहिमे है मोहि सूझत नीकै'**- ऐसा प्रबल सिंहनाद करके गुरुदेव ने सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत स्वानुभूतिप्रधान जिनशासन की मन्द हुई ज्योति में नया तेल डालकर आत्मार्थी जीवों पर वास्तव में महान अनहद उपकार किया है।

ऐसे चमत्कारपूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान-भक्ति के नवयुग का सृजन करनेवाले महान-महान उपकारी परमकृपालु परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने स्वानुभवसमृद्ध ज्ञानभण्डार में से भक्तों को खूब-खूब दिया; भारत के सुपात्र जीवों को निहाल कर दिया। ९१ वर्ष की उम्र तक अविरतरूप से वीतरागविज्ञान का वितरण किया। अन्त में, भक्तों के भाग्य क्षीण हुए। वि० सं० २०३७ मगसिर कृष्णा सप्तमी, शुक्रवार (ता० २८-११-१९८०) के दिन भक्तों के परमाधार गुरुदेव ने भक्तों को निराधार छोड़कर, अन्तर ज्ञायक की साधनायुक्त समाधिपरिणाम में स्वर्ग की ओर महाप्रयाण किया।

अहो! कृपालु गुरुदेव की उपकारभरपूर महिमा का तो क्या वर्णन हो!

श्रीमद्राजचन्द्रजी ने गुरुमहिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि-

अहो! अहो! श्री सद्गुरु, करुणासिन्धु अपार;
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो! अहो! उपकार।
शुं प्रभुचरण कने धरुं, आत्माथी सौ हीन;
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन।
आ देहादि आजथी, वर्तो प्रभु आधीन;
दास, दास, हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन।

परम कृपालु पूज्य गुरुदेव की अपार उपकारमहिमा, उनकी परम-भक्त प्रशममूर्ति धन्यावतार आत्मज्ञानी पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के विविध प्रसङ्गों पर बोले गये शब्दों में कहकर पूज्य गुरुदेव का 'संक्षिप्त जीवनवृत्त तथा उपकार-गुणकीर्तन' समाप्त करता हूँ :-

-'पूज्य कहानगुरुदेव से तो मुक्ति का मार्ग मिला है। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है। गुरुदेव का अपार उपकार है। यह उपकार कैसे भूला जाये?'

-'गुरुदेव का द्रव्य तो अलौकिक है। उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारी है।'

-'परमउपकारी गुरुदेव का द्रव्य मङ्गल है; उनकी अमृतमयी वाणी मङ्गल है। वे मङ्गलमूर्ति हैं; भवोदधितारणहार हैं। महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं।'

-'पूज्य गुरुदेव के चरणकमल की भक्ति और उनका दासत्व निरन्तर हो।'

-'तीर्थङ्कर भगवन्तों द्वारा प्रकाशित दिगम्बर जैनधर्म ही सत्य है- ऐसा गुरुदेव ने युक्ति न्याय से सर्व प्रकार स्पष्टरूप से समझाया है। मार्ग की खूब छानबीन की है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय व्यवहार, आत्मा का शुद्ध स्वरूप, सम्यग्दर्शन, स्वानुभूति, मोक्षमार्ग इत्यादि सब कुछ उनके परम प्रताप से इस काल सत्यरूप से बाहर आया है। गुरुदेव की श्रुत की धारा कोई और ही है। उन्होंने हमें तरने का मार्ग बतलाया है। प्रवचन में कितना मथ-मथकर निकालते हैं! उनके प्रताप से सारे भारत में बहुत जीव मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। पञ्चम काल में ऐसा सुयोग प्राप्त हुआ, वह अपना परम सद्भाग्य है। जीवन में सब उपकार गुरुदेव का ही है। गुरुदेव गुणों से भरपूर हैं, महिमावन्त हैं। उनके चरणकमल की सेवा हृदय में बसी रहे।'

-'गुरुदेव ने शास्त्रों के गहन रहस्य सुलझाकर सत्य ढूँढ निकाला और हमारे सामने स्पष्टरूप से रखा है! हमें कहीं सत्य ढूँढने को जाना नहीं पड़ा। गुरुदेव का कोई अद्भुत प्रताप है। "आत्मा" शब्द बोलना सीखे हों, तो वह भी गुरुदेव के प्रताप से। "चैतन्य हूँ", "ज्ञायक हूँ"- इत्यादि सब गुरुदेव के प्रताप से ही जाना है..........।'

-'......(श्रीकहानगुरुदेव ने) अपने सातिशय ज्ञान एवं वाणी द्वारा तत्त्व का प्रकाशन करके

भारत को जागृत किया है। गुरुदेव का अमाप उपकार है। इस काल ऐसे मार्ग समझानेवाले गुरुदेव मिले वह अहोभाग्य है। सातिशय गुणरत्नों से भरपूर गुरुदेव की महिमा और उनके चरणकमल की भक्ति अहोनिश अन्तर में रहो।'

–यह है प्रशममूर्ति भगवती पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के श्रीमुख से विभिन्न अवसरों पर प्रवाहित, आध्यात्मिक युगपुरुष परम कृपालु परम पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की उपकारगरिमायुक्त लोकोत्तर महिमा। ऐसे सातिशय महिमावन्त महापुरुष के पावन योग से भारतवर्ष का आध्यात्मिक क्षेत्र उज्ज्वल हुआ है। शुद्धात्मदृष्टि का सुधापान करानेवाले इन तिरते पुरुष के सत्समागम का लाभ लेनेवाले महान भाग्यशाली बने हैं।

परमपूज्य परमोपकारी गुरुदेव के चरणों में- उनकी माङ्गलिक पवित्रता को, पुरुषार्थप्रेरक ध्येयनिष्ठ जीवन को, स्वानुभूतिमूलक सन्मार्ग-दर्शक उपदेशों को, और अनेकानेक उपकारों को दृष्टि समक्ष रखकर- अत्यन्त भक्तिपूर्वक भावभीनी वन्दना हो। उनके द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पन्थ जगत में सदा जयवन्त वर्ते और हमें सत्पुरुषार्थ की प्रेरणा का अमृतपान निरन्तर कराता रहे।

(वचनामृत प्रवचन से साभार)

काहे होत अधीरा रे!

जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे,
बिन देख्यो होसो नहीं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे।। १ ।।
समयो अेक बढ़ै नहिं घटसी, जो सुख दुःख की पीरा रे,
तू क्यों सोच करै मन कूड़ों, होय बज्र ज्यों हीरा रे।। २ ।।
लगै न तीर कमान बान कहूं, मार सके नहिं मीरा रे,
तूँ सम्हारि पौरुष-बल अपनौ, सुख अनन्त तो तीरा रे।। ३ ।।
निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को, जो टारै भव भीरा रे,
'भैया' चेत धरम निज अपना, जो तारे भवनीरा रे।। ४ ।।

(भैया भगवतीदास जी)

विषयसूची

प्रकरण-३

प्रकरण-४

परिशिष्ट-१

सारणीसूची

प्रकरण - १

।। श्री वीतरागाय नमः ।।

जिनागमसार

[मङ्गलाचरण]

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।। १ ।।
मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।। २ ।।
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।। ३ ।।
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।। ४ ।।
मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमौ ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान।। ५ ।।
करि मंगल करिहौं महा, ग्रन्थकरन को काज।
जातैं मिले समाज सब, पावै निजपद राज।। ६ ।।
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्।। ७ ।।

जिनागमसार

इस ग्रन्थ का नाम **'जिनागमसार'** ही क्यों रखा गया है?
इसमे मुख्यरूप से क्या वर्णित है और इसका उद्देश्य क्या है?

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम **'जिनागमसार'** है। 'जिन' का आशय भगवान अर्हन्तदेव से है और 'आगम' का तात्पर्य है- भगवान अर्हन्तदेव की दिव्यदेशनापूर्वक गणधरादिदेवों तथा परम्परा से आचार्यों द्वारा रचित 'सर्वश्रुत'।

पूरा विश्व, विश्व-व्यवस्था, और जिनवर-कथित आगम **'द्रव्य-गुण-पर्याय'** में समाहित है। इस ग्रन्थ में उपलब्ध परमागमों में से द्रव्य-गुण-पर्याय का 'सार' निकालकर सङ्कलित करने का प्रयास किया गया है। द्रव्य-गुण-पर्याय को सम्यक् प्रकार जानने का फल रत्नत्रय; अर्थात्, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, वृद्धि, और पूर्णता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'द्रव्य-गुण-पर्याय' का सम्यग्ज्ञान 'कारण' (साधन) और रत्नत्रय की प्राप्ति 'कार्य' (साध्य) है। इस ग्रन्थ में 'द्रव्य-गुण- पर्यायरूप कारण और रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) रूप कार्य' को यथासम्भव आगमप्रमाण उल्लेखोंसहित समाहित करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। अत: ग्रन्थ का **'जिनागमसार'** नाम पूर्णत: चरितार्थ और सार्थक है।

आचार्यदेवों और अनन्त ज्ञानियों ने कहा भी है-

-'इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या।
षड्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम् ।। ५१।।'

श्लोकार्थ- इस प्रकार जिनमार्गरूपी रत्नाकर में से पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक षट्द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्यों के कण्ठाभरण के हेतु बाहर निकाली है; तथा,

-'इति जिनपतिमार्गांभोधिमध्यस्थरत्नं द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम्।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।। १६।।'

श्लोकार्थ- इस प्रकार उस षट्द्रव्यसमूहरूपी रत्न को जो कि तेज अम्बार के कारण किरणोंवाला है और जो जिनपति के मार्गरूपी समुद्र के मध्य में स्थित है, उसे जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष हृदय में भूषणार्थ धारण करता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

(परमागम श्रीनियमसार, श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव विरचित श्लोक ५१ व १६ तथा श्लोकार्थ)

-'एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुदिट्ठी।। ३२३।।'

अन्वयार्थ- जो इस प्रकार के निश्चय से सब द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल इनको और इन द्रव्यों की सब पर्यायों को, सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है, श्रद्धान करता है- वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है। जो ऐसा श्रद्धान नहीं करता है, शङ्का करता है- वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल है; प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

(श्रीस्वामी कार्तिकेयदेव विरचित श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३२३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४६)

- 'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।'

अन्वयार्थ- जो अरहन्त को द्रव्यपनें, गुणपनें और पर्यायपनें जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।

(आचार्य कुन्दकुन्ददेव विरचित श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४१)

-'पर्यायैश्च गुणैश्च साधु विदिते तस्मिन् गिरा सद्गुरोर्ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः।। १५८।।'

अर्थ- उत्तम गुरु के उपदेश से अपने गुणों और पर्यायों के साथ उस ज्ञानदर्शन स्वरूप जीव के भले प्रकार जानलेने पर योगियों ने क्या नहीं जाना, क्या नहीं देखा, और क्या नहीं प्राप्त किया? अर्थात् उपर्युक्त जीव के स्वरूप को जान लेने पर अन्य सब-कुछ जान लिया, देख लिया, और प्राप्त कर लिया है- ऐसा समझना चाहिए।

(आचार्य पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, धर्मोपदेशामृतम्, गाथा १५८ का उत्तरार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ ६४)

-'द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ अनुभवना ही अनुभव है। अनुभव से पञ्च परमगुरु हुए व होंगे। वह अनुभव का ही प्रसाद है।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ २-३)

-'द्रव्य-गुण-पर्याय में सारे ब्रह्माण्ड का तत्त्व आजाता है? 'प्रत्येक द्रव्य अपने गुणों में रहकर स्वतन्त्ररूप से अपनी पर्यायरूप परिणमित होता है;' 'पर्याय द्रव्य को पहुँचती है, द्रव्य पर्याय को पहुँचता है'-ऐसी-ऐसी सूक्ष्मता को यथार्थरूप से लक्ष्य में लेने पर मोह कहाँ खड़ा रहेगा?'

(पू० बहनश्री के वचनामृत, वचनामृत संख्या ३०८, पृष्ठ १२०)

इस ग्रन्थरचना (सङ्कलन/सम्पादन) का उद्देश्य स्वयं को एवं पाठकों को रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति, वृद्धि, और पूर्णता प्राप्त हो- ऐसी भावना है।

सम्पादक

जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त

१. अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। उन्हें (पर को) परिणमित कराना चाहे, वह कोई उपाय नहीं है; वह तो मिथ्यादर्शन ही है।

–श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५२

२. 'सद् द्रव्यलक्षणम्'। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'।

–श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९-३०

३. जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, और काल लोकप्रमाण असंख्यात हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण में प्रत्येक समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय, और गुण ध्रौव्य रहता है। ऐसा प्रत्येक द्रव्य के गुण में हो चुका है, हो रहा है, और होता रहेगा।

–आधार-श्रीप्रवचनसार गाथा ९९ व श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९-३० का भावार्थ

४. अपने-अपने सत्व कूँ, सर्व वस्तु विलसाय।
ऐसे चितवै जीव जब, परतै ममत न थाय ॥ ५॥

–पण्डित जयचन्दजी कृत बारह-भावना

५. (१) स्व में बस, (२) पर से खस, (३) आयेगा आत्मा में अतीन्द्रियरस, (४) यही है अध्यात्म का कस, (५) इतना करो तो बस।

–पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टिजिनेश्वर, वचनामृत ३९८, पृष्ठ ९३

६. स्व- (१) अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, (२) प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी, (३) अनादिनिधन, (४) वस्तु आप है।

पर- (१) मूर्तिकपुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, (२) प्रसिद्ध ज्ञानादिकों से रहित (३) जिनका नवीन संयोग हुआ, (४) ऐसे शरीरादिक पुद्गल पर हैं।

-श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३८

७. बदलने (परिवर्तन) के साथ स्थायित्व

PERMANENCY WITH CHANGE एवं

कोई वस्तु नष्ट नहीं होती; प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है।

NO SUBSTANCE IS EVER DESTROYED. IT CHANGES ITS FORM ONLY

-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ३५४

पूज्य श्रीसद्गुरुदेव के उद्गार

हे आत्मा अब तो बस!!! नरक के अनन्त दु:ख, जिन्हें सुननेमात्र से हृदय काँप उठे ऐसे दु:ख, अनन्त-अनन्तकाल तूने सहन करे; परन्तु तूने तेरा सच्चा ज्ञान अनन्तकाल में एक क्षण भी नहीं किया। इस उत्तम मनुष्य जीवन में अनन्तकाल के अनन्त दु:खों को दूर करने का समय आया है, और अब भी जो तू (तेरे स्वरूप को) जानने का सच्चा उपाय नहीं करेगा तो पुन: अनन्तकाल चौरासी में भ्रमण करना पड़ेगा............इसलिये जागृत हो! 'आत्मा का भान कर ले!!'

आत्मा को पहचाने बिना छुटकारा नहीं है। वस्तु के भान के बिना कहाँ जायेगा? तेरा सुख-शान्ति तेरी वस्तु में से आती है कि बाहर से? तू चाहे जिस क्षेत्र में जा, परन्तु तू तो तेरे में ही रहनेवाला है। तेरा सुख स्वर्ग में से नहीं आनेवाला; तू तेरे से कोई भी काल अथवा क्षेत्र में भिन्न पड़नेवाला नहीं है। तू तेरे भान के अभाव में ही दु:खी हो रहा है। वह दु:ख दूर करने के लिये तीनों काल के ज्ञानी एक ही उपाय बता रहे हैं- 'आत्मा को पहचानो'।

(पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी, आत्मधर्म, जुलाई १९९६, पृष्ठ ६)

मनुष्यभव सफल करने के लिये विशेष लक्ष्य में लेने योग्य विषय

[श्री रामजी माणेकचन्द दोशी, एडवोकेट]

१. अनादिकाल से लेकर पहले तो इस जीव को नित्य-निगोदरूप शरीर का सम्बन्ध (होता) था। उस शरीर की आयु पूर्ण होनेपर जीव मरकर पुनः पुनः नित्य निगोद शरीर को ही धारण करता है। इस प्रकार अनन्तानन्त जीवराशियाँ अनादिकाल से निगोद में ही जन्म-मरण करती हैं।

२. निगोद में से छः मास और आठ समय में ६०८ जीव निकलते हैं। वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायों में, अथवा दो से चार इन्द्रियरूप शरीरों में, या चार गतिरूप पञ्चेन्द्रिय शरीरों में भ्रमण करते हैं; और फिर पुनः निगोद शरीर को प्राप्त करते हैं, (यह इतर निगोद है)।

३. जीव का त्रस में एक ही साथ रहने का उत्कृष्टकाल मात्र दो हजार सागर है। जीव को अधिकांश एकेन्द्रिय पर्याय में और उसमें भी अधिक समय निगोद में रहना होता है। वहाँ से निकलकर त्रसशरीर को प्राप्त करना 'काकतालीयन्यायवत्' होता है। त्रस में भी मनुष्यभव पाना तो क्वचित् ही होता है।

४. इस प्रकार जीव की दो मुख्य स्थितियाँ हैं- निगोद और सिद्ध। बीच का त्रसपर्यायकाल तो बहुत ही थोड़ा और उसमें भी मनुष्यत्व का काल तो अत्यन्त स्वल्पातिस्वल्प है।

५. (क) संसार में जीव का मनुष्यभव में रहने का काल सबसे थोड़ा है;
(ख) नारकी के भवों में रहने का काल उससे असंख्यातगुणा है;
(ग) देव के भवों में रहने का काल उससे (नारकी से) असंख्यातगुणा है; और
(घ) तिर्यञ्चभवों में (मुख्यता निगोद में) रहने का काल उससे (देव से) अनन्तगुणा है।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वदशा में शुभ तथा अशुभभाव करता रहता है। उसमें भी जीव ने नरक के योग्य तीव्र अशुभभाव की अपेक्षा देव के योग्य शुभभाव असंख्यातगुणे किये हैं। शुभभाव करके यह जीव अनन्तबार स्वर्ग में देव होकर नौवें ग्रैवेयक तक जा चुका है।

६. नौवें ग्रैवेयक के योग्य शुभभाव करने वाला जीव गृहीत मिथ्यात्व छोड़ देता है; सच्चे देव, गुरु, एवं शास्त्र को निमित्तरूप से स्वीकार करता है और पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति, आदि के उत्कृष्ट शुभभाव अतिचाररहित पालन करता है। इतना करने पर ही जीव को नौवें ग्रैवेयक जाने के योग्य शुभभाव होते हैं। आत्मप्रतीति के बिना मिथ्यादृष्टि योग्य उत्कृष्ट शुभभाव जीव ने अनन्तबार किये हैं। फिर भी मिथ्यात्व नहीं गया; इसलिये शुभभाव, पुण्य करते-करते धर्म; अर्थात्, सम्यग्दर्शन हो या मिथ्यात्व दूर हो जाये, यह अशक्य है। इसलिये-

७. इस मनुष्यभव में ही जीवों को आत्मा का सच्चा स्वरूप समझकर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए। 'STRIKE WHEN THE IRON IS HOT'
"जब तक लोहा गर्म है तब तक उसे पीट लो; गढ़ लो"- इस कहावत के अनुसार इसी मनुष्यभव में जल्दी आत्मस्वरूप को समझ लो, अन्यथा थोड़े ही समय में त्रसकाल पूरा हो जायेगा और एकेन्द्रिय-निगोदपर्याय प्राप्त होगी और उसमें अनन्तकाल तक रहना होगा।

-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ११, पृष्ठ २०६-२०७

सच्ची लगन

जिस प्रकार कोई बालक अपनी माता से बिछुड़ गया हो, उससे पूछे कि 'तेरा नाम क्या है?' तो कहता है 'मेरी माँ'; 'तेरा गाँव कौन?' तो कहता है 'मेरी माँ'; 'तेरे माता-पिता कौन हैं?' तो कहता है 'मेरी माँ'। उसी प्रकार जिसे आत्मा की सच्ची रुचि से ज्ञायकस्वभाव प्राप्त करना है, उसे प्रत्येक प्रसङ्ग में 'ज्ञायकस्वभाव...........ज्ञायकस्वभाव'- ऐसी लगन बनी ही रहती है; उसी की निरन्तर रुचि एवं भावना रहती है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या ४३, पृष्ठ १७)

विश्व

प्रश्न १- विश्व किसे कहते हैं?

उत्तर- छ: द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं।

-'विश्व = समस्त पदार्थ; द्रव्य-गुण-पर्याय'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १२४, पृष्ठ २५४ की पादटिप्पणी)

-**'समवाओ पंचण्हं समउ त्ति, जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।**
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं।। ३।।'

अन्वयार्थ- पाँच अस्तिकाय का समभावपूर्वक निरूपण अथवा उनका **समवाय**[1], वह समय है- ऐसा जिनवरों ने कहा है। वही लोक है। (पाँच अस्तिकाय के समूह जितना ही लोक है)[2]। उससे आगे अमाप अलोक आकाशस्वरूप है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ८-९)

-**'लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक:'**; अर्थात्, जहाँ जीवादि पदार्थ दिखायी देते हैं, वह लोक है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३, पृ० १० की पादटिप्पणी व जयसेनाचार्य की टीका, पृ० ११)

-**'लोगागासपदेशा, छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।**
सव्वमलोगागासं, अण्णेहिं विवज्जियं होदि।। ५८७।।'

टीका- लोकाकाश के प्रदेश सर्व ही षट्द्रव्यनि करि सदाकाल प्रगट व्याप्त हैं। बहुरि अलोकाकाश सर्व ही अन्य द्रव्यनि करि रहित है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८७ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७३)

प्रश्न २- विश्व के पर्यायवाची शब्द क्या हैं?

उत्तर- जगत, लोक, दुनिया, ब्रह्माण्ड, संसार, WORLD आदि विश्व के पर्यायवाची शब्द

---

१. **समवाय-** सम+अवाय; सम्यक अवाय; सम्यक्ज्ञान अथवा समूह।

२. श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह शास्त्र में 'कालद्रव्य' जो द्रव्य होनेपर भी अस्तिकाय नहीं है। उसे विवक्षा में गौण करके 'पञ्चास्तिकाय का समवाय, वह समय है' ऐसा कहा है; इसलिये 'छह द्रव्य का समवाय वह समय है' (वही लोक है) ऐसे कथन के भाव के साथ इस कथन के भाव का विरोध नहीं समझना चाहिए मात्र विवक्षाभेद है- ऐसा समझना चाहिए।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३, पृष्ठ ९ की पादटिप्पणी)

हैं।

प्रश्न ३- विश्व में कितने द्रव्य हैं?

उत्तर- जाति-अपेक्षा छः और संख्या-अपेक्षा अनन्तानन्त द्रव्य हैं।

जाति-अपेक्षा- (१) जीव, (२) पुद्‌गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश, और काल।

संख्या-अपेक्षा- (१) जीव-अनन्त, (२) पुद्‌गल-अनन्तानन्त, (३) धर्म-एक, (४) अधर्म-एक, (५) आकाश-एक, और (६) काल-लोकप्रमाण असंख्यात हैं।

प्रश्न ४- द्रव्य कहाँ रहते हैं?

उत्तर-(१) अनन्त जीव और अनन्तानन्त पुद्‌गल सम्पूर्ण लोकाकाश में भरे हुए हैं;

(२) धर्म और अधर्मद्रव्य एक-एक है और सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है;

(३) **आकाशद्रव्य**[1] एक है और पूरे **लोकाकाश**[2] व **अलोकाकाश**[3] में व्याप्त है; और

(४) असंख्यात कालद्रव्य पूरे लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की भाँति जड़े हैं।

प्रश्न ५- सभी द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं- यह कथन कैसा है?

उत्तर- यह व्यवहारनय का कथन है।

प्रश्न ६- इसका निश्चयकथन क्या है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने क्षेत्र में रहता है। उसका अपना-अपना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है -यह निश्चयकथन है।

प्रश्न ७- आत्मा का विश्व के साथ कैसा सम्बन्ध है?

उत्तर- 'आत्मा ज्ञायक और सारा विश्व ज्ञेय'- इस प्रकार व्यवहार से ज्ञेय-ज्ञायक -सम्बन्ध है।

---

१. **आकाशद्रव्य**- अनन्तप्रदेशी एक अखण्ड द्रव्य है, लेकिन लोकाकाश और अलोकाकाश नाम से उसके दो भेद किये जाते हैं।

२. **लोकाकाश**- आकाशद्रव्य के जितने भाग में जीव, पुद्‌गल, धर्म-अधर्म, और कालद्रव्य रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं।

-'दंसंति जत्थ अत्था, जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा, अंतविहीणा विरायंते॥ १२॥'

अन्वयार्थ- जहाँ जीवादिक पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक कहलाता है। उसके शिखर पर अन्तरहित (अनन्त) सिद्ध विराजमान हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६०)

-'लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक:'

अर्थ- जहाँ जीवादि पदार्थ दिखायी देते हैं, वह लोक है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३ की पादटिप्पणी व आचार्य जयसेन की टीका, पृष्ठ ११)

३. **अलोकाकाश**- लोकाकाश से अनन्तगुणा बड़ा अमर्यादित अलोकाकाश है।

-'उससे आगे अमाप अलोक आकाशस्वरूप है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ९)

–'प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायकलक्षणसम्बन्ध ही है, किन्तु अन्य स्व-स्वामिलक्षणादिसम्बन्ध नहीं है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २०० की टीका, पृष्ठ ३८५)

–**'सकल ज्ञेय-ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन'**

(पं० दौलतरामजी कृत देवस्तुति)

प्रश्न ८- एक क्षेत्र में रहते हुए छहों द्रव्यों के बीच कौनसा **अभाव**[१] है?

उत्तर- एक क्षेत्र में रहते हुए अर्थात् एकक्षेत्रावगाहीसम्बन्ध होते हुए भी छहों द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव है।

–'वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं; तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ११)

प्रश्न ९- विश्व में रहनेवाले छहों द्रव्यों के बीच क्या **सम्बन्ध**[२] है?

उत्तर- एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध है।

–'अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ११)

प्रश्न १०- विश्व में रहनेवाले द्रव्य (छहों) क्या आपस में मिले हुए हैं अथवा एक-दूसरे के आश्रय से हैं?

उत्तर- नहीं, कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिला हुआ अथवा पराश्रित नहीं है। सभी द्रव्य पृथक्-पृथक् रहकर निरन्तर अपना प्रयोजनभूत कार्य करते रहते हैं।

---

१. **अभाव चार हैं**- (१) **प्रागभाव**- वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय मे अभाव,
(२) **प्रध्वन्साभाव**- वर्तमान पर्याय का अगली (भविष्य की) पर्याय में अभाव;
(३) **अन्योन्याभाव**- एक पुद्गलद्रव्य की वर्तमानपर्याय का दूसरे पुद्गलद्रव्य की वर्तमानपर्याय में अभाव; और
(४) **अत्यन्ताभाव**- एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव। अध्यात्म की अपेक्षा राग और आत्मा के बीच भी अत्यन्ताभाव कहा जाता है।

–'यहाँ जो राग और आत्मा के बीच अत्यन्त-अभाव कहा है, वह अध्यात्म का अत्यन्ताभाव है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग २, पृष्ठ ७३)

२. **सम्बन्ध तीन प्रकार का है।**
(क) नित्यतादात्म्य (तादात्म्यसिद्ध) सम्बन्ध- द्रव्यों का उसके गुणों से सम्बन्ध,
(ख) अनित्यतादात्म्य (संयोगसिद्ध) सम्बन्ध- जीव का विकारी शुभाशुभ भावों से सम्बन्ध; और
(ग) एकक्षेत्रावगाह (परस्परअवगाह) सम्बन्ध- छः द्रव्यों का परस्पर और संसार अवस्था में जीव का शरीर एवं आठ कर्मों से सम्बन्ध।

(आधार-श्रीसमयसार, गाथा ६९-७० की टीका, पृष्ठ १२२)

-'अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होतीं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५२)

-**'जड़-चेतन की सब परिणति प्रभु! अपने-अपने में होती है।'**

(श्रीयुगलजी कृत श्री देवशास्त्रगुरुपूजन)

-'(इसलिये) धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने-जितने पदार्थ हैं, वे सभी निश्चय से एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से उसमें **सर्वसङ्कर आदि दोष**[1] आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं; तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करने से अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ११)

-'यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श करे, तो वह परद्रव्यरूप हो जाये और यदि पररूप हो जाये, तो सङ्कर आदि नौ दोष आवें।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ३६३)

प्रश्न ११- जिनेन्द्र कथित विश्व-व्यवस्था क्या है?

उत्तर- जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, तथा कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण में एक ही समय में एक पर्याय का व्यय, एक पर्याय का उत्पाद, और गुण ध्रौव्य रहता है। ऐसा प्रत्येक द्रव्य के गुण में हो चुका है, हो रहा है, और होता रहेगा। यही वस्तुस्वरूप; अर्थात्, पदार्थों का स्वरूप है।

(आधार-श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, गाथा ९९ एवं श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९-३० का भावार्थ)

प्रश्न १२- विश्व एवं विश्व-व्यवस्था को यथावत् कौन-कौन जानते हैं?

उत्तर- जिन, जिनवर, और जिनवरवृषभ विश्व एवं विश्व-व्यवस्था को यथावत् जानते हैं। मिथ्यादृष्टि विश्व एवं विश्व-व्यवस्था को यथावत् (सम्यक प्रकार से) नहीं जानते।

प्रश्न १३- केवली (जिनवरवृषभ) के ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय में क्या आता है?

उत्तर- विश्व के सभी द्रव्य-गुण-पर्याय; अर्थात्, विश्व में जो हो चुका है, हो रहा है, और

---

१. **सङ्करदोष**- 'सर्वेषाम् युगपत्प्राप्तिः सङ्करः'- अर्थात् जो अनेक द्रव्यों के एकरूपता की प्राप्ति है, सो सङ्करदोष है।
[सङ्कर, व्यतिकर आदि (नौ) दोषों की विस्तृत जानकारी के लिये श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ८, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ३६२ से ३६५ का अध्ययन करें।]

होगा; वैसा का वैसा केवली (जिनवरवृषभ) के ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय में प्रत्यक्षवत् आता है।

–**'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'।। २९।।**

अर्थ– केवलज्ञान का विषय-सम्बन्ध सर्वद्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें हैं; अर्थात्, केवलज्ञान एक ही साथ सभी पदार्थों को और उनकी सभी पर्यायों को जानता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २९ व अर्थ, पृष्ठ ८३)

–**'सकल द्रव्यके गुन अनन्त, परजाय अनन्ता;**
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।'

(छहढाला, चौथीढाल, छन्द ४ का पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ९८)

–'जिस जीवके, जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधान करिकै जन्म वा मरण वा लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख होना जिनेन्द्र भगवान दिव्यज्ञानकरि जान्या है, तिस जीवके, तिस देशमें, तिस कालमें, तिस विधान करिके जन्म-मरण, लाभ-अलाभ नियमतै होय ही। ताहि दूर करने कूं कोऊ इन्द्र-अहमिन्द्र-जिनेन्द्र समर्थ नाहिं है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, पञ्चम अधिकार, श्लोक १३७ का भावार्थ, पृष्ठ ४०२)

–**'जं जस्स जम्मिदेसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।**
णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा।। ३२१।।
तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदिवारेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा।। ३२२।।'

भावार्थ- सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्था जानते हैं; इसलिये जो सर्वज्ञ के ज्ञान में झलका है, वह नियम से होता है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३२१-३२२ व भावार्थ, पृष्ठ १४५)

–'क्षायिकज्ञान वास्तव में एक समय मे ही सर्वत: वर्तमान में वर्तते तथा भूत-भविष्यतकाल में वर्तते उन समस्त पदार्थों को जानता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ४७ की टीका, पृष्ठ ८२)

प्रश्न १४- केवली भगवान और साधक छद्मस्थ के जानने में क्या अन्तर है?

उत्तर- जानने में कोई अन्तर नहीं है; मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद है।

–'जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) हैं; उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब सब नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करते हैं, तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही हैं।'

(श्रीसमयसार, गाथा १४३ का भावार्थ, पृष्ठ २१५)

-'स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।'

अर्थ- स्याद्वाद; अर्थात्, श्रुतज्ञान और केवलज्ञान- यह दोनों सर्व तत्त्वों का प्रकाशन करनेवाले हैं। विशेष इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है; श्रुतज्ञान परोक्ष है, परन्तु वस्तु है सो और नहीं है।

(अष्टसहस्री, दशमः परिच्छेदः १०५, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४८)

प्रश्न १५- केवली भगवान के केवलज्ञान की इस दिव्यता को स्वीकारने से क्या लाभ है?

उत्तर- 'जैसे केवली भगवान जानते हैं, वही हो चुका है, वही हो रहा है, और वही होता रहेगा; अर्थात्, वस्तुस्वरूप स्वीकारने से अनादिकाल से चली आ रही पर में कर्ता-भोक्ता की खोटी बुद्धि का अभाव होकर धर्म की प्राप्ति, वृद्धि, और पूर्णता (मोक्ष की प्राप्ति) हो जाती है।'

-'एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुदिट्ठी।। ३२३।।'

अन्वयार्थ- जो इस प्रकार निश्चय से सब द्रव्य, जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-काल इनको और इन द्रव्यों की सब पर्यायों को सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है, श्रद्धान करता है -वह शुद्ध-सम्यग्दृष्टि होता है और जो ऐसा श्रद्धान नहीं करता है, शङ्का करता है-वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल है, प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३२३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४६)

प्रश्न १६- 'छः द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं'- यह जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- अनादि के जन्म-मरण के दुःखों का अभाव होकर **सादिअनन्त[1] पञ्चमगति[2]** मोक्षसुख की प्राप्ति हो जाती है।

---

१. **काल (समय) को चार भागों में बाँटा गया है-**

(क) अनादिअनन्त- जिसका प्रारम्भ और अन्त न हो; प्रत्येक द्रव्य तथा उसके गुण अनादिअनन्त हैं।

(ख) अनादिसान्त- जिसका प्रारम्भ तो न हो लेकिन अन्त हो जाये; सम्यक्त्व होने के बाद अनादि के मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है; अतः मिथ्यात्व अनादिसान्त है।

(ग) सादिसान्त- जो यहीं आरम्भ होकर यहीं समाप्त हो जाये; संवर-निर्जरा यहीं आरम्भ होकर यहीं समाप्त हो जाने से सादिसान्त है।

(घ) सादिअनन्त- जिसका आरम्भ होकर अन्त न हो; केवलज्ञान, सिद्धदशा सादिअनन्त है।

(आधार-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५३-५४ टीका व भावार्थ, पृष्ठ ९३ से ९६)

२. **पञ्चमगति**- सादिअनन्त रहनेवाली मोक्षगति को पञ्चमगति कहते हैं। शेष चारों गतियाँ (देव, नारकी, मनुष्य, एवं तिर्यञ्च) पर्याय अपेक्षा से सादिसान्त है।

[-'(जीवद्रव्य को) सादिसान्तपना कहा गया है, वह पर्याय अपेक्षा से है।' -श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५४ का भावार्थ, पृष्ठ ९६]

प्रश्न १७- 'छः द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं'- यह जानने से मोक्षसुख की प्राप्ति कैसे हो जाती है?

उत्तर- केवली भगवान के लघुनन्दन बन जाने से; वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान हो जाने से; क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि हो जाने से; पर में कर्ता-भोक्ता की खोटी मान्यता का अभाव हो जाने से; और **ज्ञेय**[1]**-ज्ञायक**[2]-सम्बन्ध की सिद्धि हो जाने से; जीव सम्यग्दर्शन, श्रावकदशा, मुनिदशा प्राप्तकर, श्रेणी-माण्डकर क्रमशः अविनाशी मोक्षसुख की प्राप्ति कर लेता है।

प्रश्न १८- केवली भगवान के लघुनन्दन कैसे बनते हैं?

उत्तर- लौकिक में जितने रुपये हमारे बहीखाते में लिखें हों; यदि उतने ही हमारे ज्ञान में और उतने ही हमारी तिजौरी में हों, तो खाते को ठीक माना जाता है। उसी प्रकार शास्त्रों में विश्व में (जाति-अपेक्षा) छः द्रव्य कहे हैं। केवली भगवान ने दिव्यध्वनि में विश्व में छः द्रव्य कहें हैं और हमारे ज्ञान में भी विश्व में छः द्रव्य ही हों, तो हमारा हिसाब (ज्ञान) सच्चा है। इस अपेक्षा जितना केवली भगवान ने जाना, उतना ही हमने जाना; अतः हम केवली भगवान के लघुनन्दन बन गये।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १२, पृष्ठ २७)

प्रश्न १९- वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान कैसे हो जाता है?

उत्तर- केवली भगवान के ज्ञान में जो भी आया है, वह वस्तुस्वरूप ही है। अतः विश्व में छः द्रव्य (जाति-अपेक्षा) ही हैं, कम या अधिक नहीं; यह वस्तुस्वरूप हुआ। हमने विश्व में छः द्रव्यों को स्वीकार करके वस्तुस्वरूप को ही स्वीकार किया। इस स्वीकृति के बाद विश्व में एक अथवा पाँच अथवा छः से न्यूनाधिक द्रव्यों का कोई भी कथन हमें वस्तुस्वरूप विरोधी ज्ञान में आयेगा। इस प्रकार हमें वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान हो जाता है।

[कुछ मत विश्व में छः द्रव्यों के स्थान पर एक, पाँच, अथवा न्यूनाधिक द्रव्यों का अस्तित्व बताते हैं। केवली के ज्ञान के आधार पर इन सभी का कथन असत्य और अप्रमाणिक सिद्ध हो जाता है।]

---

१. **ज्ञेय-** अर्थात् जाननेयोग्य; प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय अर्थात् ज्ञेय है।

२. **ज्ञायक-** अर्थात् जाननेवाला; जानने की शक्ति अर्थात् ज्ञायकपना मात्र जीवद्रव्य में है।

-**'सकल ज्ञेय-ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन'**

(पं० दौलतरामजी कृत देवस्तुति)

-'प्रथम तो मैं (जीवद्रव्य) स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण-सम्बन्ध ही है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २०० की टीका, पृष्ठ ३८५)

प्रश्न २०- क्रमबद्ध अर्थात् क्रमनियमित[1] पर्याय की सिद्धि कैसे हो जाती है?

उत्तर- जिनेन्द्रकथित विश्व-व्यवस्था को जानने से क्रमबद्ध अर्थात् क्रमनियमित पर्याय की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न २१- पर में कर्ता-भोक्ता की खोटी मान्यता का अभाव कैसे हो जाता है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य क्रमबद्ध और क्रमनियमितरूप से प्रत्येक समय स्वयं बदलता है। कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य में कुछ हेरफेर नहीं कर सकता -ऐसा केवली भगवान के ज्ञान में आया है। अत: केवली की सर्वज्ञता और पर्यायों की क्रमबद्ध एवं क्रमनियमितता स्वीकारने से पर में कर्ता-भोक्ता की खोटी मान्यता का अभाव हो जाता है।

-'नास्ति सर्वोऽपि संबंध: परद्रव्यात्मतत्त्वयो:।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुत:।। २००।।'

श्लोकार्थ- परद्रव्य और आत्मतत्त्व का सम्बन्ध नहीं है- इस प्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है?

(श्रीसमयसार, कलश २०० व श्लोकार्थ, पृष्ठ ४५१)

-'ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना, मैं पर को बदल दूँ- ऐसी कर्ताबुद्धि से (जीव) स्वच्छन्दी हो रहा है। उसके बदले पदार्थों की पर्यायें उनके अपने से ही क्रमबद्ध होती हैं, मैं उनका कर्ता या बदलनेवाला नहीं हूँ; मैं तो ज्ञायक हूँ- ऐसी प्रतीति से स्वच्छन्दता छूटकर स्वतन्त्रता का अपूर्व भान होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ८)

प्रश्न २२- ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध की सिद्धि कैसे हो जाती है?

उत्तर- केवली भगवान अपने ज्ञान की एक समय की पर्याय में समस्त लोकालोक को (द्रव्य-गुणों को) त्रिकालवर्ती पर्यायोंसहित जानते हैं। अत: व्यवहार से केवली भगवान ज्ञायक और

---

१. क्रमबद्ध और क्रमनियमित शब्द एकार्थवाची हैं।

-'वर्तमानकाल में जिस अर्थ को "क्रमबद्धपर्याय" शब्द के द्वारा व्यक्त किया जाता है, "क्रमनियमितपर्याय" का वही अर्थ है।'

(जैनतत्त्वमीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २६८, आधार-क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ १९)

-'क्रम' अर्थात् क्रमसर; एक के बाद एक; निरन्तर बिना अन्तराल के; प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रम से होती हैं। 'बद्ध' अर्थात् नियमित; नियत; निश्चित। जो आना हो वही आये, दूसरा नहीं; प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रम के साथ-साथ नियमित ही होती है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, अध्याय १५, पृष्ठ २१४)

-'क्रम तो है ही और वह भी नियमित; अर्थात्, इस द्रव्य में इस समय ऐसी ही पर्याय होगी-यह भी निश्चित है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीसमयसार, गाथा ३०८ से ३११ पर प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १०)

समस्त लोकालोक ज्ञेय हैं। इसी प्रकार व्यवहार से मैं ज्ञायक और परपदार्थ (स्व-पर सभी) ज्ञेय- ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।

-'प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायकलक्षणसम्बन्ध ही है, किन्तु अन्य स्व-स्वामिलक्षणादिसम्बन्ध नहीं है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २०० की टीका, पृष्ठ ३८५)

-' "मैं ज्ञायक हूँ"- इस बात का जब तक लक्ष्य न हो, तब तक एक भी सच्चा न्याय समझ में नहीं आ सकता। आत्मा ज्ञायक और सर्वपदार्थ ज्ञेय, -इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ३३)

['निश्चय से "मैं ज्ञायक और ज्ञानपर्याय ज्ञेय"। इसमें भी भेद पड़ा। मात्र "मैं ज्ञायक" यह भी विकल्प होने के कारण व्यवहार है। वास्तव में तो निज अभेद अखण्ड ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभवन-वेदन ही निश्चय, शेष सब व्यवहार है।']

मैं वह हूँ जो है भगवान

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता-दृष्टा आतमराम।
मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान।।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहाँ राग वितान।। १ ।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।। २ ।।
सुख-दुःख दाता कोई न आन, मोह-राग-रुष दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।। ३ ।।
जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि जिसके नाम।
राग त्याग पहुँचूँ निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।। ४ ।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, ज्ञायकभाव लखूँ अभिराम।। ५ ।।

-श्री सहजानन्दजी वर्णी

प्रकरण - २

कुल पृष्ठ संख्या २८६

द्रव्य

प्रश्न १- द्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जो कथञ्चित् एकत्व को रखकर, अपने **सहभावी विशेषों**[1] में रहे और **क्रमभावी विशेषों**[2] को करे, उसे द्रव्य कहते हैं।

-'गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १, एवं श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २)

-**'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्॥ ३८॥'** -**अर्थ**- गुण-पर्यायवाला द्रव्य है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३८ व अर्थ, पृष्ठ ३६९)

-**'गुणपर्ययवद् द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम्।**
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः॥ ७२॥'

अर्थ- जो गुण और पर्यायवाला है, वह द्रव्य है। यह द्रव्य का लक्षण सुसिद्ध है और अविरुद्ध है। गुण तथा पर्यायों का समूह ही द्रव्य है- यह इसका वाक्यार्थ है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ७२ व अर्थ, पृष्ठ १७)

-**'गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युशन्ति बुधाः।**
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरुप्यते वृद्धैः॥ ७३॥'

अर्थ- कोई आचार्य 'गुणों का समुदाय द्रव्य है'- द्रव्य का इतना ही लक्षण कहते हैं और कितने ही वृद्ध आचार्य समगुण पर्याय को द्रव्य कहते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ७३ व अर्थ, पृष्ठ १७)

-**'द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्'** -**अर्थ**- द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य है।......द्रव्य, गुण-पर्यायों

---

१. **सहभावी विशेष**- द्रव्य के आधार से रहे हुए गुण विशेषों को सहभावी विशेष कहते हैं।

२. **क्रमभावी विशेष**- द्रव्य में होनेवाली एक के बाद एक (क्रमशः) अवस्था विशेष को क्रमभावी विशेष या पर्याय कहते हैं।

[पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है; सहवर्ती को अक्रमवर्ती भी कहते हैं। -**श्रीसमयसार, गाथा २ की टीका, पृष्ठ ९**]

को द्रवित करता है। गुण-पर्यायें द्रव्य को द्रवित रखते हैं; इसलिये वे 'द्रव्य' नाम प्राप्त करते हैं।

(चिद्विलास, पृष्ठ ३, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ६३,पृष्ठ २२)

-'अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।। ९५।।'

अन्वयार्थ- स्वभाव को छोड़े बिना जो **उत्पाद**[1]**-व्यय**[2]**-ध्रौव्य**[3]-संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १७७-१७८)

-'तत्रान्वयो द्रव्यं;'-अन्वय[4] वह द्रव्य है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० की संस्कृत टीका, पृष्ठ १४२)

-'एय-दवियम्मि जे, अत्थ-पज्जया वियण-पज्जया चा वि।
तीदाणागद-भूदा, तावदियं तं हवदि दव्वं।। ५८२।।'

टीका- एक द्रव्य विषैं जे गुणनि के परिणमनरूप षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि लीए **अर्थपर्याय**[5], बहुरि द्रव्य के आकारादि परिणमनरूप **व्यञ्जनपर्याय**[6], ते अतीत-अनागत अपि शब्द तैं वर्तमान सम्बन्धी यावन्मात्र हैं; तावन्मात्र को द्रव्य जानना। जातैं द्रव्य तिनतैं जुदा है नाहीं; सर्व पर्यायनि का समूह सोई द्रव्य है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८२ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७०-६७१)

-'अपने असाधारण स्वरूप को न छोड़कर, दूसरे द्रव्यों के असाधारण स्वरूप का परिहार करते हुए जो उन-उन पर्यायों को वर्तमान में प्राप्त करता है, भविष्य में प्राप्त होगा, व भूतकाल में प्राप्त हो चुका है, वह द्रव्य कहलाता है।'

(श्रीधवला, पुस्तक १५, पृष्ठ ३३, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या ७८८, पृष्ठ १९५)

---

१. **उत्पाद-** द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं; जैसे, मिट्टी से घड़े का उत्पाद।

२. **व्यय-** पूर्व पर्याय के नाश को व्यय कहते हैं; जैसे, घट पर्याय का उत्पाद होनेपर मिट्टी के पिण्ड पर्याय का व्यय।

३. **ध्रौव्य-** दोनों पर्यायों (उत्पाद और व्यय) में द्रव्य का सदृश्यतारूप स्थायी रहना, उसे ध्रौव्य कहते हैं; जैसे, पिण्ड और घट पर्याय में मिट्टी का नित्य स्थायी रहना।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ६१, पृष्ठ १५)

४. **अन्वय-** एकरूपता; स्थिरता; ध्रौव्यता।

५. **अर्थपर्याय- प्रदेशत्वगुण**[7] के अतिरिक्त शेष सभी गुणों के विशेष कार्य (परिणमन) को अर्थपर्याय कहते हैं।

६. **व्यञ्जनपर्याय-** प्रदेशत्वगुण के विशेष-कार्य (परिणमन) को व्यञ्जनपर्याय कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २१७ व २१३, पृष्ठ ६२)

[पर्यायों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये **'प्रकरण-४ : पर्याय', पृष्ठ संख्या ४५९** देखें।]

७. **प्रदेशत्वगुण-** जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य हो, उसे (उस शक्ति को) प्रदेशत्वगुण कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १३४, पृष्ठ ४२)

–'**दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।**

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू।। १०।।'

अन्वयार्थ- जो 'सत्' लक्षणवाला है, जो उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्त है, अथवा जो गुणपर्यायों का आश्रय है- उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० व अन्वयार्थ, पृष्ठ २६)

–'द्रव्य में भेद करनेवाले धर्म को गुण और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। द्रव्य इन दोनों से युक्त होता है तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है।'

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ३०९, सूत्र ३८ की टीका, टीकाकार पं० फूलचन्दजी)

–'**द्रव्यं ह्युतसिद्धं स्यात् समुदायस्तयोर्द्वयोः।। ९।।**' –**अर्थ**- इन गुण पर्यायों के शाश्वत अपृथक् सम्बन्ध से जो मिश्रित कल्पना होती है, उसी मिश्रण को द्रव्य कहते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसार 'श्रीअमृतचन्द्रसूरी', सूत्र ९ की टीका, पण्डित वंशीधरशास्त्री कृत, पृष्ठ १३२)

–'सभी परिणामों में लगातार एकसा रहनेवाला द्रव्य है। पहले भी वही था और बाद में भी वही है। इस प्रकार पहले और बाद का जो एकत्व है, सो अन्वय है और जो अन्वय है, सो द्रव्य है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, भाग १, पृष्ठ ७७)

प्रश्न २- द्रव्य का लक्षण क्या है?

उत्तर- द्रव्य का लक्षण 'सत्' है। शास्त्रों में वर्णित द्रव्य के अन्य लक्षण 'उत्पादव्ययध्रौव्य' तथा 'गुण-पर्यायोंयुक्त' सत् लक्षण में ही गर्भित हो जाते हैं।

–'**सद् द्रव्यलक्षणम्।। २९।।**' –**अर्थ**- द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९ व अर्थ, पृष्ठ ३५१)

–'द्रव्य के इन तीन लक्षणों में से (सत्, उत्पादव्ययध्रौव्य, तथा गुणपर्यायें इन तीन लक्षणों में से) एक का कथन करने पर शेष दोनों (बिना कथन किये) अर्थ से ही आ जाते हैं। यदि द्रव्य सत् हो, तो वह (१) उत्पादव्ययध्रौव्यवाला, और (२) गुणपर्यायवाला होगा; यदि उत्पादव्यय-ध्रौव्यवाला हो, तो वह (१) सत्, और (२) गुणपर्यायवाला होगा; यदि वह गुणपर्यायवाला हो, तो वह (१) सत्, और (२) उत्पादव्यय ध्रौव्यवाला होगा।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ २८)

प्रश्न ३- सत् किसे कहते है?

उत्तर- जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हो, वह सत् है।

–'**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।। ३०।।**'

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३०, पृष्ठ ३५४)

[**विशेष-** इस सूत्र में 'सत्' का अनेकान्तरूप बतलाया है। यद्यपि त्रिकालापेक्षा से सत् 'ध्रुव' है, तो भी समय-समय पर नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय नष्ट होती है; अर्थात्, द्रव्य में समा जाती है; वर्तमानकाल की अपेक्षा से अभावरूप होती है। इस तरह कथञ्चित् नित्यत्व और कथञ्चित् अनित्यत्व द्रव्य का अनेकान्तपन है। **-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ३५४-३५५**]

-'उत्पादस्थितिभङ्गैर्युक्तं सद् द्रव्यलक्षणं हि यथा।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धैत्समं न तु व्यस्तैः॥ ८६॥'

अर्थ- उत्पाद, ध्रौव्य, और व्यय इन तीनों से युक्त सत् ही द्रव्य का लक्षण है किन्तु वह सत् इन तीनों से युगपत्युक्त मानने पर ही सिद्ध होता है। पृथक्-पृथक् इनसे युक्त मानने पर नहीं सिद्ध होता।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ८६ व अर्थ, पृष्ठ १९-२०)

-'प्रत्येक द्रव्य सदा स्वभाव में रहता है; इसलिये "सत्" है'। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है; जैसे, द्रव्य के विस्तार का छोटे से छोटा अंश वह प्रदेश है; उसी प्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटे से छोटा अंश वह परिणाम है। प्रत्येक परिणाम स्वकाल में अपनेरूप से उत्पन्न होता है, पूर्वरूप से नष्ट होता है, और सर्वपरिणामों में एकप्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश (व्यय) से रहित एकरूप-ध्रुव (ध्रौव्य) रहता है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समयभेद नहीं है। तीनों एक ही समय में हैं। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामों की परम्परा में द्रव्य स्वभाव से ही सदा रहता है; इसलिये द्रव्य स्वयं भी मोतियों के हार की भाँति, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९९ का भावार्थ, पृष्ठ १९७)

प्रश्न ४- द्रव्य का लक्षण सत् कहने से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- 'सत्' लक्षण कहने से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य स्व की अपेक्षा से सत् है। इसका यह अर्थ हुआ कि वह (द्रव्य) स्वरूप से है, पररूप से नहीं। 'अस्तित्व' प्रगटरूप में और 'नास्तित्व' गर्भितरूप से कहकर (श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९ में) यह बताया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्व से है और पररूप से न होने से एक द्रव्य अपना सब कुछ कर सकता है, किन्तु दूसरे द्रव्य का कभी कुछ नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त का नाम अनेकान्त है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५३)

प्रश्न ५- क्या द्रव्य का उत्पाद और व्यय होता है?

उत्तर- वास्तव में तो द्रव्य का उत्पाद और व्यय नहीं होता। द्रव्य तो त्रिकाल एकरूप ही

रहता है; जैसे; मिट्टी स्वयं घड़े अवस्थारूप उत्पन्न होती हुई और मिट्टी स्वयं ही मिट्टी के पिण्डरूप से नष्ट होती हुई, दोनों अवस्थाओं (उत्पाद और व्यय) के काल में स्वयं मिट्टी ही रहती है; उसी प्रकार द्रव्य स्वयं ही एक अवस्थारूप उत्पन्न होता हुआ, द्रव्य ही पूर्व अवस्थारूप से नष्ट होता हुआ, दोनों अवस्थाओं में अपना द्रव्यपना कायम रखता है।

-**'द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन।**
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद् द्वितयं हि वस्तुतया॥ ९१॥
इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद् द्वितयं न मृत्तिकात्वेन॥ ९२॥'

अर्थ- द्रव्य कथञ्चित् किसी एक अवस्थारूप से उत्पन्न होता है; किसी दूसरी अवस्थारूप से व्यय को प्राप्त होता है, किन्तु वस्तुरूप से यह दोनों ही अवस्थाएँ नहीं होतीं; अर्थात्, द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, किन्तु अपने स्वरूप में निमग्न रहता है॥ ९१॥ जैसे, लोक में मिट्टी एक ही समय में घटरूप से उत्पन्न होती है, पिण्डरूप से नष्ट होती है, तथा मिट्टीरूप से यह दोनों ही अवस्थाएँ नहीं होतीं॥ ९२॥

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ९१-९२ व अर्थ, पृष्ठ २०)

-'यद्यपि पर्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयकर टङ्कोत्कीर्ण ज्ञान के अखण्ड स्वभाव से ध्रुव ही है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ४३ का भावार्थ, पृष्ठ १६४)

-**'उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।**
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया॥ ११॥'

अन्वयार्थ- द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं है, सद्भाव है। उसी की (द्रव्य की) पर्यायें विनाश, उत्पाद, और ध्रुवता करती हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ११ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २९)

प्रश्न ६- द्रव्य के पर्यायवाची शब्द क्या हैं?

उत्तर- वस्तु, सत्, सत्ता, तत्त्व, अर्थ, पदार्थ आदि द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं।

-**'सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु।**
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः॥ १४३॥'

अर्थ- सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि- ये सब शब्द सामान्यरूप से एक ही अर्थ के वाचक ठहरते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १४३ व अर्थ, पृष्ठ ३१)

प्रश्न ७- द्रव्य के कितने भेद हैं?

उत्तर- छः भेद हैं- (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश, और (६) काल।

प्रश्न ८- संख्या-अपेक्षा द्रव्य कितने-कितने हैं?

उत्तर- (१) जीव-अनन्त, (२) पुद्गल-अनन्तानन्त, (३) धर्म-एक, (४) अधर्म-एक, (५) आकाश-एक, और (६) कालद्रव्य- **लोकप्रमाण असंख्यात**[1] हैं।

प्रश्न ९- क्षेत्र-अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य का आकार क्या है?

उत्तर- जीव, धर्म, और अधर्मद्रव्य असंख्यातप्रदेशी; पुद्गल और कालद्रव्य **एकप्रदेशी**[2]; और आकाशद्रव्य अनन्तप्रदेशी है।

प्रश्न १०- संख्या और क्षेत्र की अपेक्षा कौन द्रव्य अधिक हैं?

उत्तर- संख्या की अपेक्षा पुद्गलद्रव्य सर्वाधिक हैं। पुद्गल परमाणुओं की संख्या अनन्त जीवद्रव्यों से अनन्तगुना अधिक अर्थात् अनन्तानन्त है; क्षेत्र-अपेक्षा आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है। सब द्रव्यों में केवल आकाशद्रव्य ही अनन्तप्रदेशी है। आकाश के प्रदेशों की संख्या त्रिकालवर्ती (भूत, भविष्य, और वर्तमान) समयों की संख्या से भी अनन्तगुना अधिक है।

प्रश्न ११- सभी द्रव्यों में क्या समानता है?

उत्तर- अनेक समानताएँ हैं; जैसे, (१) सत्पना अर्थात् प्रत्येक द्रव्य सत् है, (२) उत्पादव्यय-ध्रौव्यपना (स्थित रहते हुए बदलना); अर्थात्, प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय पूर्वअवस्था का व्यय, नवीनअवस्था का उत्पाद करते हुए भी ध्रौव्य रहता है, (३) काल; अर्थात्, प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त है, (४) नित्य-अनित्यपना; अर्थात्, प्रत्येक द्रव्य, गुण-अपेक्षा नित्य है, पर्याय-अपेक्षा अनित्य है, (५) **सामान्य**[3]**-विशेषपना**[4]; अर्थात्, प्रत्येक द्रव्य, गुण-अपेक्षा सामान्य है, पर्याय-अपेक्षा विशेष है, (६) स्वाश्रितपना; अर्थात्, प्रत्येक द्रव्य का आश्रय वो द्रव्य स्वयं है, और (७) स्वतन्त्रता; अर्थात्, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है।

प्रश्न १२- द्रव्य का स्वचतुष्टय क्या है?

---

१. **लोकप्रमाण असंख्यात**- असंख्यात के अनेक भेद हैं। इनमें एक लोकप्रमाण; अर्थात्, लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण (बराबर) भी है। कालद्रव्य की सख्या की सही गणना लोकप्रमाण असंख्यात है।

२. पुद्गल को एकप्रदेशी परमाणु की अपेक्षा कहा है। स्कन्ध-अपेक्षा पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाला होता है।

३. **सामान्य**- त्रिकाल एकरूप रहने से द्रव्य को सामान्य कहते हैं।

४. **विशेष**- निरन्तर बदलते रहने से पर्याय को विशेष कहते हैं।

-'द्रव्य स्वरूप से सभी वस्तुएँ सामान्य हैं और गुण-पर्यायपने विशेष हैं।'

'(पूज्य गुरुदेवश्री का श्रीसमयसार, गाथा २९८-२९९ पर प्रवचन, श्रीप्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ ३७५)

उत्तर- द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्टय है। प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्टय उसके अन्दर ही है, बाहर नहीं।

प्रश्न १३- अस्तिकाय किसे कहते हैं और कौनसे द्रव्य अस्तिकाय हैं?

उत्तर- बहुप्रदेशी द्रव्य को अस्तिकाय कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाशद्रव्य अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य एकप्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २७ से २९, पृष्ठ ६)

प्रश्न १४- पुद्गलपरमाणु भी एकप्रदेशी है। वह अस्तिकाय कैसे हुआ?

उत्तर- यद्यपि पुद्गलपरमाणु एकप्रदेशी है, किन्तु उसमें स्कन्धरूप बनकर बहुप्रदेशी होने की शक्ति है; इसलिये उसे उपचार से अस्तिकाय कहा जाता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ३०, पृष्ठ ६)

प्रश्न १५- छः द्रव्यों को कितने प्रकार से दो भागों में बाँटा जा सकता है?

उत्तर- अनेक प्रकार से बाँटा जा सकता है; जैसे, (१) जीव और अजीव (जीव के अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल सभी अजीव हैं; (२) रूपी और अरूपी (पुद्गलद्रव्य रूपी है; शेष सभी द्रव्य अरूपी हैं); (३) **क्रियावतीशक्ति**[1]सहित और क्रियावतीशक्तिरहित (जीव और पुद्गलद्रव्य क्रियावतीशक्तिसहित हैं, शेष [धर्म, अधर्म, आकाश, और काल] क्रियावतीशक्तिरहित हैं); (४) **वैभाविकशक्ति**[2]सहित और वैभाविकशक्तिरहित (जीव और पुद्गल वैभाविकशक्तिसहित है, शेष चारों द्रव्य वैभाविकशक्तिरहित हैं); (५) एकप्रदेशी और **बहुप्रदेशी**[3] (पुद्गल **परमाणु**[4] और कालद्रव्य एकप्रदेशी हैं, शेष चारों द्रव्य बहुप्रदेशी हैं); (६) एक और अनेक (धर्म, अधर्म, और आकाशद्रव्य एक-एक हैं, शेष जीव, पुद्गल और कालद्रव्य अनेक हैं); तथा (७) जड़ और चेतन (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य जड़ हैं; एकमात्र जीवद्रव्य चेतन है)।

---

१. **क्रियावतीशक्ति**- जिस शक्ति के कारण जीव और पुद्गल में अपनी-अपनी योग्यतानुसार कभी गति (क्षेत्रान्तररूप) और कभी स्थितिरूप पर्याय होती है, उस शक्ति को क्रियावतीशक्ति कहते हैं। क्रियावतीशक्ति नाम का गुण केवल जीव और पुद्गलद्रव्य में ही होता है। कोई द्रव्य (जीव या पुद्गल) एक दूसरे को गमन या स्थिररूप नहीं परिणमा सकते।
(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १६८, पृष्ठ ५१)

२. **वैभाविकशक्ति**- यह एक विशेष भाववाला गुण है। इस गुण के कारण परद्रव्य के सम्बन्धपूर्वक (निमित्त से) स्वयं अपनी योग्यता से अशुद्ध पर्यायें होती हैं। यह वैभाविकशक्ति नाम का गुण जीव और पुद्गल दो द्रव्यों में ही है, शेष चार द्रव्यों में नहीं।
(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथमभाग, प्रश्न संख्या १८१, पृष्ठ ५४)

३. **बहुप्रदेशी**- दो या दो से अधिक प्रदेशी द्रव्यों को बहुप्रदेशी कहते हैं। कालद्रव्य और पुद्गल परमाणु के अतिरिक्त सभी द्रव्य (जीव, पुद्गल [स्कन्ध-अपेक्षा] धर्म, अधर्म, और आकाश) बहुप्रदेशी द्रव्य हैं।

४. **परमाणु**- उस छोटे से छोटे पुद्गल को, जिसका दूसरा भाग न हो सके (अविभाज्य पुद्गल को) परमाणु कहते हैं। [दो या दो से अधिक पुद्गल परमाणुओं के बन्ध को 'स्कन्ध' कहते हैं।]

प्रश्न १६- स्वद्रव्य और परद्रव्य क्या है?

उत्तर- 'अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी, अनादिनिधन वस्तु "आप" (स्व) है, और मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादिकों से रहित, जिनका नवीन संयोग हुआ है -ऐसे शरीरादिक पुद्गल "पर" हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३८)

-'जो सिद्ध भगवान में हो वो "स्व"; जो सिद्ध भगवान में न हो वो "पर"।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के समाधिशतक पर प्रवचन, आत्मभावना-गुजराती, पृष्ठ ८)

-'प्रत्यक्ष में बाह्य और भिन्न दीखनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मकानादि तथा एकक्षेत्रावगाही सम्बन्धवाले शरीर और अष्टकर्म तो "परद्रव्य" हैं ही; इनके अतिरिक्त जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के सम्बन्ध में उठनेवाले विकल्प भी "पर" हैं तथा इन सात तत्त्वों के विकल्पों से अगोचर जो शुद्ध अभेद आत्मस्वरूप है, वही एक-"स्वद्रव्य" है, वही जीव है, और एक वही अङ्गीकार करने योग्य है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या २०३, पृष्ठ ८०)

प्रश्न १७- स्वद्रव्य और परद्रव्य का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव क्या है?

उत्तर- अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज स्वद्रव्य का 'क्षेत्र' है; प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी स्वद्रव्य का 'भाव' है; अनादिनिधन स्वद्रव्य का 'काल' है; वस्तु आप 'स्वद्रव्य' है; और मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड परद्रव्यों का 'क्षेत्र है; प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणो से रहित (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादिसहित) परद्रव्यों का 'भाव' है; जिसका नवीन संयोग हुआ है परद्रव्यों का '**काल**'[1] है, ऐसे शारीरिक पुद्गल 'परद्रव्य' हैं। वास्तव में निजात्मा की अपेक्षा अन्य सर्व जीवद्रव्यों का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भी, उनके (अन्य सर्व जीवद्रव्यों के) परद्रव्य होने के कारण भिन्न ही है।

प्रश्न १८- स्वद्रव्य और परद्रव्य के बीच क्या सम्बन्ध है?

उत्तर- स्वद्रव्य और परद्रव्य के बीच वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है।

-'**परद्रव्यं परद्रव्यं स्वद्रव्यं द्रव्यमात्मनः।**
सम्बन्धोऽपि तयोर्नास्ति यथायं सह्यविन्ध्ययोः॥'

अर्थ- परद्रव्य सदैव परद्रव्य ही रहता है और स्वद्रव्य सदा स्वद्रव्य ही रहता है। स्वद्रव्य और परद्रव्य-दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है; जिस प्रकार सह्य (सह्याद्रि) पर्वत और विन्ध्य (विन्ध्याद्रि) पर्वत में।

(श्रीप्रबोधसारश्रावकाचार, गाथा १६८, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, भाग ३, पृ०५८)

प्रश्न १९- क्या अज्ञानी का स्वद्रव्य-परद्रव्य का ज्ञान सच्चा है?

---

१. शरीर "पर्याय" की अपेक्षा यह कथन है। वास्तव में तो प्रत्येक परद्रव्य का "काल" भी अनादिनिधन ही है और शरीर का प्रत्येक पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी क्षेत्रवाला द्रव्य है।

उत्तर- नहीं, निजात्मा के अनुभव (सम्यग्दर्शन) के बिना अज्ञानी जीव का ग्यारह अङ्गों का ज्ञान भी मिथ्या ही नाम पाता है।

-'मोक्षमहलकी परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चारित्रा;
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।'

अन्वयार्थ- यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है; इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सच्चाई को प्राप्त नहीं करते।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १७ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८३)

-'इस प्रकार प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों में संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप जो जानना हो, उसका नाम मिथ्याज्ञान है।' तथा,

-'इसी अभिप्राय से सिद्धान्त में मिथ्यादृष्टि के तो सर्व जानने को मिथ्याज्ञान ही कहा और सम्यग्दृष्टि के सर्व जानने को सम्यग्ज्ञान कहा।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८५)

-'संसारी (मिथ्यादृष्टि) जीव के सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं;'

(श्रीसमयसारकलश, कलश १ का अर्थ, पृष्ठ २)

-'संसारअवस्था में जीवद्रव्य नौ तत्त्वरूप परिणमा है, वह तो विभावपरिणति है; इसलिये नौ तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है।'

(श्रीसमयसारकलश, कलश ६ का अर्थ, पृष्ठ ७)

प्रश्न २०- सुख की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम क्या जानना आवश्यक है?

उत्तर- सुख की प्राप्ति; अर्थात्, दुःख को दूर करने के लिये सर्वप्रथम छः द्रव्यों, नौ पदार्थों, और स्व-पर का सच्चा ज्ञान आवश्यक है।

-'तथा दुःख का न होना, सुख का होना एक ही है, क्योंकि दुःख का अभाव, वही सुख है और इस प्रयोजन की सिद्धि जीवादिक का सत्य श्रद्धान करने से होती है।' तथा,

-'प्रथम तो दुःख दूर करने में आपापर (स्व और पर) का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि आपापर का ज्ञान नहीं हो, तो अपने को पहचाने बिना अपना दुःख कैसे दूर करे? अथवा आपापर को एक जानकर अपना दुःख दूर करने के अर्थ पर का उपचार करे, तो अपना दुःख कैसे दूर हो?........ आपापर का ज्ञान होनेपर ही दुःख दूर होता है। तथा आपापर का ज्ञान जीव-अजीव का ज्ञान होनेपर ही होता है, क्योंकि आप स्वयं जीव है, शरीरादिक अजीव हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७८)

प्रश्न २१- द्रव्य की महिमा किससे है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य की महिमा उसके अनन्त गुणों से है, क्योंकि द्रव्य का लक्षण ही

गुण-पर्यायोंवाला है। जीवद्रव्य की महिमा भी उसके ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणों से है; धन-वैभव, स्त्री-पुरुष, हाथी-घोड़ा, रूप-बल, बाह्य शुभाशुभक्रियाओं से जीवद्रव्य की महिमा नहीं है।

-**'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्॥ ३८॥'** -**अर्थ**- गुण-पर्यायवाला द्रव्य है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३८ व अर्थ, पृष्ठ ३६९)

-**'धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;**

ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।'

अन्वयार्थ- धन, पैसा, परिवार, हाथी, घोड़ा, राज्य तो अपने काम में नहीं आते किन्तु सम्यग्ज्ञान, जो आत्मा (जीवद्रव्य) का स्वरूप है, प्राप्त होने के पश्चात् अचल रहता है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ७ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०३)

प्रश्न २२- प्रत्येक द्रव्य में कितने गुण हैं?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य में अनन्त (अनन्तानन्त) गुण हैं। संख्या-अपेक्षा सभी द्रव्यों के गुण समान हैं, कम या अधिक नहीं। एक पुद्गल परमाणु में; अथवा धर्म-अधर्म, आकाश, और एक कालाणु में भी उतने ही गुण हैं, जितने एक सिद्ध परमात्मा में हैं, क्योंकि ये सभी द्रव्य हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, तृतीय भाग, पृष्ठ २३४-२३६)

-'तीन लोक में (संख्या में) अनन्त जीव हैं, इनसे अनन्तगुणे परमाणु हैं, इनसे अनन्तगुणे तीनकाल के समय हैं, इनसे अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश हैं, और इनसे अनन्तगुणे एक जीव में (प्रत्येक द्रव्य में) गुण हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री का श्रीसमयसार, कलश १० पर प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृ० २१८)

-**'सकल द्रव्यके गुन अनन्त, परजाय अनन्ता;'**

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४ की प्रथम पंक्ति, पृष्ठ ९८)

प्रश्न २३- क्या निगोदिया से लगाकर सिद्ध परमात्मा तक प्रत्येक जीवद्रव्य में गुण समान संख्या में हैं?

उत्तर- प्रत्येक जीवद्रव्य में चाहे वह निगोदिया हो, अथवा दो-तीन-चार-पाँच इन्द्रिय तिर्यञ्च हो, अथवा मनुष्य हो, अथवा देव या नारकी हो, अथवा मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि हो, अथवा श्रावक-मुनि-अरहन्त या सिद्ध परमात्मा हो- संख्या-अपेक्षा गुण समान ही हैं; न्यूनाधिक नहीं।

-**'आरिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।**

जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण॥ ४७॥'

अन्वयार्थ- जैसे सिद्ध आत्मा हैं, वैसे भवलीन (संसारी) जीव हैं जिससे (वे संसारीजीव सिद्धात्माओं की भाँति) जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

(श्रीनियमसार, गाथा ४७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९९)

-'असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।। ४८।।'

अन्वयार्थ- जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्धभगवन्त अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल, और विशुद्धात्मा हैं; उसी प्रकार संसार में जीव जानना।

(श्रीनियमसार, गाथा ४८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०१)

-'विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।'

गाथार्थ- शुद्धनय से यथार्थ में सब संसारीजीव शुद्ध जानना।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ उत्तरार्द्ध व गाथार्थ, पृष्ठ ३८)

-'जैसे सोने में वान-भेद है, वैसे जीव में वान-भेद नहीं है। केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से सब जीव समान हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ९५ का भावार्थ, पृष्ठ २१४)

-'सब ही जीव द्रव्य से तो जुदे-जुदे हैं, परन्तु जाति से एक हैं और गुणोंकर समान हैं- ऐसी धारणा करना मुक्ति का कारण है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १०० का भावार्थ, पृष्ठ २१८-२१९)

-'जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोक्ष संसार।
निश्चय भेद कछु भी नाहीं, भेद गिने संसार।।'

(श्री बुद्धजनजी कृत भजन)

प्रश्न २४- जीवद्रव्य चेतन है; शेष सभी द्रव्य अचेतन हैं, तो सभी द्रव्यों में गुण समान कैसे हो सकते हैं?

उत्तर- संख्या-अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य में गुण समान ही हैं। अन्तर मात्र इतना है कि चेतनद्रव्य के गुण-पर्याय चेतन (ज्ञान-दर्शनसहित) होते हैं; और अचेतनद्रव्यों के गुण-पर्याय अचेतन, जड़ (ज्ञान-दर्शनरहित) होते हैं।

-'यह चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय और चेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय, जिसका स्वभाव है ऐसा मैं, इस (पुद्गल) से भिन्न रहा; और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय, जिसका स्वभाव है ऐसा पुद्गल, (मुझसे) भिन्न रहा।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५४ का भावार्थ, पृष्ठ ३१४-३१५)

-'आत्मा का लक्षण उपयोग है और उपयोग में ज्ञान प्रधान है। वह (ज्ञान) अन्य चेतन द्रव्यों में नहीं है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३९० से ४०४ का भावार्थ, पृष्ठ ५५२)

-'तथा जिन गुणों का विचार करते हैं उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं, कितने ही

पुद्गलाश्रित हैं;'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२३)

प्रश्न २५- द्रव्य में गुण किस प्रकार रहते हैं?

उत्तर- गुण द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में तथा उसकी (द्रव्य की) सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं। गुण द्रव्य में डाले (बढ़ाये), अथवा निकाले (घटाये) नहीं जा सकते। गुण द्रव्य से किसी प्रकार भी पृथक् नहीं किये जा सकते। प्रत्येक द्रव्य और उनके गुणों का द्रव्य-क्षेत्र-काल एक है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ६६ व ८६, पृष्ठ २५ व २९)

-'द्रव्य और गुण एक अस्तित्व से रचित हैं; इसलिये उनकी जो अनादिअनन्त सहवृति (एकसाथ रहना), वह वास्तव में समवर्तीपना है; वही जैनों के मत में **समवाय**[१] है; वही संज्ञादि भेद होनेपर भी (द्रव्य और गुणों को संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेद होनेपर भी) वस्तुरूप से अभेद होने से अपृथक्पना है; वही **युतसिद्धि**[२] के कारणभूत **अस्तित्वांतर**[३] का अभाव होने से **अयुतसिद्धपना**[४] है। इसलिये समवर्तित्वस्वरूप समवायवाले द्रव्य और गुणों को अयुतसिद्धि ही है, पृथक्पना नहीं है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५० की टीका, पृष्ठ ९१)

प्रश्न २६- द्रव्य में गुण किस प्रकार रहते हैं? उदाहरण देकर समझाइए।

उत्तर- द्रव्य में गुण चीनी में मिठास की भाँति रहते हैं, क्योंकि-

(१) मिठास चीनी के सम्पूर्ण भाग में रहती है; (२) मिठास चीनी की सभी अवस्थाओं में रहती है; और (३) मिठास को चीनी से किसी प्रकार भी पृथक् नहीं किया जा सकता।

इसके कुछ दूसरे उदाहरण हैं; जैसे, अग्नि में उष्णता, जल में ठण्डक, जीव में ज्ञान-दर्शन आदि।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १०, पृष्ठ ८६; तृतीय भाग, प्रश्न ११४ व ११५, पृष्ठ २५६ एवं श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ६९, पृष्ठ २६)

प्रश्न २७- द्रव्य मे गुण किस प्रकार नहीं रहते? उदाहरण देकर समझाइए।

उत्तर- द्रव्य में गुण थैली में रुपयों की भाँति नहीं रहते, क्योंकि-

(१) रुपये थैली के सम्पूर्ण भाग में नहीं रहते; (२) रुपये थैली की सम्पूर्ण अवस्थाओं में नहीं रहते; (३) रुपये थैली में डाले और निकाले जा सकते हैं; और (४) रुपये बिखर कर अलग-अलग

---

१. **समवाय**- समवर्तीपना; अनादिअनन्त सहवृत्ति; अर्थात्, एकसाथ रहना।

२. **युतसिद्धि**- पृथक्पना; भिन्नपना।

३. **अस्तित्वांतर**- भिन्न अस्तित्व।

४. **अयुतसिद्धि**- अपृथक्पना; अभिन्नपना।

हो सकते हैं।

इसके कुछ दूसरे उदाहरण हैं; जैसे, घड़े में बेर, बोरी में गेहूँ, कमरे में बोरियाँ, छत्ते में मक्खियाँ, आदि।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ६८ तथा श्रीजैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ११४ व ११५, पृष्ठ २५६)

प्रश्न २८- क्या कोई गुण छहों द्रव्यों में समानरूप से रहता है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य में पाये जानेवाले **सामान्यगुण**[1] अनन्त हैं, लेकिन मुख्य छः हैं-

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरूलघुत्व, और (६) प्रदेशत्व।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ९१, पृष्ठ ३०)

प्रश्न २९- द्रव्य और गुण भेदरूप हैं अथवा अभेदरूप?

उत्तर- संज्ञा (नाम), संख्या, लक्षण, तथा प्रयोजन की अपेक्षा भेदरूप हैं और क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा अभेदरूप हैं।

-'तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, तो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उस ही को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे, सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं- ऐसा ही श्रद्धान करना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५२)

-'धर्मी (द्रव्य) को बतलानेवाले कितने ही धर्मों (गुणों) के द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यों का यद्यपि धर्म और धर्मी स्वभाव से अभेद हैं; तथापि नाम से भेद करके-व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। किन्तु परमार्थ से देखा जाये, तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है- ऐसे कुछ मिले हुए आस्वादवाले, अभेद, एक स्वभावी का अनुभव करनेवाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है; एक शुद्ध ज्ञायक ही है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ७ की टीका, पृष्ठ १८)

प्रश्न ३०- क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा द्रव्य और गुण अभेद किस प्रकार हैं?

---

१. [**गुणों के दो प्रकार हैं**- (क) सामान्य, और (ख) विशेष।]

(क) सामान्यगुण- प्रत्येक द्रव्य में पाये जाने वाले गुण को सामान्यगुण कहते हैं।

(ख) विशेषगुण- जो सब द्रव्यों में न पाये जाकर केवल अपने ही द्रव्य में ही रहते हैं, उन्हें विशेषगुण कहते हैं।

[गुणों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये 'प्रकरण-३ : गुण, पृष्ठ संख्या ३०३ देखें।]

उत्तर- गुण द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में रहते हैं, यह द्रव्य और गुण के बीच क्षेत्र-अपेक्षा अभेदपना हुआ और गुण द्रव्य की सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, यह द्रव्य और गुण के बीच काल-अपेक्षा अभेदपना हुआ।

प्रश्न ३१- संज्ञा, संख्या, तथा लक्षण की अपेक्षा द्रव्य और गुण में क्या भेद है?

उत्तर- **(१) संज्ञा-अपेक्षा (नाम-अपेक्षा)**- एक का नाम द्रव्य है और दूसरे का गुण; यह संज्ञा-अपेक्षा भेद हुआ; **(२) संख्या-अपेक्षा**- द्रव्य एक है, लेकिन गुण अनेक हैं; यह संख्या-अपेक्षा भेद हुआ; **(३) लक्षण-अपेक्षा**- द्रव्य का लक्षण गुणों का समूह है, लेकिन गुण का लक्षण द्रव्य के समस्त भागों एवं समस्त अवस्थाओं में रहना है, यह लक्षण-अपेक्षा भेद हुआ।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ८७, पृष्ठ २९)

प्रश्न ३२- गुणरहित द्रव्य का नाम बताओ?

उत्तर- कोई भी द्रव्य गुणरहित नहीं है, क्योंकि गुणों के समूह को ही द्रव्य कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या १४२, पृष्ठ २६०)

प्रश्न ३३- द्रव्य का अपने गुणों के साथ कैसा **सम्बन्ध**[१] है?

उत्तर- द्रव्य का अपने गुणों के साथ तादात्म्यसिद्ध (नित्यतादात्म्य); अर्थात्, कभी समाप्त न होनेवाला सम्बन्ध है।

-'जैसे यह आत्मा, जिनके तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध हैं, ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर; भिन्नलक्षण) न होने से उनके भेद को न देखता हुआ, निःशङ्कतया ज्ञान में आत्मपने प्रवतर्ता है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ६९-७० की टीका, पृष्ठ १२२)

-'द्रव्य को अपने गुणों के साथ शक्कर और मिठास के समान "नित्यतादात्म्यसम्बन्ध" है। इसके अतिरिक्त द्रव्य और गुणों के बीच ज्ञान और आत्मा के समान "अंश-अंशी सम्बन्ध"; शक्कर और सफेदी के समान "विशेषण-विशेष्यसम्बन्ध"; और गुण-गुणी के समान "आधेय-आधार-सम्बन्ध" है।'

(जिनधर्म-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ३७, पृष्ठ १४)

---

१. **सम्बन्ध तीन प्रकार का है**- (क) तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध (नित्यतादात्म्यसम्बन्ध), (ख) संयोगसिद्धसम्बन्ध (अनित्यतादात्म्यसम्बन्ध), और (ग) एकक्षेत्रवगाहसम्बन्ध (परस्परअवगाहसम्बन्ध)।

(क) तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध- कभी समाप्त न होनेवाला सम्बन्ध; द्रव्य का गुणों से सम्बन्ध; जैसे, आत्मा का ज्ञानगुण से सम्बन्ध। **(ख) संयोगसिद्धसम्बन्ध**- समाप्त हो जानेवाला सम्बन्ध। आत्मा का क्रोधादि आस्रवों, विकार से सम्बन्ध। **(ग) एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध**- एक क्षेत्र में रहने का सम्बन्ध; छहों द्रव्यों का आपस में एकक्षेत्रावगाह (परस्परअवगाह) सम्बन्ध है। जीव का पुद्गल द्रव्यकर्म से एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध है।

(आधार-श्रीसमयसार, गाथा ६९-७० की टीका, पृष्ठ १२२)

जीवद्रव्य

प्रश्न १- जीवद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसमें चेतना; अर्थात्, ज्ञान-दर्शनरूप शक्ति हो, उसे जीवद्रव्य कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ५, पृष्ठ २)

-'जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।। २।।'

गाथार्थ- जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेहप्रमाण है, भोक्ता है, संसारस्थ है, सिद्ध है, और स्वभाव से उर्ध्वगमन करनेवाला है, वह जीव है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २ व गाथार्थ, पृष्ठ ९)

-'तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।। ३।।'

गाथार्थ- तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु, और श्वासोच्छवास -इन चार **प्राणों**[1] को जो

---

१. **प्राण**- जिनके संयोग से यह जीव जीवन अवस्था को प्राप्त होता हो और वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त हो, उनको प्राण कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १२२, पृष्ठ २५)

प्राणों के दो भेद हैं- (१) द्रव्यप्राण, और (२) भावप्राण।

द्रव्यप्राण- जिन प्राणों मे सदैव "पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य"- ऐसी एकरूपता-सदृशता होती है, वह द्रव्यप्राण है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३०, पृष्ठ ६१ की पादटिप्पणी)

-'यह पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं। इन द्रव्यप्राणों के संयोग-वियोग से जीवों की जीवन-मरणरूप दशा व्यवहार से कहलाती है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १७६, पृष्ठ ५३)

भावप्राण- जिन प्राणों में सदैव "चित्सामान्य, चित्सामान्य, चित्सामान्य"- ऐसी एकरूपता-सदृशता होती है, वे भावप्राण हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३०, पृष्ठ ६१ की पादटिप्पणी)

-'चैतन्य और (भाव) बलप्राण को भावप्राण कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १७७, पृष्ठ ५३)

...........क्रमशः

धारण करता है, वह व्यवहारनय से जीव है। निश्चयनय से जिसको चेतना है, वह जीव है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ व गाथार्थ, पृष्ठ १२)

-'पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो।। ३०।।'

अन्वयार्थ- जो चार प्राणों से जीता है, जियेगा, और पूर्वकाल में जीता था; वह जीव है और प्राण इन्द्रिय, बल, आयु, तथा उच्छ्‌वास हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६१)

-'अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।। ९।।'

अन्वयार्थ- पुरुष अर्थात् आत्मा चेतनास्वरूप है; स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण से रहित है; गुण और पर्यायसहित है; तथा उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्ययुक्त है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १३)

-'स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन, काय, आयु, और श्वासोच्छ्‌वास नामक दस प्राणों से (संसारदशा में) जो जीता है, जियेगा, और पूर्वकाल में जिया था; वह "जीव" है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ९ की टीका, पृष्ठ २२)

-'आत्मा की जिस शक्ति के निमित्त से इन्द्रियादिक अपने कार्य मे प्रवर्तें, उसे भावप्राण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १२५, पृष्ठ २६)

द्रव्यप्राण के दस भेद- (१ से ५) पाँच इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र); (६से ८) तीन बल (मनबल, वचनबल, कायबल); (९) आयु; और (१०) श्वासोच्छ्‌वास।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १७६, पृष्ठ ५३; जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १२४, पृष्ठ २६; श्रीप्रवचनसार, गाथा ९ की टीका, पृष्ठ २२; एवं श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३० का अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ६१)

भावप्राण के दो भेद हैं- (१) भावेन्द्रिय, और (२) बलप्राण। भावेन्द्रिय के पाँच और बलप्राण के तीन भेद हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १७८ से १८०, पृष्ठ ५४; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १२७ से १२९, पृष्ठ २७)

[**विशेष- (१)** संसारीजीव को द्रव्य और भावप्राण- दोनों प्राणों से जीवत्व है। मुक्त; अर्थात्, सिद्धजीव को केवल भावप्राणों से ही जीवत्व है। **-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६१-६२;**

(२) निश्चय से भावप्राण धारण करने से 'जीव' है। व्यवहार से द्रव्यप्राण धारण करने से 'जीव' है। **-श्रीनियमसार, गाथा ९ की टीका, पृष्ठ २२;** और

(३) एकेन्द्रिय जीव को स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्‌वास- इस प्रकार चार प्राण; द्विन्द्रिय को स्पर्शन, रसना दो इन्द्रिय, कायबल-वचनबल, आयु, श्वासोच्छ्‌वास- इस प्रकार छः प्राण; त्रीन्द्रिय को घ्राण इन्द्रिय बढ़ जाने से सात प्राण; चतुरिन्द्रिय को चक्षु इन्द्रिय बढ़ जाने से आठ प्राण, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय को कर्ण इन्द्रिय बढ़ जाने से नौ प्राण; और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में मनबल बढ़ जाने से सभी दस प्राण होते हैं। **-श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ३ का भावार्थ, पृष्ठ ११**]

-'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
णाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ ४९॥'[१]

गाथार्थ- हे भव्य! तू जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त; अर्थात्, इन्द्रियगोचर नहीं- ऐसा; चेतना जिसका गुण है- ऐसा; शब्दरहित, किसी चिह्न से ग्रहण न होनेवाला, और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता- ऐसा जान।'

(श्रीसमयसार, गाथा ४९ व गाथार्थ, पृष्ठ ९०-९१)

-'यह जीव यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आदि-मध्य-अन्तरहित, स्व-परप्रकाशक, अविनाशी, निरुपाधि, शुद्ध चैतन्य जिसका लक्षण (स्वरूप) है- ऐसे निश्चयप्राण (भावप्राण) से जीता है; तो भी अशुद्धनय से अनादिकर्मबन्ध के वश अशुद्ध द्रव्यप्राणों और भावप्राणों से जीता है; अत: वह जीव है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २ की टीका, पृष्ठ ९)

-'अस्ति जीव: स्वत: सिद्धोऽनाद्यनन्तोऽप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादिरूढत्वाद् द्रव्यमव्ययम्॥ ३०॥'

अर्थ- जो स्वत:सिद्ध है, अनादिअनन्त है, अमूर्तिक है, ज्ञानादि अनन्त धर्मों का आधार होने से द्रव्य है, और अविनाशी है- वह जीवद्रव्य है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ३० व अर्थ, पृष्ठ १५५)

-'जीवपदार्थ- (१) सदा ही परिणामस्वरूप स्वभाव में रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्तासहित है; (२) और जीव चैतन्यस्वरूपता से नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानज्योतिस्वरूप है; (३) और वह जीव, अनन्त धर्मों में रहनेवाला जो एकधर्मीपना है, उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है- ऐसा है; (४) और वह क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसके गुणपर्यायों को अङ्गीकार किया है- ऐसा है; (५) और वह अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से जिसने समस्तरूप को प्रकाशनेवाली एकरूपता प्राप्त की है- ऐसा है; (६) और वह अन्य द्रव्यों के जो विशिष्टगुण-अवगाहन-गति-स्थिति-वर्तनाहेतुत्व और रूपित्व हैं; उनके अभाव के कारण और असाधारण चैतन्यरूपतास्वभाव के सद्भाव के कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल -इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है; (७) और वह अनन्त अन्य द्रव्यों के साथ अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप होनेपर भी अपने स्वरूप से न छूटने से टङ्कोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है। ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है।'

(श्रीसमयसार, गाथा २ की टीका, पृष्ठ ८-९)

---

१. श्रीसमयसार की यह गाथा ४९, पांचों परमागमों में उपलब्ध है। श्रीनियमसार में गाथा ४६; श्रीप्रवचनसार में गाथा १७२; श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह में गाथा १२७; एवं श्रीअष्टपाहुड के भावपाहुड में गाथा ६४ है।

-'चेतनको है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप।।

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल;'

अन्वयार्थ- जीव ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप; अर्थात्, ज्ञातादृष्टा है और वह अमूर्तिक, चैतन्यमय तथा उपमारहित है। पुद्गल, आकाश, धर्म, अधर्म, काल इनसे जीव का स्वभाव अथवा परिणाम भिन्न है।

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द २ का उत्तरार्द्ध एवम् ३ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३१-३२)

-'स्वयं निमित्तरूप होकर दूसरे को न उत्पन्न करता हुआ तथा दूसरे के निमित्त से स्वय न उत्पन्न होता हुआ- ऐसा ज्ञायकस्वभाव वह जीव है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १४७)

प्रश्न २- जीव का **लक्षण**[1] क्या है?

उत्तर- उपयोग अर्थात् चैतन्य ही जीवद्रव्य का सच्चा लक्षण है। यह (उपयोगलक्षण) अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, और असम्भवदोष से मुक्त है क्योंकि उपयोगलक्षण निगोद से लेकर सिद्धदशा तक के प्रत्येक जीव में निर्बाधरूप से पाया जाता है।

-'उपयोगो लक्षणम्।। ८।।' -अर्थ- जीव का लक्षण उपयोग है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ८ व अर्थ, पृष्ठ १९४)

-'सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।'

गाथार्थ- सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया (जो) सदा उपयोगलक्षणवाला जीव है।

(श्रीसमयसार, गाथा २४ का पूर्वार्द्ध व गाथार्थ, पृष्ठ ५५)

-'सहजशुद्धचैतन्यादिलक्षणं जीवद्रव्यं;' -अर्थ- सहज शुद्धचैतन्यादि लक्षणवाला जीवद्रव्य है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १ की संस्कृत टीका, पृष्ठ ५)

-'अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।

ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं।। ६।।'

गाथार्थ- व्यवहारनय से आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन-यह **सामान्यरूप**[2]

---

१. **लक्षण-** 'लक्ष्य में तो सर्वत्र पाया जाये और अलक्ष्य में कहीं न पाया जाये, वह सच्चा लक्षण है; जैसे, आत्मा का स्वरूप चैतन्य है; सो वह सच्चा लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा मानने से आत्मा-अनात्मा का यर्थाथ ज्ञान होता है; कुछ दोष नहीं लगता।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१५)

['लक्षण, लक्ष्य एवं दोष' आदि प्रश्नोत्तरों के लिये **'परिशिष्ट-१ : वीतराग प्रश्नोत्तरी', पृ० ८३२-८३३; प्रश्न ३८ से ४५ देखिए।**]

२. **सामान्य-** इस कथन का क्या अर्थ है? यह अर्थ है कि इस लक्षण में (ज्ञान-दर्शन लक्षण में) संसारीजीव अथवा मुक्तजीव की विवक्षा नहीं है, अथवा शुद्ध या अशुद्ध ज्ञान-दर्शन की विवक्षा नहीं है। ऐसा अर्थ किस प्रकार है? 'विवक्षा का अभाव-यह सामान्य का लक्षण है'-ऐसा वचन होने से।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ की टीका, पृष्ठ २२)

से जीव का लक्षण कहा है। शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध ज्ञान-दर्शन को जीव का लक्षण कहा है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ व गाथार्थ, पृष्ठ २१)

-'ज्ञान-दर्शनचेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं। यही चेतना अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असम्भव- इन तीनों दोषों से रहित इस आत्मा का असाधारण लक्षण है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

-**'जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।'**

अन्वयार्थ- जीव उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन है।

(श्रीनियमसार, गाथा १० का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ २४-२५)

-**'उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।**
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि।। ४०।।'

अन्वयार्थ- ज्ञान और दर्शन से संयुक्त ऐसा वास्तव में दो प्रकार का उपयोग जीव को सर्व काल अनन्यरूप से जानो।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७४-७५)

-'सो सर्व ही जीव ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग लक्षण कौं धरैं हैं। इस लक्षण विषैं अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असंभवी दोष न संभवै हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३०)

-'आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है।'

(श्रीसमयसार, गाथा २९४ की टीका, पृष्ठ ४१२)

-'प्रथम तो इस जीव का स्वभाव (लक्षण) चैतन्य है। वह सबके सामान्य-विशेष स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३२)

-'उपयोग जीव का अबाधित लक्षण है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ८ की टीका, पृष्ठ १९५)

प्रश्न ३- जीवद्रव्य का लक्षण 'केवलज्ञान' मानें तो क्या दोष आता है?

उत्तर- जीवद्रव्य का लक्षण केवलज्ञान मानने से अव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि केवलज्ञान जीवद्रव्य में ज्ञानगुण की पूर्णता (क्षायिकदशा) होनेपर तेरहवें गुणस्थान से पाया जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों में केवलज्ञान नहीं पाया जाता।

-'अव्याप्तिदोष उसे कहते हैं कि जिसको जिसका लक्षण कहा गया हो वह उसके किसी लक्ष्य में हो और किसी लक्ष्य में न हो। यदि आत्मा का लक्षण रागादिक कहें, तो अव्याप्ति

दूषण लगता है, क्योंकि रागादिक संसारी जीवों में हैं परन्तु सिद्ध जीवों में नहीं हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

-'बहुरि जहाँ लक्ष्य का एकदेश विषैं लक्षण पाइए, तहाँ अव्याप्ति दोष है। जैसैं जीव का लक्षण रागादिक कहिए तौ रागादिक संसारी विषैं तो संभवै, परि सिद्ध जीवनि विषैं संभवैं नाहीं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३१)

[इसी प्रकार मति, श्रुत, अवधि, अथवा मनःपर्ययज्ञान; शुभ अथवा अशुभराग; सम्यग्दर्शन अथवा मिथ्यादर्शन; श्रावक अथवा मुनिदशा को जीवद्रव्य का "लक्षण" मानें, तो अव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि उक्त मे से कोई भी निगोद से लेकर सिद्धदशा तक के सभी जीवों में सभी काल निर्बाधरूप से नहीं पाया जाता।]

प्रश्न ४- जीवद्रव्य का लक्षण 'अरूपी' मानें, तो क्या दोष आता है?

उत्तर- जीवद्रव्य का लक्षण अरूपी मानने मे अतिव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि जीवद्रव्य के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, तथा कालद्रव्य भी अरूपी हैं।

-'जो लक्षण लक्ष्य में हो और अलक्ष्य में भी हो, उसे अतिव्याप्ति दूषण कहते हैं। यदि आत्मा का लक्षण अमूर्तत्त्व कहें, तो अतिव्याप्ति दूषण लगता है। कारण कि जिस तरह आत्मा अमूर्तिक है; उसी तरह धर्म, अधर्म, आकाश, और काल भी अमूर्तिक हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

-'जहाँ लक्ष्य विषैं वा अलक्ष्य विषैं लक्षण पाइए, तहाँ अतिव्याप्तिदोष है; जैसे, जीव का लक्षण अमूर्तिक कहिए तौ अमूर्तिकपना जीव विषैं भी है और धर्मादिक विषैं भी है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३०-७३१)

[इसी प्रकार क्रियावतीशक्ति, असख्यातप्रदेशी, नित्य, सत्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त, सामान्य अथवा विशेषगुणों के धारक आदि को जीवद्रव्य का लक्षण मानें, तो अतिव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि उक्त सभी लक्षण जीवद्रव्य के साथ-साथ दूसरे अथवा सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं।]

प्रश्न ५- जीवद्रव्य का लक्षण 'शरीर' मानें तो क्या दोष आता है?

उत्तर- जीवद्रव्य का लक्षण शरीर मानने से असम्भवदोष आता है, क्योंकि शरीर जीवद्रव्य में किसी भी दशा और किसी भी काल पाया ही नहीं जाता।

-'जो प्रमाण में न आये, उसे असम्भव दूषण कहते हैं। यदि आत्मा का लक्षण जड़पना कहें, तो असम्भवदोष लगता है। कारण कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

-'बहुरि जो लक्ष्य तैं विरोधी लक्षण होइ, सो असंभवी कहिए; जैसे, जीव का लक्षण

जड़त्व कहिए, सो संभवै ही नाहीं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३१)

[इसी प्रकार इन्द्रिय, मन, वाणी, शरीर की क्रिया, धन, वैभव, आठ कर्मों आदि को जीवद्रव्य का लक्षण मानें, तो असम्भवदोष आयेगा, क्योंकि ये जीवद्रव्य में सर्वथा पाये ही नहीं जाते।]

प्रश्न ६- उपयोग किसे कहते हैं?

उत्तर- चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाले जीव के ज्ञान-दर्शन परिणाम को उपयोग कहते हैं।

-'जीव चैतन्यद्रव्य है। ज्ञान-दर्शन उसके गुण हैं। उसका एक नाम चैतन्य है। चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहा जाता है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४ का भावार्थ, पृष्ठ १२)

-'जीव के लक्षणरूप चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३५४, पृष्ठ ८७)

-**'आत्मनश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग:' -अर्थ**- आत्मा का चैतन्य-अनुविधायी (अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करनेवाला) परिणाम सो उपयोग है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० की संस्कृत टीका, पृष्ठ ७५)

-'चैतन्यगुण के साथ सम्बन्ध रखनेवाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं।' तथा,

-'चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। उस चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करनेवाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का अबाधित लक्षण है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ८ की टीका, पृष्ठ १९४ व १९५)

-'उपयोग को ज्ञान-दर्शन भी कहते हैं, वह सभी जीवों में होता है और जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता; इसलिये उसे जीव का असाधारणगुण अथवा लक्षण कहते हैं और वह सद्भूत (आत्मभूत) लक्षण है; इसलिये सब जीवों में सदा होता है।'

(श्रीतत्त्वार्थसार, पृष्ठ ५४, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ८ की टीका, पृष्ठ १९४)

-**'वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।'**

टीका- बसैं हैं, एकीभावरूप निवसैं हैं; गुण, पर्याय जा विषैं, सो वस्तु, ज्ञेय पदार्थ जानना। ताके (ज्ञेय के) ग्रहण के अर्थि जो जीव का परिणाम विशेष रूप भाव प्रवर्तै, सो उपयोग है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७२ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३०)

प्रश्न ७- उपयोग के कितने भेद हैं?

उत्तर- उपयोग के दो भेद हैं- (१) ज्ञानोपयोग, और (२) दर्शनोपयोग।

-' **"उवओगो दुवियप्पो"**- उपयोग दो प्रकार का है; **"दंसणणाणं च"**- दर्शन और

ज्ञान।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १५)

-'उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि।। ४०।।'

अन्वयार्थ- ज्ञान और दर्शन से संयुक्त- ऐसा वास्तव में दो प्रकार का उपयोग जीव को सर्व काल अनन्यरूप से जानो।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७४-७५)

-**'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।। ९।।'** -**अर्थ**- वह उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है और वे क्रमशः आठ और चार भेदसहित हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ९ व अर्थ, पृष्ठ १९६)

-'ज्ञान और दर्शन के भेद से यह उपयोग दो प्रकार का है।'

(श्रीनियमसार, गाथा १० की टीका, पृष्ठ २५)

-'तीनों दोष (अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असम्भव) रहित आत्मा का चेतन लक्षण दो प्रकार है- एक ज्ञानचेतना, और दूसरी दर्शनचेतना।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

-**'सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव णायारो।।'**

टीका- बहुरि सो उपयोग साकार-अनाकार भेद तैं दोय प्रकार जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७२ का उत्तरार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३०)

प्रश्न ८- ज्ञानोपयोग किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पदार्थ (ज्ञेय) को विशेषरूप से ग्रहण करे, उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं।

-**'तत्र विशेषग्राहि ज्ञानं,'**-**अर्थ**- विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० की संस्कृत टीका, पृष्ठ ७५)

-**'सविकल्पकं ज्ञानं च'**-**अर्थ**- ज्ञान सविकल्प है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १५)

-'जो पदार्थों को साकाररूप विशेषता से जाने, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

-**'मदि-सुद-ओहि-मणेहिं य सग-सग-विसये विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो।। ६७४।।'**

टीका- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञाननि करि अपने-अपने विषय विषैं जो विशेष ज्ञान

सारणी १ : उपयोग के भेद-प्रभेद

- उपयोग
  - दर्शनोपयोग
    - चक्षु
    - अचक्षु
    - अवधि
    - केवल
  - ज्ञानोपयोग
    - परोक्ष
      - मति
        - सुमति
        - कुमति
      - श्रुत
        - सुश्रुत
        - कुश्रुत
    - प्रत्यक्ष
      - विकल
        - अवधि
          - सुअवधि
          - कुअवधि (विभङ्गज्ञान)
        - मन:पर्यय
      - सकल
        - केवलज्ञान

आधार-श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा २ की टीका, पृष्ठ १८
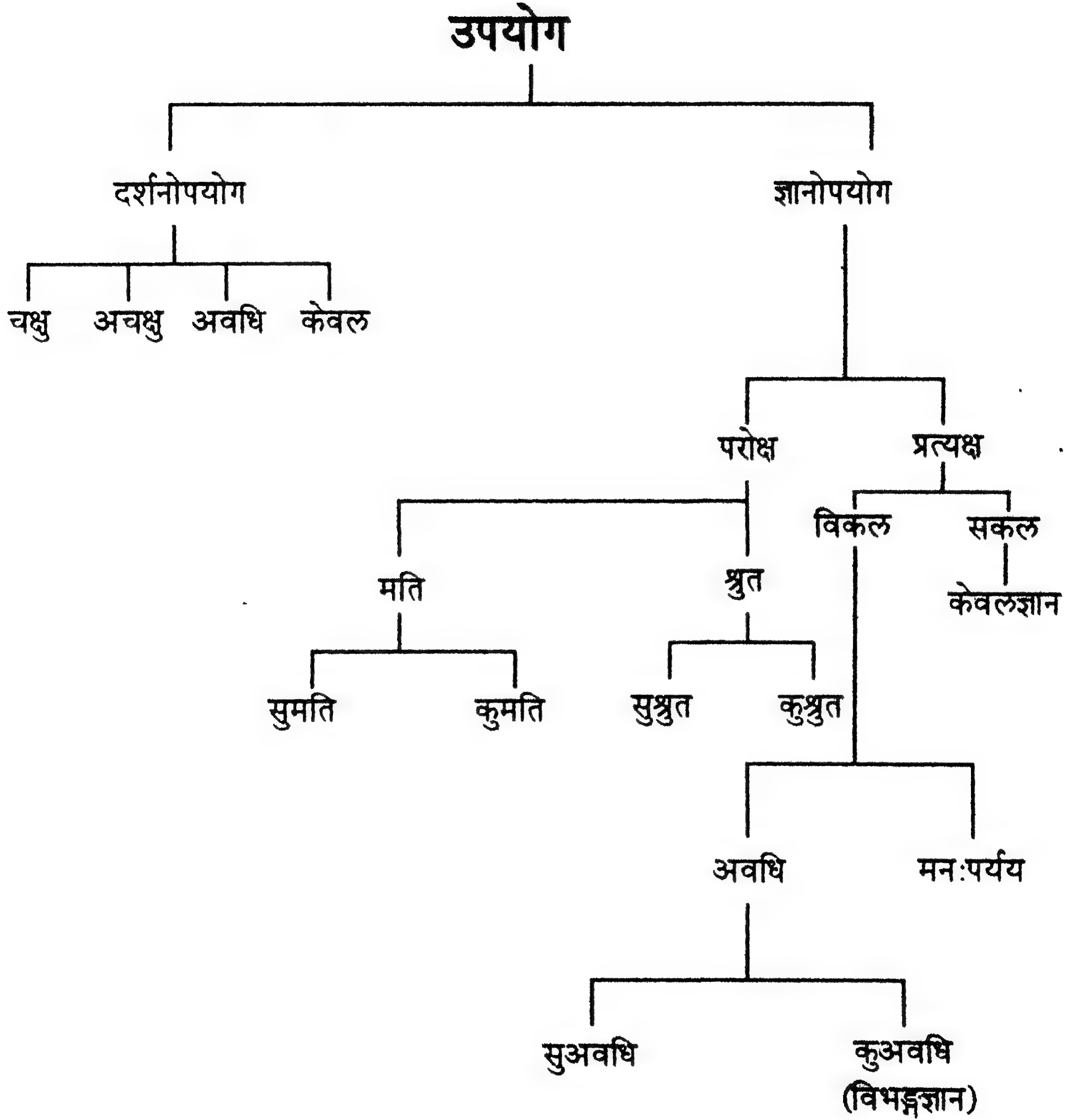
होइ, अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण पदार्थ का ग्रहण रूप लक्षण धरै, जो उपयोग होइ, सो **साकार**[1] उपयोग है। इहाँ वस्तु का ग्रहण रूप जो चैतन्य का परिणमन, ताका नाम उपयोग है। मुख्यपनैं उपयोग है, सो छद्मस्थ कैं एक वस्तु का ग्रहणरूप चैतन्य का परिणमन अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहै है। तातैं अन्तर्मुहूर्त ही कह्या है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७४ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३१)

– '**अवान्तरसत्ता**[2] विशिष्ट विशेष पदार्थ को विषय करनेवाली चेतना को ज्ञानचेतना कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ८२, पृष्ठ १७)

प्रश्न ९- दर्शनोपयोग किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पदार्थ (ज्ञेय) को सामान्यरूप से ग्रहण करें, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।

– '**जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।**

अविसेसिदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णए समए ॥ ४३॥'

गाथार्थ- पदार्थों में विशेषपना किये बिना, (भेद किये बिना), आकार अर्थात् विकल्प किये बिना पदार्थों का जो सामान्यरूप से (सत्तावलोकन) ग्रहण, उसे परमागम मे दर्शन कहा जाता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४३ व गाथार्थ, पृष्ठ २११-२१२)

---

१. **साकार**- साकार अर्थात् आकारसहित। उसमे 'आकार' का अर्थ लम्बाई, चौड़ाई, और मोटाई नहीं है, किन्तु जिस प्रकार का पदार्थ (ज्ञेय) होता है, उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञात हो- उसे आकार कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ १९७)

– 'आत्मा चाहे जिस आकार के पदार्थ को जाने, तथापि आत्मा का आकार तो (समुद्घात को छोड़कर) शरीराकार रहता है। वास्तव में ज्ञान ज्ञेयपदार्थ के आकाररूप नहीं होता किन्तु आत्मा के आकाररूप होता है। जैसा ज्ञेयपदार्थ होता है, वैसा ही ज्ञान जान लेता है; इसलिये ज्ञान का आकार कहा जाता है।'

(श्रीतत्त्वार्थसार, पृष्ठ ३०८-३०९, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ १९७-१९८)

– '**आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।**

सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम्॥ ३९१॥'

अर्थ- ज्ञान मे अर्थ (स्व-पर) का विकल्प होना आकार कहलाता है और अर्थ स्व-पर के भेद से दो प्रकार का है। अथवा सोपयोग (उपयोगसहित) अवस्था का होना ही विकल्प है जो कि ज्ञान का लक्षण है।

– '**सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत्।**

यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक्॥ ३९४॥'

अर्थ- ज्ञान वास्तव में सामान्य और विशेष दोनो प्रकार का होता है। उनमे से जो सामान्यज्ञान है, वह "अनाकार" होता है और जो विशेषज्ञान है, वह "साकार" होता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ३९१ व ३९४ तथा अर्थ, पृष्ठ २१२ व २१३)

२. **अवान्तरसत्ता**- किसी विवक्षित पदार्थ की सत्ता को अवान्तरसत्ता कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ८३, पृष्ठ १७)

-'**सामान्यग्राहि दर्शनम्**' -**अर्थ**- सामान्य को ग्रहण करनेवाला दर्शन है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० की संस्कृत टीका, पृष्ठ ७५)

-'**निर्विकल्पकं दर्शनं**' -**अर्थ**- दर्शन निर्विकल्प है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ १५)

-'जो पदार्थों को निराकाररूप सामान्यता से देखे, उसे दर्शनचेतना कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १४)

-'जिसमें **महासत्ता**[1] (सामान्य) का प्रतिभास (निराकार-झलक) हो, उसको दर्शनचेतना कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ८०, पृष्ठ १६)

-'**इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं।**
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो अणायारो।। ६७५।।'

टीका- नेत्र इन्द्रियरूप चक्षुदर्शन वा अविशेष इन्द्रिय अर मनरूप अचक्षुदर्शन वा अवधि दर्शन, इनकरि जो जीवादि पदार्थनि का विशेष न करिकैं निर्विकल्पपनैं ग्रहण होइ, सो अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण सामान्य अर्थ का ग्रहण रूप **निराकार**[2] उपयोग है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३१)

-'उपयोगवर्णन में दर्शन शब्द का अर्थ वस्तु का सामान्यस्वरूप ग्रहणमात्र है;'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९६)

---

१. **महासत्ता**- समस्त पदार्थों के अस्तित्वगुण के ग्रहण करनेवाली सत्ता को महासत्ता कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ८१, पृष्ठ १७)

२. **निराकार**- अर्थात् अनाकार; आकाररहित। दर्शन को निराकार कहा जाता है। दर्शन एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को पृथक् नहीं करता; इसलिये उसे निराकार कहा जाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ १९८)

-'**नाकार: स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।**
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा।। ३९२।।'

अर्थ- आकार का नहीं होना ही अनाकार है। उसी का नाम वास्तव मे निर्विकल्पता है। यह निर्विकल्पता ज्ञान के सिवा शेष अनन्तगुणों का लक्षण है।

-'**ज्ञानाद्विना गुणा: सर्वे प्रोक्ता: सल्लक्षणाङ्किता:।**
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रका:।। ३९५।।
ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुन:।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते।। ३९६।।'

अर्थ- ज्ञान के सिवा सत् लक्षणवाले सामान्य या विशेषरूप और जितने भी गुण कहे गये हैं, वे सब वास्तव में अनाकार ही होते हैं।। ३९५।। इसलिये निर्विकल्पवस्तु का कथन करना शक्य नहीं होने से जहाँ भी उसका उल्लेख किया जाता है, वह ज्ञान द्वारा ही किया जाता है।। ३९६।।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ३९२, ३९५, ३९६ व अर्थ, पृष्ठ २१२ व २१३)

–'किसी भी पदार्थ की जानने की योग्यता (लब्धि) होनेपर उस पदार्थ की ओर सन्मुखता, प्रवृत्ति अथवा दूसरे पदार्थों की ओर से हटकर विवक्षित पदार्थ की ओर उत्सुकता प्रगट होती है, सो दर्शन है। वह उत्सुकता चेतना में होती है। जब तक विवक्षित पदार्थ को थोड़ा भी नहीं जाना जाता, तब तक के चेतना के व्यापार को "दर्शनोपयोग" कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ १९७)

–'पूर्व विषय से हटना और बाद के विषय की ओर उत्सुक होना ज्ञान की पर्याय नहीं है; इसलिये उस चेतना पर्याय को "दर्शनोपयोग" कहा जाता है।'

(श्रीतत्त्वार्थसार, पृष्ठ ३१०, आधार–श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १९७)

प्रश्न १०– ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के कितने भेद हैं?

उत्तर– **ज्ञानोपयोग के**– (१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनःपर्यय, (५) केवल, (६) कुमति, (७) कुश्रुत, और (८) कुअवधि अथवा विभङ्ग– इस प्रकार पाँच ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और तीन अज्ञान कुल आठ भेद हैं, और

दर्शनोपयोग के– (१) चक्षु, (२) अचक्षु, (३) अवधि, और (४) केवल– इस प्रकार चार भेद हैं।

–'ज्ञानोपयोग के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल (ये पाँच सम्यग्ज्ञान) और कुमति, कुश्रुत, तथा कुअवधि (ये तीन मिथ्याज्ञान)– इस प्रकार आठ भेद हैं तथा दर्शनोपयोग के चक्षु, अचक्षु, अवधि, तथा केवल– इस प्रकार चार भेद हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ९ का अर्थ, पृष्ठ १९६)

–'**उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।**
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं॥ ४॥
णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च॥ ५॥'

गाथार्थ– उपयोग दो प्रकार का है– दर्शन और ज्ञान। उसमें दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन– इस प्रकार चार प्रकार का जानना॥ ४॥ कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान– इस प्रकार आठ प्रकार का ज्ञान है। इसमें भी प्रत्यक्ष और परोक्षरूप भेद हैं॥ ५॥

(श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ व ५ तथा गाथार्थ, पृष्ठ १५ व १७)

–'**अभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।**
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते॥ ४१॥

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं।। ४२।।'

अन्वयार्थ- आभिनिबोधिक (मति), श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवल- इस प्रकार ज्ञान के पाँच भेद हैं और कुमति, कुश्रुत, तथा विभङ्ग- यह तीन (अज्ञान) भी ज्ञान के साथ संयुक्त किये गये।। ४१।। दर्शन भी चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और अनन्त जिसका विषय है, ऐसा अविनाशी केवलदर्शन- ऐसे चार भेदवाला है।। ४२।।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ व ४२ तथा अन्वयार्थ, पृष्ठ ७५, ७६, ७९ व ८०)

-'णाणं पंचविहं पि य, अण्णाण-तियं च सागरुवजोगो।
चदु-दंसणमणगारो, सव्वे तल्लक्खणा जीवा।। ६७३।।'

टीका- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ए पञ्च प्रकार ज्ञान, बहुरि कुमति, कुश्रुत, विभङ्ग ए तीन अज्ञान, ए आठौं साकार उपयोग हैं। बहुरि, चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल ए च्यारयों दर्शन अनाकार उपयोग हैं। सो सर्व ही जीव ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग लक्षण कौं धरैं हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३०)

[**विशेष**- (१) परमागम श्रीनियमसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने गाथा १० से १४ में **ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग** के भेदों का विस्तृत उल्लेख किया है। आचार्य भगवान ने गाथा १०, ११ और १२ में ज्ञानोपयोग को दो भेदों में बाँटा है- **(१) स्वभावज्ञानोपयोग, और (२) विभावज्ञानोपयोग।**

-स्वभावज्ञानोपयोग के पुनः दो भेद किये गये हैं- **(१) कार्यस्वभावज्ञानोपयोग अर्थात् केवलज्ञानोपयोग**, और **(२) कारणस्वभावज्ञानोपयोग अर्थात् सहजज्ञानोपयोग।**

(यहाँ सहजज्ञानोपयोग का अभिप्राय परमपरिणामिकभाव से स्थित, त्रिकाली, उपाधिरहित ज्ञानस्वभाव से है जिसके; अर्थात्, जिस कारण के आश्रय से कार्य; अर्थात्, केवलज्ञानोपयोग की प्राप्ति होती है।)

-विभागज्ञानोपयोग के भी पुनः दो भेद किये हैं- **(१) सम्यग्ज्ञान, और (२) मिथ्याज्ञान।**

-सम्यग्ज्ञान के चार भेद हैं- **(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, और (४) मनःपर्यय।**

-मिथ्याज्ञान के तीन भेद हैं- **(१) कुमति, (२) कुश्रुत, और (३) कुअवधि।**

आचार्य भगवान ने गाथा १३ एवं १४ में **दर्शनोपयोग** के भेदों का वर्णन किया है।

-दर्शनोपयोग के भी दो भेद किये हैं- **(१) स्वभावदर्शनोपयोग, और (२) विभावदर्शनोपयोग।**

-स्वभावदर्शनोपयोग के पुनः दो भेद किये गये हैं- **(१) कारणस्वभावदर्शनोपयोग अर्थात् शुद्धात्मा की स्वरूप श्रद्धामात्र, और (२) कार्यस्वभावदर्शनोपयोग अर्थात् केवलदर्शनोपयोग।**

(यहाँ शुद्ध आत्मा की स्वरूप श्रद्धामात्र कारण है जिसके आश्रय से कार्य; अर्थात्,

सारणी २ (ख) : उपयोग के भेद-प्रभेद

- उपयोग
  - ज्ञानोपयोग
    - स्वभावज्ञानोपयोग
      - कार्यस्वभावज्ञानोपयोग (केवलज्ञानोपयोग)
      - कारणस्वभावज्ञानोपयोग (सहजज्ञानोपयोग)
    - विभावज्ञानोपयोग
      - सम्यक्विभावज्ञानोपयोग
        - सुमति
        - सुश्रुत
        - सुअवधि
        - मन:पर्यय
      - मिथ्याविभावज्ञानोपयोग
        - कुमति
        - कुश्रुत
        - कुअवधि
  - दर्शनोपयोग
    - स्वभावदर्शनोपयोग
      - कारणस्वभावदर्शनोपयोग (शुद्ध आत्माकी स्वरूपश्रद्धामात्र)
      - कार्यस्वभावदर्शनोपयोग (केवलदर्शनोपयोग)
    - विभावदर्शनोपयोग
      - चक्षु
      - अचक्षु
      - अवधि

आधार - श्रीनियमसार, गाथा १० से १४
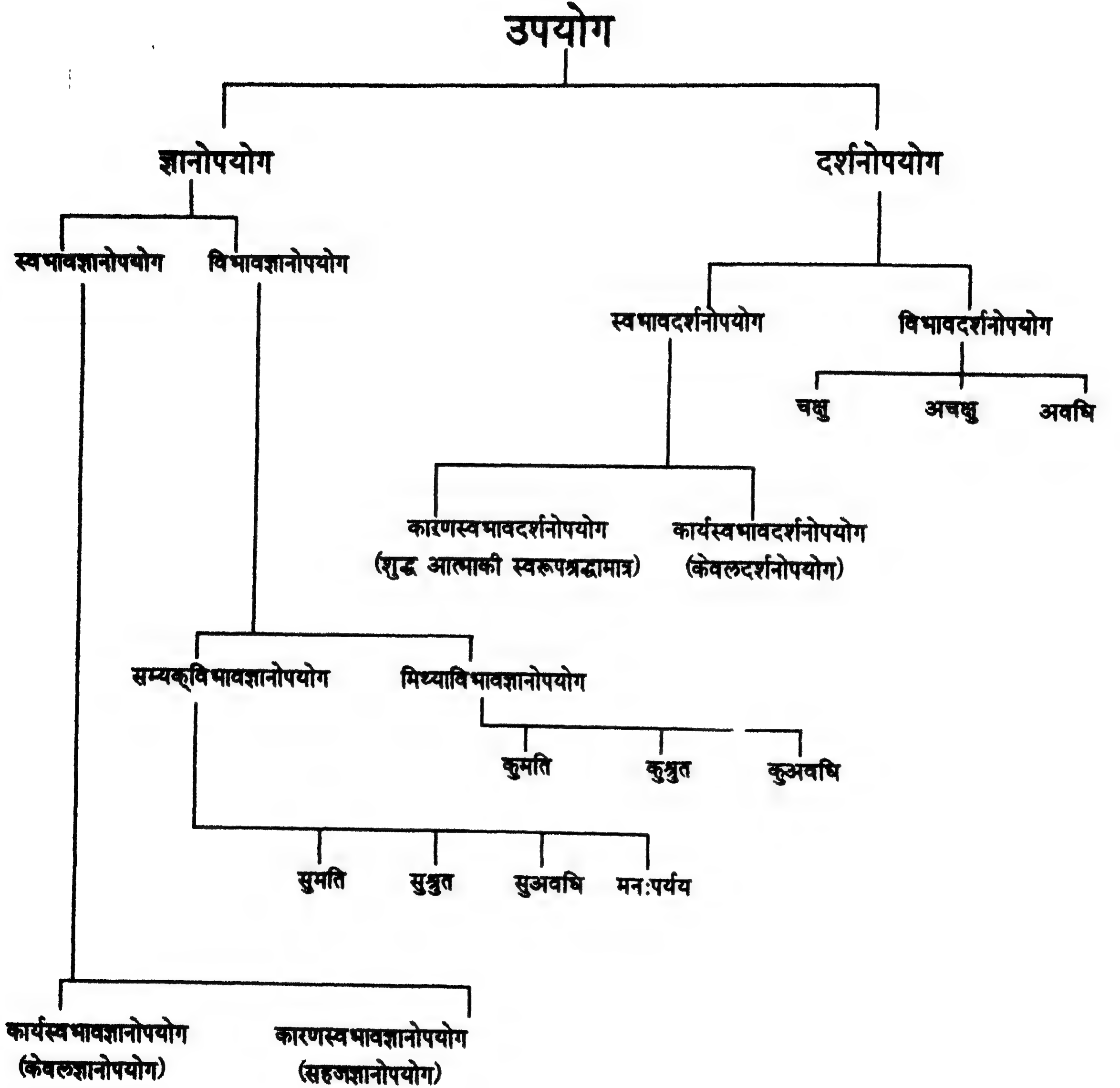
केवलदर्शनोपयोग की प्राप्ति होती है।)

-विभावदर्शनोपयोग के तीन भेद किये गये हैं- **(१) चक्षु, (२) अचक्षु, और (३) अवधि।**

(२) उपयोग व उसके भेद-प्रभेदों के विस्तार के लिये **श्रीप्रवचनसार, गाथा १० से १४ व टीका, पृष्ठ २५ से ३७; श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ८ व ९ तथा टीका, पृष्ठ १९४ से २००; श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७२ से ६७६ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३० से ७३२; श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० से ४२ तथा टीका, पृष्ठ ७५ से ८१; तथा श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ व ५ व टीका, पृष्ठ १५ से २१** का अध्ययन करें।]

प्रश्न ११- दर्शन (दर्शनोपयोग) कब होता है?

उत्तर- ज्ञान के पहले दर्शन होता है। बिना दर्शन के अल्पज्ञ-जनों (छद्मस्थों) को ज्ञान नहीं होता। परन्तु सर्वज्ञदेव के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १०१, पृष्ठ २१)

-'दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।

जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि।। ४४।।'

गाथार्थ- छद्मस्थ जीवों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छद्मस्थों को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एकसाथ नहीं होते हैं। केवली भगवान को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एकसाथ ही होते हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ व गाथार्थ, पृष्ठ २१३)

-'केवली भगवान को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक ही साथ होता है और छद्मस्थ को क्रमशः होता है। केवली भगवान को उपचार से उपयोग कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ २००)

प्रश्न १२- जीव को ज्ञानमात्र अथवा चैतन्यमात्र क्यों कहा जाता है?

उत्तर- जानने का कार्य एकमात्र 'ज्ञान' करता है। शेष गुणों में जानने की क्रिया नहीं होती। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है; अर्थात्, ज्ञान स्वयं के साथ-साथ शेष गुणों को भी जानता है। ज्ञान के साथ सभी गुण आ जाते हैं; अतः ज्ञानमात्र से आत्मा का ग्रहण होता है।

-'णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं ण अप्पाणं।

तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा।। २७।।'

अन्वयार्थ- ज्ञान आत्मा है, ऐसा जिनदेव का मत है। आत्मा के बिना (अन्य किसी द्रव्य में) ज्ञान नहीं होता; इसलिये ज्ञान आत्मा है और आत्मा (ज्ञानगुण द्वारा) ज्ञान है अथवा (सुखादि अन्य गुण द्वारा) अन्य है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४६-४७)

–'ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।

तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियं त्ति णाणीहिं॥ ४३॥'

अन्वयार्थ– ज्ञान से ज्ञानी का (आत्मा का) भेद नहीं किया जाता; तथापि ज्ञान अनेक हैं; इसलिये तो ज्ञानियों ने द्रव्य को विश्वरूप (अनेकरूप) कहा है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८१)

–'जीवो णाणसहावो, जह अग्गी उह्णओ सहावेण।'

अन्वयार्थ– 'जैसे अग्नि स्वभाव से उष्ण है, वैसे ही जीव का ज्ञानस्वभाव है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १७८ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८१)

–'अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।

तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि॥ १७१॥'

अन्वयार्थ– आत्मा को ज्ञान जान और ज्ञान आत्मा है– ऐसा जान। इसमें सन्देह नहीं है; इसलिये ज्ञान तथा दर्शन स्वपरप्रकाशक हैं।

(श्रीनियमसार, गाथा १७१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३४४-३४५)

–'आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।

परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ ६२॥'

श्लोकार्थ– आत्मा ज्ञानस्वरूप है; स्वयं ज्ञान ही है। वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा परभाव का कर्ता है, ऐसा मानना सो व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।

(श्रीसमयसार, कलश ६२ व श्लोकार्थ, पृष्ठ १६७)

–'नित्यम् समन्तात् एकः अवबोध-घनः अस्ति।'

अर्थ– 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है', इस प्रकार देखना चाहिए।

(श्रीसमयसार, श्लोक १३ का श्लोकार्थ, पृष्ठ ४०)

–'अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।

स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना॥ १९६॥'

अर्थ– यहाँ पर ज्ञान शब्द से आत्मा लिया गया है, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र है। ज्ञानचेतना के द्वारा आत्मा शुद्धरूप से अनुभव मे आता है; इसलिये ज्ञानचेतना शुद्ध मानी गयी है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १९६ व अर्थ, पृष्ठ १८३)

–'ज्ञानमात्रभाव के साथ जो भी लक्षित होता है, वह सब आत्मा है और जो लक्षित नहीं होता, वह सब आत्मा से भिन्न है– ऐसा जानना; अर्थात्, ज्ञानमात्रभाव से भिन्न ऐसे समस्त परद्रव्य और परभावों का लक्ष्य छोड़कर ज्ञानादि अनन्त धर्म के पिण्डरूप आत्मद्रव्य को लक्ष्य में लेना– यही आत्मा को "ज्ञानमात्र" कहने का प्रयोजन है।' तथा,

-'ज्ञानमात्र कहने से अकेला ज्ञान ही लक्ष्य में नहीं आता, परन्तु अनन्त धर्मों के समूहरूप पूर्ण आत्मा ही लक्ष्य में आता है। इसी कारण आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया है। ज्ञानमात्र कहने से एक में अनेकपना आ जाता है; इसलिये "ज्ञानमात्र" कहने से भी अनेकान्तमूर्ति आत्मा ही प्रसिद्ध होता है- ऐसा सिद्ध हुआ।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के "ज्ञानमात्र" पर प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २६-२७)

-'आत्मा के अनन्त धर्मों में भी एक ज्ञानगुण ही स्व-पर प्रकाशक है; इसलिये वह असाधारण है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य श्रद्धा, चारित्रादि गुण निर्विकल्परूप हैं; अर्थात्, वे अपने को या पर को नहीं जानते हैं; मात्र ज्ञानगुण ही अपने को और पर को जानता है; इसलिये "आत्मा ज्ञानमात्र है"- ऐसा कहकर उस ज्ञानगुण द्वारा आत्मा की पहचान करायी जाती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३-४)

प्रश्न १३- जीव को ज्ञान से भिन्न मानने में क्या दोष आता है?

उत्तर- यदि जीव को ज्ञान से भिन्न माना जाये, तो दोनों के (जीवद्रव्य और ज्ञान के) नष्ट होकर जड़ हो जाने का दोष आयेगा।

-'णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदा दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं।। ४८।।'

अन्वयार्थ- यदि ज्ञानी (आत्मा) और ज्ञान सदा परस्पर अर्थान्तरभूत (भिन्नपदार्थभूत) हों, तो दोनों को अचेतनपने का प्रसङ्ग आये- जो कि जिनों को सम्यक् प्रकार से असम्मत है।

टीका- यदि ज्ञानी (आत्मा) और ज्ञान से अर्थान्तरभूत (भिन्न) हो, तो (आत्मा) अपने करण-अंश बिना, कुल्हाड़ीरहित देवदत्त की भाँति **करण का व्यापार**[1] करने में असमर्थ होने से नहीं चेतता (नहीं जानता) हुआ अचेतन ही होगा; और यदि ज्ञान ज्ञानी से (आत्मा से) अर्थान्तरभूत हो, तो ज्ञान अपने कर्तृ-अंश के बिना देवदत्तरहित कुल्हाड़ी की भाँति अपने **कर्ता का व्यापार**[2] (कार्य) करने में असमर्थ होने से नहीं चेतता (नहीं जानता) हुआ अचेतन ही होगा। पुनश्च, युतसिद्ध (संयोग से सिद्ध हुए) ऐसे ज्ञान और ज्ञानी को (ज्ञान और आत्मा को) संयोग से चेतनापना हो, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि निर्विशेष (गुणरहित) द्रव्य और निराश्रय गुण शून्य होते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४८, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ८७-८८)

-'जदि जीवादो भिण्णं, सव्वपयारेण हवदि तं णाणं।
गुणगुणिभावो य तदा, दूरेण प्पणस्सदे दुण्हं।। १७९।।'

---

१. **करण का व्यापार-** साधन का कार्य।
२. **कर्ता का व्यापार-** कर्ता का कार्य।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४८, पृष्ठ ८८ की पादटिप्पणी)

अन्वयार्थ- यदि जीव से ज्ञान सर्वथा भिन्न ही माना जाये, तो उन दोनों के (ज्ञान और जीव के) गुण-गुणीभाव दूर से ही नष्ट हो जावें।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १७९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८२)

प्रश्न १४- क्या केवलीदशा में जीव को केवलज्ञान का संयोग होता है?

उत्तर- नहीं, ऐसा नहीं है। जीव को और ज्ञानगुण को सदैव एकत्व है, अभिन्नता है। छद्मस्थदशा में भी उस अभिन्न ज्ञानगुण में शक्तिरूप से केवलज्ञान होता है। केवलीदशा में उस अभिन्न ज्ञानगुण में शक्तिरूप से स्थित केवलज्ञान व्यक्त होता है। केवलज्ञान कहीं बाहर से आकर केवली भगवान के आत्मा के साथ समवाय को (संयोग को) प्राप्त होता हो- ऐसा नहीं है। छद्मस्थदशा में और केवलीदशा में जो ज्ञान का अन्तर दिखायी देता है, वह मात्र शक्ति-व्यक्तिरूप अन्तर समझना चाहिए।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४९ का भावार्थ, पृष्ठ ९०)

प्रश्न १५- 'ज्ञान' शब्द कितने अर्थों में प्रयुक्त होते हैं?

उत्तर- 'ज्ञान' शब्द- (१) आत्मा के लिये, (२) ज्ञानगुण के लिये, और (३) सम्यग्ज्ञान के लिये प्रयुक्त होता है।

प्रश्न १६- जीवद्रव्य मूर्तिक है या अमूर्तिक?

उत्तर- जीवद्रव्य ज्ञानाकारमात्र होने से वास्तव में अमूर्तिक ही है, लेकिन मूर्तिक कर्मों से बन्ध की अपेक्षा उसे व्यवहार से मूर्तिक कहा जा सकता है।

-'वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।। ७।।'

गाथार्थ- निश्चय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, और आठ स्पर्श (सभी पुद्गल की पर्यायें) नहीं हैं; अतः जीव अमूर्तिक है। व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मबन्ध होने से जीव मूर्तिक है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ७ व गाथार्थ, पृष्ठ २३-२४)

-'चेतनको है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप।। २।।'

अर्थ- आत्मा का कार्य (स्वरूप) ज्ञाता-दृष्टा है। वह अमूर्तिक है; अर्थात्, उसकी औदारिकादिक (औदारिक, वैक्रियक, तैजस, कार्माण और आहारक) शरीररूप, आँख-नाक-कानवाली मूर्ति नहीं है। जीव की चैतन्यमूर्ति है और वह उपमारहित है।

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द २ का उत्तरार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ ३१-३२)

प्रश्न १७- जीवद्रव्य का आकार क्या है?

उत्तर- प्रत्येक जीवद्रव्य प्रदेशों की संख्या अपेक्षा से लोकाकाश के बराबर असंख्य

प्रदेशवाला है, किन्तु सङ्कोच-विस्तार के कारण वह अपने शरीरप्रमाण है और मुक्तजीव अन्तिम शरीरप्रमाण, किन्तु वह शरीर से किञ्चित् न्यून आकार का होता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ४२, पृष्ठ ९)

-'अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।

असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा।। १०।।'

गाथार्थ- **समुद्घात**[1] के अतिरिक्त यह जीव व्यवहारनय की अपेक्षा से **सङ्कोचविस्तार**[2] के कारण अपने छोटे अथवा बड़े शरीरप्रमाण रहता है और निश्चयनय की अपेक्षा से असंख्यातप्रदेशी है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १० व गाथार्थ, पृष्ठ २९-३०)

-'अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ऊपर कहे अनुसार (जीव अपने शरीर प्रमाण) है और निश्चयनय से लोकाकाश प्रमाण असंख्य प्रदेशी है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३२)

-'लोयपमाणो जीवो, देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते।

ओगाहणसत्तोदो, संहरणविसप्पधम्मादो।। १७६।।'

अन्वयार्थ- जीव सङ्कोच-विस्तार, धर्म, तथा अवगाहना की शक्ति होने से लोकप्रमाण और देहप्रमाण भी है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १७६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८१)

---

१. **समुद्घात-** अपना मूल शरीर छोड़े बिना (तैजस और कार्माणरूप) उत्तर देह के साथ-साथ जीवप्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३१)

-'मूलसरीरमछंडिय, उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।

णिग्गमणं देहादो, होदि समुग्घादणामं तु।। ६६८।।'

टीका- मूल शरीर कौं तौ छोड़ै नाहिं, बहुरि कार्माण, तैजसरूप उत्तर शरीर सहित जीव के प्रदेश समूह का मूलशरीर तैं बाह्य निकसना, सो समुद्घात ऐसा नाम जानना।"

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६६८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७२७)

समुद्घात सात प्रकार का है- (१) वेदना, (२) कषाय, (३) विक्रिया, (४) मरणान्तिक, (५) तैजस, (६) आहार, और (७) केवली।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३१ एवं श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६६७ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७२७)

२. **सङ्कोच-विस्तार-** समस्त रागादिविभावों में आसक्ति का सद्भाव होने से जीव ने जो शरीर नामकर्म उपार्जित किया है, उसका उदय होनेपर (जीव अपने) छोटे तथा बड़े देह के बराबर होता है। किस कारण? सङ्कोच तथा विस्तार से; शरीर नामकर्म से उत्पन्न विस्तार और सङ्कोचरूप (जीव के) धर्म से।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३०)

–'जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।

तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि।। ३३।।'

अन्वयार्थ– जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर दूध को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार देही (जीव) देह में रहता हुआ स्वदेह प्रमाण प्रकाशित होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६४)

–'णिच्छईं लोय–परमाणु मुणि ववहारें सुसरीरु।

एहउ अप्प–सहाउ मुणि लहु पावहि भव–तीरु।। २४।।'

अर्थ– जो आत्मस्वभाव को निश्चयनय से लोकप्रमाण और व्यवहारनय से स्वशरीरप्रमाण समझता है, वह शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है।

(श्रीमद्‌योगीन्दुदेव विरचित योगसार, दोहा २४ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६४)

प्रश्न १८– लोकाकाश के बराबर कौन जीव होता है?

उत्तर– मोक्ष जाने से पूर्व **केवली–समुद्‌घात**[१] करनेवाला जीव लोकाकाश के बराबर होता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ४३, पृष्ठ ९)

प्रश्न १९– क्या जीवद्रव्य लोकालोक व्यापक है।

उत्तर– केवलज्ञान लोकालोक को जानता है। इस विवक्षा से जीवद्रव्य को लोकालोक व्यापक कहा जा सकता है, लेकिन दूसरे मतों की विवक्षानुसार लोकालोक व्यापक नहीं है।

–'स्वसंवित्ति से उत्पन्न केवलज्ञान की उत्पत्ति होनेपर ज्ञान–अपेक्षा से, व्यवहारनय से, जीव लोकालोक व्यापक है, परन्तु नैयायिक, मीमांसक, और सांख्यमतवालों की मान्यतानुसार प्रदेशों की अपेक्षा से लोकालोक व्यापक नहीं है।'

(श्रीबृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३३)

–'सव्वगओ जदि जीवो, सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती।

जाइज्ज ण सा दिट्ठी, णियतणुमाणो तदो जीवो।। १७७।।'

अन्वयार्थ– यदि जीव सर्वगत; अर्थात्, लोकालोक व्यापक ही होवे, तो सब क्षेत्र–सम्बन्धी सुख–दुःख की प्राप्ति इसको होवे, परन्तु ऐसा तो दिखायी देता नहीं है; इसलिये जीव अपने शरीर प्रमाण ही है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १७७ व अन्वयार्थ पृष्ठ ८१)

---

१. **केवली–समुद्‌घात–** केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद मूलशरीर को छोड़े बिना दण्ड, कपाट, प्रतर, और लोकपूरण क्रिया करते हुए केवली के आत्मप्रदेशों का फैलना, केवली–समुद्‌घात है। केवली–समुद्‌घात सभी केवलियों को नहीं होता, किन्तु जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद छह मास नहीं हुए हों उन्हे तथा छह मास के बाद भी चार–अघातिया कर्मों में से आयुकर्म की स्थिति अल्प हो तो उन्हीं को नियम से समुद्‌घात होता है।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा १०, पृष्ठ २९ की पादटिप्पणी)

प्रश्न २०- एक जीवद्रव्य लोकाकाश के कम से कम कितने प्रदेश रोकता है?

उत्तर- एक जीव प्रत्येक दशा में लोकाकाश के कम से कम असंख्यात प्रदेश ही रोकेगा।

-'जीव की जघन्य अवगाहना भी असंख्य प्रदेशों में होती है। जीव की अवगाहना संख्यात या एकप्रदेशी कभी नहीं होती।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ४५, पृष्ठ १०)

प्रश्न २१- जीवद्रव्य के अतिरिक्त कौनसे द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं?

उत्तर- जीवद्रव्य के अतिरिक्त धर्म और अधर्मद्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी हैं।

प्रश्न २२- जीवद्रव्य के और धर्म-अधर्मद्रव्य के असंख्यात प्रदेशों में क्या अन्तर है?

उत्तर- धर्म और अधर्मद्रव्य त्रिकाल एकरूप पूरे लोकाकाश में व्याप्त और सङ्कोच-विस्तार की शक्तिरहित हैं, जबकि जीवद्रव्य स्वदेहप्रमाण (समुद्घातदशा को छोड़कर) सङ्कोच-विस्तार शक्तिसहित है। इस प्रकार जीवद्रव्य और धर्म-अधर्मद्रव्य की अवगाहना में अन्तर है।

प्रश्न २३- क्या आत्मा (जीवद्रव्य) के शरीर होता है?

उत्तर- नित्य चैतन्यमय अनन्तगुणों का समूह (श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुखादि अनन्तगुणों का समूह) ही आत्मा का वास्तविक शरीर है; इसीलिये आत्मा को 'ज्ञानशरीरी' कहते हैं। संयोगरूप से जो जड़ शरीर है वह वास्तव में आत्मा का नहीं, पुद्गल का है और इसी कारण जड़ शरीर को पुद्गलास्तिकाय कहा है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ३८, पृष्ठ ८)

प्रश्न २४- क्या आत्मा के अवयव अर्थात् अङ्ग होते हैं?

उत्तर- आत्मा के जड़ शरीर के समान हाथ, पैर आदि अवयव नहीं होते, लेकिन (१) प्रत्येक आत्मा के ज्ञानादि अनन्तगुण हैं और प्रत्येक गुण ही परमार्थतः आत्मा का अवयव अर्थात् अङ्ग है। आत्मा अपने गुणरूपी अवयवोंवाला अवयवी है, और (२) क्षेत्र-अपेक्षा से आत्मा असंख्यात प्रदेशी है; उसका प्रत्येक प्रदेश आत्मा का अवयव है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ३९, पृष्ठ ८)

प्रश्न २५- क्या एक जीवद्रव्य दूसरे जीवद्रव्यों से भी भिन्न है?

उत्तर- हाँ, प्रत्येक जीवद्रव्य की अपनी सत्ता है और वह अपने स्वचतुष्टय में ही रहता है। जीवद्रव्य को मात्र दूसरी जाति के द्रव्यों; अर्थात्, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल से ही नहीं बल्कि दूसरे सभी जीवद्रव्यों से भी सर्वथा भिन्न मानना चाहिए।

-'आत्मा में प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, और अन्य जीव -ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं;'

(श्रीसमयसार, गाथा ३७ की टीका, पृष्ठ ७५)

–'मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ, और आत्मान्तर (अन्य आत्मा) नहीं हूँ, क्योंकि मकान के एक कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाशों की भाँति यह द्रव्य इकट्ठे होकर रहते हुए भी मेरा चैतन्य निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ मुझे पृथक् बतलाता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९१ की टीका, पृष्ठ १६१)

प्रश्न २६– जीवद्रव्य की सत्ता क्या है?

उत्तर– प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्टय; अर्थात्, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ही उसकी अपनी सत्ता है अथवा उसके अपने अनन्तगुण और प्रत्येक गुण की पर्याय ही उसकी सत्ता है। जीव 'द्रव्य' है; असंख्यात प्रदेशी उसका 'क्षेत्र' है; अनादिनिधन उसका 'काल' है; और ज्ञानादि अनन्तगुण उसके 'भाव' हैं; अथवा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण, ज्ञान–दर्शन–सुखादि अनन्त विशेषगुण, एक व्यञ्जनपर्याय, और अनन्त अर्थपर्यायें ही प्रत्येक जीवद्रव्य की सत्ता है।

–'अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी, अनादिनिधन, वस्तु आप (जीवद्रव्य) है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३८)

–'चेतन द्रव्य–गुण–पर्याय और चेतन ध्रौव्य–उत्पाद–व्यय जिसका स्वभाव है– ऐसा मैं (जीवद्रव्य) इससे (पुद्गल से) भिन्न रहा और यह अचेतन द्रव्य–गुण–पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य –उत्पाद–व्यय जिसका स्वभाव है– ऐसा पुद्गल यह (मुझ जीवद्रव्य से) भिन्न रहा।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५४ का भावार्थ, पृष्ठ ३१४–३१५)

–'सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों (गुण–पर्यायों) के चक्र को चुम्बन करते हैं; तथापि वे परस्पर एक दूसरे को (किसी भी दूसरे द्रव्य को) स्पर्श नहीं करते।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ११)

प्रश्न २७– जीवद्रव्य कितने हैं?

उत्तर– जीवद्रव्य अनन्त हैं।

प्रश्न २८– जीव पुद्गल कर्मों का कर्ता है या नहीं?

उत्तर– नहीं! जीव पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं है, लेकिन पुद्गलकर्मों के जीव के साथ बन्ध में निमित्त होने के कारण व्यवहार से जीव को पुद्गलकर्मों का कर्ता कहा जाता है। वास्तव में जीव (मिथ्यात्वदशा में) अपने रागादिभावों का और (सम्यक्त्वदशा में) शुद्धभावों का ही कर्ता है।

–'पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।। ८।।'

गाथार्थ- आत्मा व्यवहारनय से पुद्‌गलकर्मादि का कर्ता है; निश्चयनय से चेतनकर्मों का कर्ता है; और शुद्धनय से शुद्धभावों का कर्ता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ व गाथार्थ, पृष्ठ २५)

-'कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।

कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।। १८।।'

अन्वयार्थ- आत्मा पुद्‌गलकर्म का कर्ता-भोक्ता व्यवहार से है और आत्मा कर्मजनित भाव का कर्ता-भोक्ता (अशुद्ध) निश्चय से है।

(श्रीनियमसार, गाथा १८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४२-४३)

-'परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।

परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च।। १०।।'

अन्वयार्थ- वह चैतन्य आत्मा अनादि की परिपाटी से निरन्तर ज्ञानादि गुणों के विकाररूप रागादि परिणामों से परिणमन करता हुआ अपने रागादि परिणामों का कर्ता और भोक्ता भी होता है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५)

-'यदि निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे, तो अन्य किसी प्रकार से परिणाम-परिणामी भाव न बन सकने से वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये। परन्तु वह तन्मय नहीं है, क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमय हो जाये, तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आ जायेगा; इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ९९ की टीका, पृष्ठ १६९)

प्रश्न २९- जीव और शरीर में एकत्व (अभिन्नता) क्यों दिखायी देता है?

उत्तर- अज्ञानी जीवों को जीव और शरीर के बीच भेदज्ञान न होने तथा दोनों (आत्मा और शरीर) के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण जीव और शरीर एक ही दिखायी देते हैं।

-'देहमिलिदो वि जीवो, सव्वकम्माणि कुव्वदे जम्हा।

तम्हा पयट्टमाणो, एयत्तं बुज्झदे दोण्हं।। १८५।।'

अन्वयार्थ- क्योंकि जीव देह से मिला हुआ ही (कर्म, नोकर्मरूप) सब कार्यों को करता है; इसलिये उन कार्यों में प्रवृत्ति करते हुए लोगों को दोनों (देह और जीव) के एकत्व दिखायी देता है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १८५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८४)

-'तथा जीव और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसलिये जो क्रिया होती है, उसे अपनी मानता है।' तथा,

-'अपने को (आत्मा को) और शरीर को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बहुत हैं; इसलिये

भिन्नता भासित नहीं होती।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८० व ८२)

प्रश्न ३०- क्या मोक्ष होनेपर जीवद्रव्य का अभाव हो जाता है?

उत्तर- नहीं! जीवद्रव्यसहित प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त है; अर्थात्, द्रव्य का न कभी नाश होता है और न द्रव्य कभी उत्पन्न होता है; इसलिये मोक्ष में भी जीव का सद्भाव है, अभाव नहीं।

-'सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।

विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे।। ३७।।'

अन्वयार्थ- यदि (मोक्ष में जीव का) सद्भाव न हो, तो शाश्वत, नाशवन्त, भव्य (होनेयोग्य), अभव्य (न होनेयोग्य), शून्य, अशून्य, विज्ञान, और अविज्ञान (जीवद्रव्य में) घटित नहीं हो सकते। (इसलिये मोक्ष में जीव का सद्भाव है ही।)

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७०)

-'यदि मोक्ष में जीव का अभाव ही हो जाता हो, तो (१) प्रत्येक द्रव्य द्रव्यरूप से "शाश्वत" है- यह बात कैसे घटित होगी?; (२) प्रत्येक द्रव्य "नित्य रहकर" उसमें पर्यायों का "नाश" होता रहता है- यह बात कैसे घटित होगी?; (३-६) प्रत्येक द्रव्य सर्वदा अनागत पर्याय से "भाव्य"; सर्वदा अतीत पर्याय से "अभाव्य"; सर्वदा पर से "शून्य"; और सर्वदा स्व से "अशून्य" है- यह बातें कैसे घटित होंगी?; (७) किसी जीवद्रव्य में "अनन्तज्ञान" है- यह बात कैसे घटित होगी?; और (८) किसी जीवद्रव्य में "सान्त अज्ञान" है (अर्थात् जीवद्रव्य नित्य रहकर उसमें अज्ञानपरिणाम का अन्त आ जाता है) -यह बात कैसे घटित होगी? इसलिये इन आठ भावों द्वारा मोक्ष में जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३७, पृष्ठ ७१-७२ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ३१- जीवद्रव्य का लक्षण उपयोग मानने से क्या लाभ है?

उत्तर- 'जीवद्रव्य का निर्दोष लक्षण उपयोग; अर्थात्, ज्ञान-दर्शन ही है'- ऐसा जानने-मानने से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों, शरीरादि नोकर्मों, और शुभाशुभ रागादि विकार; अर्थात्, भावकर्म जीवद्रव्य के लक्षण नहीं हैं; द्रव्यकर्म, नोकर्म के कारण जीव संसार में परिभ्रमण नहीं करता; संसार परिभ्रमण का कारण उसका (जीवद्रव्य का) अपना मिथ्यामान्यतारूप दोष ही है, आदि तथ्यों की सिद्धि हो जाती है।

जीव की अनादिकाल से मिथ्या मान्यता है कि 'मैं शरीर हूँ'; 'स्त्री-पुत्र, धन-वैभव, मकान-व्यापार, आदि बाह्यपदार्थ मेरे हैं'; 'मैं शरीर और परद्रव्यों के कार्यों को कर सकता हूँ'; 'द्रव्यकर्म मुझे सुखी-दुःखी करते हैं'; और 'शुभाशुभभाव अच्छे एवं अशुभभाव बुरे हैं।' उपयोग

अर्थात् ज्ञान-दर्शन को जीवद्रव्य का लक्षण जानने-मानने से सभी परपदार्थों में कर्ता-भोक्ता की अनादि की मिथ्यामान्यता का अभाव होकर अपने अकर्तृत्वस्वभाव पर दृष्टि आ जाती है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है।

-'अज्ञानी जीव परद्रव्य से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती हुई मानकर परद्रव्य पर कोप करता है कि "यह परद्रव्य मुझे राग-द्वेष उत्पन्न कराता है; उसे दूर करूँ।" ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि "राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से आत्मा में ही होती है और वे आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम हैं; इसलिये इस अज्ञान का नाश करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है- ऐसा अनुभव करो। परद्रव्य को राग-द्वेष का उत्पन्न करनेवाला मानकर उसपर कोप न करो।" '

(श्रीसमयसार, कलश २२० का भावार्थ, पृष्ठ ५०५)

-'तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है। परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है। सो जिन आज्ञा माने, तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। तुझे विषयकषायरूप ही रहना है; इसलिये झूठ बोलता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३११)

-'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात, लोह की संगत पाई।।'

अर्थ- कर्म बेचारा कौन? भूल तो मेरी ही बड़ी है। जिस प्रकार अग्नि लोहे की सङ्गति करती है, तो उसे घनों के आघात सहने पड़ते हैं; उसी प्रकार यदि जीव कर्मोदय में युक्त हो, तो उसे राग -द्वेषादि विकार होते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, द्वितीय भाग, पृष्ठ २५-२६)

-'भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेहिं।
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तें पिट्टियइ घणेहिं।। ११०।।'

अर्थ- दुष्टों (कर्मों) के साथ जिनका सम्बन्ध है, उन विवेकी जीवों के भी सत्य-शीलादि गुण नष्ट हो जाते हैं; जैसे, आग लोहे से मिल जाती है, तभी घनों से कूटी-पीटी जाती है।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ११० व अर्थ, पृष्ठ २२८)

-'संसारस्तनुयोग एष विषयो दुःखान्यतो देहिनो
वह्नेर्लोहसमाश्रितस्य घनतो घाताद्यतो निष्ठुरात्।
त्याज्या तेन तनुर्मुमुक्षुभिरियं युक्त्या महत्या तया
नो भूयो ऽपि यथात्मनो भवकृते तत्संनिधिर्जायते।। ७।।'

अर्थ- यह शरीर का सम्बन्ध ही संसार है। इससे विषय में प्रवृत्ति होती है जिससे प्राणी को

दुःख होते हैं। ठीक है- लोहे का आश्रय लेनेवाली अग्नि को कठोर घन के घात सहने पड़ते हैं; इसलिये मोक्षार्थी भव्यजीवों को इस शरीर को ऐसी महती युक्ति से छोड़ना चाहिए कि जिससे संसार के कारणीभूत उस शरीर का सम्बन्ध आत्मा के साथ फिर से न हो सके।[1]

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, शरीराष्टकम्, गाथा ७ व अर्थ, पृष्ठ २६२-२६३)

-'मल्लाण वि णासंति गुण जहिं सहु संगु खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं।। १४८।।'

अर्थ- दुष्टजन[2]-खल के सङ्ग से भले पुरुषों के गुण भी नष्ट हो जाते हैं; जैसे, लोहे का सङ्ग करने से वैश्वानर (अर्थात् अग्निदेव) भी बड़े-बड़े घनों से पीटे जाते हैं।

(मुनिवर श्रीरामसिंह रचित पाहुड-दोहा, दोहा संख्या १४८ व अर्थ, पृष्ठ ३४-३५)

-'जड़ चेतन की सब परिणति प्रभु! अपने-अपने में होती है।
अनुकूल कहें, प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृत्ति है।।' तथा,

-'जड़ कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्या भ्रान्ति रही मेरी।
मैं राग-द्वेष किया करता, जब परिणति होती जड़केरी।।'

(श्रीयुगलजी कृत श्रीदेवशास्त्रगुरुपूजन)

-'अहो! समस्त द्रव्य अपने-अपने अवसर में होनेवाले परिणामों में वर्त रहे हैं। उसमें तू कहाँ परिवर्तन करेगा? भाई! तेरा स्वभाव तो देखने का है। तू देखनेवाले को दृष्टा ही रख; दृष्टा को हाय-हाय करनेवाला न बना। (ज्ञाता) दृष्टास्वभाव की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। मैं परमें फेरफार करता हूँ और पर मुझमें फेरफार करता है- ऐसा मिथ्यादृष्टि का भाव है। उसे ज्ञान और ज्ञेय के स्वभाव की प्रतीति नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २८४)

प्रश्न ३२- यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता फिर- "कर्म जीव को संसार परिभ्रमण कराता है"; "जीव और पुद्गल परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हैं"; "धर्मद्रव्य, जीव और पुद्गल को चलाता है"- आदि शास्त्रों के कथन क्या मिथ्या हैं?

उत्तर- शास्त्रों में जहाँ भी एक द्रव्य के कार्य का कर्ता किसी दूसरे द्रव्य को कहा गया हो,

---

१. यह कथन निमित्त की अपेक्षा से है। शरीरादि कोई भी परपदार्थ संसार व दुःख का कारण नहीं है। संसार परिभ्रमण व दुःख के कारण तो अपने मिथ्यात्व राग-द्वेष भाव ही हैं। आचार्यदेव इस गाथा में 'इस शरीर को ऐसी महती युक्ति से जोड़ना चाहिए'- वाक्य के 'महती युक्ति' शब्द के माध्यम से मिथ्यात्व, राग-द्वेष के त्याग को ही इङ्गित कर रहे हैं क्योंकि मिथ्यात्व, राग-द्वेष का त्याग ही एकमात्र ऐसी युक्ति है, जिससे इस शरीर का सम्बन्ध पुनः आत्मा को नहीं होता; अर्थात्, अनादि के संसार परिभ्रमण का अभाव होकर सादिअनन्त मोक्षसुख की प्राप्ति हो सकती है।

२. इसी प्रकार 'दुष्टजन' से भी आचार्यदेव का अभिप्राय अपने मिथ्याभाव; अर्थात्, परपदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की झूठी मान्यता है। वास्तव में कोई भी बाह्य सामग्री इष्ट-अनिष्ट अथवा 'दुष्ट' नहीं है।

वहाँ उस कथन के अभिप्राय को समझना चाहिए। इस प्रकार के सभी कथनों में कार्य के समय निमित्तादि के रूप में वहाँ परद्रव्यों की उपस्थितिमात्र बतायी गयी है। वास्तव में व्यवहारकथन अथवा निमित्त के द्वारा निश्चय अथवा उपादान का ज्ञान कराया जाता है, क्योंकि निश्चय; अर्थात्, यथार्थ कथन शब्दों में नहीं आता; उदाहरण के लिये, 'पानी का लोटा' अथवा 'घी का घड़ा' कहना व्यवहार कथन है। वास्तव में लोटा पानी का और घड़ा घी का नहीं होता। लोटा पीतल का और घड़ा मिट्टी का ही होता है, लेकिन पीतल के लोटे अथवा मिट्टी के घड़े का ज्ञान कराने के लिये उसे पानी का लोटा अथवा घी का घड़ा व्यवहार से कहा जाता है, सो कथनमात्र ही है।

– 'जिनमार्ग में (शास्त्रों में) कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है। उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही है"- ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है। उसे "ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है"- ऐसा जानना।' तथा,

– 'व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारणकार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिये उसका त्याग करना।' तथा,

– 'निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५० व २५१)

– 'व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है; इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है;..............इसलिये कर्मों से भिन्न आत्मा के देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ११ की टीका, पृष्ठ २२-२३)

– 'प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल संसार ही है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ११ का भावार्थ, पृष्ठ २३-२४)

प्रश्न ३३- जीवद्रव्य के संसार-परिभ्रमण का क्या कारण है?

उत्तर- मिथ्याअध्यवसान[1]; अर्थात्, परपदार्थों में अहङ्कार-ममकार अथवा इष्ट-अनिष्टरूप

---

१. **अध्यवसान**- मिथ्याअभिप्राय; मिथ्यापरिणाम।

'जो परिणमन मिथ्याअभिप्राय सहित है (स्व-पर के एकत्व के अभिप्राय से युक्त हो) अथवा वैभाविक हो, उस परिणमन के लिये "अध्यवसान" शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय करने के अर्थ में भी अध्यवसान प्रयुक्त होता है।'

(श्रीसमयसार, गाथा २६०-२६१, पृष्ठ ३७३ की पादटिप्पणी)

..............क्रमशः

मिथ्यामान्यता ही वास्तव में संसार परिभ्रमण का सच्चा कारण है।

-'एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।

प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।। १४।।'

अन्वयार्थ- इस प्रकार यह आत्मा कर्मकृत रागादि अथवा शरीरादि भावों से संयुक्त न होनेपर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त-जैसा प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीजरूप है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १९)

-'सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककाय एक्कट्ठो।

अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं।। ३४।।'

अन्वयार्थ- जीव सर्वत्र (क्रमवर्ती सर्व शरीरों में) है और किसी एक शरीर में एकरूप में रहता है, तथापि उसके साथ एक नहीं है। अध्यवसायविशिष्ट वर्तताहुआ रजमल (कर्ममल) द्वारा मलिन होने

[जहाँ "परिणमन" का कथन हो वहाँ **"अध्यवसान"** और जहाँ "परिणाम" का कथन हो वहाँ **"अध्यवसाय"** शब्द प्रयुक्त किया जाता है। **-आधार-श्रीसमयसार, कलश १७०, पृष्ठ ३७१ की पादटिप्पणी**]

-'बुद्धि ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।

एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।। २७१।।'

गाथार्थ- बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, और परिणाम- ये सब एकार्थ ही हैं। (अर्थात् नाम अलग-अलग हैं, किन्तु अर्थ भिन्न नहीं है।)

टीका- स्व-पर का अविवेक हो (स्व-पर का भेदज्ञान न हो) तब जीव की **अध्यवसितिमात्र**[२] 'अध्यवसान' है और वही (जिसे अध्यवसान कहा है वही) बोधनमात्रत्व से 'बुद्धि' है; **व्यवसानमात्रत्व**[३] से 'व्यवसाय' है; **मननमात्रत्व**[४] से 'मति' है; विज्ञप्ति-मात्रत्व से 'विज्ञान' है; चेतनामात्रत्व से 'चित्त' है; चेतन के भवनमात्रत्व से 'भाव' है; चेतन के परिणमनमात्रत्व से 'परिणाम' है।

(श्रीसमयसार, गाथा २७१, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ३८५-३८६)

अध्यवसान के तीन प्रकार हैं- (१) द्रव्य-सम्बन्धी अध्यवसान, (२) गुण-सम्बन्धी अध्यवसान, और (३) पर्याय-सम्बन्धी अध्यवसान।

(आधार-श्रीसमयसार, गाथा २७० की टीका, पृष्ठ ३८३-३८४)

[**पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यवसान के तीन प्रकार बताये हैं-** '(१) परसन्मुखता से होनेवाले परिणाम को एकत्वबुद्धि की अपेक्षा अध्यवसान कहकर बन्ध का कारण कहा है, (२) पर में एकत्वबुद्धि हुए बिना जो राग होता है, उसे भी अध्यवसान कहते हैं, परन्तु उसमें मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता; अल्पराग का बन्ध होता है। उसे गौण करके "बन्ध नहीं होता"- ऐसा कहते हैं; और (३) स्वभावसन्मुख परिणाम को भी स्वभाव में एकत्वरूप होने से अध्यवसान कहते हैं, परन्तु वह अध्यवसान मोक्ष का कारण है।' **-आधार-ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या १८६, पृष्ठ ७५**]

२. **अध्यवसिति-** (एक में दूसरे की मान्यतापूर्वक) परिणति; (मिथ्या) निश्चिति; (मिथ्या) निश्चय होना।

३. **व्यवसान-** काम में लगे रहना; उद्यमी होना; निश्चय होना।

४. **मनन-** मानना; जानना।

(श्रीसमयसार, गाथा २७१ की टीका, पृष्ठ ३८६ की पादटिप्पणी)

से वह भ्रमण करता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६६)

–'अनादि बन्धनरूप उपाधि से विवर्तन (परिवर्तन) पानेवाले विविध अध्यवसायों से विशिष्ट होने के कारण तथा वे अध्यवसाय जिसका निमित्त हैं, ऐसे कर्मसमूह से मलिन होने के कारण भ्रमण करते हुए आत्मा को तथाविध अध्यवसायों तथा कर्मों से रचे जानेवाले अन्य शरीर में प्रवेश होता है। इस प्रकार उसे देहान्तर (एक शरीर से दूसरे शरीर) में गमन होने का कारण कहा गया।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३४ की टीका, पृष्ठ ६७)

–'यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय से भूला हुआ चतुर्गति-संसार में जितनी अवस्थाएँ हैं, जितने पदार्थ हैं उन सर्वरूप अपने को हुआ मानता है; अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहचानता।'

(श्रीसमयसार, कलश १७१ का भावार्थ, पृष्ठ ३८०)

–'सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।

देवमणुए य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।। २६८।।'

गाथार्थ- जीव अध्यवसान से तिर्यञ्च, नारक, देव, और मनुष्य -इन सर्व पर्यायों तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप-इन सबरूप अपने को करता है।

(श्रीसमयसार, गाथा २६८ व गाथार्थ, पृष्ठ ३८१)

–'देखो, यह आत्मा तो दिव्यशक्तिमय प्रभु वीतरागी परमानन्द से भरा अनन्त शक्तियों का भण्डार चित्‌चमत्कारस्वरूप भगवान है, परन्तु पर के कर्तव्य के अज्ञान के कारण यह मिथ्या अध्यवसायरूप जञ्जीर से जकड़ा हुआ है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ १५८)

प्रश्न ३४- कौन जीव मोक्ष प्राप्त करता है?

उत्तर- जो जीव स्व-पर के भेदज्ञानपूर्वक अपने त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा के आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति; अर्थात्, मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करते हैं, वे नियम से सम्पूर्ण मोह का क्षय करके अनुपम, सादिअनन्त, शाश्वत सुख की दाता, सर्वोत्कृष्ट, पञ्चमगति मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

–'णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।

जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।। ८९।।'

अन्वयार्थ- जो निश्चय से ज्ञानात्मक ऐसे अपने को और पर को निज-निज द्रव्यत्व से सम्बद्ध (संयुक्त) जानता है, वह मोह का क्षय करता है। तथा,

–'तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।

अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा।। ९०।।'

अन्वयार्थ- इसलिये यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता हो, तो जिनमार्ग से गुणों के द्वारा द्रव्यों में स्व और पर को जानो। (अर्थात् जिनागम के द्वारा विशेषगुणों से ऐसा विवेक करो कि अनन्त द्रव्यों में से यह स्व है और यह पर है।)

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८९-९० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५८-१५९)

-'इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम्।

सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति।। १८।।'

श्लोकार्थ- इस प्रकार कहे गये भेदज्ञान को पाकर भव्यजीव घोर संसार के मूलरूप समस्त सुकृत या दुष्कृत (शुभ या अशुभ) को, सुख या दुःख को अत्यन्त परिहरो। उससे ऊपर (अर्थात् उसे पार कर लेने पर), जीव समग्र (परिपूर्ण) शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

(श्रीनियमसार, श्लोक १८ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ३०)

-'सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।

भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न।। ११।।'

अन्वयार्थ- जब उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा सर्व विभावों से पार होकर अपने निष्कम्प चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह आत्मा उस सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता हुआ कृतकृत्य होता है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ११ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १६)

-'मोह का त्याग, ज्ञान वस्तु का अनुभव- ऐसा बारम्बार अभ्यास करने पर निःसन्देह शुद्ध चैतन्यद्रव्य द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म आदि समस्त विभाव परिणामों के साथ जीव और कर्म के बन्धात्मक एकक्षेत्रसम्बन्धरूप किसी अतीत, अनागत, और वर्तमान-सम्बन्धी समय-घड़ी-प्रहर -दिन-वर्ष में किसी भी तरह नहीं ठहरता है।'

(श्रीसमयसारकलश, कलश २२ का अर्थ, पृष्ठ २२)

-'उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।

णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो।। ७०।।'

अन्वयार्थ- जो (पुरुष) जिनवचन द्वारा मार्ग को प्राप्त करके उपशान्तक्षीणमोह होता हुआ ज्ञानानुमार्ग में विचरता है, वह धीरपुरुष निर्वाणपुर को प्राप्त होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११५)

-'जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।

तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।। ३३।।'

गाथार्थ- जिसने मोह को जीत लिया है, ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट

हो, तब निश्चय के जाननेवाले निश्चय से उस साधु को 'क्षीणमोह' नाम से कहते हैं।

(श्रीसमयसार, गाथा ३३ व गाथार्थ, पृष्ठ ६७)

-'जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है, उसको सर्व कारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है- ऐसा निश्चय करना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१०)

-'वाणी और विभावों से भिन्न, तथापि कथञ्चित् गुरुवचनों से ज्ञात हो सके- ऐसा जो चैतन्यतत्त्व, उसकी अगाधता, अपूर्वता, अचिन्त्यता गुरु बतलाते हैं। शुभाशुभभावों से दूर चैतन्यतत्त्व अपने में निवास करता है। ऐसा भेदज्ञान गुरुवचनों द्वारा करके जो शुद्धदृष्टिवान् हो, उसे यथार्थदृष्टि होती है और केवलज्ञान प्रगट होकर परिपूर्णमुक्ति प्राप्त होती है।'

(पू० बहनश्री के वचनामृत, संख्या १६७, पृष्ठ ५९)

प्रश्न ३५- सब द्रव्यों में कौन द्रव्य उत्तम है?

उत्तर- सभी द्रव्यो में (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल में) जीवद्रव्य ही उत्तम है। एकमात्र जीवद्रव्य ही ज्ञानसहित होने से स्व-पर प्रकाशक है।

-'उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।

तच्वाण परमतच्वं, जीवं जाणेह णिच्छयदो।। २०४।।'

अन्वयार्थ- जीवद्रव्य उत्तमगुणों का धाम (स्थान) है; ज्ञान आदि उत्तम गुण इसी में हैं; सब द्रव्यों में यही द्रव्य प्रधान है; सब द्रव्यों को जीव ही प्रकाशित करता है; सब तत्त्वों में परमतत्त्व जीव ही है; अनन्तज्ञान, सुख आदि का भोक्ता यह ही है। इस तरह से हे भव्य! तू निश्चय से जान।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २०४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९३)

-'सारांश यह है कि इन छह द्रव्यों में वीतराग, चिदानन्द, एक आदि गुणस्वभावी और शुभाशुभ मन, वचन, और काया के व्यापाररहित निज शुद्धआत्मद्रव्य ही उपादेय है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, षड्द्रव्य पञ्चास्तिकाय अधिकार की चूलिका, पृष्ठ ९०)

प्रश्न ३६- सब द्रव्यों में जीवद्रव्य ही क्यों उत्तम है?

उत्तर- जीवद्रव्य का विशेषगुण 'ज्ञान' सबको और हेय-उपादेय को जाननेवाला है। 'ज्ञानरहित' होने के कारण शेष द्रव्य अचेतन-जड़ हैं; अत: जीवद्रव्य ही सभी द्रव्यों में उत्तम है।

-'अंतरतच्वं जीवो, बाहिरतच्वं हवंति सेसाणि।

णाणविहीणं दव्वं, हियाहियं णेय जाणेदि।। २०५।।'

अन्वयार्थ- जीव अन्तरतत्त्व है; शेष सभी द्रव्य बाह्यतत्त्व हैं। वे (शेष द्रव्य) ज्ञानरहित हैं और हेय-उपादेय वस्तु को नहीं जानते हैं।

भावार्थ- जीवतत्त्व के बिना सब शून्य हैं; इसलिये सबका जाननेवाला तथा हेय-उपादेय का जाननेवाला जीव ही परमतत्त्व है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २०५, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ९३)

-'ये ऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति संभावयन्ति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वम्।
ते मोक्षमक्षयमनूनमनन्तसौख्यं क्षिप्रं प्रयान्ति नवकेवललब्धिरूपम्।। ८०।।'

अर्थ- जो भव्यजीव इस आत्मतत्त्व का बार-बार अभ्यास करते हैं, व्याख्यान करते हैं, विचार करते हैं, तथा सम्मान करते हैं वे शीघ्र ही अविनश्वर, सम्पूर्ण, अनन्तसुख से संयुक्त एवं **नौ केवललब्धियों**[1] स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, एकत्वसप्ततिः, गाथा ८० व अर्थ, पृष्ठ १२४)

卐

यह अवसर समभाव से परिषह सहने का है!

'जदि कोई मेरुमत्तं लोहुण्डं पक्खिविज्ज णिरयम्मि।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ।।'

अर्थ- उष्णनरकनिमें ऐसी ऊष्मा है, जो कोऊ मेरुप्रमाण लोह का पिण्ड क्षेपै, तो भूमिकूं नहीं प्राप्त होय तितने एक निमेषमात्र में गलिकरि रस होय बहि जाय। ऐसे पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी पृथ्वी के बिलनि में तथा पांचवीं पृथ्वी के दोय लाख बिल सब मिलि बियासी लाख बिलनि में घोर उष्णवेदना असंख्यातकालपर्यन्त कर्मनिके वशी होय भोगी। तो इस मनुष्यजन्म में ज्वरादिकरोगजनित तथा तृषाजनित तथा ग्रीष्मकालजनित किञ्चित् उष्णता आय प्राप्त भई तो धर्म के धारकनिकूं समभावनिकरि नहीं सहने योग्य है कहा? यह अवसर समभावतैं परीषह सहने का है, अर नहीं सहोगे तो कर्म बलवान है, छोड़ने का नहीं। तातैं परम धैर्य अवलम्बन करो।

(श्री भगवती-आराधना, गाथा १५७२ व अर्थ, पृष्ठ ५३८)

---

१. **नौ केवललब्धियाँ-** केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, और क्षायिकचारित्र।
(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, अध्याय ४, गाथा ८० का अर्थ, पृष्ठ १२४)

जीव के भेद

(१) संसारी और मुक्त

प्रश्न १- जीव के कितने भेद हैं?

उत्तर- जीव तो निश्चय से एक ही है; पर्याय-अपेक्षा से जीव के दो भेद हैं- (१) संसारी, और (२) मुक्त।

-**'संसारिणो मुक्ताश्च॥ १०॥'** -**अर्थ**- जीव संसारी और मुक्त ऐसे दो प्रकार के हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र १० व अर्थ, पृष्ठ २००)

-**'केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।**
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा॥ ३२॥'

अन्वयार्थ- अनेक (अनन्त) जीव मिथ्यादर्शन-कषाय-योगसहित संसारी हैं, और अनेक (अनन्तजीव) मिथ्यादर्शन-कषाय-योगरहित सिद्ध हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६२)

-**'अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोऽपि यः।**
स्याद् द्विधा सोऽपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः॥ ३३॥'

अर्थ- यह जीव शुद्धनय की अपेक्षा यद्यपि शुद्ध और एक प्रकार का है, तो भी वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से मुक्त और अमुक्त के भेद से दो प्रकार का है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ३३ व अर्थ, पृष्ठ १५५)

प्रश्न २- जीव के भेद किस अपेक्षा हैं?

उत्तर- निश्चय; अर्थात्, द्रव्यदृष्टि से निगोद से लेकर सिद्ध तक सभी जीव ज्ञान-दर्शनस्वभावी होने से समान ही हैं। संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद पर्याय अपेक्षा से हैं।

-'जीवों की वर्तमानदशा के ये भेद पर्यायदृष्टि से हैं। द्रव्यदृष्टि से सब जीव एक समान हैं। इससे यह समझना चाहिए कि पर्याय में चाहे जैसे भेद हों; तथापि त्रैकालिक ध्रुवस्वरूप में कभी भेद नहीं होता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २००)

-**'सर्व जीव हैं सिद्ध सम, जो समझे सो होय।'**

(श्रीआत्मसिद्धिशास्त्र, गाथा १३५, श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २००)

-**'जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।**

जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।। ४७।।'

अन्वयार्थ- जैसे सिद्ध आत्मा है, वैसे भवलीन (संसारी) जीव हैं। जिससे (वे संसारी जीव सिद्धात्माओं की भाँति) जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

(श्रीनियमसार, गाथा ४७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९९)

-**'असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।**

जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।। ४८।।'

अन्वयार्थ- जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्धभगवन्त अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल, और विशुद्धात्मा (विशुद्धस्वरूपी) हैं, उसी प्रकार संसार में सर्व जीव जानना।

(श्रीनियमसार, गाथा ४८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०१)

-'जीवद्रव्य उपयोग लक्षणवाला समान परिणाम की अपेक्षा सामान्यरूप से एक ही है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२२ का भावार्थ, पृष्ठ ६१)

-'जीव के एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रियादि जो भेद हैं, वे तो पर्याय-अपेक्षा से तथा शरीरादि निमित्तों की अपेक्षा से हैं; किन्तु स्वभाव से तो सब जीव ज्ञायक ही हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १६६)

प्रश्न ३- संसारी जीव किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्म और शरीरसहित जीवों को संसारी कहते हैं। इस अपेक्षा से निगोद से लगाकर १४वें गुणस्थान तक; अर्थात्, अरहन्त भगवान तक सभी जीव संसारी हैं।

-'कर्मसहित जीवों को संसारी कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २००)

-**'जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।**

भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।। २७।।'

अन्वयार्थ- (संसारस्थित) आत्मा जीव है, चेतयिता (चेतनेवाला) है, उपयोगलक्षित है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देहप्रमाण है, अमूर्त है, और कर्मसंयुक्त है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५४)

-**'बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान्।**

मूर्छितोऽनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभि:।। ३४।।'

अर्थ- जो आत्मस्वरूप को नहीं प्राप्त हो रहा है और जो अनादि से ज्ञानावरण आदि आठ

कर्मों से मूर्च्छित है; अतएव बद्ध है, वह संसारी जीव है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ३४ व अर्थ, पृष्ठ १५५-१५६)

प्रश्न ४- मुक्त जीव किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्म और शरीररहित जीवों को मुक्त जीव कहते हैं। इस अपेक्षा से एकमात्र सिद्ध परमात्मा ही मुक्त हैं।

-'कर्मरहित जीवों को मुक्त कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २००)

-'**कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।**
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं॥ २८॥'

अन्वयार्थ- कर्ममल से मुक्त आत्मा ऊपर लोक के अन्त को प्राप्त करके वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अनन्त अनिन्द्रिय सुख का अनुभव करता है। (यहाँ मुक्तावस्थावाले आत्मा का निरुपाधिस्वरूप कहा है।)

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५६-५७)

प्रश्न ५- संसारी और मुक्त जीव में क्या अन्तर है?

उत्तर- जीव प्राणों से जीता है। जो द्रव्यप्राण और भावप्राण दोनों से जीता है, वह संसारी है और जो एकमात्र भावप्राणों से जीता है, वह मुक्त है।

-'प्राण इन्द्रिय, बल, आयु, और उच्छ्‌वासस्वरूप हैं। उनमें (प्राणों में) चित्सामान्यरूप अन्वयवाले वे **भावप्राण**[1] हैं, और पुद्गलसामान्यरूप अन्वयवाले वे **द्रव्यप्राण**[2] हैं। उन दोनों प्राणों (भाव एवं द्रव्यप्राणों) को त्रिकाल अच्छिन्न-सन्तानरूप से (अटूटधारा से) धारण करता है; इसलिये संसारी को जीवत्व है। मुक्त को (सिद्ध को) तो केवल भावप्राणों का ही धारण होने से जीवत्व है -ऐसा समझना।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६१-६२)

प्रश्न ६- क्या कर्म और शरीरसहित जीव को भी मुक्त कहा जा सकता है?

उत्तर- हाँ! जिन जीवों ने त्रिकाली निज शुद्धात्मा के आश्रय से स्व-पर के भेद-ज्ञानपूर्वक निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, वे जीव भी निकट भविष्य में नियमपूर्वक मुक्तदशा को प्राप्त होंगे;

---

१. **भावप्राण**- जिन प्राणों में चित्सामान्यरूप अन्वय होता है; अर्थात्, जिन प्राणों में सदैव 'चित्सामान्य, चित्सामान्य, चित्सामान्य' -ऐसी एकरूपता-सदृशता (समरूपता-सादृश्यता) होती है, वे भावप्राण हैं।

२. **द्रव्यप्राण**- जिन प्राणों में पुद्गलसामान्यरूप अन्वय होता है; अर्थात्, जिन प्राणों में 'पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य'- ऐसी एकरूपता-सदृशता (समरूपता-सादृश्यता) होती है, वे द्रव्यप्राण हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६१ की पादटिप्पणी)

अत: भावीनैगमनय की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ कर सिद्धदशा तक के प्रत्येक जीव को मुक्त कहा जा सकता है।

-'ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावाच्छुद्धस्वभावनियत: स हि मुक्त एव॥ १९८॥'

श्लोकार्थ- ज्ञानी कर्म को न तो करता है और न भोगता है; वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। इस प्रकार मात्र जानता हुआ, करने और भोगने के अभाव के कारण, शुद्धस्वभाव में निश्चल- ऐसा वह (ज्ञानी; सम्यग्दृष्टि) वास्तव में मुक्त ही है।

(श्रीसमयसार, कलश १९८ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ४४६)

-'वैराग्यं परमोपेक्षा ज्ञानं स्वानुभव: स्वयम्।
तद् द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्त: स एव च॥ २३२॥'

अर्थ- परम उपेक्षारूप वैराग्य और स्वयं स्वानुभवस्वरूप ज्ञान- ये दो ही ज्ञानी के लक्षण हैं। जिसके ये लक्षण पाये जाते हैं, वही 'जीवनमुक्त' है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा २३२ व अर्थ, पृष्ठ १८९)

-'ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में सम्यक्त्वी को संसार ही नहीं है। जिसकी दृष्टि कर्म पर है, ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही संसार है। सम्यक्त्वी तो ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि से अपने शुद्ध स्वभाव में निश्चल होने से वास्तन में मुक्त ही है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १५६)

प्रश्न ७- क्या मिथ्यादृष्टि जीव को भी मुक्त कहा जा सकता है?

उत्तर- हाँ, शक्ति-अपेक्षा निगोद से लगाकर सिद्धशिला तक की कुल जीवराशि मुक्त ही है। इस तरह संसारी जीव को व्यवहारनय से बँधा हुआ लेकिन निश्चयनय से मुक्त कहा सकता है।

-'यद्यपि यह आत्मा व्यवहारनयकर अनादिकाल से कर्मबन्धनकर बँधा है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश- इन चार तरह के बन्धनों से रहित है;............ यद्यपि व्यवहारनय से कर्मों के क्षय होने के बाद मोक्ष का पात्र है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सदा मुक्त ही है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ४३ का भावार्थ, पृष्ठ १६३-१६४)

प्रश्न ८- मुक्ति अर्थात् मोक्ष कितने प्रकार की है?

उत्तर- मोक्ष के पाँच प्रकार हैं- (१) शक्तिमोक्ष, (२) दृष्टिमोक्ष, (३) मोहमुक्तमोक्ष, (४) जीवनमुक्तमोक्ष, और (५) विदेहमोक्ष।

१. शक्तिमोक्ष- प्रत्येक जीव में मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है। इस अपेक्षा निगोद से लेकर

सिद्धदशा तक का प्रत्येक जीव त्रिकाल शक्तिमोक्षसहित है।

-'यद्यपि (यह आत्मा) व्यवहारनय से कर्मों के क्षय होने के बाद मोक्ष का पात्र है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सदा मुक्त ही है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश अध्याय २, दोहा ४३ का भावार्थ, पृष्ठ १६४)

२. **दृष्टिमोक्ष**- अनादि से परपदार्थों में 'ये मैं' ऐसी भ्रमसहित दृष्टि का स्व अर्थात् निज शुद्धात्मा में 'ये मैं' स्वीकार होना ही दृष्टिमोक्ष है। दृष्टिमोक्ष की उत्पत्ति चौथे गुणस्थान में परमपारिणामिक शक्तिमोक्ष का आश्रय लेने से होती है।

-' **"स: हि मुक्त: एव"**- शुद्धस्वभाव में निश्चल- ऐसा वह वास्तव में मुक्त ही है।'

(श्रीसमयसार, कलश १९८ का श्लोकार्थ, पृष्ठ ४४६)

-'ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तोड़ डाला। वहाँ दृष्टि-अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी मुक्त ही है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १९५)

-'जिसके ऐसा मिथ्यात्वभाव नष्ट हो गया है और सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, वह व्यवहारनय से मुक्त हो जाता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीसमयसार कलश १७३ पर प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर,भाग ८, पृष्ठ १८८)

-'सम्यग्दर्शन हुआ वह तो भगवान हो गया। राग का मैं कर्ता नहीं, पर का मैं कर्ता नहीं; मैं तो सर्वज्ञ हूँ, तो श्रद्धा में सर्वज्ञ हो गया। बोलने की बात नहीं है। अकर्तापना प्रगट हुआ है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टिजिनेश्वर-गुजराती, बोल २१६, पृष्ठ ५१)

३. **मोहमुक्तमोक्ष**- मोह के सर्वथा अभाव और यथाख्यातचारित्र (चारित्रगुण की पूर्णता) की प्रगटता को मोहमुक्तमोक्ष कहते हैं। क्षपकश्रेणी माँडनेवाले जीव को बारहवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म के क्षय के साथ ही यथाख्यातचारित्र अर्थात् मोहमुक्तमोक्ष प्रगट होता है।

-'वहाँ निर्मोह वीतरागी के शुक्लध्यान का दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है; यथाख्यात चारित्र हो जाता है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा १२ का भावार्थ, पृष्ठ २०)

-'जो श्रमण (मुनि) त्रिलोक की कलगी समान निर्मल विवेकरूपी दीपक के प्रकाशसहित, यथास्थित पदार्थ के निश्चयसहित, उत्सुकता छोड़कर स्वरूप में जम गया है; आनन्द की धारा में मस्त हो गया है; उपशमरस की धारा में बह गया है और उसमें से बाहर आने में प्रमादी हो गया है; वन में बाघ, सिंह आदि भयङ्कर जीव घूमते होनेपर भी निर्भय होकर स्वरूप के शान्तरस और अतीन्द्रिय आनन्द को चूसता है; एकमात्र स्वरूप में ही अभिमुखपने वर्तता है- इस श्रमण (मुनि) को साक्षात्

"मोक्षतत्त्व" कहते हैं। अभी है तो साधकदशा लेकिन एकमात्र स्वरूप में ही अभिमुखपने (एकाग्रतापूर्वक) वर्तते श्रमण को साक्षात् "मोक्षतत्त्व" कहते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टिजिनेश्वर-गुजराती, बोल ४८४, पृष्ठ ११६)

- **'उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।**
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो।। ७०।।'

अन्वयार्थ- जो (पुरुष) जिनवचन द्वारा मार्ग को प्राप्त करके उपशान्तक्षीणमोह होता हुआ (अर्थात् जिसे दर्शनमोह का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हुआ है- ऐसा होता हुआ) ज्ञानानुमार्ग में विचरता है (ज्ञान का अनुसरण करनेवाले मार्ग में वर्तता है), वह धीरपुरुष निर्वाणपुर को प्राप्त होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११५)

४. जीवनमुक्तमोक्ष- चार घातिकर्मों[1] के नाशपूर्वक अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान, भव्यजीवों को मोक्षमार्ग को उपदेश देनेवाले सदेह अरहन्त परमात्मा को जीवनमुक्तमोक्ष होता है।

- 'वास्तव में जीवनमुक्त केवली को कहते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, द्वितीय खण्ड, पण्डित सरनामलजी की टीका, चौथी पुस्तक, पृष्ठ २९१)

- 'निजस्वभावसाधन द्वारा चार घातिकर्मों का क्षय करके अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए;......तथा जिनके वचनों से लोक में धर्मतीर्थ प्रवर्तता है, जिसके द्वारा जीवों का कल्याण होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पहला अधिकार, पृष्ठ २)

- **'तब ही शुक्ल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो;**
सब लख्यो केवलज्ञानकरि, भविलोकको शिवमग कह्यो।।'

अर्थ- शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होता है और अरहन्तदशा तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसमे तीनकाल और तीनलोक के समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और तब भव्यजीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ११ का उत्तरार्द्ध व भावार्थ, पृष्ठ १७१-१७३)

५. विदेहमोक्ष- कर्म और शरीररहित परिपूर्ण शुद्धदशा का नाम विदेहमोक्ष है। गुणस्थानातीत सिद्धभगवान को विदेहमोक्ष होता है जो सादिअनन्त रहता है।

- 'चार अघातिकर्मों के भी भस्म होनेपर परमऔदारिक शरीर को भी छोड़कर उर्ध्वगमन

---

१. **घातिकर्म दो प्रकार के हैं-** (१) द्रव्यघातिकर्म, और (२) भावघातिकर्म। उनमे शुक्लध्यान द्वारा शुद्धदशा प्रगट होनेपर भावघातिकर्मरूप अशुद्ध पर्यायें उत्पन्न नहीं होती, वह भावघातिकर्म का नाश है तथा उसी समय द्रव्यघातिकर्म का (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय द्रव्यकर्मों का) स्वयं अभाव होता है, वह द्रव्यघातिकर्म का नाश है।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ११, पृष्ठ १७३ की पादटिप्पणी)

स्वभाव से लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हुए; वहाँ जिनको समस्त परद्रव्यों का सम्बन्ध छूटने से मुक्तअवस्था (विदेहमोक्ष) की सिद्धि हुई।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पहला अधिकार, पृष्ठ २)

-'पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमांहि अष्टम भू वसैं।'

अन्वयार्थ- केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् शेष चार अघातियाकर्मों का नाश कुछ ही समय में आठवीं पृथ्वी-ईषत् प्राग्भार-मोक्षक्षेत्र में निवास करते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १२ की पहली पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १७३-१७४)

[**विशेष**- (१) मोक्ष का अर्थ परिपूर्ण शुद्धि का प्रगट होना है। जीव श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि अनन्तगुणों का अभेद पिण्ड है। **'दृष्टिमोक्ष'** जीव के श्रद्धागुण की निर्मलता को बताता है। **'मोहमुक्तमोक्ष'** अर्थात् बारहवें गुणस्थान में चारित्रगुण पूर्ण शुद्धि को प्राप्त होता है। **'जीवनमुक्तमोक्ष'** अर्थात् अरहन्तदशा मे ज्ञानगुण की क्षायिकदशा प्रगट होती है। **'विदेहमोक्ष'** अर्थात् सिद्धदशा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रसहित जीव के सभी गुणों की पूर्ण शुद्धि का नाम है; और ये चारों मोक्ष **'शक्तिमोक्ष'** अर्थात् त्रिकाली, अभेद, निजशुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं।

(२) पूज्य गुरुदेवश्री ने अपनी रात्रिकालीन प्रश्नोत्तर-सभा में पूछे गये एक प्रश्न के उत्तर में समस्त जीवराशि को (१) परमार्थजीव, और (२) व्यवहारजीव के रूप में वर्गीकृत किया है। वहाँ परमार्थजीव त्रिकाल निष्क्रिय मोक्षस्वरूप और व्यवहारजीव बन्ध-मोक्षरूप से परिणमन करती पर्याय को बताया है। **-ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४९१, पृष्ठ १८४;**

(३) **श्रीवृहद-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३** में तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु, और श्वासोच्छ्वास -इन चार प्राणों को धारण करनेवाले को व्यवहारनय से जीव और जिसको चेतना है, उसे निश्चयनय से जीव बताया है।

-'तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।। ३।।'

(४) आचार्य योगीन्दुदेव ने भी कहा है कि 'शुद्धनिश्चयनयकर आत्मा जन्म, मरण, बन्ध, और मोक्ष को नहीं करता; जैसा है वैसा ही है।' **-श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ६८ की उत्थानिका, पृष्ठ ६८**]

(२) ज्ञानी और अज्ञानी

प्रश्न ९- समस्त जीवराशि के 'ज्ञान' की अपेक्षा कितने भेद हैं?

उत्तर- 'ज्ञान' जीव का लक्षण होने से निगोद से लेकर सिद्धदशा तक प्रत्येक जीव ज्ञानसहित

अर्थात् ज्ञानी है; लेकिन सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा से समस्त जीवराशि के दो भेद किये जा सकते हैं- (१) ज्ञानी, और (२) अज्ञानी।

-**'एक: सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह।**
ततो मिथ्यादृश: सर्वे नित्यमज्ञानिनो मता:।। २२८।।'

अर्थ- इस संसार में केवल एक सम्यग्दृष्टि आत्मा ही ज्ञानी है; इसलिये जितने भी मिथ्यादृष्टि जीव हैं, वे सदा अज्ञानी माने गये हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा २२८ व अर्थ, पृष्ठ १८८)

प्रश्न १०- ज्ञानी किसे कहते हैं और ज्ञानी कितने प्रकार के हैं?

उत्तर- सम्यग्ज्ञानसहित प्रत्येक जीव ज्ञानी है। इस विवक्षा से सम्यग्दर्शन; अर्थात्, चतुर्थ गुणस्थान से लगाकर सिद्धदशा तक के सभी जीव ज्ञानी हैं। ज्ञानी के भी दो भेद हैं- (१) अल्पज्ञानी, और (२) पूर्णज्ञानी।

१. अल्पज्ञानी- चतुर्थ गुणस्थान; अर्थात्, अव्रति सम्यग्दृष्टि से लगाकर बारहवें गुणस्थान तक के सभी साधकजीव अल्पज्ञानी हैं।

२. पूर्णज्ञानी- केवलज्ञानसहित जीव पूर्णज्ञानी हैं; अर्थात्, अरहन्त और सिद्धभगवान पूर्णज्ञानी हैं।

-' "ज्ञानी" शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओं को लेकर प्रयुक्त होता है- (१) प्रथम तो, जिसे ज्ञान हो वह ज्ञानी कहलाता है; इस प्रकार सामान्यज्ञान की अपेक्षा से सभी जीव ज्ञानी हैं, (२) यदि सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये, तो सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान होता है; इसलिये उस अपेक्षा से वह ज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, (३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये, तो केवलीभगवान ज्ञानी हैं और छद्मस्थ अज्ञानी हैं।'

(श्रीसमयसार, गाथा १७७ व १७८ का भावार्थ, पृष्ठ २६५)

-'यहाँ सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञानी कहा जाता है, सो वह मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा कहा जाता है। यदि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा लें, तो सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष की अपेक्षा लें, तो जब तक किञ्चित्मात्र भी अज्ञान है, तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता; जैसे, सिद्धान्त ग्रन्थों में भावों का वर्णन करते हुए, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक; अर्थात्, बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३२० का भावार्थ, पृष्ठ ४४९)

प्रश्न ११- अज्ञानी किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रत्येक मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी है। इस विवक्षा से निगोद से लगाकर द्रव्यलिङ्गी मुनि तक सभी मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी हैं।

सारणी ३ : जीव के भेद (संसारी और मुक्त)

जीव
- संसारी
  - (१) त्रस — स्थावर
  - (२) संज्ञी — असंज्ञी
  - (३) भव्य — अभव्य
- मुक्त
  - सकल (शरीरसहित अरहन्त भगवान)
  - निकल (शरीररहित सिद्ध भगवान)

सारणी ४ : जीव के भेद (ज्ञानी और अज्ञानी)

जीव
- ज्ञानी
  - अल्पज्ञानी
  - पूर्णज्ञानी
- अज्ञानी

आधार-श्रीसमयसार, गाथा १७७ व १७८
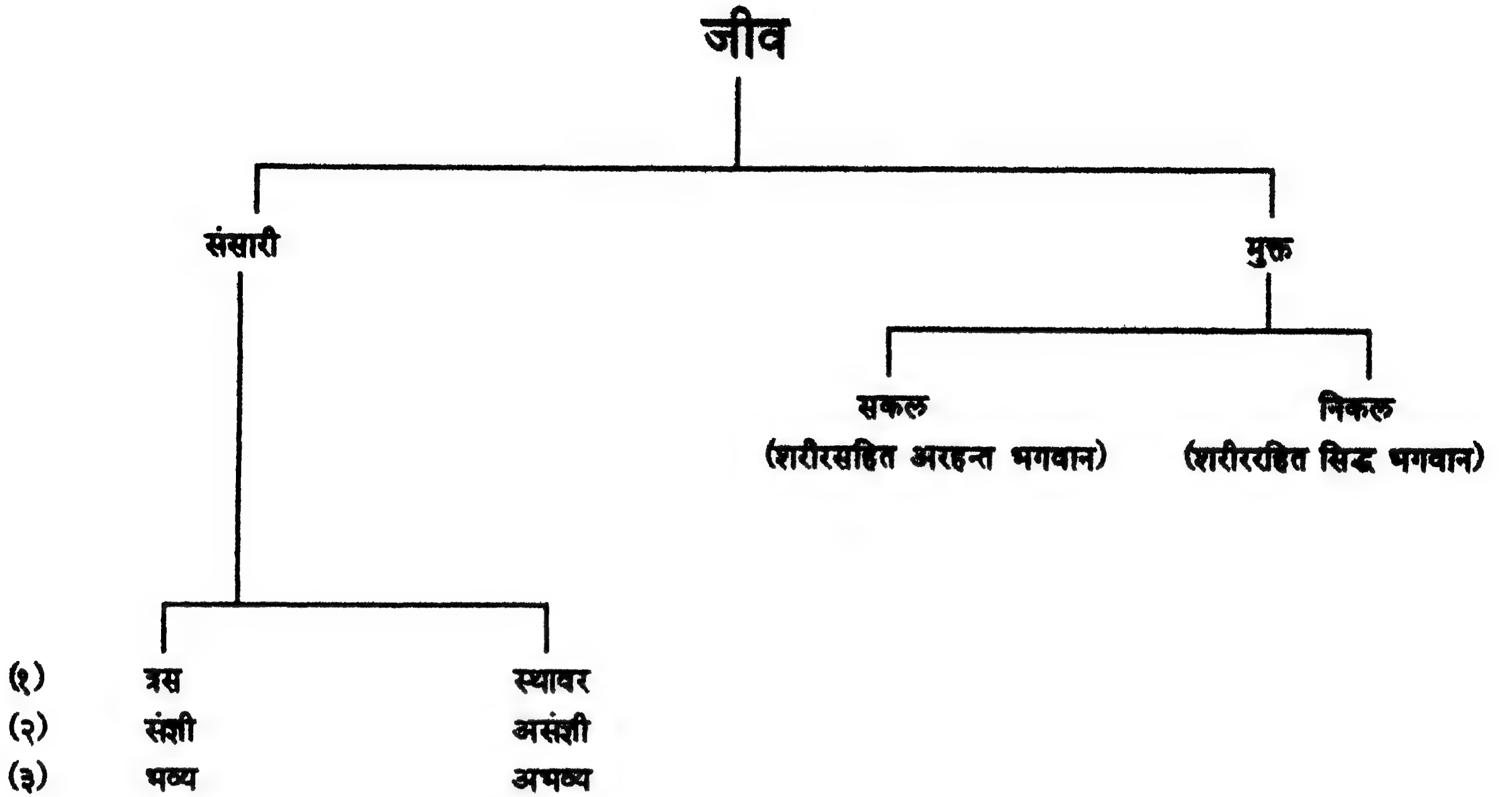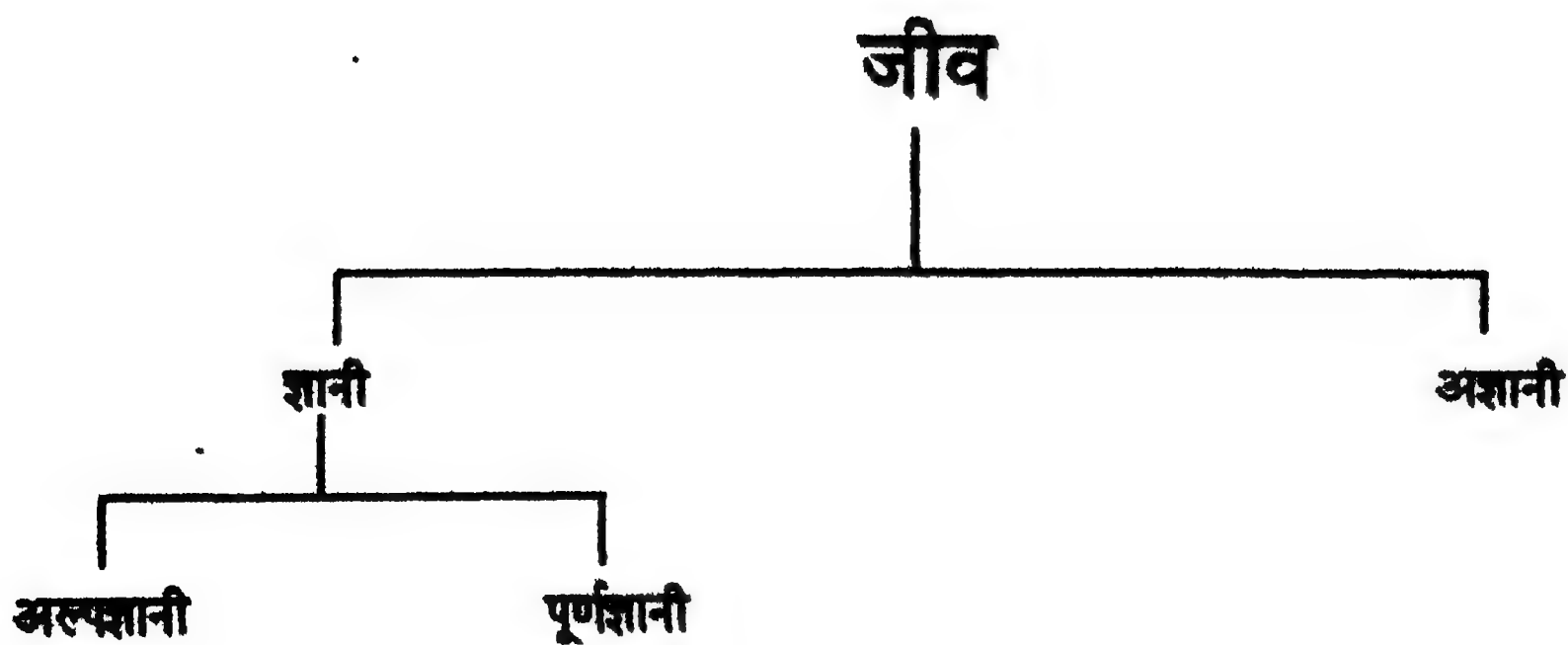
(३) बहिरात्मा-अन्तरात्मा-परमात्मा

प्रश्न १२- सर्व जीवराशि के तीन भेद कौनसे हैं?

उत्तर- जीव अर्थात् आत्मा। समस्त जीवराशि के तीन भेद हैं- (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, और (३) परमात्मा।

-'वही (जीव) बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५४)

-**'बहिरातम, अन्तरआतम, परमातम, जीव त्रिधा है;'**

अन्वयार्थ- बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा- इस प्रकार जीव तीन प्रकार के हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ४ की पहली पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५८-५९)

-**'जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य।**
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य।। १९२।।'

अन्वयार्थ- जीव बहिरात्मा, अन्तरात्मा, तथा परमात्मा- इस तरह तीन प्रकार के होते हैं और परमात्मा भी अरहन्त तथा सिद्ध, इस तरह दो प्रकार के होते हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८८)

-**'ति-पयारो अप्पामुणहि परु अन्तरु बहिरप्पु।**
पर जायहि अंतर-साहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु।। ६।।'

अर्थ- परमात्मा, अन्तरात्मा, और बहिरात्मा- इस तरह आत्मा के तीन प्रकार समझने चाहिए। हे जीव! अन्तरात्मासहित होकर परमात्मा का ध्यान कर और भ्रान्तिरहित होकर बहिरात्मा को त्याग।

(योगसार, दोहा ६ व अर्थ, आधार-श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६०)

-**'बहिरन्तःपरश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।**
उपायेत्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्।। ४।।'

अर्थ- सर्व जीवों मे बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा- यह तीन प्रकार का आत्मा है। उसमें से अन्तरात्मारूप उपाय द्वारा परमात्मपना उपादेय करना और बहिरात्मपना त्यागना।

(श्रीसमाधिशतक, श्लोक ४ व अर्थ, आत्मभावना-गुजराती, पृष्ठ २६)

-'मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा; वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमन करता हुआ अन्तरात्मा; और शुद्धबुद्धस्वभाव परमात्मा; इस प्रकार आत्मा तीन तरह का है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा १३ का अर्थ, पृष्ठ २०-२१)

-'इहां आत्मा तीन प्रकार करि तिष्ठै है बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, पञ्चम अधिकार, पृष्ठ ३०९)

[**विशेष- (१)** आत्मा तो त्रिकाल एकरूप ही है। तीन भेद (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा) पर्याय-अपेक्षा किये गये हैं। 'आत्मा का स्वरूप एक समय में परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप है; उसकी तीन प्रकार की अवस्थाएँ हैं।' **-पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मभावना, पृष्ठ २८;**

-'जीवतत्त्व सामान्यतया एक प्रकार से है। बद्ध (संसारी) और मुक्त- यों दो प्रकार से हैं। और अब जीवों के तीन प्रकार के भेद कहे जा रहे हैं। **-श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ११ का भावार्थ, पृ०३३;**

(२) **श्रीद्रव्यसंग्रह की गाथा ११ के भावार्थ, पृष्ठ ३३** पर जीवों के तीन भेद दो प्रकार से किये हैं- (१) असिद्ध, (२) नोसिद्ध, और (३) सिद्ध; अथवा (१) मिथ्यादृष्टि असिद्ध, (२) सम्यग्दृष्टि ईषत् सिद्ध, और (३) रत्नत्रयप्राप्त सिद्ध। (यहाँ **'नो'** अथवा **'ईषत्'** का अर्थ अल्प; आंशिक; एकदेश है।)

(३) यहाँ 'असिद्ध' अथवा 'मिथ्यादृष्टि असिद्ध' का अर्थ बहिरात्मा; 'नो सिद्ध' अथवा 'सम्यग्दृष्टि ईषत् सिद्ध' का अर्थ अन्तरात्मा; और 'सिद्ध' अथवा 'रत्नत्रयप्राप्त सिद्ध' का अर्थ परमात्मा ही है।]

प्रश्न १३- बहिरात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर- अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को जो आत्मा और शरीर को एक ही मानता है, बहिरात्मा कहते हैं।

-'स्वशुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न वास्तविक सुख से प्रतिपक्षभूत इन्द्रियसुख में आसक्त (जीव) बहिरात्मा हैं।..............अथवा देहरहित निज शुद्धात्मद्रव्य की भावना जिसका लक्षण है, ऐसे भेदज्ञान से रहित होने से देहादि परद्रव्यों में एकत्व भावनारूप परिणमित जीव बहिरात्मा है।......... अथवा हेय और उपादेय का विचार करनेवाला "चित्त"; निर्दोष परमात्मा से भिन्न रागादि "दोष"; और शुद्धचैतन्यलक्षण "आत्मा"- इन तीनों का तथा वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत अन्य पदार्थों का जिसे परस्पर सापेक्ष नयविभाग से श्रद्धान और ज्ञान नहीं है, वह बहिरात्मा है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५४ व ५५)

-'**मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो।**
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा।। १९३।।'

अन्वयार्थ- जो जीव मिथ्यात्वरूप परिणमा हो और तीव्र कषाय (अनन्तानुबन्धी) से अतिशय आविष्ठ अर्थात् युक्त हो; इस निमित्त से जीव और देह को एक मानता हो, वह जीव बहिरात्मा है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८८-८९)

-'तिनमें जाकै बाह्य शरीरादिक पुद्गल की पर्यायनिमें आत्मबुद्धि है सो बहिरात्मा है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, पञ्चम अधिकार, पृष्ठ ३०९)

–'कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धि अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।। १९।।'

गाथार्थ– जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म, और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मुझमें (आत्मा में) 'यह कर्म–नोकर्म हैं'– ऐसी बुद्धि है, तब तक आत्मा **अप्रतिबुद्ध**[1] है।

(श्रीसमयसार, गाथा १९ व गाथार्थ, पृष्ठ ४९–५०)

–'बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रांतिरांतर:।'

अर्थ– शरीरादि बाह्य पदार्थों में ही जो आत्मा की भ्रांति करता है, वह बहिरात्मा है।

(श्रीसमाधिशतक, दोहा ५ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, आत्मभावना, पृष्ठ ३२)

–'बाह्य शरीरादि पदार्थों को ही जो आत्मा मानता है, वह बहिरात्मा है।' तथा,

–'ये शरीरादि जड़पदार्थ प्रगटपने आत्मा से भिन्न हैं; ये कोई भी पदार्थ आत्मा का नहीं है, आत्मा से बाहर ही हैं। लेकिन इनको जो अपना मानता है, वह जीव बहिरात्मा है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मभावना–गुजराती, पृष्ठ २७ व ३२)

–'देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसारु भमेइ।। १०।।'

अर्थ– देह आदि जो पदार्थ पर कहे गये हैं, उन पदार्थों को ही जो आत्मा समझता है; उसे जिनभगवान ने बहिरात्मा कहा है। वह जीव संसार में फिर–फिर से परिभ्रमण करता है।

(योगसार, दोहा १० व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६१)

–'मिच्छा–दंसण–मोहियउ परु अप्पा ण मुणेई।
सो बहिरप्पा जिण–भणिउ पुण संसार भमेइ।। ७।।'

अर्थ– जो मिथ्यादर्शन से मोहित जीव परमात्मा को नहीं समझता, उसे जिनभगवान ने बहिरात्मा कहा है। वह पुन:–पुन: संसार में परिभ्रमण करता है।

(योगसार, दोहा ७ व अर्थ, श्री परमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६०)

–'जो देह को ही आत्मा मानता है, वह प्राणी बहिरात्मा है; अर्थात्, बहिर्मुख मिथ्यादृष्टि है।' तथा,

---

१. **अप्रतिबुद्ध–** अज्ञानी; मिथ्यादृष्टि; बहिरात्मा।

–'जानने के कारण से पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है क्योंकि उसे सदा अप्रतिबुद्धत्व है? उसका उत्तर– ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है।'

(श्रीसमयसार, कलश २० की टीका, पृष्ठ ४९)

[इससे विरुद्ध प्रतिबुद्ध अर्थात् ज्ञानी; सम्यग्दृष्टि; अन्तरात्मा।]

-'जो देह को आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए परमानन्द सुखामृत को नहीं पाता हुआ मूर्ख है, अज्ञानी है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा १३ का अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ २१)

-**'देह जीवको एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है।'**

अन्वयार्थ- (जो) शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, वे बहिरात्मा हैं और वे बहिरात्मा यथार्थ तत्त्वों से अजान; अर्थात्, तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ४ की दूसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५८-५९)

प्रश्न १४- अन्तरात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर- जो जीव आत्मा को शरीरादि सभी परपदार्थों से भिन्न जानता है; उसे अन्तरात्मा,

---

सारणी ५ : जीव के भेद
(बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा)

जीव (आत्मा)
- बहिरात्मा
- अन्तरात्मा
  - उत्तम
  - मध्यम
  - जघन्य
- परमात्मा
  - सकल (अर्हन्तपरमात्मा)
  - निकल (सिद्धपरमात्मा)
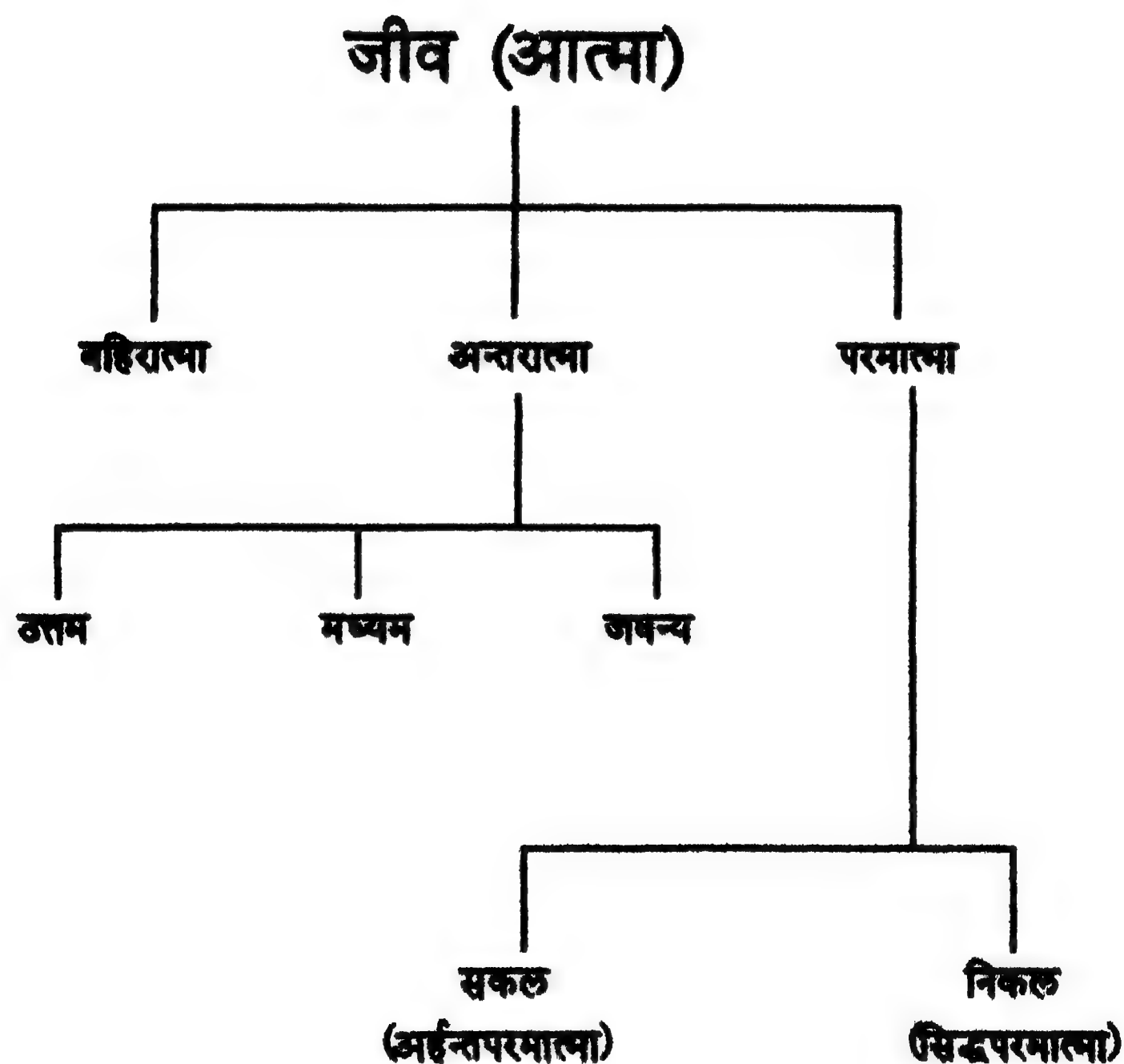
आधार-श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९२ से १९९, पृष्ठ ८९ से ९१; एवं छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ४ से ६

ज्ञानी, और सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

–'बहिरात्मा से विलक्षण, प्रतिपक्षभूत, और विरुद्ध अन्तरात्मा है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५४-५५)

–'**जे जिणवयणे कुसलो, भेयं जाणंति जीवदेहाणं।**
णिज्जियदुट्ठट्ठमया, अन्तरअप्पा य ते तिविहा।। १९४।।'

अन्वयार्थ- जो जीव जिनवचन में प्रवीण हैं, जीव और देह के भेद को जानते हैं, और जिन्होंने आठ मदों को जीत लिये हैं; वे अन्तरात्मा हैं और उत्कृष्ट (उत्तम), मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८९)

–'**कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।**
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।। ७५।।'

गाथार्थ- जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को नहीं करता किन्तु जानता है, वह ज्ञानी (अन्तरात्मा) है।

(श्रीसमयसार, गाथा ७५ व गाथार्थ, पृष्ठ १३१-१३२)

–'अन्तरङ्ग में देहादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का जिसे भान है, वह अन्तरात्मा है।' तथा,

–'और राग-द्वेषादि दोषों तथा चैतन्यस्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में जो भ्राँतिरहित है, वह अन्तरात्मा है। जो राग-द्वेष को दोषरूप जानता है और अपने चैतन्यस्वभाव को स्वभावरूप जानता है; जिसे रागादि में "आत्मा" की भ्रान्ति नहीं होती; और मलिनता से भिन्न अपने शुद्धस्वभाव को जो निःशङ्कपने जानता है, वह अन्तरात्मा है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मभावना-गुजराती, पृष्ठ ३२)

–'**जो परियाणइ अप्पु परु जो परभाव चएइ।**
सो पंडिउ अप्पा मुणहु सो संसारु मुएइ।। ८।।'

अर्थ- जो परमात्मा को समझता है और जो परभाव का त्याग करता है, उसे पण्डित-आत्मा (अन्तरात्मा) समझो। वह जीव (अन्तरात्मा) संसार को छोड़ देता है।

(योगसार, दोहा ८ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६०-३६१)

–'**देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।**
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ।। १४।।'

अर्थ- जो पुरुष परमात्मा को शरीर से जुदा, केवलज्ञानकर पूर्ण जानता है; वही परम-समाधि में तिष्ठता हुआ अन्तरात्मा; अर्थात्, विवेकी है।

भावार्थ– यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से; अर्थात्, इस जीव के परवस्तु का सम्बन्ध अनादिकाल का मिथ्यारूप होने से व्यवहारनयकर देहमयी है, तो भी निश्चयनयकर सर्वथा देहादिक से भिन्न है और केवलज्ञानमयी है। ऐसा निज शुद्धात्मा को वीतराग निर्विकल्प सहजानन्द शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप परमसमाधि में स्थित हुआ जानता है, वही विवेकी अन्तरात्मा कहलाता है।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा १४, अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ २१–२२)

–'आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानकर यथार्थ निश्चय करनेवाले अन्तरात्मा कहलाते हैं।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ४, का अन्वयार्थ, पृष्ठ ५९)

प्रश्न १५– अन्तरात्मा के कितने भेद हैं?

उत्तर– अन्तरात्मा के तीन भेद हैं– (१) उत्तम, (२) मध्यम, और (३) जघन्य।

–'उत्तम मध्यम जघन त्रिविधके अन्तर–आतम ज्ञानी;'

अन्वयार्थ– अन्तरात्मा उत्तम, मध्यम, और जघन्य– ऐसे तीन प्रकार के हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ४ की तीसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५९)

–'अन्तरात्मा उत्कृष्ट (उत्तम), मध्यम, और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९४ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ८९)

प्रश्न १६– उत्तम अन्तरात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर– सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती निर्विकल्प परमसमाधि में स्थित दिगम्बर मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं।

–'द्विविध संगबिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी।'

अन्वयार्थ– उनमें अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ऐसे दो प्रकार के परिग्रहरहित शुद्ध उपयोगी आत्मध्यानी दिगम्बर मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ४ की अन्तिम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५९)

–'पंचमहव्वयजुत्ता, धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं।
णिज्जियसयलपमाया, उक्किट्ठा अन्तरा होंति।। ९५।।'

अन्वयार्थ– जो जीव पाँच महाव्रतों से युक्त हों, नित्य ही धर्मध्यान, शुक्लध्यान में स्थित रहते हों; और जिन्होंने निद्रा आदि सब प्रमादों को जीत लिया हो; वे उत्कृष्ट (उत्तम) अन्तरात्मा होते हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८९–९०)

प्रश्न १७– मध्यम अन्तरात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर– छठवें गुणस्थानवर्ती भावलिङ्गी मुनि और पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

-'मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी;'

अन्वयार्थ- छठवें गुणस्थान के समय अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहरहित यथाजातरूपधर -भावलिङ्गी मुनि तथा दो कषाय के अभावसहित ऐसे पञ्चम गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि श्रावक मध्यम अन्तरात्मा हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ५ की प्रथम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६०)

-'सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता, उवसमसीला महासत्ता।। १९६।।'

अन्वयार्थ- जो जिनवचनों में अनुरक्त हों, उपशमभाव (मन्दकषाय) रूप जिनका स्वभाव हो, महापराक्रमी हों, परीषहादिक के सहन करने में दृढ़ हों, उपसर्ग आने पर प्रतिज्ञा से चलायमान नहीं होते हों- ऐसे श्रावक के व्रतसहित तथा प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम अन्तरात्मा होते हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९०)

प्रश्न १८- जघन्य अन्तरात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर- चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रति सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं।

-'जघन कहे अविरत-समदृष्टि, तीनों शिवमग-चारी।'

अन्वयार्थ- व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं। ये तीनों मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ५ की दूसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६०)

-'अविरयसम्मादिट्ठी, होंति जहण्ण जिणंदपयभत्ता।
अप्पाणं णिंदंता, गुणगहणे सुट्ठुअणुरत्ता।। १९७।।'

अन्वयार्थ- जो जीव जिनेन्द्रभगवान के चरणों के भक्त हैं, अपने आत्मा की निन्दा करते रहते हैं, और गुणों के ग्रहण करने में भलेप्रकार अनुरागी हैं- ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९०)

प्रश्न १९- तीनों अन्तरात्माओं (उत्तम, मध्यम, और जघन्य) में क्या समानता है?

उत्तर- 'ये तीनों अन्तरात्मा ही मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ५ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६०)

प्रश्न २०- परमात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर- राग-द्वेष-मोह का सर्वथा क्षय (अभाव) करके; केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तआनन्द, और अनन्तवीर्य जिनको प्रगट हुआ है- वे परमात्मा हैं।

-'समस्त दोषों से रहित आत्मा को पूर्ण ज्ञान-आनन्द स्वरूप प्रगट हो, वह परमात्म-दशा है।' तथा,

-'बाद में (अन्तरात्मा होने के बाद में) चैतन्य में लीन होकर जिसने केवलज्ञान और परिपूर्ण आनन्द प्रगट किया है, वह परमात्मा है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मभावना-गुजराती, पृष्ठ ३३ व ३७)

-'(अब) परमात्मा का लक्षण कहा जाता है- सकलविमल केवलज्ञान द्वारा समस्त लोकालोक को जानता है, व्याप्त होता है; अत:, "विष्णु" कहलाता है। परमब्रह्म नामक निजशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत द्वारा तृप्त होने से उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित नहीं होता, वह "परमब्रह्म" कहलाता है। केवलज्ञानादि गुणरूप ऐश्वर्यसहित होने के कारण देवेन्द्रादि भी उस पद की अभिलाषा करते हुए जिनकी आज्ञा मानते हैं, उन्हें "ईश्वर" नाम होता है। केवलज्ञान शब्द से वाच्य, "सु" अर्थात् उत्तम, "गत" अर्थात् ज्ञान जिसको है, वह "सुगत" है, अथवा जिसने शोभायमान अविनश्वर मुक्तिपद को प्राप्त किया है, वह "सुगत" है। **शिव**[1]; अर्थात्, परमकल्याण, निर्वाण, और अक्षयज्ञानरूप मुक्तिपद को जिसने प्राप्त किया है- ऐसे लक्षण से युक्त "शिव" हैं। काम-क्रोधादि दोष का जय करने से अनन्तज्ञानादि गुणसहित वह "जिन" हैं -इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार और आठ नामों से वाच्य परमात्मा जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५५-५६)

-'अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण।

मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण।। १५।।'

अर्थ- जिसने ज्ञानावर्णादि कर्मों को नाश करके और सब देहादिक परद्रव्यों को छोड़ करके केवलज्ञानमयी आत्मा पाया है, उसको शुद्धमन से परमात्मा जानो।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा १५ व अर्थ, पृष्ठ २२)

-'जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।

णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं।। १७७।।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।

पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं।। १७८।।'

अन्वयार्थ- (परमात्मतत्त्व) जन्म-जरा-मरणरहित, परम, आठ कर्मरहित, शुद्ध, ज्ञानादिक चार स्वभाववाला, अक्षय, अविनाशी, और अच्छेद्य है।। १७७।। (परमात्मतत्त्व) अव्याबाध, अतीन्द्रिय,

---

१. 'शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की संस्कृत टीका, पृष्ठ ५५)

अनुपम, पुण्य-पापरहित, पुनरागमनरहित, नित्य, अचल, और निरालम्ब है।

(श्रीनियमसार, गाथा १७७, १७८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३५४ से ३५६)

-'णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिण-भणिउ एहउ जाणि णिभंतु।। ९।।'

अर्थ- जो निर्मल, निष्कल, शुद्ध, जिन, विष्णु, बुद्ध, शिव, और शान्त है; उसे जिनभगवान ने परमात्मा कहा है। इसमें कुछ भी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए।

(योगसार, दोहा ९ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६१)

प्रश्न २१- परमात्मा के कितने भेद हैं?

उत्तर- परमात्मा के दो भेद हैं- (१) सकलपरमात्मा, और (२) निकलपरमात्मा।

-'सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी;'

अन्वयार्थ- सकल और निकल के भेद से परमात्मा दो प्रकार के हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ५ की तीसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६०)

-'परमात्मा के दो भेद हैं- पहला सकलपरमात्मा, दूसरा निष्कलपरमात्मा।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा २४ का भावार्थ, पृष्ठ २९)

प्रश्न २२- सकलपरमात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर- 'स' अर्थात् सहित और 'कल' अर्थात् शरीर। चार घातियाँ कर्मों का क्षय करके अनन्तचतुष्टय के धारी, हितोपदेशक, शरीरसहित अर्हन्त भगवान को सकलपरमात्मा कहते हैं।

-'कल; अर्थात्, शरीरसहित तो अरहन्त भगवान हैं, वे साकार हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा २४ का भावार्थ, पृष्ठ २९)

-' जो घातिया कर्मनिका नाश करि अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त सुखरूप स्वाधीन, अठारह दोषनिकरि रहित, इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्राकरि वंद्यमान, अनेक अतिशयांकरिसहित, सकल जीवनि का उपकारक, दिव्यध्वनिकरिसहित, देवाधिदेव परम औदारिक देह में तिष्ठता अरहन्तदेव हैं ते सकल परमात्मा है। "कल" नाम शरीर का, सो जो देहसहित आयु का अन्त तांई परमोपदेश देता ऐसा अरहन्त है सो सकलपरमात्मा है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, पञ्चम अधिकार, पृष्ठ ३१३)

-'सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी;
श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी।। ५।।'

अन्वयार्थ- उनमें चार घातिकर्मों को नाश करनेवाले, लोक तथा अलोक को जानने-देखनेवाले अरहन्त परमेष्ठी शरीरसहित परमात्मा हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ५ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६०-६१)

-'स-सरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणियसयलत्था।'

अन्वयार्थ- केवलज्ञान से जान लिये हैं सकल पदार्थ जिन्होंने, ऐसे शरीरसहित अरहन्त परमात्मा हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९८ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९१)

-'अरिहन्त परमात्मा के चार अघातिकर्म अभी शेष हैं। उनका प्रतिक्षण क्षय होता जाता है। बाह्य में समवशरणादि दिव्य वैभव होता है। वे परमहितोपदेशक हैं। अभी शरीर के संयोगसहित होने से वे सकलपरमात्मा हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मभावना-गुजराती, पृष्ठ ३५)

-'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ ५॥'

अर्थ- धर्म का मूल भगवान आप्त हैं ताके तीन गुण हैं- निर्दोषपणा, सर्वज्ञपणा, परमहितोपदेशकपणा।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ५ व अर्थ, पृष्ठ ३)

प्रश्न २३- निकलपरमात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर- 'नि' अर्थात् रहित और 'कल' अर्थात् शरीर। समस्त कर्मों का क्षय करके सादिअनन्त अपरिमित अतीन्द्रिय सुख के भोक्ता, लोक के अग्रभाग में स्थित, औदारिकादि शरीररहित, ज्ञानशरीरी सिद्ध भगवान ही निकलपरमात्मा हैं।

-'णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता॥ १४॥'

गाथार्थ- सिद्धभगवान कर्मों से रहित हैं, आठ गुणों के धारक हैं, **अन्तिम शरीर से कुछ न्यून**[1] (कम) आकारवाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं, और उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ व गाथार्थ, पृष्ठ ४९)

-'णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता॥ १९८॥'

अन्वयार्थ- सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति जिनकों हो गयी है तथा ज्ञान ही है शरीर जिनका, ऐसे शरीररहित सिद्ध परमात्मा हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९८ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९१)

---

१. तेरहवें गुणस्थान के अन्तभाग में नासिकादि छिद्र पुर जाते हैं और एक चैतन्यघन बिम्ब हो जाता है; इसलिये सिद्धों का आकार चरम (अन्तिम) देह से कुछ न्यून (कम) होता है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १४ का भावार्थ, पृष्ठ ४५)

–'केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख-सहाउ।
केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ।। २४।।'

अर्थ- जो केवलज्ञान केवलदर्शनमयी हैं; अर्थात्, जिसके परवस्तु का आश्रय नहीं। आप ही सब बातों में परिपूर्ण ऐसे ज्ञान-दर्शनवाला है, जिसका केवल सुख स्वभाव है, और जो अनन्त वीर्य वाला है, वही उत्कृष्ट अरहन्त परमेष्ठी से भी अधिक स्वभाववाला सिद्धरूप शुद्धात्मा है।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा २४ व अर्थ, पृष्ठ २९)

–'सिद्ध परमात्मा आठों कर्मों से रहित, लोक के अग्रभाग में अनन्त आनन्द के अनुभवसहित कृतकृत्यपने सादिअनन्तकाल विराजमान हैं, शरीरादि का संयोग छूट गया है; इसलिये उन्हें निकलपरमात्मा कहते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मभावना-गुजराती, पृष्ठ ३५)

–'अर जो अष्टकर्मरहित होय सिद्ध परमेष्ठी भये, तिनके "कल" जो देह सो नष्ट हो गया यातै भगवान निकलपरमात्मा हैं।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, पञ्चम अधिकार, पृष्ठ ३१३)

–'ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्ममल-वर्जित सिद्ध महन्ता;
ते हैं निकल अमल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता।'

अन्वयार्थ- ज्ञानमात्र जिनका शरीर है, ऐसे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म, तथा औदारिक शरीरादि नोकर्म- ऐसे तीन प्रकार के कर्मरूपी मल से रहित, निर्मल, और महान सिद्ध परमेष्ठी निकलपरमात्मा हैं। वे अपरिमित सुख भोगते हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ६ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६२)

प्रश्न २४- सकल और निकल परमात्मा में क्या समानता है?

उत्तर- केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय; अर्थात्, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्य की दोनों में पूर्णता है।

–'दोनों सर्वज्ञ होने से लोक और अलोकसहित सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में युगपत जानने-देखनेवाले सबके ज्ञाता-दृष्टा हैं।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ५ का भावार्थ, पृष्ठ ६२)

–'चार घातियाकर्मों के क्षय से केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय तो दोनों में समान हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मभावना-गुजराती, पृष्ठ ३५)

प्रश्न २५- परमात्मा के कितने नाम हैं?

उत्तर- निर्मल, केवल, शुद्ध, अर्हन्त, सिद्ध, विष्णु, ब्रह्म, शिव, जिन, ईश्वर, सुगत, अव्यय, परमेष्ठी, प्रभु इत्यादि एक हजार आठ नामों से परमात्मा को जाना जाता है।

-'विष्णु, परमब्रह्म, ईश्वर, सुगत, शिव, जिन इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार और आठ नामों से वाच्य परमात्मा जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५५-५६)

-'निर्मल: केवल: शुद्धो विविक्त: प्रभुरव्यय:।
परमेष्ठि परात्मेति परमात्मेश्वरो जिन:।। ६।।'

अर्थ- निर्मल, केवल, शुद्ध, विवक्त, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परमात्मा, ईश्वर, और जिन इत्यादि नाम परमात्मा के वाचक हैं।

(श्रीसमाधिशतक, श्लोक ६ व अर्थ, आत्मभावना-गुजराती, पृष्ठ ४१)

प्रश्न २६- बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा में कौन हेय और कौन उपादेय है?

उत्तर- यहाँ बहिरात्मा हेय है, उपादेयभूत अनन्तसुख का साधक होने से अन्तरात्मा **उपादेय**[१] है, और परमात्मा तो साक्षात् **उपादेय**[१] है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५७)

-'इन तीन प्रकार के आत्माओं में से बहिरात्मा तो त्याज्य ही है, आदर योग्य नहीं है। इसकी अपेक्षा यद्यपि अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि वह उपादेय है, तो भी सब तरह से उपादेय जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह (अन्तरात्मा) हेय ही है। शुद्ध परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है- ऐसा जानना।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा १३ का भावार्थ, पृष्ठ २१)

प्रश्न २७- बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा का स्वरूप जानकर जीव को क्या करना चाहिए?

उत्तर- पर्याय में अनादि से चले आ रहे बहिरात्मपने को त्याग कर, अन्तरात्मा होकर, परमात्मपद प्राप्त करना चाहिए।

-'ति-पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर जायहि अंतर-साहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु।। ६।।'

अर्थ- परमात्मा, अन्तरात्मा, और बहिरात्मा इस तरह आत्मा के तीन प्रकार समझकर, हे जीव! अन्तरात्मासहित होकर परमात्मा का ध्यानकर और भ्रान्तिरहित होकर बहिरात्मा को त्याग। तथा,

-'देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु ण होहि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहि।। ११।।'

---

१. **उपादेय**- यह प्रगट करने योग्य रूपसे उपादेय है। वह (अन्तरात्मा और परमात्मा) पर्याय होने से आश्रय करने योग्य नहीं है। आश्रय करने योग्य तो सदा निज त्रिकाली, ध्रुव, शुद्धआत्मा ही है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५७ की पादटिप्पणी)

अर्थ- देह आदि जो पदार्थ पर कहे गये हैं, वे पदार्थ आत्मा नहीं होते। यह जानकर, हे जीव! तू आत्मा को आत्मा पहचान।

(योगसार, दोहा ६ व ११ तथा अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६०-३६१)

-'बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै;
परमातमको ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै।। ६।।'

अन्वयार्थ- इन तीनों में बहिरात्मपने को छोड़ने योग्य जानकर और उसे छोड़कर अन्तरात्मा होना चाहिए, और सदा निज परमात्मपद का ध्यान करना चाहिए जिसके द्वारा अनन्त आनन्द प्राप्त किया जाता है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ६ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६२-६३)

प्रश्न २८- बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा के स्वरूप को जानने का लाभ क्या है?

उत्तर- आत्मा के सही स्वरूप को जानने का फल पर्याय में अनादि से चले आ रहे बहिरात्मपने की समाप्ति, अन्तरात्मापने की प्राप्ति, और क्रमशः मोक्ष अर्थात् परमात्मपने की प्राप्ति है।

-'आत्मना आत्मानां जानतां किं न इह फलं भवति।
केवलज्ञानं अपि परिणमति शाश्वतसुखं लभ्यते।। ६२।।'

अर्थ- आत्मा को आत्मा से जानने में यहाँ कौनसा फल नहीं मिलता? और तो क्या इससे केवलज्ञान भी हो जाता है और जीव को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

(योगसार, दोहा ६२ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३७३)

प्रश्न २९- जीव के कितने प्रकार से भेद किये जा सकते हैं?

उत्तर- परमागम श्रीपञ्चास्तिकायसग्रह की गाथा ७१-७२ में जीव के दस प्रकार से भेद किये गये हैं। यथा-

-'एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो होदि।
चदुचंकमणो भणिदो पंचग्गुणप्पधाणो य।। ७१।।
छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभंगसब्भावो।
अट्ठासओ णवट्ठो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो।। ७२।।'

टीका- वह जीव महात्मा- (१) वास्तव में नित्यचैतन्य-उपयोगी होने से 'एकही' है; (२) ज्ञान और दर्शन ऐसे भेदों के कारण 'दो भेदवाला' है; (३) कर्मफलचेतना, कार्यचेतना, और ज्ञानचेतना ऐसे भेदों द्वारा अथवा ध्रौव्य, उत्पाद, और विनाश ऐसे भेदों द्वारा लक्षित होने से 'त्रिलक्षण' (तीन लक्षणवाला) है; (४) चार गतियों में भ्रमण करता है; इसलिये 'चतुर्विध भ्रमणवाला' है; (५) पारिणामिक, औदयिक इत्यादि पाँच मुख्य गुणों द्वारा प्रधानता होने से 'पाँच मुख्य गुणों से प्रधानता-

वाला' है; (६) चार दिशाओं में ऊपर और नीचे इस प्रकार षड्विध भवान्तरगमनरूप अपक्रम से युक्त होने के कारण (अर्थात् अन्य भव में जाते हुए उपरोक्त छह दिशाओं में गमन होता है, इसलिये) 'छह अपक्रमसहित' है; (७) अस्ति, नास्ति आदि सात भङ्गों द्वारा जिसका सद्भाव है, ऐसा होने से 'सात भङ्गपूर्वक सद्भाववान' है; (८) (ज्ञानावरणीयादि) आठ कर्मों के अथवा (सम्यक्त्वादि) आठ गुणों के आश्रयभूत होने से 'आठ के आश्रयरूप' है; (९) नव पदार्थरूप से वर्तता है; इसलिये 'नव-अर्थरूप' है; (१०) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारणवनस्पति, प्रत्येकवनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियरूप दस स्थानों में प्राप्त होने से 'दसस्थानगत' है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७१-७२ व टीका, पृष्ठ ११६-११७)

कैसा ज्ञानधारी रे!

आपा नहीं जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी रे।। टेक।।
देहाश्रित करि क्रिया आपको, मानत शिवमगचारी रे।। १ ।।
निज-निवेद बिन घोर परीषह, विफल कही जिनसारी रे।। २ ।।
शिव चाहे तो द्वि विधिकर्म तैं, कर निजपरनति न्यारी रे।। ३ ।।
'दौलत' जिन निजभाव पिछान्यौ, तिन भवविपत विढारी रे।। ४ ।।

-श्री दौलतरामजी

मैं भगवान ही हूँ!

जैसा अरहन्त भगवान का द्रव्य-गुण-पर्याय है, वैसा मेरा द्रव्य-गुण है। मुझे पर्याय प्रगट नहीं हुई है। मेरे में शक्तिरूप है; भगवान में प्रगट हुई है। इस प्रकार अन्तर में जाकर अनन्तशक्ति से भरपूर अनुपम आत्मतत्त्व की ओर दृष्टि करें, तो चैतन्यतत्त्व प्रगट होता है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्नोत्तर संख्या १३२, पृष्ठ ९४)

संसारी जीवों के भेद

प्रश्न १- संसारी जीवों के कितने भेद हैं?

उत्तर- संसारी जीवों के कई प्रकार से दो भेद किये जा सकते हैं-

(क) (१) त्रस, और (२) स्थावर;

(ख) (१) सैनी (संज्ञी; मनसहित), और (२) असैनी (असंज्ञी; मनरहित); और

(ग) (१) भव्य, और (२) अभव्य।

-'**संसारिणस्त्रसस्थावराः॥ १२॥**'

अर्थ- संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र १२ व अर्थ, पृष्ठ २०९)

-'**समनस्काऽमनस्काः॥ ११॥**'

अर्थ- संसारी जीव मनसहित-सैनी, और मनरहित-असैनी- यों दो प्रकार के हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ११ व अर्थ, पृष्ठ २०७)

-'**समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।**'

गाथार्थ- पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के जानना। शेष सब जीव (एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक) मनरहित असंज्ञी हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १२ का पूर्वार्द्ध व गाथार्थ, पृष्ठ ३५-३६)

-'जिस जीव का कर्मबन्ध अनादिसान्त होता है या ऐसी योग्यतावाला होता है, वह भव्य कहलाता है। जिसका कर्मबन्ध अनादिअनन्त होता है, वह अभव्य कहलाता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६४ से ९६८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३०६)

(१) त्रस और स्थावर

प्रश्न २- त्रसजीव किसे कहते हैं?

उत्तर- दो से पाँच इन्द्रियों तक के जीवों को त्रसजीव कहते हैं। विपाकी त्रस नामकर्म के उदय से जीव त्रस कहलाता है। इस प्रकार दो इन्द्रिय से अयोग केवली गुणस्थान (अरहन्त भगवान) तक के जीव त्रसजीव हैं।

-'**द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः॥ १४॥**' -**अर्थ**- दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय; अर्थात्, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पाँच इन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र १४ व अर्थ, पृष्ठ २१०-२११)

-**'विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी।।'**

गाथार्थ- शङ्खादि दो, तीन, चार, तथा पाँच इन्द्रियवाले त्रसजीव हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ११ का पूर्वार्द्ध व गाथार्थ, पृष्ठ ३४)

-**'तहां जो भयादिक तैं** उद्वेगरूप होई भागना आदि क्रिया संयुक्त हो है, सो त्रस कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२२)

प्रश्न ३- सिद्धभगवान को त्रसजीवों में क्यों नहीं लिया?

उत्तर- त्रस व स्थावर भेद संसारी जीवों के हैं। मुक्तजीव त्रस या स्थावर नहीं होते। (सिद्ध भगवान शरीर व इन्द्रियोंरहित सिद्धलोक में विराजते हैं।)

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १२ की टीका, पृष्ठ २०९)

प्रश्न ४- स्थावर जीव किसे कहते हैं?

उत्तर- एकेन्द्रिय (एकमात्र स्पर्शन इन्द्रियवाले) जीवों को स्थावर कहते हैं। विपाकी स्थावर नामकर्म के उदय से जीव स्थावर कहलाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १२ की टीका, पृष्ठ २०९)

-**'पुढविजलतेयवायु वण्णफ्फदी विविहथावरेइंदी।'**

गाथार्थ- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति आदि विविध प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं।

टीका- स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर; एकेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय से स्पर्शेन्द्रियसहित एकेन्द्रिय होते हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ११ का पूर्वार्द्ध, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ३४-३५)

-'बहुरि जो भयादिक आए स्थिति क्रिया युक्त होइ, सो स्थावर कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२२)

प्रश्न ५- 'जो हलन-चलन करे सो त्रस' और 'जो स्थिर रहे सो स्थावर'- इस परिभाषा में क्या दोष है?

उत्तर- यदि हलन-चलन की अपेक्षा से त्रसत्व और स्थिरता की अपेक्षा से स्थावरत्व हो, तो अनेक दोष आते हैं- (१) गर्भ और अण्डे में रहनेवाले तथा मूर्च्छित और सोये हुए जीव हलन-चलनरहित होने से त्रस नहीं कहलायेंगे, और (२) वायु, अग्नि, जल एक स्थान से दूसरे स्थान जाते हुए दिखायी देते हैं; भूकम्प इत्यादि के समय पृथ्वी काँपती है और वृक्ष भी हिलते हैं। इस प्रकार उनके स्थावरत्व नहीं रहेगा; अर्थात्, कोई जीव स्थावर नहीं रहेगा।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १२ की टीका, पृष्ठ २०९)

प्रश्न ६- त्रस अर्थात् दो से पाँच इन्द्रिय जीवों के कौन-कौनसी इन्द्रिय होती हैं?

उत्तर- 'स्पर्शन और रसना- इन दो इन्द्रियोंवाले शङ्ख, छीप (सीपी), कृमि आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण- ये तीन इन्द्रियोंवाले कुन्थु, पिपीलिका (कीड़ी, चींटी), जूँ, खटमल आदि तीन इन्द्रियजीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु- ये चार इन्द्रियवाले डांस, मच्छर, मक्खी, भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय (कर्ण)- ये पाँच इन्द्रियोंवाले मनुष्यादि पञ्चेन्द्रिय जीव हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ११ की टीका, पृष्ठ ३५)

-'बिहि तिहि चदुहिं पंचहिं, सहिया जे इंदिएहिं लोयह्मि।
ते तसकाया जीवा, णेया वीरोवदेसेण।। १९८।।'

टीका- दोय इन्द्रि स्पर्शन-रसन, तिनि करि संयुक्त द्वीन्द्रिय; बहुरि तीन इन्द्रिय स्पर्शन-रसन-घ्राण, तिनि करि संयुक्त त्रीन्द्रिय; बहुरि च्यारि इन्द्रिय स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु, इनि करि संयुक्त चतुरिन्द्रिय; बहुरि पाँच इन्द्रिय स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र, इनि करि संयुक्त पञ्चेन्द्रिय, ए कहे जे जीव, ते त्रसकाय जानने। ऐसैं श्री वर्धमान तीर्थङ्कर परमदेव के उपदेश तैं परम्पराय क्रम करि चल्या आया सम्प्रदाय करि शास्त्र का अर्थ धरि करि हमहूँ कहे हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३७-३३८)

प्रश्न ७- स्थावरजीवों के कितने भेद हैं?

उत्तर- सभी एकेन्द्रिय जीव स्थावरजीव हैं। उनके पाँच प्रकार हैं- (१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) अग्निकाय, (४) वायुकाय, और (५) वनस्पतिकाय।

-'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।। १३।।'

अर्थ- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, और वनस्पतिकायिक -ये पाँच प्रकार के स्थावरजीव हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र १३ व अर्थ, पृष्ठ २०९)

-'पुढविजलतेयवाऊ वणफ्फदी विविहथावरेइंदी।'

टीका- (स्थावरजीव) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति- ऐसे (पाँच) प्रकार के होते हैं। आगम में कहे हुए अपने-अपने अनेक प्रकार के अवान्तर भेदसहित हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ११ का पूर्वार्द्ध व टीका, पृष्ठ ३४)

प्रश्न ८- पृथ्वीकाय आदि के कितने भेद हैं?

उत्तर- पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, और वायुकाय के तीन-तीन भेदों का कथन है; यथा-

पृथ्वीकाय- (१) जो जीव अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर पृथ्वी शरीर धारण करेगा, उस जीव

सारणी ६ : संसारी जीवों के भेद (त्रस और स्थावर)

संसारी जीव

- त्रस (बादर)
  - द्वीन्द्रिय
  - त्रीन्द्रिय
  - चारइन्द्रिय
  - पञ्चेन्द्रिय
- स्थावर (एकेन्द्रिय)
  - पृथ्वीकाय
  - जलकाय
  - अग्निकाय
  - वायुकाय
  - वनस्पतिकाय
    - साधारण
      - बादर
      - सूक्ष्म
    - प्रत्येक (बादर)
      - प्रतिष्ठित
      - अप्रतिष्ठित
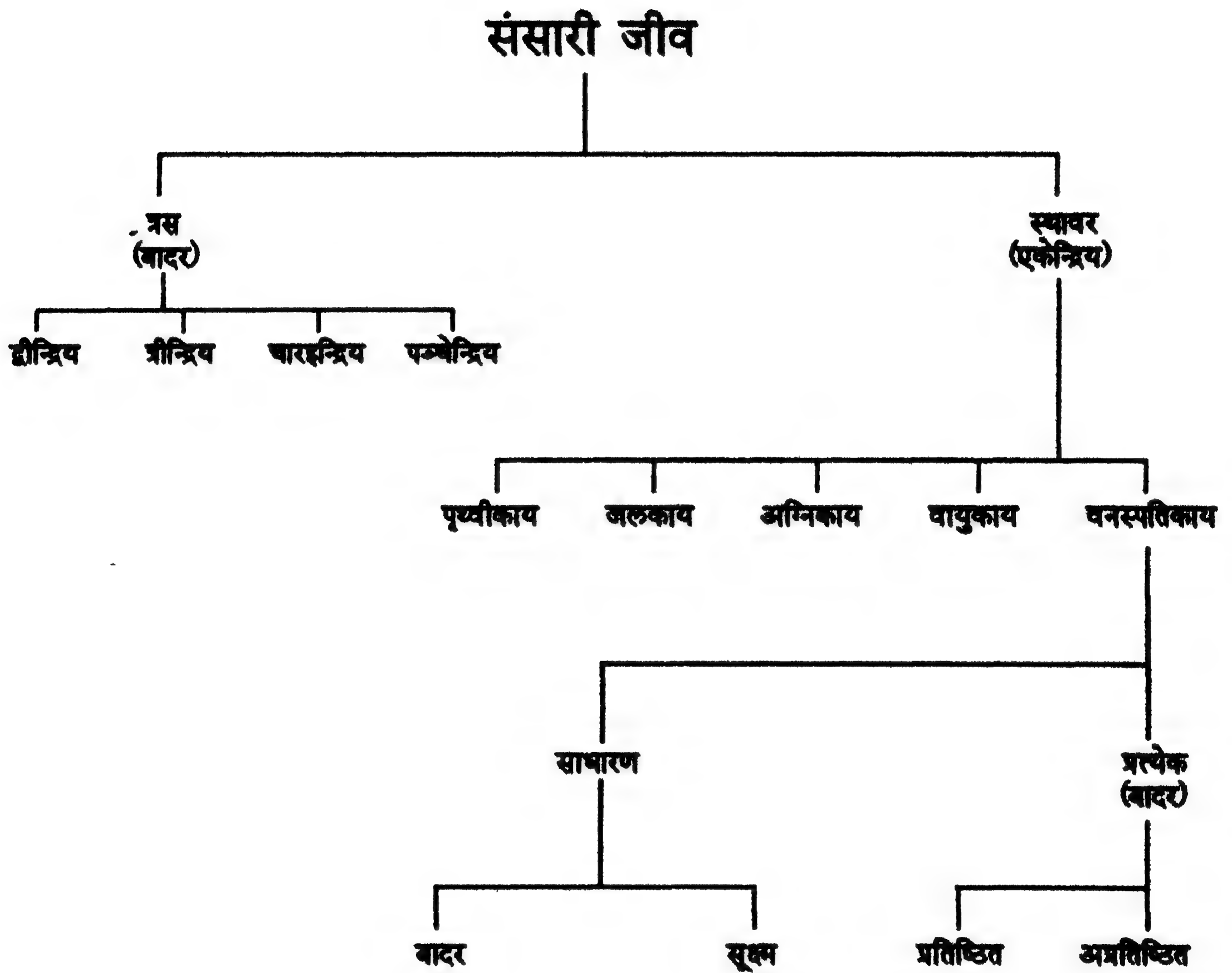
[शास्त्रों में बादर और सूक्ष्म भेद एकेन्द्रिय के भी कहे है, क्योंकि प्रत्येकवनस्पति को छोड़कर शेष सभी वनस्पति (एकेन्द्रिय) बादर और सूक्ष्म दोनों होती हैं। सभी त्रसजीव केवल बादर ही होते हैं।]

(शरीररहित जीव) को विग्रहगति के समय पृथ्वीजीव कहते हैं;

(२) पृथ्वीरूप शरीर को धारण करने के बाद जीव और पृथ्वीशरीर को एक साथ पृथ्वीकायिक कहते हैं; और

(३) पृथ्वीकायिक में से जीव निकल जाने के बाद (जीवरहित) पृथ्वीशरीर को पृथ्वीकाय कहते हैं।

इसी प्रकार जलकाय, अग्निकाय, और वायुकाय के भी तीन-तीन भेद किये जा सकते हैं।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १३ की टीका, पृष्ठ २१०; एवं श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२३)

[**विशेष- (१)** श्रीमोक्षशास्त्रसहित कुछ शास्त्रों में इन तीन भेदोंसहित चार भेदों का कथन है। चौथे भेद में सामान्यरूप से पृथ्वी को लिया है। **-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १३ की टीका, पृष्ठ २१०;**

-'बहुरि अन्य ग्रंथिनि विषैं च्यारि भेद कहे हैं। तहाँ ए तीनों भेद जिस विषैं गर्भित होंइ, सो सामान्यरूप पृथिवी अैसा एक भेद जानना।' **-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२३;**

(२) वनस्पतिकाय को इन भेदों में शामिल नहीं किया गया है।]

प्रश्न ९- पृथ्वीकायादि स्थावरजीवों के शरीर का आकार कैसा होता है?

उत्तर- पृथ्वीकायिक का शरीर मसूर के दाने के समान गोल; जलकायिक का पानी की बूँद के समान गोल; अग्निकायिक का सुइयों के समूह के समान लम्बा; और वायुकायिक का शरीर ध्वजा के समान लम्बा, चौकोर होता है। वनस्पतिकायिक जीवों के शरीर भिन्न-भिन्न आकार के होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायुकायिक के शरीरों का माप (अवगाहना) बहुत सूक्ष्म होने से वे नेत्रों से दिखायी नहीं देते। पृथ्वी, जल आदि जो नेत्रों से दिखायी देता है, सो इन जीवों के शरीरों का समूह है।

-'मसूरंबुबिंदुसूई-कलावधयसण्णिहो हवे देहो।
पुढवीआदिचउण्हं, तरुतसकाया अणेयविहा।। २०१।।'

टीका- पृथ्वीकायिक ज़ीवनि का शरीर मसूर अन्न समान गोल आकार धरैं हैं। बहुरि अपकायिक जीवनि का शरीर जल की बूँद के समान गोल आकार धरैं हैं। बहुरि अग्निकायिक जीवनि का शरीर सूइनि का समूह समान लम्बा अर ऊर्ध्व विषैं चौड़ा बहुमुखरूप आकार धरैं हैं। बहुरिं वातकायिक जीवनि का शरीर ध्वजा समान लम्बा, चौकौर आकार धरैं है। तथापि इनिकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवैं भागमात्र है; तातैं जुदे-जुदे दीसैं नाहीं। जो पृथ्वी आदि इन्द्रियगोचर हैं, सो घने शरीरनि का समुदाय है, अैसा जानना। बहुरि तरु, जे वनस्पतिकायिक अर द्वीन्द्रियादिक

त्रसकायिक, इनके शरीर अनेक प्रकार आकार धरैं हैं, नियम नाहीं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २०१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३९-३४०)

प्रश्न १०- वनस्पतिकायिक के कितने भेद हैं?

उत्तर- वनस्पतिकायिक के दो भेद हैं- (१) साधारण, और (२) प्रत्येक।

-**'साहारणपत्तेया, वणप्फदी पंचमा दुविहा।'**

अन्वयार्थ- पाँचवीं वनस्पति साधारण और प्रत्येक के भेद से दो प्रकार की है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२४ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६१)

-'ते (वनस्पतिकाय) दोय प्रकार- एक प्रत्येक शरीर, एक सामान्य कहिए साधारण शरीर।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२६)

प्रश्न ११- साधारण वनस्पतिकायिक किसे कहते हैं?

उत्तर- जिन जीवों के आहार, आयु, श्वासोच्छ्वास, और काय- ये साधारण (समान अथवा एक) हों, उनको साधारण कहते हैं; जैसे, गिलोय, अमरबेल आदि।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्रीबरैयाजी, प्रश्न संख्या ३९२, पृष्ठ ९५)

-'बहुत जीवनि का एक ही शरीर साधारण सामानरूप होइ, सो साधारण शरीर कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८५ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२६)

-**'साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।'**

टीका- साधारण नामा नामकर्म की प्रकृति के उदय तैं निगोद शरीर के धारक साधारण जीव हो हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९१ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३०)

-**'साहारणाणि जेसिं, आहारुस्सासकायआऊणि।**
ते साहारणजीवा, णंताणंतप्पमाणाणं।। १२६।।'

अन्वयार्थ- जिन अनन्तानन्त प्रमाण जीवों के आहार, उच्छ्वास, काय, आयु साधारण हैं; वे साधारण जीव हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६२)

प्रश्न १२- साधारण वनस्पतिकायिक कितने प्रकार की होती है?

उत्तर- साधारण वनस्पतिकायिक के दो प्रकार होते हैं- (१) बादर, और (२) सूक्ष्म।

-'बहुरि तेई सामान्य कहिये साधारण जीव हैं। बहुरि ते बादर अर सूक्ष्म ऐसे भेद तैं दोय प्रकार पूर्वोक्त बादर सूक्ष्मपना लक्षण के धारक जानने।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३०)

-'साहारणा वि दुविहा, अणाइकाला य साइकाला य।
ते वि य बादरसुहमा, सेसा पुण बायरा सव्वे।। १२५।।'

अन्वयार्थ- साधारण जीव दो प्रकार के हैं- (१) अनादिकाला (नित्यनिगोद), और (२) सादिकाला (इतरनिगोद)। वे दोनों ही (नित्यनिगोद व इतरनिगोद) बादर भी हैं, और सूक्ष्म भी हैं और शेष सब (प्रत्येकवनस्पति व त्रस) बादर ही हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६२)

[**विशेष- (१)** शास्त्रों में अनेक स्थानों पर 'बादर' और 'सूक्ष्म'- एकेन्द्रिय के भेद कहे है। यह उचित ही है, क्योंकि वनस्पतिकाय के भेद प्रत्येक वनस्पति को छोड़कर शेष सभी एकेन्द्रिय जीव (पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और साधारणवनस्पति) बादर व सूक्ष्म दोनों हैं। एकेन्द्रिय जीवों में एकमात्र प्रत्येक वनस्पति और सभी त्रसजीव बादर ही होते हैं।

-'एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं।' तथा,

-' **"बादरसुहमेइंदी" -अर्थ-** बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रियजीव हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १२ का गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ३६)

-'पुढवीजलग्गिवाऊ, चत्तारि वि होंति बायरा सुहमा।
साहारणपत्तेया, वणप्फदी पंचमा दुविहा।। १२४।।'

अन्वयार्थ- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार तो बादर भी होते हैं तथा सूक्ष्म भी होते हैं। पाँचवीं वनस्पति साधारण और प्रत्येक के भेद से दो प्रकार की है। तथा,

-'साहारणा वि दुविहा, अणाइकाला य साइकाला य।
ते वि य बादरसुहमा, सेसा पुण बायरा सव्वे।। १२५।।'

अन्वयार्थ- साधारण जीव दो प्रकार के हैं- (१) अनादिकाला, और (२) सादिकाला। वे दोनों ही बादर भी हैं और सूक्ष्म भी हैं, और शेष सब (प्रत्येक वनस्पति व त्रस) बादर ही हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२४-१२५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६१ व ६२)

(२) श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२५ में साधारण वनस्पति के प्रकारों में 'नित्यनिगोद' व 'इतरनिगोद' का उल्लेख है। वहाँ नित्यनिगोद व इतरनिगोद को बादर व सूक्ष्म बताया है। 'साधारण' शब्द का अभिप्राय ही समान शरीर, आयु, श्वासोच्छ्वास आदि के धारक निगोदिया जीवों से हैं। यहाँ मात्र विवक्षाभेद है, अभिप्राय समान ही है;

(३) निगोद व उसके भेदों का स्पष्टीकरण इसी अध्याय के आगामी प्रश्नोत्तरों में किया गया है; और

(४) जिनागम में वनस्पतिकायादिक व उनके भेदों आदि का उल्लेख करते समय कहीं

'जीव' शब्द का प्रयोग किया गया है, तो कहीं 'शरीर' शब्द का। प्रत्येक स्थान पर अभिप्राय वनस्पतिकायादिक (शरीर) के धारक जीव से है। इसी प्रकार 'बादर' और 'सूक्ष्म' भी शरीर ही होता है। शास्त्रों में जहाँ 'बादरजीव' अथवा 'सूक्ष्मजीव' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ भी अभिप्राय 'बादर' अथवा 'सूक्ष्म' शरीर के धारक जीव ही समझना क्योंकि जीव 'बादर अथवा सूक्ष्म' होते नहीं। जीव तो त्रिकाल असंख्यात प्रदेशी ही है। -'जातैं बादर, सूक्ष्म प्रकृति जीवविपाकी हैं। तिनके उदय करि जीव कौं बादर-सूक्ष्म कहिए। बहुरि उनका शरीर भी बादर-सूक्ष्म ही हो है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२४)

- **'पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।**
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।। ६७।।'

गाथार्थ- जो पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म, और बादर आदि जितनी देह की जीवसंज्ञा कही हैं, वे सब सूत्र में व्यवहार से कही हैं। **-श्रीसमयसार, गाथा ६७ व गाथार्थ, पृष्ठ ११३]**

प्रश्न १३- बादर किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पृथ्वी आदिक से रुक जाये और दूसरों को रोके, उसे बादर कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३८८, पृष्ठ ९४)

-'जे पृथ्वीकायिकादिक जीव, ते बादर नामा नामकर्म की प्रकृति के उदय तैं बादर शरीर धरैं, बादर हो हैं।............तहाँ इन्द्रिय विषय का संयोग करि निपज्या सुख-दुःख की ज्यों अन्य पदार्थ करि आपका घात होइ, रुकै व आप करि और पदार्थ का घात होइ, रुकि जाय, अैसा घात शरीर ताको स्थूल व बादर-शरीर कहिए।............बहुरि तिनि शरीरनि के धारक जे जीव, ते घात करि युक्त है शरीर जिनिका ते घातदेह तौ बादर जानने।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२४)

-'बादर एकेन्द्रिय जीव दूसरों को बाधा देते हैं और स्वयं बाधा को प्राप्त होते हैं। वे किसी पदार्थ के आधार से रहते हैं।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १२ का भावार्थ, पृष्ठ ३४)

-'आधारसहित जीव स्थूल (बादर) होते हैं।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६१)

-'जिन (जो) जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, और पवन से रुक जाते हैं; उनको बादर जानो।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२७ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६३)

प्रश्न १४- सूक्ष्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पृथ्वी आदिक से स्वयं न रुके और न दूसरे पदार्थों को रोके, उसे सूक्ष्म कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३८९, पृष्ठ ९४)

–'बहुरि सूक्ष्म नामा नामकर्म की प्रकृति के उदय तैं सूक्ष्म होइ।.............बहुरि जो किसी कौं घातैं नाहीं व आपका घात अन्य करि जाकैं न होई, असा अघात–शरीर, सो सूक्ष्म–शरीर कहिए।........बहुरि अघातरूप है देह जिनका, ते अघातदेह सूक्ष्म जानने।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२४)

–'सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समस्त लोकाकाश में फैले हुए हैं। वे किसी को बाधा नहीं पहुँचाते और स्वयं किसी से बाधा को प्राप्त नहीं होते।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १२ का भावार्थ, पृष्ठ ३४)

–'लोकाकाश में सब जगह अन्य आधाररहित हैं, वे सूक्ष्म जीव हैं।' तथा,

–'जिन जीवों का पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन इनसे रुकना नहीं होता है; उनको सूक्ष्म जीव जानो।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२३ व १२७ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६१ व ६३)

प्रश्न १५– 'बादर' और 'सूक्ष्म' कौन–कौन जीव हैं?

उत्तर– एकेन्द्रिय जीवों में पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, और वायुकाय ये बादर भी होते हैं और सूक्ष्म भी। साधारण वनस्पति अर्थात् नित्यनिगोद और इतरनिगोद के जीव भी बादर और सूक्ष्म दोनों ही होते हैं। प्रत्येक वनस्पति एकेन्द्रिय जीवसहित सभी त्रसजीव (दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रिय जीव) बादर ही होते हैं।

(आधार–श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२४ व १२५ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६१–६२)

प्रश्न १६– प्रत्येक वनस्पतिकायिक किसे कहते हैं?

उत्तर– एक शरीर का जो एक ही स्वामी हो, उसको प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३९१, पृष्ठ ९४–९५)

–'तहाँ एक प्रति नियमरूप होइ, एक जीव प्रति शरीर होइ, सो प्रत्येक शरीर है। प्रत्येक है शरीर जिनिका, ते प्रत्येक शरीर जीव जानने।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२६)

–'जिसमें एक शरीर का स्वामी एक जीव होता है; ऐसे वृक्ष, फल आदि को प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।'

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण–संग्रह, पृष्ठ २५)

प्रश्न १७– प्रत्येक वनस्पतिकायिक के कितने भेद हैं?

उत्तर– प्रत्येक वनस्पतिकायिक के दो भेद हैं– (१) प्रतिष्ठित, और (२) अप्रतिष्ठित।

–'तहाँ प्रत्येक शरीर के दोय भेद– एक प्रतिष्ठित, एक अप्रतिष्ठित।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८५ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२६)

-'**पत्तेया वि य दुविहा, णिगोदसहिदा तहेव रहिया य।**'

अन्वयार्थ- प्रत्येक वनस्पति भी दो प्रकार की हैं- (१) निगोदसहित, और (२) निगोदरहित।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२८ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६३)

प्रश्न १८- प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय अनेक साधारण (निगोद) वनस्पति शरीर हों, उसको सप्रतिष्ठित (प्रतिष्ठित) प्रत्येक कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३९४, पृष्ठ ९५)

-'जिस वनस्पति के आश्रित निगोद पायी जाती है, वह साधारण है। इसको सप्रतिष्ठित भी कहते हैं।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२८ का भावार्थ, पृष्ठ ६४)

-'ऐसैं प्रतिष्ठित कहिए साधारण शरीरनि करि आश्रित है, प्रत्येक शरीर जिनका ते प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२७)

प्रश्न १९- अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय कोई भी साधारणवनस्पति (निगोद) न हो, उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३९५, पृष्ठ ९५)

-'जिसके आश्रित निगोद नहीं पायी जाती है, वह प्रत्येक है। इसको अप्रतिष्ठित भी कहते हैं।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२८ का भावार्थ, पृष्ठ ६४)

-'बहुरि तिनकरि आश्रित नाहीं हैं, प्रत्येक शरीर जिनिका, ते अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३२७)

प्रश्न २०- त्रस और स्थावरजीव कहाँ-कहाँ रहते हैं?

उत्तर- 'स्थावर तो तीनों लोक में पाये जाते हैं और दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पञ्चेन्द्री तिर्यञ्च ये मध्यलोक में ही पाये जाते है, अधोलोक, उर्ध्वलोक में नहीं। उसमें से दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री जीव कर्मभूमि में ही पाये जाते हैं, भोगभूमि में नहीं। भोगभूमि में गर्भज पञ्चेन्द्री सैनी थलचर या नभचर ये दोनों जाति त्रिर्यञ्च हैं। मनुष्य मध्यलोक में ढाईद्वीप में पाये जाते हैं, अन्य जगह नहीं। देवलोक में स्वर्गवासी देव-देवी पाये जाते हैं, अन्य पञ्चेन्द्री नहीं। पाताललोक के ऊपर के भाग में

भवनवासीदेव तथा व्यन्तरदेव और नीचे के भाग में सात नरकों के नारकी पञ्चेन्द्री हैं, अन्य कोई नहीं और मध्यलोक में भवनवासी, व्यन्तरवासी तथा ज्योतिषदेव ये तीन जाति के देव और तिर्यञ्च पाये जाते हैं। इस प्रकार त्रसजीव किसी जगह हैं और किसी जगह नहीं हैं। इस तरह यह लोक जीवों से भरा हुआ है। सूक्ष्मस्थावर के बिना तो लोक का कोई भाग खाली नहीं है, सब जगह सूक्ष्मस्थावर भरे हुए हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १०७ का भावार्थ, पृष्ठ २२५)

–'**एइंदियेहिं भरिदो, पंचपयारेहिं सव्वदो लोओ।**
तसनाडीए वि तसा, ण बाहिरा होंति सव्वत्थ॥ १२२॥'

अन्वयार्थ- यह लोक पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति पञ्च प्रकार काय के धारक एकेन्द्रिय जीवों से सब जगह भरा हुआ है। त्रसजीव **त्रसनाड़ी**[1] में ही हैं, बाहर नहीं हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६१)

प्रश्न २१- निगोद किसे कहते हैं?

उत्तर- साधारण नामकर्म के उदय से एक शरीर के आश्रय से अनन्तानन्त जीव सामान्यरूप से जिसमें रहते हैं, मरते हैं, और पैदा होते हैं- उस अवस्थावाले जीवों को निगोद कहते हैं।

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २५)

–'साधारण नामा नामकर्म की प्रकृति के उदय तैं निगोद शरीर के धारक साधारण जीव हो हैं। **"नि"**-कहिये नियतज अनन्ते जीव, तिनिकौ **"गो"**-कहिये एक ही क्षेत्र कौं, **"द"**-कहिये देई, सो निगोद शरीर जानना। सो जिनकैं पाइए ते निगोदशरीरी हैं।' तथा,

–'अैसैं उपजना, मरना का समकालपना कौं भी साधारण जीवनि (निगोद) का लक्षण कहिए है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३० व ३३१)

[निगोदिया जीव भी (शरीर-अपेक्षा) बादर और सूक्ष्म होते हैं।]

प्रश्न २२- निगोद कितने प्रकार का है?

उत्तर- निगोद दो प्रकार का है- (१) नित्यनिगोद, और (२) इतरनिगोद।

–' **"णिच्चचदुग्गदिणिगोद"**-**अर्थ**- परमागम विषैं निगोद जीव दोय प्रकार कहैं हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९७ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३७)

---

१. **त्रसनाड़ी**- त्रसजीवों के रहने के स्थान को त्रसनाड़ी अथवा त्रसनाली कहते हैं।

–'तातैं जैसैं नाली होइ, तैसैं त्रस रहने का स्थान, सो त्रसनाली जाननी। त्रसनाली इस लोक के मध्यभाग विषैं चौदह राजू ऊँची, एक राजू चौड़ी-लम्बी सार्थक नाम धारक जाननी।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३८)

प्रश्न २३- नित्यनिगोद किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसने कभी भी निगोद के सिवाय दूसरी पर्याय नहीं पायी; अर्थात्, अब तक (अनादि से) उसी निगोद पर्याय में रहा हो, उसको नित्यनिगोद कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३९८, पृष्ठ ९६)

-'जहाँ के जीवों ने अनादिकाल से आज तक त्रसपर्याय प्राप्त नहीं की, ऐसी जीवराशि नित्यनिगोद कहलाती है। परन्तु भविष्य में वे जीव त्रसपर्याय प्राप्त कर सकते हैं।'

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २५)

-**'अत्थि अणंता जीवा, जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।'**

टीका- 'अनादि संसार विषैं निगोद पर्याय ही कौं भोगवते अनन्ते जीव नित्यनिगोद नाम धारक सदाकाल हैं। ते कैसे हैं? जिनि करि त्रस जे बेइन्द्रियादिक, तिनिका परिणाम जो पर्याय, सो कबहूँ न पाया।' तथा,

-'जे अनादि तैं निगोद पर्याय ही कौं धरैं हैं, ते नित्यनिगोद जीव हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९७ का पूर्वार्द्ध, टीका व भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३६-३३७)

सारणी ७ : निगोद के भेद

निगोद
- नित्यनिगोद
- इतरनिगोद
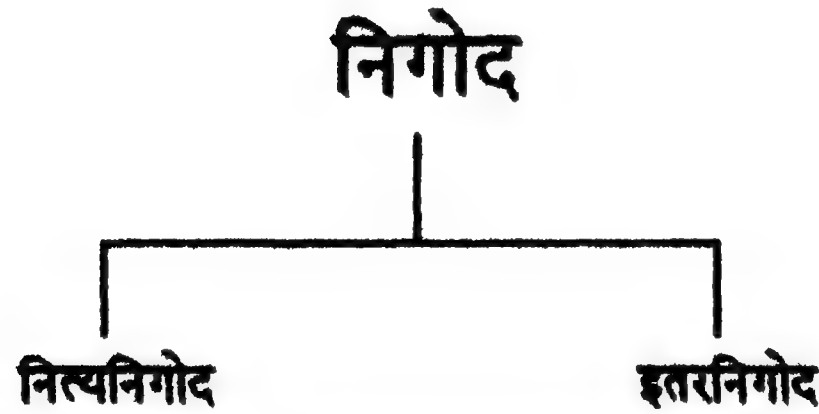
प्रश्न २४- इतरनिगोद किसे कहते हैं?

उत्तर- जो निगोद (नित्यनिगोद) से निकलकर दूसरी पर्याय पाकर फिर निगोद में उत्पन्न हो, उसको इतरनिगोद कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३९९, पृष्ठ ९६)

-'बहुरि बीचि अन्य पर्याय पाय, बहुरि निगोद पर्याय धरैं, ते इतरनिगोद जीव जानना। सो वे आदि अन्त लीये हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९७ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३७)

प्रश्न २५- जीव नित्यनिगोद को क्यों नहीं छोड़ता?

उत्तर- अत्यन्त कषायरूप अशुभलेश्या के परिणामों के कारण जीव निगोदवास (नित्यनिगोद)

नहीं छोड़ता है।

–'**भावकलंकसुपउरा, णिगोदवासं ण मुंचंति।।**'

टीका– बहुरि भाव जो निगोदपर्याय, तिहिनै कारणभूत जो कलंक कहिये कषायनि का उदय करि प्रगट भया अशुभ लेश्यारूप, तिहिं करि प्रचुरा कहिये अत्यन्त सम्बन्धरूप हैं। ऐसैं ए नित्यनिगोद जीव कदाचित् निगोदवास कौं न छोडै हैं। याहीतैं निगोदपर्याय कैं आदिअन्त रहितपना जानि, अनन्तानन्त जीवनि कैं नित्यनिगोदपना कह्या।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९७ का उत्तरार्द्ध व टीका, स०च०, पृष्ठ ३३६–३३७)

प्रश्न २६– कौन जीव नित्यनिगोद से निकलकर अन्य पर्यायों को प्राप्त करते हैं?

उत्तर– 'जिनकै भावकलङ्क थोरा हो है, ते जीव कदाचित् नित्यनिगोद तैं निकसि, चतुर्गति में आवैं हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९७ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३७)

प्रश्न २७– कितने जीव और कितने काल में नित्यनिगोद से निकलते हैं?

उत्तर– 'छह महीना अर आठ समय मैं छः सै आठ (६०८) जीव नित्यनिगोद में सौं निकसैं हैं, सो ही छह महीना आठ समय में छः सै आठ जीव संसार सौ निकसि करि मुक्ति पहुँचै हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९७ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३७)

प्रश्न २८– एक निगोद शरीर में कितने निगोदिया जीव (निगोदशरीर को प्राप्त जीव) होते हैं?

उत्तर– अनादिकाल से आज तक जितने सिद्ध हुए हैं, उससे अनन्तगुणा और कुल जीवराशि का असंख्यातवाँ भाग एक निगोदशरीर में निगोदिया जीव हैं।

–'**एगणिगोदसरीरे, जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।**
सिद्धेहिं अणंतगुणा, सव्वेण वितीदकालेण।। १९६।।'

टीका– एक निगोद शरीर विषैं वर्तमान निगोदजीव, ते द्रव्यप्रमाण, जो द्रव्य अपेक्षा संख्या, तातैं अनन्तानन्त हैं; सर्व जीवराशी को अनन्त का भाग दीजिए, तामै एक भाग प्रमाण सिद्ध हैं। सो अनादिकाल तैं जेते सिद्ध भए, (एक निगोदशरीर में निगोदजीव) तिनितैं अनन्ता गुणे हैं। बहुरि अवशेष बहुभाग प्रमाण संसारी हैं। तिनके असंख्यातवै भाग प्रमाण एक निगोद शरीर विषैं जीव विद्यमान हैं, ते अक्षयानन्त प्रमाण हैं। ऐसैं परमागम विषैं कहिए है।

बहुरि तैसै ही अतीकाल के समयनि तैं अनन्त गुणै हैं। इस करि काल अपेक्षा एक शरीर विषैं निगोदजीवनि की संख्या कही।

बहुरि ऐसैं ही क्षेत्र, भाव अपेक्षा तिनिकी संख्या आगम अनुसारि जोडिए। तहाँ क्षेत्र प्रमाण तै

सर्व आकाश के प्रदेशनि के अनन्तवैं भाग वा लोकाकाश के प्रदेशनि तैं अनन्त गुणैं जानने।

भाव प्रमाण तैं केवलज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदनि के अनन्तवैं भाग अर सर्वावधि ज्ञान गोचर जे भाव, तिनितैं अनन्त गुणे जानने। ऐसैं एक निगोद शरीर विषैं जीवनि का प्रमाण कह्या।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९६ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३४)

प्रश्न २९- किन जीवों के शरीर के आश्रय निगोद हैं और किन जीवों के शरीर के आश्रय निगोद नहीं हैं?

उत्तर- साधारण, सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिकसहित सभी त्रस (दो, तीन, चार, और पञ्चेन्द्रिय) जीवों के शरीर निगोदसहित हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, और वायुकाय एकेन्द्रिय जीवों के शरीर निगोदरहित हैं। इनके अतिरिक्त केवलीभगवान, आहारक, देव, और नारकीयों का शरीर भी निगोदरहित है।

-'पुढवीआदिचउण्हं, केवलीआहारदेवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा णिगोदहिं, पदि्दठिदंगा हवे सेसा।। २००।।'

टीका- पृथ्वी आदि चारि प्रकार जीव- पृथ्वी, अप, तेज, वायु इनिका शरीर, बहुरि केवली का शरीर, बहुरि आहारक शरीर, बहुरि देवनि का शरीर, बहुरि नारकीनि का शरीर ए सर्व निगोद शरीरनि करि अप्रतिष्ठित हैं; आश्रित नाहिं। इनि विषैं निगोद शरीर न पाइए हैं। बहुरि अवशेष रहे जे जीव, तिनिके शरीर प्रतिष्ठित जानने। इनि विषैं निगोद शरीर पाइए हैं। तातैं अवशेष सर्व निगोद शरीरनि करि प्रतिष्ठित हैं, आश्रित हैं। तहां सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, तिर्यञ्च अर पूर्वै कहे तिनि बिना अवशेष मनुष्य इनि सबनि कैं शरीर विषैं निगोद पाइए हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २०० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३९)

प्रश्न ३०- निगोद में क्या दुःख है?

उत्तर- जीव निगोदपर्याय में, एकेन्द्रिय (एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय) जीव के शरीर में, अनन्तकाल तक निरन्तर जन्म-मरण करते हुए अकथनीय दुःख उठाता है। निगोदिया जीव एक श्वास लेने के काल में अठारह बार जन्म और अठारह बार मरण करता है। एक निगोदिया जीव के जन्म के साथ अनन्तानन्त निगोदिया जीवों का जन्म और उसके मरण के साथ अनन्तानन्त जीवों का मरण होता है।

-'काल अनन्त निगोद मँझार,वीत्यो एकेन्द्री तन धार।। ४।।
एक श्वासमें अठदस बार, जनम्यो मरयो भरयो दुःखभार;'

अन्वयार्थ- इस जीव का निगोद में एकेन्द्रिय जीव के शरीर में अनन्तकाल व्यतीत हुआ है।

निगोद में यह जीव एक साँस में अठारह बार जन्मा और मरा, तथा दुःखों के समूह सहन किये।

(छहढाला, पहली ढाल, छन्द ४ का उत्तरार्द्ध, ५ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५-६)

–'जत्थेक्क मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।

वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं।। १९३।।'

टीका- एक निगोद शरीर विषैं जिस काल एक जीव अपना आयु के नाश तैं मरै, तिसही काल विषैं जिनकी आयु समान होइ, अैसै अनन्तानन्त जीव युगपत् मरै हैं। बहुरि जिस काल विषैं एक जीव तहाँ उपजै है, उसही काल विषैं उस ही जीव की साथि समान स्थिति के धारक अनन्तानन्त जीव उपजैं हैं; अैसैं उपजना, मरना का समकालपना कौं भी साधारण जीवनि का लक्षण कहिए हैं। बहुरि द्वितीयादि समयनि विषैं उपजै अनन्तानन्त जीवनि का भी अपना आयु नाश होतै साथि ही मरना जानना। अैसैं एक निगोद शरीर विषैं समय-समय प्रति अनन्तानन्त जीव साथि ही मरै हैं; साथि ही उपजै हैं। निगोद शरीर ज्यौं का त्यों रहै है; सो निगोद शरीर की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोडाकोडी सागरमात्र है। सो असंख्यात लोकमात्र समय प्रमाण जानना। सो स्थिति यावत् पूर्ण न होंइ तावत् अैसै ही जीवनि का उपजना, मरना हुवा करै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३१)

प्रश्न ३१- सर्व जीव क्या वेदते (चेतते) हैं?

उत्तर- 'पाँच प्रकार के स्थावरजीव अव्यक्त सुखदुःखानुभवरूप शुभाशुभकर्मफल को चेतते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रसजीव उसी कर्मफल को इच्छापूर्वक इष्टानिष्ट विकल्परूप कार्यसहित चेतते हैं। **परिपूर्ण ज्ञानवन्त भगवन्त**[1] (अनन्त सौख्यसहित) ज्ञान को ही चेतते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३९ का भावार्थ, पृष्ठ ७४)

–'सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।

पणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा।। ३९।।'

अन्वयार्थ- सर्व स्थावर जीवसमूह वास्तव में कर्मफल को वेदते हैं; त्रस वास्तव में कार्यसहित कर्मफल को वेदते हैं; और जो प्राणित्व (प्राणों का) अतिक्रम कर गये हैं, वे जीव ज्ञान को वेदते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७३-७४)

प्रश्न ३२- जीव त्रस या स्थावर क्यों होते हैं?

---

१. यहाँ परिपूर्ण ज्ञानचेतना की विवक्षा होने से केवलीभगवन्तों और सिद्धभगवन्तों को ही ज्ञानचेतना कही गयी है। आंशिक ज्ञानचेतना की विवक्षा से तो मुनि, श्रावक, तथा अविरत सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानचेतना कही जा सकती है। उनका यहाँ निषेध नहीं समझना। मात्र विवक्षाभेद है, ऐसा समझना चाहिए।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३९, पृष्ठ ७४ की पादटिप्पणी)

उत्तर- 'विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावी निज परमात्मा के स्वरूप की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक सुख को प्राप्त न करते हुए, इन्द्रियसुख में आसक्त जीव एकेन्द्रियादि जीवों का वध करके त्रस और स्थावर होते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ११ की टीका, पृष्ठ ३५)

-'ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण;'

अन्वयार्थ- यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र के वश होकर जन्म-मरण के दुःखों को भोगता हुआ (स्थावर और त्रस अर्थात् चारों गतियों में) भटकता फिरता है।

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द १ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३०)

प्रश्न ३३- त्रस या स्थावरपर्याय से छूटने का क्या उपाय है?

उत्तर- 'त्रस और स्थावर में उत्पत्ति न हो, उसके लिये उसी परमात्मा में (अर्थात् निज अभेद, त्रिकाली, अखण्ड, ज्ञायकस्वभाव में) भावना (स्थिरता) करना चाहिए।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ११ की टीका, पृष्ठ ३५)

(२) संज्ञी और असंज्ञी

प्रश्न ३४- संसारी जीवों का वर्गीकरण (भेद) दूसरे प्रकार से क्या है?

उत्तर- संसारी जीवों को संज्ञी (मनसहित-सैनी), और असंज्ञी (मनरहित-असैनी)- इन दो प्रकार से भी वर्गीकृत किया जा सकता है।

-'समनस्काऽमनस्काः।। ११।।'

अर्थ- संसारी जीव मनसहित-सैनी और मनरहित-असैनी यों दो प्रकार के हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ११ व अर्थ, पृष्ठ २०७)

-'समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।'

गाथार्थ- पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी, ऐसे दो प्रकार के जानना। शेष सब मनरहित असंज्ञी हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १२ का पूर्वार्द्ध व गाथार्थ, पृष्ठ ३५-३६)

-'पंचक्खा वि य तिविहा, जलथलआयासगामिणो तिरिया।
पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य।। १२९।।'

अन्वयार्थ- पञ्चेन्द्रिय त्रिर्यञ्च भी जलचर, थलचर, नभचर के भेद से तीन प्रकार के हैं। वे प्रत्येक दो-दो प्रकार के हैं- (१) मनसहित [सैनी], और (२) मनरहित [असैनी]।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १२९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६४-६५)

-'पञ्चेन्द्रिय जीवों में सैनी और असैनी ऐसे दो भेद होते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ २१८)

[**विशेष- (१)** श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह व श्री मोक्षशास्त्र टीका में संज्ञी और असंज्ञी भेद संसारी न कहकर पञ्चेन्द्रिय जीव के बताये गये हैं, लेकिन शेष; अर्थात्, चार इन्द्रिय तक के जीव सभी असंज्ञी ही होने से वे सब भी इसमें आ गये हैं।

(२) श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में पञ्चेन्द्रियों को पहले जलचर, थलचर, और नभचर के रूप में वर्गीकृत किया है; बाद में सभी को संज्ञी और असंज्ञी दो भागों में बाँटा है। इन दोनों कथनों में मात्र विवक्षाभेद है।]

प्रश्न ३५- संज्ञी किसे कहते हैं?

उत्तर- मनसहित जीव को, जो हित-अहित को समझने की योग्यता रखता हो, संज्ञी या सैनी कहते हैं।

-'**संज्ञिन: समनस्का:।। २४।।**' -**अर्थ-** मनसहित जीवों को सैनी कहते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र २४ व अर्थ, पृष्ठ २१८)

-'सैनी अर्थात् संज्ञी। इसे **संज्ञावाला**[1] प्राणी समझना चाहिए।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ २१८)

-'जिसमें संज्ञा हो, उसे संज्ञी कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ४१५, पृष्ठ १००)

-'जो हित में प्रवृत्त होने की अथवा अहित से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है, वह सैनी है।' तथा,

-'मनवाले सैनी जीव सत्य-असत्य का विवेक कर सकते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ २०८)

-'समस्त शुभाशुभविकल्परहित परमात्मद्रव्य से विलक्षण अनेक प्रकार के विकल्पों के जालरूप मन है। जो जीव उस मनसहित हों, उन्हें "समनस्क"- संज्ञी जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १२ की टीका, पृष्ठ ३६)

-'शिक्षा तथा उपदेश ग्रहण कर सकने की शक्तिवाले मनसहित प्राणी को संज्ञी कहते हैं।'

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २७)

---

१. **संज्ञा-** संज्ञा के अनेक अर्थ हैं। उनमें से यहाँ 'मन' अर्थ लेना चाहिए।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ २१८)

-'द्रव्यमन के द्वारा शिक्षादि ग्रहण करने को संज्ञा कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ४१६, पृष्ठ १००)

प्रश्न ३६- असंज्ञी किसे कहते हैं?

उत्तर- मनरहित जीव को, जो हित-अहित समझने की योग्यता न रखता हो, असंज्ञी या असैनी कहते हैं।

-'शिक्षा और उपदेश ग्रहण करने की शक्तिरहित जीव को असंज्ञी कहते हैं।'

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २४)

-'जो हित-अहित की शिक्षा, क्रिया, उपदेश इत्यादि को ग्रहण नहीं करता, वह असैनी है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ २०८)

-'समस्त शुभाशुभविकल्परहित परमात्मद्रव्य से विलक्षण अनेक प्रकार के विकल्पों के जालरूप मन है। जो जीव उस मनरहित हों, उन्हें "अमनस्क"- असंज्ञी जानना।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ११ की टीका, पृष्ठ ३६)

सारणी ८ : संसारी जीवों के भेद
(संज्ञी और असंज्ञी)

संसारी

संज्ञी (मनसहित)
- द्रव्यमन
- भावमन

असंज्ञी
- एकेन्द्रिय
- द्वीन्द्रिय
- त्रीन्द्रिय
- चारइन्द्रिय
- पञ्चेन्द्रिय
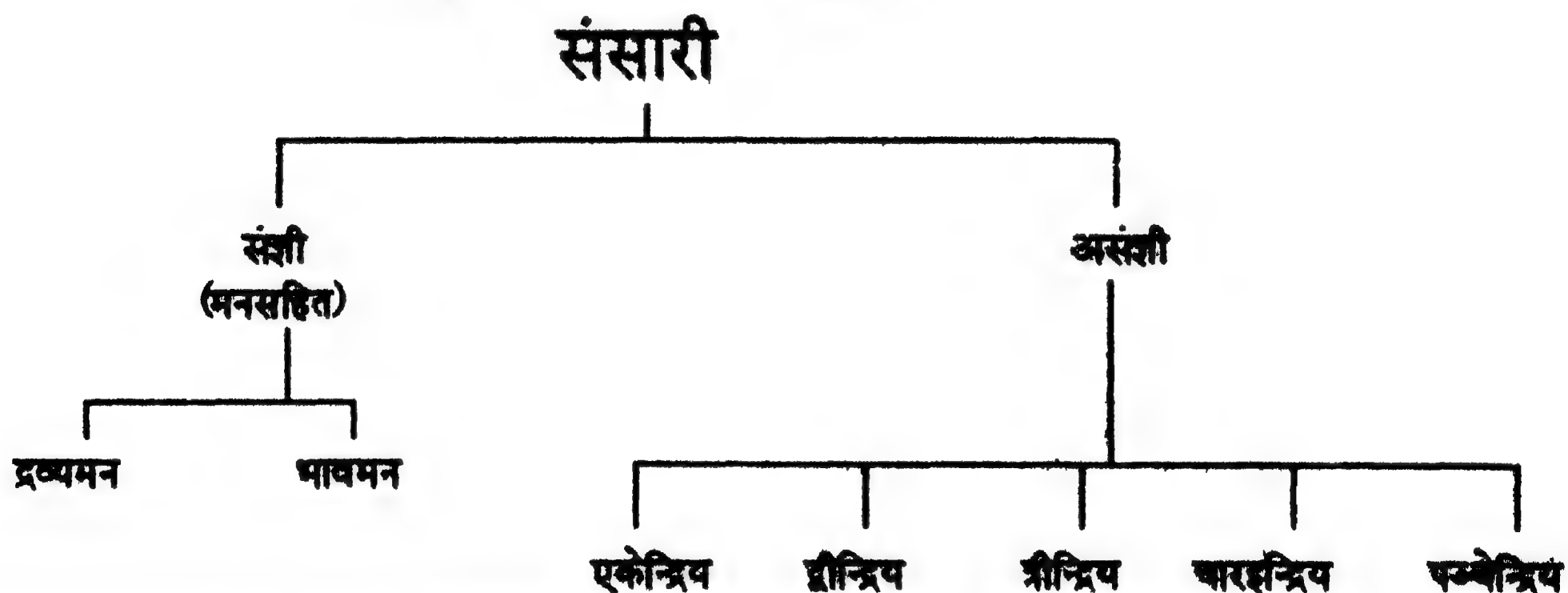
प्रश्न ३७- मन किसे कहते हैं?

उत्तर- मन दो प्रकार का है- (१) द्रव्यमन, और (२) भावमन।

१. द्रव्यमन- पुद्गल द्रव्य के **मनोवर्गणा**[1] नामक स्कन्धों से बना हुआ आठ पाँखुड़ीवाले

---

१. **मनोवर्गणा**- जिस पुद्गलस्कन्ध से आठ पँखुड़ियोंवाले कमल के आकारवाले द्रव्यमन की रचना होती है, उसे मनोवर्गणा कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २५६, पृष्ठ ७०)

-'जो द्रव्यमनरूप परिणमे उसको मनोवर्गणा कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २७, पृष्ठ ६)

फूले कमल के आकाररूप मन हृदयस्थान में है। वह द्रव्यमन है। वह सूक्ष्म पुद्‌गलस्कन्ध होने से इन्द्रियग्राही नहीं है। द्रव्यमन जड़-पुद्‌गल है। वह पुद्‌गल विपाकीकर्म-उदय के फलरूप है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ २०८)

-'हृदयस्थान में आठ पँखुड़ियोंवाले कमल की आकृति समान जो पुद्‌गलपिण्ड- उसे जड़मन अर्थात् द्रव्यमन कहते हैं।'

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २६)

-'मनोवर्गणा तैं मन निपजै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६८४)

-'आठ पाँखड़ीवाले कमल के आकारवाला द्रव्यमन है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १२ की टीका, पृष्ठ ३६)

२. भावमन- आत्मा की विशेष प्रकार की विशुद्धि भावमन है। उससे जीव शिक्षा ग्रहण करने, क्रिया को समझने, उपदेश, तथा आलाप (RECITATION) के योग्य होता है। भावमनवाले प्राणी मोक्ष के उपदेश के लिये योग्य हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ २०८)

-'हित-अहित का विचार, शिक्षा, तथा उपदेश ग्रहण करने की शक्तिसहित ज्ञानविशेष को भावमन कहते हैं।'

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २६)

-'समस्त शुभाशुभविकल्परहित परमात्मद्रव्य से विलक्षण अनेक प्रकार के विकल्पों के जालरूप मन हैं।..............और उसके आधार से (द्रव्यमन के आधार से) शिक्षा, वचन, उपदेशादि को ग्रहण करनेवाला भावमन है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १२ की टीका, पृष्ठ ३६)

[**विशेष- (१)** सैनी (संज्ञी) जीवों के भावमन के योग्य निमित्तरूप वीर्यान्तराय तथा मन-नोइन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम स्वयं होता है; और

(२) जीवों की विचारादि क्रिया में भावमन उपादान है और द्रव्यमन निमित्तमात्र है। **आधार -श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ २०८**]

प्रश्न ३८- कौन जीव संज्ञी तथा कौन जीव असंज्ञी होते हैं?

उत्तर- एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के सभी त्रस और स्थावरजीव असंज्ञी होते हैं। पञ्चेन्द्रियों में मनुष्य, देव, और नारकी संज्ञी ही होते हैं। एकमात्र पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च संज्ञी और असंज्ञी दोनों होते हैं।

-'एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव नियम से असैनी ही होते हैं। पञ्चेन्द्रियों में

तिर्यञ्च सैनी और असैनी दो प्रकार के होते हैं। शेष मनुष्य, देव, और नारकी जीव नियम से सैनी ही होते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ २०८)

-'संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय- इन दो भेदवाले तिर्यञ्च ही होते हैं। नारकी, मनुष्य, और देव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय ही होते हैं। पञ्चेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीव अमनस्क (असंज्ञी) ही होते हैं। बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हैं। वे भी आठ पाँखड़ीवाले कमल के आकारवाला जो द्रव्यमन और उसके आधार से शिक्षा, वचन, उपदेशादि को ग्रहण करनेवाला भावमन- इन दोनों से रहित होने के कारण असंज्ञी ही हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १२ की टीका, पृष्ठ ३६)

(३) भव्य और अभव्य

प्रश्न ३९- संसारी जीवों के तीसरे प्रकार से कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) भव्य, और (२) अभव्य।

प्रश्न ४०- भव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जो अपने त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपूर्वक अवश्य मोक्ष प्राप्त करेंगे, वे जीव भव्य हैं।

-'जिसने निर्वाण को पुरस्कृत किया है; अर्थात्, जो सिद्धिपद प्राप्त करने के योग्य है, उसको भव्य कहते हैं।'

(श्रीधवला, पुस्तक १, पृष्ठ १५१, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या २४, पृष्ठ ८)

-'जो स्व-शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप होगा, वह "भव्य"।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २७ की टीका, पृष्ठ ९६)

-'केवलज्ञानादि अनन्तगुण प्रगटरूप, जो कार्यसमयसार; अर्थात्, शुद्ध परमात्मा का लाभ, वह मोक्ष है। यह मोक्ष भव्यजीवों के ही होता है। भव्य कैसे हैं कि पुत्र कलत्रादि परवस्तुओं के ममत्व को आदि लेकर सब विकल्पों से रहित जो आत्मध्यान, जिससे उन्होंने भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी कलङ्क क्षय किये हैं, ऐसे जीवों के निर्वाण होता है- ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १० का भावार्थ, पृष्ठ १२४)

-'जिस जीव का कर्मबन्ध अनादिसान्त होता है या ऐसी योग्यतावाला होता है, वह भव्य कहलाता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६४ से ९६८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३०६)

– 'मिथ्यादृष्टि भव्यजीव में बहिरात्मा व्यक्तरूप से रहता है। अन्तरात्मा और परमात्मा ये दो शक्तिरूप से रहते हैं; और भावीनैगमनय की अपेक्षा से व्यक्तरूप से भी रहते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५६)

– **'भविया सिद्धी जेसिं, जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।'**

टीका- भव्या: कहिए होनेयोग्य वा होनहार है, सिद्धि कहिये अनन्त चतुष्टयरूप स्वरूप की प्राप्ति जिनकैं, ते भव्य सिद्ध जानने।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५७ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४५)

– 'सामग्रीविशेष करि रत्नत्रय वा अनन्त चतुष्टयरूप परिणमने कौं योग्य, सो भव्य कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७०४ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७४७)

– **'णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।**
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।। ६२।।'

अन्वयार्थ- जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखों में परम; अर्थात्, उत्कृष्ट है- ऐसा वचन सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते, वे अभव्य हैं; और भव्य उसे स्वीकार (आदर) करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ६२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११२)

– 'तीनलोक में किसी भी समय रत्नत्रय प्राप्ति की योग्यता रखनेवाले जीव को भव्य कहा जाता है।'

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २५)

प्रश्न ४१- भव्य कितने प्रकार के हैं?

उत्तर- भव्यों के दो प्रकार से दो-दो भेद किये जा सकते हैं- [क] (१) योग्यभव्य, और (२) भव्यसिद्ध।

– 'याकरि सिद्धि की प्राप्ति अर योग्यता करि भव्यनि कै द्विविधपना कह्या है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५७ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४५)

[**ख**] (१) निकटभव्य (आसन्नभव्य), और (२) दूरभव्य (अनासन्नभव्य)।

[**विशेष- (१) श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७०४ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका, पृष्ठ ७४७** पर भव्य के तीन भेद किये गये हैं-

– 'सो भव्य तीन प्रकार- (१) आसन्नभव्य, (२) दूरभव्य, और (३) अभव्यसमभव्य।'

(२) यहाँ 'भव्यसिद्ध' को 'अभव्यसमभव्य' के रूप में निरूपित किया गया है।]

प्रश्न ४२- योग्यभव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जो भव्यजीव अपने त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा के आश्रय से मोक्ष को अवश्य प्राप्त करेंगे, वे योग्यभव्य हैं। योग्यभव्य का आशय उन भव्य जीवों से है, जिन्हें भव्यत्व शक्ति की व्यक्तता अवश्य होगी।

-'बहुरि केई भव्य अैसे हैं, जे काल पाइ मुक्त होहिंगे।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५७ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४५)

सारणी ८ : संसारी जीवों के भेद
(भव्य और अभव्य)

संसारी जीव
- भव्य
  - योग्यभव्य
    - आसन्नभव्य (निकटभव्य)
    - अनासन्नभव्य (दूरभव्य)
  - भव्यसिद्ध (अभव्यसमभव्य)
- अभव्य
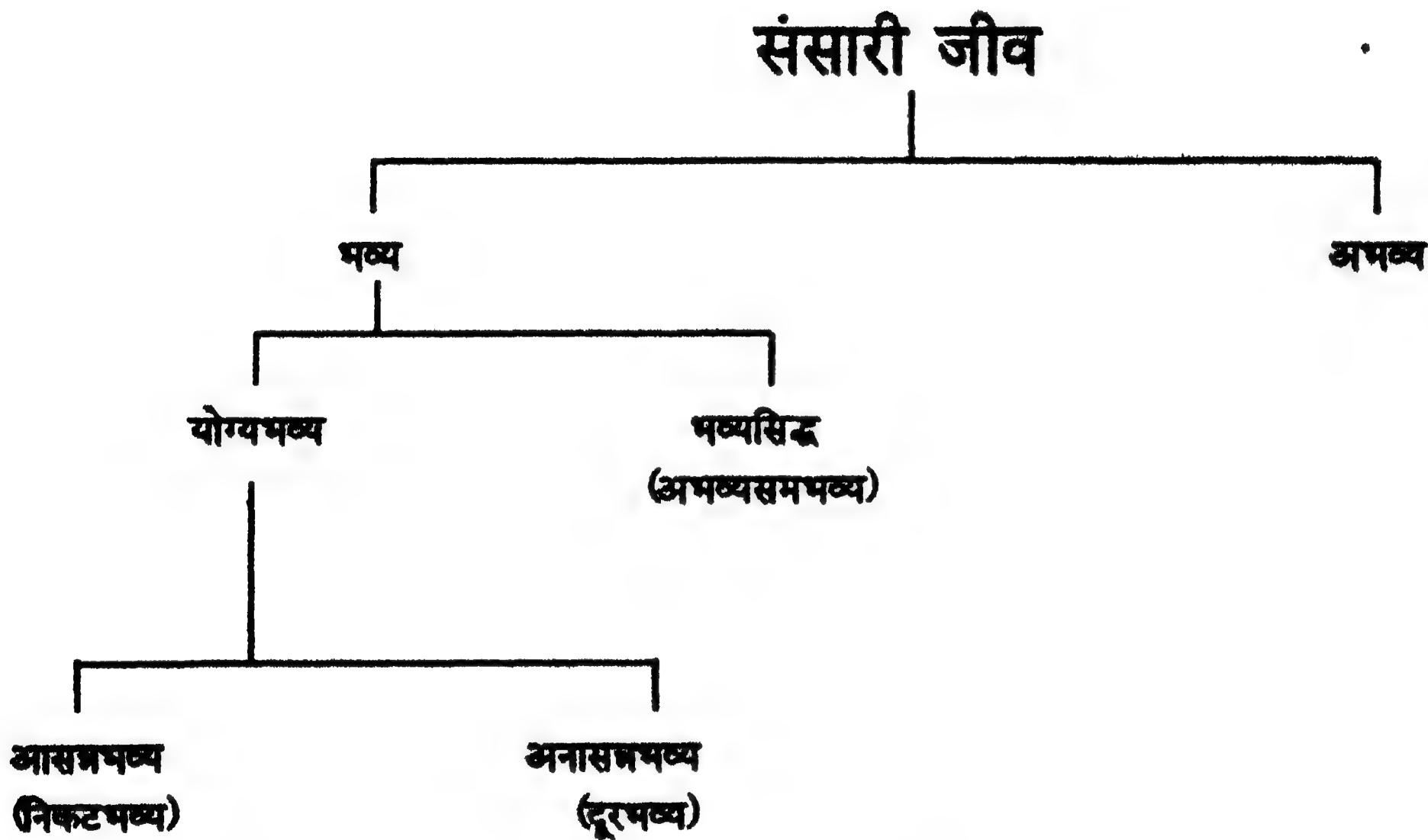
(आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, सोलहवाँ-भव्यमार्गणा अधिकार, गाथा ५५७ से ५६० एवं इक्कीसवें-अन्तरभावाधिकार की गाथा ७०४ व सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका।

प्रश्न ४३- भव्यसिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर- उन जीवों को जिनमें मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता तो है, लेकिन उसकी व्यक्तता कभी नहीं होगी; अर्थात्, वे भी अभव्यों के ही समान त्रिकाल संसार परिभ्रमण करते रहेंगे, भव्यसिद्ध कहते हैं। इन्हें 'अभव्यसमभव्य' भी कहा जा सकता है।

-'केई तो भव्य अैसैं हैं जे मुक्ति होने कौं केवल योग्य ही हैं; परि कबहुं सामग्री कौं

पाइ मुक्त न होंइ।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५७ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४५)

–'**भव्वत्तणस्स जोग्गा, जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।**

ण हु मलविगमे णियमा, ताणं कणओवलाणमिव।। ५५८।।'

टीका– जे भव्य जीव भव्यत्व जो सम्यग्दर्शनादि सामग्री कौं पाइ, अनन्त चतुष्टय रूप होना, ताकौं केवल योग्य ही हैं, तद्रूप होने के नाहीं, ते भव्य सिद्ध हैं। सदाकाल संसार कौं प्राप्त रहै हैं। काहे तैं? सो कहिये हैं– जैसैं कई सुवर्ण सहित पाषाण ऐसैं हैं, तिनके कदाचित् मैल के नाश करने की सामग्री न मिलै, तैसैं कई भव्य ऐसैं हैं जिनकैं कर्ममल नाश करने की कदाचित् सामग्री नियम करि न संभवै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचद्रिका, पृष्ठ ६४५-६४६)

–'जे त्रिकाल विषैं मुक्त होने के नाहीं, केवल मुक्त होने की योग्यता ही कौं धरैं है, ते "अभव्यसमभव्य" हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७०४ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७४७)

[जिस प्रकार अहमिन्द्र देवों के नरकादि में जाने की शक्ति है, परन्तु वे कभी भी नरकादि नहीं जाते; इसी प्रकार अनेक भव्यजीव ऐसे हैं, जो मुक्ति प्राप्त करने के योग्य तो हैं लेकिन कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं करते। –श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५८ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४६]

प्रश्न ४४– भव्यसिद्ध जीव भी तो अभव्य के ही समान होता है। तब अभव्य के समान भव्यभाव का अनादि और अनन्त क्यों नहीं प्ररूपण किया?

उत्तर– 'नहीं किया। क्योंकि भव्यत्व में अविनाश शक्ति का अभाव है; अर्थात्, यद्यपि अनादि से अनन्तकाल तक रहनेवाले भव्यजीव हैं तो सही, पर उनमें शक्तिरूप से संसार विनाश की सम्भावना है, अविनाशत्व नहीं।'

(श्रीधवला पुस्तक ७, पृष्ठ १७६, आधार–धवलासार, शङ्का संख्या ३५४, पृष्ठ ९२)

प्रश्न ४५– निकटभव्य (आसन्नभव्य) किसे कहते हैं?

उत्तर– जो जीव अति निकट भविष्य में अपनी आत्मा के आश्रयपूर्वक मुक्ति प्राप्त करेंगे, वे निकट अथवा आसन्नभव्य हैं।

–'जो उस **वचन को**[1] इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं, वे शिवश्री के (मोक्षलक्ष्मी के) भाजन आसन्नभव्य हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ६२ की टीका, पृष्ठ ११३)

१. –'जिनके घातिकर्म नष्ट होगये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट है'– ऐसे वचन को।
(श्रीप्रवचनसार, गाथा ६२ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ११२)

-'मिथ्यादृष्टि जीव से विपरीत गुणसमुदायवाला अति-आसन्नभव्य जीव होता है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ९० की टीका, पृष्ठ १७९)

-'जे थोरे काल में मुक्त होने योग्य होइ, ते आसन्नभव्य हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७०४ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७४७)

प्रश्न ४६- आसन्नभव्य जीव किस प्रकार की भावना भाता है?

उत्तर- आसन्नभव्य जीव (अतिनिकट भव्यजीव) अनादिकाल की मिथ्यादर्शनादि की भावना को छोड़कर सम्यग्दर्शनादि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की भावना भाता है।

-'**भावयामि भवावर्ते भावना: प्रागभाविता:।**

भावये भाविता नेति भवाभावाय भावना:।। २३८।।'

अर्थ- मैं संसाररूप भ्रमण के विषैं भवभ्रमण के अभावकै अर्थि पूर्वैं न भाई जे सम्यग्दर्शनादि भावना तिनकूँ भाऊँ हूँ। अर जे मैं पूर्वैं मिथ्यादर्शनादि भावना अनादिकाल तैं भाई ते नांहि भाऊँ हूँ।

(श्रीआत्मानुशासन, श्लोक २३८ व अर्थ, पृष्ठ १५९, एवं श्रीनियमसार, गाथा ९० की टीका, पृष्ठ १७९)

प्रश्न ४७- दूरभव्य (अनासन्नभव्य) किसे कहते हैं?

उत्तर- जो मुक्ति तो अवश्य प्राप्त करेंगे लेकिन उसमें अभी बहुत समय है- ऐसे जीव दूरभव्य हैं।

-'जो उस वचन को आगे जाकर स्वीकार करेंगे, वे दूरभव्य हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ६२ की टीका, पृष्ठ ११३)

-'निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व के श्रद्धानरहित अनासन्नभव्य जीव ने वास्तव में सामान्य प्रत्ययों को पहले सुचिर काल भाया है;'

(श्रीनियमसार, गाथा ९० की टीका, पृष्ठ १७९)

-'जे बहुत काल में मुक्त होने होंइ ते दूर-भव्य हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७०४ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७४७)

प्रश्न ४८- अभव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जो कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करेंगे; अर्थात्, सदाकाल संसार परिभ्रमण करते रहेंगे, वे जीव अभव्य हैं।

-'अभव्यजीव में बहिरात्मा व्यक्तरूप से (त्रिकाल), तथा अन्तरात्मा और परमात्मा-ये दो शक्तिरूप से ही (त्रिकाल) रहते हैं। भावीनैगमनय की अपेक्षा से भी उसे अन्तरात्मा और परमात्मा व्यक्तिरूप से नहीं रहते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५६)

–'णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।

सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।। ६२।।'

अन्वयार्थ– 'जिनके घातिकर्म नष्ट होगये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट है'– ऐसा वचन सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते, वे अभव्य हैं; और भव्य उसे स्वीकार (आदर) करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ६२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११२)

–'ये जीव मुक्त होने योग्य भी नहीं अर मुक्त भी होते नाहीं, तो अभव्य जाननें। तातै ते वे अभव्य जीव संसार तैं निकसि कदाचित् मुक्ति को प्राप्त न हो हैं; अैसा ही केई द्रव्यत्व भाव है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५७ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४५)

–'जिसका कर्मबन्ध अनादिअनन्त होता है, वह अभव्य कहलाता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६४ से ९६८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३०६)

प्रश्न ४९– यदि अभव्यजीव में परमात्मा शक्तिरूप से रहता है, तो उसमें अभव्यत्व किस प्रकार है?

उत्तर– 'अभव्यजीव में परमात्मशक्ति की व्यक्तता केवलज्ञानादिरूप से नहीं होती है; अत: उसमें अभव्यत्व है और शक्ति तो (परमात्मशक्ति तो) शुद्धनय की अपेक्षा से अभव्य और भव्य दोनों में समान है। तथा यदि अभव्यजीव में शक्तिरूप से भी केवलज्ञान नहीं हो, तो उसे केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं होता है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५६)

प्रश्न ५०– अभव्यजीव की क्या पहचान है?

उत्तर– 'मिथ्यात्व के उपदेश से अपनी दुर्बुद्धि द्वारा जिसके मिथ्यादृष्टि है, उसको जिनधर्म नहीं रुचता है। तब ज्ञात होता है कि ये अभव्यजीव के भाव हैं। यथार्थ अभव्यजीव को तो सर्वज्ञ जानते हैं, परन्तु ये अभव्य के चिह्न हैं। इनसे परीक्षा द्वारा जाना जाता है।'

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा १३९ का भावार्थ, पृष्ठ २१४)

प्रश्न ५१– क्या जिनधर्म अर्थात् वस्तुस्वरूप के श्रवण का संयोग न मिलने के कारण जीव अभव्य रहता है?

उत्तर– नहीं, अनन्तबार समवसरण में साक्षात् अर्हन्त भगवान के मुख से वस्तुस्वरूप के श्रवण के बावजूद जीव योग्य पुरुषार्थ के अभाव में अभव्य ही रहता है।

–'ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।

गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।। १३८।।'

अर्थ- अभव्यजीव भले प्रकार जिनधर्म को सुनकर भी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता है। यहाँ दृष्टान्त है कि सर्प गुड़सहित दूध को पीते रहने पर भी विषरहित नहीं होता है।

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा १३८ व अर्थ, पृष्ठ २१३-२१४)

प्रश्न ५२- अभव्य का स्वरूप जानकर जीव को क्या करना योग्य है?

उत्तर- 'जो कारण पाकर भी नहीं छूटता है, उसे 'प्रकृति' या 'स्वभाव' कहते हैं। अभव्य का यह स्वभाव है कि जिसमें अनेकान्त तत्त्वस्वरूप है, ऐसा वीतरागविज्ञानस्वरूप जिनधर्म मिथ्यात्व को मिटानेवाला है; उसका (जिनधर्म का) भले प्रकार स्वरूप सुनकर भी वह (अभव्य) मिथ्यात्वस्वरूप भाव नहीं बदलता है। यह वस्तुस्वरूप है; किसी का किया हुआ नहीं है। यहाँ उपदेश-अपेक्षा इस प्रकार जानना कि अभव्यरूप प्रकृति तो सर्वज्ञगम्य है। तो भी अभव्य की प्रकृति के समान अपमी प्रकृति न रखकर मिथ्यात्व को छोड़ना ही योग्य है।'

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा १३८ का भावार्थ, पृष्ठ २१४)

प्रश्न ५३- अरहन्त और सिद्धपरमात्मा भव्य हैं या अभव्य?

उत्तर- भव्य और अभव्य का भेद संसार-अपेक्षा है। अनन्त चतुष्टयरूप केवलज्ञानादि की प्राप्ति के बाद ऐसा (भव्य और अभव्य का) कोई भेद नहीं रहता। अरहन्त और सिद्धपरमात्मा सादिअनन्त मोक्षसुख के भोक्ता और संसाररहित होने से **पारिणामिकभाव के भेद**[1] एकमात्र जीवत्व को धारण रखते हैं।

-'ण य जे भव्वाभव्वा, मुत्तिसुहातीदणंतसंसारा।
ते जीवा णायव्वा, णेव य भव्वा अभव्वा य।। ५५९।।'

टीका- जे जीव केई नवीन ज्ञानादिक अवस्था कौं प्राप्त होने के नाहीं; तातैं भव्य भी नाहीं। अनन्त चतुष्टय रूप भए, तातैं अभव्य भी नाहीं, अैसे मुक्ति सुख के भोक्ता अनन्त संसार रहित भए, ते जीव भव्य भी नाहीं अर अभव्य भी नाहीं; जीवत्व पारिणामिक कौं धरै हैं; अैसे जानने।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५९ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४६)

---

१. **पारिणामिकभाव के भेद**- पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं- (क) जीवत्व, (ख) भव्यत्व, और (ग) अभव्यत्व।

-'जीवभव्याभव्यत्वानि च।। ७।।'

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ७, पृष्ठ १९१)

(क) जीवत्व- चैतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुणयुक्त रहना- सो जीवन अर्थात् जीवत्व है।

(ख) भव्यत्व- मोक्ष प्राप्त करनेयोग्य जीव के 'भव्यत्व' होता है।

(ग) अभव्यत्व- जो जीव कभी मोक्ष प्राप्त करनेयोग्य नहीं होते, उनके अभव्यत्व होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९२)

पञ्च-परावर्तन

प्रश्न १- परावर्तन किसे कहते हैं और परावर्तन कितने प्रकार का होता है?

उत्तर- संसारी जीव के अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण निरन्तर हो रहे संसार परिभ्रमण को परावर्तन कहते हैं। ये परावर्तन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव पाँच प्रकार का होता है। इन पाँच प्रकारों के कारण परावर्तन को पञ्च-परावर्तन नाम से कहा जाता है। संसार, परिभ्रमण, परिवर्तन, परावर्तन एकार्थवाची हैं।

-'मिथ्यादृष्टि अवस्था के कारण परिभ्रमण अर्थात् परिवर्तन होता है। उस परिभ्रमण को संसार कहते हैं। उस परिवर्तन के पाँच भेद होते हैं- (१) द्रव्यपरिवर्तन, (२) क्षेत्रपरिवर्तन, (३) कालपरिवर्तन, (४) भावपरिवर्तन, और (५) भवपरिवर्तन। परिवर्तन को संसरण अथवा परावर्तन भी कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०१)

-'समस्त संसारी जीव अनादिकाल से निरन्तर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावरूप पञ्च-परावर्तन में परिभ्रमण कर रहे हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ६९)

-'**वह जीवलोक**[1] संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित है। निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भावरूप अनन्त परावर्तन के कारण भ्रमण को प्राप्त हुआ है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १२)

-'परिवर्तन अर परिभ्रमण, संसार ए एकार्थ हैं। सो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव, भेद तैं परिवर्तन पञ्च प्रकार है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४६-६४७)

-'संसारो पंचविहो, दव्वे खत्ते तहेव काले य।
भवभमणो य चउत्थो, पंचमओ भावसंसारो॥ ६६॥'

---

१. **वह जीवलोक-** 'जिस जीवलोक को' (इस समस्त जीवलोक को) कामभोग-सम्बन्धी कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवाद करानेवाली है (आत्मा का अत्यन्त अनिष्ट करनेवाली है), तथापि पहले अनन्तबार सुनने में आयी है, अनन्तबार परिचय में आयी है, और अनन्तबार में अनुभव में भी आयी है।

(श्रीसमयसार, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १२)

अन्वयार्थ- संसार (परिभ्रमण) पाँच प्रकार का है- (१) द्रव्य; अर्थात्, पुद्गलद्रव्य में ग्रहणत्यजनरूप परिभ्रमण, (२) क्षेत्र; अर्थात्, आकाश के प्रदेशों में स्पर्श करनेरूप परिभ्रमण, (३) काल; अर्थात्, काल के समयों में उत्पन्न होने व नष्ट होनेरूप परिभ्रमण, (४) भव; अर्थात्, नारकादि भव का ग्रहण त्यजनरूप परिभ्रमण, और (५) भाव; अर्थात्, अपने कषाययोगों के स्थानकरूप जे भेद उनका पलटनेरूप परिभ्रमण। इस तरह पाँच प्रकार का संसार जानना चाहिए।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ६६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २९)

प्रश्न २- द्रव्यपरावर्तन किसे कहते हैं?

उत्तर- इस जीव ने शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न पूर्व में मिले हुए, पूर्व में नहीं मिले हुए, और मिश्र -ऐसे पुद्गलद्रव्य, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप से तथा शरीर के पोषण के लिये भोजन, पान आदि पाँच इन्द्रिय के विषयरूप से अनन्तबार ग्रहणकर छोड़े हैं- यह 'द्रव्यसंसार' (द्रव्यपरावर्तन) है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १२१)

-'द्रव्यपरावर्तन; अर्थात्, इस जगत में अनन्त जीवों से अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं का सम्बन्ध अनन्त बार हो चुका है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ६९)

-'ऐसा कोई शरीर नहीं जो इसने न धारण किया हो,'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ७७ का भावार्थ, पृष्ठ ७५)

-'बंधदि मुंचदि जीवो, पडिसमयं कम्मपुग्गला विविहा।
णोकम्मपुग्गला वि य, मिच्छत्तकषायसंजुत्तो।। ६७।।'

अन्वयार्थ- यह जीव (इस लोक में भरे हुए) अनेक प्रकार के पुद्गल, जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप तथा औदारिकादि शरीर नोकर्मरूप हैं, उनको समय-समय प्रति मिथ्यात्व कषायसहित होता हुआ बाँधता है और छोड़ता है।

भावार्थ- मिथ्यात्व कषाय के वश से ज्ञानावरणादि कर्मों का **समयप्रबद्ध**[1] अभव्यराशि से अनन्तगुणा, सिद्धराशि के अनन्तवें भाग पुद्गलपरमाणुओं का स्कन्धरूप कार्माणवर्गणा को समय-समय प्रति ग्रहण करता है। जो पहले ग्रहण किये थे, वे सत्ता में हैं, उनमें से इतने ही समय-समय नष्ट होते हैं। वैसे ही औदारिकादि शरीरों का समयप्रबद्ध, शरीर ग्रहण के समय से लगाकर आयु की स्थितिपर्यन्त ग्रहण करता व छोड़ता है। इस तरह अनादिकाल से लेकर अनन्तबार ग्रहण करना और छोड़ना होता है। वहाँ एक परिवर्तन के प्रारम्भ में प्रथम समय के समयप्रबद्ध में जितने-जितने पुद्गल परमाणु; जैसे, स्निग्ध रूक्ष वर्ण, गन्ध, रूप, रस, तीव्र-मन्द-मध्यमभाव से ग्रहण किये हों, उतने ही

१. **समयप्रबद्ध-** एक समय में जितने कर्मपरमाणु और नोकर्म परमाणु बंधें, उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ६७, पृष्ठ ३० की पादटिप्पणी)

वैसे ही कोई समय में फिरसे ग्रहण में आवें, तब एक कर्म परावर्तन तथा नोकर्म परावर्तन होता है। मध्य में अनन्तबार और भाँति के परमाणु ग्रहण होते हैं, वे नहीं गिने जाते हैं। वैसे के वैसे फिर से ग्रहण करने को अनन्तकाल बीत जाये, उसको एक द्रव्यपरावर्तन कहते हैं। इस तरह के इस जीव ने इस लोक में अनन्त परावर्तन किये हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ६७, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ २९-३०)

– 'यहाँ द्रव्य का अर्थ पुद्गलद्रव्य है। जीव का विकारी अवस्था में पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०१)

– 'सर्वेऽपि पुद्गलाः, खल्वेकेनात्तोज्झिताश्च जीवेन।
ह्यसकृत्त्वनंतकृत्वः, पुद्गलपरिवर्तसंसारे।।'

अर्थ- एकै जीव पुद्गल परिवर्तनरूप संसार विषैं यथायोग्य सर्व पुद्गल बारंबार अनन्तबार ग्रहि छांडे है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५२)

[**विशेष-** 'यद्यपि ऐसे भी अनन्त पुद्गल हैं, जिनका सम्बन्ध आज तक इस जीव से नहीं हुआ; तथापि रागसहित होने से इस जीव में उन पुद्गल परमाणुओं से सम्बन्ध करने की योग्यता तो है ही। इसी अपेक्षा यह कहा है कि सब पुद्गल अनन्तबार सम्बन्ध में आये।' **-पूज्य गुरुदेवश्री, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७०**]

प्रश्न ३- द्रव्यपरावर्तन के कितने भेद हैं?

उत्तर- द्रव्यपरावर्तन के दो भेद हैं- (१) नोकर्मद्रव्यपरावर्तन, और (२) कर्मद्रव्यपरावर्तन।

– 'तहाँ द्रव्य परिवर्तन दोय प्रकार है- एक कर्म द्रव्य परिवर्तन, एक नोकर्म द्रव्य परिवर्तन।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४७)

१. नोकर्मद्रव्यपरावर्तन- औदारिक, तैजस, और कार्मण अथवा वैक्रियक, तैजस, और कार्मण इन तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य जो पुद्गल स्कन्ध एक समय में एक जीव ने ग्रहण किये, वह जीव पुनः उसी प्रकार के स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श, वर्ण, रस, गन्ध आदि में तथा तीव्र, मन्द या मध्यम भाववाले स्कन्धों को ग्रहण करता है, तब एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीच में जो अन्य नोकर्म का ग्रहण किया जाता है, उन्हें गणना में नहीं लिया जाता है।) उसमें पुद्गलों की संख्या और जाति (QUALITY) बराबर उसी प्रकार के नोकर्म की होनी चाहिए।

२. कर्मद्रव्यपरिवर्तन- एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्मस्वभाववाले जो पुद्गल

ग्रहण किये थे वैसे ही कर्मस्वभाववाले पुद्‌गलों को पुनः ग्रहण करे, तब एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीच में उन भावों में किञ्चित्‌मात्र अन्य प्रकार के दूसरे जो रजकण ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें गणना में नहीं लिया जाता।) उन आठ प्रकार के कर्म पुद्‌गलों की संख्या और जाति बराबर उसी प्रकार के कर्म पुद्‌गलों की होनी चाहिए।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०१-२०२)

[**विशेष- (१)** आज एकसमय में शरीर धारण करते हुए नोकर्म और द्रव्यकर्म के पुद्‌गलों का सम्बन्ध एक अज्ञानी जीव को हुआ। तत्पश्चात् नोकर्म और द्रव्यकर्मों का सम्बन्ध उस जीव के बदलता रहता है। इस प्रकार परिवर्तन होनेपर वह जीव पुनः वैसे ही शरीर धारण करके वैसे ही नोकर्म और द्रव्यकर्मों को प्राप्त करता है, तब एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा किया कहलाता है। **-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०२;**

(२) 'इस द्रव्य परिवर्तन कौं पुद्‌गल परिवर्तन भी कहिए है। सो नोकर्म पुद्‌गल परिवर्तन का अर कर्मपुद्‌गल परिवर्तन का काल समान है।' **-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५०;** तथा,

(३) जिन शास्त्रों में द्रव्यपरावर्तन के भेदों का उल्लेख नहीं है, उनमें नोकर्म और द्रव्यकर्म परावर्तन दोनों को द्रव्यपरावर्तन में ही ले लिया गया है।]

प्रश्न ४- क्षेत्रपरावर्तन किसे कहते हैं?

उत्तर- 'स्व-शुद्धात्मद्रव्य-सम्बन्धी सहज शुद्ध लोकाकाशप्रमाण असंख्य प्रदेशों से भिन्न जो लोकाकाश के प्रदेश हैं, उनमें एक-एक प्रदेश में व्याप्त होकर इस जीव ने यहाँ अनन्तबार जन्म या मरण न किया हो- ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है। वह "क्षेत्रसंसार" (क्षेत्रपरावर्तन) है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १२१)

-'यह जीव अनन्तबार क्षेत्रपरावर्तन भी कर चुका है। चौदह राजू प्रमाण क्षेत्र है। उसके प्रत्येक प्रदेश में अनन्तबार जन्मा और मरा है; प्रत्येक क्षेत्र में अनन्त बार परिभ्रमण कर चुका है... ....जहाँ सिद्धभगवान विराजते हैं, उस क्षेत्र में भी अनन्तबार जन्मा-मरा है; कोई क्षेत्र बाकी नहीं है। इस प्रकार इस जीव ने अनन्त क्षेत्रपरावर्तन किये हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७०)

-'ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है कि जहाँ न उपजा हो और मरण न किया हो;'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ७७ का भावार्थ, पृष्ठ ७६)

-**'सो को वि णत्थि देसो, लोयायासस्स णिरवसेसस्स।**
जत्थ ण सव्वो जीवो, जादो मरिदो य बहुवारं॥ ६८॥'

अन्वयार्थ- समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है, जिसमें ये सब ही संसारी जीव कई बार उत्पन्न न हुए हों तथा मरे न हों।

भावार्थ- लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। उसके मध्य के आठ प्रदेशों को बीच में देकर सूक्ष्मनिगोदलब्धिअपर्याप्तक जघन्य अवगाहन का धारी वहाँ उत्पन्न होता है। उसकी अवगाहना भी असंख्यात प्रदेश है। इस तरह जितने प्रदेश उतनी बार तो वह ही अवगाहना वहाँ ही पाता है। मध्य में और जगह अन्य अवगाहना से उत्पन्न होता है, उसकी तो गिनती ही नहीं है। बाद में एक-एक प्रदेश क्रम से बढ़ती हुई अवगाहना पाता है, सो गिनती में है। इस तरह महामच्छ तक की उत्कृष्ट अवगाहना को पूरी करता है। वैसे ही क्रम से लोकाकाश के प्रदेशों का स्पर्श करता है, तब एक क्षेत्र परावर्तन होता है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ६८ व टीका व भावार्थ, पृष्ठ ३०-३१)

-'जीव की विकारीअवस्था में आकाश के क्षेत्र के साथ होनेवाले सम्बन्ध को क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्य प्रदेश बनाकर कोई जीव सूक्ष्मनिगोद में अपर्याप्त सर्व जघन्य शरीरवाला हुआ और क्षुद्रभव (श्वास के अठारहवें भाग की स्थिति) को प्राप्त हुआ; तत्पश्चात् उपर्युक्त आठ प्रदेशों से लगे हुए एक-एक अधिक प्रदेश को स्पर्श करके समस्त लोक को जब अपने जन्मक्षेत्र के रूप में प्राप्त करता है, तब एक क्षेत्र परिवर्तन पूरा हुआ कहलाता है। (बीच में क्षेत्र का क्रम छोड़कर अन्यत्र जहाँ-जहाँ जन्म लिया, उन क्षेत्रों को गणना में नहीं लिया जाता।)'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०२)

-'सर्वत्र जगत्क्षेत्रे, देशो न ह्यस्ति जंतुनाऽक्षुण्णः।
अवगाहनानि बहुशो बंभ्रमता क्षेत्रसंसारे।।'

अर्थ- क्षेत्र संसार विषैं भ्रमण करता जीव करि जाका अपने शरीर की अवगाहना करि स्पर्श न कीया ऐसा सर्व जगछेणी का घन प्रमाण लोक विषैं कोई प्रदेश नाहीं है। बहुरि जाकौं बहुत बार अङ्गीकार न कीया, ऐसा कोई अवगाहना का भेद भी नाहीं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५३)

[**विशेष-** (१) मेरुपर्वत के नीचे से प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक प्रदेश आगे बढ़ते हुए सम्पूर्ण लोक में जन्म धारण करने में एक जीव को जितना समय लगे उतने समय में एक क्षेत्रपरिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है। -**श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०२;**

(२) **श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका के पृष्ठ ६५२** पर क्षेत्रपरिवर्तन के भी दो भेदों का कथन है- (१) एक, स्वक्षेत्रपरिवर्तन, और (२) एक, परक्षेत्रपरिवर्तन;

(३) **स्वक्षेत्रपरिवर्तन** शरीर की अवगाहना; अर्थात्, निगोद की जघन्य अवगाहना से लेकर

महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना तक प्रत्येक शरीर को अनुक्रम से धारण करने को, और **परक्षेत्रपरिवर्तन** लोकाकाश के समस्त प्रदेशों पर सूक्ष्म निगोदियालब्धि अपर्याप्तक जघन्य अवगाहना के शरीर को धारण कर, अनुक्रम से जन्म-मरण करने को कहा है। **-आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५२-६५३]**

प्रश्न ५- कालपरावर्तन किसे कहते हैं?

उत्तर- स्व-शुद्धात्मा के अनुभवरूप निर्विकल्प समाधि का काल छोड़कर दस **कोड़ाकोड़ी**[1] सागर प्रमाण **उत्सर्पिणीकाल**[2] और दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण **अवसर्पिणीकाल**[3] के एक-एक समय में अनेक परावर्तन करके इस जीव ने जिसमें अनन्तबार जन्म या मरण न किया हो, ऐसा कोई भी समय नहीं है- यह 'कालसंसार' (कालपरावर्तन) है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १२१-१२२)

-'कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-ऐसे दो भाग हैं। प्रत्येक दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। एक सागर असंख्य अरब वर्षों का होता है। इन उत्सर्पिणी, अवसर्पिणीकाल के प्रत्येक के प्रथम समय से लेकर क्रमशः प्रत्येक समय में जीव ने जन्म-मरण किया है। इस प्रकार एक-एक समय में जन्म-मरण करते हुए अनन्तबार कालपरावर्तन किया है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७०)

-'ऐसा कोई काल नहीं है कि जिसमें इसने जन्म-मरण न किये हों।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ७८ का भावार्थ, पृष्ठ ७६)

-'एक जीव ने एक अवसर्पिणी के पहले समय जन्म लिया; तत्पश्चात् अन्य अवसर्पिणी के दूसरे समय में जन्म लिया; पश्चात् अन्य अवसर्पिणी के तीसरे समय में जन्म लिया। इस प्रकार

---

१. **कोड़ाकोड़ी-** करोड़ x करोड़

२ व ३. **बीस कोड़ाकोड़ी** सागर का एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं (१) **उत्सर्पिणी**, और (२) **अवसर्पिणी**।

-उत्सर्पिणीकाल में जीवों के ज्ञानादि की वृद्धि होती है।

-अवसर्पिणीकाल में जीवों के ज्ञानादि का ह्रास होता है।

-अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल के छः-छः भेद हैं- **(१) सुषमसुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमदुःषमा, (४) दुःषमसुषमा, (५) दुःषमा, और (६) दुःषमदुःषमा।**

-सुषमसुषमा का काल चार कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमा का तीन कोड़ाकोड़ी सागर,सुषमदुःषमा का दो कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमदुःषमा का ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़कोड़ी सागर, और दुःषमा व दुःषमादुःषमा में प्रत्येक का २१—२१ हजार वर्ष है। ये कालक्रम भरत और ऐरावतक्षेत्र में अनादि से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा।

-भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।। २७।।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ३, सूत्र २७, पृष्ठ २६२)

[श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ३, सूत्र २७ की टीका, पृष्ठ २६२]

-'भरत और ऐरावतक्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्रों में एक ही अवस्था रहती है। उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता।'

-'ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।। २८।।' -श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ३, सूत्र २८, पृष्ठ २६३।

एक-एक समय आगे बढ़ते हुए नयी अवसर्पिणी के अन्तिम समय में जन्म लिया तथा उसी प्रकार उत्सर्पिणीकाल में उसी भाँति जन्म लिया और तत्पश्चात् ऊपर की भाँति ही अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के प्रत्येक समय में क्रमशः मरण किया। इस प्रकार भ्रमण करते हुये जो काल लगता है, उसे कालपरिवर्तन कहते हैं।'

[इस कालक्रम से रहित बीच में जिन-जिन समयों में जन्म-मरण किया जाता है, वे समय गणना में नहीं आते।]

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०२-२०३)

-'उत्सर्पिण्यवसर्पिणिसमयावलिकासु निरवशेषासु।
जातो मृतश्च बहुशः, परिभ्रमन् कालसंसारे।।'

अर्थ- काल संसार विषैं भ्रमण करता जीव, उत्सर्पिणी अवसर्पिणीरूप कल्पकाल का समस्त समय, तिनकी पंकति विषैं क्रम तैं बहुत बार जन्म धर्‌या है, अर मरण कीया है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५३)

-'उवसप्पिणिअवसप्पिणि, पढमसमयादिचरमसयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि, मरदि य सव्वेसु कालेसु।। ६९।।'

अन्वयार्थ- उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकाल के पहले समय से लगाकर अन्त के समय तक यह जीव अनुक्रम से सब ही कालों में उत्पन्न होता है तथा मरता है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ६९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३१)

प्रश्न ६- भवपरावर्तन किसे कहते हैं?

उत्तर- 'अभेदरत्नत्रयात्मक समाधि के बल से सिद्धगति में निजात्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसी सिद्धपर्यायरूप जो उत्पाद -उसे छोड़कर नरक, तिर्यञ्च और मनुष्यभव में तथा देव के भवों में निश्चयरत्नत्रय की भावनारहित, भोगाकांक्षानिदानपूर्वक द्रव्य-तपश्चरणरूप जिनदीक्षा के बल से नव ग्रैवेयक तक इस गाथा में कहे हुए पद[1] तथा आगमनिषिद्ध अन्य पद छोड़कर, भवनाशक निजशुद्धात्मभावना से रहित वर्तते हुए और भव-उत्पादक मिथ्यात्वरागादिभावनासहित वर्तते हुए इस जीव ने अनन्तबार जन्म और मरण किया है- इस प्रकार 'भवसंसार' (भवपरावर्तन) जानना।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १२२)

---

१. -'सक्को सहग्गमहिस्सी दक्खिणइंदा य लोयवाला य। लोयंतिया य देवा तच्छ चुदा णिव्वुदिं जंति।।'

अर्थ- शक्र (प्रथम स्वर्ग का इन्द्र), प्रथम स्वर्ग की इन्द्राणी (शची), दक्षिणदिशा के इन्द्र, लोकपाल और लौकान्तिक देव -ये सब स्वर्ग से च्युत होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

(श्रीमूलाचार, अध्याय १२, गाथा १४२, आधार-श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की संस्कृत व हिन्दी टीका, पृष्ठ १२२)

........क्रमशः

-'तथा जीव निरन्तरपने अनन्त भवपरावर्तन कर चुका है। मनुष्य, नारकी, देव, और तिर्यञ्च के भव अनन्तबार धर चुका है। राजा, महाराजा, सेठ, और करोड़पति के भव अनन्तबार मिले हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७९)

-'ऐसा कोई भव नहीं जो इसने पाया न हो;'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ७७ का भावार्थ, पृष्ठ ७६)

-**'णेरइयादिगदीणं, अवर-ट्ठिदो वरट्ठिदी जाव।**
सव्वट्ठिदिसु वि जम्मदि, जीवो गेवेज्जपज्जंतं।। ७०।।'

अन्वयार्थ- संसारी जीव नरकादि चार गतियों की जघन्य स्थिति से लगाकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त सब अवस्थाओं में ग्रैवेयक पर्यन्त जन्म पाता है।

भावार्थ- नरकगति की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। इसके जितने समय है, उतनी बार तो जघन्य स्थिति की आयु लेकर जन्म पावे। बाद में एक समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे। बाद में दो समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे। ऐसे ही अनुक्रम से तैंतीस सागर पर्यन्त आयु पूर्ण करे। बीच-बीच में घट बढ़कर आयु लेकर जन्म पावे, वह गिनती में नहीं है। इस तरह तिर्यञ्चगति की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त उसके जितने समय हैं, उतनी बार जघन्य आयु का धारक होवे; बाद में एक समय अधिक क्रम से तीन पल्य पूर्ण करे, बीच में घटबढ़कर आयु लेकर जन्म पावे, वह गिनती में नहीं है। इसी तरह मनुष्य की जघन्य आयु से लगाकर उत्कृष्ट तीन पल्य पूर्ण करे। इसी तरह देवगति की जघन्य आयु दस हजार वर्ष से लगाकर ग्रैवेयक के उत्कृष्ट इकतीस सागर तक समय अधिक क्रम से पूर्ण करे। ग्रैवेयक के आगे उत्पन्न होनेवाला एक-दो भव लेकर मोक्ष ही जावे; इसलिये उनको गिनती में नहीं लाये। इस तरह ही भवपरावर्तन का अनन्तकाल है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ७०, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ३१-३२)

-**'णिरयादि जहण्णादिसु जावदु उवरिल्लिया दु गेवेज्जा।**
मिच्छत्त संसिदेण हु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो।।'

अर्थ- मिथ्यात्व के संसर्गसहित नरकादि की जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट ग्रैवेयक (नववें ग्रैवेयक) तक के भवों की स्थिति (आयु) को यह जीव अनेक बार प्राप्त कर चुका है। तथा,

-'जब चारों गतियों में परिवर्तन पूर्ण करता है, तब एक भवपरिवर्तन पूर्ण होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका पृष्ठ २०३-२०४)

-'इकत्तीस (३१) सागर से अधिक आयु के धारक नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर ऐसे १४ विमानों में उत्पन्न होनेवाले देवों के परिवर्तन नहीं होता क्योंकि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०३ की पादटिप्पणी)

[श्रीमोक्षशास्त्र में भी भवपरावर्तन का विस्तार श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा के भावार्थ के समान ही है।]

–'नरकजघन्यायुष्यादुपरिमग्रैवेयकावसानेषु।
मिथ्यात्वसंश्रितेन हि भवस्थितिर्भाविता बहुशः॥'

अर्थ– मिथ्यात्व करि आश्रित जीव, तीहि नरक का जघन्य आयु आदि उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त आयु विषैं संसार की स्थिति बहुत बार भोगई है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५४)

[**विशेष**– (१) बीच में अन्य गतियों में भ्रमण किया, सो वे भव गणना में नहीं लिये जाते; (२) बीच में अन्य स्थानों में जो जन्म लिया, सो गणना में नहीं आता; और (३) इस क्रम से रहित (एक-एक समय बढ़ने के क्रम से रहित) जो जन्म होते हैं, वे गणना में नहीं आते। **–श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०३**]

प्रश्न ७– भावपरावर्तन किसे कहते हैं?

उत्तर– 'ऐसे अशुद्धभाव नहीं है जो इसके (संसारी जीव के) न हुए हों। इस तरह अनन्त परावर्तन इसने किये हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ७७ का भावार्थ, पृष्ठ ७६)

–'इसी प्रकार जीव को अनन्त भावपरावर्तन हुए हैं। शुभ और अशुभभावरूपी भावपरावर्तन अनन्तबार हो गये हैं। दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति आदि शुभभाव जीव ने अनन्तबार किये हैं। एकेन्द्रिय को भी शुभभाव होते हैं। इस प्रकार दया, अहिंसा आदि के शुभभाव और कमाना, परिग्रह रखना, विषय-वासना आदि पापभावोंरूप परावर्तन जीव ने अनन्तबार किये हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७१)

–'उन सबमें (प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध के निमित्तभूत सर्वजघन्य योगस्थान तथा सर्वोत्कृष्ट योगस्थानों में; तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के निमित्तभूत सर्वजघन्य कषाय -अध्यवसाय, सर्वोत्कृष्ट कषाय-अध्यवसाय के स्थानों में) परमागम में कहे अनुसार इस जीव ने अनन्तबार भ्रमण किया है परन्तु, (पूर्वोक्त) समस्त प्रकृतिबन्ध आदि की सत्ता के नाश के कारणरूप जो विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्र वही इस जीव ने प्राप्त नहीं किया है– इस प्रकार "भावसंसार" (भावपरावर्तन) है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १२२-१२३)

–'परिणमदि सण्णिजीवो, विविहकसाएहि ट्ठिदिणिमित्तेहिं।
अणुभागणिमित्तेहिं य, वट्टंतो भावसंसारे॥ ७१॥'

अन्वयार्थ- भावसंसार में वर्तता हुआ जीव अनेक प्रकार कर्म की स्थितिबन्ध को कारण और अनुभागबन्ध को कारण अनेक प्रकार के कषायों से **सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव**[1] परिणमता है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ७१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३२)

– **'सव्वा पयडिट्ठिदिओ अणुभाग पदेस बंधठाणादि।**

मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भाव संसारे।।'

अर्थ- समस्त प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध के स्थानरूप मिथ्यात्व के संसर्ग से जीव निश्चय से (वास्तव में) भावसंसार में भ्रमण करता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र की टीका, पृष्ठ २०५)

– **'सर्वप्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधयोग्यानि।**

स्थानान्यनुभूतानि, भ्रमता भुवि भावसंसारे।।'

अर्थ- लोक विषैं भाव संसार विषैं भ्रमण करता जीव करि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग बन्ध कौं योग्य, जे योगनि के, कषायनि के, स्थिति के, स्थान ते सब ही भोगिए है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५६)

प्रश्न ८- पञ्च-परावर्तन में प्रत्येक परावर्तन का काल कितना है?

उत्तर- पञ्च-परावर्तन में सबसे कम काल द्रव्यपरावर्तन का है जो कम होनेपर भी अनन्तकाल है। क्षेत्र, काल, भव, और भाव का क्रमशः पहले की अपेक्षा अनन्तगुणा है।

–'सर्व तैं स्तोक एक पुद्गलपरिवर्तन (द्रव्यपरावर्तन) का काल है, सो अनन्त है। बहुरि तातैं अनन्तगुणा क्षेत्रपरिवर्तन का काल है। बहुरि तातैं अनन्तगुणा कालपरिवर्तन का काल है। बहुरि तातैं अनन्तगुणा भवपरिवर्तन का काल है। बहुरि तातैं अनन्तगुणा भावपरिवर्तन का काल है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५७)

प्रश्न ९- जीव ने पञ्च-परावर्तनों में अनादि से आज तक सर्वाधिक परावर्तन कौनसे किये हैं?

उत्तर- जीव (संसारी जीव) ने आज तक सर्वाधिक द्रव्यपरावर्तन और सबसे कम भावपरावर्तन किये हैं, क्योंकि पाँचों परावर्तनों में सबसे कम काल द्रव्यपरावर्तन और सबसे अधिक काल भावपरावर्तन का है।

–'याही तैं एक जीव के अनादि तैं लगाइ, अतीतकाल विषैं भाव परिवर्तन थोरे भए; ते पणि अनन्त भए। बहुरि तिनितैं अनन्तगुणे भव परिवर्तन भए। बहुरि तिनितैं अनन्तगुणे काल

---

१. **सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव-** श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भावपरावर्तन के वर्णन में एकमात्र 'सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव' का उल्लेख किया गया है। शेष सभी ग्रन्थों में 'जीव अथवा संसारी जीव' का कथन है।

परिवर्तन भए। बहुरि तिनितैं अनन्तगुणे क्षेत्र परिवर्तन भए। बहुरि तिनितैं अनन्तगुणे द्रव्य परिवर्तन भए, ऐसैं जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५७)

प्रश्न १०- पञ्च-परावर्तन में निश्चय और व्यवहार परावर्तन कौनसे हैं?

उत्तर- पञ्च-परावर्तन में भावपरावर्तन निश्चय है और शेष सभी (द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भव) व्यवहार हैं।

-'संसार (परिवर्तन) के भेद करने पर भावपरिभ्रमण उपादान अर्थात् निश्चय संसार है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भवपरिभ्रमण निमित्तमात्र है; अर्थात्, व्यवहार संसार है, क्योंकि वह परवस्तु है। निश्चय का अर्थ है वास्तविक और व्यवहार का अर्थ है कथनरूप निमित्तमात्र।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०५)

प्रश्न ११- पञ्च-परावर्तन में जीव भटकता है, वह व्यवहार से है अथवा निश्चय से?

उत्तर- (जीव) पञ्च-परावर्तन में अपने भावों से ही भटकता है; अत: निश्चय से है। परन्तु त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की अपेक्षा से पञ्च-परावर्तन के भाव पर्याय में होने से पर्याय को व्यवहार कहा जाता है। पञ्च-परावर्तन में जीव भटकता है; वह व्यवहार से भटकता है-ऐसा नहीं है किन्तु निश्चय से ही भटकता है। प्रवचनसार में जीव के विकारभाव को निश्चय कहा गया है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४९०, पृष्ठ १८३-१८४)

प्रश्न १२- पञ्च-परावर्तन किन जीवों के होते हैं?

उत्तर- पञ्च-परावर्तन केवल मिथ्यादृष्टि जीवों के ही होते हैं। मिथ्यात्व के अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति के साथ ही पञ्च-परावर्तन का अभाव हो जाता है।

-'व्यवहारराशि के जीवों को ये पाँच परिवर्तन लागू होते हैं। प्रत्येक जीव ने ऐसे अनन्त परिवर्तन किये हैं और जो जीव मिथ्यादृष्टित्व बनाये रखेंगे, उनके अभी भी वे परिवर्तन चलते रहेंगे।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०६)

-'ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में सम्यक्त्वी को संसार ही नहीं है। जिसकी दृष्टि कर्म पर है, ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही संसार है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १५६)

-'ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावाच्छुद्धस्वभावनियत: स हि मुक्त एव।। १९८।।'

श्लोकार्थ- ज्ञानी कर्म को न तो करता है और न भोगता है; वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। इस प्रकार मात्र जानता हुआ, करने और भोगने के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में

निश्चय ऐसा वह (ज्ञानी; सम्यग्दृष्टि) वास्तव में मुक्त ही है।

(श्रीसमयसार, कलश १९८ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ४४६)

प्रश्न १३- जो जीव आज तक निगोद से निकले ही नहीं; अर्थात्, नित्यनिगोद के जीवों को ये पञ्च-परावर्तन किस तरह लागू पड़ते हैं?

उत्तर- नित्यनिगोद के जीव अनादि से निगोद में से निकले ही नहीं हैं, लेकिन उनमें इन पाँच परिवर्तनों की शक्ति विद्यमान है; इसलिये उनके भी उपचार से ये पाँच परिवर्तन लागू होते हैं। इसी प्रकार व्यवहारराशि के जो जीव अभी तक सभी गतियों में नहीं गये, उन्हें भी उपचार से ये परिवर्तन लागू होते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०६)

-'यद्यपि ऐसे भी अनन्त पुद्गल हैं जिनका सम्बन्ध आज तक इस जीव से नहीं हुआ; तथापि रागसहित होने से इस जीव में उन पुद्गल परमाणुओं से सम्बन्ध करने की योग्यता तो है ही। इसी अपेक्षा यह कहा है कि सब पुद्गल अनन्तबार सम्बन्ध में आये।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७०)

प्रश्न १४- क्या नित्यनिगोदवासी जीव पञ्च-परावर्तन का अभाव कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है?

उत्तर- नित्यनिगोद में जीव स्वयं के अपराध से है। एकेन्द्रिय निगोदियाजीव को भी शुभ-अशुभभाव होते हैं। जीव स्वयं अपने परिणामों से नित्यनिगोद से निकलकर पुरुषार्थपूर्वक पञ्च-परावर्तन का अभाव करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

-'**अत्थि अणंता जीवा, जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।**
भावकलंकसुपउरा, णिगोदवासं ण मुंचंति।। १९७।।'

अर्थ- ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने अब तक त्रसपर्याय नहीं की है। वे **प्रचुर[1] भावकलङ्क[2]** होने से निगोदवास नहीं छोड़ते हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९७ व अर्थ, आधार-श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १२४)

-'एकेन्द्रिय को भी शुभभाव होते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७१)

---

१. **प्रचुर-** अत्यधिक; अत्यन्त।

२. **भावकलङ्क-** कषाय; अशुभ लेश्या।

[-'बहुरि भाव जो निगोद पर्याय, तिहिनै कारणभूत जो कलङ्क कहिये कषायनि का उदय करि प्रगट भया अशुभ लेश्यारूप, तिहिं करि प्रचुर कहिये अत्यन्त सम्बन्धरूप है।' -श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९७ की टीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३३७]

–'नित्य-निगोदवासी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी भरत चक्रवर्ती के नौ सौ तेइस पुत्र कर्मों की निर्जरा करने से इन्द्रगोप हुए और उनके समूह पर भरत के हाथी ने पैर रखा जिससे वे मरकर वर्धनकुमार आदि भरत के पुत्र हुए। वे किसी के साथ नहीं बोलते थे; अत: भरत ने समवशरण में भगवान से पूछा। तब भगवान ने उनका पूर्ववृतान्त कहा। उसे सुनकर उन्होंने तप ग्रहण किया और बहुत थोड़े समय में मोक्ष प्राप्त किया।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १२४-१२५)

प्रश्न १५- पञ्च-परावर्तन का कारण क्या है?

उत्तर- पञ्च-परावर्तन; अर्थात्, अनादि से संसार परिभ्रमण का एकमात्र कारण मिथ्यात्व; अर्थात्, शरीरादि परवस्तुओं में अपनेपने की मान्यता है।

–'जीव की संसारीदशा होने का कारण आत्मस्वरूप-सम्बन्धी भ्रम है। उस भ्रम को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस भूलरूप मिथ्यादर्शन के कारण से जीव पाँच प्रकार के परिवर्तन किया करते हैं, संसारचक्र चलता रहता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०१)

–'एवं अणाइकाले, पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणादुक्खणिहाणो, जीवो मिच्छत्त-दोसेण।। ७२।।'

अन्वयार्थ- इस प्रकार अनेक प्रकार के दु:खों के निधान पाँच प्रकार संसार में यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के दोष से भ्रमण करता है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ७२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३३-३४)

–'पंचपरावर्तनमयी, दु:खरूप संसार।
मिथ्याकर्म उदै वशे, भरमै जीव अपार।। ३।।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, दोहा ३, पृष्ठ ३४)

–'इस भवतरुका मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव।।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ १९३)

–'(जीव) उस मिथ्यात्व परिणाम से शुद्धात्मा के अनुभव से पराङ्मुख अनेक तरह के कर्मों को बाँधता है जिनसे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूपी पाँच प्रकार के संसार में भटकता है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ७७ का भावार्थ, पृष्ठ ७५)

–'एकछत्र राज्य से वश करनेवाली विपरीत श्रद्धा; अर्थात्, पर में सावधानीरूप मोह के बड़े भूत के अधीन हुआ है। ऐसे मोह के भूत के पास यह जीव बैल की भाँति भार ढो रहा है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७१)

-'पंचविधे संसारे, कर्मवशाज्जैनदर्शितं मुक्तेः।

मार्गमपश्यन् प्राणी, नानदुःखकुले भ्रमति।।'

अर्थ- जिनमत करि दिखाया जो मुक्ति का मार्ग, ताकौं न श्रद्धान करता प्राणी जीव नानाप्रकार दुःखनि करि आकुलित जो पञ्च प्रकार संसार, तीहि विषैं भ्रमण करै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५७)

-'एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।

प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।। १४।।'

अन्वयार्थ- इस प्रकार यह आत्मा कर्मकृत रागादि अथवा शरीरादि भावों से संयुक्त न होनेपर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त-जैसा प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीजरूप है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १९)

-'इन पाँच-परावर्तनरूप भ्रमण में इसे मोहकर्म का उदयरूप पिशाच-भूत जोत रहा है। उल्टी मान्यतारूप भूत ने इसे राग की एकतारूप संसार में जोत दिया है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ७६)

प्रश्न १६- पञ्च-परावर्तन अर्थात् संसार परिभ्रमण के अभाव का क्या उपाय है?

उत्तर- मिथ्यात्व का अभाव; अर्थात्, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति ही पञ्च-परावर्तन के अभाव का एकमात्र उपाय है। इसी उपाय से आज तक जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है, कर रहे हैं, और करते रहेंगे।

-'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रगट होनेपर भाव संसार (संसार परिभ्रमण) दूर हो जाता है; तत्पश्चात् अन्य चार अघाति कर्मरूप निमित्तों का स्वयं अभाव हो जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०५)

-'इस भव के सब दुःखनिके, कारण मिथ्याभाव।

तिनिकी सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव।।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७६)

-'इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।

तं झायह स-सरूवं, संसरणं जेण णासेइ।। ७३।।'

अन्वयार्थ- इस तरह संसार को जानकर (पञ्च-परावर्तन का स्वरूप जानकर) सब तरह के प्रयत्नपूर्वक मोह को छोड़कर उस आत्मस्वरूप का ध्यान करो जिससे संसार परिभ्रमण नष्ट हो जावे।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ७३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३४)

-'किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।

सिज्झिहहि जे वि भविया तंजाणइ सम्ममाहप्पं।। ८८।।'

अर्थ- आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या साध्य है। जो नरप्रधान अतीतकाल में सिद्ध हुए हैं और आगामीकाल में सिद्ध होंगे वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ८८ व अर्थ, पृष्ठ २८१)

[पञ्च-परावर्तन के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये- **(१) श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० व टीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६४६ से ६५७; (२) श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, संसार-अनुप्रेक्षा, गाथा ६६, पृष्ठ २९ से गाथा ७३, पृष्ठ ३४; तथा (३) श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०० से २०७ का** अध्ययन करें।]

भव-भ्रमण के अन्त का उपाय शीघ्र कर

'यह मनुष्य-अवतार धारण करके यदि भव के अन्त की भनक अन्तर में जागृत नहीं की तो जीवन किस काम का? जिसने जीवन में भव से छूटने का उपाय नहीं किया उसके और कीड़ों-कौओं के जीवन में क्या फर्क है? सत्समागम से अन्तर के उल्लासपूर्वक चिदानन्दस्वभाव का श्रवण करके, उसकी प्रतीति करते ही तेरे आत्मा में भवान्त की भनक आने लगेगी। इसलिये भाई! सत्समागम से भव-भ्रमण के अन्त का यह उपाय शीघ्र ही कर।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या १४७, पृष्ठ ९२)

जीवन व्यर्थ नहीं गँवाना

'चाहे जैसे कठिन समय में अपने ज्ञान-ध्यान का समय निकाल लेना चाहिए। यह अमूल्य जीवन चला जा रहा है। इसे व्यर्थ नहीं गँवाना।'

(पू० बहनश्री, वचनामृत संख्या २१९, पृष्ठ ८८)

असाधारण भाव

प्रश्न १- असाधारण भाव किसे कहते हैं?

उत्तर- असाधारण का अर्थ विशेष है; अर्थात्, जो भाव केवल जीवद्रव्य में ही पाये जायें; शेष पाँच द्रव्यों में न पाये जायें- वे जीव के असाधारण भाव कहलाते हैं।

-'ये पाँच भाव निजभाव हैं; अर्थात्, ये जीव के अतिरिक्त दूसरे में नहीं होते।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ का अर्थ, पृष्ठ १७८)

प्रश्न २- जीव के असाधारण भाव कितने हैं?

उत्तर- जीव के असाधारण भाव पाँच हैं- (१) औपशमिकभाव, (२) क्षायिकभाव, (३) क्षायोपशमिकभाव, (४) औदयिकभाव, और (५) पारिणामिकभाव।

-'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।। १।।'

अर्थ- जीव के औपशमिक और क्षायिकभाव और मिश्र (क्षायोपशमिक) तथा औदयिक और पारिणामिक- ये पाँच भाव निजभाव हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र १ व अर्थ, पृष्ठ १७८)

-'लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात्।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पञ्च यथोदिताः।। ९६१।।'

अर्थ- यद्यपि संक्षिप्त भावों को विस्तार से देखा जाये, तो वे असंख्यात लोकप्रमाण प्राप्त होते हैं किन्तु उनकी जाति की विवक्षा करनेपर वे पाँच प्रकार के कहे गये हैं। तथा,

-'तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति नुः।। ९६२।।
पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात्।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदितीरिताः।। ९६३।।'

अर्थ- उनमें से पहला औपशमिकभाव है, दूसरा क्षायिकभाव है, तीसरा क्षायोपशमिकभाव है, चौथा औदयिकभाव है, और पाँचवाँ पारिणामिकभाव है। इस प्रकार क्रम से पाँच भाव कहे गये हैं और इनके उत्तर भेद त्रेपन कहे गये हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६१, ९६२, ९६३ व अर्थ, पृष्ठ ३०४)

–'उदयेण उवसमेण य खएण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।

जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा।। ५६।।'

अन्वयार्थ– उदय से युक्त, उपशम से युक्त, क्षय से युक्त, क्षयोपशम से युक्त, और परिणाम से युक्त– ऐसे (पाँच) जीवगुण (जीव के भाव) हैं और उन्हें अनेक प्रकारों में विस्तृत किया जाता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९७)

–'औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, और पञ्चमपारिणामिक– ये पाँच जीव के असाधारण भाव हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, कर्मशक्ति, पृष्ठ ४९४–४९५)

औपशमिकभाव

प्रश्न ३– औपशमिकभाव किसे कहते हैं?

उत्तर– कर्मों के उपशम होने से जीव का जो भाव होता है, उसे औपशमिकभाव कहते हैं।

–'कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात्स्वत:।

यो भाव: प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञक:।। ९६४।।'

अर्थ– विपक्षी कर्मों के पाक का स्वयं उपशम होने से प्राणियों के जो भाव होता है, उसकी औपशमिक संज्ञा है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६४ व अर्थ, पृष्ठ ३०५)

–'आत्मनि कमण: स्वशक्ते: कारणवशादनुद्भूतिरूपशम:।'

अर्थ– आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश से उदय नहीं होना– इसी को उपशम कहते हैं; जैसे, कीच (गन्दगी) से मिले हुए जल में फिटकरी आदि द्रव्य डालने से कीच जल के नीचे बैठ जाती है और निर्मल जल ऊपर रहता है। इसी प्रकार जिन कर्मों का उपशम होता है, वे उस काल में उदय में नहीं आते हैं; इसलिये आत्मा उस समय निर्मल जल की तरह निर्मल हो जाता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, अध्याय २, गाथा ९६८ का भावार्थ, पृष्ठ २५७)

–'आत्मा के पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धता का प्रगट न होना; अर्थात्, दब जाना। आत्मा के इस भाव को औपशमिकभाव कहते हैं। यह जीव की एक समयमात्र की पर्याय है; वह एक–एक समय करके अन्तर्मुहूर्त तक रहती है, किन्तु एक समय में एक ही अवस्था होती है और उसी समय आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर जड़कर्म का प्रगटरूप फल जड़कर्म में न आना, सो कर्म का उपशम है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७८)

–'बहुरि गुण का प्रतिपक्षी जे कर्म, तिनका उदय का अभाव, सो उपशम है। ताकौं होते संतैं जो होय, सो औपशमिकभाव है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ८६)

–'कर्मों के उपशम से जो भाव हो, वह औपशमिकभाव है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८३)

–'कर्मों का फलदानसमर्थ (फल देने में समर्थ) रूप से अनुद्भव सो उपशम है और "उपशम" से युक्त वह "औपशमिक" है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ की टीका, पृष्ठ ९८)

–'जो किसी कर्म के उपशम से हो, उसको औपशमिकभाव कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३४३, पृष्ठ ८५)

प्रश्न ४- उपशम से क्या तात्पर्य है?

उत्तर- 'अनिवृत्तिकरण में किये अन्तरकरणविधान से जो सम्यक्त्व के काल में उदय आने योग्य **निषेक**[1] थे, उनका तो अभाव किया, उनके परमाणु अन्यकाल में उदय आने योग्य निषेकरूप किये, तथा अनिवृत्तिकरण में ही किये उपशमविधान से जो उसकाल के पश्चात् उदय आने योग्य निषेक थे, वे उदीरणारूप होकर इसकाल में उदय में न आ सकें- ऐसे किये।

इस प्रकार जहाँ सत्ता तो पायी जाये और उदय न पाया जाये- उसका नाम उपशम है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३३)

–'परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रगट न होना उपशम है अथवा जो कर्म उदय में नहीं आसके लेकिन सत्ता में रहे, वह उपशान्त (उपशम) कहलाता है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २०, पृष्ठ २८)

–'कर्मों के सत्ता में रहते हुए अपना कार्य न करना उपशम है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६४ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३०५)

प्रश्न ५- औपशमिकभाव के कितने भेद हैं?

उत्तर- औपशमिकभाव के दो भेद हैं- (१) औपशमिकसम्यक्त्वभाव, और (२) औपशमिक-चारित्रभाव।

–'**सम्यक्त्वचारित्रे**।। ३।।' -**अर्थ**- औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र इस प्रकार औपशमिकभाव के दो भेद हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ३ व अर्थ, पृष्ठ १८७)

---

१. **निषेक**- 'एक समय में उदय आनेवाले कर्मपरमाणुओं के समूह को निषेक कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २६, पृष्ठ २९)

-'औपशमिकभाव के दो भेद इस प्रकार हैं- उपशमसम्यक्त्व, और उपशमचारित्र।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८३)

प्रश्न ६- औपशमिकसम्यक्त्वभाव किसे कहते हैं?

उत्तर- औपशमिकसम्यक्त्वभाव जीव के श्रद्धागुण की स्वभाव अर्थपर्याय है। यह भाव चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक होता है।

-'जब जीव के अपने पुरुषार्थ से औपशमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है, तब जड़कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण मिथ्यात्व और **अनन्तानुबन्धी**[1] क्रोध, मान, माया, लोभ

---

१. शास्त्रों में **कषाय**[2] के चार भेद कहे हैं- (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, और (४) लोभ।

-इनमें प्रत्येक के चार-चार उपभेद हैं- **(क) अनन्तानुबन्धी, (ख) अप्रत्याख्यानावरण**, (ग) प्रत्याख्यानावरण, और (घ) **संज्वलन**। इस प्रकार कषाय के कुल ४x४=१६ भेद हुए।

-इनमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद- इन नोकषायो के मिलाने पर (१६+९=२५) कुल २५ भेद हुए।

-'**कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः। क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात्।। १०५३।।**
ते चात्मोत्तरभेदैश्च नामतोऽप्यत्र षोडश। पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः।। १०५४।।'

अर्थ- क्रोध, मान, माया, और लोभ- ये चार कषाय भी जीव के औदयिकभाव जानने चाहिए। वे अपने उत्तरभेदो की अपेक्षा नाम से सोलह और पच्चीस हैं। वैसे असंख्यात लोकमात्र हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १०५३, १०५४ व अर्थ, पृष्ठ ३२१)

-क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चार कषायों में नोकषायों (रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व तीन वेद) को मिलाकर कुल १३ कषाय। प्रत्येक के (१३ के) अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और संज्वलन- चार-चार भेद। इस प्रकार १३ X ४ = कुल ५२ भेद। तथा क्रोध, मान, माया, और लोभ के तीव्रतर, तीव्र, मंदतर- ये चार प्रकार। इन प्रत्येक प्रकार के उदय स्थानक असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इस प्रकार कुल भेद-प्रभेद मिलाकर कषाय के भी असख्यात लोक प्रमाण भेद हैं।

(आधार-भावदीपिका, कषायभाव अंतराधिकार, पृष्ठ ४९-५०)

(क) अनन्तानुबन्धी- 'अनन्तं-अनन्त संसारं, अनुबन्धाति स अनन्तानुबन्धी' -अर्थात् जो अनन्त संसार को बांधे-बढ़ाये, उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन का भी घात करती है; इसलिये यह ससार मे अनन्तकाल तक भ्रमण करानेवाली है।

(ख) अप्रत्याख्यानावरण- 'अ-ईषत्, प्रत्याख्यानं-चारित्रं, आवृणोति-रूणद्धि असौ अप्रत्याख्यानावरणः' -अर्थात्, जो थोड़े भी-एकदेश भी चारित्र को न होने दे- वह अप्रत्याख्यानावरण है।

(ग) प्रत्याख्यानावरण- 'प्रत्याख्यानं-सकलचारित्रं, आवृणोतीति प्रत्याख्यानावरणः' -अर्थात्, जो सकलचारित्र को न होने दे, उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

(घ) संज्वलन- 'यो यथाख्यातं संज्वलयति-भस्मसात् करोति सः संज्वलनः' -अर्थात्, जो यथाख्यातचारित्र को न होने दे, उसे संज्वलन कहते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा १०५९, पृष्ठ २८६ की पादटिप्पणी)

२. **कषाय-** जो आत्मा के सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, और यथाख्यातचारित्र परिणामों को घाते; उसे कषाय कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ४०५, पृष्ठ ९८)

-तहां अपना स्वरूप जो ज्ञाता-दृष्टा भाव, तातैं छुड़ाय अरु पर स्वरूप जो राग-द्वेष भाव, तारुप करै, सो कषाय कहिये।'

(भावदीपिका, कषायभाव अंतराधिकार, पृष्ठ ५०)

-इन पाँच कर्मप्रकृतियों का नियम से और किन्हीं सादि मिथ्यादृष्टियों के सात प्रकृतियों का उपशम होता है। जीव के इस भाव को औपशमिकसम्यक्त्वभाव कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३ की टीका, पृष्ठ १८७)

-'यह मिथ्यात्व से हुआ प्रथमोपशमसम्यक्त्व है; सो चतुर्थादि सप्तम गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३३)

प्रश्न ७- औपशमिकचारित्रभाव किसे कहते हैं?

उत्तर- यह जीव के चारित्रगुण की स्वभाव अर्थपर्याय है। यह भाव ग्यारहवें गुणस्थान में होता है।

(आधार-जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, चतुर्थभाग, प्रश्न संख्या १५-१६, पृष्ठ १०९)

-'जिस चारित्रभाव से जीव उपशमश्रेणी के योग्य भाव प्रगट करता है उसे औपशमिकचारित्रभाव कहते हैं। इस भाव के समय मोहनीयकर्म की अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियों का उपशम स्वयं हो जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३ की टीका, पृष्ठ १८७)

प्रश्न ८- क्या ज्ञान-दर्शन, और वीर्यगुण में भी औपशमिकभाव होता है?

उत्तर- नहीं! यदि ज्ञान-दर्शन और वीर्यगुण में औपशमिकभाव हो जाये, तो उसी समय केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि प्रगट हो जाये और कर्म की सत्ता में पड़ा रह जाये। किन्तु ऐसा हो ही नहीं सकता।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ४, प्रश्न संख्या ५७, पृष्ठ ११९)

-'ज्ञान-दर्शन और वीर्यगुण की अवस्था में औपशमिकभाव होता ही नहीं। मोह का ही उपशम होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७९)

प्रश्न ९- औपशमिकभाव कब प्रगट होता है?

उत्तर- जब जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से अनादिकाल से चले आ रहे स्व-पर (सत्-असत्) के अविवेक को दूर करके अपने त्रैकालिक पारिणामिकभाव-ज्ञायकभाव का आश्रय लेता है, तब उसे श्रद्धागुण का औपशमिक प्रगट होता है जिसे औपशमिक सम्यक्त्वभाव या उपशम सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८१-१८२)

प्रश्न १०- औपशमिक की महिमा क्या है?

उत्तर- औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है कि जो जीव पुरुषार्थ के द्वारा

एकबार उसे प्रगट कर लेता है, उसे उसकी पूर्ण पवित्रदशा (मोक्षदशा) प्रगट हुए बिना नहीं रह सकती। **प्रथम औपशमिकभाव** के प्रगट होनेपर जीव की **'उन्मत्तदशा'**[1] दूर हो जाती है; अर्थात्, जीव की मिथ्याज्ञानदशा दूर होकर वह सम्यक्मति-श्रुतज्ञानरूप हो जाती है और यदि जीव को पहले (मिथ्यात्वअवस्था में) मिथ्याअवधिज्ञान हो तो वह भी सम्यक्अवधिज्ञानरूप हो जाता है।

धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है और प्रथमसम्यग्दर्शन औपशमिकभाव से ही होता है। औपशमिकभाव की इस अद्भुत महिमा के कारण ही आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र शुरु करते ही **सर्व प्रथम** सम्यग्दर्शन और दूसरे अधिकार के प्रथम सूत्र में सर्व प्रथम औपशमिकभाव की चर्चा की है।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८२-१८३)

प्रश्न ११- औपशमिकभाव क्या बतलाता है?

उत्तर- औपशमिकभाव बतलाता है कि-

(१) जब जीव आत्मा का स्वरूप यथार्थतया समझकर अपने पारिणामिकभाव का आश्रय लेता है, तब औदयिकभाव दूर होना प्रारम्भ होता है और सर्वप्रथम श्रद्धागुण का औदयिकभाव दूर होता है, और

(२) यदि जीव **प्रतिहतभाव**[2] से पुरुषार्थ में आगे बढ़ता है, तो चारित्रमोह स्वयं उपशम को प्राप्त होता है और औपशमिकचारित्र प्रगट होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८०)

प्रश्न १२- सबसे कम समय तक कौनसा भाव रहता है?

उत्तर- औपशमिकभाव सबसे कम समय रहता है। यह भाव प्रथम सम्यक्त्व के समय अन्तर्मुहूर्त समयमात्र के लिये होता है, किन्तु गौणरूप से चतुर्थ गुणस्थान में प्रारम्भ होकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त बना रहता है।

-'इसके प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता पायी जाती है; इसलिये अन्तर्मुहूर्त कालमात्र यह सम्यक्त्व रहता है', तथा,

---

१. **उन्मत्तदशा**- पागलपन; पागलदशा; मिथ्यात्वदशा का ज्ञान।

-**'सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्॥ ३२॥'**

अर्थ- अपनी इच्छा से चाहे जैसा (WHIMS) ग्रहण करने के कारण विद्यमान और अविद्यमान पदार्थों का भेदरूप ज्ञान न होने से (उन्मत्तवत्) पागल के ज्ञान की भाँति मिथ्यादृष्टि का ज्ञान विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान ही होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३२ व अर्थ, पृष्ठ ८७)

२. **प्रतिहतभाव**- प्रतिहत पुरुषार्थ। जिस भाव से मोह को जीता तो जाय, लेकिन मोह का सत्ता से सर्वथा नाश न हो, उस भाव को प्रतिहतभाव कहा है। इस भाववाले जीव को समयसार में 'जितमोह' नाम से कहा है।

(आधार-श्रीसमयसार, गाथा ३२ का भावार्थ, पृष्ठ ६६)

-'प्रथमोशम सम्यक्त्व है, सो चतुर्थादि सप्तम गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३३-३३४)

क्षायिकभाव

प्रश्न १३- क्षायिकभाव किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्मों के सर्वथा नाश के साथ सम्बन्धवाला आत्मा का जो अत्यन्त शुद्धभाव प्रगट हो, उसे क्षायिकभाव कहते हैं।

-'यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात्।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः।। ९६५।।'

अर्थ- यथायोग्य विपक्षी कर्मों के सर्वथा क्षय होने से जो भाव उत्पन्न होता है, वह जीव का शुद्ध और स्वाभाविक क्षायिकभाव है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६५ का अर्थ, पृष्ठ ३०५)

-'कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति होने से जो आत्मा का भाव होता है, उसे ही क्षायिकभाव कहते हैं; जैसे, फिटकरी आदि के डालने से जिस समय कीचड़ नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रहता है, उस समय उस निर्मल जल को यदि दूसरे बर्तन में धीरे से ले लिया जाये, तो फिर वह जल सदा शुद्ध ही रहता है। फिर उसके मलिन होने की सम्भावना भी नहीं हो सकती है, क्योंकि मलिनता पैदा करनेवाला कीचड़ था वह सर्वथा हट गया है। इसी प्रकार क्षायिकभाव आत्मा से कर्म के सर्वथा हट जाने पर होता है। वह सदा शुद्ध रहता है। फिर वह (आत्मा) कभी अशुद्ध नहीं हो सकता।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, अध्याय २, गाथा ९६९ का भावार्थ, पृष्ठ २५७)

-'आत्मा के पुरुषार्थ से किसी गुण की शुद्ध अवस्था का प्रगट होना क्षायिकभाव है। यह भी जीव की एक समयमात्र की अवस्था है लेकिन एक-एक समय करके वह सादिअनन्त रहती है। तथापि एक समय में एक ही अवस्था होती है। सादिअनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख- केवलवीर्ययुक्त फलरूप अनन्त चतुष्टय के साथ रहनेवाली परम उत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति जो कार्यशुद्धपर्याय है, उसे भी क्षायिकभाव कहते हैं और उसी समय आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर कर्मावरण का नाश होना सो कर्म का क्षय है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७८)

-'बहुरि प्रतिपक्षी कर्मनि को बहुरि न उपजै ऐसा नाश होना सो क्षय; ताकौं होतैं जो

सो क्षायिकभाव है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ८६)

–'**कर्मों के क्षय से**[1] जो भाव हो, वह क्षायिकभाव है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८३)

–'कर्मों का **अत्यन्त विश्लेष**[2] सो क्षय है और **क्षय से युक्त**[3] वह क्षायिक है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ की टीका, पृष्ठ ९८)

–'जो किसी कर्म के क्षय से उत्पन्न हो, उसको क्षायिकभाव कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३४४, पृष्ठ ८५)

प्रश्न १४– क्षायिक का क्या तात्पर्य है?

उत्तर– 'प्रतिपक्षी कर्म के अभाव से निर्मल है व मिथ्यात्वरूप रञ्जना के अभाव से वीतराग है। इसका नाश नहीं होता। जबसे उत्पन्न हों, तबसे सिद्ध अवस्था पर्यन्त इसका सद्भाव है।'[4]

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३५)

–'कर्मों के आत्मा से सर्वथा दूर होने; अर्थात्, कर्मों के कर्मरूप से नाश को (अकर्मदशा होने को) क्षय कहते हैं।'

(गुणस्थान–प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २७, पृष्ठ २९)

प्रश्न १५– क्षायिकभाव के कितने भेद हैं?

उत्तर– क्षायिकभाव के नौ भेद हैं– (१) क्षायिकसम्यक्त्व, (२) क्षायिकचारित्र, (३) क्षायिकज्ञान, (४) क्षायिकदर्शन, (५) क्षायिकदान, (६) क्षायिकलाभ, (७) क्षायिकभोग, (८) क्षायिकउपभोग, और (९) क्षायिकवीर्य।

–'**ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च।। ४।।**'

अर्थ– केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य तथा 'च' कहने पर क्षायिकसमयक्त्व, और क्षायिकचारित्र– इस प्रकार क्षायिकभाव के नौ भेद हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ४ व अर्थ, पृष्ठ १८८)

---

१. **कर्मों के क्षय से**– कर्मों के क्षय में; कर्मक्षय के सद्भाव में। [व्यवहार से कर्म क्षय की अपेक्षा जीव के जिस भाव में आयें, वह क्षायिकभाव है।]

(श्रीनियमसार, गाथा ४१, पृष्ठ ८३ की पादटिप्पणी)

२. **अत्यन्त विश्लेष**– अत्यन्त वियोग; आत्यन्तिक निवृत्ति।

३. **क्षय से युक्त**– क्षयसहित; क्षय के साथ सम्बन्धवाला।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ की टीका, पृष्ठ ९८ की पादटिप्पणी)

४. श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक का यह कथन क्षायिकसम्यक्त्व की अपेक्षा से है।

–'क्षायिकभाव के नौ भेद इस प्रकार हैं– क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन, तथा अन्तरायकर्म के क्षयजनित दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८४)

[**विशेष**– श्रीतत्त्वार्थसूत्र और श्रीनियमसार में वर्णित क्षायिकभावों के भेदों में नाम के अन्तर से आपस में कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। दोनों में मात्र नाम में अन्तर है; स्वरूप दोनों का एक ही है।]

प्रश्न १६– क्षायिकभाव के नौ भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर– क्षायिकभाव के नौ भेदों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार है–

१. **क्षायिकसम्यक्त्व**– अपने मूलस्वरूप की दृढ़तम प्रतीतिरूप पर्याय क्षायिकसम्यक्त्व है। इसके प्रगट होनेपर मिथ्यात्व की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार (कुल सात) कर्म प्रकृतियों का स्वयं क्षय होता है।

२. **क्षायिकचारित्र**– अर्थात् यथाख्यातचारित्र। अपने स्वरूप की पूर्ण चारित्रदशा का प्रगट होना क्षायिकचारित्र है। उस समय मोहनीयकर्म की शेष २१ प्रकृतियों का स्वयं क्षय होता है।

३. **क्षायिकज्ञान**– अर्थात् केवलज्ञान। सम्पूर्णज्ञान का प्रगट होना क्षायिक; अर्थात्, केवलज्ञान है। उस समय ज्ञानावरणीयकर्म की अवस्था स्वयं क्षयरूप होती है।

४. **क्षायिकदर्शन**– अर्थात् केवलदर्शन। सम्पूर्ण दर्शन का प्रगट होना क्षायिक; अर्थात्, केवलदर्शन है। उस समय दर्शनावरणीयकर्म का स्वयं क्षय होता है।

५. **क्षायिकदान**– अपने शुद्धस्वरूप का अपने को दान उपादानरूप निश्चय क्षायिकदान है और अनन्त जीवों को शुद्धस्वरूप की प्राप्ति में निमित्तपने की योग्यता सो व्यवहार क्षायिकदान है।

६. **क्षायिकलाभ**– अपने शुद्धस्वरूप का अपने को लाभ होना, सो उपादानरूप निश्चय क्षायिकलाभ है और निमित्तरूप से शरीरबल को स्थिर रखने में कारणरूप अन्य मनुष्य को न हो, ऐसे अत्यन्त शुभ नोकर्मरूप परिणमित अनन्त पुद्‌गल परमाणुओं का प्रतिसमय सम्बन्ध होना व्यवहार क्षायिकलाभ है।

७. **क्षायिकभोग**– अपने शुद्धस्वभाव का भोग उपादानरूप से निश्चय क्षायिकभोग है और निमित्तरूप से पुष्पवृष्टि आदि विशेषों का प्रगट होना व्यवहार क्षायिकभोग है।

८. **क्षायिकउपभोग**– अपने शुद्धस्वरूप का प्रतिसमय उपभोग होना उपादानरूप से निश्चय क्षायिकउपभोग है और निमित्तरूप से छत्र, चमर, सिंहासनादि विभूतियों का होना व्यवहार क्षायिक-उपभोग है।

९. **क्षायिकवीर्य**– अपने शुद्धात्मस्वरूप में उत्कृष्ट सामर्थ्यरूप प्रवृत्ति का होना क्षायिक- वीर्य है।

[इन नो क्षायिकभावों को **नवलब्धि**[1] भी कहते हैं]

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ४ की टीका, पृष्ठ १८८-१८९)

प्रश्न १७- क्षायिकभाव कौन-कौनसे गुणस्थान में प्रगट होते हैं?

उत्तर- क्षायिकसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक; क्षायिकचारित्र १२वें गुणस्थान में; और शेष सात क्षायिकभाव (केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, और क्षायिकवीर्य) १३वें गुणस्थान में प्रगट होते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, चतुर्थ भाग, प्रश्न संख्या २१, पृष्ठ ११०)

प्रश्न १८- प्राप्त होनेपर कभी अभाव न होनेवाला कौनसा भाव है?

उत्तर- क्षायिकभाव का प्राप्त होनेपर कभी अभाव नहीं होता। यह सादिअनन्त; अर्थात्, साधकदशा की पूर्णतावाला भाव है।

प्रश्न १९- क्षायिकभाव क्या बतलाता है?

उत्तर- क्षायिकभाव बतलाता है कि-

(१) जब जीव **अप्रतिहत पुरुषार्थ**[2] से पारिणामिकभाव का अच्छी तरह आश्रय बढ़ायें, तो विकार का नाश हो सकता है; और

(२) यद्यपि कर्मों के साथ सम्बन्ध अनादिकालीन है; तथापि प्रतिसमय पुराने कर्म जाते रहते हैं और नये कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। इस अपेक्षा से (सादिपना होने से) कर्मों का सम्बन्ध सर्वथा दूर हो सकता है- यह सिद्ध होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८०)

क्षायोपशमिकभाव

प्रश्न २०- क्षायोपशमिकभाव किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्मों के क्षयोपशम के साथ सम्बन्धवाला जो भाव होता है, उसे क्षायोपशमिकभाव कहते हैं।

-'यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयादेशघातिनाम्।। ९६६।।'

---

१. **लब्धि-** अर्थात् लाभ; प्राप्ति। -'ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं।'
(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३७६, पृष्ठ ९१)

२. **अप्रतिहत पुरुषार्थ-** अप्रतिहत भाव। जिस भाव से मोह की सन्तति का ऐसा आत्यान्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो; अर्थात्, जिससे साध्य की सिद्धि नियम से प्राप्त हो। इस भाववाले जीव को श्रीसमयसार में 'क्षीणमोह' नाम से कहा है।
(आधार-श्रीसमयसार, गाथा ३३ की टीका, पृष्ठ ६७)

अर्थ- जो भाव **सर्वघाति स्पर्धकों**[1] के अनुदय से और **देशघाति स्पर्धकों**[2] के उदय से उत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिकभाव है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६६ व अर्थ, पृष्ठ ३०५)

-'क्षायोपशमिकभाव में क्षय और उपशम की मिश्रित अवस्था रहती है; जैसे, मलिन जल में थोड़ी फिटकरी डालने से कुछ तो निर्मल जल रहता है, कुछ गँदला (गन्दा) रहता है, दोनों की मिली हुई अवस्था रहती है। उसी प्रकार क्षयोपशमिकभाव भी दोनों की मिश्रित अवस्था है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधनी टीका, गाथा ९७० का भावार्थ, पृष्ठ २५७-२५८)

-**'सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सुदपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये सति क्षायोपशमिको भावो भवति।'**

अर्थ- जो कर्म सर्वथा गुण का घात करनेवाले हैं, उनका (सर्वघातिस्पर्धकों का) **उदयक्षय**[3] होने से और उन्हीं सर्वघाति **स्पर्धकों**[4] का सत्ता में उपशम होने से तथा देशघाति स्पर्धकों का उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होता है।

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधनीटीका, गाथा ९७० का भावार्थ,पृष्ठ २५८)

-'बहुरि प्रतिपक्षी कर्मनि का उदय विद्यमान होतैं भी जो जीव के गुण का अंश देखिए, सो क्षयोपशम; ताकौं होतैं जो होई, सो क्षायोपशमिकभाव है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ८६)

-'आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर कर्म का स्वयं आंशिक क्षय और आंशिक उपशम वह कर्म क्षयोपशम है और क्षयोपशमिकभाव आत्मा की पर्याय है। यह भी आत्मा की एक

---

१. **सर्वघाति स्पर्द्धक-** सर्व प्रकार से आत्मा के गुणों का आच्छादन करनेवाली कर्म की शक्तियों को 'सर्वघाति स्पर्द्धक' कहते हैं।

२. **देशघाति स्पर्द्धक-** विवक्षित एकदेश से आत्मा के गुणों का आच्छादन करनेवाली कर्म की शक्तियों को 'देशघातिस्पर्द्धक' कहते हैं।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३४ की टीका, पृष्ठ ११३)

३. **उदयक्षय-** जो कर्म बिना फल दिये ही निर्जरित हो जाये, उसे उदयक्षय अथवा उदयाभावीक्षय कहते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, गाथा ९७०, पृष्ठ २५८ की पादटिप्पणी)

४. **स्पर्द्धक- वर्गणाओं**[5] के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या १७७, पृष्ठ ८४)

५. **वर्गणा-** वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। समान **अविभाग-प्रतिच्छेदों**[6] का धारण करनेवाले कर्म परमाणुओं को वर्ग कहते हैं। भिन्न-भिन्न वर्ग-समूहों की भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ होती हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधनी टीका, गाथा १०४२, पृष्ठ २७८ की पादटिप्पणी)

६. **अविभाग-प्रतिच्छेद-** शक्ति के अविभागी अंश को अविभाग-प्रतिच्छेद कहते हैं।
'अ' = नहीं; विभाग = अंश; प्रतिच्छेद = शक्ति का अंश। अर्थात् जिस शक्ति के अंश का दूसरा अंश न हो सके, वह अविभागी-प्रतिच्छेद है।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ५६, पृष्ठ ३४)

समय की अवस्था है। वह अपनी योग्यता के अनुसार उत्कृष्टकाल तक भी रहती है, किन्तु प्रति समय बदलकर रहती है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७९)

–'कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव हो, वह क्षायोपशमिकभाव है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८३)

–'कर्मों का उद्भव तथा अनुद्भव सो "क्षयोपशम" है, और क्षयोपशम से युक्त वह "क्षायोपशमिक" है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ की टीका, पृष्ठ ९८)

–'जो कर्मों के क्षयोपशम से हो, उसको क्षायोपशमिकभाव कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३४५, पृष्ठ ८५)

प्रश्न २१– क्षयोपशम से क्या तात्पर्य है?

उत्तर– 'सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्व के वर्तमानकाल में उदय आने योग्य निषेकों का उदय हुए बिना ही निर्जरा होती है; वह तो क्षय जानना और इन्हीं के आगामीकाल में उदय आने योग्य निषेकों की सत्ता पायी जाये; वही उपशम है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय पाया जाता है, ऐसी दशा जहाँ हो; सो क्षयोपशम है।'[1]

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३४)

–'क्षायोपशमिकभाव कर्म के क्षयोपशम से होता है। इसमें सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और उपशम तथा देशघाति स्पर्धकों का उदय रहता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६४ से ९६८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३०६)

–'जहाँ प्रतिपक्षी कर्म के देशघातिया स्पर्धकनि का उदय पाइए, तीह सहित सर्वघातिया स्पर्धक उदय–निषेक सम्बन्धी, तिनका उदय न पाइए (बिना ही उदय) निर्जरै, सोई क्षय, अर जे उदय न प्राप्त भये आगामी निषेक, तिनिका सत्तास्वरूप उपशम, तिनि टोऊनि कौं होतै क्षयोपशम हो है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १३ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९०)

–'सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षयसहित उपशम और उनके एकदेशघाति स्पर्द्धकों का उदय– इस प्रकार इन तीनों के समुदाय से क्षयोपशम कहा जाता है।'

(श्रीबृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा ३४ की टीका, पृष्ठ ११३–११४)

प्रश्न २२– क्षायोपशमिकभाव के कितने भेद हैं?

उत्तर– क्षायोपशमिकभाव के १८ भेद हैं– चार ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान); तीन अज्ञान (कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान); तीन दर्शन (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन,

---

१. श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक का यह कथन क्षयोपशमसम्यक्त्व की अपेक्षा से है।

और अवधिदर्शन); पाँच लब्धियाँ (क्षायोपशमिकदान, क्षायोपशमिकलाभ, क्षायोपशमिकभोग, क्षायोपशमिकउपभोग, और क्षायोपशमिकवीर्य); क्षायोपशमिक सम्यक्त्व; क्षायोपशमिकचारित्र, और क्षायोपशमिकसंयमासंयम (४+३+३+५+१+१+१=१८)।

-'ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाःसम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च॥ ५॥'

अर्थ- मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्यय- ये चार ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत, और कुअवधि- ये तीन अज्ञान; चक्षु, अचक्षु, और अवधि- ये तीन दर्शन; क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य- ये पाँच लब्धियाँ; इस प्रकार ४+३+३+५=१५ तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व; क्षायोपशमिकचारित्र; और संयमासंयम इस प्रकार क्षायोपशमिकभाव के १८ भेद हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ५ व अर्थ, पृष्ठ १८९)

-'क्षायोपशमिकभाव के अट्ठारह भेद इस प्रकार हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान ऐसे चार ज्ञान; कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, और विभङ्गज्ञान ऐसे भेदों के कारण अज्ञान तीन; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, और अवधिदर्शन ऐसे भेदों के कारण दर्शन तीन; काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि, और प्रायोग्यतालब्धि ऐसे भेदों के कारण लब्धि पाँच; वेदकसम्यक्त्व; वेदकचारित्र और संयमासंयमपरिणति।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८४)

[**विशेष**- श्रीतत्त्वार्थसूत्र में वर्णित पाँच लब्धियों के नामों और परमागम श्रीनियमसार में वर्णित पाँच लब्धियों के नामों में अन्तर है। श्रीनियमसार में सम्यक्त्व से पूर्व नियम से होनेवाली पाँच लब्धियों (काललब्धि, उपशमलब्धि, उपदेशलब्धि, प्रायोग्यतालब्धि, और करणलब्धि) को क्षायोपशमिकभाव के भेदों में समाहित किया है, जबकि श्रीतत्त्वार्थसूत्र में क्षायोपशमिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य को पाँच लब्धियों के रूप में वर्णित किया है। इसका कोई ठोस कारण हमारे ज्ञान में नहीं आया है। जिज्ञासु दूसरे ग्रन्थों के आधार से स्वयं निर्णय लें।]

प्रश्न २३- क्षायोपशमिकभाव के भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- क्षायोपशमिकभाव के १८ भेदों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार है-

१. मतिज्ञान- 'पाँचों इन्द्रियों और मन के द्वारा (अपनी शक्ति के अनुसार) जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

-'पराश्रय की बुद्धि को छोड़कर दर्शन उपयोगपूर्वक स्वसन्मुखता से प्रगट होनेवाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।'

(लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका, पण्डित परमेष्ठदासजी, ललितपुर, प्रश्न संख्या ८३, पृष्ठ २६)

–'उस प्रकार के (अर्थात् मतिज्ञान के) आवरण के क्षयोपशम से, और इन्द्रिय–मन के अवलम्बन से मूर्त–अमूर्त द्रव्य का **विकल्परूप से**[१] विशेषत: **अवबोधन**[२] करता है; वह आभिनि-बोधिकज्ञान (मतिज्ञान) है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ७६)

२. श्रुतज्ञान– 'मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेषरूप से जानना, सो श्रुतज्ञान है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

–'मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध से अन्य पदार्थ के जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। आत्मा की शुद्ध अनुभूतिरूप श्रुतज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं।'

(लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका, पण्डित परमेष्ठीदास जैन, ललितपुर, प्रश्न संख्या ८४)

–'उस प्रकार के (अर्थात् श्रुतज्ञान के) आवरण के क्षयोपशम से, और मन के अवलम्बन से मूर्त–अमूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषत: अवबोधन करता है, वह श्रुतज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ७६)

३. अवधिज्ञान– 'जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की मर्यादासहित इन्द्रिय अथवा मन के निमित्त के बिना रूपीपदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

–'उस प्रकार के (अर्थात् अवधिज्ञान के) आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषत: अवबोधन करता है, वह अवधिज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ७६)

४. मन:पर्ययज्ञान– 'जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की मर्यादासहित इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपीपदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

–'द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए जो दूसरे के मन में तिष्ठते हुए रूपीपदार्थ को स्पष्ट जाने, वह मन:पर्ययज्ञान है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ५८३, पृष्ठ १६०)

–'उस प्रकार के (अर्थात् मन:पर्ययज्ञान के) आवरण के क्षयोपशम से ही परमनोगत (दूसरों के मन के साथ सम्बन्धवाले) मूर्तद्रव्य का विकलरूप से विशेषत: अवबोधन करता है, वह

---

१. **विकल्परूप से**– अपूर्णरूपसे; अंशत:।

२. **अवबोधन**– **'विशेषत: अवबोधन करना'** अर्थात् जानना; (विशेष अवबोध का अर्थ विशेष प्रतिभास सो ज्ञान है।)
(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१, पृष्ठ ७६ की पादटिप्पणी)

मन:पर्ययज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ७६)

५. **कुमतिज्ञान**- 'मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान) ही कुमतिज्ञान है।'

६. **कुश्रुतज्ञान**- 'मिथ्यादर्शन के साथ का श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान है।'

७. **कुअवधिज्ञान**- इसे विभङ्गज्ञान भी कहते हैं। 'मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का अवधिज्ञान ही विभङ्गज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ७७)

८. **चक्षुदर्शन**[१]- 'नेत्रजन्य मतिज्ञान से पहले सामान्य प्रतिभास या अवलोकन को चक्षुदर्शन कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १०२, पृष्ठ २१)

-'**चक्खूण जं पयासइ, दिस्सइ तं चक्खु-दंसणं बेंति।**'

टीका- नेत्रनि का सम्बन्धी जो सामान्य ग्रहण, सो जो प्रकाशिए, देखिए याकरि वा तिस नेत्र के विषय का प्रकाशन, सो चक्षुदर्शन गणधरादिक कहैं हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८४ का पूर्वार्द्ध व टीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८२)

-'उस प्रकार के (अर्थात् चक्षुदर्शन के) आवरण के क्षयोपशम से और चक्षुइन्द्रिय के अवलम्बन से मूर्तद्रव्य को विकलरूप से **सामान्यत: अवबोधन**[२] करता है, वह चक्षुदर्शन है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ ८०)

९. **अचक्षुदर्शन**- 'नेत्रजन्य (नेत्र के) अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों और मन-सम्बन्धी मतिज्ञान से पहले होनेवाले सामान्य अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १०३, पृष्ठ २१-२२)

-'**सेसिंदिय-प्पयासो, णायव्वो सो अचक्खू त्ति।।**'

टीका- बहुरि नेत्र बिना च्यारि इन्द्रिय अर मन का जो विषय का प्रकाशन, सो अचक्षुदर्शन

---

१. दर्शन- '**भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।**
वण्णणहीणग्गहणं, जीवेण य दंसणं होदि।। ४८३।।'

टीका- सामान्य विशेषात्मक जे पदार्थ, तिनिका स्वरूपमात्र भेदरहित, जैसैं हैं तैसैं जीव करि सहित स्वपर सत्ता का प्रकाशना, सो दर्शन है। जो देखै वा जा करि देखिए वा देखने मात्र, सो दर्शन जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८१)

२. **सामान्यत: अवबोधन करना**- अर्थात् देखना। सामान्य अवबोध अर्थात् सामान्य प्रतिभास, वह दर्शन है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४२, पृष्ठ ८० की पादटिप्पणी)

है, ऐसा जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८४ का उत्तरार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८२)

-'उस प्रकार के (अर्थात् अचक्षुदर्शन के) आवरण के क्षयोपशम से तथा चक्षु के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से मूर्त-अमूर्तद्रव्य को विकलरूप से सामान्यत: अवबोधन करता है, वह अचक्षुदर्शन है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ ८०)

१०. अवधिदर्शन- 'अवधिज्ञान से पहले होनेवाले सामान्य अवलोकन को अवधिदर्शन कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १०४, पृष्ठ २२)

-'**परमाणु-आदियाइं, अंतिम-खंधं ति मुत्ति-दव्वाइं।**
तं ओहि-दंसणं पुण, जं पस्सइ ताइ पच्चक्खं।। ४८५।।'

टीका- परमाणु आदि महास्कन्ध पर्यन्त जे मूर्तीक द्रव्य, तिनिकौं जो प्रत्यक्ष देखैं, सो अवधिदर्शन है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८२)

-'उस प्रकार के (अर्थात् अवधिदर्शन के) आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्तद्रव्य को विकलरूप से सामान्यत: अवबोधन करता है, वह अवधिदर्शन है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ ८०)

११. क्षायोपशमिकदान, १२. क्षायोपशमिकलाभ, १३. क्षायोपशमिकभोग, १४. क्षायोपशमिकउपभोग, और **१५. क्षायोपशमिकवीर्य**- इन पाँच लब्धियों का स्वरूप क्षायिकभाव के प्रकरण में क्षायिकभाव से लिया गया है। वह यहाँ क्षायोपशमिकभाव से समझना चाहिए।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ५ की टीका, पृष्ठ १९०)

१६. क्षायोपशमिकसम्यक्त्व- 'मिथ्यात्व की तथा अनन्तानुबन्धी की कर्म प्रकृतियों के उदयाभावीक्षय तथा उपशम की अपेक्षा से क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहलाता है, और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय अपेक्षा से उसी को (क्षायोपशमिकसम्यक्त्व को) वेदकसम्यक्त्व कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ५ की टीका, पृष्ठ १८९-१९०)

-'सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्व के वर्तमानकाल में उदय आने योग्य निषेकों का उदय हुए बिना ही निर्जरा होती है; वह तो क्षय जानना और इन्हीं के आगामीकाल में उदय आने योग्य निषेकों की सत्ता पायी जाये; वही उपशम है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय पाया जाता है- ऐसी दशा जहाँ हो, सो क्षयोपशम है। इसलिये समलतत्त्वार्थश्रद्धान हो, वह क्षयोपशमसम्यक्त्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३४)

[**विशेष**- **(१)** श्रीनियमसार में क्षयोपशमसम्यक्त्व का नाम वेदकसम्यक्त्व दिया है, सो क्षयोपशम-सम्यक्त्व ही वेदकसम्यक्त्व है-

-'इस क्षयोपशमसम्यक्त्व ही का नाम वेदकसम्यक्त्व है। जहाँ मिथ्यात्वमिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है। सम्यक्त्वमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये वहाँ वेदक नाम पाता है। सो कथनमात्र दो नाम हैं; स्वरूप में भेद नहीं है।' -**श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३५;**

(२) इसी प्रकार क्षायोपशमिकचारित्र वेदकचारित्र के सम्बन्ध में भी इनमें कर्मों की अपेक्षा से नाम भेद है, स्वरूपभेद नहीं है- समझना चाहिए।]

१७. क्षयोपशमिकचारित्र- 'सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र के समय जो राग है, उसकी अपेक्षा से वह सरागचारित्र कहलाता है। वास्तव में राग (शुभोपयोग) चारित्र नहीं है। जितना वीतरागभाव (शुद्धोपयोग) है उतना ही चारित्र है। इस चारित्र को (शुभसहित शुद्धोपयोगदशा को) क्षायोपशमिकचारित्र कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ५ की टीका, पृष्ठ १९०)

१८. संयमासंयम- पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक की शुभसहित शुद्धोपयोगदशा को संयमासंयम कहते हैं। 'इस भाव को देशव्रत अथवा विरताविरतचारित्र भी कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ५ की टीका, पृष्ठ १९०)

[**विशेष**- **(१)** मति, श्रुत, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये इसी ग्रन्थ का **'प्रकरण-६ : सम्यग्ज्ञान'**, **पृष्ठ** ५८७ देखिये;

(२) क्षायोपशमिकचारित्र एवं संयमासंयम के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये **'प्रकरण-७ : सम्यक्चारित्र'**, **पृष्ठ** ७१५ देखिये;

(३) श्रीनियमसार ग्रन्थाधिराज में क्षायोपशमिकभावों के भेदों में उल्लेखित (१) काल-लब्धि, (२) उपशमलब्धि, (३) उपदेशलब्धि, (४) प्रायोग्यतालब्धि, और (५) करणलब्धि का संक्षिप्तस्वरूप भी यहाँ दिया जा रहा है।]

१. काललब्धि- इसे क्षयोपशमिकलब्धि भी कहते हैं।

-'जिसके होनेपर तत्त्वविचार हो सके- ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हो; अर्थात्, उदयकाल को प्राप्त सर्वघातिस्पर्द्धकों के निषेकों के उदय का अभाव सो क्षय; तथा अनागतकाल में उदय आने योग्य उन्हीं का सत्तारूप रहना, सो उपशम। ऐसी देशघातिस्पर्द्धकों के उदयसहित कर्मों की अवस्था, उसका नाम क्षयोपशम है; उसकी प्राप्ति सो क्षयोपशमलब्धि है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६१)

–'जीव अपने स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से अपनी निर्मल पर्यायरूप स्वकाल की प्राप्ति करता है, उसे काललब्धि कहते हैं। सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करनेवाले जीव को (निज) स्वभाव समझने योग्य ज्ञान का उघाड़ होता ही है, उसे क्षयोपशमलब्धि अर्थात् काललब्धि कहते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीनियमसारप्रवचन–गुजराती, तीसरा अध्याय, पृष्ठ १३१)

–'सम्यक्त्व के पूर्वै जैसा कर्म का क्षयोपशम चाहिए तैसा होना, सो क्षयोपशमिक-लब्धि।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६५१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७१९)

–'जब पूर्व सञ्चित कर्मों के अनुभागस्पर्धक विशुद्धि के द्वारा प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होते हैं तब क्षायोपशमलब्धि होती है।'

(श्रीपद्मनन्दि–पञ्चविंशतिः, एकत्वसप्ततिः, गाथा १२ का विशेषार्थ, पृष्ठ ११३)

२. उपशमलब्धि– इसे विशुद्धलब्धि भी कहते हैं।

–'मोह का मन्द उदय आने से मन्द कषायरूप भाव हों कि जहाँ तत्त्वविचार हो सके, सो विशुद्धलब्धि है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६१)

–'उपशमभाव को; अर्थात्, विशुद्धपरिणाम को उपशमलब्धि अथवा विशुद्धलब्धि कहते हैं। यह (उपशमलब्धि) जीव का क्षायोपशमिकभाव है। ये भाव कर्म नहीं कराते लेकिन जीव के पुरुषार्थ से होते हैं। स्वभाव को समझने की जिज्ञासा के काल में क्रोधादि कषाय मन्द पड़ जाती है, वह विशुद्धलब्धि है। जो जीव तीव्र कषायभावों में वर्त रहा है और मन्दकषाय भी करता नहीं, उसे तो धर्म की ओर की जिज्ञासा भी नहीं होती। यह विशुद्धलब्धि तो मन्दकषायरूप भाव है, धर्म नहीं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीनियमसारप्रवचन–गुजराती, तीसरा अध्याय, पृष्ठ १३२)

–'बहुरि (सम्यक्त्व के पूर्वै) जैसी विशुद्धता चाहिए तैसी होनी, सो विशुद्धिलब्धि।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६५१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७१९)

–'प्रतिसमय अनन्तगुणी हीनता के क्रम से उदीरणा को प्राप्त कराये गये अनुभाग-स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ जो जीव का परिणाम सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारण तथा असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियों के अबन्ध का कारण होता है उसे विशुद्धि कहते हैं। इस विशुद्धि की प्राप्ति का नाम विशुद्धिलब्धि है।'

(श्रीपद्मनन्दि–पञ्चविंशतिः, एकत्वसप्ततिः, गाथा १२ का विशेषार्थ, पृष्ठ ११३)

३. उपदेशलब्धि– इसे देशना[1] लब्धि भी कहते हैं।

---

१. **देशना**– देशना अर्थात् उपदेश। साक्षात् सत्पुरुष अर्थात् ज्ञानीपुरुष के उपदेश को ही 'देशना' नाम दिया जा सकता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजीव के उपदेश को शास्त्रानुसार होनेपर भी 'देशना' नाम प्राप्त नहीं होता है क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति में ज्ञानीपुरुष

........क्रमशः

-'जिनदेव के उपदिष्ट तत्त्व का धारण हो, विचार हो- सो देशनालब्धि है। जहाँ नरकादि में उपदेश का निमित्त न हो, वहाँ वह पूर्व संस्कार से होती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६१)

-'सत्पुरुष (ज्ञानीपुरुष) से आत्मस्वभाव की देशना प्राप्त करना देशनालब्धि अथवा उपदेशलब्धि कहलाती है। सत् समझने के लिये सत्पुरुष की देशना प्राप्त करने का भाव, वो स्वयं का वर्तमान पुरुषार्थ है; और सत्पुरुष की देशना की प्राप्ति पूर्व के पुण्य के उदय से होती है। सत्पुरुष का मिलना और वाणी (उपदेश) का मिलना, उसमें कोई आत्मा का भाव नहीं है लेकिन सत् (सत्य) को श्रवण करने की भावना और समझने की रुचि होना, वह स्वयं का क्षायोपशमिकभाव है। संसार के व्यापार-धन्धे आदि के तो पापभाव है; वे तो औदयिकभाव है और स्वभाव को समझने का तथा सत्समागम का जो भाव होता है वह क्षायोपशमिकभाव है। श्रीआचार्यदेव मात्र वाणी को देशना-लब्धि नहीं कहते। "आत्मा ज्ञायकस्वभावरूप, पुण्य-पाप से भिन्न" ऐसी वाणी सुनकर वह रुचे और उसे समझने का वर्तमान में प्रयत्न करे, वह क्षायोपशमिकभाव है और उसको देशनालब्धि कहते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीनियमसारप्रवचन-गुजराती, तीसरा अध्याय, पृष्ठ १३२-१३३)

-'बहुरि (सम्यक्त्व के पूर्वे) जैसा उपदेश चाहिए तैसा पावना, सो देशनालब्धि।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६५१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७१९)

-'जीवादि छह द्रव्यों तथा नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहा जाता है। इस देशना में लीन हुए आचार्य आदि की प्राप्ति को तथा उनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थ के ग्रहण, धारण, एवं विचार करने की शक्ति की प्राप्ति को भी देशनालब्धि कहते हैं।'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, एकत्वसप्ततिः, गाथा १२ का विशेषार्थ, पृष्ठ ११३)

की वाणी ही अन्तरङ्ग निमित्त होती है; सम्यक्त्व की प्राप्ति का उपादान तो जीव स्वयं (जीव का सम्यक् पुरुषार्थ) ही है।

-'**सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः।**
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः॥ ५३॥'

अन्वयार्थ- सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है; जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुषों को (सम्यक्त्व का) अन्तरङ्ग हेतु कहे हैं क्योंकि उनको दर्शनमोह के क्षयादिक हैं।

(श्रीनियमसार, गाथा ५३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०७-१०८)

-'संसार सन्ताप को यदि कोई दूर कर सकता है तो वह सद्गुरु का वचन ही दूर कर सकता है।'

(आचार्य पद्मनन्दि विरचित पञ्चविंशतिः, अध्याय १, गाथा १६२ का अर्थ, पृष्ठ ६५)

-'अर जे कुलिङ्गरूप मिथ्यादर्शन के धारक है अर यथार्थ जिन प्रणीत शास्त्र के अर्थ को कहे हैं, तो पण भी वे आप्त नाहीं।'

(भावदीपिका, मिथ्यात्वभाव अंतराधिकार, पृष्ठ ३२)

-'**बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत;**
पावे नहिं गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित।'

(श्रीमद् राजचन्द्र, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, भाग २, पृष्ठ २७२)

४. प्रायोग्यतालब्धि- 'कर्मों की पूर्वसत्ता (घटकर) अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बन्ध अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण उसके असंख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धिकाल से लगाकर क्रमशः घटता जाये और कितनी ही पापकृतियों (पाप-प्रकृतियों) का बन्ध क्रमशः मिटता जाये- इत्यादि योग्य अवस्था का होना (अवस्था के योग्य जीव के परिणामों का होना), सो प्रायोग्यलब्धि है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६१ एवं पू० गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीनियमसार प्रवचन-गुजराती, तीसरा अध्याय, पृष्ठ १३४)

-'बहुरि (सम्यक्त्व के पूर्व) पञ्चेन्द्रियादिकरूप योग्यता जैसी चाहिए तैसी होनी, सो प्रायोग्यलब्धि।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६५१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७१९)

-'सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को घातकर उसे अन्तःकोड़ाकोड़ीमात्र स्थिति में स्थापित करने तथा उक्त सब कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग को घातकर उसे द्विस्थानीय अनुभाग में स्थापित करने को प्रायोग्यलब्धि कहा जाता है।'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, एकत्वसप्ततिः, गाथा १२ का विशेषार्थ, पृष्ठ ११३)

५. करणलब्धि[1]- 'करणलब्धि होनेपर सम्यक्त्व हो ही हो- ऐसा नियम है। सो जिसके पहले कही हुई चार लब्धियाँ (काल, विशुद्धि, देशना, और प्रायोग्यतालब्धि) तो हुई हों और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो उसी जीव के करणलब्धि होती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६२)

-'यह सूक्ष्मपरिणाम है। स्वसन्मुख पुरुषार्थवाला जीव जब तत्त्वविचार में लीन होता है, उस समय इस लब्धिरूप परिणमन हो जाता है; इस लब्धि को प्राप्त हुआ जीव नियमपूर्वक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीनियमसारप्रवचन-गुजराती, तीसरा अध्याय, पृष्ठ १३४)

-'अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, और अनिवृत्तिकरण इन तीन प्रकार के परिणामों की

---

१. **करणलब्धि के तीन भेद हैं**- (क) अधःकरण, (ख) अपूर्वकरण, और (ग) अनिवृत्तिकरण।

(क) अधःकरण- जहाँ पहले और पिछले समयों के परिणाम समान हों, सो अधःकरण है।

(ख) अपूर्वकरण- जिसमें पहले और पिछले समयों के परिणाम समान न हों, अपूर्व ही हों; वह अपूर्वकरण है।

(ग) अनिवृत्तिकरण- जिसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं; निवृत्ति; अर्थात्, परस्परभेद उससे रहित होते हैं, वह अनिवृत्तिकरण है।

(आधार-श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६२-२६३)

[विशेष जानकारी के लिये-श्रीलब्धिसार, गाथा ३५, ३६, ५१ एवं श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८ से ६० पृष्ठ १३५ से १६७ का अध्ययन करें।]

प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं।'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, एकत्वसप्ततिः, गाथा १२ का विशेषार्थ, पृष्ठ ११३-११४)

प्रश्न २४- क्षायोपशमिकभाव किस गुणस्थान में और किन गतियों के जीवों को होता है?

उत्तर- क्षायोपशमिकभाव प्रत्येक जीव में पहले गुणस्थान से १२वें गुणस्थान तक रहता है। ये भाव चारों गतियों (देव, नारकी, मनुष्य, और तिर्यञ्च) के जीवों में होता है।

प्रश्न २५- क्षायोपशमिकभाव के १८ भेदों में कौनसा भेद किस गुण की पर्याय है?

उत्तर- चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्ययज्ञान)- ज्ञानगुण की एकदेश स्वभाव अर्थपर्याय हैं; तीन अज्ञान (कुमति, कुश्रुत, और कुअवधिज्ञान)- ज्ञानगुण की विभाव अर्थपर्याय हैं; तीन दर्शन (चक्षु, अचक्षु, और अवधिदर्शन)- दर्शनगुण की अर्थपर्याय हैं; पाँचलब्धियाँ (दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य)- इन नामों के पाँच स्वतन्त्र गुण हैं। अज्ञानदशा में ये अपने-अपने गुणों की विभाव अर्थपर्याय, और ज्ञानदशा में एकदेश स्वभाव अर्थपर्याय हैं; क्षायोपशमिकसम्यक्त्व -श्रद्धागुण की क्षायोपशमिक दशारूप स्वभाव अर्थपर्याय हैं; क्षायोपशमिकचारित्र- चारित्रगुण की एकदेश स्वभाव अर्थपर्याय है; और संयमासंयम- चारित्रगुण की एकदेश स्वभाव अर्थपर्याय है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, चतुर्थ भाग, प्रश्न संख्या २५, पृष्ठ १११)

प्रश्न २६- क्षायोपशमिकभाव के १८ भेदों में कौनसा भेद किस गुणस्थान में पाया जाता है?

उत्तर- क्षायोपशमिकभाव के १८ भेदों में- चार ज्ञान (सम्यक् मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्ययज्ञान)- चतुर्थ से बारहवें गुणस्थान में; तीन अज्ञान (कुमति, कुश्रुत, और कुअवधि)- प्रथम तीन गुणस्थानों में; तीन दर्शन (चक्षु, अचक्षु, और अवधिदर्शन)- प्रथम से बारहवें गुणस्थान में; पाँच लब्धियाँ (दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य)- प्रथम से बारहवें गुणस्थान में; क्षायोपशमिकसम्यक्त्व -चतुर्थ से सप्तम् गुणस्थान तक; क्षायोपशमिकचारित्र- छठें से दसवें गुणस्थान में; और संयमासंयम पाँचवें गुणस्थान में पाया जाता है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, चतुर्थ भाग, प्रश्न संख्या २६, पृष्ठ १११)

प्रश्न २७- क्षायोपशमिकभाव की समाप्ति कौनसे गुणस्थान में होती है?

उत्तर- क्षायोपशमिकभाव की समाप्ति अर्हन्तदशा; अर्थात्, तेरहवें गुणस्थान में होती है।

प्रश्न २८- कुमति, कुश्रुत, और कुअवधिज्ञान में कौनसे दोष[1] होते हैं और ये अज्ञान किन जीवों को होते हैं?

उत्तर- कुमति और कुश्रुतज्ञान में संशय, विपर्यय; और अनध्यवसाय तीनों ही दोष होते हैं।

---

१. संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय नामक दोषोंसहित ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। इन तीनों दोषों से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

[इन दोषों के विस्तृत वर्णन के लिये इसी ग्रन्थ में 'प्रकरण-६:२ : संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय', पृष्ठ ६६५ देखें।]

कुअवधिज्ञान में संशय नहीं होता; केवल विपर्यय और अनध्यवसाय दो दोष होते हैं।

अनादिमिथ्यादृष्टि जीवों के कुमति व कुश्रुतज्ञान होता है। उनके देव तथा नारकीभव में अविनाभावीरूप से होते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३१ की टीका, पृष्ठ ८६)

प्रश्न २९- क्षायोपशमिकभाव क्या सिद्ध करता है?

उत्तर- क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है कि-

(१) सच्ची समझ के बाद जीव जैसे-जैसे सत्य पुरुषार्थ को बढ़ाता है वैसे-वैसे मोह अंशतः दूर होता जाता है; और

(२) जीव अनादिकाल से विकार करता हुआ भी जड़ नहीं हो जाता और उसके ज्ञान-दर्शन तथा वीर्य का आंशिक विकास सदा बना रहता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८०)

औदयिकभाव

प्रश्न ३०- औदयिकभाव किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्मों के उदय के साथ सम्बन्धवाले आत्मा के विकारीभाव को औदयिकभाव कहते हैं।

–'**कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ।**
नाम्नाप्यौदयिकान्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान्॥ ९६७॥'

अर्थ- संसार में कर्मों के उदय से जीव का जो भाव होता है, वह औदयिकभाव है। यह उसका अन्वर्थ नाम है और एकमात्र यही भाव बन्ध में अधिकारी माना गया है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९६७ व अर्थ, पृष्ठ ३०५)

–'द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्मों की जो फलदान विपाक अवस्था है, उसी को उदय कहते हैं; कर्मों के उदय से (निमित्त से) जो आत्मा का भाव होता है, उसी को औदयिकभाव कहते हैं। यही भाव आत्मा के गुणों का घातक, दुःखदायक तथा कर्मबन्ध का मूलकारण है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, गाथा ९७१ का भावार्थ, पृष्ठ २५८)

–'कर्मों के निमित्त से आत्मा अपने में जो विकार करता है, सो औदयिकभाव है। यह भी आत्मा की एक समय की अवस्था है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७९)

–'कर्मों के उदय से जो भाव हो, वह औदयिकभाव है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८३)

-'कर्मों का फलदानसमर्थरूप (फल देने में समर्थ) से उद्भव, सो "उदय" है और उदय से युक्त, वह "औदयिक" है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ की टीका, पृष्ठ ९८)

-'जो कर्मों के उदय से हो, उसको औदयिकभाव कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३४६, पृष्ठ ८५-८६)

प्रश्न ३१- औदयिकभाव के कितने भेद हैं?

उत्तर- औदयिकभाव के २१ भेद हैं- चार गतियाँ (मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी, और देव); चार कषायें (क्रोध, मान, माया, और लोभ); तीन लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग, पुरुषलिङ्ग, और नपुंसकलिङ्ग); मिथ्यादर्शन; अज्ञान; असंयम; असिद्धत्व; और छह लेश्यायें (कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल)। (४+४+३+१+१+१+१+६=२१)

-'**गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः।। ६।।**'

अर्थ- तिर्यञ्च, नरक, मनुष्य, और देव- ये चार गतियाँ; क्रोध, मान, माया, और लोभ- ये चार कषायें; स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद- ये तीन लिङ्ग; मिथ्यादर्शन; अज्ञान; असंयम; असिद्धत्व; तथा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल- ये छह लेश्यायें। इस प्रकार (४+४+३+१+१+१+६=२१) सब मिलाकर औदयिकभाव के २१ भेद हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ६ व अर्थ, पृष्ठ १९०)

-'औदयिकभाव के इक्कीस भेद इस प्रकार हैं- नारकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति- ऐसे भेदों के कारण गति चार; क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय, और लोभकषाय- ऐसे भेदों के कारण कषाय चार; स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग, और नपुंसकलिङ्ग- ऐसे भेदों के कारण लिङ्ग तीन; सामान्यसंग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक; अज्ञान एक; असंयमता एक; असिद्धत्व एक; शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या, पीतलेश्या, कापोतलेश्या, नीललेश्या, और कृष्णलेश्या- ऐसे भेदों के कारण लेश्या छह।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८४)

-'**भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशतिः।**
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः।। ९७०।।
त्रीणि लिंगानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम्।
एकं वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता।। ९७१।।
लेश्याःषडेव कृष्णाद्या क्रमादुद्देशिता इति।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम्।। ९७२।।'

अर्थ- सूत्र के अनुसार औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं। चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग,

एक मिथ्यात्व, एक अज्ञान, एक असंयतत्व, एक असिद्धता, और कृष्णादिक छह लेश्याऐं- ये क्रम से इक्कीस भाव कहे गये हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९७०-९७१-९७२ व अर्थ, पृष्ठ ३०६)

प्रश्न ३२- औदयिकभाव के २१ भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- औदयिकभाव के २१ भेदों के संक्षिप्त स्वरूप निम्न हैं-

१. गति- 'गतिनामा कर्म के उदय से जीव की पर्याय विशेष को गति कहते हैं। गति चार हैं- (क) नरकगति, (ख) तिर्यञ्चगति, (ग) मनुष्यगति, और (घ) देवगति।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३६२-३६३, पृष्ठ ८९)

-'**गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि।**

चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाऽधिगीयते।। ९७३।।'

अर्थ- नामकर्म के भेदों में एक प्रसिद्ध 'गति' नामकर्म है। गतियाँ चार हैं; इसलिये उसके चार भेद कहे गये हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९७३ व अर्थ, पृष्ठ ३०६-३०७)

-'**कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः।**

प्राप्य तत्रोचितान्भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः।। ९७८।।'

अर्थ- इस गतिकर्म के विपाक होने से यह आत्मा अपने ही उदयवश देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक इन चार गतियों में से किसी एक को प्राप्त होकर उसके (उस गति के) उचित भावों को करता है। अर्थात्, जिस गति में पहुँचता है वहाँ की द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सामग्री के अनुसार ही अपने भावों को बनाता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा ९७८ व अर्थ, पृष्ठ २५९-२६०)

-'निज आत्मा की उपलब्धिरूप सिद्धि से विलक्षण ऐसी **गतिमार्गणा**[१] नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति के भेद से चार प्रकार की है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४४-४५)

२. कषाय- 'क्रोध, मान, माया, लोभरूप आत्मा के विभाव परिणामों को कषाय कहते हैं।' तथा,

-'संज्वलन और नोकषाय के मन्द उदय से प्रादुर्भूत आत्मा के परिणाम विशेष को कषाय कहते हैं।' तथा,

-'तहां अपना स्वरूप जो ज्ञाता-दृष्टा भाव, तातैं छुड़ाय अरु पर स्वरूप जो राग-द्वेष

१. मार्गणा- जिन-जिन धर्म विशेषों से जीवों का अन्वेषण (खोज) किया जाये, उन-उन धर्म विशेषों को मार्गणा कहते हैं। मार्गणा के चौदह भेद हैं- (१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) ज्ञान, (८) संयम, (९) दर्शन, (१०) लेश्या, (११) भव्यत्व, (१२) सम्यक्त्व, (१३) संज्ञित्व, और (१४) आहार।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३६०-३६१, पृष्ठ ८८-८९)

भाव, तारूप करै, सो कषाय कहिये।'

(भावदीपिका, कषायभाव, अंतराधिकार, पृष्ठ ५०)

-'जो आत्मा के सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, और यथाख्यातचारित्ररूप परिणामों को घातें- उसको कषाय कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १११, ३२३ व ४०५, पृष्ठ संख्या २३, ७७ व ९८)

- 'अन्तरङ्ग में परम-उपशममूर्ति, केवलज्ञानादिक अनन्त-गुणस्वभावी परमात्मस्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करनेवाला, और बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता, आदि आवेशरूप -वह क्रोधादि कषाय है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ १०१)

-'सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खाद-चरणपरिणामे।
घादंति वा कषाया, चउसोलअसंखलोगमिदा।। २८३।।'

टीका- '**कषंतीति कषाया:**'- जे हतैं, घात करैं, तिनकौं कषाय कहिए। सो ए क्रोधादिक हैं, ते सम्यकत्व वा देशचारित्र (**वा सकलचारित्र**[1]) वा यथाख्यातचारित्ररूप आत्मा के विशुद्ध परिणामनि कौं घातैं है। तातैं इनिका कषाय ऐसा नाम है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २८३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४९५)

-'कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिका: स्मृता:।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात्।। १०५७।।
ते चाऽऽत्मोत्तरभेदैश्च नामतोप्यत्र षोडश।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रका:।। १०५८।।
अथवा शक्तितोऽनन्ता: कषाया: कल्मषात्मका:।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तय:।। १०५९।।'

अर्थ- क्रोध, मान, माया, लोभ- ये चार कषायें भी जीव के औदयिकभाव हैं और उन कषायों के जितने उत्तरभेद हैं, वे सब भी औदयिकभाव हैं। कषायों के उत्तरभेद नाम की अपेक्षा से **सोलह**[2] भी हैं तथा **पच्चीस**[3] भी हैं। परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से उनके असंख्यात लोकप्रमाण भी भेद हैं। अथवा शक्ति की अपेक्षा से उन कषायों के अनन्त भी भेद हैं क्योंकि एक-एक भेद के प्रति

१. '(वा सकलचारित्र)'- यह पंक्ति मूल टीका में नहीं है।

२. कषाय के चार भेद- क्रोध, मान, माया, लोभ।
प्रत्येक के चार उपभेद हैं- अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और संज्वलन। इस प्रकार ४ x ४ = १६ भेद हुए।

३. इन १६ कषायों में नोकषाय- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद मिला देने से १६+९=२५ भेद हुये।

........क्रमश:

अनन्त-अनन्त शक्तियाँ हैं। ये सब कषायें पापरूप हैं; अर्थात् आत्मा के गुणों का घात करनेवाली हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, अध्याय २, गाथा १०५७ से १०५९ व अर्थ, पृष्ठ २८५)

-'इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिका: स्मृता:।

चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मन:।। १०७१।।'

अर्थ- चारों ही कषाय औदयिक जाननी चाहिए। वे (चारों कषायें) आत्मा के चारित्रगुण की विभावपर्याय हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, अध्याय २, गाथा १०७१ व अर्थ, पृष्ठ ३२४)

-'कषाय के २५ भेद हैं और इन सबमें आत्महिंसा करने की सामर्थ्य है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ८, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५१५)

-'पदार्थों में अनिष्टपना मानकर उनका बुरा चाहना क्रोध है; पदार्थों में अनिष्टपना मानकर उसे (परपदार्थों को) नीचा करना और स्वयं ऊँचा होने की इच्छा करना मान है; किसी पदार्थ को इष्ट मानकर नाना प्रकार के छलों द्वारा उसकी सिद्धि (प्राप्ति) चाहना माया है; और परपदार्थों को इष्ट मानकर उनकी प्राप्ति चाहना; वस्त्राभरण, धन-धान्यादि अचेतन तथा स्त्री-पुत्रादिक चेतनपदार्थों की तृष्णा करना लोभ है।'

(आधार-श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३८-३९)

३. लिङ्ग- लिङ्ग को वेद भी कहते हैं।

-'नोकषाय के उदय से उत्पन्न हुई जीव की मैथुन करने की अभिलाषा को भाववेद कहते हैं और नामकर्म के उदय से आविर्भूत जीव के चिह्न विशेष को द्रव्यवेद कहते हैं। वेद तीन हैं- (१) स्त्रीवेद, (२) पुरुषवेद, और (३) नपुंसकवेद।'

(जैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ४०३-४०४, पृष्ठ ९८)

-'लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात्।

भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात् किल।। १०७२।।'

अर्थ- स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद के भेद से तीनों लिङ्ग औदयिक ही हैं, क्योंकि ये नोकषायों के अवान्तरभेद स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद के उदय से होते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १०७२ व अर्थ, पृष्ठ ३२५)

-'तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानत:।

हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम्।। १०७८।।'

अर्थ- नोकषाय के नौ भेद हैं- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा १०७८ व अर्थ, पृष्ठ २९०)

[कषायों के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये- भावदीपिका, कषायभाव अंतराधिकार का अध्ययन करें।]

-'वेद के दो भेद हैं- भाववेद और द्रव्यवेद। भाववेद जीव का परिणाम है; यह वेद नोकषाय के उदय से होता है............द्रव्यवेद का निमित्त शरीर नामकर्म और आङ्गोपाङ्ग नामकर्म है।' तथा,

-'जिसके होनेपर जीव स्वयं अपने को दोषों से आच्छादित करे और आजू-बाजू की परिस्थिति को भी दोषों से झक (ढक) दे, वह "स्त्रीवेद" है; जिसके होनेपर प्राणी का झुकाव अच्छे गुणों और अच्छे भोगों की ओर रहता है, वह "पुरुषवेद" है; और जिसके होनेपर प्राणी का स्वभाव स्त्री और पुरुष दोनों के समान न होकर अत्यन्त कलुषित होता है, वह नपुंसकवेद है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १०७६ से १०७८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३२५)

-**'रिरंसा द्रव्यनारीनाणां पुंवेदस्योदयात्किल।**
नारी वेदोदयाद्वेद: पुसां भोगाभिलाषिता।। १०८५।।
नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तित:।
अन्तर्दग्धोस्ति यो भाव: क्लीबवेदोदयादिव।। १०८६।।'

अर्थ- पुरुषवेद के उदय से द्रव्य स्त्रियों के साथ रमण करने की वाञ्छा **(इच्छा)**[1] होती है। स्त्रीवेद के उदय से पुरुषों के साथ भोग करने की अभिलाषा होती है; और जो अशक्त सामर्थ्यहीन होने से न तो स्त्रियों के साथ ही भोग कर सकता है और न पुरुषों के साथ ही कर सकता है, किन्तु दोनों की वाञ्छा रखते हुये हृदय में ही जला करता है- ऐसा भाव नपुंसकवेद के उदय से होता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा १०८५-१०८६ व अर्थ, पृष्ठ २९४)

-'वेद के उदय से उत्पन्न रागादिदोषरहित परमात्मद्रव्य से भिन्न ऐसी वेदमार्गणा, स्त्री, पुरुष, और नपुंसकवेद के भेद से तीन प्रकार है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४५)

-**'पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।**
णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा।। २७१।।'

टीका- चारित्रमोहनीय का भेद नोकषाय, तींहरूप पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामा प्रकृति, तिनिके उदय तैं भाव जो चैतन्य उपयोग, तींहि विषै पुरुष, स्त्री, नपुंसकरूप जीव हो है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २७१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४०६)

४. मिथ्यादर्शन- 'यह जीव अनादि से कर्म सम्बन्धसहित है। उसको दर्शनमोह के उदय से हुआ जो अतत्त्वश्रद्धान- उसका नाम मिथ्यादर्शन है।' तथा,

---

१. यहाँ (रमण करने की इच्छा) तीनों वेदों का कार्य बतलाया गया है। यह उपचरित कथन है। इसे तात्त्विक मानने में अनेक दोष आते हैं। **'रमण करने की इच्छा'** रतिकर्म का कार्य है, वेदकर्म का नहीं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १०८१ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३२६)

-'प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्व उनके अयथार्थ श्रद्धान का नाम मिथ्यादर्शन जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७६ व ७९)

-'सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूप अखण्ड-एक-प्रत्यक्ष-प्रतिभासमय निजपरमात्मा आदि छः द्रव्य; पाँच अस्तिकाय; सात तत्त्व; और नौ पदार्थों में तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषरहित, वीतरागसर्वज्ञ प्रणीत नयविभाग अनुसार जिस जीव को श्रद्धान नहीं है, वह जीव "मिथ्यादृष्टि" है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ३९-४०)

-'**बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा।**
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्यात्॥ १०४१॥'

अर्थ- बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व का जो लक्षण किया गया है, वह इस प्रकार है कि जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं होना या उनका विपरीत श्रद्धान होना।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १०४१ व अर्थ, पृष्ठ ३१८)

-'**मिथ्यादर्शनमाख्यातं पाकान्मिथ्यात्वकर्मणः।**
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किलः॥ ११००॥'

अर्थ- मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव का जो मिथ्याभाव होता है, वही मिथ्यादर्शन कहलाता है। वह जीव का औदयिकभाव है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, अध्याय २, गाथा ११०० व अर्थ, पृष्ठ २९७)

-'**कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।**
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥ १९॥'

गाथार्थ- जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म, और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मुझमें 'यह कर्म-नोकर्म हैं'- ऐसी बुद्धि है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी; मिथ्यादृष्टि) है।

(श्रीसमयसार, गाथा १९ व गाथार्थ, पृष्ठ ४९-५०)

५. अज्ञान- 'इसीको (मिथ्याज्ञान को) तत्त्वज्ञान के अभाव से अज्ञान कहते हैं और (यही मिथ्याज्ञान) अपना प्रयोजन नहीं साधता; इसलिये इसीको कुज्ञान कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८८)

-'ज्ञान का अभाव अज्ञान है। इस अर्थ में यहाँ अज्ञान लिया गया है, कुज्ञान को यहाँ नहीं लिया है। कुज्ञान को क्षायोपशमिकभाव में लिया है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ १९१)

-'**अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम्।**
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः॥ १०१९॥'

अर्थ- जो अज्ञानभाव है, वह वास्तव में औदयिक जानना चाहिए। वह चेतना से रहित शरीर की तरह शून्यतारूप है; अर्थात्, अज्ञानभाव के रहनेपर पदार्थ का सही ज्ञान नहीं होता।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १०१९ व अर्थ, पृष्ठ ३१४)

-'यहाँ पर अज्ञान से तात्पर्य मन्दज्ञान से है। प्राय: मन्दज्ञानी को अज्ञानी अथवा मन्दज्ञान को अज्ञान कह दिया जाता है; वह अज्ञान औदयिकभाव नहीं है, किन्तु क्षायोपशमिकभाव है तथा मिथ्यादृष्टि का भाव भी अज्ञान कहलाता है; वह भी क्षायोपशमिक ही है, क्योंकि ज्ञानवरणकर्म के क्षयोपशम से होता है। जो अज्ञानभाव औदयिकभावों में गिनाया गया है, वह कर्म के उदय की अपेक्षा से है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, गाथा ९९५ का भावार्थ, पृष्ठ २६५)

६. असंयम- 'चारित्रमोहनीयकर्म आत्मा के चारित्रगुण का घात करता है। चारित्र का नाम ही संयत अर्थात् संयम है। जब तक चारित्रमोहनीयकर्म का उदय रहता है, तब तक आत्मा में संयम प्रगट नहीं होता है। किन्तु असंयमरूप अवस्था बनी रहती है। इसलिये चारित्रमोह के उदय से होनेवाला असंयतभाव भी आत्मा का औदयिकभाव है। इतना विशेष कि चारित्रमोहनीयकर्म की उत्तरोत्तर मन्दता से उस असंयतभाव में भी अन्तर पड़ता चला जाता है; जैसे, चौथे गुणस्थान तक सर्वथा असंयतभाव है[१], क्योंकि वहाँ तक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय एकदेश भी संयम नहीं होने देती।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा १११७ का भावार्थ, पृष्ठ ३०१)

-'चारित्रमोह के उदय से जो कषायभाव होता है, उसका नाम मिथ्याचारित्र है। यहाँ अपने स्वभावरूप प्रवृत्ति नहीं है; झूठी परस्वभावरूप प्रवृत्ति करना चाहता है, सो बनती नहीं है; इसलिये इसका नाम मिथ्याचारित्र है।' तथा,

-'कषायभाव करना ऐसा है जैसे जल का बिलोना कुछ कार्यकारी नहीं है; इसलिये इन कषायों की प्रवृत्ति को मिथ्याचारित्र कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८८-८९)[२]

-'असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यत:।

पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान्।। १११३।।'

अर्थ- इस जीव के एक असंयत्वभाव होता है। वह औदयिक है, क्योंकि वह चारित्रमोहनीय

---

१. 'सूक्ष्मदृष्टि से वहाँ भी (चौथे गुणस्थान में भी) स्वरूपाचरण संयम है और वह अनन्तानुबन्धी कर्म के अभाव से होता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा १११७, पृष्ठ ३०१ की पादटिप्पणी)

२. ये दोनों कथन मिथ्यादृष्टि असंयमी की अपेक्षा हैं। इनमें चतुर्थ गुणस्थानवर्ती स्वरूपाचरण संयम के धारी सम्यग्दृष्टि शामिल नहीं है।

कर्म के उदय से उत्पन्न होता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १११३ व अर्थ, पृष्ठ ३३२)

-'जीव अन्य पदार्थों को अपनेरूप परिणमा तो नहीं सकता, किन्तु राग-द्वेषवश ऐसा मानता है कि "यह मेरा है, यह तेरा है; यह मुझे इष्ट है और यह अनिष्ट है"- इसी का नाम असंयम है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १११३ से ११२० का विशेषार्थ, पृष्ठ ३३३)

-'जीवा चोद्दस-भेया, इंदिय-विसया तहट्ठवीसं तु।

जे तेसु णेव विरया, असंजदा ते मुणेदव्वा।। ४७८।।'

टीका- चौदह जीवसमासरूप भेद, बहुरि तैसैं ही अट्ठाईस इन्द्रियनि के विषय, तिनिविषैं जे विरत न होंई, जीवनि की दया न करैं, विषयनि विषैं रागी होंई, ते असंयमी जानने।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७८)

-'आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण।

सो तेण परचरित्तो हवदि त्ति जिणा परूवेंति।। १५७।।'

अन्वयार्थ- जिस भाव से आत्मा को पुण्य अथवा पाप आस्रवित होते हैं, उस भाव द्वारा वह (जीव) परचारित्र (असंयमी) है- ऐसा जिन प्ररूपित करते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १५७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २२७)

७. असिद्धत्व- असिद्धत्व; अर्थात्, संसारदशा और कर्मों की अपेक्षा आठ कर्मों का सामान्य उदय।

-'तेरहवें गुणस्थान में योगारूढ़दशा; अर्थात्, योगों का कम्पन है और चौदहवें में कम्पन नहीं है। परन्तु वहाँ अभी असिद्धत्व है; अर्थात्, संसारीपना है..................सिद्धभगवान संसार से पार हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, परमार्थवचनिका-प्रवचन, पृष्ठ ३१-३२)

-'**असिद्धत्वपरिणमनत्वात् व्यवहारः**',

अर्थ- असिद्धत्व परिणमन अर्थात् संसारीपने तक व्यवहार है।

(परमार्थवचनिका, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५१)

-'अष्टकर्मों के सामान्य-उदय को असिद्धत्व कहते हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक ५, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या २५६, पृष्ठ ६७)

-'**असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः।**

व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात्।। ११३८।।

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोऽवस्थान्तरं पृथक्।

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम्।। ११३९।।

नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम्॥ ११४०॥'

अर्थ- असिद्धत्वभाव भी नियम से औदयिक है, क्योंकि यह अलग-अलग या मिलाकर आठ कर्मों के उदय से होता है। पुरुष की समस्त कर्मों से रहित ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, और वीर्यादि आठ गुणरूप जो विलक्षण दूसरी अवस्था होती है; वह सिद्धअवस्था है। इस संसार में (संसारदशा में) यह सिद्धभाव नहीं होता है। जब तक महान अनर्थों का घर केवल संसार ही सब कुछ है, तब तक वास्तव में असिद्धभाव होता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ११३८, ११३९, ११४० व अर्थ, पृष्ठ ३३७-३३८)

८. **लेश्यायें-** 'कषाय के उदय से अनुरञ्जित योगों की प्रवृत्ति को भावलेश्या और शरीर के पीत-पद्मादि वर्णों को द्रव्यलेश्या कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या १८५, पृष्ठ ८८ एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३५३, पृष्ठ ८७)

-'कषाय से अनुरञ्जित योग को लेश्या कहते हैं। लेश्या के दो प्रकार हैं- द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। यहाँ भावलेश्या का विषय है। भावलेश्या छः प्रकार की है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ १९१)

-'लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः॥ ११४५॥'

अर्थ- लेश्याओं के छः भेद हैं- (१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) पीत, (५) पद्म, (६) शुक्ल। इन्हीं छः भेदों से लेश्यायें प्रसिद्ध हैं। लेश्यायें भी जीव के औदयिकभाव हैं, क्योंकि लेश्यायें योग और कषायों के उदय से होती हैं। कर्मों के उदय से होनेवाले आत्मा के भावों का नाम ही औदयिकभाव है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा ११४५ व अर्थ, पृष्ठ ३१९)

-'कषायोदयरञ्जित योगप्रवृत्ति से विसदृश (कषाय के उदय से रञ्जित योग की प्रवृत्ति से विपरीत) ऐसे परमात्मद्रव्य का विरोध करनेवाली लेश्यामार्गणा कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, और शुक्ललेश्या के भेद से छः प्रकार की है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४६)

-'लिंपइ अप्पीकीरइ, एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवो त्ति होदि लेस्सा, लेस्सागुणजाणयक्खादा॥ ४८९॥'

टीका- 'लिंपति एतया इति लेश्या'- पाप अर पुण्य कौं जीव नामा पदार्थ, इस करि लिप्त करै है, अपने करै है, निज सम्बन्धी करै है; सो सो लेश्या, लेश्या लक्षण के जाननहारे गणधरादिकनि

करि कहा है। इस करि आत्मा कर्म करि आत्मा कौं लिप्त करै हैं, सो लेश्या अथवा कषायनि का उदय करि अनुरञ्जित जो योगनि की प्रवृत्ति, सो लेश्या कहिए।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८९ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८५)

–'किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण।। ४९३।।'

टीका- नाम मात्र कथन का निर्देश है। सो लेश्या के ए छह नाम हैं- कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्म, शुक्ल ऐसैं छह ही हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८६)

–'योग कषाय के समुदाय का नाम ही लेश्या है; इसलिये लेश्या ही चारों बन्धों (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबन्ध) का कारण है। लेश्या के दो भेद हैं- (१) भावलेश्या, और (२) द्रव्यलेश्या। वर्णनामकर्म के उदय से जो शरीर का रङ्ग होता है, उसे ही द्रव्यलेश्या कहते हैं। ......परन्तु द्रव्यलेश्या कर्मबन्ध का कारण नहीं है। कर्मबन्ध का कारण केवल भावलेश्या है। कषायोदयजनित-परिष्पन्दात्मक आत्मा के भावों का नाम ही भावलेश्या है। द्रव्यलेश्या के समान भावलेश्या के भी कृष्णादिक छ: भेद हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा ११४५ का भावार्थ, पृष्ठ ३२०-३२१)

–'जिन भावों से पाप या पुण्य का बन्ध हो, ऐसे भाव लेश्या कहलाते है। आत्मप्रदेश कम्पनरूप योग कषायसहित या कषायरहित को लेश्या कहते हैं। ये छ: हैं- (१) कृष्णलेश्या -अशुभतमभाव-मूल से नाश करनेवाले भाव; (२) नील-अशुभतरभाव-मूल रखकर नाश करनेवाले भाव; (३) कापोत-अशुभभाव-कुछ बिगाड़नेवाले भाव; (४) पीत-शुभभाव-परोपकार के भाव; (५) पद्म-शुभतरभाव-अपनी हानि सहकर परोपकार के भाव; और (६) शुक्ललेश्या-शुभतमभाव-रागद्वेषरहित समभाव या वैराग्यभाव, नि:पक्षपातभाव। एक काल में एक ही लेश्या जीव के पायी जाती है।'

(त्रिभङ्गीसार चौबीसठाणा टीका, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १३८)

–'छहों लेश्याओंवाले जीवों की पहचान के लिये उन लेश्याओंवाले जीवों के कार्य इस प्रकार हैं- **"कृष्णलेश्या"** वाला जीव तीव्र क्रोध करता है, बैर को नहीं छोड़ता है, युद्ध के लिये सदा प्रस्तुत रहता है, धर्म-दया से रहित होता है, दुष्ट होता है, और किसी के वश में नहीं आता है। **"नीललेश्या"** वाला जीव-मन्द, विवेकहीन, अज्ञानी, इन्द्रियलम्पट, मानी, मायावी, आलसी, अभिप्राय को छिपानेवाला, अति निद्रालु, ठग, और धन-धान्य लोलुप होता है। **"कपोतलेश्या"** वाला जीव -क्रोधी, अन्य की निन्दा करनेवाला, दूसरों को दोषी कहनेवाला, शोक और भय करनेवाला, दूसरों की सम्पत्ति पर डाह करनेवाला, दूसरे का तिरस्कार करनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवाला, दूसरे पर विश्वास नहीं करनेवाला, अपने समान दूसरों को (दुष्ट) समझनेवाला, स्तुति करने पर प्रसन्न होनेवाला,

अपने हानि-लाभ को नहीं समझनेवाला, रण में मरने की इच्छा रखनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवालों को धन देनेवाला, और कार्य-अकार्य को नहीं समझनेवाला होता है। **"पीतलेश्या"** वाला जीव कार्य -अकार्य तथा सेव्य-असेव्य को समझनेवाला, सभी पर समान भाव रखनेवाला, दया रखनेवाला, और दान देनेवाला होता है। **"पद्मलेश्या"** वाला जीव-दानी, भद्रपरिणामी, सुकार्यकारी, उद्यमी, सहनशील, और साधु-गुरुपूजक होता है। **"शुक्ललेश्या"** वाला जीव-पक्षपातरहित, निदान बन्ध नहीं करनेवाला, समदर्शी, इष्ट-अनिष्ट पदार्थों से राग-द्वेषरहित, और कुटुम्ब से ममत्वरहित होता है।"[१]

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा ११४५ का भावार्थ, पृष्ठ ३२२-३२३)

प्रश्न ३३- क्या सभी औदयिकभाव बन्ध के कारण हैं?

उत्तर- 'सभी औदयिकभाव बन्ध के कारण हैं- ऐसा नहीं समझना चाहिए। केवल मिथ्यात्व असंयम, कषाय, और योग- ये चार भाव बन्ध के कारण हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक ७, पृष्ठ ९-१०, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८४)

प्रश्न ३४- शास्त्रों में **'औदयिका भावाःबन्धःकारणम्'**- कहा है, सो कैसे?

उत्तर- 'इसका अर्थ है कि यदि जीव मोह के उदय में युक्त होता है, तो बन्ध होता है। द्रव्य मोह का उदय होनेपर भी यदि जीव शुद्धात्मभावना के बल से भाव मोहरूप परिणमित न हो, तो बन्ध नहीं होता। यदि जीव को कर्मोदय के कारण बन्ध होता हो, तो संसारी के सर्वदा कर्मोदय विद्यमान है। इसलिये उसे सर्वदा बन्ध होगा, कभी मोक्ष होगा ही नहीं। इसलिये यह समझना चाहिए कि कर्म का उदय बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जीव का भाव मोहरूप से परिणमन होना ही बन्ध का कारण है।'

(श्रीप्रवचनसार, पृष्ठ ५८-५९, श्रीजयसेनाचार्य कृत टीका, आधार-मोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८४-१८५)

---

१. छहों लेश्याओं वाले जीवों के विचारों के विषय में एक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है- 'छह पथिक जङ्गल के मार्ग से जा रहे थे। मार्ग भूलकर वे घूमते हुए एक आम के वृक्ष के पास पहुँच गये। उस वृक्ष को फलों से भरा हुआ देखकर **"कृष्णलेश्या"** वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं इस वृक्ष को जड़ से उखाड़कर इसके आम खाऊँगा; **"नीललेश्या"** वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं जड़ से तो इसे उखाड़ना नहीं चाहता, किन्तु स्कन्ध (जड़ के ऊपर का भाग) से काटकर इसके आम खाऊँगा; **"कपोतलेश्या"** वाले ने अपने विचार के अनुसार कहा कि मैं बड़ी-बड़ी शाखाओं को गिराकर आम खाऊँगा; **"पीतलेश्या"** वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं बड़ी-बड़ी शाखाओं को तोड़कर समग्र वृक्ष की हरियाली को क्यों नष्ट करूँ, केवल इसकी छोटी-छोटी डालियों (टहनियों) को तोड़कर ही आम खाऊँगा; **"पद्मलेश्या"** वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं तो इसके फलों को ही तोड़कर खाऊँगा; **"शुक्ललेश्या"** वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि तुम तो फलों के खाने की इच्छा से इतना-इतना बड़ा आरम्भ (पाप) करने के लिये उद्यत हो। मैं तो केवल वृक्ष से स्वयं टूटकर गिरे हुए फलों को ही बीनकर खाऊँगा।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा ११४५ का भावार्थ, पृष्ठ ३२३-३२४)

प्रश्न ३५- औदयिकभाव और क्षायोपशमिकभाव के अज्ञानभाव में क्या अन्तर है?

उत्तर- 'औदयिकभाव में अज्ञानभाव अभावरूप होता है और क्षायोपशमिक अज्ञानभाव मिथ्यादर्शन के कारण दूषित होता है'- यह औदयिक और क्षायोपशमिकभाव के अज्ञान में अन्तर है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, पण्डित फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ३१ की पादटिप्पणी, आधार -श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या १८९, पृष्ठ ८९)

प्रश्न ३६- 'गति' अघातिकर्म के उदय से होनेपर भी उसे औदयिकभाव में शामिल करने का क्या कारण है?

उत्तर- 'जीव के जिस प्रकार की गति का संयोग होता है, वह (जीव) उसी में ममत्व करने लगता है; जैसे, वह यह मानता है कि "मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ।" इस प्रकार जहाँ मोहभाव होता है, वहाँ वर्तमान गति में जीव अपनेपन की कल्पना करता है; इसलिये तथा चारित्रमोह की अपेक्षा से गति को औदयिकभाव में शामिल किया गया है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ १९०)

प्रश्न ३७- अरहन्त भगवान को तेरहवें गुणस्थान में कषाय नहीं होती लेकिन उन्हे शुक्ललेश्या बतायी गयी है, सो कैसे?

उत्तर- 'भगवान को शुक्ललेश्या उपचार से कही है। लेकिन (अरहन्तदशा से पूर्व) योग के साथ लेश्या का सहकारित्व था। वह योग तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान होने से, उसे वहाँ उपचार से लेश्या भी कह दिया गया है। लेश्या का कार्य कर्मबन्ध है। भगवान के कषाय नहीं हैं। फिर भी योग के होने से एक समय का बन्ध है। यह अपेक्षा लक्ष्य में रखकर उन्हें (अरहन्तभगवान को) उपचार से शुक्ललेश्या कही गयी है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ १९१)

प्रश्न ३८- अरहन्त से सिद्धदशा होनेपर किस भाव का अभाव होता है?

उत्तर- अरहन्त से सिद्धदशा होनेपर औदयिकभाव का अभाव हो जाता है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, चतुर्थ भाग, प्रश्न संख्या १२७ व १७२, पृष्ठ १२६ व १३१)

प्रश्न ३९- औदयिकभाव क्या सिद्ध करता है?

उत्तर- औदयिकभाव सिद्ध करता है कि (१) जीव में अनादिअनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव होनेपर भी उसकी अवस्था में (पर्याय में) विकार है, और (२) जड़कर्म के साथ जीव का अनादिकालीन सम्बन्ध है। जब जीव अपने ज्ञातादृष्टा स्वभाव से च्युत होकर जड़कर्म की ओर झुकाव करता है, तब विकार होता है, किन्तु कर्म के कारण विकारभाव नहीं होता।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७९)

पारिणामिकभाव

प्रश्न ४०- पारिणामिकभाव किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जो उपशम, क्षय, क्षयोपशम, व उदय की अपेक्षा न रखता हुआ जीव का स्वभावमात्र हो, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३४७, पृष्ठ ८६)

-'**कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्।**

आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः।। ९७२।।'

अर्थ- कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से सर्वथा निरपेक्ष जो आत्मा का स्वाभाविकभाव है, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं।

भावार्थ- द्रव्य की निज स्वरूप की प्राप्ति को पारिणामिकभाव कहते हैं। इस भाव में कर्मों की सर्वथा अपेक्षा नहीं है, किन्तु आत्मद्रव्यमात्र है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा ९७२, अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ २५८-२५९)

-' "पारिणामिक" का अर्थ है सहजस्वभाव, उत्पाद-व्ययरहित ध्रुव-एकरूप स्थिर रहनेवाला भाव पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव सभी जीवों के सामान्य होता है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक- इन चार भावो से रहित जो भाव है, सो पारिणामिकभाव है। जिसका निरन्तर सद्भाव रहता है, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७९)

-'सकल कर्मोपाधि से विमुक्त ऐसा, परिणाम से जो भाव हो, वह पारिणामिकभाव है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८३)

-'द्रव्य का आत्मलाभ (अस्तित्व) जिसका हेतु है, वह "परिणाम" है और परिणाम से युक्त वह "पारिणामिक" है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ की टीका, पृष्ठ ९८)

-'पारिणामिकभाव तो अनादिअनन्त, **निरूपाधि**[1], स्वाभाविक, ही है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५८ की टीका, पृष्ठ १००)

-'शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व अविनश्वरपने के कारण शुद्धद्रव्य के आश्रित होने से "शुद्धद्रव्यार्थिक"- ऐसी संज्ञावाला शुद्ध पारिणामिकभाव कहलाता है; और कर्मजनित दश प्राणरूप

---

१. **निरुपाधि**-उपाधिरहित; औपाधिक न हो ऐसा। (जीव का पारिणामिकभाव सर्व कर्मोपाधि से निरपेक्ष होने के कारण निरुपाधि है।)

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५८, पृष्ठ १०० की पादटिप्पणी)

जीवत्व, भव्यत्व, और अभव्यत्वरूप से तीन हैं वे विनश्वरपने के कारण पर्यायाश्रित होने से "पर्यायार्थिक"- ऐसी संज्ञावाले अशुद्ध पारिणामिकभाव कहलाते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४७)

-'कर्मोदय की अपेक्षा के बिना आत्मा में जो गुण मूलतः स्वभावमात्र ही हो, उन्हे "पारिणामिक" कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९२)

-**'द्रव्यात्मकलाभमात्रहेतुकः परिणामः,'**-

अर्थ- जो वस्तु के निजस्वरूप की प्राप्तिमात्र में ही हेतु हो, सो पारिणामिक है।'

(श्रीसवार्थसिद्धि टीका, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९२)

-' **"सर्वभेद जिसमे गर्भित हैं, ऐसा चैतन्यभाव सो पारिणामिकभाव है।" इसकी अनेक अवस्थाएँ मतिज्ञानादिरूप व केवलज्ञानादिरूप है**, सो यह पारिणामिकभाव नहीं है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ १९४)

-'द्रव्य-गुण त्रिकाल पारिणामिकभाव से शुद्ध हैं; उनमे कभी विकार नही है। ..... आत्मा की समस्त शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप है; उसे परकी अपेक्षा नही है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, कर्मशक्ति, पृष्ठ ४९५)

प्रश्न ४१- पारिणामिकभाव का लक्षण क्या है?

उत्तर- 'सहजचैतन्य' पारिणामिकभाव का लक्षण है।

-**'जीवा हि सहजचैतन्यलक्षणपारिणामिकभावेनानादिनिधनाः।'**

अर्थ- जीव वास्तव में सहजचैतन्य लक्षण पारिणामिकभाव से अनादिअनन्त है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५३ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ ९३-९४)

-'जीव के पारिणामिकभाव का लक्षण सहजचैतन्य है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५३, पृष्ठ ९४ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ४२- पारिणामिकभाव के कितने भेद हैं?

उत्तर- पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं- (१) जीवत्व, (२) भव्यत्व, और (३) अभव्यत्व'

-**'जीवभव्याभव्यत्वानि च।। ७।।'**

अर्थ- जीवत्व, भव्यत्व, और अभव्यत्व- इस प्रकार पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ७ व अर्थ, पृष्ठ १९१)

-'पारिणामिकभाव के तीन भेद इस प्रकार हैं- जीवत्वपारिणामिक, भव्यत्वपारिणामिक और अभव्यत्वपारिणामिक।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८४)

प्रश्न ४३- पारिणामिकभावों के भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- पारिणामिकभावों के भेदों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार है-

१. **जीवत्वपारिणामिकभाव**- 'चैतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुणयुक्त रहना- सो जीवन है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९२)

-'जीवत्वपारिणामिकभाव भव्यों को तथा अभव्यों को समान होता है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८४)

२. **भव्यत्वपारिणामिकभाव**- 'मोक्ष प्राप्त करने योग्य जीव के भव्यत्व होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९२)

-'भव्यत्वपारिणामिकभाव भव्यों को ही होता है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८४)

३. **अभव्यत्वपारिणामिकभाव**- 'जो जीव कभी मोक्ष प्राप्त करने के योग्य नहीं होते, उनके अभव्यत्व होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९२)

-'अभव्यत्वपारिणामिकभाव अभव्यों को ही होता है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८४)

प्रश्न ४४- जीवत्वपारिणामिकभाव के पर्यायवाची नाम क्या हैं?

उत्तर- शास्त्रो मे जीवत्वभाव को ज्ञायकभाव, पारिणामिकभाव, परमपारिणामिकभाव, परमपूज्य पञ्चमभाव, कारणशुद्धपर्याय, आदि नामों से भी कहा है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, चतुर्थ भाग, प्रश्न संख्या ४९, पृष्ठ ११६)

प्रश्न ४५- पारिणामिकभाव शुद्धभाव है या अशुद्धभाव?

उत्तर- 'सामान्यरूप से (द्रव्यार्थिकनय से) पारिणामिकभाव शुद्ध है, किन्तु विशेषरूप से (पर्यायार्थिकनय से) अशुद्ध भी है। शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व अविनाशी शुद्ध द्रव्याश्रित है; इसलिये उसे शुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। जो दस प्रकार के **द्रव्यप्राणों**[1] से पहचाना जाता है ऐसा जीवत्व, और मोक्षमार्ग की योग्यता से भव्यत्व, अभव्यत्व- यह तीन प्रकार पर्यायाश्रित है, इसलिये उन्हें अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८१)

प्रश्न ४६- क्या किसी अपेक्षा से शेष चारों भावों (औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक) को भी पारिणामिकभाव कहा जा सकता है?

---

१. **द्रव्यप्राण**- दस हैं- (१) मन, (२) वचन (३) काय, (४) स्पर्शन, (५) रसना, (६) घ्राण, (७) चक्षु, (८) श्रोत्र, (९) श्वासोच्छ्‌वास, और (१०) आयु।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १२४, पृष्ठ २६)

उत्तर- 'जीव की प्रत्येक पर्याय अपने परिणाम से ही होती है। इस अपेक्षा से प्रत्येक भाव को पारिणामिकभाव कहा जा सकता है।'

(जयधवला, पुस्तक १, पृष्ठ ३१९ और धवला, पुस्तक ५, पृष्ठ १९६, आधार -श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या १९०, पृष्ठ ९०)

प्रश्न ४७- अनादिअनन्त रहनेवाला भाव कौनसा है?

उत्तर- पारिणामिकभाव अनादिअनन्त रहता है।

प्रश्न ४८- बन्ध और मोक्षरहित भाव कौनसा है?

उत्तर- पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्षरहित है।

- 'पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित है।'

(श्रीधवला पुस्तक ७, पृष्ठ ९, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या ३३०, पृष्ठ ८६)

- 'शुद्ध पारिणामिकभाव से (जीव को) बन्ध और मोक्ष नही है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५७ की टीका, पृष्ठ २६७)

प्रश्न ४९- प्रत्येक जीव में पारिणामिकभाव अनादिकाल से होनेपर भी जीव को (अज्ञानी को) औपशमिकभाव (सम्यग्दर्शन) क्यों प्रगट नही होता?

उत्तर- 'जीव को अनादिकाल से स्वरूप की प्रतीति न होने के कारण उसे यह ज्ञान नही है कि "मैं स्वय पारिणामिकभाव स्वरूप हूँ।" अज्ञानदशा मे जीव मानता है कि "शरीर मेरा है तथा शरीर के अनुकूल लगनेवाली वस्तुएँ इष्ट, और प्रतिकूल लगनेवाली वस्तुएँ अनिष्ट है।" इस प्रकार अज्ञानी जीव का झुकाव-रुझान परवस्तुओ, शरीर, और विकारीभावो की ओर ही बना रहता है; इसलिये स्वय की गलत श्रद्धा, ज्ञान, और आचरण के कारण अनादिकाल से पारिणामिकभाव होते हुए भी जीव को औपशमिकभाव (सम्यग्दर्शन) प्रगट नहीं होता।'

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८३)

प्रश्न ५०- पारिणामिकभाव क्या सिद्ध करता है?

उत्तर- 'जीव मे एक अनादिअनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव है। यह पारिणामिकभाव सिद्ध करता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७९)

असाधारण भावों पर मिले-जुले प्रश्नोत्तर

प्रश्न ५१- जीव के पाँच असाधारण भावों में से किस भाव के लक्ष्य से धर्म का प्रारम्भ और पूर्णता होती है?

उत्तर- पाँचों असाधारण भावों में एकमात्र पारिणामिकभाव के लक्ष्य से धर्म की प्राप्ति, वृद्धि,

और पूर्णता होती है।

-'यदि जीव त्रिकालिक पूर्ण स्वभावरूप पारिणामिकभाव की महिमा जानकर उस ओर (पारिणामिकभाव की ओर) लक्ष्य करें, तो धर्म का प्रारम्भ और उस भाव की ही एकाग्रता के बल से धर्म की पूर्णता होती है, क्योकि पारिणामिकभाव के अतिरिक्त शेष चारों भाव क्षणिक हैं; एक समयमात्र के हैं। अत: उस ओर के लक्ष्य से एकाग्रता नहीं हो सकती और धर्म प्रगट नहीं हो सकता।'

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८३)

-'चार भाव (औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, और औदयिक) आवरण-सयुक्त होने से मुक्ति का कारण नही हैं। त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसे निरञ्जन निज परम पञ्चमभाव (पारिणामिक भाव) की भावना से पञ्चमगति (सिद्धगति) में मुमुक्षु जाते हैं, जाते थे, और जायेगे।'

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८५)

- '**पाँच आचारों**[१] से युक्त और किञ्चित् भी परिग्रह प्रपञ्च से सर्वथारहित, ऐसे विद्वान पूजनीय पञ्चमगति को (सिद्धगति को) प्राप्त करने के लिये पञ्चमभाव (पारिणामिकभाव) का स्मरण करते है।'

(श्रीनियमसार, श्लोक ५८ का श्लोकार्थ, पृष्ठ ८५)

-'आत्मा मे परम पारिणामिकभाव से त्रिकाल प्रभुता है; उसके आश्रय से प्रभुता (पूर्णता) हो जाती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, कर्मशक्ति, पृष्ठ ४९६)

-'जो पूरा निर्मल है, परिपूर्ण है, परमनिरपेक्ष है, ध्रुव है, और त्रैकालिक परिपूर्ण सामर्थ्यमय है- ऐसे अभेद एक परमपारिणामिकभाव का ही-पारमार्थिक असली वस्तु का ही-आश्रय करने योग्य है। उसी की शरण लेने योग्य है। उसी से सम्यग्दर्शन से लेकर मोक्ष तक की सर्व दशाएं प्राप्त होती हैं।.. . . . .इसलिये परमपारिणामिकभावरूप अनन्तगुणस्वरूप अभेद एक चेतनद्रव्य का ही-अखण्ड परमात्मद्रव्य का ही-आश्रय करना, वही दृष्टि देना, उसी की शरण लेना, उसी का ध्यान करना, कि जिससे अनन्त निर्मल पर्यायें स्वय खिल उठे।.......... ..यह पञ्चमभाव पावन है, पूजनीय है। इसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सच्चा मुनिपना आता है, शान्ति और सुख परिणमित होता है, वीतरागता होती है, पञ्चमगति की प्राप्ति होती है।'

(पू० बहिनश्री के वचनामृत संख्या ३५३, पृष्ठ १४३-१४४)

प्रश्न ५२- औपशमिक, क्षायोशमिक, और क्षायिकभाव कब प्रगट होते हैं?

उत्तर- जब जीव अपने इन भावों का (पाँच असाधारण भावों का) स्वरूप समझकर त्रिकाल,

---

१. पाँच आचार- (१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र, (४) तप, और (५) वीर्य। - ये पाँच आचार है। इन्हें पञ्चाचार भी कहते हैं।

ध्रुवरूप, सकलनिरावरण, अखण्ड, एक, अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिकभाव की ओर अपना लक्ष्य करता है, तब यह तीनों भाव (औपशमिक, क्षायोशमिक और क्षायिक) प्रगट होते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९३)

-'मैं खण्ड-ज्ञानरूप हूँ'-ऐसी भावना से औपशमिकादिभाव प्रगट नहीं होते।'

(श्रीसमयसार, श्रीजयसेनाचार्यकृत टीका, पृष्ठ ४८३, आधार—श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९३)

प्रश्न ५३- पाँच भावों में कौनसे भाव बन्धरूप हैं?

उत्तर- केवल एक औदयिकभाव ही (मोह के साथ संयुक्तपने के कारण) बन्धरूप है; अर्थात्, जब जीव मोहभाव (रागद्वेष) करता है, तब कर्म का उदय उपचार से बन्ध का कारण कहलाता है। द्रव्यमोह का उदय होनेपर भी जीव यदि स्वयं मोहभावरूप परिणमित न हो, तो बन्ध न हो और ऐसी दशा में वही जड़कर्म की निर्जरा कहलाये।

जिनमें पुण्य-पाप, दया, दान, पूजा, व्रतादि भावों का समावेश होता है, ऐसे आस्रव और बन्ध दो औदायिकभाव हैं।

संवर और निर्जरारूप औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिकभाव शुद्धता के अश होने से बन्धरूप नहीं हैं। मोक्ष सर्वथा पूर्ण, पवित्र, क्षायिकभाव होने से बन्धरूप नही है।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९४)

प्रश्न ५४- क्या जीव के ये असाधारण भाव कर्मकृत है?

उत्तर- यदि भाव (औदायिकादिरूप-जीवभाव) कर्मकृत हों तो आत्मा कर्म का (द्रव्यकर्म का) कर्ता होना चाहिए। वह तो कैसे हो सकता है? क्योकि आत्मा तो अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

'जीवभाव का कर्म निमित्त है और कर्म का जीवभाव निमित्त है। परन्तु वास्तव में एक-दूसरे के कर्ता नही हैं। कर्ता के बिना होते है, ऐसा भी नही है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५९ व ६० का अन्वयार्थ, पृष्ठ १०१, १०२ व १०३)

प्रश्न ५५- कर्मोपाधि किन भावों मे निमित्त है?

उत्तर- कर्मोपाधि की चारों दशाऐं (उदय, उपशम, क्षय, और क्षयोपशम) चार भावों (औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, और औदयिक) में निमित्त हैं। पारिणामिकभाव का कारण एकमात्र द्रव्यस्वभाव होने से उसमें कर्मोपाधि बिल्कुल निमित्त नही है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६, पृष्ठ ९८ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ५६- क्या औदयिक, औपशमिक, और क्षायोपशमिकभावों में कोई समानता है?

उत्तर- 'ये तीनों भाव (औदयिक, औपशमिक, और क्षायोपशमिकभाव) संसारी जीवों को ही

होते है; मुक्त जीवो को नहीं'- यह समानता है।

(श्रीनियमसार, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ८५)

प्रश्न ५७- क्या किसी अपेक्षा से चारों भाव (औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, और औदयिक) हेय कहे जा सकते है?

उत्तर- 'शुद्ध निश्चयनय के बल से उदयभाव तो हेय है ही, किन्तु उपशमादि की निर्मल पर्याय भी हेय है। शुद्ध निश्चनय के बल से चारो भाव विभावभाव हैं- हेय हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ५०२, पृष्ठ १८८)

-'जो मलिन हो, अथवा जो अंशत: निर्मल हो, अथवा जो अधूरा हो, अथवा जो शुद्ध एव पूर्ण होनेपर भी सापेक्ष हो, अध्रुव हो और त्रैकालिक-परिपूर्ण-सामर्थ्यवान न हो; उसके आश्रय से शुद्धता प्रगट नही होती; इसलिये औदयिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औपशमिकभाव, और क्षायिकभाव अवलम्बन के योग्य नहीं है।'

(पू० बहिनश्री के वचनामृत संख्या ३५३, पृष्ठ १४२)

प्रश्न ५८- किस जीव को कौनसा भाव होता है?

उत्तर- (१) पारिणामिकभाव निगोद से लगाकर सिद्धदशा तक प्रत्येक जीव को; (२) औदयिकभाव अरहन्तदशा तक प्रत्येक जीव को, (३) क्षायोपशमिकभाव १२वें गुणस्थान तक प्रत्येक जीव को; (४) क्षायिकभाव अरहन्त और सिद्ध को [क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्रवाले जीव यहाँ गौण है]; और (५) औपशमिकभाव केवल औपशमिक सम्यक्त्व एव औपशमिक चारित्रवाले जीवो को होता है। अर्थात् पारिणामिकभाव के बिना कोई जीव नही; औदयिकभाव के बिना कोई ससारी नही; क्षायोपशमिकभाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं; क्षायिकभाव के बिना अरहन्त और सिद्ध नही, अर्थात्, परमात्मदशा नही; और औपशमिकभाव के बिना धर्म का प्रारम्भ नही।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, चतुर्थ भाग, प्रश्न संख्या ९, पृष्ठ १०८)

प्रश्न ५९- पॉच भावों मे से कौन किसका कारण है?

उत्तर- औदयिकभाव बन्ध करनेवाले हैं; औपशमिक, क्षायिक, और क्षायोपशमिकभाव मोक्ष के कारण हैं; तथा पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष दोनो कारणों से रहित है।

(श्रीधवला पुस्तक ७, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या ३३०, पृष्ठ ८६)

प्रश्न ६०- किस भाव से क्या होता है?

उत्तर- (१) धर्म की शुरुआत औपशमिकभाव से होती है; (२) सभी छद्मस्थ क्षायोपशमिकभाव वाले ही होते हैं; (३) सभी क्षायिक सम्यक्त्वी, क्षायिक चारित्री, तथा केवली क्षायिकभाववाले ही होते हैं; (४) सभी संसारी औदयिकभाववाले ही होते हैं; और (५) सभी पदार्थ (द्रव्य) पारिणामिकभाववाले

ही होते हैं।

(श्रीधवलासार, पाँच भावों-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, प्रश्न संख्या ९, पृष्ठ २९९)

प्रश्न ६१- किस भाव के बिना क्या नहीं होता?

उत्तर- '(१) औपशमिकभाव के बिना धर्म की शुरुआत नही होती; (२) क्षायोपशमिकभाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं होता; (३) क्षायिकभाव के बिना क्षायिकसम्यक्त्वी, क्षायिक चारित्री, तथा केवली नही होते; (४) औदयिकभाव के बिना कोई ससारी नहीं होता; और (५) पारिणामिकभाव के बिना कोई द्रव्य नही होता।'

(श्रीधवलासार, पाँच भावों-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, प्रश्न संख्या १०, पृष्ठ ३००)

प्रश्न ६२- जीव के पाँच असाधारण भावों के ज्ञान से क्या लाभ है?

उत्तर- 'यदि जीव इन पाँच भावों को जानले, तो वह स्वयं समझ जाता है कि किस भाव के आधार से धर्म होता है? पाँच भावों में से पारिणामिकभाव के अतिरिक्त शेष चार भावों में से किसी के लक्ष्य से धर्म नही होता; और जो पर्यायार्थिकनय से पारिणामिकभाव है, उसके आश्रय से भी धर्म नहीं होता। यह वह (पॉच भावो के स्वरूप को जाननेवाला) समझ जाता है।

जब अपने पर्यायार्थिकनय से वर्तनेवाले पारिणामिकभाव के आश्रय से भी धर्म नहीं होता, तब फिर निमित्त जो कि परद्रव्य है, उसके आश्रय या लक्ष्य से तो धर्म हो ही नही सकता। एकमात्र पारिणामिकभाव के आश्रय से ही धर्म होता है। ऐसा पॉच भावों के स्वरूप का ज्ञान करने से समझ में आ जाता है और जीव उसका पारिणामिकभाव का आश्रय लेकर धर्म (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति कर लेता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, उपसंहार, पृष्ठ २३८)

दृष्टि द्रव्य पर रखना है

दृष्टि द्रव्य पर रखना है। विकल्प आये, परन्तु दृष्टि एक द्रव्य पर है। जिस प्रकार पतङ्ग आकाश में उड़ती है परन्तु डोर हाथ में होती है, उसी प्रकार 'चैतन्य हूँ' यह डोर हाथ में रखना। विकल्प आयें, परन्तु चैतन्य तत्त्व सो मैं हूँ- ऐसा बारम्बार अभ्यास करने से दृढ़ता होती है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या १८, पृष्ठ ७)

ये पाँच भाव क्या बतलाते हैं?

(श्री रामजी माणेकचन्द दोशी, एडवोकेट)

१. जीव में एक अनादिअनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव है; यह पारिणामिकभाव सिद्ध करता है;

२. जीव में अनादिअनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव होनेपर भी उसकी अवस्था में विकार है, ऐसा औदयिकभाव सिद्ध करता है;

३. जड़कर्म के साथ जीव का अनादिकालीन सम्बन्ध है और जीव अपने ज्ञातास्वभाव से च्युत होकर जड़कर्म की ओर झुकाव करता है जिससे विकार होता है, किन्तु कर्म के कारण विकारभाव नहीं होता; यह भी औदयिकभाव सिद्ध करता है;

४. जीव अनादिकाल से विकार करता हुआ भी जड़ नहीं हो जाता और उसके ज्ञान, दर्शन, तथा वीर्य का आंशिक विकास सदा बना रहता है; यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है;

५. आत्मा का स्वरूप यथार्थतया समझकर जब जीव अपने पारिणामिकभाव का आश्रय लेता है, तब औदयिकभाव का दूर होना प्रारम्भ होता है और पहले श्रद्धागुण का औदयिकभाव दूर होता है; यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है;

६. सच्ची समझ के बाद जीव जैसे-जैसे सत्यपुरुषार्थ को बढ़ाता है, वैसे-वैसे मोह अंशत: दूर होता जाता है; यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है;

७. यदि जीव प्रतिहतभाव से पुरुषार्थ में आगे बढ़ता है, तो चारित्रमोह स्वयं दब जाता है (उपशमको प्राप्त होता है); यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है;

८. अप्रतिहत पुरुषार्थ से पारिणामिकभाव का अच्छी तरह आश्रय बढ़ाने पर विकार का नाश हो सकता है, ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है;

९. यद्यपि कर्मों के साथ का सम्बन्ध प्रवाह से अनादिकालीन है, तथापि प्रतिसमय पुराने कर्म जाते हैं और नये कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। इस अपेक्षा से कर्मों के साथ का वह सम्बन्ध सर्वथा दूर हो जाता है; यह क्षायिकभाव सिद्ध करता है; और

१०. कोई निमित्त पर में विकार नहीं कराता और न पर में विकार करता है, किन्तु जीव स्वयं निमित्ताधीन होकर विकार करता है। जब जीव पारिणामिकभावरूप अपने द्रव्यस्वभाव सन्मुख होकर स्वाधीनता प्रगट करता है, तब अशुद्धता दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है; ऐसा औपशमिकभाव, साधकदशा का क्षायोपशमिकभाव, और क्षायिकभाव- तीनों सिद्ध करते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १७९-१८०)

卐

हे अन्ध प्राणियों! तुम्हारा पद यह है-यह है।

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति।।'

श्लोकार्थ- (श्रीगुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधन करते हैं कि) हे अन्ध प्राणियों! अनादिसंसार से लेकर पर्याय-पर्याय में यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद मे सो रहे हैं, वह पद अर्थात् स्थान अपद है-अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है)- ऐसा तुम समझो। इस ओर आओ- इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो), तुम्हारा पद यह है, यह है, जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु निज रस की अतिशयता के कारण स्थायीभावत्व को प्राप्त है; अर्थात्, स्थिर है -अविनाशी है।

(पूज्यश्री अमृतचन्द्राचार्यदेव, आत्मख्याति टीका, श्लोक १३८ व अर्थ)

गुणस्थान

प्रश्न १- गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- मोह और योग के निमित्त से जीव के श्रद्धा और चारित्रगुण की होनेवाली तारतम्यरूप अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

-'संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।'

अर्थ- बहुरि सो संज्ञा (गुणस्थान संज्ञा) **'मोहयोगभवा'** कहिए दर्शन-चारित्रमोह वा मन, वचन, काय योग, तिनकरि उपजी है। इहां संज्ञा के धारक गुणस्थान कैं मोह-योग तैं उत्पन्नपना है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ८२)

-'नियत एक विवहारसौं, जीव चतुर्दस भेद।
रंग जोग बहुविधि भयौ, ज्यौं पट सहज सुफेद।। ७।।'

अर्थ- जीवपदार्थ निश्चयनय से एकरूप है, और व्यवहारनय से गुणस्थानों के भेद से चौदह प्रकार का है। जिस प्रकार श्वेत वस्त्र रङ्गों के संयोग से अनेक रङ्गों का हो जाता है, उसी प्रकार मोह और योग के संयोग से ससारी जीवों में चौदह अवस्थाएँ पायी जाती हैं। (इन अवस्थाओं का नाम ही गुणस्थान है।)

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दशगुणस्थानाधिकार, दोहा ७ व अर्थ, पृष्ठ ३६७-३६८)

प्रश्न २- गुणस्थान के और नाम क्या हैं?

उत्तर- गुणस्थान को संक्षेप, ओघ, सामान्य, और जीवसमास भी कहते हैं।

(आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ८२)

प्रश्न ३- गुणस्थान के कितने भेद हैं?

उत्तर- गुणस्थान के चौदह भेद हैं- (१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र), (४) अविरतसम्यक्त्व, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरत, (७) अप्रमत्तविरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसाम्पराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली, और (१४) अयोगीकेवली- इस प्रकार क्रमपूर्वक चौदह गुणस्थान जानना।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ३९)

–'मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।। ९।।
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा।। १०।।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ९-१०, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ८६)

–'प्रथम मिथ्यात दूजौ सासादन तीजौ मिश्र,
चतुर्थ अव्रत पंचमौ विरत रंच है।
छट्ठौ परमत्त नाम सातमो अपरमत्त,
आठमो अपूरवकरन सुखसंच है।।
नौमौ अनिवृत्तिभाव दशमो सूच्छम लोभ,
एकादशमो सु उपसांत मोहबंच है।
द्वादशमो खीनमोह तेरहो सजोगी जिन,
चौदहो अजोगी जाकी थिति अंक पंच है।। ८।।'

अर्थ- पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन, तीसरा मिश्र, चौथा अव्रतसम्यग्दृष्टि, पाँचवाँ देशव्रत, छठवाँ प्रमत्तमुनि, सातवाँ अप्रमत्तमुनि, आठवाँ अपूर्वकरण, नववाँ अनिवृत्तिकरण, दसवाँ सूक्ष्मलोभ, ग्यारहवाँ उपशान्तमोह, बारहवाँ क्षीणमोह, तेरहवाँ सयोगी-जिन, और चौदहवाँ अयोगी-जिन जिसकी स्थिति अ इ उ ऋ ऌ- इन पाँच अक्षरों के उच्चारणकाल के बराबर है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ८ व अर्थ, पृष्ठ ३६८)

प्रश्न ४- मोह और योग की मुख्यता से गुणस्थानो को कितने भागो मे बाँटा जा सकता है?

उत्तर- चार भागों में बाँटा जा सकता है-

(१) पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय की मुख्यता से हैं;

(२) पाँचवे गुणस्थान से बारहवे गुणस्थान तक आठ गुणस्थान चारित्रमोहनीय की मुख्यता से हैं;

(३) तेरहवाँ गुणस्थान योग के सद्भाव की मुख्यता से है; और

(४) चौदहवाँ गुणस्थान योग के अभाव की मुख्यता से है।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, अध्याय ३, पृष्ठ ४१-४२)

पहला गुणस्थान : मिथ्यात्व

प्रश्न ५- मिथ्यात्व गुणस्थान किसे कहते है?

उत्तर- दर्शनमोहनीय कर्म का भेद जो मिथ्यात्व नाम का कर्म, उसके उदय के समय होनेवाले, अतत्त्वश्रद्धानरूप जीव के भाव को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

-'मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं।। १५।।'

टीका- दर्शनमोहनी का भेदरूप मिथ्यात्व प्रकृति का उदय करि जीव कैं **अतत्त्वश्रद्धान है** लक्षण जाका ऐसा मिथ्यात्व हो है। बहुरि सो मिथ्यात्व (१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) विनय, (४) संशयित, (५) अज्ञान- ऐसै पाँच प्रकार है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९१)

शब्दार्थ- मिथ्यात्व शब्द का अर्थ विपरीतता है। विपरीत अर्थात् उल्टा। श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्रगुण के विपरीत परिणमन को ही यहाँ 'मिथ्यात्व' कहा है।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ४२)

-'सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूप अखण्ड-एक-प्रत्यक्ष-प्रतिभासमय निजपरमात्मा आदि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय; सात तत्त्व; और नौ पदार्थों में, तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषरहित, वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत नयविभाग अनुसार जिस जीव को श्रद्धान नहीं है, वह जीव **"मिथ्यादृष्टि"** है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ३९-४०)

प्रश्न ६- मिथ्यात्व गुणस्थान के कितने प्रकार से और कितने-कितने भेद हैं?

उत्तर- मिथ्यात्व के भेदों का तीन तरह से कथन है-

पहले प्रकार से (१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) विनय, (४) संशय, और (५) अज्ञान -पाँच भेद,

दूसरे प्रकार से (१) **अगृहीतमिथ्यात्व**[1], और (२) **गृहीतमिथ्यात्व**[1]- दो भेद; और

तीसरे प्रकार से (१) क्रियावादी, (२) अक्रियावादी, (३) अज्ञानवादी, और (४) **वैनयिकवादी** -चार भेद हैं। इनके उत्तर भेद ३६३ है।

प्रश्न ७- मिथ्यात्व गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है।

उत्तर- जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल अनादिअनन्त है। अभव्य की अपेक्षा मिथ्यात्व का काल अनादिअनन्त है। भव्य की अपेक्षा अनादिसान्त और सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा **अर्धपुद्गल परावर्तन**[2] है।

---

१. अनादिकालीन विपरीत मान्यता को **अगृहीत**, और अगृहीतमिथ्यात्व की पोषक नवीन गृहीत विपरीत मान्यताओं को **गृहीतमिथ्यात्व** कहते है।

२. **अर्द्धपुद्गल परावर्तन-** एक अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गल-परावर्तन।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ४३ की पादटिप्पणी)

.........क्रमशः

प्रश्न ८- जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से कौनसे गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे चौथे, पाँचवें, या सातवे गुणस्थान में जाता है। सादिमिथ्यादृष्टि जीव तीसरे गुणस्थान में भी जा सकता है। मिथ्यात्वगुणस्थान में जीव का आगमन छठे, पाँचवें, चौथे, तीसरे, या दूसरे गुणस्थान से होता है।

प्रश्न ९- मिथ्यात्व गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- मिथ्यात्व गुणस्थान में (१) एकेन्द्रिय से असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तथा लब्धपर्याप्त (संमूर्च्छन मनुष्य आदि) सभी जीव होते हैं, (२) सभी जीव बहिरात्मा ही होते हैं, और (३) कुदेव, कुगुरु, और कुशास्त्र के उपासक सभी जीव मिथ्यादृष्टि (पहले गुणस्थानवाले) ही होते हैं।

दूसरा गुणस्थान : सासादन

प्रश्न १०- सासादन गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्तकाल मे से जब जघन्य एक समय अथवा उत्कृष्ट छः **आवली**[१] प्रमाण काल शेष रहे; उतने काल मे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी के भी उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होनेपर श्रद्धा की जो अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति होती है, उसे सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

-'**शब्दार्थ**- सासादन = स + आसादन। स = सहित। आसादन = विराधना; विनाश; घात। अर्थात्, सम्यक्त्व विराधक जीव की सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतशिखर से पतित मिथ्यात्वरूप भूमि के सन्मुखदशा को सासादन कहते हैं। अथवा, सासन = स + आसन। स = सहित। आसन = सम्यक्त्व की विराधना। अर्थात्, सम्यक्त्वविरोधी परिणाम सासन है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ४३-४४)

-'**आदिमसम्मत्तद्धा, समयादो छावलित्ति वा सेसे।**
अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो।। १९।।'

टीका- **प्रथमोपशम सम्यक्त्व**[२] का काल विषै जघन्य एकसमय, उत्कृष्ट छह आवली

-'कैसा है अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल? जामै अनन्त अवसर्पिणी व्यतीत हो जाय हैं।'
(भगवतीआराधना, गाथा ५४ का अर्थ, पृष्ठ २४)

१. **आवली**- जघन्ययुक्त-असंख्यात समय समूह को आवली कहते हैं। [मध्यलोक मे जितने द्वीप और समुद्र हैं, उतने समय एक आवली मे होते हैं।] **(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ७८, पृष्ठ ३८)**

२. **प्रथमोपशमसम्यक्त्व**-'जो मिथ्यात्व तैं चतुर्थादि गुणस्थाननि विषैं उपशम सम्यक्त्व होइ, सो प्रथमोपशम सम्यक्त्व है।'
(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९५)

अवशेष रहैं, अनन्तानुबन्धी च्यारि कषायनि विषैं अन्यतम कोई एक का उदय होते संतै, नष्ट कीया है सम्यक्त्व जानै अैसा होई, सो सासादन अैसा कहिए। बहुरि वा शब्दकरि **द्वितीयोपशम सम्यक्त्व**[1] का काल विषैं भी सासादन गुणस्थान की प्राप्ति हो है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९५)

-'**सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।**
णासियसम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वा।। २०।।'

टीका- जो जीव सम्यक्त्वपरिणामरूपी रत्नमय पर्वत के शिखर तैं मिथ्यात्वपरिणामरूपी भूमिका के होता सता, पडि करि जितना अन्तराल का काल एक समय आदि छ: आवली पर्यन्त है, तिहि विषै वर्तै, सो जीव नष्ट कीया है सम्यक्त्व जानै, अैसा सासादन नाम धारक जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९५-९६)

-'पत्थर से उकेरी हुई रेखा समान अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ में से किसी एक के उदय द्वारा प्रथम-उपशमसम्यक्त्व से गिरकर जहाँ तक मिथ्यात्व को प्राप्त न हो, वहाँ तक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनो के बीच के परिणामवाला जीव "सासादन" है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४०)

-'जिस प्रकार कोई भूखा मनुष्य शक्कर मिली हुई खीर खावे और वमन होने के बाद उसका किञ्चित्मात्र स्वाद लेता रहे; उसी प्रकार चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान तक चढ़े हुए किसी उपशमी सम्यक्त्वी को कषाय का उदय होता है, तो उसी समय वहाँ से मिथ्यात्व में गिरता है। उस गिरती हुई दशा में एक समय और अधिक से अधिक छह आवली तक जो सम्यक्त्व का किञ्चित् स्वाद मिलता है, वह सासादन गुणस्थान है।'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा २० का अर्थ, पृष्ठ ३७२)

प्रश्न ११- सासादन गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- सासादन गुणस्थान का जघन्यकाल एकसमय और उत्कृष्टकाल छ: आवली है।

प्रश्न १२- जीव सासादन गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से सासादन गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव सासादन गुणस्थान से मिथ्यात्व (पहले) गुणस्थान मे ही जाता है। सासादन गुणस्थान में आगमन छठे, पाँचवें, अथवा चौथे गुणस्थान से होता है।

प्रश्न १३- सासादन गुणस्थान की विशेषताएँ क्या हैं?

---

१. **द्वितीयोपशमसम्यक्त्व**-'बहुरि उपशमश्रेणी चढ़ते क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तैं जो उपशम सम्यक्त्व होय, सो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९५)

उत्तर- (१) सासादन गुणस्थान मे मरकर जीव नरक में नही जाता, और (२) तीर्थङ्कर तथा आहारक प्रकृति की सत्तासहित जीव इस गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता।

तीसरा गुणस्थान : सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र)

प्रश्न १४- सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान किसे कहते है?

उत्तर- सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय कर्म के उदयकाल में गुड़-मिश्रित दही के स्वाद के समान जात्यन्तर सम्यक् और मिथ्यात्व के मिश्र परिणामो को सम्यग्मिथ्यात्व-मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

-**'सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।**
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो।। २१।।'

टीका- जात्यन्तर कहिए जुदी ही एक जाति भेद लीए जो सर्वघातिया कार्यरूप सम्यग्मिथ्यात्व नामा दर्शनमोह की प्रकृति, ताका उदय करि मिथ्यात्व प्रकृति का उदयवत् केवल मिथ्यात्व परिणाम भी न होइ है। अर सम्यक्त्व प्रकृति का उदयवत् केवल सम्यक्त्व परिणाम भी न होइ है। तिहि कारण तैं तिस सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का कार्यभूत जुदी ही जातिरूप सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाम मिलाया हुआ मिश्रभाव हो है, ऐसा जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९६)

-'निजशुद्धात्मादि वीतराग-सर्वज्ञप्रणीत तत्त्वो को और परप्रणीत तत्त्वो को भी जो मानता है, वह मिश्रदर्शनमोहनीयकर्म के उदय से दही और गुड़ के मिश्रणयुक्त पदार्थों के भाँति "मिश्रगुणस्थान" वाला जीव है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४०)

-'आचार्य कहते हैं कि उपशम सम्यग्दृष्टि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव को यदि मिश्र मिथ्यात्व नामक कर्मप्रकृति का उदय हो पड़े और अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी तथा मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय- इन छ: प्रकृतियों का उदय न हो, वहाँ एकसाथ सत्यासत्य श्रद्धानरूप ज्ञान और मिथ्यात्वमिश्रित भाव रहते हैं। वह मिश्र गुणस्थान है; इसका काल अन्तर्मुहूर्त है।'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा २२ का अर्थ, पृष्ठ ३७३)

प्रश्न १५- सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- सम्यग्मिथ्यात्व का काल अन्तर्मुहूर्त ही है। जघन्यकाल छोटा या मध्यम अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल बड़ा या मध्यम अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न १६- जीव सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान

से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान से चौथे अथवा पहले गुणस्थान में जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में आगमन चौथे, पाँचवें, छठे, अथवा पहले गुणस्थान से होता है।

प्रश्न १७- सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की विशेषताएँ क्या हैं?

उत्तर- सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में- (१) मरण नहीं होता; (२) मारणान्तिक समुद्घात नहीं होता; (३) आयुकर्म का बन्ध नहीं होता; (४) तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्तावाला जीव नहीं आता; और (५) इस गुणस्थान में आने से पूर्व जीव का मिथ्यात्वदशा में आयु बन्ध हुआ है, तो मिथ्यात्व में और यदि सम्यक्त्वदशा में आयु बन्ध हुआ है, तो सम्यक्त्व में जाकर ही मरण होता है।

चौथा गुणस्थान : अविरत सम्यक्त्व

प्रश्न १८- अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- जहाँ सम्यग्दर्शन तो प्रकट हो गया है; परन्तु एकदेश या सर्वदेश किसी प्रकार का संयम न हुआ हो, उसे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं। अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायकर्म के उदय में असंयत होनेपर पाँच अथवा सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की दशा होनेवाले जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिकभावों को अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं।

-'**बिदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य।**'

टीका- बहुरि या प्रकार (गाथा २५ व २६ में) कहे तीन प्रकार सम्यक्त्वनि (क्षयोपशम-वेदक, उपशम और क्षायिक) करि परिणया जो सम्यग्दृष्टि जीव, सो द्वितीय कषाय जे अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, इन विषैं एक किसी का उदय करि असंयत कहिए असंयमी हो है, याही तैं याका नाम असंयतसम्यग्दृष्टि है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २६ का उत्तरार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १०१)

-' "स्वाभाविक अनन्तज्ञानादि अनन्तगुण के आधारभूत निजपरमात्मद्रव्य उपादेय है और इन्द्रियसुखादि परद्रव्य हेय हैं"- इस प्रकार अर्हन्तसर्वज्ञप्रणीत निश्चय-व्यवहारनयरूप साध्य-साधकभाव से मानता है; परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से, मारने के लिये कोतवाल द्वारा पकड़े गये चोर की भाँति, आत्मनिन्दासहित वर्तता हुआ इन्द्रियसुख का **अनुभव करता है**[1]- वह "अविरत सम्यग्दृष्टि" का लक्षण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४०-४१)

---

१. **अनुभव करता है**- यह (इन्द्रियसुख का) अनुभव-भोगना अनीहितवृत्ति से- वियोगबुद्धि से होता है और उसका (इन्द्रियसुख का) स्वामित्व चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव को नहीं होता।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३, पृष्ठ ४१ की पादटिप्पणी)

प्रश्न १९- अविरति शब्द का क्या आशय है?

उत्तर- पञ्चेन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति और षट्काय के जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति -ये अविरति के बारह भेद हैं। अविरति का अर्थ अव्रती भी होता है। अविरति सम्यग्दृष्टि जीवों को उक्त बारह अविरति का किञ्चित् भी त्याग नहीं होता।

प्रश्न २०- अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानवाले जीव को कौनसा सम्यक्त्व हो सकता है?

उत्तर- अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानवाले जीव को औपशमिक, क्षायोपशमिक, अथवा क्षायिकसम्यक्त्व हो सकता है।

प्रश्न २१- अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर-(१) औपशमिकसम्यक्त्व की दशा मे काल अन्तर्मुहूर्त होनेपर भी उत्कृष्टकाल जघन्य की अपेक्षा संख्यातगुणा अधिक है;

(२) क्षायोपशमिकसम्यक्त्व (क्षायोपशमिक अथवा वेदक) का जघन्यकाल तो अन्तर्मुहूर्त ही है, लेकिन उत्कृष्टकाल ६६ सागर है। क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी जीव एक बार ६६ सागर पूरे करने के बाद एक अन्तर्मुहूर्त के लिये मिश्रगुणस्थान में आकर पुनः ६६ सागर की अवधि तक क्षायोपशमिकसम्यक्त्व के साथ रह सकता है। इस अपेक्षा क्षायोपशमिकसम्यक्त्व का उत्कृष्टकाल एक अन्तर्मुहूर्त कम ६६x२=१३२ सागर है; और

(३) क्षायिकसम्यक्त्व की दशा में काल सादिअनन्त है।

[**विशेष**- अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान के जघन्यकाल के विषय में तो सभी शास्त्र एकमत हैं; लेकिन उत्कृष्टकाल के बारे में श्रीसमयसारनाटक के रचयिता पं० बनारसीदास जी का मत भिन्न है। वहाँ अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान की उत्कृष्टस्थिति तैतीस सागर वर्णित की है-

-**'थिति सागर तैतीस, अंतर्मुहूरत एक वा।**
अविरतसमकित रीति, यह चतुर्थ गुनथान इति।। ५२।।'

अर्थ- अव्रतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान की उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ५२ व अर्थ, पृष्ठ ३८३)

-श्रीगोम्मटसार में अविरत सम्यकत्व गुणस्थान (क्षायोपशमिक-वेदक) का उत्कृष्टकाल ६६ सागर ही बताया है।

-'याकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है, तथापि उत्कृष्टपना करि छयासठि सागर प्रमाण काल रहे हैं।' -**श्रीगोम्मटसार**, **जीवकाण्ड**, **गाथा २५ की टीका**, **सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका**, **पृष्ठ ८८**]

प्रश्न २२- जीव अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस

गुणस्थान से अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से पाँचवें, सातवें, और गिरने की दशा में पहले, दूसरे अथवा तीसरे गुणस्थान में जा सकता है। इस (चौथे) गुणस्थान में आगमन पहले, तीसरे, पाँचवें, और छठे गुणस्थान से हो सकता है।

प्रश्न २३- अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान की विशेषताएँ क्या हैं?

उत्तर- इस गुणस्थान में (१) विशिष्ट प्रशस्तराग के कारण तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध प्रारम्भ होता है; (२) पारमार्थिक सुख (अंशत:) प्रगट होता है; (३) जीव को अन्तरात्मा संज्ञा प्रारम्भ होती है; (४) भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है; और (५) मिथ्यात्व के अभाव के कारण अविरत सम्यग्दृष्टि को दृष्टिमुक्त (श्रद्धा-अपेक्षा) कहा जाता है।

पाँचवाँ गुणस्थान : देशविरत

प्रश्न २४- देशविरत गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म के उदय में पूर्ण संयमभाव प्रगट नहीं होनेपर भी सम्यग्दर्शनपूर्वक अल्पव्रत (अणुव्रत) सहित होनेवाली वीतरागदशा को देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

-**'पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।**
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ।। ३०।।'

टीका- अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण रूप आठ कषायनि का उपशम तैं प्रत्याख्यानावरण कषायनि का देशघाति स्पर्धकनि का उदय होतै संतैं सर्वघाति स्पर्धकनि का उदयाभाव रूप लक्षण जाका, ऐसा क्षय करि जाकैं सकल संयमरूप भाव न हो है। विशेष यहु देशसंयम कहिए, किञ्चित् विरति हो है, ताकौं धरै-धरै, देशसंयत नामा पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १०३-१०४)

-'जो पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होता हुआ भूमि की रेखा के समान क्रोधादि **अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय के उदय का अभाव होनेपर (१) अन्तरङ्ग में निश्चयनय से एकदेश रागादिरहित स्वाभाविक सुख की अनुभूति जिसका लक्षण है, और (२) बाह्य विषयों में (व्यवहार से) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, तथा परिग्रह की एकदेश निवृत्ति जिसका लक्षण है उसमें वर्तता है, वह पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक है।'**

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४१-४२)

प्रश्न २५- देशविरत गुणस्थान के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- **विरताविरत**[1], संयमासंयम, देशसंयम, देशचारित्र, अणुव्रत आदि देशविरत गुणस्थान के पर्यायवाची हैं।

प्रश्न २६- देशविरत गुणस्थान के कितने भेद हैं?

उत्तर- देशविरत गुणस्थान के **प्रतिमाओं**[2] की अपेक्षा ग्यारह भेद हैं- (१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्तत्याग, (६) दिवामैथुनत्याग (अथवा रात्रिभोजनत्याग) (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग, और (११) उद्दिष्ट-आहारत्याग प्रतिमा।

[**विशेष**- उद्दिष्ट-आहारत्याग प्रतिमा के भी एक वस्त्रधारी श्रावक और दो वस्त्रधारी श्रावक- ऐसे दो भेद हैं। इनमें ऐलक एक वस्त्रधारी और क्षुल्लक दो वस्त्रधारी श्रावक हैं।]

प्रश्न २७- देशविरत गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल आठ वर्ष कम एक **पूर्व**[3] कोटि वर्ष है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ७४ का अर्थ, पृष्ठ ३९१)

प्रश्न २८- जीव देशविरत गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से देशविरत गुणस्थान में आता है।

उत्तर- देशविरत गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में; और गिरने की दशा में चौथे, तीसरे, दूसरे, तथा पहले गुणस्थान में जाता है। देशविरत गुणस्थान में आगमन पहले, चौथे, अथवा छठे गुणस्थान से होता है।

प्रश्न २९- देशविरत गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- देशविरत गुणस्थान की निम्न विशेषताएँ हैं-

(१) देशविरत गुणस्थान के ऊपर के सभी गुणस्थानों में संयम पाया जाता है; (२) सर्वार्थसिद्धि, आदि एक भवावतारी देवों के सम्यक्त्व, बालब्रह्मचर्यत्व, द्वादशाङ्गज्ञान की उपस्थिति, तथा हिंसाजन्य षट्कर्म, पञ्च पाप आदि के न होनेपर भी उनके अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान होने के कारण असंयम ही है। दूसरी ओर मनुष्य व तिर्यञ्च सम्यग्दर्शनसहित दो चौकड़ी कषाय के अभाव

---

१. **विरताविरत**- 'एक काल ही विषै जो जीव त्रसहिंसा तैं विरत है अर स्थावरहिसा तैं अविरत है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१ की टीका, पृष्ठ १०४)

२. **प्रतिमा**- **'संजम अंस जग्यौ जहाँ, भोग अरुचि परिनाम ।**

उदै प्रतिग्याको भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम॥ ५८॥'

अर्थ- चारित्रगुण का प्रगट होना, परिणामो का भोगो से विरक्त होना और प्रतिज्ञा का उदय होना, इसका नाम प्रतिमा है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ५८ व अर्थ, पृष्ठ ३८६)

३. चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्ग का **एक पूर्व होता है।**

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, पृष्ठ ३९१ की पादटिप्पणी)

में उत्पन्न वीतरागता के सद्भाव के कारण संयमी (देशसंयमी) हैं; और (३) देशविरत गुणस्थानवर्ती तिर्यञ्च जीव स्वयम्भूरमण समुद्र; जैसे, प्रतिकूल वातावरण में भी अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करते हैं।

छठवाँ गुणस्थान : प्रमत्तविरत

प्रश्न ३०- प्रमत्तविरत गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो परिणाम सम्यक्त्व और सकल **व्रतोंसहित** हों, किन्तु संज्वलन कषाय और नौ नोकषाय के तीव्र उदय के निमित्त से प्रमादसहित हों- उसे प्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं। इसे प्रमत्तसंयत गुणस्थान भी कहते हैं।

-'**शब्दार्थ:-** प्रमत्तसंयत = प्रमत्त + संयत। प्र = प्रकृष्ट। मत्त = मदयुक्त या असावधान। संयत = सयम। अर्थात्, सकल संयमरूप वीतरागता प्रगट हो जाने से संयत हो जानेपर भी संज्वलन आदि कषायों के उदय में **विकथा**[1] आदि **पन्द्रह प्रमादों**[2] में प्रवृत्ति होने से स्वरूप से असावधान वृत्ति हो जाने के कारण **प्रमत्त संयत है**।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ४९)

-'संजलण णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि, य तम्हा हु पमत्तविरदो सो।। ३२।।'

टीका- जा कारण तैं संज्वलनकषाय के सर्वघाति स्पर्धकनि का उदयाभाव लक्षण धरैं क्षय होतैं, बहुरि बारह कषाय उदय कौं न प्राप्त तिनिका, अर संज्वलन कषाय अर नोकषाय, इनके निषेकनि का सत्ता अवस्थारूप लक्षण धरैं उपशम होतैं; बहुरि संज्वलनकषाय, नोकषायनि का देशघाति स्पर्धकनि का तीव्र उदय तैं सकलसंयम अर मल का उपजावनहारा प्रमाद दोऊ हो है। तीहि कारण तैं प्रमत्त सोई विरत, सो षष्ठम गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्तसंयम ऐसा कहिए है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १०४-१०५)

-'जब वही सम्यग्दृष्टि धूल की रेखा के समान क्रोधादि प्रत्याख्यानावरण तीसरे कषाय का **उदय होनेपर**[3] पाँच महाव्रतों में- (१) अन्तरङ्ग में निश्चयनय से रागादि उपाधिरहित स्वशुद्धात्मसंवेदन

---

१. **विकथा चार हैं-** (१) स्त्रीकथा, (२) भोजनकथा, (३) राष्ट्रकथा, और (४) राजकथा।

२. **पन्द्रह प्रमाद-** चार विकथा, चार क्रोधादि कषाय, पाँच स्पर्शादि पञ्चेन्द्रिय के विषय, निद्रा और स्नेह। इनके उत्तर भेद ३७५०० हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी)

३. प्रत्याख्यानावरण तीसरे कषाय का **'उदय होनेपर'** के स्थान पर यहाँ **'उदय का अभाव होनेपर'** आना चाहिए। संस्कृत टीका में भी **'सद्दृष्टिर्धूलिरेखादिसदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे'**- शब्द है। विद्वतजनों से विचारकर निर्णय लेने की प्रार्थना है।-**सम्पादक।**

से उत्पन्न सुखामृत का अनुभव जिसका लक्षण है, और (२) बाह्य विषयों में (व्यवहार से) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, तथा परिग्रह की सम्पूर्णरूप से निवृत्ति जिसका लक्षण है- **उसमें वर्तता है, तब** दुःस्वप्न आदि व्यक्त और अव्यक्त प्रमादसहित होनेपर भी वह छट्ठे गुणस्थानवर्ती **"प्रमत्तसंयत" है।'**

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४२)

-'पंच प्रमाद दशा धरै, अट्ठाइस गुनवान।
थविरकल्पि जिनकल्पि जुत, है प्रमत्तगुनथान।। ७८।।'

अर्थ- जो मुनि अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं; परन्तु पाँच प्रकार के **प्रमादों**[1] में किञ्चित् वर्तते हैं, वे मुनि प्रमत्तगुणस्थानी हैं। इस गुणस्थान में **स्थविरकल्पी और जिनकल्पी**[2] दोनों प्रकार के साधु रहते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ७८ व अर्थ, पृष्ठ ३९२)

प्रश्न ३१- प्रमत्तविरत गुणस्थान के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- विरत, संयम, सकलसंयम, सकलचारित्र, महाव्रती, आदि प्रमत्तविरत गुणस्थान के पर्यायवाची हैं।

प्रश्न ३२- प्रमत्तविरत गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- प्रमत्तविरत गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। जघन्यकाल एक समय मरण की अपेक्षा है।

प्रश्न ३३- जीव प्रमत्तविरत गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से प्रमत्तविरत गुणस्थान में आता है?

---

१. **प्रमाद- 'कुशलेषु अनादरः प्रमादः'- अर्थ-** कुशल कार्यों; अर्थात्, आत्मकल्याणकारी कार्यों मे अनादर-असावधानी प्रमाद है।

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २८९, आधार-गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी)

-प्रमाद पाँच हैं- **'धर्मराग विकथा वचन, निद्रा विषय कषाय।**
पंच प्रमाद दसा सहित, परमादी मुनिराय।। ७९।।'

अर्थ- धर्म मे अनुराग, विकथावचन, निद्रा, विषय, कषाय ऐसे पाँच प्रमादोंसहित साधु छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि होते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ७९ व अर्थ, पृष्ठ ३९२)

[शास्त्रों में चार विकथा, क्रोधादि चार कषाय, स्पर्श आदि पञ्चेन्द्रिय के विषय, निद्रा और स्नेह **-इस प्रकार १५ प्रमादों और इनके ३७५०० उत्तर भेदों का भी कथन है। आधार-गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी**]

२. **स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधु-**

-'जो मुनि संगतिमैं रहै, थविरकल्पि सो जान।
एकाकी जाकी दसा, सो जिनकल्पि बखान।। ९१।।'

अर्थ- जो साधु संघ में रहते हैं, वे स्थविरकल्पी (स्थिरकल्पधारी) और जो एकलविहारी है, वे जिनकल्पी (जिनकल्पधारी) हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ९१ व अर्थ, पृष्ठ ३९७)

उत्तर- प्रमत्तविरत गुणस्थान से जीव सातवें गुणस्थान और गिरने की अपेक्षा पहले से पाँचवें किसी भी गुणस्थान में जा सकता है। प्रमत्तविरत गुणस्थान में आगमन केवल सातवें गुणस्थान से ही होता है।

प्रश्न ३४- प्रमत्तविरत गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- प्रमत्तविरत गुणस्थान में (१) आहारक, आदि ऋद्धियो का उपयोग होता है; (२) साहित्यलेखन, उपदेश-दीक्षा, शिक्षा आदि प्रशस्त कार्य होते हैं; और (३) यह गुणस्थान शुद्ध परिणतियुक्त शुभोपयोगरूप है। शुभोपयोगरूप प्रशस्तराग मुनिदशा में होनेपर भी बन्ध का ही कारण है। इसी कारण नाटक समयसार में इसे जगपन्थ कहा गया है।

सातवाँ गुणस्थान : अप्रमत्तसंयत

प्रश्न ३५- अप्रमत्तसंयत गुणस्थानं किसे कहते हैं?

उत्तर- सम्यग्दर्शनपूर्वक सकल संयम की विद्यमानता में सज्वलन तथा नोकषाय कर्म के मन्द उदय के समय प्रमादरहित होनेवाली वीतरागदशा को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं।

– 'अप्रमत्तसंयत = सावधान अथवा मदरहित। १५ प्रमादों की अभावरूप दशा अप्रमत्तदशा है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ५१)

– **'संजलणणोकसायाणुदयो मंदो जदा तदा होदि।**
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि।। ४५।।'

टीका- यदा कहिए जिस काल विषैं संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ च्यारि कषाय अर हास्यादि नव नोकषाय इनका यथासंभव उदय कहिए फल देनेरूप परिणमन, सो मन्द होइ, प्रमाद उपजावने की शक्ति करि रहित होइ, तदा कहिए तींहि काल विषैं अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जीव कैं अप्रमत्तगुण कहिए अप्रमत्तगुणस्थान हो है, तींहि करणकरि तिस अप्रमत्त गुणस्थान संयुक्त संयत कहिए सकलसंयमी, सो अप्रमत्तसंयत है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १३२)

– 'वही जीव जल की रेखा समान संज्वलन कषाय का मन्द उदय होनेपर प्रमादरहित शुद्धात्मानुभव में दोष उत्पन्न करनेवाले व्यक्त और अव्यक्त प्रमादरहित वर्तता हुआ सप्तम गुणस्थानवर्ती 'अप्रमत्तसयत' है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४२)

–'अब वरनौं सप्तम विसरामा। अपरमत्त गुनथानक नामा।
जहाँ प्रमाद क्रिया विधि नासै। धरम ध्यान थिरता परगासै।। ९३।।
प्रथम करन चारित्रकौ, जासु अंत पद होइ।
जहाँ अहार विहार नहिं, अपरमत्त है सोइ।। ९४।।'

अर्थ- अब स्थिरता के स्थान अप्रमत्तगुणस्थान का वर्णन करते हैं, जहाँ धर्मध्यान में चञ्चलता लानेवाली पञ्च प्रकार की प्रमाद क्रिया नहीं है और मन धर्मध्यान में स्थिर होता है। जिस गुणस्थान के अन्त तक चारित्रमोह के उपशम व क्षय का कारण अध:प्रवृत्तिकरण चारित्र रहता है और आहार विहार नहीं रहता, वह अप्रमत्तगुणस्थान है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ९३, ९४ व अर्थ, पृष्ठ ३९८)

प्रश्न ३६- अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के कितने भेद हैं?

उत्तर- अप्रमत्तगुणस्थान के दो भेद हैं- (१) स्वस्थान अप्रमत्तसयत, और (२) सातिशय अप्रमत्तसंयत।

(१) स्वस्थान अप्रमत्तसंयत- सर्व प्रमादनाशक, व्रत, गुण, शीलसहित, अनुपशमक, अक्षपक, ध्यान में लीन मुनिदशा स्वस्थान अप्रमत्तसंयत है। इसी का अपरनाम निरतिशय अप्रमत्तसंयत भी है। स्वस्थान अप्रमत्त अवस्था मे औपशमिकादि तीनों सम्यक्त्व हो सकते हैं।

–'तहाँ जो श्रेणी चढ़ने कौं सन्मुख नाहीं भया, सो स्वस्थान अप्रमत्त कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १३२)

(२) सातिशय अप्रमत्तसंयत- चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम तथा क्षय में निमित्त प्रथम अध:प्रवृत्तकरणदशा सातिशय अप्रमत्तसंयत है। सातिशय अप्रमत्त अवस्था में द्वितियोपशमक और क्षायिकसम्यक्त्व ही है।

–'बहुरि जो श्रेणी चढ़ने कौं सन्मुख भया, सो सातिशय अप्रमत्त कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४५ की टीका, सम्यज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १३२)

प्रश्न ३७- अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- अप्रमत्तसयत गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। जघन्यकाल एक समय मरण की अपेक्षा है।

प्रश्न ३८- जीव अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव अप्रमत्तगुणस्थान से आठवें अथवा छठे गुणस्थान में जाता है। यदि सातवें गुणस्थान में मरण हो जाये, तो विग्रहगति में चौथे गुणस्थान में जाता है। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में

आगमन पहले, चौथे, पाँचवें, छठे, अथवा श्रेणी से गिरते समय आठवें गुणस्थान से भी होता है।

प्रश्न ३९- अप्रमत्तसयत गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में (१) समय-समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती है, (२) **स्थितिबन्धापसरण**[1] होता है, (३) प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग समय-समय अनन्तगुणा बढ़ता है, (४) अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग समय-समय अनन्तगुणा घटता है, और (५) यहाँ से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में अप्रमत्तदशा ही होती है।

प्रश्न ४०- क्या अप्रमत्तदशा में मरण हो सकता है?

उत्तर- हाँ। सातवें गुणस्थान में अप्रमत्तदशा में भी मरण हो सकता है। लेकिन उस दशा में (सातवें गुणस्थान में मरण की दशा में) जीव को विग्रहगति में चौथा गुणस्थान हो जाता है। सातवें गुणस्थानवर्ती जीव का उसी में (सातवें में) अथवा मरण के पहले छठे, पाँचवें, अथवा चौथे गुणस्थान में आकर मरण हो सकता है।

आठवाँ गुणस्थान : अपूर्वकरण

प्रश्न ४१- अपूर्वकरण गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- **अधःप्रवृत्तकरण**[2]-सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्तकाल पूरा कर प्रतिसमय अनन्तगुणी शुद्धि को प्राप्त हुए परिणामों को अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। इसमें **अनुकृष्टिरचना**[3] नहीं होती। इस गुणस्थान का पूरा नाम 'अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत गुणस्थान' है।

- **शब्दार्थ**-अपूर्वकरण = अ + पूर्व + करण। अ = नहीं। पूर्व = पहले। करण = परिणाम; अर्थात्, पूर्व में कभी प्रगट नहीं हुए ऐसे अत्यन्त नवीन शुद्ध परिणाम; प्रविष्ट = प्रवेश; प्राप्त। शुद्धि = शुद्धोपयोग। संयत = स्वरूप में सम्यक्तया लीन; अर्थात्, **चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों**[4] के उपशम और क्षय में निमित्त होनेवाले, पूर्व में अप्राप्त, विशिष्ट वृद्धिगत, शुद्धोपयोग

---

१. **स्थितिबन्धापसरण**- एक-एक अन्तर्मुहूर्त से नवीन बन्ध की स्थिति का घटते जाना, सो स्थितिबन्धापसरण है।
(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६३)

२. **अधःप्रवृत्तकरण**- 'अधःप्रवृत्तकरण विषैं भिन्न-भिन्न ऊपरि नीचै के समयनि विषैं तिष्ठते जीवनि के परिणामनि की संख्या अर विशुद्धता समान सम्भवै है।'
(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १५४)

३. **अनुकृष्टिरचना**- ऊपर नीचे के परिणामों में अनुकर्षण (क्रम से हीनता) को दिखानेवाली रचना विशेष को अनुकृष्टिरचना कहते हैं। अनुभाग का कृष करना (घटाना) सो कृष्टि है।
(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ६४, पृष्ठ ३५)

४. **चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियां**- ४ अप्रत्याख्यान, ४ प्रत्याख्यान, ४ संज्वलन और ९ नोकषाय। ४+४+४+९=२१।
(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ १२)

परिणामयुक्त जीव "अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत" है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ५२)

-'अंतोमुहुत्तकालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं समल्लियइ।। ५०।।'

टीका- ऐसैं अन्तर्मुहूर्तकाल प्रमाण पूर्वोक्त लक्षण धरैं अधःप्रवृत्तकरण कौं गमाइ, विशुद्ध संयमी होइ, समय-समय प्रति अनन्तगुणी विशुद्धता की वृद्धि करि बधता संता अपूर्वकरण गुणस्थान कौं आश्रय करै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १५३)

-'वही (जीव) संज्वलन कषाय का अत्यन्त मन्द उदय होनेपर अपूर्व (परम-आह्लादरूप एक सुख की अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसा) "अपूर्वकरण-उपशमक अथवा क्षपक" नामक आठवाँ गुणस्थानवर्ती है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४२)

-'अब वरनौं अष्टम गुनथाना। नाम अपूरवकरन बखाना।।
कछुक मोह उपशम करि राखै। अथवा किंचित क्षय करि नाखै।। ९५।।
जे परिनाम भए नहिं कबही। तिनकौ उदै देखिये जबही।।
तब अष्टम गुनथानक होई। चारित करन दूसरौ सोई।। ९६।।'

अर्थ- अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में मोह का किञ्चित् उपशम[1] अथवा किञ्चित् क्षय[2] होता है।। ९५।। इस गुणस्थान में ऐसे विशुद्ध परिणाम होते हैं जैसे पूर्व में कभी नहीं हुए थे; इसीलिये इस आठवें गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है। यहाँ चारित्र के तीन करणों में से अपूर्वकरण नामका दूसरा करण होता है।। ९६।।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ९५-९६ व अर्थ, पृष्ठ ३९९)

प्रश्न ४२- अपूर्वकरण से क्या तात्पर्य है?

उत्तर- 'इस अपूर्वकरण विषै ऊपर के समयवर्ती जीवनि कै अर नीचले समयवर्ती जीवनि कै समान परिणाम कदाचित् न होंइ। बहुरि एक समयवर्ती जीवनि कैं तिस समय सम्बन्धी परिणामनि विषै परस्पर समान भी होंइ अर समान नाहीं भी होंइ।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५२ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १५४)

प्रश्न ४३- अपूर्वकरण के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) उपशमक, और (२) क्षपक। ये भेद चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों

१-२. 'मोह का उपशमश्रेणी में उपशम और क्षपकश्रेणी में क्षय होता है।'
(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, पृष्ठ ३९९ की पादटिप्पणी)

के उपशम और क्षय की अपेक्षा से हैं।

प्रश्न ४४- अपूर्वकरण गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- अपूर्वकरण गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त ही है, लेकिन मरण की अपेक्षा जघन्यकाल एक समय भी हो सकता है।

प्रश्न ४५- जीव अपूर्वकरण गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से अपूर्वकरण गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव अपूर्वकरण गुणस्थान से नवें और उपशमश्रेणी से गिरते समय सातवें गुणस्थान में जाता है। यदि इस गुणस्थान में मरण हो जाये, तो विग्रहगति में चौथे गुणस्थान में जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थान में आगमन सातवें और उपशमश्रेणी से गिरते समय नवें गुणस्थान से भी होता है।

प्रश्न ४६- अपूर्वकरण गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- अपूर्वकरण गुणस्थान में- (१) प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती है; (२) पूर्वबद्ध कर्मों का असंख्यातगुणा **स्थितिकाण्डकघात**[१] होता है; (३) नवीन स्थितिबन्ध कम हो जाता है; (४) पूर्वबद्ध कर्मों का असंख्यातगुणा **अनुभागकाण्डकघात**[२] होता है; (५) **गुणश्रेणीनिर्जरा**[३] होती है; (६) गुण संक्रमण; अर्थात्, अनेक अशुभप्रकृतियाँ शुभ में बदल जाती हैं; (७) उपशमश्रेणी माँडनेवालों का श्रेणी माँडते समय पहले भाग में मरण नहीं होता; अन्य भागों में हो सकता है। उपशमश्रेणी से गिरते समय सभी भागों में मरण सम्भव है; और (९) क्षपकश्रेणी माँडनेवालों का मरण नहीं होता; चौदहवें गुणस्थान के अन्त में निर्वाण होता है।

नवाँ गुणस्थान : अनिवृत्तिकरण

प्रश्न ४७- अनिवृत्तिकरण गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- अत्यन्त निर्मल ध्यानरूपी अग्निशिखाओं के द्वारा कर्म-वन को दग्ध करने में समर्थ, प्रत्येक समय के एक-एक सुनिश्चित वृद्धिगत परिणामों को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान का पूरा नाम 'अनिवृत्तिकरणबादरसांपराय प्रविष्ट शुद्धि संयत गुणस्थान' है।

---

१. **स्थितिकाण्डकघात-** एक-एक अन्तर्मुहूर्त से सत्ताभूत पूर्वकर्म की स्थिति का घटना, सो स्थितिकाण्डकघात है।

२. **अनुभागकाण्डकघात-** उससे छोटे एक-एक अन्तर्मुहूर्त से पूर्वकर्म के अनुभाग का घटना, सो अनुभागकाण्डकघात है।

३. **गुणश्रेणी निर्जरा-** गुणश्रेणी के काल में क्रमशः असंख्यातगुने प्रमाणसहित कर्मों का निर्जरा के योग्य होना, सो गुणश्रेणी निर्जरा है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६३-२६४)

–'**शब्दार्थ**– अनिवृत्तिकरण = अ + निवृत्ति + करण। अ = नहीं। निवृत्ति = भेद। करण = परिणाम; अर्थात्, भेदरहित सुनिश्चित समान परिणाम। बादरसांपराय = बादर + सांपराय। बादर = स्थूल। सांपराय = कषाय। प्रविष्ट = प्रवेश; प्राप्त। संयत = स्वरूप में सम्यक्तया लीन; अर्थात्, चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम–क्षय में निमित्त होनेवाले संज्वलन कषाय के मन्दतम उदयरूप स्थूल कषाय के सद्भाव में सुनिश्चित, विशिष्ट वृद्धिगत, स्वरूपलीन, शुद्धोपयोग परिणामयुक्त जीव "अनिवृत्तिकरण बादरसांपराय प्रविष्ट शुद्धि संयत" जीव है।'

(गुणस्थान–प्रवेशिका, पृष्ठ ५४)

–'एकह्मि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहिं मिहो जेहिं॥ ५६॥
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा॥ ५७॥'

टीका– अनिवृत्तिकरण काल विषैं एक समय विषैं वर्तमान जे त्रिकालवर्ती अनेक जीव, ते जैसैं शरीर का संस्थान, वर्ण, वय, अवगाहना, अर क्षयोपशमरूप ज्ञान उपयोगादिक, तिनकरि परस्पर भेद कौं प्राप्त हैं; तैसैं विशुद्ध परिणामनि करि भेद कौं प्राप्त न हो हैं प्रगटपनें, ते जीव अनिवृत्तिकरण हैं, ऐसैं सम्यक् जानना। जातैं नाहीं विद्यमान है निवृत्ति कहिए विशुद्धि परिणामनि विषैं भेद जिनकैं ते अनिवृत्तिकरण हैं, ऐसी निरुक्ति हो है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६–५७ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १५१)

–'दृष्ट, श्रुत, और अनुभूत भोगाकांक्षादिरूप समस्त संकल्पविकल्परहित, निज निश्चल परमात्मस्वरूप में एकाग्र ध्यान के परिणाम की अपेक्षा से जिन जीवों को एक समय में परस्पर अन्तर नहीं होता है; वे वर्ण और संस्थान आदि का भेद होनेपर भी "अनिवृत्तिकरण–उपशमक अथवा क्षपक" संज्ञा के धारक, अप्रत्याख्यानावरणरूप द्वितीय कषायादि इक्कीस प्रकार की चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय में समर्थ ऐसे नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं।'

(श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४२–४३)

–'अब अनिवृत्तिकरन सुनु भाई। जहाँ भाव थिरता अधिकाई॥
पूरव भाव चलाचल जेते। सहज अडोल भए सब तेते॥ ९७॥
जहाँ न भाव उलटि अध आवै। सो नवमो गुनथान कहावै॥
चारितमोह जहाँ बहु छीजा। सो है चरन करन पद तीजा॥ ९८॥'

अर्थ– हे भाई! अब अनिवृत्तिकरण नामक नववें गुणस्थान का स्वरूप सुनो। जहाँ परिणामों की अधिक स्थिरता है। इससे पहले आठवें गुणस्थान में जो परिणाम किञ्चित् चपल थे, वे यहाँ अचल

हो जाते हैं। जहाँ चढ़े हुए परिणाम फिर नहीं गिरते, वह नववाँ गुणस्थान कहलाता है। इस नववें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का **बहुअंश**[1] नष्ट होजाता है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ९७-९८ व अर्थ, पृष्ठ ३९९-४००)

प्रश्न ४८- अनिवृत्तिकरण का क्या तात्पर्य है?

उत्तर- 'जिन जीवनि कौं अनिवृत्तिकरण मांडैं पहला, दूसरा आदि समान समय भए होंहिं, तिनि त्रिंकालवर्ती अनेक जीवनि के परिणाम समान ही होंइ। जैसैं अध:करण, अपूर्वकरण विषैं समान वा असमान होते थे, तैसै इहां नाहीं। बहुरि अनिवृत्तिकरण काल का प्रथम समय कौं आदि दैकरि समय-समय प्रति वर्तमान जे सर्व जीव, ते हीन-अधिकपना तैं रहित समान विशुद्ध परिणाम धरैं है। तहाँ समय-समय प्रति ते विशुद्ध परिणाम अनन्तगुणे-अनन्तगुणे उपजै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६-५७ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १५९-१६०)

प्रश्न ४९- अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जघन्यकाल (मरण की अपेक्षा) एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न ५०- जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से दसवें और उपशमश्रेणी से गिरते समय आठवें गुणस्थान में जाता है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में आगमन आठवें और उपशमश्रेणी से गिरते समय दसवें गुणस्थान से भी होता है।

प्रश्न ५१- अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में- (१) अनन्तगुणी विशुद्धि आदि तो अपूर्वकरण (आठवें) गुणस्थान के समान होती है, और (२) चारित्रमोहनीयकर्म **बादरकृष्टि**[2] से **सूक्ष्मकृष्टि**[3] रूप होता है। इस कारण सूक्ष्म लोभ कषाय के अतिरिक्त शेष २० कर्म प्रकृतियों का उपशमक्षय हो जाता है।

---

१. सूक्ष्मलोभ को छोड़कर शेष अंश।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, पृष्ठ ४०० की पादटिप्पणी)

२. **बादरकृष्टि**- अपूर्व-स्पर्धक से भी विशेष अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को बादरकृष्टि कहते हैं। अर्थात्, संज्वलन, क्रोध, माया, लोभ का अनुभाग घटना; स्थूल खण्ड होना; सो बादरकृष्टि है। (अनिवृत्तिकरण के निमित्त से अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को अपूर्व -स्पर्धक कहते हैं।)

३. **सूक्ष्मकृष्टि**- बादरकृष्टि से भी विशेष अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ६२-६३, पृष्ठ ३५)

दसवाँ गुणस्थान : सूक्ष्मसांपराय

प्रश्न ५२- सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- धुले हुए कौसुम्भ वस्त्र की सूक्ष्म लालिमा के समान सूक्ष्म लोभ का वेदन करनेवाले उपशमक अथवा क्षपकजीवों के यथाख्यातचारित्र से किञ्चित् न्यून वीतराग परिणामों को सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान का पूरा नाम 'सूक्ष्मसांपराय प्रविष्ट शुद्धि संयत गुणस्थान' है।

-'**शब्दार्थ**- सूक्ष्म = अत्यन्त हीन अनुभाग। सांपराय = कषाय। प्रविष्ट = प्रवेश; प्राप्त। शुद्धि = शुद्धोपयोग। संयत = स्वरूप में सम्यक्तया लीन; अर्थात्, अत्यन्त हीन अनुभागयुक्त लोभ कषाय के वेदनसहित, विशिष्ट वृद्धिगत, स्वरूप में लीन, शुद्धोपयोग परिणामयुक्त जीव सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट शुद्धि संयत है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ५५-५६)

-'अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि।। ६०।।'

टीका- अनिवृत्तिकरण काल का अन्त समय के अनन्तरि सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान कौं पाइ, सूक्ष्मकृष्टि कौं प्राप्त जो लोभ, ताके उदय कौं भोगवता संता उपशमावनेवाला वा क्षय करनेवाला, जीव सो सूक्ष्मसांपराय है, असा कहिए है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १६७)

-'सूक्ष्म परमात्मतत्त्व की भावना के बल से सूक्ष्म; अर्थात्, अत्यन्त कृश हुए लोभकषाय का उपशम अथवा क्षय करनेवाले जीव दशम गुणस्थानवर्ती (सूक्ष्मसांपराय) हैं।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४३)

-'कहौं दसम गुनथान दुसाखा। जहँ सूछम सिवकी अभिलाखा।।
सूछमलोभ दसा जहँ लहिए। सूछमसांपराय सो कहिए।। ९९।।'

अर्थ- अब दसवें गुणस्थान का वर्णन करता हूँ, जिसमें आठवें और नववें गुणस्थान के समान उपशम और क्षायिकश्रेणी के भेद हैं। जहाँ मोक्ष की अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषामात्र है, यहाँ सूक्ष्मलोभ का उदय है; इससे इसे सूक्ष्मसांपराय कहते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ९९ व अर्थ, पृष्ठ ४००)

प्रश्न ५३- सूक्ष्मसांपराय से क्या तात्पर्य है?

उत्तर- सूक्ष्म का अर्थ है- 'सूक्ष्मकृष्टि'। अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा कर्म के अनुभाग बन्ध को कृष करने अर्थात् घटाने का नाम कृष्टि है। और सांपराय का अर्थ कषाय (लोभकषाय) है;

अर्थात्, जिसके लोभ कषाय का अत्यन्त सूक्ष्म-हीन अनुभाग हो, वो सूक्ष्मसांपराय जीव है। सूक्ष्मसांपराय (दसवें) गुणस्थानवाले जीव को मोक्षप्राप्ति की अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषामात्र का होना ही सूक्ष्म लोभकषाय की श्रेणी में आता है।

-'जातैं सूक्ष्म कहिए सूक्ष्मकृष्टि कौं प्राप्त अैसा जो सांपराय कहिए लोभ कषाय, सो जाकैं पाइए, सो सूक्ष्मसांपराय है अैसा सार्थक नाम है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १६७)

प्रश्न ५४- सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान के कितने भेद हैं?

उत्तर- सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान के दो भेद हैं- (१) उपशमक सूक्ष्मसांपराय, और (२) क्षपक सूक्ष्मसांपराय। ये भेद उपशम और क्षपकश्रेणी की अपेक्षा से हैं।

प्रश्न ५५- सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- सूक्ष्मसापराय गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय (मरण की अपेक्षा), और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न ५६- जीव सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान से उपशमश्रेणी माँडने की दशा में ग्यारहवें, और क्षपकश्रेणी माँडने की दशा में बारहवें गुणस्थान में जाता है। उपशमश्रेणी से गिरते समय नवें गुणस्थान, और मरण की दशा में विग्रहगति में चौथे गुणस्थान में जाता है। सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में आगमन नवें और उपशमश्रेणी से गिरते समय ग्याहरवें गुणस्थान से होता है।

प्रश्न ५७- सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में (१) अनन्तगुणी विशुद्धि आदि कार्य अपूर्वकरण (आठवें) गुणस्थान के समान होते हैं, (२) ज्ञानावरणादि तीन घातिकर्मों का जघन्य स्थिति-अनुभागवाला आस्रव बन्ध होता है, (३) मोहनीय कर्म का आस्रव बन्ध नहीं होता है, और (४) यहाँ तक के सभी गुणस्थान सांपराय अर्थात् कषायसहित हैं।

ग्यारहवाँ गुणस्थान : उपशान्तमोह

प्रश्न ५८- उपशान्तमोह गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- निर्मली फलसहित स्वच्छ जल के समान अथवा शरदकालीन सरोवर-जल के समान सर्व मोहोपशमन के समय व्यक्त होनेवाली वीतरागदशा को उपशान्तमोह गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान का अपर नाम 'उपशान्त कषाय' और पूरा नाम 'उपशान्तकषाय-वीतराग छद्मस्थ' है।

शब्दार्थ- 'उपशान्तकषाय = दबी हुई कषाय। वीतराग = वर्तमान में सभी रागादिरहित। छद्मस्थ = छद्म + स्थ। छद्म = ज्ञानावरण-दर्शनावरण के सद्भाव में विद्यमान अल्प ज्ञान-दर्शन में। स्थ = रहनेवाले; अर्थात्, सर्व कषाय उपशान्त हो जाने (दब जाने) से वर्तमान में सर्व रागादि के अभावरूप वीतरागता प्रगट होनेपर भी ज्ञानावरणादि का क्षयोपशम होने से छद्मस्थ; अर्थात्, अल्पज्ञ जीव "उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ" है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ५७)

-'**कदकफलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।**

सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि।। ६१ ।।'

टीका- कतकफल का चूर्ण करि संयुक्त जो जल, सो जैसैं प्रसन्न हो है अथवा मेघपटलरहित जो शरत्काल, तीहि विषैं जैसैं सरोवर का पानी प्रसन्न हो है, ऊपरि तैं निर्मल हो है; तैसैं समस्तपने करि उपशान्त भया है मोहनीय कर्म जाका, सो उपशान्त कषाय है। '**उपशान्त:**' कहिए समस्तपनेकरि उदय होने कौं अयोग्य कीए हैं कषाय-नोकषाय जानैं, सो उपशान्त कषाय है। अैसी निरुक्ति करि अत्यन्त प्रसन्नचित्तपना सूचन किया है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १६७-१६८)

-'परम-उपशममूर्ति निजात्मा के स्वभाव के अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह का उपशम करनेवाले (जीव) ग्यारहवें (उपशान्तमोह) गुणस्थानवर्ती हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४३)

-'**अब उपशांतमोह गुनथाना। कहौं तासु प्रभुता परवांना।।**

जहाँ मोह उपशमै न भासै। यथाख्यातचारित परगासै।। १००।।

जाहि फरसकै जीव गिर, परै करै गुन रद्द।।

सो एकादसमी दसा, उपसम की सरहद्द।। १०१ ।।'

अर्थ- अब ग्यारहवें गुणस्थान उपशान्तमोह की सामर्थ्य कहता हूँ। यहाँ मोह का सर्वथा उपशम है; बिल्कुल उदय नहीं दिखता और जीव का यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है। जिस गुणस्थान को प्राप्त होकर जीव अवश्य ही गिरता है और प्राप्त हुए गुणों को नियम से नष्ट करता है, वह उपशमचारित्र की चरम सीमा प्राप्त करनेवाला ग्यारहवाँ गुणस्थान है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा १००, १०१ व अर्थ, पृष्ठ ४००-४०१)

प्रश्न ५९- उपशान्तमोह गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना है?

उत्तर- उपशान्तमोह गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय (मरण की अपेक्षा) और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न ६०- जीव उपशान्तमोह गुणस्थान से किस गुणस्थान में जाता है और किस गुणस्थान से उपशान्तमोह गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव निजशुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थ की यहाँ तक ही पहुँचने की योग्यता के कारण उपशान्तमोह गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ पाता। यहाँ से नीचे गिरकर दसवें अथवा मरण होने की दशा में चौथे गुणस्थान में चला जाता है। उपशान्तमोह गुणस्थान में आगमन सदैव दसवें गुणस्थान से ही होता है।

प्रश्न ६१- उपशान्तमोह गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- उपशान्तमोह गुणस्थान में (१) **ईर्यापथास्रव**[1] (सातावेदनीय का) ही होता है; (२) औपशमिकभावों का सद्भाव यहाँ तक ही होता है; (३) यहाँ से ऊपर के गुणस्थानवर्ती सभी जीव वीतरागी ही होते हैं; (४) यहाँ से नीचे के गुणस्थानवर्ती सभी जीव मिश्र (सरागी + वीतरागी) ही होते हैं; और (५) यहाँ से जीव नियमपूर्वक गिर जाता है।

बारहवाँ गुणस्थान : क्षीणमोह

प्रश्न ६२- क्षीणमोह गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- स्फटिक मणि अथवा पात्र में रखे हुए निर्मल जल के समान सम्पूर्ण कषायों के क्षय के समय होनेवाले जीव के अत्यन्त निर्मल वीतरागी परिणामों को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान का अपर नाम 'क्षीणकषाय गुणस्थान', और पूरा नाम 'क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान' है।

- '**शब्दार्थ-** क्षीण = क्षय; नाश; नष्ट। कषाय=राग-द्वेष आदि विकारी परिणाम। वीतराग = राग-द्वेष आदि सर्व विकारों से रहित अत्यन्त निर्मलदशा। छद्मस्थ = ज्ञानावरणादि के सद्भाव के कारण अल्प ज्ञान-दर्शन की दशा; अर्थात्, सर्व कषायों के क्षय से पूर्ण वीतरागदशा प्रगट हो जानेपर ही ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम के कारण अल्पज्ञ जीव "क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ" है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ५९)

- **'णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।**
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं।। ६२।।'

टीका- अवशेषरहित क्षीण कहिए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश करि रहित भई है मोहनीय

---

१. **ईर्यापथास्रव-** कषाय का अभाव न होनेपर योग के द्वारा आये हुए जो कर्म परमाणु आत्मा में न ठहरकर दूसरे समय में ही झड़ जाते हैं, उनके आस्रव को ईर्यापथास्रव कहते हैं।

(द्रव्यानुयोग-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २२३, पृष्ठ २४)

कर्म की प्रकृति जाकैं; सो नि:शेष क्षीणकषाय है। अैसैं नि:शेष मोह प्रकृतिनि का सत्त्व करि रहित जीव, सो क्षीणकषाय है। ता कारण तैं स्फटिक का भाजन विषैं तिष्ठता जल सदृश प्रसन्न-सर्वथा निर्मल है चित्त जाका अैसा क्षीणकषाय जीव है, अैसैं वीतराग सर्वज्ञदेवनि करि कहिए है। सोई परमार्थ करि निर्ग्रन्थ है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६२ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १६८)

-'जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।। ३३।।'

गाथार्थ- जिसने मोह को जीत लिया है- ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो, तब निश्चय के जाननेवाले निश्चय से उस साधु को 'क्षीणमोह' नाम से कहते है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३३ व गाथार्थ, पृष्ठ ६७)

-'उपशमश्रेणी से विलक्षण ऐसे क्षपकश्रेणी के मार्ग से निष्कषाय शुद्धात्मा की भावना के बल से कषाय का क्षय करनेवाले जीव बारहवे गुणस्थानवर्ती (क्षीणमोह) है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४३)

-'केवलग्यान निकट जहँ आवै। तहां जीव सब मोह खिपावै।।
प्रगटै यथाख्यात परधाना, सो द्वादसम खीनगुनठाना।। १०२।।'

अर्थ- जहाँ जीव मोह को सर्वथा क्षय करता है, वा केवलज्ञान बिल्कुल समीप रह जाता है और यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है, वह क्षीणमोह नामक बारहवाँ गुणस्थान है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा १०२ व अर्थ, पृष्ठ ४०१)

प्रश्न ६३- क्षीणमोह गुणस्थान का काल कितना है?

उत्तर- क्षीणमोह गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न ६४- जीव क्षीणमोह गुणस्थान से किस गुणस्थान मे जाता है और किस गुणस्थान से क्षीणमोह गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव क्षीणमोह गुणस्थान से एकमात्र तेरहवे गुणस्थान मे ही जाता है और क्षीणमोह गुणस्थान मे आगमन दसवे गुणस्थान से ही होता है।

प्रश्न ६५- क्षीणमोह गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- क्षीणमोह गुणस्थान मे (१) केवल सातावेदनीय का ईर्यापथास्रव होता है; (२) उसके अन्तिम समय मे सर्व घातियाकर्मों का क्षय हो जाता है; (३) यहाँ तक के सभी जीवो को अन्तरात्मा संज्ञा होती है; (४) यहाँ से आगे के सभी जीव क्षीणमोही ही हैं; (५) यहाँ तक के सभी जीव छद्मस्थ ही हैं; (६) सर्व घातियाकर्मो का अभाव होने से इन्हे 'मोहमुक्त' भी कहते हैं; और (७) इसके पहले समय से ही क्षीणमोह के शरीर से अनन्त बादर निगोदिया जीवो का निकलना प्रारम्भ हो जाता है और

अन्तिमसमय में निगोदिया जीवों के अभाव से अनन्तर समयवर्ती तेरहवें गुणस्थान में जीव परमौदारिक शरीरधारी हो जाता है।

तेरहवाँ गुणस्थान : सयोगकेवली

प्रश्न ६६- सयोगकेवली गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- घाति-चतुष्टक के क्षयकाल में औदयिक अज्ञाननाशक तथा असहाय केवलज्ञानादि नव लब्धिसहित होनेपर परमात्मा संज्ञा प्राप्त जीव की योगसहित वीतरागदशा को सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।

-'**केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।**
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो।। ६३।।
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तो त्ति सजोगिजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो।। ६४।।'

टीका- '**केवलज्ञानदिवाकरकिरणकलापप्रणाशिताज्ञान:**'- कहिए केवलज्ञानरूपी दिवाकर जो सूर्य, ताके किरणनि का कलाप कहिए समूह, पदार्थनि के प्रकाशने विषैं प्रवीण दिव्यध्वनि के विशेष, तिनकरि प्रनष्ट कीया है शिष्य जननि का अज्ञानांधकार जानैं अैसा सयोगकेवली है। इस विशेषण करि सयोगी भटारक कैं भव्यलोक कौं उपकारीपना है लक्षण जाका, अैसी परार्थरूप संपदा कही। बहुरि '**नवकेवललब्ध्युद्गमसुजनितपरमात्मव्यपदेश:**'- कहिए क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यरूप लक्षण धरैं जे नव केवललब्धि, तिनिका उदय कहिए प्रकट होना, ताकरि सुजनित कहिए वस्तुवृत्ति करि निपज्या है परमात्मा, अैसा व्यपदेश कहिए नाम जाका, अैसा सयोगकेवली है। इस विशेषण करि भगवान अर्हत्परमेष्ठी कैं अनन्त ज्ञानादि लक्षण धरैं स्वार्थरूप संपदा दिखाइए है।। ६३।। योग करि सहित सो सयोग, अर परसहायरहित जो ज्ञान-दर्शन, तिनिकरि सहित सो केवली, सयोग सो ही केवली, सो सयोगकेवली। बहुरि घातिकर्मनि का निर्मूल नाशकर्ता, सो जिन सयोगकेवली सोई जिन, सो सयोगकेवलीजिन कहिए। अैसैं अनादि-निधन ऋषिप्रणीत आगम विषैं कह्या है।। ६४।।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६३-६४ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १६८-१६९)

-'मोह का क्षय करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त, स्वशुद्धात्मसंवित्ति (स्वसंवेदन) जिसका लक्षण है; ऐसे **"एकत्ववितर्क अवीचार"**[१] नामक द्वितीय शुक्लध्यान में स्थिर होकर उसके

१. **एकत्ववितर्क अवीचार-** निजशुद्धात्मद्रव्य में अथवा विकाररहित आत्मसुख के अनुभवरूप पर्याय में अथवा उपाधिरहित स्वसंवेदन गुण मे- इन तीनो में से जिस एक में (द्रव्य, गुण, अथवा पर्याय मे) प्रवृत्त हो, उसमे ही **वितर्क**[२] नामक स्वसंवेदन

...........क्रमश:

अन्तिमसमय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय- इन तीनों का एक साथ एक समय में नाश करके, मेघपटल में से निकले हुए सूर्य की भाँति सकल निर्मल केवलज्ञान की किरणों से लोक और अलोक को प्रकाशित करनेवाले, तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन भास्कर (सयोगकेवली) हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४३)

-'जाकी दुखदाता-घाति चौकरी विनसि गई, चौकरी अघाति जरि जेवरी समान है।
प्रगट भयौ अनंतदंसन अनंतग्यान, बीरजअनंत सुख सत्ता समाधान है।।
जामैं आउ नाम गोत वेदनी प्रकृति अस्सी, इक्यासी वा चौरासी वा पचासी परवांन है।
सो है जिन केवली जगतवासी भगवान, ताकी जो अवस्था सो सजोगीगुनथान है।।१०६।।'

अर्थ- जिस मुनि के दु:खदायक घातिया चतुष्क; अर्थात्, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय नष्ट हो गये हैं और अघातिया चतुष्क जरी जेवरी (जली हुई रस्सी) के समान शक्तिहीन हुए हैं; जिसको अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, सत्ता और परमावगाढ़सम्यक्त्व प्रगट हुए हैं; जिसकी आयु, नाम, गोत्र, और वेदनीय कर्मों की मात्र अस्सी, इक्यासी, चौरासी वा पचासी प्रकृतियों की सत्ता रह गयी है- वह केवलज्ञानी प्रभु संसार मे सुशोभित होता है और उसी की अवस्था को सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा १०६ व अर्थ, पृष्ठ ४०२)

प्रश्न ६७- सयोगकेवली के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- अरिहन्त, अरहन्त, अरुहन्त, केवली, परमात्मा, सयोगीजिन, सकलपरमात्मा, परमज्योति, आदि सयोगकेवली के पर्यायवाची हैं।

प्रश्न ६८- सयोगकेवली कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर- सयोगकेवली अनेक प्रकार के होते हैं; जैसे, **तीर्थङ्करकेवली**[1], मूककेवली, अन्त:कृतकेवली,

---

लक्षणयुक्त भावश्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचाररूप होता है, अर्थात्, द्रव्य, गुण अथवा पर्याय मे परावर्तन नही करता है। वह क्षीणकषाय गुणस्थान मे सम्भव 'एकत्ववितर्कअवीचार' नामक दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है। इस दूसरे शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।

२. **वितर्क**- स्वशुद्धात्मा की अनुभूति जिसका लक्षण है, ऐसे भावश्रुत को और उसके (स्वशुद्धात्मा के) वाचक अन्तर्जल्परूप वचन को 'वितर्क' कहते है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४८ की टीका, पृष्ठ २३०-२३१)

१. **तीर्थङ्करकेवली**- (१) पाँच, तीन अथवा दो कल्याणकसहित होते हैं, (२) उनको इच्छारहित उपदेश होता है जिसे दिव्यध्वनि कहते हैं, (३) तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवगम्य दिव्यध्वनि २४ घण्टो मे छह-छह घड़ी पर्यन्त तीन या चार बार खिरती है, (४) उनके समवशरण, आदि देवकृत व्यवस्थाएँ होती हैं, और (५) उनका जघन्य विहारकाल वर्ष **पृथक्त्व**[2] तथा उत्कृष्टकाल योग निरोधकाल को छोड़कर आयु समाप्ति पर्यन्त होता है।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ६०-६१)

२. **पृथक्त्व**- तीन से अधिक और नौ से कम सख्या को पृथक्त्व कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ६० की पादटिप्पणी)

उपसर्गकेवली, सामान्यकेवली, समुद्घातकेवली, आदि।

प्रश्न ६९- सयोगकेवली गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्टकाल कितना हैं?

[illegible] कम एक कोटि पूर्व है।

प्रश्न ७०- जीव सयोगकेवली गुणस्थान से किस गुणस्थान मे जाता है और किस गुणस्थान से सयोगकेवली गुणस्थान में आता है?

उत्तर- जीव सयोगकेवली गुणस्थान से नियम से चौदहवें गुणस्थान में ही जाता है और सयोगकेवली गुणस्थान मे आगमन बारहवें गुणस्थान से ही होता है।

प्रश्न ७१- सयोगकेवली को कौनसा सम्यक्त्व और चारित्र होता है?

उत्तर- सयोगकेवली को क्षायिकसम्यक्त्व और यथाख्यातचारित्र होता है।

प्रश्न ७२- सयोगकेवली गुणस्थान की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- सयोगकेवली गुणस्थान में- (१) केवलज्ञान सम्बन्धित चारों ओर सुभिक्ष, आकाशगमन, कवलाहार का अभाव आदि अतिशय होते हैं; (२) सामान्य मनुष्यों के समान रोग आदि असाताजन्य बाधाएँ नही होती; (३) त्रिकालवर्ती लोकालोक को युगपत् जानने-देखनेवाले केवलज्ञान-केवलदर्शन का परिणाम भी युगपत् होता है; (४) परमात्मा संज्ञा प्रारम्भ होती है; (५) परमावगाढ़ सम्यक्त्व होता है; (६) यहाँ तक के सभी जीव योगसहित हैं; (७) सर्वज्ञता प्रकट होती है और अनन्तकाल तक बनी रहती है; और (८) सर्वघाति कर्मों का अभाव होने से इन्हें (सयोगकेवली को) 'जीवनमुक्त' भी कहते हैं।

प्रश्न ७३- क्या सयोगकेवली को मनोयोग का भी सद्भाव है?

उत्तर- सयोगकेवली को वास्तव में तो मनोयोग का सद्भाव नहीं है, लेकिन उपचार से (निमित्तपने से) सयोगकेवली को भी मनोयोग का सद्भाव कहा जाता है।

-'मणसहियाणं वयणं, दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्मि॥ २२८॥'

टीका- इन्द्रिय ज्ञान जो मतिज्ञान, तींहि करि रहित अैसा जु सयोग केवली, तींहि विषैं मुख्यपनैं तो मनोयोग है नाहीं, उपचारतैं है। सो उपचार विषैं निमित्त का प्रयोजन है; सो निमित्त इहां यहु जानना- जैसैं हम आदि छद्मस्थ जीव मन करि संयुक्त, तिनके मनोयोग पूर्वक अक्षर, पद, वाक्य, स्वरूप वचन व्यापार देखिए है। तातैं केवली कैं भी मनोयोग पूर्वक वचन योग कह्या।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २२८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३६१-३६२)

चौदहवाँ गुणस्थान : अयोगकेवली

प्रश्न ७४- अयोगकेवली गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर- सर्व शीलसहित, सर्व आस्रव निरोधक, नवीन कर्मबन्धरहित, जीव की योगरहित वीतराग सर्वज्ञदशा को अयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।

-'सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि।। ६५।।'

टीका- अठारह हजार शील[1] का स्वामित्वपना कौं प्राप्त भया। बहुरि निरोधे हैं समस्त आस्रव जानै; तातैं नवीन बध्यमान कर्मरूपी रज करि सर्वथा रहित भया। बहुरि मन, वचन, काय योग करि रहितपना तैं अयोग भया सो नाहीं विद्यमान है योग जाकैं, असा अयोग अर अयोग सोई केवली, सो अयोगकेवली भगवान परमेष्ठी जीव असा है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १६९-१७०)

-'मन, वचन, काया की वर्गणा का जिन्हें अबलम्बन है और कर्मों को ग्रहण करने में जो निमित्त है, ऐसे आत्मप्रदेशो के परिस्पदस्वरूप जो योग, उनसे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगीजिन है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४३)

-'जहां काहू जीवकौं असाता उदै साता नाहिं,
काहूकौं असाता नाहिं, साता उदै पाइयै।
मन वच कायसौं अतीत भयौ जहां जीव,
जाकौ जसगीत जगजीतरूप गाइयै।।
जामैं कर्म प्रकृतिकी सत्ता जोगी जिनकीनी,
अंतकाल द्वै समैमैं सकल खिपाइयै।
जाकी थिति पंच लघु अच्छर प्रमान सोई,
चौदहौं अजोगीगुनठाना ठहराइयै।। १११।।'

अर्थ- जहाँ पर किसी जीव को **असाता का उदय**[2] रहता है साता का नहीं रहता, और किसी

---

१. अट्ठारह हजार मैथुनकर्म के दोषरूप भेद है। उनका (अट्ठारह हजार दोषो का) अभाव सो शील है। इन दोषोंरहित शील को निर्मलस्वभाव कहते हैं। इनमे ७२० दोष अचेतन स्त्री और १७२८० दोष चेतनस्त्री से सम्बन्धित हैं।

(आधार-छहढाला, छठवीं ढाल का भेद-सग्रह, पृष्ठ १८३)

२. केवलज्ञानी भगवान को **'असाता का उदय'** पढ़कर विस्मित नही होना चाहिए। वहाँ (चौदहवें गुणस्थान में) असाता कर्म, उदय में सातारूप परिणमता है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा १११, पृष्ठ ४०५ की पादटिप्पणी)

जीव को साता का उदय रहता है असाता का नहीं रहता; जहाँ जीव के मन-वचन-काय के योगो की प्रवृत्ति सर्वथा शून्य हो जाती है; जिसके जगज्जयी (संसार विजेता) होने के गीत गाये जाते हैं; जिसको सयोगी जिन के समान अघातिया कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है- सो इन्हे अन्त के दो समयों में सर्वथा क्षय करते है; जिस गुणस्थान का काल ह्रस्व पञ्च अक्षर प्रमाण है- वह अयोगी जिन चौदहवॉ गुणस्थान है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा १११ व अर्थ, पृष्ठ ४०५)

प्रश्न ७५- अयोगकेवली के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- अयोगकेवली के अरहन्त, अरिहन्त, अरुहन्त, केवली, परमात्मा, सकलपरमात्मा, परमज्योति, आदि अनेक पर्यायवाची हैं।

प्रश्न ७६- अयोगकेवली गुणस्थान का काल कितना है?

उत्तर- अयोगकेवली गुणस्थान में पॉच ह्रस्व स्वरो (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) का उच्चारणकाल के बराबर ही काल होता है; न्यूनाधिक नहीं। इसे अन्तर्मुहूर्तकाल भी कहा जा सकता है।

प्रश्न ७७- जीव अयोगकेवली गुणस्थान से कहाँ जाता है और किस गुणस्थान से अयोगकेवली गुणस्थान मे आता है?

उत्तर- जीव अयोगकेवली गुणस्थान से सिद्धदशा में ही जाता है और इस गुणस्थान में आगमन तेरहवे गुणस्थान से ही होता है।

प्रश्न ७८- अयोगकेवली गुणस्थान की क्या विशेषताऍ हैं?

उत्तर- अयोगकेवली गुणस्थान मे- (१) अन्त समय मे सब कर्मो का अभाव हो जाता है, (२) योगाभाव के कारण ईर्यापथास्रव भी नही होता, (३) संवर और निर्जरा की पूर्णता हो जाती है, और (४) मुनि के ८४ लाख उत्तरगुण तथा शील-सम्बन्धी १८ हजार भेदों की पूर्णता हो जाती है।

गुणस्थानातीत सिद्धभगवान

प्रश्न ७९- सिद्धभगवान किसे कहते हैं?

उत्तर- ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरहित, अनन्तसुखामृतस्वादी, परम शान्तिमय, नवीन आस्रव -बन्ध को कारणभूत मिथ्यादर्शनादि सर्व विकाररहित, नित्य, सम्यक्त्व-ज्ञानदर्शनादि **आठ प्रधान गुणसहित**[१], अनन्त गुणो (शुद्ध-पर्यायो) सहित, **कृतकृत्य**[२], **लोकाग्रस्थित**[३], वीतरागी, सर्वज्ञ,

१. **आठ प्रधान गुण**- 'सिद्ध भगवान **"अष्टगुणाः"** -कहिए क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अव्याबाध नाम धारक जे आठ गुण तिनकरि संयुक्त हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १७८)

क्रमशः..........

निकलपरमात्मा को सिद्धभगवान कहते हैं।

-'**अट्ठवियकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।**

अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।। ६८।।'

टीका- केवल कहे जे गुणस्थानवर्ती जीव, तेई नाहीं है सिद्ध कहिए अपने आत्मस्वरूप की प्राप्तिरूप लक्षण धरैं सो सिद्धि, ताकरि सयुक्त मुक्त जीव भी लोक विषैं हैं। ते कैसे हैं? **'अष्टविध-कर्मविकला:'** कहिये अनेक प्रकार उत्तर प्रकृतिरूप भेद जिन विषैं गर्भित ऐसे जो ज्ञानावरणादिक आठ प्रकार कर्म आठ गुणनि के प्रतिपक्षी, तिनका सर्वथा क्षय करि प्रतिपक्ष रहित भए हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १७६-१७७)

-'निश्चयरत्नत्रयात्मक "कारणभूत समयसार" नामक जो परम यथाख्यातचारित्र है, उसके द्वारा पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानों से अतीत हुए; ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों से रहित हुए; तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणो में अन्तर्भूत, निर्नाम, निर्गोत्र आदि अनन्त गुणवाले सिद्ध हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४३)

-'**णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।**

लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता।। १४।।'

गाथार्थ- सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, आठ गुणों के धारक हैं, **अन्तिम शरीर से कुछ न्यून**[1] आकारवाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं, और उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ व टीका, पृष्ठ ४९)

-'**पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमांहि अष्टम भू वसैं;**

वसु कर्म विनसैं सुगुण बसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं।

-'**समकित दर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना।**

सूक्ष्म वीरजवान, निराबाद गुण सिद्ध के।।'

(श्रीसिद्ध पूजा, आधार-गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ६२ की पादटिप्पणी)

[सिद्धभगवान को प्रगट हुए आठ गुण (पर्यायें) यथार्थ मे सिद्धो के आठ गुण नही हैं, किन्तु उन्हें (सिद्धभगवान को) अनन्तगुण (परिपूर्ण शुद्धपर्यायें) प्रगट हो गये है। तथापि आठ गुणों का वर्णन मध्यम रुचिवाले शिष्यो की अपेक्षा से (व्यवहारनय से) किया है।
-श्रीद्रव्यसंग्रह, पण्डित हीरालाल जी की टीका, पृष्ठ ४९, आधार-श्रीद्रव्यसग्रह, गाथा १४ का भावार्थ, पृष्ठ ४३-४४]

२. **कृतकृत्य-'कृतकृत्या:'**- कहिए सम्पूर्ण कीया है सकल कर्म का नाश अर ताका कारण चारित्रादिक जिनकरि असे हैं। इस विशेषण करि ईश्वर सदा मुक्त है।

३. **लोकाग्रस्थित-'लोकाग्रनिवासिन:'**- कहिए विलोकिए हैं जीवादि पदार्थ जाविषैं, असा जो तीन लोक, ताका अग्रभाग, जो तनुवात का भी अन्त, तीहिंविषैं निवासी हैं, तिष्ठै हैं।

(२ व ३-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १७८)

१. **अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकार**- वह किञ्चित् न्यूनपना, शरीर उपांगजनित नासिकादि छिद्र अपूर्ण होने से होता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५२)

संसार खार अपार पारावार तरि तीरहिं गये;

अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये।। १२।।'

अन्वयार्थ- केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् शेष चार अघातिया कर्मों का नाश करके कुछ ही समय में आठवीं पृथ्वी-ईषत् प्राग्भार-मोक्षक्षेत्र में निवास करते हैं। उनको आठ कर्मों का नाश हो जाने से सम्यम्त्व आदि समस्त आठ मुख्य गुण शोभायमान होते हैं। ऐसे सिद्ध मुक्तात्मा संसाररूपी खारे तथा अगाध समुद्र को पार करके किनारे पर पहुँच जाते हैं और विकाररहित, शरीररहित, रूपरहित, शुद्ध-निर्दोष, दर्शन-ज्ञान-चेतनास्वरूप तथा नित्यस्थायी होते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १७३-१७४)

प्रश्न ८०- सिद्धभगवान के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- सिद्ध, परमशुद्ध, कार्यपरमात्मा, लोकाग्रवासी, संसारातीत, **निरञ्जन**[1], निष्काम, साध्यपरमात्मा, परमसुखी, ज्ञानाकार, चिरवासी, देहमुक्त, आदि सिद्धभगवान के पर्यायवाची हैं।

प्रश्न ८१- सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के प्रतिपक्षी अर्थात् घातक कर्म कौनसे हैं?

उत्तर- 'मोहकर्म क्षायिक सम्यक्त्व कौं घातै है। केवलज्ञान अर केवलदर्शन कौं आवरणद्विक ज्ञानावरण-दर्शनावरण, सो घातै हैं। अनन्तवीर्य कौं विघन जो अन्तरायकर्म, सो घाते है। सूक्ष्मगुण कौं नामकर्म घातैं है। अगुरुलघु कौं गोत्रकर्म घातै है। अव्याबाध कौं वेदनीयकर्म घातै है। ऐसैं आठ गुणनि के प्रतिपक्षी आठ कर्म जानने।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १७७)

प्रश्न ८२- सिद्धभगवान को कौनसा सम्यक्त्व और कौनसा चारित्र होता है?

उत्तर- सिद्धभगवान को क्षायिकसम्यक्त्व और परम यथाख्यातचारित्र होता है।

प्रश्न ८३- सिद्धदशा का काल कितना है?

उत्तर- सिद्धदशा का काल सादिअनन्त है।

-'रहिहैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।'

अन्वयार्थ- वे (सिद्धभगवान) जिस प्रकार मोक्षरूप से परिणमित हुए हैं, उसी प्रकार अनन्त-अनन्तकाल तक रहेंगे।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १३ की दूसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १७५)

प्रश्न ८४- जीव का सिद्धदशा में आगमन किस गुणस्थान से होता है और सिद्धदशा से जीव कहाँ जाता है?

---

१. **'निरञ्जना:'**- कहिए आस्रवरूप जो कर्ममल, सो ही भया अञ्जन, ताकरि रहित हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १७७)

उत्तर- सिद्धदशा में आगमन चौदहवे गुणस्थान से ही होता है। आगे सदाकाल गमनागमनरहित है।

प्रश्न ८५- सिद्धभगवान के कितने भेद हैं?

उत्तर- भूतप्रज्ञापक नैगमनय से क्षेत्र, काल, आदि द्वारा सिद्ध भगवान मे भी भेद किया जाता है; जैसे, विदेह क्षेत्र से मुक्त, भरतक्षेत्र से मुक्त आदि।

-'क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबेधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः॥ ९॥'

अर्थ- क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्व-इन बारह अनुयोगों से मुक्तजीवो (सिद्धो) मे भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १०, सूत्र ९ व अर्थ, पृष्ठ ६३२)

[इन भेदों के विस्तार के लिये **श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १०, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ६३२ से ६३५** का अध्ययन करे।]

प्रश्न ८६- क्या सभी सिद्ध समान होते हैं?

उत्तर- यद्यपि सभी सिद्धों के ज्ञानादि अनन्तानन्त गुणो की प्रगटता में किञ्चित्मात्र भी अन्तर नहीं है; तथापि आकार (व्यञ्जनपर्याय) में अन्तर होता है।

प्रश्न ८७- सिद्धदशा की क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर- सिद्धदशा- (१) द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म तीनों कर्ममलो से रहित है, (२) अनुक्रमता से रहित है, (३) गुणस्थान व जीवसमास से रहित है, (४) सञ्ज्ञा, पर्याप्ति, और दस प्राणो से रहित है, (५) गति, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, और अनाहार के अतिरिक्त शेष नो मार्गणाओ से रहित है, (६) इसमें सभी कर्मों की अपेक्षा क्षायिकभाव है, (७) आत्मगुणो की परिपूर्ण शुद्धिमय विकासदशा है, और (८) उसकी प्रगटता मनुष्य-क्षेत्र निवास के अन्तिम समय मे होती है तथा वे तत्काल ही ऋजुगति से गमन कर सिद्धशिला के ऊपर लोकाग्र मे अनन्त- अनन्तकाल स्थिररूप से विराजमान रहते हैं।

-'सिद्धाणं सिद्धगई, केवलणाणं च दंसणं खयियं।
सम्मत्तमणाहारं, उवजोगाणक्कमपउत्ती॥ ७३१॥
गुणजीव ठाणरहिया, सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा।
सेसणवमग्गणूणा, सिद्धा सुद्धा सदा होंति॥ ७३२॥'

टीका- सिद्ध परमेष्ठी, तिनके सिद्धगति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, अनाहार अर ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग की अनुक्रमता करि रहित प्रवृत्ति ए प्ररूपणा पाइए है॥ ७३१॥ चौदह

गुणस्थान वा चौदह जीवसमासनि करि रहित हैं। बहुरि च्यारि संज्ञा, छह पर्याप्ति, दश प्राणनि करि रहित हैं। बहुरि सिद्ध गति, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, अनाहार इनि बिना अवशेष नव मार्गणानि करि रहित हैं। अैसै सिद्ध परमेष्ठी द्रव्यकर्म, भावकर्म के अभाव तैं सदाकाल शुद्ध हैं।। ७३२।।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७३१-७३२ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ८५५-८५६)

प्रश्न ८८- सयोगीजिन (सयोगकेवली) और अयोगीजिन (अयोगकेवली) को रत्नत्रय की पूर्णता हो जानेपर उसी क्षण मोक्ष क्यों नहीं होता?

उत्तर- '(सयोगीजिन और अयोगीजिन को) यथाख्यातचारित्र तो हुआ, परन्तु परम यथाख्यातचारित्र नही है। यहाँ दृष्टान्त है; जैसे, कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है, तो भी उसे चोर के संसर्ग (साथ रहने) का दोष लगता है। उसी प्रकार सयोगकेवलियों के चारित्र का नाश करनेवाले चारित्रमोह के उदय का अभाव होनेपर भी निष्क्रिय शुद्धात्म-आचरण से विलक्षण तीन योग का व्यापार चारित्र में दोष उत्पन्न करता है तथा तीन योग का जिसको अभाव है; उस अयोगीजिन को, चरम समय के अतिरिक्त, शेष चार अघातिकर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दोष उत्पन्न करता है। चरम समय में मन्द उदय होनेपर, चारित्र में दोष का अभाव होने से, वह मोक्ष प्राप्त करता है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४४)

[(१) उक्त, प्रकरण 'गुणस्थान' में जिन प्रश्नोत्तरो के साथ ग्रन्थाधार नहीं दिया गया है, वे सभी प्रश्नोत्तर ब्र० यशपाल जैन द्वारा सम्पादित एवं पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा प्रकाशित 'गुणस्थान-प्रवेशिका', अध्याय तीसरा, पृष्ठ ४१ से ६३ के आधार से लिये गये हैं।
(२) 'गुणस्थान' से सम्बन्धित विस्तृत विवरण के लिये श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ९ से ६८, पृष्ठ ८६ से १७८ तक और श्रीसमयसार-नाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार एवं अन्य ग्रन्थों का अध्ययन करें।]

जैसा बीज वैसा वृक्ष

जैसा बीज बोये वैसा वृक्ष होता है; आम का बीज (गुठली) बोये तो आम का वृक्ष होगा और अकौआ (आक) का बीज बोयेगा तो अकौए का वृक्ष उगेगा। जैसा कारण देंगे वैसा कार्य होता है। सच्चा पुरुषार्थ करें तो सच्चा फल मिलता ही है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या ६३, पृष्ठ २५)

श्रेणी

प्रश्न १- श्रेणी किसे कहते हैं?

उत्तर- चारित्रमोहनीय की (अनन्तानुबन्धी चतुष्क-क्रोध, मान, माया, लोभरहित) शेष २१ प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय में निमित्त होनेवाले जीव के वृद्धिगत वीतराग परिणामों (शुद्धभावों) को श्रेणी कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २९, पृष्ठ ३०)

-'जहाँ चारित्रमोहनीय की शेष रही इक्कीस प्रकृतियों का क्रम से उपशम तथा क्षय किया जाये, उसे श्रेणी कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५२०, पृष्ठ १३७)

प्रश्न २- श्रेणी माँडने (चढ़ने) से क्या अभिप्राय है?

उत्तर- सातवें गुणस्थान से आगे यह जीव क्रम से शुद्धभावों; अर्थात्, वीतरागता को बढ़ाता जाता है। इसी को श्रेणी चढ़ना कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ३१, पृष्ठ ३०)

प्रश्न ३- श्रेणी के कितने भेद हैं?

उत्तर- श्रेणी के दो भेद हैं- (१) उपशमश्रेणी, और (२) क्षपकश्रेणी।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, दोहा १२ का भावार्थ, पृष्ठ २०; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५२१, पृष्ठ १३७)

-'सातवें गुणस्थान से आगे वृद्धिगत वीतराग परिणामरूप दो श्रेणियाँ हैं- एक का नाम उपशमश्रेणी और दूसरी का नाम क्षपकश्रेणी है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ३१, पृष्ठ ३०)

प्रश्न ४- उपशमश्रेणी किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसमें चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम के साथ वीतरागता बढ़ती जाती है, उसे उपशमश्रेणी कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ३२, पृष्ठ ३०)

-'जिसमें चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशम किया जाये वो उपशमश्रेणी है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५२२, पृष्ठ १३८)

-'जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।

तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति।। ३२।।'

गाथार्थ- जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक जानता है, उस मुनि को परमार्थ के जाननेवाले जितमोह कहते हैं।

भावार्थ- यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोह का उदय अनुभव में न रहे और जो अपने बल से उपशमादि करके आत्मानुभव करता है, उसे जितमोह (उपशमश्रेणीरूढ़) कहा है। यहाँ मोह को जीता है; उसका नाश नहीं हुआ।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३२ गाथार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ६५-६६)

प्रश्न ५- क्षपकश्रेणी किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसमें चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों के क्षय के साथ वीतरागता बढ़ती जाती है, उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ३३, पृष्ठ ३०)

-'जिसमें चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों का क्षय किया जाये, वो क्षपकश्रेणी है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५२३, पृष्ठ १३८)

-'जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।

तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।। ३३।।'

गाथार्थ- जिसने मोह को जीत लिया है, ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो; तब निश्चय के जाननेवाले निश्चय से उस साधु को 'क्षीणमोह' (क्षपकश्रेणीरूढ़) नाम से कहते हैं।

(श्रीसमयसार, गाथा ३३ व गाथार्थ, पृष्ठ ६७)

प्रश्न ६- श्रेणी चढ़ने का पात्र कौन जीव होता है?

उत्तर- सातिशय अप्रमत्त[1] विरत नामक सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनिराज श्रेणी चढ़ने के पात्र होते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २८, पृष्ठ ३०)

-'क्षायिक सम्यग्दृष्टि और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि ही श्रेणी चढ़ते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्ववाला तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्ववाला जीव श्रेणी नहीं चढ़ सकता। प्रथमोपशम सम्यक्त्ववाला

---

१. **सातिशय अप्रमत्त-** 'बहुरि जो श्रेणी चढ़ने कौं सन्मुख भया, सो सातिशय अप्रमत्त कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १३२)

[विस्तार के लिये गाथा ४७ व टीका, पृष्ठ १३३-१३४ देखें]

जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व छोड़कर क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होकर प्रथम ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का विसंयोजन करके दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करके या तो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाये अथवा तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाये, तब श्रेणी चढ़ने का पात्र होता है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५१९, पृष्ठ १३७)

प्रश्न ७- कौन जीव कौनसी श्रेणी चढ़ता है?

उत्तर- क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दोनों (उपशम अथवा क्षपक) श्रेणी चढ़ सकता है, लेकिन द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव उपशमश्रेणी ही चढ़ता है, क्षपक नहीं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५२४, पृष्ठ १३८)

-'क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशम अथवा क्षपकश्रेणी चढ़ सकता है, परन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मात्र उपशमश्रेणी चढ़ सकता है।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २८, पृष्ठ ३०)

-'उपशमश्रेणी कौं क्षायिक सम्यग्दृष्टि व द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि दोऊ चढ़ैं अर क्षपकश्रेणी कौं क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही चढ़ने कौं समर्थ है। उपशम सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी कौं नाही चढ़े है। सो यहु औसा सातिशय अप्रमत्तसंयत, सो अनन्तानुबन्धी चतुष्क बिना इकईस प्रकृतिरूप, तिस चारित्रमोह कौं उपशमावने वा क्षय करने कौं कारणभूत औसैं जे तीन करण के परिणाम, तिन विषैं प्रथम अधःप्रवृत्तकरण कौं करै है; ऐसा अर्थ जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १३४)

प्रश्न ८- श्रेणी किस ध्यान के अन्तर्गत माँडी जाती है?

उत्तर- उपशम अथवा क्षपकश्रेणी शुक्लध्यान के प्रथम भेद **पृथक्त्ववितर्कवीचार**[1] मे माँडी जाती है।

-'पडिसमयं सुज्झंतो अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए।
पढमं सुक्कं ज्झायदि, आरूढो उभयसेणीसु।। ४८२।।'

अन्वयार्थ- उपशमक और क्षपक इन दोनों श्रेणियो में आरूढ़ होकर समय-समय अनन्तगुणी विशुद्धता कर्म के उपशम तथा क्षयरूप से शुद्ध होता हुआ मुनि प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान करता है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४८२ व टीका, पृष्ठ २२७)

प्रश्न ९- शुक्लध्यान किसे कहते हैं?

---

१. **शुक्लध्यान के चार भेद हैं-** (१) पृथक्त्ववितर्कवीचार, (२) एकत्ववितर्कवीचार, (३) सूक्ष्मक्रिया, और (४) व्युपरतक्रियानिवृत्ति।
(आधार-श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४८२ से ४८५ व टीका, पृष्ठ २२७ से २३०)

उत्तर- 'जहाँ भले प्रकार विशुद्ध (व्यक्त कषायों के अनुभवरहित) उज्जवल गुण हों; जहाँ कर्मों का उपशम तथा क्षय हो; और जहाँ लेश्या भी शुक्ल ही हो, उसको शुक्लध्यान कहते हैं।'

-'जत्थ गुणा सुविसुद्धा, उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का, तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं।। ४८१।।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४८१ का गाथार्थ व गाथा, पृष्ठ २२७)

प्रश्न १०- उपशमश्रेणी में क्या होता है?

उत्तर- उपशमश्रेणी में जीव के स्वयं के पुरुषार्थ की कमी के कारण चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशम होता है; क्षय नहीं। अतः पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण जीव नियम से गिर जाता है।

-'उपशमवाले (उपशमश्रेणी मॉडनेवाले) आठवे, नवमें, दशवें से ग्यारहवाँ (गुणस्थान) स्पर्श कर पीछे पड़ जाते हैं, सो कुछ एक भव भी धारण करते हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, दोहा १२ का भावार्थ, पृष्ठ २०)

-' **"णाणसहावाधियं"**- अर्थात्, ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्यों. के स्वभाव से होनेवाले सर्वभावों से परमार्थ से भिन्न निज आत्मा को जो मुनि अनुभव क़रते हैं, वे निश्चय से जितमोही हैं। उन्होंने मोह को जीता है, किन्तु अभी टाला नहीं है। मोह का उपशम किया है, क्षय नहीं किया है, पुरुषार्थ अभी इतना ही मन्द है।' तथा,

-'जैसे पानी में जो मैल होता, वह स्थिर होकर नीचे बैठ जाता है; उसी प्रकार विकार (चारित्रमोह) उपशमश्रेणी में दब जाता है, किन्तु उसका क्षय नहीं होता; अतः उसे उपशम कहते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग २, पृष्ठ ५० व ५६)

-'उपशमश्रेणी में पुरुषार्थ मन्द होता है।' तथा,

-'उपशमश्रेणी में रागादि का क्षय नही होता है। इस कारण पीछे हटकर सातवें गुणस्थान में आकर पश्चात् उग्र पुरुषार्थ द्वारा क्षपकश्रेणी माँडने पर रागादि का अभाव होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग २, पृष्ठ ५८ व ६१)

प्रश्न ११- क्षपकश्रेणी में क्या होता है?

उत्तर- क्षपकश्रेणी माँडनेवाला जीव स्वयं के उग्र पुरुषार्थ के बल से चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों का क्षय करता हुआ अन्तर्मुहूर्तकाल में नियम से अर्हन्तदशा को प्राप्त होकर परमात्मा संज्ञा प्राप्त कर लेता है।

-'क्षपकश्रेणीवाले तो उसी भव से केवलज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं।................ क्षपकवाले आठवें से नवमें गुणस्थान में प्राप्त होते हैं। वहाँ कषायों का सर्वथा नाश होता है। एक

संज्वलन लोभ रह जाता है। अन्य सब का अभाव होने से वीतरागभाव अति प्रबल हो जाता है; इसलिये स्वसंवेदन ज्ञान का बहुत ज्यादा प्रकाश होता है। परन्तु एक सज्वलन लोभ बाकी रहने से वहाँ सरागचारित्र ही कहा जाता है। दशवे गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ भी नहीं रहता। तब मोह की अट्ठाईस प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से वीतरागचारित्र की सिद्धि हो जाती है। दशवें से बारहवें (गुणस्थान) में जाते हैं; ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नही करते। वहाँ निर्मोह वीतरागी के शुक्लध्यान का दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है; यथाख्यातचारित्र हो जाता है। बारहवे के अन्त मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय- इन तीनों का भी विनाश कर डाला। मोह का नाश पहले हो ही चुका था। तब चारों घातियाकर्मों के नष्ट हो जाने से तेरहवें गुणस्थान मे केवलज्ञान प्रगट होता है। वहाँ पर ही शुद्ध परमात्मा होता है; अर्थात्, उसके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, दोहा १२ का भावार्थ, पृष्ठ २०)

-'अति उग्र पुरुषार्थ द्वारा पूर्ण वीतराग स्वरूप प्रगट होनेपर (जीव) क्षायिक जिन या क्षीणमोह जिन होते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग २, पृष्ठ ६०)

प्रश्न १२- क्षपकश्रेणी कौन जीव, किस प्रकार, और क्यों माँडता है?

उत्तर- 'पहले (पूर्वोक्त प्रकार) **तीन करण**[1] विधान तैं **सात प्रकृतिनि**[2] का नाश करि क्षायिक सम्यग्दृष्टि होइ, मोहनी की इक्कीस प्रकृतिनि का सत्वसहित होइ, सो जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त अर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तसहित आठ वर्ष करि हीन दोय कोटी पूर्व, तिनिकरि अधिक तेतीस सागर काल क्षायिक सम्यग्दृष्टि ससार में रहै, तहां किसी काल विषैं चारित्रमोह की क्षपणा (क्षय) कौं योग्य जे विशुद्ध परिणाम, तिनकरि सहित होइ प्रमत्त तैं अप्रमत्त विषैं, अप्रमत्त तैं प्रमत्त विषैं हजारों बार गमनागमन करि महामुनि चक्रवर्ती हैं, सो यथाख्यातचारित्ररूप एकक्षत्र राज्य करने के अर्थि क्षपकश्रेणीरूप दिग्विजय करने के सन्मुख होत संता प्रथम सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान विषैं अधःकरणरूप प्रस्थान करै है।'

(श्रीक्षपणासार, गाथा ३९२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३०८)

[श्रीलब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका, तृतीय खण्ड, गाथा ३९२ की टीका, पृष्ठ ३०८ से ३११ तक चार सूत्रों के माध्यम से क्षपकश्रेणी से सम्बन्धित कुछ प्रश्नोत्तर दिए गये हैं।

---

१. **तीन करण**- (१) अधःकरण, (२) अपूर्वकरण, और (३) अनिवृत्तिकरण।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५२७, पृष्ठ १३९)

[तीनों करणों की परिभाषा के लिये श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार; जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५२८, ५२९ व ५३० तथा दूसरे ग्रन्थो का अध्ययन करे।]

२. **सात प्रकृति**- दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की (क्रोध, मान, माया, लोभ) चार, इन सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिकसम्यक्त्व होता है।

उनमें से कुछ यहाँ दिये जा रहे हैं।]

प्रश्न १३- जो चारित्रमोह की क्षपणा का प्रारम्भक जीव कैं परिणाम कैसा होइ?

उत्तर- अति विशुद्ध होइ।

प्रश्न १४- योग कैसा होइ?

उत्तर- च्यारि मनो योगनि विषैं कोई एक वा च्यारि वचन योगनि विषैं कोई एक वा सात काय योगनि विषैं औदारिक काय योग होइ।

प्रश्न १५- कषाय कैसा होइ?

उत्तर- च्यारि संज्वलन (क्रोध, मान, माया, लोभ) विषैं कोई एक होइ, सो भी हीयमान होइ वृद्धिरूप न होइ।

प्रश्न १६- उपयोग कैसा होइ?

उत्तर- बहुरि मुनिनि कैं प्रसिद्ध उपदेश करि श्रुतज्ञान ही उपयोग है। दर्शन उपयोग नाहीं है। अन्य आचार्यनि के मत करि मति, श्रुति ज्ञान विषैं एक, चक्षु वा अचक्षु दर्शन विषैं एक उपयोग है।

प्रश्न १७- लेश्या कैसी हो है?

उत्तर- शुक्ल ही हो है।

प्रश्न १८- वेद कैसा हो है?

उत्तर- भाववेद तीनों (पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद) विषैं एक हो है। द्रव्यवेद पुरुषवेद ही है।

(श्रीक्षपणासार, गाथा ३९२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, तृतीय खण्ड, पृष्ठ ३०८-३०९)

प्रश्न १९- उपशम तथा क्षपकश्रेणी के कौन-कौनसे गुणस्थान होते हैं?

उत्तर- 'आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ, और ग्यारहवाँ- ये चार गुणस्थान उपशमश्रेणी के हैं तथा आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ, और बारहवाँ- ये चार गुणस्थान क्षपकश्रेणी के हैं।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ३२ व ३३, पृष्ठ ३०)

प्रश्न २०- उपशमश्रेणी की अपेक्षा गुणस्थानों का काल कितना है?

उत्तर- 'उपशमश्रेणी की अपेक्षा छठे, सातवें, आठवें, नववें, दसवें, और ग्यारहवे गुणस्थान का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त वा जघन्यकाल एक समय है।'[१]

-'षट सातैं आठैं नवैं, दस एकादस थान।

अंतरमुहूरत एक वा, एक समै थिति जान।। १०३।।'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा १०३ का अर्थ व दोहा, पृष्ठ ४०१)

---

१. 'उपशमश्रेणी मांडनेवाले जीव के पतन (गिरने) के दो कारण हैं- (१) कालक्षय (उपशमकाल का क्षय), और (२) आयुक्षय। कालक्षय के कारण गिरते समय नीचे-नीचे के गुणस्थानों की प्राप्ति क्रमशः छट्ठे गुणस्थान तक होती है।' इसी कारण श्रीसमयसारनाटक में उपशमश्रेणी की अपेक्षा गुणस्थानों के काल में छट्ठे और सातवें गुणस्थान का भी उल्लेख किया गया है।
(आधार-गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ५८)

प्रश्न २१- क्षपकश्रेणी की अपेक्षा गुणस्थानों का काल कितना है?

उत्तर- 'क्षपकश्रेणी में आठवें, नववें, दसवे, और बारहवें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त है।'

-'छपकश्रेनि आठैं, नवैं, दस और वलि बार।
थिति उत्कृष्ट जघन्य भी, अंतरमुहूरत काल।। १०४।।'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा १०४ का अर्थ व दोहा, पृष्ठ ४०१-४०२)

प्रश्न २२- उपशमश्रेणी चढ़नेवाले जीव के लिये मरणसम्बन्धी नियम क्या हैं?

उत्तर- उपशमश्रेणी चढ़ते समय (आठवें गुणस्थान का प्रथम भाग छोड़कर) अथवा उतरते (गिरते) समय किसी भी गुणस्थान में जीव का मरण सम्भव है। मरण होने की दशा मे मरण के अन्तिम समय तक वही गुणस्थान रहता है जिसमे मरण होता है; परन्तु मरण के बाद विग्रहगति मे उपशमश्रेणी माँडनेवाला जीव चौथे गुणस्थान और देवगति मे ही जाता है।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, पृष्ठ ५८ की पादटिप्पणी)

-'बिदियुवसमसम्मत्तं, सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु।
सग-सग-लेस्सा-मरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे।। ७३०।।'

टीका- उपशमश्रेणी तैं संक्लेश परिणामनि के वशतैं नीचैं असंयतादि गुणस्थाननि विषैं उतरे। ते असंयतादिक अपनी अपनी लेश्या करि जो मरैं, तो अपर्याप्त असंयत देव होंइ नियमकरि; जातैं देवायु का जाकैं बन्ध भया होइ, तींहि बिना अन्य जीव का उपशमश्रेणी विषैं मरण नाही। अन्य आयु जाकैं बंध्या होइ ताकैं देशसंयम, सकलसयम भी न होइ। तातैं सो जीव अपर्याप्त असंयत देव ही है। तिनि विषैं द्वितियोपशम सम्यक्त्व संभवैं है; तातैं वैमानिक अपर्याप्त देव विषै उपशम सम्यक्त्व कह्या है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७३० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ८५५)

-'जदि मरदि सासणो सो, णिरयतिरक्खं णरं गच्छेदि।
णियमा देवं गच्छदि, जइवसहमुणिंदवयणेण।। ३४९।।'

टीका- उपशमश्रेणी तैं उतरया जो सासादन जीव जो आयु नाश तै मरै तौ नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य गति कौं प्राप्त न होइ, नियम तैं देवगति ही कौं प्राप्त होइ। ऐसै उपशमश्रेणी तैं उतरया जीव कैं सासादन गुणस्थान की प्राप्ति व ताके मरण होने का विशेष कह्या है, कषायप्राभृत नामा दूसरा महाधवल (जयधवल) शास्त्र विषैं यतिवृषभ नामा आचार्य प्रतिपादन किया है। ताके अनुसारि इहां कथन किया है।

(श्रीलब्धिसार, गाथा ३४९ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, तृतीय खण्ड, पृष्ठ २८९)

प्रश्न २३- जीव उपशमश्रेणी से क्यों गिरता है?

उत्तर- उपशमकाल के क्षय अथवा भवक्षय (आयु समाप्ति) के कारण ही जीव उपशमश्रेणी माँडकर ग्यारहवें गुणस्थान में आकर नियम से गिरता है, अन्य कोई कारण नहीं है।

-'उवसंते पडिवडिदे, भवक्खये देवपढमसमयम्हि।

उग्घाडिदाणि सव्ववि, करणाणि हवंति णियमेण।। ३०८।।'

टीका- उपशांत कषाय (उपशमश्रेणी) तैं पडना दो प्रकार है- भवक्षय हेतु, उपशमकालक्षय निमित्तक तहाँ मरण होतैं पर्याय का नाश के निमित्त तैं पडना होइ, सो भवक्षय हेतु कहिए। अर उपशमकाल के क्षय के निमित्त तैं पड़ना होइ सो उपशमकाल क्षय निमित्तक कहिए।

(श्रीलब्धिसार, गाथा ३०८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, तृतीय खण्ड, पृष्ठ २६७)

प्रश्न २४- कालक्षय से गिरने का क्या तात्पर्य है?

उत्तर- 'बहुरि या प्रकार सक्लेश विशुद्धता के निमित्त करि उपशांत कषाय (उपशमश्रेणी) तैं पडना चढना न हो है। जातै तहा परिणाम अवस्थिति विशुद्धता लिए वर्तै हैं। बहुरि तहां तैं जो पडना हो है सो तिस गुणस्थान का काल भए पीछैं नियम से उपशमकाल का क्षय होइ तिसके (उपशम काल के क्षय के) निमित्त तै हो है। विशुद्ध परिणामनि की हानि के निमित्त तैं तहां नाहीं पडै है वा अन्य कोई निमित्त तैं नाही है अैसा जानना।'

(श्रीलब्धिसार, गाथा ३१० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, तृतीय खण्ड, पृष्ठ २६९)

प्रश्न २५- औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावों को मोक्ष का कारण बताया गया है; अत: क्षायोपशमिक भाववाले जीव को भी श्रेणी माँडना चाहिए?

उत्तर- 'नहीं! क्योंकि (१) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चल, मल, और अगाढसहित श्रद्धान है; (२) चारित्र की अपेक्षा परमार्थ से देखा जाये, तो वह (श्रेणी मांडनेवाला जीव) दसवें गुणस्थान तक क्षायोपशमिकभाव से ही चल रहा है; परन्तु उसे औपशमिक और क्षायिकभाव तो भावी नैगमनय से कहा गया है।'

(श्रीधवलासार, प्रश्नोत्तर संख्या ४६, पृष्ठ ३०५)

जैसा कारण वैसा कार्य

जैसा कारण दे वैसा कार्य होता है। भव्य जीव को निष्कलङ्क परमात्मा का ध्यान करने से मोक्षपद की प्राप्ति होती है। शुद्धात्मा का ध्यान करे उसे शुद्धता प्राप्त हो।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या ८, पृष्ठ ४३)

कार्यकारी

प्रश्न १- जीव के अनादिकाल से ससार परिभ्रमणरूप दुःख के अभाव के लिये क्या कार्यकारी है और क्या कार्यकारी नही है?

उत्तर- ससार परिभ्रमण के अभाव के लिये एकमात्र निज ज्ञायक भगवान आत्मा का आश्रय ही कार्यकारी है, क्योंकि उसी (निज आत्मा) के आश्रय से ही धर्म का प्रारम्भ, वृद्धि, और पूर्णता होती है।

चारों अनुयोगों में सम्यग्दर्शनरहित व्रत, तप आदि उच्चतम शारीरिकक्रियाओं को एवं उच्चतम शुभभाव को अकार्यकारी बताया है, क्योंकि सम्यग्दर्शनरहित उच्च से उच्च शुभभाव संसार परिभ्रमण; अर्थात्, बन्ध का ही कारण है; मुक्ति का नहीं।

-'कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।
मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।। ५।।'

अन्वयार्थ- अज्ञानी जीव को सम्यग्ज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों तक तप करने से जितने कर्म नाश होते हैं, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के मन-वचन-काय की ओर की प्रवृत्ति को रोकने से क्षणमात्र में सरलता से नष्ट हो जाते हैं। यह जीव मुनियों के महाव्रतों को धारण करके अनन्तबार नववे ग्रैवेयक तक उत्पन्न हुआ, परन्तु अपने आत्मा के ज्ञान बिना किञ्चित्मात्र सुख प्राप्त न कर सका।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९९-१००)

-'इस शुभोपयोग को बन्ध का ही कारण जानना, मोक्ष का कारण नहीं जानना, क्योंकि बन्ध और मोक्ष के तो प्रतिपक्षीपना है; इसलिये एक ही भाव पुण्यबन्ध का भी कारण हो और मोक्ष का भी कारण हो ऐसा मानना भ्रम है।' तथा,

-'इस प्रकार शुद्धोपयोग ही को उपादेय मानकर उसका उपाय करना और शुभोपयोग -अशुभोपयोग को हेय जानकर उनके त्याग का उपाय करना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५५)

-'क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि।। १४२।।'

श्लोकार्थ- कोई जीव तो दुष्करतर और मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों के द्वारा स्वयमेव क्लेश पाते हैं, तो पाओ और अन्य कोई जीव महाव्रत और तप के भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें, तो करो। किन्तु जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय पद है, और स्वयं संवेद्यमान है- ऐसे इस ज्ञान को ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार से वे प्राप्त नहीं कर सकते।

(श्रीसमयसार, कलश १४२ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ३०९)

-'वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।। २७३।।'

गाथार्थ- जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित व्रत, समिति, गुप्ति, शील, और तप करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

(श्रीसमयसार, गाथा २७३ व गाथार्थ, पृष्ठ ३८८)

-'जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।। २७१।।'

अन्वयार्थ- जो भले ही समय में हों (द्रव्यलिङ्गी के रूप में जिनमत में हों); तथापि वे 'यह तत्त्व है' (वस्तुरूप ऐसा ही है)- इस प्रकार निश्चयवान वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं, वे अत्यन्तफलसमृद्ध ऐसे अबसे आगामीकाल में परिभ्रमण करेंगे।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २७१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५१२-५१३)

-'शुभकर्मप्रवृत्ति को जिन्होंने बराबर ग्रहण किया है, ऐसे वे सकल क्रियाकाण्ड के आडम्बर से पार उतरी हुई दर्शनज्ञानचारित्र की ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतना को किञ्चित् भी उत्पन्न नहीं करते हुए, बहुत पुण्य के भार से मन्थर (जड़; मन्द; सुस्त) हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हुए, देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति की परम्परा द्वारा अत्यन्त दीर्घकाल तक संसारसागर में भ्रमण करते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १७२ की टीका, पृष्ठ २५७)

-'शुद्धस्वरूप अनुभव से भ्रष्ट हैं जो जीव, वे समस्त भेद विकल्प से रहित ज्ञानमात्र वस्तु उसको शुद्धस्वरूप अनुभवशक्ति के बिना प्राप्त करने को हजार उपाय किये जायें, तो भी निश्चय से समर्थ नहीं होते हैं।' तथा,

-'हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह से रहितपना, महापरीषहों का सहना, उनका बहुत बोझ उसके द्वारा बहुतकाल पर्यन्त मरके चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं, तो करो तथापि ऐसा

करते हुए कर्मक्षय तो नहीं होता।'

(श्रीसमयसारकलश, कलश १४२ का अर्थ, पृष्ठ १२५-१२६)

– **'पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जणेहिं सासणे भणियं।**
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।। ८३।।'

अर्थ- जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार कहा है कि पूजा आदिक में और व्रतसहित होना है, वह तो पुण्य ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम, वह 'धर्म' है।

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा ८३ व अर्थ, पृष्ठ १७८)

– 'धर्म मोल नाहीं आवै जो धन खरचि दान सन्मानादिक तै ग्रहण करिये तथा किसी का दिया नाहीं आवै, जो सेवा उपासनातैं राजी कर लिया जाय। तथा मन्दिर, पर्वत, जल, अग्नि, देवमूर्ति, तीर्थादिकन में नाहीं धर्या है जो वहाँ जाय ल्याइये। तथा उपवासव्रत, कायक्लेशादि तपमें हू, शरीरादि कृश करने तैं हू नाहीं मिलै। तथा देवाधिदेव के मन्दिरनि में उपकरणदान मण्डलपूजनादि करि तथा गृह छोड़ वन स्मशान में बसनेकरि तथा परमेश्वर के नामजाप्यादिक करि नाहीं पाइये हैं। "धर्म तो आत्मा का स्वभाव है" जो पर में आत्मबुद्धि छोड़ अपना ज्ञाता दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान अनुभव तथा ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण सो धर्म है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, सूत्र २ का भावार्थ, पृष्ठ २)

– **'मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।**
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं।। १८०।।'

अर्थ- मूढ़ जीव, लोगों के द्वारा बनाये गये देवल में देव को खोजते हैं; परन्तु अपने ही देह-देवल में जो शिवसन्त (भगवान) विराजमान हैं, उसको वे नही देखते।

(मुनिवरश्री रामसिंह रचित पाहुडदोहा, दोहा १८० व अर्थ, पृष्ठ ४०-४१)

– **'समकित सहज स्वभाव, आपका अनुभव करना।**
या बिन जप तप वृथा, कष्ट के माहीं परना।। ९।।'

(श्री बुद्धजनजी कृत छहढाला, छठवीं ढाल, पद ९)

प्रश्न २- भगवान ने भव्य संसारीजीवों को क्या उपदेश दिया है?

उत्तर- भगवान अर्हन्तदेव और उसी परम्परा में गणधरादि आचार्यदेवों ने भव्य जीवों को पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग के उद्यम करने का उपदेश दिया है।

– 'पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं, सो यह आत्मा का कार्य है; इसलिये आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०९)

प्रश्न ३- पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करने का क्या लाभ है?

उत्तर- पुरुषार्थपूर्वक मोक्षमार्ग के उद्यम का फल सादिअनन्त मोक्षसुख की प्राप्ति है।

-'सो जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है, इससे मोक्ष होता ही होता है।' तथा-

-'जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है, उसको सर्व कारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है- ऐसा निश्चय करना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०९ व ३१०)

प्रश्न ४- कौन जीव पुरुषार्थ नही कर सकते?

उत्तर- 'एकेन्द्रियादिक तो धर्मकार्य करने में समर्थ ही नहीं हैं, कैसे पुरुषार्थ करे? और तीव्र कषायी पुरुषार्थ करे, तो पाप ही का करे; धर्मकार्य का पुरुषार्थ हो नहीं सकता।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१२)

-'जब कर्म का उदय तीव्र हो, तब पुरुषार्थ नहीं हो सकता। ऊपर के गुणस्थानों से भी गिर जाता है। वहाँ तो जैसी होनहार हो वैसा होता है।' तथा,

-'(जैसे) कोई पुरुष नदी के प्रवाह में पड़ा बह रहा है। वहाँ पानी का जोर हो, तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं; उपदेश भी कार्यकारी नहीं।..............उसी प्रकार जीव संसार में भ्रमण करता है। वहाँ कर्मों का तीव्र उदय हो, तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं है; उपदेश भी कार्यकारी नही।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१३)

प्रश्न ५- कौन जीव पुरुषार्थ कर सकता है?

उत्तर- 'जो विचारशक्तिसहित हों और जिनके रागादि मन्द हों। वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाये, तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१२)

-'और (जैसे) पानी का जोर थोड़ा हो तब यदि पुरुषार्थ करके निकले, तो निकल आयेगा। उसी को निकलने की शिक्षा देते हैं।...........और कर्म का मन्द उदय हो तब पुरुषार्थ करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे, तो मोक्ष प्राप्त करले। उसीको मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१३)

प्रश्न ६- इस काल में भव्यजीव को क्या करना चाहिए?

उत्तर- इस काल; अर्थात्, मनुष्यभव, जैनकुल, और ज्ञानी पुरुषों का संयोग मिलने पर भव्यजीव को अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेकर अपना कल्याण कर लेना चाहिए।

-'जो जीव विचारशक्तिसहित हों तथा जिनके रागादि मन्द हों, उन्हें उपदेश के निमित्त

से धर्म की प्राप्ति हो जाये, तो उनका भला हो; तथा इसी अवसर में पुरुषार्थ कार्यकारी है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१२)

-'जहाँ (कर्मों का) मन्द उदय हो और पुरुषार्थ हो सके, वहाँ प्रमादी नहीं होना; सावधान होकर अपना कार्य करना।' तथा,

-'इसलिये अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है; ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिये श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। उसमें भव्यजीवों को प्रवृत्ति करना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१३)

-'तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजै।
यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवौ जिनवानी;
इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यौं उदधि समानी।। ६।।'

अन्वयार्थ- इसलिये जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए परमार्थ तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए और संशय, विपर्यय, तथा अनध्यवसाय को छोड़कर अपने आत्मा को लक्ष (लक्ष्य) में लेना चाहिए। यदि ऐसा नही किया, तो यह मनुष्यभव, उत्तमकुल और जिनवाणी का सुनना- ऐसा सुयोग बीत जाने पर, सच्चे रत्न के अथाह समुद्र में डूब जानेपर मिलना दुर्लभ होने के समान, पुनः मिलना कठिन है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १००-१०१)

प्रश्न ७- इस काल में पुरुषार्थ न करने का क्या फल होगा?

उत्तर- 'यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाये; या तो मन्दरागादि सहित विषयकषायों के कार्यों मे ही प्रवर्ते, या व्यवहारधर्मकार्यों में प्रवर्ते- तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१२)

-'और (जैसे पानी का जोर थोड़ा होनेपर) न निकले, तो धीरे-धीरे बहेगा और फिर पानी का जोर होनेपर बहता चला जायेगा।..........और (मन्दकषायादि होनेपर) मोक्षमार्ग में प्रवर्तन न करें, तो किञ्चित् विशुद्धता पाकर फिर तीव्र उदय आनेपर निगोदादि पर्याय प्राप्त करेगा।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१३)

प्रश्न ८- जीव का कर्तव्य क्या है?

उत्तर- 'जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखेगा, उसके विशुद्धता बढ़ेगी; उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी; कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम

होगा। तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१२)

-'सो इस जीव का तो मुख्य कर्तव्य आगमज्ञान है। उसके (आगमज्ञान के) होने से तत्त्वों का श्रद्धान होता है, तत्त्वों का श्रद्धान होने से संयमभाव होता है, और उस आगम से आत्मज्ञान की भी प्राप्ति होती है। तब सहज ही मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पहला अधिकार, पृष्ठ २०)

-'अल्पायुषामल्पधियामिदानीं कुतः समस्तश्रुतपाठशक्तिः।
तदत्र मुक्तिं प्रति बीजमात्रमभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात्॥ १२७॥'

अर्थ- वर्तमानकाल में (पञ्चमकाल में) मनुष्यों की आयु अल्प और बुद्धि अतिशय मन्द हो गयी है; इसीलिये उनमें उपर्युक्त समस्त श्रुत के पाठ की शक्ति नहीं रही है। इस कारण उन्हें यहाँ उतने ही श्रुत का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिए जो मुक्ति के प्रति बीजभूत होकर आत्मा का हित करनेवाला है।

(आचार्य पद्मनन्दि विरचित पञ्चविंशतिः, धर्मोपदेशामृतम्, श्लोक १२७ व अर्थ, पृष्ठ ४९)

-'हे भव्यो! तुम ऐसा काम करो कि जिससे आत्मा अपनी ज्ञानभूमिका में आ जायें। देहान्त हो उससे पूर्व यह यत्न करलो। आग लगने पर कुआँ खोदने से क्या होगा? इसलिये मृत्यु से पूर्व आत्मा का यत्न कर लो। मनुष्यभव से ही शिवपद की प्राप्ति हो सकती है। देव, नारकी, पशुगति से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिये यह अमूल्य अवसर चूकने जैसा नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल संख्या ४९५, पृष्ठ १२०)

भेदविज्ञान की महिमा

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

श्लोकार्थ- जो कोई भी सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और जो कोई बँधे हैं, वे उसी (भेदविज्ञान के) ही अभाव से बँधे हैं।

(पूज्यश्री अमृतचन्द्राचार्यदेव, आत्मख्याति टीका, श्लोक १३१ व अर्थ)

पुद्गलद्रव्य

प्रश्न १- पुद्गलद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुण पाये जायें, उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। पुद्गल = पुद् + गल। पुद् = जुड़ना; गल = बिछुड़ना; अर्थात्, जिसका जुड़ना (मिलना) और बिछुड़ना (अलग होना) स्वभाव हो, सो पुद्गल।

-**'पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः।'**

अर्थ- जो पूरे अर्थात् एकत्रित हों और पृथक् हों, वे पुद्गल हैं।

(जैनसिद्धान्तदर्पण, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ २ की पादटिप्पणी)

-**'पुद्गल पंच वरन-रस, गंद-दो फरस वसू जाके हैं।'**

अर्थ- जिसके पाँच वर्ण और रस, दो गन्ध, और आठ स्पर्श होते हैं, वह पुद्गलद्रव्य है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द ७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६३)

-**'रूपिणः पुद्गलाः।। ५।।'** -**अर्थ**- पुद्गलद्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ५ व अर्थ, पृष्ठ ३२६)

-**'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।। २३।।'** -**अर्थ**- स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्णवाले पुद्गलद्रव्य हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५,सूत्र २३ व अर्थ, पृष्ठ ३४४)

-'जिसमे (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा स्कन्धपर्याय की अपेक्षा से) **पूरण और गलन**[१] हो, वह पुद्गल है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७६, पृष्ठ १२२ की पादटिप्पणी)

---

१. **पूरण और गलन**- पूरण = पुरना, पूर्ति; भरना; पुष्टि; वृद्धि। गलन = गलना, क्षीण होना; कृशता; हानि; न्यूनता।

(क) परमाणुओं के विशेषगुण, जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण हैं, उनमें होनेवाली षट्स्थानपतित वृद्धि वह **'पूरण'** है और षट्स्थानपतित हानि वह **'गलन'** है। इस प्रकार परमाणु (पुद्गल) पूरण-गलन धर्मवाले हैं।

(ख) परमाणुओं में स्कन्धरूप पर्याय का आविर्भाव सो **'पूरण'** है और तिरोभाव होना सो **'गलन'** है। इस प्रकार भी परमाणुओं में पूरण-गलन घटित होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७६, पृष्ठ १२२ की पादटिप्पणी)

-'पूरण और गलन का स्वभाव होने से पुद्गल कहलाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १५ की टीका, पृष्ठ ५९)

-**'अज्जीवेसु य रूवी, पुग्गलदव्वाणि धम्म इदरो वि।'**

टीका- अजीव द्रव्यनि विषैं पुद्गल द्रव्य तौ रूपी है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण संयुक्त मूर्तीक है।, तथा,

-**'वर्णगंधरसस्पर्शैः, पूरणं गलनं च यत्।**

कुर्वंति स्कंधवस्तस्मात्पुद्गलाः परमाणवः।।'

अर्थ- पूरण अर गलन कौं जो करैं, सो पुद्गल कहिए। युक्त होने का नाम पूरण है; अर बिछुड़ने का नाम गलन है, जातैं वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श गुणनि करि पूरण गलन कौं स्कन्धवत् करै है। जैसैं स्कन्ध विषैं कोऊ परमाणू मिलै हैं, कोऊ बिछुरैं हैं। तैसैं परमाणू विषैं कोऊ वर्णादिक का भेद उत्पन्न हो है, सो मिलै है। कोऊ नष्ट हो है, सो बिछुरै है। तातैं परमाणू हैं, ते पुद्गल कहे हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६४ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६०)

प्रश्न २- पुद्गलद्रव्य का दूसरा नाम क्या है?

उत्तर- पुद्गलद्रव्य का दूसरा नाम मूर्तिक (रूपी) है क्योंकि छः द्रव्यों में केवल पुद्गल ही मूर्तिक है; शेष पाँचों द्रव्य (जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल) अमूर्तिक (अरूपी) हैं।

-**'स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्ति संज्ञकाः।**

तद्योगान्मूर्तिमद् द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत्।। ९।।'

अर्थ- रूप, रस, गन्ध, वर्ण का नाम ही मूर्ति है और जिसमें मूर्ति पायी जाये, वही मूर्तद्रव्य कहलाता है और जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्ति नहीं पायी जाये, वो अमूर्तद्रव्य कहलाता है।'

भावार्थ- पुद्गल में रूप, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्ति पायी जाती है; इसलिये वह मूर्त कहलाता है। शेष द्रव्यों में उपयुक्त मूर्ति नहीं पायी जाती; इसलिये वे अमूर्त हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा ९, अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ ६)

प्रश्न ३- क्या प्रत्येक पुद्गलद्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण चारों गुणों का होना आवश्यक है?

उत्तर- द्रव्य और गुण के प्रदेश अभिन्न होनेसे जो परमाणु (पुद्गल) का प्रदेश है, वही स्पर्श का है, वही रस का है, वही गन्ध का है, वही रूप का है। किसी भी परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण में से एक भी कम हो, तो वो परमाणु ही नष्ट हो जायेगा क्योंकि परमाणु अपने गुणों से अभिन्न है।

(आधार-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७८ की टीका, पृष्ठ १२५)

प्रश्न ४- जल, अग्नि, वायु आदि बहुत से पुद्गल-स्कन्धों में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण चारों एकसाथ क्यो प्रतीत नहीं होते?

उत्तर- **पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायुरूप चारों धातुओं का कारण परमाणु ही होनेपर भी उनमें किसी में किसी गुण की व्यक्तता और किसी की अव्यक्तता पायी जाती है; जैसे, पृथ्वी में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चारों गुण व्यक्त हैं; पानी में स्पर्श, रस, वर्ण व्यक्त है तथा गन्ध अव्यक्त हैं; अग्नि में स्पर्श और वर्ण व्यक्त हैं तथा रस और गन्ध अव्यक्त हैं; वायु में केवल स्पर्श गुण व्यक्त है, शेष तीन (रस, गन्ध, और वर्ण) अव्यक्त हैं। इसी व्यक्ताव्यक्तता (व्यक्तता अथवा अव्यक्तता) के कारण ही बहुत से पुद्गल स्कन्धों में स्पर्श-रस-गन्ध, और वर्ण एकसाथ प्रतीत नहीं होते हैं।**

(आधार-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७८ की टीका एवं पादटिप्पणी, पृष्ठ १२५)

प्रश्न ५- क्या पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण- ऐसा भेद है?

उत्तर- मात्र कथन द्वारा ही परमाणु में (पुद्गल में) स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का भेद किया जाता है। परमार्थतः तो परमाणु से (पुद्गल से) स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभेद है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७८, पृष्ठ १२४ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ६- पुद्गल का सच्चा लक्षण क्या है और क्यो?

उत्तर- स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ही पुद्गल का सच्चा लक्षण है, क्योकि यह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असम्भवदोषों से रहित है।

प्रश्न ७- पुद्गल का लक्षण जड़ मानें तो क्या दोष आता है?

उत्तर- पुद्गल का लक्षण जड़ मानने से अतिव्याप्तिदोष आता है, क्योकि पुद्गल के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य भी जड़ हैं।

[इसी प्रकार पुद्गल का लक्षण एकप्रदेशी, क्रियावतीशक्ति, अथवा गति-स्थितिवाला मानने से भी अतिव्याप्तिदोष आता है।]

प्रश्न ८- पुद्गल का लक्षण स्कन्ध माने तो क्या दोष आता है।

उत्तर- पुद्गल का लक्षण स्कन्ध मानने से अव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि परमाणु भी पुद्गलद्रव्य है।

[इसी प्रकार पुद्गल का लक्षण स्पर्शगुण की केवल एक पर्याय; जैसे, हल्का अथवा भारी, रूखा अथवा चिकना, कड़ा अथवा नरम, ठण्डा अथवा गरम, अथवा दूसरे किसी गुण (रस, गन्ध, वर्ण) की किसी एक पर्याय को मान लेने से अव्याप्तिदोष आता है।]

प्रश्न ९- पुद्गल का लक्षण ज्ञान-दर्शन मानें तो क्या दोष आता है?

उत्तर- पुद्गल का लक्षण ज्ञान-दर्शन मानने से असम्भवदोष आता है, क्योंकि ज्ञान-दर्शन

पुद्गलद्रव्य में सर्वथा पाया ही नहीं जाता।

[इसी प्रकार पुद्गल का लक्षण चेतन, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व अथवा परिणमनहेतुत्व मानने से भी असम्भवदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण पुद्गलद्रव्य में सर्वथा पाये ही नहीं जाते।]

प्रश्न १०- पुद्गलद्रव्य का पूरा नाम क्या है?

उत्तर- पुद्गलद्रव्य का पूरा नाम पुद्गलास्तिकाय है। पुद् + गल + अस्ति + काय।

पुद् = जुड़ना; गल = बिछुड़ना; अस्ति = विद्यमानता, और काय = समूह (बहुप्रदेशी)।

प्रश्न ११- कितने द्रव्य अस्तिकाय हैं?

उत्तर- कालाणु को छोड़कर शेष सभी द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश) अस्तिकाय हैं।

-**'एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।**
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु।। २३।।'

गाथार्थ- जीव और अजीव के प्रभेद से द्रव्य छह प्रकार के हैं। कालद्रव्य के अलावा शेष पॉच द्रव्यो को अस्तिकाय जानना।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २३ व गाथार्थ, पृष्ठ ७८)

-'पॉचो अस्तिकायों के नाम जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश हैं। ये नाम उनके अर्थानुसार है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४ का भावार्थ, पृष्ठ १२)

प्रश्न १२- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश अस्तिकाय कैसे हैं?

उत्तर- अस्ति अर्थात् विद्यमानता और काय अर्थात् बहुप्रदेशी। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश (पाँचों द्रव्य) विद्यमान के साथ साथ बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय हैं।

-**'संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्या।**
काया इव बहुदेसा तह्या काया य अत्थिकाया य।। २४।।'

गाथार्थ- क्योंकि वे विद्यमान हैं; अत: जिनवरों ने उन्हें 'अस्ति' कहा है और वे काय की भाँति बहुप्रदेशी हैं; अत: इनको 'काय' कहा है। दोनों मिलकर अस्तिकाय होते हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २४ व गाथार्थ, पृष्ठ ७८-७९)

प्रश्न १३- 'काय' का सामान्य अर्थ तो शरीर है। तथापि यहाँ धर्मादि द्रव्यों को 'काय' क्यों कहा है?

उत्तर- यहाँ उन्हें (धर्मादि द्रव्यों को) उपचार से काय कहा है; जैसे, शरीर पुद्गलद्रव्य का समूहरूप है, उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों को भी प्रदेशों के समूहरूप 'काय' के समान व्यवहार है। यहाँ

काय का अर्थ बहुप्रदेशी समझना चाहिए।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ३२३)

प्रश्न १४- पुद्गलद्रव्य (परमाणु) एकप्रदेशी है। फिर उस पर 'काय' संज्ञा कैसे लागू होती है?

उत्तर- यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है, लेकिन उनमे (परमाणु में) दूसरे पुद्गलों के साथ मिलने की और बहुप्रदेशी होने की शक्ति है; इस अपेक्षा से उसे 'काय' कहा जाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ३२३)

-**'एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।**

बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु।। २६।।'

अर्थ- एकप्रदेशी (होनेपर) भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुप्रदेशी हो सकता है। इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से परमाणु को 'काय' कहते हैं।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २६ व गाथार्थ, पृष्ठ ८३)

-'व्यक्ति और शक्तिरूप से "अणु तथा महान" होने से (अर्थात्, परमाणु व्यक्तिरूप से एकप्रदेशी और शक्तिरूप से अनेकप्रदेशी होने के कारण) परमाणुओं को भी, उनके एकप्रदेशात्मकपना होनेपर भी (अणुमहानपना सिद्ध होने से) कायत्व सिद्ध होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १२)

प्रश्न १५- अणुमहान किसे कहते है?

उत्तर- जो प्रदेशों में बड़े हों; अर्थात्, अनेक प्रदेशी हों, उन्हें अणुमहान कहते हैं।

-'प्रदेशप्रचयात्मक (प्रदेशों के समूहमय) हो वह अणुमहान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १२)

प्रश्न १६- अणुमहान के कितने प्रकार हैं?

उत्तर- दो प्रकार हैं- (१) प्रदेश मे बड़े अर्थात् अनेकप्रदेशी, और (२) व्यक्ति अपेक्षा से एकप्रदेशी लेकिन शक्ति अपेक्षा से अनेकप्रदेशी।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४, पृष्ठ १० की पादटिप्पणी)

-' **"अणुमहान्त:"** की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से है– (१) **अणुभि: महान्त: अणुमहान्त:।** अर्थात्, जो बहुप्रदेशों द्वारा (दो से अधिक प्रदेशो द्वारा) बड़े हों, वे अणुमहान हैं; (२) **अणुभ्याम् महान्त: अणुमहान्त:** अर्थात्, जो दो प्रदेशो द्वारा बड़े हो वे अणुमहान हैं; और (३) **अणवश्च महान्तश्च अणुमहान्त:** अर्थात्, जो अणुरूप भी हों और महान (बहुप्रदेशी) भी हों वे अणुमहान हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

[**विशेष**- श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४, पृष्ठ १० की पादटिप्पणी में वर्णित 'अणुमहान' के पहले

प्रकार में इसी गाथा के भावार्थ में वर्णित पहले दो प्रकार समाहित हैं।]

प्रश्न १७- परमाणु अणुमहान किस प्रकार हैं?

उत्तर- व्यक्तपने एकप्रदेशी होनेपर भी बहुप्रदेशी होने की शक्ति के कारण परमाणु भी 'अणुमहान' हैं।

-**'अणवश्च महान्तश्च अणुमहान्त:'** -**अर्थ-** जो अणुरूप (एकप्रदेशी) भी हों और महान (अनेकप्रदेशी) भी हों, वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार परमाणु 'अणुमहान' है, क्योंकि व्यक्ति अपेक्षा से वे एकप्रदेशी हैं और शक्ति अपेक्षा से अनेकप्रदेशी भी (उपचार से) हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

प्रश्न १८- विश्व में क्या-क्या पुद्गल हैं?

उत्तर- जो स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण सहित; अर्थात्, मूर्त हो ऐसा प्रत्येक पदार्थ पुद्गल है। अथवा जीव के विरुद्ध है (जीव का नहीं है) वे सब पुद्गल हैं।

-'उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदियकाया मणो य कम्माणि
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पोग्गलं जाणे।। ८२।।'

अन्वयार्थ- इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य विषय, इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म, और अन्य जो कुछ मूर्त हो, वह सब पुद्गल जानो।

टीका- स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्दरूप (पाँच) इन्द्रियविषय; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप (पाँच) द्रव्येन्द्रियाँ; औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस्, और कार्माणरूप (पाँच) काया (शरीर); द्रव्यमन; द्रव्यकर्म (आठकर्म); नोकर्म (शरीरादि बाह्य संयोग); विचित्र पर्यायों की उत्पत्ति के हेतुभूत (अनेक प्रकार की पर्यायों के उत्पन्न होने के कारणभूत) अनन्त अनन्ताणुक वर्गणाएँ, अनन्त असंख्याताणुक वर्गणाएँ, द्वि-अणुक स्कन्ध तक की अनन्त संख्याताणुक वर्गणाएँ, तथा परमाणु[1] और अन्य जो कुछ भी मूर्त हो, वह सब पुद्गल के भेदरूप से समेटना (जानना)।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८२, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १३१-१३२)

-'जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।। ५०।।
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि।। ५१।।

---

१. लोक (विश्व) में अनन्त परमाणुओ की बनी हुई वर्गणाएँ अनन्त हैं; असख्यात परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाएँ भी अनन्त हैं; संख्यात (द्वि-अणुक स्कन्ध, त्रि-अणुक स्कन्ध आदि) परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाएँ भी अनन्त हैं; और अविभागी परमाणु भी अनन्त हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८२, पृष्ठ १३२ की पादटिप्पणी)

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि।। ५२।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई।। ५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।। ५४।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा।। ५५।।'

गाथार्थ- जीव के वर्ण नहीं, गन्ध भी नहीं, रस भी नहीं और स्पर्श भी नहीं, रूप भी नहीं, शरीर भी नहीं, संस्थान भी नहीं, सहनन भी नहीं; जीव के राग भी नहीं, द्वेष भी नहीं, मोह भी विद्यमान नहीं , प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं, कर्म भी नही, और नोकर्म भी उसके नहीं हैं; जीव के वर्ग नहीं, वर्गणा नहीं, कोई स्पर्धक नहीं, अध्यात्मस्थान भी नही, और अनुभागस्थान भी नही हैं; जीव के कोई योगस्थान भी नहीं अथवा बन्धस्थान भी नहीं और उदयस्थान भी नहीं, कोई मार्गणास्थान भी नहीं; जीव के स्थितिबन्धस्थान भी नहीं अथवा संक्लेशस्थान भी नहीं, विशुद्धिस्थान भी नही अथवा संयमलब्धिस्थान भी नहीं हैं; और जीव के जीवस्थान भी नहीं अथवा गुणस्थान भी नही हैं; **क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।**

(श्रीसमयसार, गाथा ५० से ५५ व गाथार्थ, पृष्ठ ९५-९७)

देहादिक परद्रव्य न मेरे!

अब हम आतम को पहचाना जी।। टेक।।
जैसा सिद्ध क्षेत्र में राजत, तैसा घट में जाना जी।। १।।
देहादिक पर द्रव्य न मेरे, मेरा चेतन बाना जी।। २।।
'द्यानत' जो जाने सो स्याना, नहिं जाने सो दिवाना जी।। ३।।

-श्री द्यानतरायजी

परमाणु और स्कन्ध

प्रश्न १- पुद्गल के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) परमाणु और (२) स्कन्ध।

-'**अणवः स्कन्धाश्च**।। २५।।' -**अर्थ**- पुद्गलद्रव्य **अणु**[1] और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २५ व अर्थ, पृष्ठ ३४९)

-'**खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।**
इदि ते चदुव्वियप्पा पोग्गलकाया मुणेदव्वा।। ७४।।'

अन्वयार्थ- पुद्गलकाय के **चार भेद**[2] जानना- स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, और परमाणु।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११९)

प्रश्न २- परमाणु किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसका दूसरा भाग न हो सके, ऐसे छोटे से छोटे पुद्गल को परमाणु कहते हैं। परमाणु पुद्गलद्रव्य की शुद्धअवस्था है।

-'जिसका विभाग न हो सके, ऐसे पुद्गल को अणु (परमाणु) कहते हैं। परमाणु मूलद्रव्य है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २५ की टीका, पृष्ठ २४९)

-'**सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।**
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो।। ७७।।'

---

१. अणु और परमाणु पर्यायवाची है।

२. **श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह में वर्णित चार भेदों** में स्कन्ध, स्कन्धदेश, और स्कन्धप्रदेश स्कन्ध की स्थूल एव सूक्ष्म पर्याय की अपेक्षा कथन है। वैसे वर्णित ये तीनो भेद (स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश) स्कन्ध मे ही समाहित हो जाते हैं।

-'अनन्तानन्त परमाणुओं से निर्मित होनेपर भी जो एक हो, वह स्कन्ध नाम की पर्याय है; उसकी आधी स्कन्धदेश नाम की पर्याय है, आधी की आधी स्कन्धप्रदेश नाम की पर्याय है। इस प्रकार भेद के कारण द्वि-अणुक से स्कन्ध पर्यन्त अनन्त स्कन्धप्रदेशरूप पर्याय होती हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७५ की टीका, पृष्ठ १२०)

(विस्तार के लिये- **श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७४-७५ की टीका एवं पादटिप्पणी, पृष्ठ ११९ से १२१ तक** देखें)

अन्वयार्थ- सर्वस्कन्धों का जो अन्तिम भाग, उसे परमाणु जानो। वह अविभागी, **एक**[1], शाश्वत, **मूर्तिप्रभव**[2], और **अशब्द**[3] है।

(श्रीपञ्चास्तिकासंग्रह, गाथा ७७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १२३)

–'जाका भाग न होइ (अविभागी), ताकौं परमाणू कहिये।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६०४ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६९१)

–'सबसे छोटे पुद्गल को परमाणु कहते है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १७, पृष्ठ ४)

प्रश्न ३- परमाणु के समान एकप्रदेशी कौनसा द्रव्य है?

उत्तर- कालद्रव्य (कालाणु) भी पुद्गल परमाणु के समान एकप्रदेशी द्रव्य है।

प्रश्न ४- प्रदेश किसे कहते है?

उत्तर- एक पुद्गल परमाणु आकाश का जितना स्थान रोके (घेरे), उतने स्थान को प्रदेश कहते हैं। प्रदेश द्वारा ही सर्व द्रव्यो के क्षेत्र का माप निश्चित् किया जाता है।

–'आकाश के जितने क्षेत्र में पुद्गल का सबसे छोटा टुकड़ा (परमाणु) आ जाये, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा २७ का भावार्थ, पृष्ठ ६८)

–'जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं।। २७।।'

गाथार्थ- जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है, उसे सर्व अणुओ को स्थान देने में योग्य प्रदेश जानो।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २७ व गाथार्थ, पृष्ठ ८५)

–'एक परमाणुप्रदेश जितने आकाश के भाग को (क्षेत्र को) "आकाशप्रदेश" कहा जाता है, वह आकाशप्रदेश क्षेत्र का **"एकक"**[4] है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८०, पृष्ठ १२९ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ५- आकाश का एकप्रदेश कितने पुद्गल परमाणुओं और स्कन्धों को स्थान देने मे

---

१. **एक-** एकप्रदेशी।

२. **मूर्तिप्रभव-** मूर्तरूप से उत्पन्न होनेवाला। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के परिणामरूप से जिसका उत्पाद है, ऐसा।
(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७७, पृष्ठ १२४ की पादटिप्पणी)

३. **अशब्द-** (परमाणु की) एकप्रदेशी होने के कारण शब्दपर्यायरूप परिणति नहीं वर्तती होने से (वो) अशब्द है।
(श्रीपञ्चास्तिकायसग्रह, गाथा ८१ की टीका, पृष्ठ १३१)

४. **एकक-** गिनती के लिये किसी वस्तु के जितने परिमाण को 'एक माप' माना जाये, उतने परिमाण को उस वस्तु का 'एकक' कहा जाता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसग्रह, गाथा ८०, पृष्ठ १२९ की पादटिप्पणी)

समर्थ है?

उत्तर- वह प्रदेश (आकाश का एकप्रदेश) सर्व अणुओं को-सर्व परमाणुओं को, और सूक्ष्म स्कन्धों को स्थान; अर्थात्, अवकाश देने में योग्य है। आकाशद्रव्य मे ऐसी अवगाहनशक्ति है; इसी कारण असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में भी अनन्तानन्त जीव और उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल अवकाश प्राप्त करते हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २७ की टीका, पृष्ठ ८५)

प्रश्न ६- एक परमाणु में एक समय में क्या-क्या विशेषताएँ होती हैं?

उत्तर- एक परमाणु में एक समय मे रसगुण की एक, वर्णगुण की एक, गन्धगुण की एक, तथा स्पर्शगुण की दो पर्याय होती हैं। परमाणु (अकेला) स्वयं शब्दरूप परिणमित नहीं होता, लेकिन प्रत्येक परमाणु में स्कन्धरूप होकर शब्दरूप परिणमित होने की शक्ति होती है और स्कन्ध में होनेपर भी प्रत्येक परमाणु अपने स्वभाव में रहनेवाला स्वतन्त्र तथा परिपूर्ण द्रव्य है।

-'एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि।। ८१।।'

अर्थ- वह परमाणु एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गन्धवाला, तथा दो स्पर्शवाला है; शब्द का कारण है; अशब्द है; और स्कन्ध के भीतर हो, तथापि (परिपूर्ण स्वतन्त्र) द्रव्य है- ऐसा जानो।

टीका- सर्वत्र (प्रत्येक) परमाणु में रस-वर्ण-गन्ध-स्पर्श सहभावीगुण होते हैं और वे गुण उसमें क्रमवर्ती निज पर्यायोसहित वर्तते हैं। वह इस प्रकार- पॉच रसपर्यायों में से एक समय कोई एक (रसपर्याय) सहित रस (गुण) वर्तता है; पाँच वर्णपर्यायों में से एक समय किसी एक (वर्णपर्याय) सहित वर्ण (गुण) वर्तता है; दो गन्धपर्यायों में से एक समय किसी एक (गन्धपर्याय) सहित गन्ध (गुण) वर्तता है; शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, ऊष्ण-स्निग्ध, और ऊष्ण-रूक्ष- इन चार स्पर्शपर्यायों के युगल में से एक समय किसी एक युगलसहित स्पर्श (गुण) वर्तता है। इस प्रकार जिसमें गुणो का वर्तन (अस्तित्व) कहा गया है, ऐसा यह परमाणु शब्द स्कन्धरूप से परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाववाला होने से शब्द का कारण है; एकप्रदेशी होने के कारण शब्दपर्यायरूप परिणति नहीं होने से अशब्द है; और **स्निग्ध-रूक्षत्व**[1] के कारण बन्ध होने से अनेक परमाणुओं की एकत्वपरिणतिरूप स्कन्ध के भीतर रहा हो; तथापि (निज) स्वभाव को नही छोड़ता हुआ, संख्या को प्राप्त होने से (परिपूर्ण एकरूप पृथक् गिनती में आनेसे)[2] अकेला ही द्रव्य है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८१, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १३०-१३१)

१. **स्निग्ध-रूक्षत्व** = चिकनायी और रूक्षता।

२. स्कन्धदशा में भी प्रत्येक परमाणु स्वयं परिपूर्ण है, स्वतन्त्र है, पर की सहायता से रहित और अपने से ही अपने गुणपर्याय मे

क्रमशः..........

प्रश्न ७- स्कन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर- दो या दो से अधिक परमाणुओं के **बन्ध**[1] को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध पुद्गलद्रव्य की अशुद्धअवस्था; अर्थात्, विभावअर्थपर्याय है।

-'दो-तीन से लेकर संख्यात, असंख्यात, और अनन्त परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २५ की टीका, पृष्ठ ३४९)

प्रश्न ८- स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर- स्कन्ध पुद्गलद्रव्य की विशेषता है। स्पर्शगुण के कारण से वे (पुद्गल परमाणु) स्कन्धरूप से परिणमते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २५ की टीका, पृष्ठ ३४९)

-'**भेदसंघातेभ्य: उत्पद्यन्ते।। २६।।**' -**अर्थ**- परमाणुओ के भेद; अर्थात्, अलग होने से, संघात; अर्थात्, मिलने अथवा भेद-सघात दोनो से पुद्गल स्कन्धो की उत्पत्ति होती है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २६ व अर्थ, पृष्ठ ३५०)

प्रश्न ९- परमाणु की उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर- 'अणु (परमाणु) की उत्पत्ति भेद (अलग होने) से होती है।'

-'**भेदादणु:।। २७।।**'

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २७ का अर्थ व सूत्र, पृष्ठ ३५०)

प्रश्न १०- स्कन्धपर्याय को पुद्गल क्यो कहा है?

उत्तर- स्कन्ध अनेक परमाणुमय एक पर्याय है; इसलिये वह (स्कन्ध) परमाणुओ से अनन्य है और परमाणु तो पुद्गल है; इसलिये स्कन्ध भी व्यवहार से पुद्गल है।

-'स्कन्ध तो अनेक पुद्गलमय एक पर्यायपने के कारण पुद्गलो से अनन्य होने से व्यवहार से पुद्गल है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७६ की टीका, पृष्ठ १२२)

प्रश्न ११- स्कन्ध के कितने भेद है?

उत्तर- छ: भेद हैं- (१) बादर-बादर, (२) बादर, (३) बादर-सूक्ष्म, (४) सूक्ष्म-बादर, (५) सूक्ष्म, और (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म।

स्थित है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसग्रह, गाथा ८१, पृष्ठ १३० की पादटिप्पणी)

१. **बन्ध**- अनेक वस्तुओ मे एकपने का ज्ञान करानेवाले सम्बन्धविशेष को बन्ध कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १९, पृष्ठ ४)

-'बादरबादर बादर, बादरसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं, धरादियं होदि छब्भेयं॥ ६०३॥'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६०३, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६९०)

-'बादरबादर-१, बादर-२, बादरसूक्ष्म-३, सूक्ष्मबादर-४, सूक्ष्म-५, सूक्ष्मसूक्ष्म-६, -ये छः भेद पुद्गल के हैं। उनमें से पत्थर, काठ, तृण आदि पृथ्वी बादरबादर हैं, टुकड़े होकर नही जुड़ते; जल, घी, तेल आदि बादर है जो टूटकर मिल जाते हैं; छाया, आताप, चाँदनी ये बादरसूक्ष्म हैं जो कि देखने मे तो बादर और ग्रहण करने में सूक्ष्म हैं; नेत्र को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषय रस, गन्धादि सूक्ष्मबादर हैं जो देखने मे तो नहीं आते लेकिन ग्रहण करने मे आते हैं; कर्मवर्गणा सूक्ष्म है जो अनन्त मिली हुई है परन्तु दृष्टि में नहीं आतीं; और सूक्ष्मसूक्ष्म परमाणु हैं जिसका दूसरा भाग नहीं होता।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १९ का भावार्थ, पृष्ठ १३४)

[**विशेष- श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८-३४९** में 'बादर' को 'स्थूल' शब्द से उल्लेखित किया गया है।]

१. बादर-बादर- काष्ठपाषाणादिक (स्कन्ध) जो कि छेदन होनेपर स्वयं नहीं जुड़ सकते, वे (घन पदार्थ) 'बादरबादर' है।

२. बादर- दूध, घी, तेल, जल, रस आदि (स्कन्ध) जो छेदन होनेपर स्वयं जुड़ जाते हैं, वे (प्रवाही पदार्थ) 'बादर' हैं।

३. बादरसूक्ष्म- छाया, धूप, अन्धकार, चाँदनी आदि (स्कन्ध) जो स्थूल ज्ञात होनेपर भी जिनका छेदन-भेदन अथवा ग्रहण (हस्तादि द्वारा) नही किया जा सकता, वे 'बादरसूक्ष्म' हैं।

४. सूक्ष्मबादर- स्पर्श, रस, गन्ध, और शब्द जो सूक्ष्म होनेपर भी स्थूल ज्ञात होते हैं, वे 'सूक्ष्मबादर' हैं; अर्थात्, चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर चार इन्द्रियो के विषयभूत स्कन्ध जो आँख से दिखायी न देने पर भी जिनका स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जा सकता है, जीभ (रसना इन्द्रिय) द्वारा जिनका स्वाद लिया जा सकता है, नाक (घ्राण इन्द्रिय) से सूँघा जा सकता है, और कान (कर्णइन्द्रिय) से जिन्हे सुना जा सकता है- 'सूक्ष्मबादर' हैं।

५. सूक्ष्म- कर्मवर्गणादि (स्कन्ध) जिन्हें सूक्ष्मपना है और जो इन्द्रियों से ज्ञात न हों, वे 'सूक्ष्म' हैं।

६. सूक्ष्मसूक्ष्म- कर्मवर्गणा से नीचे के (कर्मवर्गणातीत) द्विअणुक तक के स्कन्ध जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे 'सूक्ष्मसूक्ष्म' हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७६ की टीका, पृष्ठ १२२)

[**विशेष- (१) श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८ तथा श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६०२ व ६०३ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका, पृष्ठ ६९०** पर परमाणु को सूक्ष्मसूक्ष्म कहा है;

(२) **श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २२ के भावार्थ, पृष्ठ २८** पर अजीव तत्त्व के वर्णन में अति सूक्ष्मस्कन्ध और परमाणु दोनों को 'सूक्ष्मसूक्ष्म' कहा है।]

प्रश्न १२- परमाणुओं में बन्ध का कारण क्या है?

उत्तर- पुद्गल के स्पर्शगुण की स्निग्ध और रूक्ष नाम की पर्यायों के कारण परमाणुओं में बन्ध होता है।

-**'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः।। ३३।।'**

अर्थ- चिकने और रूखे के कारण दो, तीन इत्यादि परमाणुओं का बन्ध होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३३ व अर्थ, पृष्ठ ३६६)

-**'णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।**
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा।। १६५।।'

अन्वयार्थ- परमाणु-परिणाम स्निग्ध हो या रूक्ष हो, सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों, यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों तो बँधते हैं; जघन्यांशवाले नहीं बँधते।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १६५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३२८-३२९)

-'पुद्गल में अनेक गुण हैं, किन्तु उनमें से स्पर्शगुण के अतिरिक्त दूसरे गुणों की पर्यायों से बन्ध नहीं होता। स्पर्शगुण मे भी उसकी आठ पर्यायो में से मात्र स्निग्ध और रूक्ष नाम की पर्यायों के कारण से ही बन्ध होता है; दूसरी छः पर्यायों से बन्ध नहीं होता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ३६६)

प्रश्न १३- परमाणुओं में बन्ध कब होता है?

उत्तर- जब एक परमाणु मे दो अधिक **गुण**[१] हो, तब ही बन्ध होता है; जैसे, दो गुणवाले परमाणु का चार गुणवाले परमाणु के साथ, तीन गुणवाले परमाणु का पाँच गुणवाले परमाणु के साथ ही बन्ध होता है। उससे अधिक या कम गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३६ व अर्थ)

-**'द्व्यधिकादिगुणानां तु।। ३६।।'**

---

१. **गुण-** यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय मे आनेवाला गुण नहीं समझना, परन्तु गुण का अर्थ 'स्निग्ध-रूक्षत्व की शक्ति का नाप करने का साधन' समझना चाहिए।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, पृष्ठ ३६६ की पादटिप्पणी)

[श्रीप्रवचनसार में 'गुण' के स्थान पर कहीं कहीं 'अंश' शब्द का प्रयोग किया गया है।]

अर्थ- दो अधिक गुण हो, इस तरह के गुणवाले के साथ ही बन्ध होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३६ व अर्थ, पृष्ठ ३६९)

-'णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।। १६६।।'

अन्वयार्थ- स्निग्धरूप से दो अशवाला परमाणु चार अंशवाले स्निग्ध (अथवा रूक्ष) परमाणु के साथ बन्ध का अनुभव करता है। अथवा रूक्षरूप से तीन अशवाला परमाणु पाच अशवाले के साथ युक्त होता हुआ बँधता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १६६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३३०-३३१)

[**विशेष-** स्निग्ध पुद्गल स्निग्ध के साथ बँधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्ष के साथ **बँधते हैं**, तथा स्निग्ध और रूक्ष भी बँधते हैं। **-श्रीप्रवचनसार, गाथा १६६ की टीका, पृष्ठ ३३१**]

प्रश्न १४- परमाणुओं में बन्ध कब नहीं होता?

उत्तर- दो दशाओं में परमाणुओं में बन्ध नहीं होता- (१) जघन्य गुण, (अंश) वाले; **अर्थात्**, एक अशवाले परमाणुओं मे बन्ध नहीं होता, और (२) समान गुणों (अंशों) वाले परमाणुओं में बन्ध नहीं होता।

- '**न जघन्यगुणानाम्।। ३४।।**' तथा, '**गुणसाम्ये सदृशानाम्।। ३५।।**'

अर्थ- जघन्यगुणसहित परमाणुओ का बन्ध नहीं होता।। ३४।। गुणो की समानता हो, तब समान जातिवाले परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता; जैसे, दो गुण (अश) स्निग्धतावाले परमाणु का दूसरे दो गुण (अंश) स्निग्धता अथवा रूक्षतावाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।। ३५।।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३४ व ३५ व अर्थ, पृष्ठ ३६७-३६८)

-'**यदि समतः द्व्यधिकाः**'- यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों, तो **बँधते हैं** (अर्थात्, समान अंशवाले परमाणुओं में बन्ध नही होता।) तथा,

-'**आदिपरिहीणाः**'- जघन्यांशवाले नहीं बँधते।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १६५ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ३२९)

-'एक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु (सामान्य नियमानुसार) परिणामक तो है ही नहीं, किन्तु जघन्यभाव मे वर्तित होने से परिणम्य भी नहीं है। इस प्रकार जघन्यभाव बन्ध का कारण नहीं है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १६५, पृष्ठ ३२९ की पादटिप्पणी)

प्रश्न १५- दो परमाणुओं के बन्ध होनेपर नई व्यवस्था कैसी होती है?

उत्तर- अल्पगुणधारक (अंशवाला) परमाणु जब अधिक गुणवाले (अंशवाले) परमाणु के साथ

बँधता है, तो अल्पगुणधारक परमाणु अपनी पूर्वअवस्था को छोड़कर अधिक गुणधारक परमाणु की जाति का; अर्थात्, उतने ही गुणवाला (अंशवाला) स्कन्ध हो जाता है।

– '**बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।। ३७।।**' –**अर्थ**– बन्धरूप अवस्था में अधिक गुणवाले परमाणुओं जितने गुणरूप मे (कम गुणवाले परमाणुओ का) परिणमन होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३७ व अर्थ, पृष्ठ ३६९)

– 'दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षतावाले परमाणु के साथ बँधकर स्कन्ध बनने पर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षतारूप परिणमित हो जाता है; अथवा दश अश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बन्धकर स्कन्ध बनने पर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश स्निग्धतारूप परिणमित हो जाता है; इसलिये कम अंशवाला परमाणु परिणम्य है और दो अधिक अशवाला परमाणु परिणामक है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १६५, पृष्ठ २२९ की पादटिप्पणी)

चिदानन्द तत्त्व ही भावना करने योग्य है।

प्रात:काल जिसे राजसिंहासन पर देखा हो, वही सायंकाल स्मशान में राख होता दिखायी देता है। ऐसे प्रसङ्ग तो संसार में अनेक बनते हैं; तथापि मोहविमूढ़ जीवों को वैराग्य नहीं आता। भाई! संसार को अनित्य जानकर तू आत्मोन्मुख हो। एक बार अपने आत्मा की ओर देख। बाह्यभाव अनन्तकाल करने पर भी शान्ति नहीं मिली; इसलिये अब तो अन्तर्मुख हो। यह संसार या संसार के संयोग स्वप्न में भी इच्छनीय नहीं हैं। अन्तर का एक चिदानन्द तत्त्व ही भावना करने योग्य है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या २८४, पृष्ठ १६९)

एक आत्मा में ही जा।

पर के लिये तो एक बार मृतकवत् हो जाना चाहिए। पर में तेरा कोई अधिकार ही नहीं है। अरे भाई! तू राग को तथा रजकण को नहीं कर सकता ऐसा ज्ञातादृष्टा पदार्थ है। ऐसे ज्ञातादृष्टास्वभाव की दृष्टि कर। चारों ओर से उपयोग को समेटकर एक आत्मा में ही जा।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या ११२, पृष्ठ ७६)

वर्गणाएँ एवं शरीर

प्रश्न १- वर्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं।

-'वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। समान अविभाग-प्रतिच्छेदों का धारण करनेवाले कर्म परमाणुओं को वर्ग कहते हैं। भिन्न-भिन्न वर्ग-समूह की भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ होती है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा १०४१, पृष्ठ २७८ की पादटिप्पणी)

प्रश्न २- पुद्गलद्रव्य के (वर्गणा के आधार से) कितने भेद हैं?

उत्तर- तेईस भेद हैं, लेकिन मुख्य पाँच हैं- (१) आहारवर्गणा, (२) तैजसवर्गणा, (३) भाषावर्गणा, (४) मनोवर्गणा, और (५) कार्माणवर्गणा।

-'अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहि अंतरिया।
आहार-तेज-भासा-मण-कम्मइया धुवक्खंधा।। ५९४।।
सांतरणिरंतरेण य, सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा।
बादरणिगोदसुण्णा, सुहुमणिगोदा णभो महक्खंधा।। ५९५।।'

टीका- पुद्गलद्रव्य के भेदरूप जे वर्गणा, ते **तेईस**[1] भेद लीएं हैं- १. अणुवर्गणा, २. संख्याताणुवर्गणा, ३. असंख्याताणुवर्गणा, ४. अनन्ताणुवर्गणा, ५. आहारवर्गणा, ६. अग्राह्यवर्गणा, ७. तैजसशरीरवर्गणा, ८. अग्राह्यवर्गणा, ९. भाषावर्गणा, १०. अग्राह्यवर्गणा, ११. मनोवर्गणा, १२. अग्राह्यवर्गणा, १३. कार्माणवर्गणा, १४. ध्रुववर्गणा, १५. सान्तरनिरन्तरवर्गणा, १६. शून्यवर्गणा, १७. प्रत्येकशरीरवर्गणा, १८. ध्रुवशून्यवर्गणा, १९. बादरनिगोदवर्गणा, २०. शून्यवर्गणा, २१. सूक्ष्मनिगोदवर्गणा,

---

१. कुछ शास्त्रों में वर्गणा के कुल २२ भेदों का कथन है। इन ग्रन्थों में श्रीगोम्मटसार में वर्णित अणुवर्गणा को परमाणु होने के कारण वर्गणाओं में शामिल नही किया गया है। वहाँ वर्गणाओ को स्कन्ध के भेद के रूप मे निरूपित किया है।

-'तहाँ अणुवर्गणा तौ एक-एक परमाणुरूप है। इस विषैं जघन्य, उत्कृष्ट, मध्यम भेद भी नाहीं हैं। बहुरि अन्य बाईस वर्गणानि विषैं (जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम) भेद हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९४-५९५ की टीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७७-६७८)

[वर्गणाओं के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेदों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये **श्रीगोम्मटसार, गाथा ५९४ से ६०१, एवं टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७७ से ६९०** देखें।]

२२. नभोवर्गणा, २३. महास्कन्धवर्गणा- ए तेईस भेद जानने।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९४-५९५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७७)

प्रश्न ३- वर्गणाओं के २३ भेदों मे केवल पाँच वर्गणाओं (आहार, तैजस, भाषा, मनो, और कार्माण) को ही मुख्य क्यों कहा है?

उत्तर- आहार, तैजस, भाषा, मन:, और कार्माणवर्गणाएँ ही जीव के **ग्रहण करने योग्य**[1] हैं; अत: इनका विवेचन शास्त्रों में मुख्यरूप से हैं। इन पाँच वर्गणाओं को ग्राह्यवर्गणा भी कहा जाता है।

(आधार-श्रीगोम्मटसार, गाथा ५९६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६८३-६८४)

प्रश्न ४- आहारवर्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पुद्गल स्कन्ध औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक- इन तीनो शरीरोरूप परिणमन करता है, उसे आहारवर्गणा कहते हैं।

-'आहारवर्गणा तैं आहार, शरीर, इन्द्री, सासोस्वास ए च्यारि पर्याप्ति हो है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६८४)

-'औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीररूप तथा श्वासोच्छ्वासरूप जो परिणमे, उसे आहारवर्गणा कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २१, पृष्ठ ५)

प्रश्न ५- तैजसवर्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पुद्गल स्कन्ध (वर्गणा) तैजस शरीररूप परिणमित हो; अर्थात्, जिस वर्गणा से तैजसशरीर बनता है, उसे तैजसवर्गणा कहते हैं।

-'तैजस वर्गणा तैं तैजस शरीर हो है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६८४)

-'औदारिक और वैक्रियक शरीरों को कान्ति देनेवाला तैजसशरीर जिस वर्गणा से बने, उसे तैजसवर्गणा कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रदेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २५, पृष्ठ ५)

प्रश्न ६- भाषावर्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पुद्गल स्कन्ध (वर्गणा) शब्दरूप परिणमित हो, उसे भाषावर्गणा कहते हैं।

-'भाषा वर्गणा तैं वचन हो हैं।'

(श्री गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६८४)

-'जो शब्दरूप परिणमें उसे भाषावर्गणा कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २६, पृष्ठ ६)

---

१. यहाँ **ग्रहण करने योग्य** का अर्थ जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से बँधना है।

प्रश्न ७- मनोवर्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पुद्गल स्कन्ध (वर्गणा) आठ पँखुड़ियोंयुक्त कमल के आकारवाले द्रव्य मनरूप परिणमित हो, उसे मनोवर्गणा कहते हैं।

-'मनो वर्गणा तैं मन निपजै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६८४)

-'जो द्रव्यमनरूप परिणमे, उसे मनोवर्गणा कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २६, पृष्ठ ६)

प्रश्न ८- कार्माणवर्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पुद्गल स्कन्ध (वर्गणा) कार्माणशरीररूप परिणमित हो, उसे कार्माणवर्गणा कहते हैं।

-'कार्माण वर्गणा तैं ज्ञानावरणादिक कर्म हो हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६८४)

-'जो कार्माण शरीररूप परिणमें, उसे कार्माणवर्गणा कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २८, पृष्ठ ६)

प्रश्न ९- शरीर कितने है?

उत्तर- शरीर पाँच हैं- (१) औदारिक, (२) वैक्रियिक, (३) आहारक, (४) तैजस, और (५) कार्माण।

-**'औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि।। ३६।।'**

अर्थ- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण- ये पाँच शरीर हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ३६ व अर्थ, पृष्ठ २२५)

प्रश्न १०- औदारिकशरीर किसे कहते हैं?

उत्तर- मनुष्य और तिर्यञ्चों के स्थूल शरीर को औदारिकशरीर कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २२, पृष्ठ ५)

-'मनुष्य और तिर्यञ्चों का शरीर जो सड़ता है, गलता है, तथा झरता है- वह औदारिकशरीर है। सूक्ष्म निगोदिया (जीवों) का शरीर इन्द्रियो के द्वारा न तो दिखायी देता है, न मुड़ता है, और न काटने से कटता है; फिर भी वह स्थूल है क्योंकि दूसरे शरीर उससे क्रमशः सूक्ष्म हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३६ की टीका, पृष्ठ २२६)

प्रश्न ११- औदारिकशरीर के कुछ उदाहरण बताये?

उत्तर- स्त्री-पुरुष का शरीर, कुत्ता-बिल्ली का शरीर, भगवान की प्रतिमा, रोटी, पुस्तक, सोना-चाँदी, रुपया, कपड़ा, मेज आदि औदारिकशरीर के उदाहरण हैं।

[**विशेष- (१)** पत्थर की प्रतिमा, सोना-चाँदी आदि पृथ्वीकाय; रोटी, लकड़ी की मेज, रुपया (कागज का नोट), किताब आदि वनस्पतिकाय; कपड़ा, भेड़ आदि तिर्यञ्च का शरीर होने से औदारिकशरीर हैं।

(२) औदारिकशरीरवाले जीव को किसी ऋद्धि के कारण शरीर मे होनेवाली विक्रिया से उसे वैक्रियकशरीर नहीं मान लेना चाहिए। यह औदारिकशरीर का ही प्रकार है। **-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३६ की टीका, पृष्ठ २२६**]

प्रश्न १२- वैक्रियिकशरीर किसे कहते हैं?

उत्तर- जो छोटे-बड़े, एक-अनेक आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ करे, ऐसे देव और नारकियों के शरीर को वैक्रियिकशरीर कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २३, पृष्ठ ५)

-'जिसमें हलके-भारी तथा अनेक प्रकार के रूप बनाने की शक्ति हो, उसे वैक्रियिकशरीर कहते हैं। वह देव और नारकियों के ही होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३६ की टीका, पृष्ठ २२६)

प्रश्न १३- आहारकशरीर किसे कहते है?

उत्तर- आहारक ऋद्धिधारी छठे गुणस्थानवर्ती (प्रमत्तदशा) मुनिराज को तत्त्वो मे किसी प्रकार की शङ्का होनेपर अथवा जिनालय आदि की वन्दना का भाव आनेपर मस्तक से एक हाथ प्रमाण स्वच्छ, श्वेत, सप्तधातुरहित, पुरुषाकार पुतला निकलता है- उसे आहारकशरीर कहते है।

-'छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि के तत्त्वो मे कोई शङ्का होनेपर केवली वा श्रुतकेवली के निकट जाने के लिये मस्तक में से जो एक हाथ का पुतला निकलता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २२, पृष्ठ ५)

-'सूक्ष्म पदार्थों के निर्णय के लिये अथवा संयम की रक्षा इत्यादि के लिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के मस्तक से जो हाथ का पुतला निकलता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३६ की टीका, पृष्ठ २२६)

प्रश्न १४- तैजसशरीर किसे कहते हैं?

उत्तर- औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक- इन तीन शरीरों मे कान्ति (चमक) उत्पन्न होने में जो निमित्त है, उसे तैजसशरीर कहते हैं।

-'औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक- इन तीन शरीरो को कान्ति देनेवाले तैजसवर्गणा से बने हुए शरीर को तैजसशरीर कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३६ की टीका, पृष्ठ २२६)

प्रश्न १५- कार्माणशरीर किसे कहते हैं?

उत्तर- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्माणशरीर कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३६ की टीका, पृष्ठ २२६)

-'ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों के समूह को कार्माणशरीर कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २९, पृष्ठ ६)

प्रश्न १६- एक जीव को एकसाथ कितने शरीरों का संयोग हो सकता है?

उत्तर- जीव को (संसारअवस्था में) एकसाथ कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीरों का संयोग हो सकता है। विवरण इस प्रकार है- (१) मनुष्य (साधारण) और तिर्यञ्च को औदारिक, तैजस, और कार्माण-तीन; (२) देव और नारकियों को वैक्रियिक, तैजस, और कार्माण-तीन; (३) आहारक ऋद्धिधारी मुनिराज को औदारिक, तैजस, कार्माण, और आहारक-चार; और (४) **विग्रहगति**[1] में तैजस और कार्माण- दो शरीरों का संयोग होता है।

-'**तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः॥ ४३॥**'

अर्थ- इन तैजस और कार्माणशरीरों से प्रारम्भ करके एकसाथ एक जीव के चार शरीर तक विभक्त करना चाहिए।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ४३ एवं अर्थ, पृष्ठ २२९)

-'जीव के यदि दो शरीर हों, तो तैजस और कार्माण; तीन हों तो तैजस, कार्माण, और औदारिक अथवा तैजस, कार्माण और वैक्रियिक; चार हों तो तैजस, कार्माण, औदारिक, और आहारक अथवा तैजस, कार्माण, औदारिक, और वैक्रियिकशरीर (लब्धिवाले जीव के) होते हैं। इसमें लब्धिवाले जीव के औदारिक के साथ जो वैक्रियिकशरीर होना बतलाया है, वह शरीर औदारिक की जाति का है; देव के वैक्रियिकशरीर के रजकणों की जाति का नहीं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ४३ की टीका, पृष्ठ २२९)

प्रश्न १७- सबसे स्थूल और सबसे सूक्ष्म शरीर कौनसा है?

उत्तर- औदारिकशरीर सबसे स्थूल और कार्माणशरीर सबसे सूक्ष्म है।

-'**परं परं सूक्ष्मम्॥ ३७॥**'

अर्थ- पहले कहे हुए शरीरों की अपेक्षा आगे आगे के शरीर सूक्ष्म सूक्ष्म होते हैं; अर्थात्, औदारिक की अपेक्षा वैक्रियिक, वैक्रियिक की अपेक्षा आहारक, आहारक की अपेक्षा तैजस और

---

१. **विग्रहगति**- एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर की प्राप्ति के लिये गमन करना विग्रहगति है।

-'**विग्रहार्था गतिविग्रहगतिः**'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ ७२ की पादटिप्पणी)

तैजस की अपेक्षा कार्माणशरीर सूक्ष्म होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ३७ व अर्थ, पृष्ठ २२६)

प्रश्न १८- सबसे अधिक और सबसे कम प्रदेशवाला (परमाणुवाला) शरीर कौनसा है?

उत्तर- सबसे अधिक प्रदेश (परमाणु) कार्माणशरीर मे और सबसे कम औदारिकशरीर में हैं।

- **'प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात्॥ ३८॥'** तथा, **'अनन्तगुणे परे॥ ३९॥'**

अर्थ- प्रदेशों की अपेक्षा से तैजसशरीर से पहले के शरीर असंख्यातगुने हैं; अर्थात्, औदारिकशरीर से असख्यातगुणे प्रदेश वैक्रियकशरीर के और वैक्रियकशरीर से असंख्यातगुणे प्रदेश आहारकशरीर के हैं॥ ३८॥ शेष दो शरीर अनन्तगुणे परमाणु (प्रदेश) वाले हैं; अर्थात्, आहारकशरीर की अपेक्षा तैजसशरीर में और तैजसशरीर की अपेक्षा कार्माणशरीर मे अनन्तगुणे प्रदेश होते हैं। ३९॥

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २; सूत्र ३८-३९ व अर्थ, पृष्ठ २२६-२२७)

[**विशेष**- औदारिक की अपेक्षा शेष शरीरों मे प्रदेश सख्या उत्तरोत्तर अधिक होनेपर भी उनका (प्रदेशो का) मिलाप लोहपिण्ड के समान सघन होने के कारण, वे अल्परूप (सूक्ष्म) होते है। यहाँ प्रदेश कहने का अर्थ परमाणु समझना चाहिए। -**श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३८-३९ की टीका, पृष्ठ २२७**]

प्रश्न १९- तैजस और कार्माणशरीरों की क्या विशेषताएँ है?

उत्तर- तैजस और कार्माणशरीर- (१) **'अप्रतीघाते'-अर्थ**- अप्रतीघात (बाधारहित) हैं; अर्थात्, ये दोनों शरीर लोक के अन्त तक हर जगह जा सकते हैं और हर जगह से निकल सकते हैं, (२) **'अनादिसम्बन्धे च'-अर्थ**- आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध वाले हैं[1], और (३) **'सर्वस्य'-अर्थ**- सभी संसारी जीवों के होते हैं।[2]

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ४०, ४१, ४२ व अर्थ, पृष्ठ २२७-२२८)

प्रश्न २०- औदारिकशरीर का कर्ता कौन है और कौन नहीं है?

उत्तर- औदारिकशरीर का कर्ता एकमात्र आहारवर्गणा है। माता-पिता, जीव, भगवान, कर्म, और दूसरी वर्गणाएँ औदारिकशरीर का कर्ता नहीं हैं।

[इसी प्रकार अपना व स्त्री, पुत्र आदि का शरीर, सोना-चॉदी, धन, मकान, दुकान, वस्त्र आदि जो

---

१. यह कथन सामान्य तैजस और कार्माणशरीर की अपेक्षा से है। विशेष अपेक्षा से पहले शरीरो का सम्बन्ध छूटकर (प्रत्येक समय) नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है; अर्थात्, अयोगीगुणस्थान (सिद्धदशा) से पहले जीव तैजस और कार्माणशरीर के नये-नये रजकणो को ग्रहण करता है और पुरानों को छोड़ता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ४१ की टीका, पृष्ठ २२८)

२. वास्तव मे (परमार्थ से) किसी भी जीव के शरीर नहीं होता है। यदि जीव के शरीर माना जाये, तो जीव शरीररूप; **अर्थात्**, जड़ हो जायेगा जो सम्भव नहीं है। जीव और शरीर एक आकाशक्षेत्र मे (एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप से) रहते **हैं; इसलिये** मात्र कथनरूप से यहाँ 'जीव का शरीर' कहा गया है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ४२ की टीका, पृष्ठ २२८-२२९)

भी बाह्य सामग्री का संयोग दिखायी देता है, सभी औदारिकशरीर हैं और उनका कर्ता एकमात्र आहारवर्गणा ही है।]

प्रश्न २१- देव-नारकियों के वैक्रियिकशरीर का कर्ता कौन है और कौन नहीं है?

उत्तर- देव-नारकियों के वैक्रियिकशरीर का कर्ता एकमात्र आहारवर्गणा है। जीव, भगवान, कर्म, और दूसरी वर्गणाएँ वैक्रियिकशरीर का कर्ता नहीं हैं।

प्रश्न २२- आहारकशरीर का कर्ता कौन है और कौन नहीं है?

उत्तर- आहारकशरीर का कर्ता भी आहारवर्गणा ही है। छठे गुणस्थानवर्ती ऋद्धिधारी मुनिराज (आत्मा), भगवान, कर्म, और दूसरी वर्गणाएँ आहारकशरीर का कर्ता नहीं हैं।

प्रश्न २३- तैजसशरीर का कर्ता कौन है और कौन नहीं है?

उत्तर- तैजसशरीर का कर्ता एकमात्र तैजसवर्गणा ही है। जीव, भगवान, कर्म, और दूसरी वर्गणाएँ तैजसशरीर का कर्ता नहीं है।

प्रश्न २४- कार्माणशरीर (आठ कर्मों) का कर्ता कौन है और कौन नहीं है?

उत्तर- ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों (कार्माणशरीर) का कर्ता एकमात्र कार्माणवर्गणा ही है। जीव, भगवान, व दूसरी वर्गणाएँ आठ कर्मों का कर्ता नहीं हैं।

प्रश्न २५- द्रव्यमन का कर्ता कौन है और कौन नही है?

उत्तर- द्रव्यमन का कर्ता एकमात्र मनोवर्गणा ही है। जीव, भगवान, कर्म, और दूसरी वर्गणाएँ द्रव्यमन का कर्ता नही हैं।

प्रश्न २६- भाषा (शब्द) का कर्ता कौन है और कौन नहीं है?

उत्तर- भाषा का कर्ता एकमात्र भाषावर्गणा ही है। जीव, भगवान, मुँह, कर्म, और दूसरी वर्गणाएँ भाषा (शब्द) की कर्ता नहीं हैं। अरहन्त भगवान की दिव्यध्वनि के कर्ता भी अरहन्त भगवान नहीं हैं, बल्कि भाषावर्गणा ही है। अनुपचरित असदभूत व्यवहारनय से भगवान को दिव्यध्वनि का कर्ता कहा जाता है, परन्तु ऐसा है नहीं।

प्रश्न २७- क्या आत्मा (जीव) आठ कर्मों का भी कर्ता नहीं है?

उत्तर- नहीं। आत्मा वास्तव में तो आठ कर्मों का कर्ता नहीं है लेकिन आत्मा को व्यवहारनय से पुद्गल कर्मादि का कर्ता कहा जाता है।

-**'पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।**
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥ ८॥'

गाथार्थ- आत्मा व्यवहारनय से पुद्गलकर्मादि का कर्ता है, निश्चयनय से चेतनकर्मों का कर्ता

है, और शुद्धनय से शुद्धभावों का कर्ता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ व गाथार्थ, पृष्ठ २५)

प्रश्न २८- आत्मा कर्मों का अकर्ता है, ऐसे निर्णय से क्या लाभ है?

उत्तर- 'पुद्गलकर्म मुझ आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। वस्तुत: वे (कर्म) मुझे लाभ-हानि नहीं कर सकते'- ऐसा निर्णय करके अमूर्तिक निज त्रिकाली ध्रुवस्वभाव का आश्रय करना चाहिए। ऐसा करने से ही धर्म प्रगट होता है, वृद्धि को प्राप्त होता है, और पूर्ण होता है और पूर्ण होनेपर पुद्गल कर्मों और शरीर का आत्यंतिक वियोग होनेपर जीव सिद्धपद को प्राप्त करता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ७, पृष्ठ २५ की पादटिप्पणी)

प्रश्न २९- जीव के अनादिकाल से ससारपरिभ्रमण का कारण क्या है?

उत्तर- जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण वस्तु का सच्चास्वरूप तो जानता नहीं है। शरीर, स्त्री, पुत्र, सोना-चाँदी, धन-धान्य, मकान, दुकान आदि बाह्य सामग्री का कर्ता स्वयं को (जीव को), कर्म अथवा भगवान को मानकर पर कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की मिथ्यामान्यता से दु:खी हो रहा है और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है।

प्रश्न ३०- पाँच वर्गणाओं (आहार, तैजस, भाषा, मन, और कार्माण) तथा पाँच शरीरो (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक. तैजस, और कार्माण) को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- जीव अनादिकाल से प्राप्त शरीर, भाषा, मन, बाह्य संयोगो, और कर्म का कर्ता स्वय को मानकर चारों गतियों में भटक रहा है और अपरिमित दु:ख उठा रहा है। वर्गणाओं और शरीरों का स्वरूप जानने से पता चलता है कि इन सबका (शरीर, भाषा, मन, बाह्य सयोग, और कर्म) का कर्ता तो एकमात्र पुद्गल स्कन्ध है; जीव का इसमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है। ऐसा श्रद्धान-ज्ञान होते ही अनादिकाल से पर (बाह्य संयोग) में चली आ रही कर्ता-भोक्ता की मिथ्या मान्यता का अभाव होकर अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव पर दृष्टि आ जाती है और अनादि ससार का अभाव होकर क्रमश: सादिअनन्त मोक्षसुख की प्राप्ति हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि की नि:शङ्कता

सम्यग्दृष्टि को ऐसा नि:शङ्क गुण होता है कि चौदह ब्रह्माण्ड उलट जायें तथापि अनुभव में शङ्का नहीं होती।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या १०१, पृष्ठ ३९)

धर्मद्रव्य

प्रश्न १- धर्मद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जो स्वयं गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को गमन करने में **निमित्त**[1] हो, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं; जैसे, स्वय गमन करती हुई मछली को गमन करने में पानी। धर्मद्रव्य का पूरा नाम धर्मास्तिकाय है।

-'**गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।**
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सा णेई।। १७।।'

अन्वयार्थ- गति में परिणमित पुद्गल और जीवों को चलने में सहायक धर्मद्रव्य है; जैसे, मछलियो को चलने में पानी सहायक है। किन्तु वह धर्मद्रव्य नहीं चलते हुओं को कदापि नहीं चलाता; अर्थात्, गमन नहीं करते हुए जीव-पुद्गलों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५०)

-'**उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।**
तह जीवपोग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि।। ८५।।'

अन्वयार्थ- जिस प्रकार जगत में पानी मछलियों को गमन में अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों को गमन में अनुग्रह करता है (निमित्तभूत होता है)- ऐसा जानो।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १३५)

-'**गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार:।। १७।।**'

अर्थ- स्वयंमेव गमन तथा स्थिति को प्राप्त हुए जीव और पुद्गलों के गमन और ठहरने में जो सहायक है, सो क्रम से धर्म और अधर्मद्रव्य का उपकार है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र १७ व अर्थ, पृष्ठ ३३७)

---

१. **निमित्त**- अर्थात् अनुकूल; सहकारी; सहायक। जो स्वयं तो कार्यरूप न परिणमित हो, लेकिन कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिसपर आरोप आ सके, उसे निमित्त कारण कहते हैं।
[जिस प्रकार सिद्ध भगवान उदासीन होनेपर भी सिद्धगुणों के अनुरागरूप से परिणमित भव्यजीवों को सिद्धगति के सहकारी (निमित्त) कारणभूत हैं, उसी प्रकार धर्म (द्रव्य) भी उदासीन होनेपर भी अपने-अपने भावों से ही गतिरूप परिणमित जीव-पुद्गलों को गति का सहकारी कारण (निमित्तकारण) है।]
(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८४, पृष्ठ १३५ की पादटिप्पणी)

– **'स्वभावगतिक्रियारूप**[1] और **विभावगतिक्रियारूप**[2] परिणत जीव–पुद्गलों को स्वभावगति और विभावगति का निमित्त, सो धर्म है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ९ की टीका, पृष्ठ २३)

– 'धर्म जीव–पुद्गलों को गमन का निमित्त है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३० का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६३)

– 'जैसे मछली को गति करने मे निमित्तभूत जल है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलो को गति करने में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए। वह द्रव्य लोकव्यापी धर्मद्रव्य है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३–१३४ का भावार्थ, पृष्ठ २७७)

– 'तहाँ प्रदेश से प्रदेशान्तर विषैं प्राप्त होना, सो गति क्रिया है।...........बहुरि धर्मद्रव्य गति के मुख्य साधक है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

प्रश्न २– धर्मद्रव्य का सच्चा लक्षण क्या है?

उत्तर– 'गतिहेतुत्व' धर्मद्रव्य का सच्चा लक्षण है। यह अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, और असम्भव दोषों से मुक्त है।

– **'धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं'**– अर्थात्, धर्मद्रव्य का गुण 'गमनहेतुत्व' है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ २७४)

– 'तहाँ गतिहेतुत्व धर्मद्रव्य का लक्षण है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

– 'धर्मास्तिकायद्रव्य का गतिनिमित्तता विशेषगुण है। धर्मद्रव्य के अतिरिक्त किसी भी दूसरे द्रव्य में यह गुण नहीं है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १७ का भावार्थ, पृष्ठ ५०)

– **'स लोकगगनव्यापी धर्मः स्याद्गतिलक्षणः'** –**अर्थ**– धर्मद्रव्य लोकाकाश मे व्यापक है और गति में सहकारी होना उसका लक्षण वा स्वभाव हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३२ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ ९१)

[**विशेष**– **(१)** धर्मद्रव्य का लक्षण अमूर्तिक, नित्य, अवस्थित, अरूपी आदि मानें, तो अतिव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण धर्मद्रव्य के अतिरिक्त अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य में भी पाये

---

१. **स्वभावगतिक्रिया**– चौदहवे गुणस्थान के अन्त मे जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोकान्त में जाना जीव की स्वभावगतिक्रिया है। एक पृथक् पुद्गल (परमाणु) का गमन करना, पुद्गल की स्वभावगतिक्रिया है।

२. **विभावगतिक्रिया**– ससारावस्था में कर्म के निमित्त से गमन जीव की विभावगतिक्रिया है। पुद्गल स्कन्ध का गमन करना पुद्गल की विभावगतिक्रिया है।

(श्रीनियमसार, गाथा ९, पृष्ठ २३ की पादटिप्पणी)

जाते हैं।

(२) धर्मद्रव्य का लक्षण एकप्रदेशी, गमनागमनसहित, मूर्तिक, रूपी आदि मानें, तो असम्भवदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण धर्मद्रव्य में कदापि पाये ही नहीं जाते।

(३) उस लक्षण को अव्याप्तिदोषसहित कहा जाता है जो उस जाति के सभी द्रव्यों में न पाया जाये; अर्थात्, किसी द्रव्य में पाया जाये और किसी में न पाया जाये। अकेले (संख्या में एक) और त्रिकालशुद्ध द्रव्यों में अव्याप्तिदोष नहीं होता। धर्मद्रव्य संख्या में एक और त्रिकालशुद्ध द्रव्य हैं; अतः उसमे अव्याप्तिदोष सम्भव ही नहीं है।]

प्रश्न ३- धर्मद्रव्य का स्वरूप (विशेषताएँ) क्या हैं?

उत्तर- 'स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण का अत्यन्त अभाव होने से धर्म (द्रव्य) वास्तव में अमूर्त स्वभाववाला है और इसीलिये अशब्द है; समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर रहने से लोकव्यापक है; **अयुतसिद्ध**[1] प्रदेशवाला होने से अखण्ड है; स्वभाव से ही सर्वतः विस्तृत होने से विशाल है; निश्चयनय से **एकप्रदेशी**[2] होनेपर भी व्यवहारनय से **असंख्यातप्रदेशी है**।। ८३।। धर्म (धर्मास्तिकाय) अगुरुलघु गुणोंरूप से सदा परिणमित होने से उत्पादव्यय वाला **है**। तथापि स्वभाव से च्युत नहीं होता, इसलिये नित्य है; गतिक्रियापरिणत को (गतिक्रियारूप से परिणमित होने में जीव-पुद्गलों को) **उदासीन अविनाभावी सहायमात्र**[3] होने से (गतिक्रियापरिणत को) कारणभूत है; अपने अस्तित्वमात्र से निष्पन्न होने के कारण स्वयं अकार्य है।। ८४।।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८३ व ८४ की टीका, पृष्ठ १३३ से १३५)

-'धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं।। ८३।।
अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं।। ८४।।'

अन्वयार्थ- धर्मास्तिकाय (धर्मद्रव्य) अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अवर्ण, और अशब्द है; लोकव्यापक है; अखण्ड, विशाल और असंख्यात प्रदेशी है। वह (धर्मद्रव्य) अनन्त ऐसे जो

---

१. **युतसिद्ध**- जुड़े हुए; सयोगसिद्ध। धर्मास्तिकाय में भिन्न-भिन्न प्रदेशों का संयोग हुआ है, ऐसा नहीं है; इसलिये उसमे बीच में व्यवधान-अन्तर-अवकाश नही है; इसलिये धर्मास्तिकाय अखण्ड (अयुतसिद्ध) है।

२. **एकप्रदेशी**- का अर्थ यहाँ अविभाज्य एकक्षेत्रवाला है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८३, पृष्ठ १३३ की पादटिप्पणी)

३. **गतिक्रियापरिणत को उदासीन अविनाभावी सहायमात्र**- अर्थात्, यदि जीव-पुद्गल गतिक्रियापरिणत न हो, तो वहाँ धर्मद्रव्य उन्हे सहायमात्ररूप भी नही है; जीव-पुद्गल स्वय गतिक्रियारूप से परिणमित होते हो तभी धर्मद्रव्य उन्हें उदासीन सहायमात्ररूप (निमित्तमात्ररूप) है, अन्यथा नहीं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८५, पृष्ठ १३५ की पादटिप्पणी)

अगुरुलघु[1] (गुण; अंश) रूप सदैव परिणमित होता है; नित्य है; गतिक्रियायुक्त को कारणभूत है और स्वयं अकार्य है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८३, ८४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १३३-१३४)

-'तिन विषै धर्मद्रव्य (और अधर्मद्रव्य) तिल विषै तेल की ज्यों (भाँति) सर्व लोक विषैं व्याप्त हैं[2]; तातैं व्यापी कहिए। बहुरि निजस्थान तैं स्थानान्तर विषैं चले नाहीं है; तातैं अवस्थित हैं। बहुरि एक स्थान विषैं भी प्रदेशनि का चञ्चलपना, तिनके नाहीं है; तातैं अचलित हैं। बहुरि त्रिकाल विषैं विनाश नाहीं है; तातैं नित्य हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७१)

-'वह धर्म अमूर्त, आठ स्पर्शरहित, तथा पॉच वर्ण, पाँच रस और दो गन्धरहित, अगुरुलघुत्वादि गुणों के आधारभूत, लोकमात्र (लोकप्रमाण) आकारवाला, अखण्ड एक पदार्थ है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६४)

प्रश्न ४- क्या जीव और पुद्गल धर्मद्रव्य के कारण गमन करते हैं?

उत्तर- नहीं! यदि जीव और पुद्गल स्वयं गमन करें, तो धर्मद्रव्य उनके गमन में निमित्त (सहकारी) कारण है, लेकिन धर्मद्रव्य उन्हें स्वयं प्रेरित करके गमन नही कराता।

-'जिस प्रकार पानी स्वयं गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ स्वयमेव गमन करती हुई मछलियों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है; उसी प्रकार धर्म (द्रव्य) भी स्वयं गमन न करता हुआ और पर को गमन न कराता हुआ स्वयमेव गमन करते हुए जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से **गमन में अनुग्रह**[3] करता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८५ की टीका, पृष्ठ १३६)

-'जैसे ते पंथादिक (रास्ता; सड़क) आप गमनादि नाहीं करैं है; जीवनि कौ प्रेरक होई

---

१. **अगुरुलघुत्व-** सामान्यगुण है। जिस शक्ति के कारण (निमित्त से) द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहे, अर्थात्, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप न परिणमे, एक गुण दूसरे गुणरूप न परिणमे और द्रव्य मे रहनेवाले अनन्तगुण बिखरकर अलग-अलग न हो जायें, उसे अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न सख्या ११, पृष्ठ ३)

[सर्वद्रव्यों की भाँति धर्मद्रव्य मे अगुरुलघुत्व नाम का स्वभाव (गुण) है। वह स्वभाव धर्मास्तिकाय को स्वरूप प्रतिष्ठत्व के (स्वरूप मे रहने के) कारणभूत है। उसके अविभाग प्रतिच्छेदो को यहॉ अगुरुलघुत्व गुण (अश) कहे हैं। -**श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८४, पृष्ठ १३४ की पादटिप्पणी**]

२. इहां (यहॉ) तिलनि विषैं तेल की ज्यों (भॉति) लोकाकाश के सर्व प्रदेशनि विषैं धर्म, अधर्मद्रव्य अपने प्रदेशनि करि व्याप्त हैं।

(श्रीगोम्मटसार, गाथा ५८३ के प्रासंगिक श्लोक का भावार्थ, पृष्ठ ६७१)

३. **गमन में अनुग्रह करना-** गमन मे अविनाभावी सहायरूप (निमित्तरूप) कारणमात्र होना।

(श्रीपञ्चास्तिकायसग्रह, गाथा ८६, पृष्ठ १३६ की पादटिप्पणी)

गमनादि नाई करावैं है। स्वयमेव जे गमनादि करैं, तिनको कारणभूत हो हैं। सो कारण इतना ही, जो जहाँ पंथादिक होंइ, तहाँ ही वे गमनादिरूप प्रवर्तैं। तैंसैं धर्मादिक द्रव्य आप गमनादि नाहीं करैं है; पुद्गलनि कौं (जीव-पुद्गल को) प्रेरक होई गमनादिक क्रिया नाहीं करावै हैं; स्वयमेव ही गमनादिक क्रियारूप प्रवर्तते जे जीव पुद्गल, तिनकौं सहकारी कारण हो हैं। सो कारण इतना ही जो धर्मादिक द्रव्य जहाँ होई, तहा ही गमनादि क्रियारूप जीव पुद्गल प्रवर्तैं हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६७ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६३)

–**'अगच्छतां नैव स: नयति' अर्थ**– धर्मद्रव्य नहीं चलते हुओं को कदापि नहीं चलाता।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १७ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ५०)

–**'स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा।**
धर्मोऽयं सहकारी स्याज्जलं यादोऽङ्गिनामिव।। ३३।।'

अर्थ– यह धर्मद्रव्य जीव-पुद्गल का प्रेरक सहकारी नहीं है, किन्तु जीव पुद्गल स्वयं गमन करने में प्रवर्ते, तो यह सर्वकाल सहकारी (सहायक) हैं; जैसे, जल में रहनेवाले मत्स्यादि को जल सहकारी है। जल प्रेरणा करके मत्स्यादिक जलचरों को नहीं चलाता, किन्तु वे चलते हैं तो उनका सहायक होता हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३३ व अर्थ, पृष्ठ ९१)

प्रश्न ५– क्या धर्मद्रव्य स्वय गमन करता है?

उत्तर– नहीं! धर्मद्रव्य त्रिकाल स्थिर है।

–'यह धर्मास्तिकाय, बाबड़ी के पानी की भाँति, स्वयं गतिक्रियारहित है।'

(श्रीनियमसार,गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६३)

–'धर्मादिक द्रव्य आप गमनादि नाहीं करे है।' तथा,

–'बहुरि (धर्मद्रव्य) निजस्थान तैं स्थानान्तर विषैं चले नाहीं है; तातैं अवस्थित है। बहुरि एक स्थान विषैं भी प्रदेशनि का चञ्चलपना, तिनके नाहीं है; तातैं अचलित है।'

(श्रीगोम्मटसार, गाथा ५६७ व ५८३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६३ व ६७१)

–**'निष्क्रियाणि च।। ७।।' –अर्थ**– ये (धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और आकाशद्रव्य) क्रियारहित हैं; अर्थात्, एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं होते।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ७ व अर्थ, पृष्ठ ३२८)

–**'धर्मास्तिक: न गच्छति' –अर्थ**– धर्मास्तिकाय गमन नहीं करता।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८ का अन्वयार्थ, पृष्ठ १३९)

प्रश्न ६– जीव-पुद्गल के अतिरिक्त धर्मादिक (धर्म, अधर्म, आकाश, और काल) द्रव्यों के गमन न करने का कारण क्या है?

उत्तर- **क्रियावतीशक्ति**[1] न होने के कारण जीव-पुद्गल को छोड़कर शेष द्रव्य गमन नहीं कर सकते। गमन केवल वे द्रव्य करते हैं जिनमें क्रियावतीशक्ति नामक गुण होता है। छहों द्रव्यों में केवल जीव और पुद्गल में क्रियावतीशक्ति है; शेष धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य अनादिअनन्त स्थिर हैं।

प्रश्न ७- धर्मद्रव्य के अलावा दूसरे द्रव्य (जीव, पुद्गल, अधर्म, आकाश, और काल) जीव-पुद्गलों के गमन में निमित्तकारण क्यो नहीं हैं?

उत्तर- समस्त जीव-पुद्गलों के गमन में (लोक तक) एकमात्र धर्मद्रव्य ही निमित्तकारण है, क्योंकि- (१) काल और पुद्गलद्रव्य अप्रदेशी (एकप्रदेशी) हैं; अतः उनके लिये एक ही समय मे समस्त जीव-पुद्गलो के गमन के निमित्तपना सम्भव नहीं है; (२) जीवद्रव्य समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवे भागमात्र हैं; अतः उसके (जीवद्रव्य के) लिये भी यह सम्भव नहीं है; (३) लोक-अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश को वह सम्भव नहीं है; अर्थात्, यदि आकाश गति में निमित्त हो, तो जीव-पुद्गलों की गति अलोक में भी होने लगे जिससे लोकालोक की मर्यादा ही नहीं रहेगी; और (४) विरुद्ध कार्य का हेतु होने से अधर्म को वह सम्भव नहीं है; अर्थात्, अधर्मद्रव्य तो गति से विरुद्ध स्थितिकार्य में निमित्तभूत है; इसलिये वह भी गति में निमित्त नहीं हो सकता।

(आधार-श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७६)

प्रश्न ८- धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन में **हेतुकर्ता**[2] तो है?

उत्तर- नही! धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन में हेतुकर्ता भी नही है; मात्र उदासीन निमित्तकारण है।

-'जिस प्रकार गतिपरिणत पवन (वायु) ध्वजाओ के गतिपरिणाम का हेतुकर्ता दिखायी देता है, उसी प्रकार धर्म (जीव-पुद्गलो के परिणाम का हेतुकर्ता) नहीं है। वह (धर्मद्रव्य) वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी (स्वयं) गतिपरिणाम को ही प्राप्त नहीं होता, तो फिर उसे **सहकारी**[3] के रूप

---

१. **क्रियावतीशक्ति-** जीव और पुद्गल द्रव्य में क्रियावतीशक्ति नाम का विशेषगुण है। उसके कारण जीव और पुद्गल को अपनी-अपनी योग्यतानुसार कभी गमन (क्षेत्रान्तर; गतिरूप) पर्याय होती है और कभी स्थिरतारूप।

[कोई द्रव्य (जीव या पुद्गल) एक दूसरे को गमन या स्थिरतारूप नहीं कर सकते। दोनो द्रव्य अपनी क्रियावतीशक्ति की उस समय की योग्यतानुसार स्वतः गमन करते हैं या स्थिर रहते हैं।]

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १६८, पृष्ठ ५१)

२. **हेतुकर्ता-** ध्वजा के साथ पवन (वायु) भी गति करता है; इसलिये पवन को यहाँ ध्वजा का सहकारी के रूप में हेतुकर्ता कहा है।

३. **सहकारी-** साथ मे काम करनेवाला; अर्थात्, साथ में गति करनेवाला।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

में पर के (दूसरे द्रव्यों के) गतिपरिणाम का हेतुकर्तृत्व कहाँ से होगा? अर्थात् नहीं हो सकता।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८ की टीका, पृष्ठ १३९-१४०)

प्रश्न ९- क्या हेतुकर्ता कार्य का सच्चा कर्ता नहीं है?

उत्तर- नहीं। हेतुकर्ता भी कार्य (गमन) का सच्चा कर्ता नही है। यहाँ (पिछले प्रश्न के उत्तर मे दिये गये उदाहरण में) पवन को (ध्वजा की गति का) हेतुकर्ता कहा। उसका यह अर्थ कभी नहीं समझना कि पवन ध्वजाओं को गतिपरिणाम कराता होगा। उदासीन निमित्त हो या हेतुकर्ता हो- दोनों पर में अकिञ्चित्कर है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

प्रश्न १०- जीव और पुद्गलों के गमन का सच्चा कर्ता कौन है?

उत्तर- 'वास्तव मे समस्त गतिमान (गतिस्थितिमान) पदार्थ अपने परिणामों से ही निश्चय से गति (गतिस्थिति) करते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

प्रश्न ११- धर्मद्रव्य, जीव और पुद्गलों के गमन में कैसा निमित्त है?

उत्तर- 'धर्म, जीव-पुद्गलो को (गतिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण के रूप में गति का उदासीन ही प्रसारक अर्थात् गतिप्रसार का उदासीन ही निमित्त है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८ की टीका, पृष्ठ १४०)

प्रश्न १२- क्या जीव और पुद्गल लोकाकाश के बाहर भी जा सकते हैं?

उत्तर- नहीं! जीव और पुद्गल लोक (लोकाकाश) के बाहर नहीं जा सकते, क्योंकि जीव और पुद्गलो की गति मे निमित्त धर्मद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी एक द्रव्य है।

-'धर्मद्रव्य सर्वत्र लोक में है; अत: उनके निमित्त से जिनकी गति होती है, ऐसे जीव और पुद्गलों की गति लोक से बाहर नहीं होती और न लोक के एक देश में होती है; अर्थात्, लोक में सर्वत्र होती है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३६ की टीका, पृष्ठ २८०)

प्रश्न १३- धर्मद्रव्य का आकार क्या है?

उत्तर- धर्मद्रव्य लोकव्यापी असंख्यातप्रदेशी द्रव्य है।

-**'धर्माधर्मयो: कृत्स्ने॥ १३॥'** **-अर्थ-** धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह तिल में तेल की तरह समस्त लोकाकाश में है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र १३ व अर्थ, पृष्ठ ३३५)

-**'व्यापिनौ धर्माधर्मौ'-अर्थ-** धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तिल विषैं तेल की ज्यों सर्वलोक

विषैं व्याप्त हैं; तातैं व्यापी कहिए।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७१)

-**'लोकावगाढ:'-अर्थ-** समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर रहने से (धर्मद्रव्य) है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८३ की टीका, पृष्ठ १३३)

-'धर्म और अधर्म दोनों एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं और दोनों ही समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५७, पृष्ठ ११)

प्रश्न १४- धर्मद्रव्य कितने हैं?

उत्तर- धर्मद्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है।

-**'आ आकाशादेकद्रव्याणि।। ६।।' -अर्थ-** आकाश पर्यन्त; अर्थात्, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ६ एवम् अर्थ, पृष्ठ ३२७)

卐

काहे का अभिमान!

को एत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स।
उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते।।

अर्थ- बहुत बार नीचकुल नीचजाति पाया, तथा अनेकबार कुरूप हुवा, तथा रंक हुवा, दीन हुवा, बलरहित हुवा, अनन्तबार नीचपनेकूं प्राप्त भया जो मैं, ताके इस मनुष्यजन्म में कहा मान है? अनन्तकालपर्यन्त अनन्तजन्मनिमें बहुत अपमान भया, अब मान करना बड़ी लज्जा है; यो विनाशीक उच्चपणो होता हू नीचपणा नजीक ही जानहु। तातैं अभिमान छांडि मार्दव धारना योग्य है।

(श्रीभगवती-आराधना, गाथा १४३६ व अर्थ, पृष्ठ ५०३)

अधर्मद्रव्य

प्रश्न १- अधर्मद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जो स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमित जीव और पुद्गलों को स्थिर रहने में निमित्त हो, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं; जैसे, पथिक (यात्री) को स्थिर रहने (ठहरने) में वृक्ष की छाया। अधर्म-द्रव्य का पूरा नाम अधर्मास्तिकाय है।

-'ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई॥ १८॥'

अर्थ- स्थिर हुए पुद्गल और जीवद्रव्यों को स्थिर होने में सहकारी अधर्मद्रव्य है; जैसे, पथिकों को छाया। किन्तु वह अधर्मद्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गलों को कदापि रोक नहीं रखता है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५२)

-'जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव॥ ८६॥'

अर्थ- जिस प्रकार धर्मद्रव्य है, उसी प्रकार अधर्म नामका द्रव्य भी जानो। परन्तु वह (गतिक्रियायुक्त को कारणभूत होने के बदले) स्थितिक्रियायुक्त को पृथ्वी की भाँति कारणभूत है; अर्थात्, स्थितक्रियापरिणत जीव-पुद्गलों को निमित्तभूत है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १३६)

-'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार:॥ १७॥' **-अर्थ**- स्वयमेव गमन तथा स्थिति को प्राप्त हुए जीव और पुद्गलों के गमन तथा ठहरने में जो सहायक है, सो क्रम से धर्म और अधर्मद्रव्य का उपकार है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र १७ व अर्थ, पृष्ठ ३३७)

-**'स्वभावस्थितिक्रियारूप**[१]' और **विभावस्थितिक्रियारूप**[२]' परिणत जीव-पुद्गलों को

---

१. **स्वभावस्थितिक्रिया**- सिद्धदशा में जीव स्थिर रहता है; वह जीव की स्वभावस्थितिक्रिया है और एक पृथक् पुद्गल (परमाणु) स्थिर रहता है; वह पुद्गल की स्वभावस्थितिक्रिया है।

२. **विभावस्थितिक्रिया**- जीव का संसारदशा में स्थिर होना जीव की विभावस्थितिक्रिया है और स्कन्ध का स्थिर होना पुद्गल की

क्रमश:............

स्थिति का (स्वभावस्थिति और विभावस्थिति का) निमित्त सो अधर्म है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ९ की टीका, पृष्ठ २३)

–'**अधर्मः स्थितेः'–अर्थ**– अधर्म उन्हें (जीव-पुद्गलों को) स्थिति का निमित्त है।

(श्रीनियमसार, गाथा ३० का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६३)

–'जैसे मनुष्य को स्थिति में निमित्तभूत पृथ्वी है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलों की स्थिति में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए। वह द्रव्य लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ का भावार्थ, पृष्ठ २७७)

–'गमन करि कहीं तिष्ठना, सो स्थितिक्रिया है।............बहुरि अधर्मद्रव्य स्थितिक्रिया के मुख्य साधक है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

प्रश्न २– अधर्मद्रव्य का सच्चा लक्षण क्या है?

उत्तर– 'स्थितिहेतुत्व' अधर्मद्रव्य का सच्चा लक्षण है। यह लक्षण (स्थितिहेतुत्व) अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोषों से मुक्त है।

–'**धर्मेतरद्रव्यस्य गुणः स्थानकारणता**'– अर्थात्, अधर्मद्रव्य का गुण 'स्थान-कारणता' है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ २७४)

–'स्थितिहेतुत्व अधर्मद्रव्य का लक्षण है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

–'अधर्मद्रव्य का स्थितिकारणत्व विशेषगुण है। अधर्मद्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में यह गुण नहीं है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ५३)

–'**तावन्मात्रोऽप्यधर्मोऽयं स्थितिलक्ष्मः प्रकीर्तितः।**'

अर्थ– अधर्मद्रव्य भी लोकाकाशव्यापी है तथा स्थिति-सहकारी उसका स्वभाव (लक्षण) है।

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३२ का उत्तरार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ ९१)

[**विशेष**– (१) अधर्मद्रव्य का लक्षण अमूर्तिक, नित्य, अवस्थित, अरूपी आदि मानें, तो अतिव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण अधर्मद्रव्य के अतिरिक्त धर्म, आकाश, और कालद्रव्य में भी पाये जाते हैं;

(२) अधर्मद्रव्य का लक्षण एकप्रदेशी, गमनागमनसहित, मूर्तिक, चेतन, रूपी आदि मानें तो

विभावस्थितिक्रिया है।

(श्रीनियमसार, गाथा ९, पृष्ठ २३ की पादटिप्पणी)

असंम्भवदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण अधर्मद्रव्य में सर्वथा पाये ही नहीं जाते; और

(३) अधर्मद्रव्य भी धर्म और आकाशद्रव्य की भाँति अकेला (संख्या में एक) और त्रिकाल शुद्ध द्रव्य होने के कारण उसमें अव्याप्तिदोष सम्भव नहीं है।]

प्रश्न ३- अधर्मद्रव्य की परिभाषा में 'गतिपूर्वक स्थिति' शब्द प्रयोग हुआ है। परिभाषा से यदि 'गतिपूर्वक' शब्द निकाल दें, तो क्या दोष आयेगा?

उत्तर- जो गतिपूर्वक स्थिति करें, ऐसे जीव-पुद्गल को ही अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त है। 'गतिपूर्वक' शब्द निकाल देने से (गतिपूर्वक की मर्यादा न रहने से) सदैव स्थिर रहनेवाले धर्मास्तिकाय, आकाश, और कालद्रव्यों को भी स्थिति में अधर्मद्रव्य का निमित्तपना आ जायेगा।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १२, पृष्ठ ३)

प्रश्न ४- अधर्मद्रव्य का स्वरूप (विशेषताएँ) क्या है?

उत्तर- धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का जीव-पुद्गलों के गति और स्थिति परिणामों में निमित्तपने के अतिरिक्त स्वरूप (विशेषताएँ) समान ही है।

-'जिस प्रकार धर्म का प्रज्ञापन (वर्णन) किया गया, उसी प्रकार अधर्म का भी प्रज्ञापन करने योग्य है। अन्तर (मात्र) यह है कि वह (धर्मास्तिकाय) गतिक्रियायुक्त को पानी की भाँति कारणभूत है और यह (अधर्मास्तिकाय) स्थितिक्रियायुक्त को पृथ्वी की भाँति कारणभूत है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८६ की टीका, पृष्ठ १३७)

-'तिन विषैं अधर्मद्रव्य (और धर्मद्रव्य) तिल विषैं तेल की ज्यों (भाँति) सर्वलोक विषैं व्याप्त हैं; तातैं व्यापी कहिए। बहुरि निजस्थान तैं स्थानान्तर विषैं चले नाहीं हैं; तातैं अवस्थित हैं। बहुरि एक स्थान विषै भी प्रदेशनि का चञ्चलपना, तिनके नाहीं है; तातैं अचलित हैं। बहुरि त्रिकाल विषैं विनाश नाहीं है, तातैं नित्य हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७१)

-'अधर्मद्रव्य का विशेषगुण स्थितिहेतुत्व है। इस अधर्मद्रव्य के (शेष) गुण-पर्यायों; जैसे, उस धर्मास्तिकाय के (शेष) सर्व गुण-पर्याय होते हैं।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६४)

प्रश्न ५- क्या जीव और पुद्गल अधर्मद्रव्य के कारण स्थिति करते हैं?

उत्तर- नहीं! यदि जीव और पुद्गल स्वयं गतिपूर्वक (चलते हुए) स्थिति करें, तो अधर्मद्रव्य उनकी स्थिति (रुकने) में निमित्तकारण है। लेकिन गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को अधर्मद्रव्य प्रेरित करके नहीं ठहराता।

-'जिस प्रकार पृथ्वी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप (स्थिर) वर्तती हुई तथा पर को स्थित

(स्थिरता) नहीं कराती हुई, स्वयमेव स्थितिरूप से परिणमित होते हुए अश्वादिक को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र के रूप में स्थिति में अनुग्रह करती है; उसी प्रकार अधर्म (अधर्मास्तिकाय) भी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप में वर्तता हुआ और पर को (जीव और पुद्गलों को) स्थिति नहीं कराता हुआ, स्वयमेव स्थितिरूप परिणमित होते हुए जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र के रूप में स्थिति में अनुग्रह करता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८६ की टीका, पृष्ठ १३७)

-**'स: गच्छतां नेव धरति'- अर्थ-** वह अधर्मद्रव्य चलते हुये जीव और पुद्गलद्रव्यों को कदापि रोक नहीं रखता है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ५२)

प्रश्न ६- क्या अधर्मद्रव्य गमन करता है?

उत्तर- नहीं! अधर्मद्रव्य भी धर्मद्रव्य की ही भाँति अनादिअनन्त स्थिर है।

-**'निष्क्रियाणि च।। ७।।' -अर्थ-** धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और आकाशद्रव्य क्रियारहित हैं; अर्थात्, ये एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं होते।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ७ व अर्थ, पृष्ठ ३२८)

प्रश्न ७- क्या अधर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों के साथ स्थिति करता है?

उत्तर- नहीं! अधर्मद्रव्य तो त्रिकाल स्थिर ही है।

-'अधर्मद्रव्य तो गतिपूर्वक स्थिति को प्राप्त होनेवाले जीव-पुद्गलों के साथ स्थिति नहीं करता; पहले से ही स्थित है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

प्रश्न ८- अधर्मद्रव्य के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, आकाश, और काल) जीव-पुद्गलों की स्थिति में निमित्तकारण क्यों नही हैं?

उत्तर- समस्त जीव और पुद्गलों की लोक तक स्थिति का निमित्तकारण एकमात्र अधर्मद्रव्य ही है, क्योंकि- (१) काल और पुद्गल एकप्रदेशी हैं; इसलिये वे लोक तक (असंख्यात प्रदेशों में) स्थिति में निमित्त नहीं हो सकते; (२) जीव समुद्घात को छोड़कर अन्य काल में लोक के असंख्यातवें भाग में ही रहता है; इसलिये वह भी लोक में स्थिति का निमित्त नहीं हो सकता; (३) लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह सम्भव नहीं है; अर्थात्, यदि आकाशद्रव्य स्थिति में निमित्त हो, तो लोक-अलोक की मर्यादा ही न रहेगी; और (४) विरुद्ध कार्य होने से धर्म को वह सम्भव नहीं है; अर्थात्, धर्मद्रव्य तो स्थिति से विरुद्ध गतिकार्य में निमित्तभूत है; इसलिये वह भी स्थिति में निमित्त नहीं हो सकता।

(आधार-श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७६)

प्रश्न ९- अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों की गतिपूर्वक स्थिति में हेतुकर्ता तो है?

उत्तर- नहीं! अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों की गतिपूर्वक स्थिति में हेतुकर्ता भी नहीं है; मात्र उदासीन निमित्तकारण है।

-'जिस प्रकार गतिपूर्वक स्थितिपरिणत अश्व (घोड़ा) सवार के (गतिपूर्वक) स्थिति परिणाम का हेतुकर्ता दिखायी देता है, उसी प्रकार अधर्म (जीव-पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता) नहीं है। वह (अधर्मद्रव्य) वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी (स्वयं) गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को ही प्राप्त नहीं होता। तो फिर उसे **सहस्थायी**[1] के रूप में पर के (दूसरे द्रव्यों के) गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्तृत्व कहाँ से होगा? अर्थात् नहीं हो सकता।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८ की टीका, पृष्ठ १४०)

-'अश्व (घोड़ा) सवार के साथ स्थिति करता है; इसलिये यहाँ अश्व को सवार के सहस्थायी के रूप मे सवार के स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता कहा है। अधर्मास्तिकाय गतिपूर्वक स्थिति को प्राप्त होनेवाले जीव-पुद्गलों के साथ स्थिति नहीं करता, पहले से ही स्थित है। इस प्रकार वह सहस्थायी न होने से जीव-पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता नहीं है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

प्रश्न १०- क्या हेतुकर्ता भी कार्य का सच्चा कर्ता नहीं है?

उत्तर- नहीं! हेतुकर्ता भी कार्य (गतिपूर्वक स्थिति) का सच्चा कर्ता नहीं है। यहाँ (पिछले प्रश्न के उत्तर में दिये गये उदाहरण में) अश्व को सवार के साथ स्थिति करने के कारण सवार के सहस्थायी के रूप में अश्व को सवार के स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता कहा है। उसका अर्थ यह कभी नहीं समझना कि अश्व सवार को स्थितिपरिणाम कराता होगा। निमित्त उदासीन हो या हेतुकर्ता हो- दोनों पर में अकिञ्चित्कर हैं।

(आधार-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

प्रश्न ११- अधर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों की गतिपूर्वक स्थिति में कैसा निमित्त है?

उत्तर- जिस प्रकार पृथ्वी अश्व को (गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण के रूप में गतिपूर्वक स्थिति की उदासीन ही प्रसारक है, उसी प्रकार अधर्म (द्रव्य) जीव-पुद्गलों को (गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण के रूप में गतिपूर्वक स्थिति का उदासीन ही प्रसारक अर्थात् निमित्त है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८ की टीका, पृष्ठ १४१)

---

१. **सहस्थायी**- साथ में स्थिति (स्थिरता) करनेवाला।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

-**'दत्ते स्थितिं प्रपन्नानां जीवादीनामयं स्थितिम्।**
अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाऽध्ववर्त्तिनाम्।। ३४।।'

अर्थ- अधर्मद्रव्य स्थिति को प्राप्त हुए जीव पुद्गलों की स्थिति करने में सहकारी हैं; जैसे, मार्ग में चलते हुए पथिकों को बैठने के लिये छाया सहकारी है। उसी प्रकार अधर्मद्रव्य भी जीवों के ठहराने (ठहरने) में सहकारी है; प्रेरक नहीं है।

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३४ व अर्थ, पृष्ठ ९१)

प्रश्न १२- जीव-पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थिति का सच्चा कर्ता कौन है?

उत्तर- 'वास्तव में समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामों से ही निश्चय से गतिस्थिति करते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

प्रश्न १३- क्या जीव-पुद्गल लोकाकाश के बाहर स्थिति कर सकते हैं?

उत्तर- नहीं! जीव और पुद्गल लोकाकाश के बाहर न तो जा सकते हैं और न ही गतिपूर्वक स्थिति कर सकते हैं, क्योंकि जीव और पुद्गलों की गति में निमित्त धर्मद्रव्य और गतिपूर्वक स्थिति में निमित्त अधर्मद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी द्रव्य हैं।

-'धर्म और अधर्मद्रव्य सर्वत्र लोक में हैं, क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है, ऐसे जीव और पुद्गलों की गति या स्थिति लोक से बाहर नहीं होती और न लोक के एकदेश में होती है; अर्थात्, लोक में सर्वत्र होती है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३६ की टीका, पृष्ठ २८०)

प्रश्न १४- अधर्मद्रव्य का आकार क्या है?

उत्तर- अधर्मद्रव्य लोकव्यापी असंख्यातप्रदेशी एक द्रव्य है।

-'अधर्म को (धर्म, अधर्म, तथा जीव को) वास्तव मे असंख्यात प्रदेश हैं।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३५ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७३)

-**'धम्माधम्मयो: असंख्या:' -अर्थ-** धर्म और अधर्मद्रव्यों में असंख्यात प्रदेश हैं।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा २५ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६५)

-**'व्यापिनौ धर्माधर्मौ' -अर्थ-** धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तिल विषैं तेल की ज्यों सर्व लोक विषैं व्याप्त हैं, तातैं व्यापी कहिए।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७१)

-'धर्म और अधर्म दोनों एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं और दोनों ही समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५७, पृष्ठ ११)

-'लोक: धर्माधर्माभ्याम् आतत:'- **अर्थ-** लोक धर्म और अधर्म से व्याप्त है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३६ के अन्वयार्थ, पृष्ठ २८०)

प्रश्न १५- अधर्मद्रव्य कितने हैं?

उत्तर- धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य एक-एक है।

-'आ आकाशादेकद्रव्याणि।। ६।।'

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ६, पृष्ठ ३२७)

卐

तत्त्व का कौतूहली हो

दुनिया एकबार तुझे पागल कहेगी, भूत भी कहेगी। दुनिया की अनेक प्रकार की प्रतिकूलता आये; तथापि उसे सहन करके, उसकी उपेक्षा करके, "चैतन्य भगवान कैसा है?" उसे देखने का एकबार कौतूहल तो कर! यदि दुनिया की अनुकूलता या प्रतिकूलता में रुकेगा, तो अपने चैतन्य भगवान को तू नहीं देख सकेगा; इसलिये दुनियाँ का लक्ष्य छोड़कर और उससे पृथक् होकर एकबार महान कष्ट से भी तत्त्व का कौतूहली हो।

(पूज्य गुरुदेवश्री, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ९८-९९)

जग धोखे की टाटी

अरे जिया! जग धोखे की टाटी।। टेक।।

झूठा उद्यम लोग करत हैं, जिसमें निशिदिन घाटी।। १ ।।

जान-बूझ कर अन्ध बने हैं, आखिन बाँधी पाटी।। २ ।।

निकल जायेंगे प्राण छिनक में, पड़ी रहेगी माटी।। ३ ।।

'दौलतराम' समझ मन अपने, दिल की खोल कपाटी।। ४ ।।

-श्री दौलतरामजी

धर्म-अधर्मद्रव्य सम्बन्धी मिलेजुले प्रश्नोत्तर

प्रश्न १- क्या धर्म और अधर्मद्रव्य का अर्थ पुण्य और पाप है?

उत्तर- धर्म-अधर्मद्रव्य का तात्पर्य पुण्य-पाप अथवा आत्मा का धर्म एवं दोष नहीं है।

-'यहाँ धर्म कहने से आत्मा का धर्म नहीं, किन्तु "धर्म" नामका द्रव्य समझना चाहिए। यह द्रव्य एक, अखण्ड, और समस्त लोक मे व्याप्त है। जीव और पुद्‌गलो के गमन करते समय यह द्रव्य निमित्तरूप से पहचाना जाता है।' तथा,

-'यहाँ अधर्म कहने से आत्मा का दोष नहीं, किन्तु अधर्म नाम का द्रव्य समझना चाहिए। यह भी एक, अखण्ड, और समस्त लोक में व्याप्त द्रव्य है। जीव और पुद्‌गल जब गमन करके स्थिर होते हैं, तब यह द्रव्य निमित्तरूप से जाना जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, उपसंहार, पृष्ठ ३८९)

प्रश्न २- धर्म और अधर्मद्रव्य में क्या अन्तर है?

उत्तर- दोनों द्रव्यों (धर्म और अधर्म) में यह अन्तर है- वह (धर्मास्तिकाय) गतिक्रियायुक्त (जीव और पुद्‌गलों) को पानी की भाँति कारणभूत (निमित्त) है; और यह (अधर्मास्तिकाय) स्थितिक्रियायुक्त (जीव-पुद्‌गलों) को पृथ्वी की भाँति कारणभूत है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८६ की टीका, पृष्ठ १३७)

प्रश्न ३- धर्म और अधर्म द्रव्य की विद्यमानता की सिद्धि कैसे होती है?

उत्तर- 'जीव और पुद्‌गल इन दो द्रव्यों में क्रियावतीशक्ति होने से उनके कभी हलन-चलन और कभी स्थिरतारूप क्रिया होती है। यह हलन-चलन (गमन) और स्थिति क्रियावतीशक्ति नामक गुण की पर्यायें हैं। क्रियावतीशक्ति के हलन-चलन अथवा स्थिरतारूपपरिणमन का मूलकारण (उपादानकारण) स्वयं द्रव्य (हलन-चलन अथवा स्थितिरूपपरिणमित जीव अथवा पुद्‌गलद्रव्य) है; अत: इस परिणमन (हलन-चलन अथवा स्थिरतारूपपर्याय) का निमित्तकारण कार्य के मूलकारण से अलग होना चाहिए। अत: जो जीव और पुद्‌गल के हलन-चलनरूपपरिणमन में निमित्तकारण है, उसे धर्मद्रव्य और उससे विपरीत; अर्थात्, गतिपूर्वक स्थिरतारूपपरिणमन में जो निमित्तकारण है, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं।'

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, उपसंहार, पृष्ठ ३८५-३८६)

-'धर्म और अधर्म विद्यमान हैं, क्योकि लोक और अलोक का विभाग अन्यथा नहीं बन

सकता। जीवादि सर्व पदार्थों (छः द्रव्यों) के एकत्र अस्तित्वरूप लोक है; शुद्ध एक आकाश के अस्तित्वरूप अलोक है। वहाँ (लोक में) जीव और पुद्गल स्वरस से ही (स्वभाव से ही) गतिपरिणाम को अथवा गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त होते हैं। यदि गतिपरिणाम अथवा गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का स्वयं अनुभव करनेवाले उन जीव पुद्गल को बहिरङ्ग हेतु (बाह्य निमित्त) धर्म और अधर्म न हों, तो जीव पुद्गल के **निरर्गल**[1] गति और स्थितिपरिणाम होने से अलोक में भी उनका (जीव-पुद्गल का) होना किससे निवारा जा सकता है? (अर्थात् किसी से नहीं निवारा जा सकता); इसलिये (ऐसी दशा में) लोक-अलोक का विभाग भी सिद्ध नहीं होता। किन्तु यदि जीव-पुद्गल की गति के और गतिपूर्वक स्थिति के बहिरङ्ग हेतुओं के रूप में धर्म और अधर्म का सद्भाव (विद्यमानता) स्वीकार किया जाये, तो लोक-अलोक का विभाग (सिद्ध) होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८७ की टीका, पृष्ठ १३८)

[**विशेष**- यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जीव और पुद्गलों के इस हलन-चलन अथवा स्थिरतारूप परिणमन मे कोई दूसरा द्रव्य निमित्तकारण है- यह तो उक्त कथनों से प्रमाणित होता है। लेकिन वह निमित्तकारण (हलन-चलन में) धर्मद्रव्य अथवा (गतिपूर्वक स्थिति में) अधर्मद्रव्य ही है; कोई दूसरा द्रव्य नहीं है- यह सिद्ध नहीं होता। इस प्रश्न का समाधान श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका के आधार से धर्म और अधर्मद्रव्य से सम्बन्धित प्रश्नोत्तरों में तर्कपूर्वक पहले दिया जा चुका है।]

प्रश्न ४- धर्म और अधर्मद्रव्य एक-दूसरे से भिन्न हैं अथवा अभिन्न?

उत्तर- एक अपेक्षा से भिन्न हैं और एक अपेक्षा से अभिन्न हैं।

-'धर्म और अधर्म दोनों परस्पर पृथग्भूत (अलग) अस्तित्व से निष्पन्न होने से विभक्त; अर्थात्, भिन्न हैं, (और दूसरी अपेक्षा से) एकक्षेत्रावगाही होने से अविभक्त अर्थात् अभिन्न हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८७ की टीका, पृष्ठ १३८)

प्रश्न ५- धर्म और अधर्मद्रव्य के लोकप्रमाण होने की सिद्धि कैसे होती है?

उत्तर- धर्म और अधर्म दोनों समस्त लोक में विद्यमान जीव-पुद्गलों को गतिस्थिति में निष्क्रियरूप से अनुग्रह करते हैं (निमित्तरूप होते हैं); इसलिए लोकप्रमाण हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८७ की टीका, पृष्ठ १३९)

प्रश्न ६- 'धर्म और अधर्मद्रव्य गति-स्थिति के (जीव-पुद्गलों की) मुख्य हेतु हैं'- ऐसा मानें, तो क्या दोष आता है?

उत्तर- वास्तव में (निश्चय से) धर्म (द्रव्य) जीव-पुद्गलों को कभी गतिहेतु नहीं होता (और)

---

१. **निरर्गल**- निरंकुश; अमर्यादित।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८७, पृष्ठ १३८ की पादटिप्पणी)

अधर्म (द्रव्य) कभी स्थितिहेतु नहीं होता, क्योंकि यदि वे पर को (जीव-पुद्‌गलों को) गति-स्थिति के मुख्य हेतु (निश्चय हेतु) हों, तो जिन्हें गति हो उन्हें गति (गतिमान) ही रहना चाहिए; स्थिति नहीं होना चाहिए; और जिन्हें स्थिति हो, उन्हें स्थिति ही रहना चाहिए, गति नहीं होना चाहिए। किन्तु एक को ही (एक ही द्रव्य को) गति और स्थिति देखने में आती है। इसलिए अनुमान हो सकता है कि वे (धर्म-अधर्मद्रव्य) गति-स्थिति के मुख्यहेतु नहीं है, किन्तु व्यवहारनयस्थापित (कथित) उदासीन हेतु हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा८९ की टीका, पृष्ठ १४१-१४२)

-'विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति।। ८९।।'

अन्वयार्थ- (धर्म-अधर्म गति-स्थिति के मुख्य हेतु नहीं हैं, क्योंकि) जिन्हे गति होती है उन्हीं को फिर स्थिति होती है (और जिन्हे स्थिति होती है उन्हीं को फिर गति होती है)। वे (गतिस्थितिमान पदार्थ) तो अपने परिणामों से गति और स्थिति करते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४१)

प्रश्न ७- यदि ऐसा है (धर्म और अधर्मद्रव्य गति-स्थिति के मुख्यहेतु नहीं हैं), तो गतिस्थितिमान पदार्थों की गति-स्थिति किस प्रकार होती है?

उत्तर- वास्तव में समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामों से ही निश्चय से गतिस्थिति करते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा८९ की टीका, पृष्ठ १४२)

-'जैसे शुद्धात्मस्वरूप में स्थिति का कारण निश्चय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन है और व्यवहार (कारण) अर्हन्त, सिद्धादि परमेष्ठी के गुणों का स्मरण है; वैसे ही जीव-पुद्‌गलों की स्थिति (गति-स्थिति) का निश्चयकारण अपना उपादानकारण है और व्यवहारकारण अधर्मद्रव्य (धर्म -अधर्मद्रव्य) हैं।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ का सूत्रार्थ, पृष्ठ ५४)

-'उदासीन निमित्त हो या हेतुकर्ता हो- दोनों पर में अकिञ्चित्‌कर हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

प्रश्न ८- धर्म और अधर्मद्रव्य के शास्त्रीयज्ञान से अज्ञानी क्या गलत अर्थ निकालता है?

उत्तर- धर्म और अधर्मद्रव्य के शास्त्रीयज्ञान से पूर्व अज्ञानी की मान्यता होती है कि 'मैं शरीर एवं दूसरे पदार्थों को चलाता और ठहराता हूँ, अथवा शरीर मुझे (आत्मा को) चलाता और ठहराता है।' धर्म और अधर्म के कोरे (विवेकरहित) शास्त्रीयज्ञान से अज्ञानी अर्थ निकालता है कि 'धर्मद्रव्य मुझे चलाता है और अधर्मद्रव्य मुझे ठहराता है।' अज्ञानी की दोनों ही मान्यताएँ (शास्त्रीयज्ञान से पूर्व

की और बाद की) गलत हैं, क्योंकि 'गति-स्थितिमान पदार्थ तो अपने परिणामों से ही निश्चय से गति-स्थिति करते हैं।'

प्रश्न ९- जिनागम में धर्म और अधर्मद्रव्य के सम्बन्ध में आचार्यों का संसारी जीव के लिये क्या आदेश हैं?

उत्तर- 'जो (द्रव्य) गमन का निमित्त है (अर्थात् धर्मद्रव्य), जो (द्रव्य) स्थिति का कारण है (अर्थात् अधर्मद्रव्य), और दूसरा जो (द्रव्य) सर्व को स्थान देने में प्रवीण है (अर्थात् आकाशद्रव्य)- उन सबको सम्यक् द्रव्यरूप से अवलोककर (यथार्थतः स्वतन्त्र द्रव्यरूप से समझकर) भव्यसमूह सर्वदा निज तत्त्व में प्रवेश करो।'

-'इह गमननिमित्तं यत्स्थितेः कारणं वा यदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम्।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक् प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोकः।। ४६ ।।'

(श्रीनियमसार, श्लोक ४६ का श्लोकार्थ व श्लोक, पृष्ठ ६४-६५)

-'वास्तव मे समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामों से ही निश्चय से गतिस्थिति करते हैं; इसलिये गतिपरिणाम को प्राप्त ध्वजा की गति में पवन (वायु) और धर्म (द्रव्य) तथा गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त सवार (घुड़सवार) की गतिपूर्वक स्थिति में अश्व और अधर्मद्रव्य अविशेषरूप से अकिञ्चित्कर है- ऐसा निर्णय करना।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

-'यद्यपि पाँच द्रव्य (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल) जीव के उपकारी (निमित्त) हैं, तथापि उन्हें दुख का कारण (निमित्त) जानकर अक्षय अनन्त सुखादिकारण विशुद्धज्ञान-दर्शनोपयोग स्वभाव निज परमात्मद्रव्य को ध्येय बनाकर साधक का उसमें अनुष्ठान करना कर्तव्य है।'

(श्रीप्रवचनसार,गाथा १३३-१३४ पर श्रीजयसेनाचार्य की संस्कृत टीका का हिन्दी रूपान्तर, आधार-श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १७, पृष्ठ ५२)

प्रश्न १०- धर्म-अधर्मद्रव्य को जानने का क्या लाभ है?

उत्तर- जीव (मिथ्यादृष्टि) अनादिकाल से शरीर को ही निजस्वरूप मानने के कारण बाह्य संयोगों में कर्ता-भोक्ता की झूठी मान्यता से दुःखी हैं। धर्म-अधर्मद्रव्य के सम्यक् स्वरूप का ज्ञान होनेपर पता चलता है कि अनादिअनन्त एकक्षेत्रावगाही होनेपर भी जब धर्म और अधर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों के गति अथवा गतिपूर्वक स्थितिपरिणामों के कर्ता तो हैं ही नहीं, मुख्यहेतु भी नहीं हैं; जीव-पुद्गल अपने परिणामों से ही गतिस्थिति करते हैं, तब मैं (आत्मा) शरीर और बाह्य संयोगों का कर्ता-भोक्ता कैसे हो सकता हूँ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता। ऐसा श्रद्धान-ज्ञान होते ही धर्म का प्रारम्भ (सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) होकर क्रमशः वृद्धि और पूर्णता हो जाती है। यह धर्म और अधर्मद्रव्य को जानने का सच्चा लाभ है।

आकाशद्रव्य

प्रश्न १- आकाशद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जो जीवादिक पाँच द्रव्यों को रहने का स्थान देता है, उसे आकाशद्रव्य कहते हैं।

-'**अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।**'

अर्थ- जीवादि द्रव्यों को अवकाश के योग्य जिनेन्द्र भगवान द्वारा दर्शित आकाशद्रव्य जानना चाहिए।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १९ एवं अन्वयार्थ, पृष्ठ ५४)

-'वहाँ एक ही काल में समस्त द्रव्यों को साधारण **अवगाह**[1] का सम्पादन आकाश को बतलाता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७५)

-'जीवादि समस्त द्रव्य जिसके निमित्त से अवगाह (अवकाश) को प्राप्त करते हैं, ऐसा कोई द्रव्य होना चाहिए। वह द्रव्य लोकालोकव्यापी आकाश है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ का भावार्थ, पृष्ठ २७७)

-'एक ही काल में सर्वद्रव्यों को सामान्य अवकाश की प्राप्ति में आकाशद्रव्य निमित्तभूत है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४, पृष्ठ २७५ की पादटिप्पणी)

-'**अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं।।**'

अन्वयार्थ- आकाश जीवादि सर्वद्रव्यों को अवगाहन का निमित्त है।

(श्रीनियमसार, गाथा ३० का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६३)

-'गति-स्थिति लीए वास करना, सो अवगाह क्रिया जानना। बहुरि आकाशद्रव्य अवगाह क्रिया के मुख्य साधक है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

-'**सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पोग्गलाणं च।**

जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं।। ९०।।'

---

१. **अवगाह**- लीन होना, अवकाश प्राप्त होना।

अन्वयार्थ- लोक में जीवों को और पुद्गलों को वैसे ही शेष समस्त द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है, वह आकाश है।

टीका- षट्द्रव्यात्मक लोक में शेष सभी द्रव्यों को जो परिपूर्ण अवकाश का निमित्त है, वह आकाश है जो कि (आकाश) विशुद्धक्षेत्ररूप है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ९०, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १४२-१४३)

-'निश्चयनय से नित्यनिरञ्जन ज्ञानमय परमानन्द जिनका एक लक्षण है; ऐसे अनन्तानन्त जीव, उनसे अनन्तगुने पुद्गल, असंख्य कालाणु, और असंख्यप्रदेशी धर्म तथा अधर्म- ये सभी द्रव्य विशिष्ठ अवगाहगुण द्वारा लोकाकाश में (यद्यपि वह लोकाकाश मात्र असंख्यप्रदेशी ही है तथापि) अवकाश प्राप्त करते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ९० की पादटिप्पणी, पृष्ठ १४३)

-**'आकाशस्यावगाहः॥ १८॥'** **-अर्थ-** समस्त द्रव्यों को अवकाश-स्थान देना, यह आकाश का उपकार है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र १८ व अर्थ, पृष्ठ ३३१)

प्रश्न २- आकाशद्रव्य का लक्षण क्या है?

उत्तर- 'अवगाहनहेतुत्व' आकाशद्रव्य का विशेषगुण होने से उसका सच्चा लक्षण है जो अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, और असम्भवदोषों से मुक्त है।

-'पाँच द्रव्यों को अवकाशदान जिसका लक्षण है, वह आकाश है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ९ की टीका, पृष्ठ २४)

-'आकाश का अवकाशदानरूप लक्षण ही विशेषगुण है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६४)

-'युगपत् सर्वद्रव्यों के साधारण अवगाह का हेतुपना आकाश का विशेषगुण है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७५)

-**'आकाशस्यावगाह'-अर्थ-** आकाश का अवगाह (लक्षण) है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ २७४)

-'अवगाहहेतुत्व आकाशद्रव्य का लक्षण है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

[विशेष- (१) यदि आकाशद्रव्य का लक्षण अमूर्तिक, नित्य, अरूपी मानें, तो अतिव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण आकाश के अलावा धर्म, अधर्म, और कालद्रव्य में भी पाये जाते हैं;

(२) यदि आकाशद्रव्य का लक्षण मूर्तिक, चेतन, गतिमान मानें, तो असम्भवदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण आकाशद्रव्य में सर्वथा पाये ही नहीं जाते; और

(३) आकाशद्रव्य संख्या में एक (अकेला) और त्रिकाल शुद्धद्रव्य होने के कारण अव्याप्तिदोष उसमें सम्भव ही नहीं है।]

प्रश्न ३- आकाशद्रव्य कितने हैं?

उत्तर- आकाश अविभाग (अखण्ड) एक द्रव्य है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १४० की टीका, पृष्ठ २८९)

-'बहुरि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य एक-एक ही हैं; जातैं ए तीनों अखण्ड द्रव्य हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७३)

-'**आ आकाशादेकद्रव्याणि।। ६।।**' -**अर्थ**- आकाश पर्यन्त एक-एक द्रव्य है; अर्थात्, धर्म, अधर्म, और आकाशद्रव्य एक-एक हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ६ व अर्थ, पृष्ठ ३२७)

प्रश्न ४- आकाशद्रव्य के कितने भेद हैं?

उत्तर- आकाश तो अनादिअनन्त अखण्ड एक द्रव्य है, लेकिन धर्म-अधर्मद्रव्य की स्थिति के आधार से उसके दो भेद किये हैं- (१) लोकाकाश, और (२) अलोकाकाश।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १४, पृष्ठ ४)

-'धर्म और अधर्म विद्यमान हैं क्योंकि लोक और अलोक का विभाग अन्यथा नहीं बन सकता।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८७ की टीका, पृष्ठ १३८)

-'**जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं।।**'

अर्थ- लोकाकाश और अलोकाकाश, इस भाँति आकाश दो प्रकार का है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १९ का उत्तरार्द्ध व गाथार्थ, पृष्ठ ६६)

-'उसी **अर्थसमय**[१] का लोक और अलोक के भेद के कारण द्विविधपना है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १०)

-'**लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्त्तितम्।।**'

अर्थ- यह (आकाशद्रव्य) लोक-अलोक के भेद से दो प्रकार का है।

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३५ का उत्तरार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ ९१)

प्रश्न ५- लोकाकाश किसे कहते है?

उत्तर- जिसमें जीवादिक सर्वद्रव्य होते (रहते) हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं; अर्थात्, जहाँ

---

१. **अर्थसमय**- सर्वपदार्थसमूह वह अर्थसमय है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ९)

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल ये पाँच द्रव्य हैं, वहाँ तक के आकाश को लोकाकाश कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १५, पृष्ठ ४)

–'**समवाओ पंचण्हं समउ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।**
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं।। ३।।'

अन्वयार्थ– पाँच अस्तिकाय का समभावपूर्वक निरूपण अथवा उनका समवाय वह समय है –ऐसा जिनवरों ने कहा है। वही लोक है; उससे आगे अमाप अलोक आकाशस्वरूप है।

टीका– ....वही पञ्चास्तिकाय समूह जितना है, उतना लोक है। उससे आगे अमाप; अर्थात्, अनन्त अलोक है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ८ से १०)

–'जीवादि सर्व पदार्थों के एकत्र-अस्तित्वरूप लोक है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८७ की टीका, पृष्ठ १३८)

–'**धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।**
आयासे सो लोगो तत्ता परदो अलोगुत्ति।। २०।।'

गाथार्थ– धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल, और जीव जितने आकाश में रहते हैं, वह लोकाकाश है। उस लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६७-६८)

–'**लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोकः**'

अर्थ– जहाँ जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३ की आचार्य जयसेनाचार्य कृत टीका, पृष्ठ १० की पादटिप्पणी)

–'**लोगागासपदेशा, छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।**'

अर्थ– लोकाकाश के प्रदेश सर्व ही षट्द्रव्यनि करि सदाकाल प्रगट व्याप्त हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८७ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७३)

–'लोक (लोकाकाश) के तीन भाग हैं– (१) ऊर्ध्वलोक, (२) मध्यलोक, और (३) अधोलोक। इन्हीं को तीनलोक कहते हैं और यहीं लोकाकाश है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा २० का भावार्थ, पृष्ठ ५७)

प्रश्न ६– अलोकाकाश किसे कहते हैं?

उत्तर– लोकाकाश के बाहर अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। यह शेष पाँच द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल) से रहित अनन्त क्षेत्रवाला, अमर्यादित है।

– 'शुद्ध एक आकाश के अस्तित्वरूप अलोक है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८७ की टीका, पृष्ठ १३८)

– 'लोकाकाश से बाहर अनन्त आकाश है, वह "अलोकाकाश" है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २० की टीका, पृष्ठ ६८)

– **'सव्वमलोगागासं, अण्णेहिं विवज्जियं होदि।।'**

अर्थ– बहुरि अलोकाकाश सर्व ही अन्य द्रव्यनि करि रहित है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८७ का उत्तरार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७३)

– 'लोकाकाश के बाहर जो अनन्त आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १६, पृष्ठ ४)

प्रश्न ७– अलोक का अर्थ क्या अभाव (शून्य) है?

उत्तर– अलोक का अर्थ अभाव (शून्य) नहीं है।

– 'वही पञ्चास्तिकायसमूह जितना है, उतना लोक है। उससे आगे अमाप; अर्थात्, अनन्त अलोक है। वह अलोक अभावमात्र नहीं है, किन्तु पञ्चास्तिकायसमूह जितना क्षेत्र छोड़कर शेष अनन्तक्षेत्रवाला आकाश है; अर्थात्, अलोक शून्यरूप नहीं है, किन्तु शुद्ध आकाशद्रव्यरूप है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १०)

प्रश्न ८– आकाशद्रव्य का क्षेत्र कितना है?

उत्तर– आकाशद्रव्य अनन्तानन्त **प्रदेशी**[१] द्रव्य है। विश्व में जीव अनन्त, जीव से अनन्तगुणे पुद्गल, पुद्गल से अनन्तगुणे तीनकाल के समय, और तीनकाल के समयों से अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश हैं।

– **'ववहारो पुण कालो, पोग्गलदव्वादणंतगुणमेत्तो।
तत्तो अणंतगुणिदा, आगासपदेसपरिसंखा।। ५९०।।'**

अर्थ– बहुरि व्यवहारकाल पुद्गलद्रव्य तैं अनन्तगुणा समयरूप जानना। बहुरि तिनि तैं अनन्तगुणी सर्व आकाश के प्रदेशनि की संख्या जाननी।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७४)

– **'आकाशस्यानन्ताः।। ९।।'** –**अर्थ**– आकाश के अनन्त प्रदेश हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ९ व अर्थ, पृष्ठ ३३०)

– 'सर्वव्यापी अनन्त प्रदेशों के प्रस्ताररूप होने से आकाश प्रदेशवान् है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३५ की टीका, पृष्ठ २७९)

---

१. **प्रदेश**– बहुरि पुद्गल परमाणू जेता क्षेत्र कौं रोकै, सो प्रदेश का प्रमाण (माप) है; तातैं जघन्य क्षेत्र अर जघन्य द्रव्य अविभागी है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७४)

प्रश्न ९- लोकाकाश का क्षेत्र कितना है?

उत्तर- लोकाकाश असंख्यात प्रदेश क्षेत्रवाला है।

प्रश्न १०- लोकाकाश के समान क्षेत्रवाले कौन-कौन द्रव्य हैं?

उत्तर- धर्म, अधर्म, और जीवद्रव्य (एक) के प्रदेश संख्या में समान हैं। ये सभी द्रव्य असंख्यात प्रदेशवाले हैं।

-'**लोगागासपदेसा, धम्माधम्मेगजीवगपदेसा।**
सरिसा हु पदेसो पुण, परमाणु-अवट्ठिदं खेत्तं।। ५९१।।'

अर्थ- लोकाकाश के प्रदेश अर धर्मद्रव्य के प्रदेश अर अधर्मद्रव्य के प्रदेश अर एक जीवद्रव्य के प्रदेश सर्व संख्याकरि समान हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७४)

प्रश्न ११- क्षेत्र में लोकाकाश बड़ा है अथवा अलोकाकाश?

उत्तर- अलोकाकाश लोकाकाश से अनन्तगुणा बड़ा है।

-'उससे (लोकाकाश से) आगे अमाप; अर्थात्, अनन्त लोक है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १०)

-'उस लोकाकाश से बाहर अनन्त आकाश है; वह "अलोकाकाश" है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २० की टीका, पृष्ठ ६८)

-'लोकाकाश, धर्म, और अधर्म समान प्रमाणवाले होने से कहीं अलोकाकाश को न्यूनता-छोटापन नहीं है; अर्थात्, अलोकाकाश तो अनन्त है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६४)

प्रश्न १२- लोकाकाश के बराबर कौन जीव होता है?

उत्तर- मोक्ष जाने से पूर्व **समुद्घात**[1] करनेवाला जीव लोकाकाश के बराबर बड़ा होता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ४३, पृष्ठ ९)

प्रश्न १३- छहों द्रव्य कहाँ रहते हैं?

उत्तर- जीवादि समस्त द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल) लोकाकाश में रहते हैं।

-'**लोकाकाशेऽवगाहः।।१२।।**' -**अर्थ**- समस्त द्रव्यों का अवगाह (स्थान) लोकाकाश में है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र १२ व अर्थ, पृष्ठ ३३३)

---

१. **समुद्घात**- अपना मूल शरीर छोड़े बिना (तैजस और कार्मणरूप) उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३१)

–'लोगागासपदेसा, छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।'

टीका– लोकाकाश के प्रदेश सर्व ही षट्द्रव्यनि करि सदाकाल प्रगट व्याप्त हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८७ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७३)

प्रश्न १४– असंख्यातप्रदेशी एक लोकाकाश में असंख्यातप्रदेशी अनन्त जीव, एक धर्म, एक अधर्म, अनन्तानन्त पुद्गल, और असंख्यात कालाणु किस प्रकार रह सकते हैं?

उत्तर– 'आकाश का एक परमाणु से व्याप्य अंश, वह आकाशप्रदेश है; और वह आकाशप्रदेश भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को तथा परम सूक्ष्मतारूप से परिणमित अनन्त परमाणुओं के स्कन्धों को अवकाश देने में समर्थ है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १४० की टीका, पृष्ठ २८९)

–'ऐसा ही प्रश्न सोम नामक राजश्रेष्ठी ने भगवान से (समवसरण में) किया था– हे भगवन्! केवलज्ञान के अनन्तवें भागप्रमाण आकाशद्रव्य है; उसके भी अनन्तवें भाग में सर्व मध्यम प्रदेश में (बीच में) लोकाकाश है; वह असंख्यात प्रदेशी है। उस असंख्यातप्रदेशी लोक में अनन्तजीव, उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य, प्रत्येक लोकाकाशप्रमाण ऐसे धर्म और अधर्म दो द्रव्य– ये पदार्थ किस प्रकार अवकाश प्राप्त करते हैं?

भगवान उत्तर देते हैं– एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश, एक गूढ़ रस की शीशी में बहुत–सा स्वर्ण, राख से भरे घड़े में सुई और ऊँटनी का दूध जिस प्रकार समा जाता है– इत्यादि दृष्टान्त से, **विशिष्ठ अवगाहनशक्ति**[1] के कारण असंख्यप्रदेशी लोक में भी पूर्वोक्त के अवगाह में विरोध नहीं आता है।'

(श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा २० की टीका, पृष्ठ ६८)

–'जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं।

तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥ २७॥'

गाथार्थ– जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है, उसे सर्व अणुओं को स्थान देने में योग्य प्रदेश जानो।

(श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा २७ एवं गाथार्थ, पृष्ठ ८५)

–'संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति पोग्गलपदेशा।

लोगागासेव ठिदी, एगपदेसो अणुस्स हवे॥ ५८६॥'

---

१. **विशिष्ठ अवगाहनशक्ति**– आकाश में अवगाहहेतुत्वगुण के कारण ऐसी शक्ति है कि उसका एक प्रदेश भी अनन्त परमाणुओं को अवकाश (अवगाह) देने में समर्थ है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३९, पृष्ठ २८८ की पादटिप्पणी)

टीका- दोय अणु का स्कन्ध तैं लगाइ, पुद्गल स्कन्ध संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणूरूप हैं। तथापि ते वे सर्व लोकाकाश ही विषैं तिष्ठे हैं। जैसैं सम्पूर्ण जल करि भर्‌या हूवा पात्र विषैं क्रम तै गेरे हुवे लवण, भस्मी, सूई आदि एकक्षेत्रावगाहरूप तिष्ठैं हैं; तैसैं जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७३)

-'जैसे एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, उसी प्रकार एक सिद्ध के क्षेत्र मे **सङ्कर-व्यतिकर**[1] दोष बिना अनन्त सिद्धों को अवकाश देने का सामर्थ्य- वह अवगाहनगुण कहलाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५१)

प्रश्न १५- असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश, धर्म और अधर्मद्रव्य में एकत्व है या अन्यत्व है?

उत्तर- धर्म, अधर्म, और लोकाकाश का एकत्व तो मात्र एकक्षेत्रावगाह की अपेक्षा से ही कहा जा सकता है; वस्तुरूप से तो उन्हें अन्यत्व (भिन्नपना) ही है, क्योंकि (१) उनके लक्षण गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, और अवगाहनहेतुत्व भिन्न-भिन्न हैं तथा (२) उनके प्रदेश भी भिन्न-भिन्न हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ९६ का भावार्थ, पृष्ठ १४८)

प्रश्न १६- धर्म, अधर्म, आकाशद्रव्य में क्या-क्या समानताएँ हैं?

उत्तर- 'धर्म, अधर्म, आकाश- ये तीन द्रव्य भिन्न-भिन्न एक-एक द्रव्य हैं और तीनों ही अमूर्तिक, निष्क्रिय, और स्थिर हैं।'

-'**प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि यथायथम्।**
आकाशान्तान्यमूर्तानि निःक्रियाणि स्थिराणि च।। ३१।।'

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३१ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ ९१)

-'**आ आकाशादेकद्रव्याणि।। ६।।**' तथा, -'**निष्क्रियाणि च।। ७।।**'

अर्थ- धर्म, अधर्म, और आकाशद्रव्य एक-एक हैं।। ६।। तथा ये क्रियारहित हैं; अर्थात्, एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं होते।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ६-७ तथा अर्थ, पृष्ठ ३२७-३२८)

प्रश्न १७- असंख्यातप्रदेशी अनन्त जीव लोकाकाश से अनन्य हैं या अन्य हैं?

उत्तर- यद्यपि सामान्यरूप से (एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध के कारण) जीव का लोकाकाश से अनन्यपना (एकमेकपना) कहा जाता है; तथापि निश्चय से अमूर्तपना, केवलज्ञानपना, सहजपरमानन्दपना,

---

१. (क) सङ्कुरदोष- 'सर्वेषाम् युगपत्प्राप्तिः सङ्कुरः'- अर्थात्, जो अनेक द्रव्यों के एकरूपता की प्राप्ति है, सो सङ्कुरदोष है।
(ख) व्यतिकरदोष- 'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः'- अर्थात्, एक का विषय दूसरे में चला जाये, सो व्यतिकरदोष है।
(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ३६३)

[श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ३६३ से ३६५ तक सभी (९) दोषों का विस्तृत वर्णन है।]

नित्यनिरञ्जनपना इत्यादि लक्षणों द्वारा जीवों का इतर द्रव्यों से (दूसरे द्रव्यों से) अन्यपना है और अपने-अपने लक्षणों द्वारा इतर द्रव्यों का जीवों से भिन्नपना (अन्यपना) है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ९१, पृष्ठ १४४ की पादटिप्पणी)

प्रश्न १८- क्या आकाशद्रव्य में भी गति और स्थितिहेतुत्व है?

उत्तर- नहीं! आकाशद्रव्य में गति और स्थितिहेतुत्व नहीं है।

-'जम्हा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थि त्ति।। ९३।।'

टीका- जिससे (जिस कारण से) सिद्धभगवन्त गमन करके लोक के ऊपर स्थित होते हैं, उससे गतिस्थितिहेतुत्व आकाश में नहीं है- ऐसा निश्चय करना; लोक और अलोक का विभाग करनेवाले धर्म तथा अधर्म को ही गति तथा स्थिति का हेतु मानना।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ९३ अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १४५)

प्रश्न १९- यदि आकाशद्रव्य को अवकाश के साथ-साथ गति-स्थिति का भी हेतु (निमित्त) मानें, तो क्या दोष आता है?

उत्तर- 'यदि आकाश गतिस्थिति के कारणसहित अवकाश देता हो; (अर्थात्, यदि आकाश अवकाश के साथ-साथ गतिस्थिति का भी हेतु हो), तो ऊर्ध्वगतिप्रधान सिद्ध उसमें (आकाश में) क्यों स्थिर हो? अर्थात्, आगे गमन क्यों न करें?'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ९२ का अन्वयार्थ, पृष्ठ १४४)

-'जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी।। ९४।।'

अन्वयार्थ- यदि आकाश जीव-पुद्गलों को गतिहेतु और स्थितिहेतु भी हो, तो अलोक की हानि का और लोक के अन्त की वृद्धि का प्रसङ्ग आये।

टीका- आकाश गतिस्थिति का हेतु नहीं है, क्योंकि लोक और अलोक की सीमा की व्यवस्था इसी प्रकार बन सकती है। यदि आकाश को ही गतिस्थिति का निमित्त माना जाये, तो आकाश का सद्भाव सर्वत्र होने के कारण जीव-पुद्गलों की गतिस्थिति की कोई सीमा नहीं रहने से प्रतिक्षण अलोक की हानि होगी और पहले-पहले व्यवस्थापित हुआ लोक (लोकाकाश) का अन्त उत्तरोत्तर वृद्धि पाने से लोक का अन्त ही टूट जायेगा; (अर्थात्, लोक का अन्त ही नहीं बन सकेगा); इसलिये आकाश में गति-स्थिति का हेतु नहीं है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ९४ व टीका, पृष्ठ १४६-१४७)

प्रश्न २०- आकाशद्रव्य किसका बनाया हुआ है?

उत्तर- सभी द्रव्य अनादिअनन्त, स्वतःसिद्ध होते हैं; अतः किसी के द्वारा बनाये और बिगाड़े

जाने का प्रश्न ही नहीं है।

प्रश्न २१- लोकाकाश किसका बनाया हुआ है?

उत्तर- आकाश के जिस भाग में शेष सभी द्रव्य अवकाश (अवगाह) प्राप्त करते हैं, उस भाग को लोकाकाश कहते हैं। लोकाकाश भी आकाशद्रव्य का ही (अखण्ड) भाग होने से किसी के द्वारा बनाया गया नहीं है।

-'केवलज्ञान के अनन्तवें भागप्रमाण आकाशद्रव्य है; उसके भी अनन्तवें भाग में सर्व मध्यम प्रदेश में (बीच में) लोकाकाश है और वह अनादिनिधन है, किसी भी विशिष्ट पुरुष द्वारा न रचा गया है, न नष्ट होता है, न धारण किया जाता है, और न रक्षा किया जाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २० की टीका, पृष्ठ ६८)

प्रश्न २२- आकाशद्रव्य की विशेषताएँ क्या हैं?

उत्तर- अनन्तप्रदेशी आकाशद्रव्य में शेष सभी द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल) को एकसाथ अवगाह देने के विशेषगुण के अतिरिक्त वह भी धर्म-अधर्मद्रव्य की भाँति नित्य, अवस्थित, अरूपी, हलन-चलनरहित, एक अखण्ड द्रव्य है।

-'आकाश का अवकाशदानरूप लक्षण ही विशेषगुण है। धर्म और अधर्म के शेष गुण आकाश के शेष गुणों- जैसे ही हैं।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६४)

-'अवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम्।
लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्त्तितम्।। ३५।।'

अर्थ- आकाशद्रव्य अन्य पाँच द्रव्यों को अवकाश देनेवाला और सर्वव्यापी है। स्वप्रतिष्ठित है; अर्थात्, अपने आपके ही आधार है; अन्य कोई आधार (आश्रय) नहीं है। यह लोक-अलोक के भेद से दो प्रकार का हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३५ व अर्थ, पृष्ठ ९१)

प्रश्न २३- आकाशद्रव्य को जानने का क्या लाभ है?

उत्तर- आकाश एक अखण्ड और स्वतन्त्र द्रव्य है। सर्व प्रकार से उपादेयरूप शुद्ध जीवास्तिकाय से सर्वथा भिन्न है। जीव को एकमात्र शुद्धबुद्ध निज ज्ञायक स्वभाव ही मोक्ष का कारण होने से परमउपादेय है और आकाशसहित शेष सभी द्रव्य हेय (ज्ञेय) हैं। ऐसा जानकर पर में उपादेय बुद्धि छोड़कर निज स्वभाव का आश्रय ले, तो धर्म की निश्चय ही प्राप्ति होती है। यही आकाशद्रव्य को जानने का लाभ है।

(आधार-श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १९, पृष्ठ ५६)

कालद्रव्य

प्रश्न १- कालद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर- अपनी-अपनी अवस्थारूप स्वयं परिणमित होनेवाले जीवादिक द्रव्यों को जो परिणमन में निमित्त हो, उसे कालद्रव्य कहते हैं; जैसे, कुम्हार के चाक को घूमने में लोहे की कीली।

-'सर्वद्रव्य अपने-अपने उपादानकारण से अपनी पर्याय के उत्पादरूप वर्तते हैं (परिणमन करते हैं), उसमें बाह्य निमित्तकारण कालद्रव्य है। इसलिये वर्तना काल का लक्षण या उपकार कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ३४३)

-**'वत्तणहेदू कालो, वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु।**
कालाधारेणेव य, वट्टंति हु सव्वदव्वाणि।। ५६८।।'

टीका- वर्तना सो याका अर्थ यहु जो वर्तै वा वर्तन मात्र होई, ताकौं वर्तना कहिए। सो धर्मादिक द्रव्य (सभी द्रव्य) अपने-अपने पर्यायनि की निष्पत्ति विषैं स्वयमेव वर्तमान हैं। तिनकैं बाह्य कोई कारणभूत उपकार (निमित्त) बिना सो प्रवृत्ति सम्भवै नाहीं; तातैं तिनकैं, तिस प्रवृत्ति करावने कौं कारण कालद्रव्य है; अैसैं वर्तना काल का उपकार जानना। जो द्रव्यनि का पर्याय वर्तै है, ताका वर्तावनेवाला काल है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८ एवं टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६३)

-'अपने उपादानरूप से स्वयमेव परिणमित पदार्थों को, कुम्हार के चाक को फिरने में नीचे की कीली के सहकारीपने की भाँति, शीतकाल में अध्ययन करते हुए विद्यार्थी को अध्ययन में अग्नि के सहकारीपने की भाँति, पदार्थपरिणति में जो सहकारीपना उसे वर्तना कहते हैं। यह "वर्तना" जिसका लक्षण है, वह वर्तनालक्षणवाला कालाणुद्रव्यरूप "निश्चयकाल" है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ की टीका, पृष्ठ ७०-७१)

-**'पंचानां वर्तनाहेतुः कालः।'**- **अर्थ**- पाँचों द्रव्यों को वर्तना का निमित्त वह काल है।

(श्रीनियमसार, गाथा ९ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ २४)

-**'जीवादिदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।'**

अन्वयार्थ- जीवादि द्रव्यों को परिवर्तन का कारण (वर्तना का निमित्त) काल है।

(श्रीनियमसार, गाथा ३३ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६९-७०)

-'इस जगत में वास्तव में **जीवों को और पुद्गलों को**[1] सत्तास्वभाव के कारण प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्य की एकवृत्तिरूप परिणाम वर्तता है। वह (परिणाम) वास्तव में सहकारीकारण के सद्भाव में दिखायी देता है, गति-स्थिति-अवगाह परिणाम की भाँति। यह जो सहकारीकारण सो काल है।'

[अर्थात्, जिस प्रकार गति, स्थिति, और अवगाहरूप परिणाम धर्म, अधर्म, और आकाशरूप सहकारीकारणों (निमित्तकारणों) के सद्भाव (उपस्थिति) में होते हैं, उसी प्रकार उत्पादव्ययध्रौव्य की एकतारूप परिणाम सहकारीकारण के सद्भाव में होते हैं और वो सहकारीकारण कालद्रव्य है।]

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २३ की टीका, पृष्ठ ४८)

-'जैसे कुम्हार के चक्र के चलने में कील निमित्तभूत है, उसी प्रकार (काल के अतिरिक्त) सर्वद्रव्यों के परिणमन में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए। वह द्रव्य असंख्यात कालाणु है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ का भावार्थ, पृष्ठ २७७)

प्रश्न २- कालद्रव्य का सच्चा लक्षण क्या है?

उत्तर- 'परिणमनहेतुत्व'; अर्थात्, स्वयं परिणमते हुये द्रव्यों को सहकारीकारणपना ही कालद्रव्य का सच्चा लक्षण है जो अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, और असम्भवदोषों से मुक्त है।

-'शेष समस्त द्रव्यों (काल के अतिरिक्त) की प्रति-पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना (समय-समय की परिणति का निमितत्व) काल का विशेषगुण है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७५)

-**'वट्टणलक्खो य परमट्ठो' -अर्थ-** वर्तना (परिणमन) लक्षणयुक्त काल निश्चयकाल है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ६९)

[**विशेष- (१)** यदि कालद्रव्य का लक्षण सत्, नित्य, अमूर्तिक, एकप्रदेशी आदि मानें, तो अतिव्याप्तिदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण काल के अतिरिक्त दूसरे द्रव्यों में भी पाये जाते हैं;

(२) यदि कालद्रव्य का लक्षण चेतन, बहुप्रदेशी, गमनागमनसहित आदि मानें, तो

---

१. यद्यपि कालद्रव्य जीव-पुद्गलों के अतिरिक्त धर्मास्तिकायादि के परिणाम को भी निमित्तभूत है, तथापि जीव-पुद्गलों के परिणाम स्पष्ट ख्याल में आते हैं। इसलिये यहाँ कालद्रव्य को सिद्ध करने मे मात्र उन दो के (जीव-पुद्गलों के) परिणाम की ही बात ली गयी है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २३, पृष्ठ ४८ की पादटिप्पणी)

असम्भवदोष आता है, क्योंकि ये लक्षण कालद्रव्य में सर्वथा पाये ही नहीं जाते; और

(३) यद्यपि कालद्रव्य संख्या में असंख्यात है लेकिन धर्म, अधर्म, और आकाशद्रव्य की भाँति त्रिकाल शुद्ध होने के कारण उसमें अव्याप्तिदोष सम्भव ही नहीं है। -'धर्म, अधर्म, आकाश, और काल को स्वजातीय या विजातीय बन्ध का सम्बन्ध न होने से उन्हें विभावगुणपर्यायें नहीं होते, परन्तु स्वभावगुणपर्यायें होते हैं।' -**श्रीनियमसार, गाथा ३३ की टीका, पृष्ठ ७०**]

प्रश्न ३- कालद्रव्य के कितने भेद हैं?

उत्तर- कालद्रव्य के दो भेद हैं- (१) निश्चयकाल, और (२) व्यवहारकाल।

१. निश्चयकाल- परिणमनहेतुत्व लक्षणवाले कालद्रव्य को ही निश्चयकाल कहते हैं।

-' **"वट्टणलक्खो य परमट्ठो"- अर्थ**- जो वर्तना लक्षणवाला है वह परमार्थकाल है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ की टीका, पृष्ठ ७०)

-'जो वर्तना है, सो तो निश्चयकाल का लक्षण है।' तथा,

-'लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक भिन्न-भिन्न असंख्यात कालाणुद्रव्य हैं। वह परमार्थकाल अर्थात् निश्चयकाल हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ३४४)

-**'लोकाकाशप्रदेशेषु ये भिन्ना अणवः स्थिताः।**

परिवर्त्ताय भावानां मुख्यकालः स वर्णितः।। ३६।।'

अर्थ- लोकाकाश के प्रदेशों में जो काल के भिन्न-भिन्न अणु द्रव्यों का परिवर्तन करने के लिये स्थित हैं, उन्हें मुख्यकाल अर्थात् निश्चयकाल कहते हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३६ व अर्थ, पृष्ठ ९१)

-'बहुरि षट् द्रव्य की वर्तना कौं कारण मुख्य (निश्चय) काल है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६४)

-'लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में एक-एक कालाणु (कालद्रव्य) स्थित है। वह कालाणु सो निश्चयकाल है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २४ का भावार्थ, पृष्ठ ४९)

-**'लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो।।'**

अन्वयार्थ- जो (कालाणु) लोकाकाश में है, वह परमार्थकाल है।

टीका- कालाणु लोकाकाश के प्रदेशों में पृथक्-पृथक् स्थित हैं, वह काल परमार्थ (निश्चय) हैं।

(श्रीनियमसार, गाथा ३२ का उत्तरार्द्ध, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ६७-६८)

२. **व्यवहारकाल** : कालद्रव्य की समय, पल, घड़ी, दिवस, वर्ष आदि पर्यायों को

व्यवहारकाल कहते हैं।

-'दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।'

गाथार्थ- जो द्रव्यों के परिवर्तनरूप है (अर्थात् द्रव्य परिवर्तन की स्थितिरूप है), और परिणामादि से लक्षित होता है, वह व्यवहारकाल है।

टीका- जो द्रव्य के परिवर्तनरूप है; (अर्थात्, द्रव्य की पर्याय के साथ सम्बन्धवाली कालावधिरूप है), वह काल व्यवहाररूप है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ का पूर्वार्द्ध व टीका, पृष्ठ ६९-७०)

-'जीव-पुद्गल के परिणाम से प्रगट होता है, सो व्यवहारकाल है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ३४४)

-'जो निश्चयकाल की पर्यायरूप व्यवहारकाल, वह जीव-पुद्गलों के परिणाम से व्यक्त होता है (जाना जाता है)।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २३ की टीका, पृष्ठ ४८)

-'समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो।। २५।।'

अन्वयार्थ- समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, और वर्ष[1] -ऐसा जो काल (व्यवहारकाल) वह पराश्रित है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५०)

---

१. **(१) समय-** परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर आकाशप्रदेश में मन्दगति से जाने में जो समय लगे, उसे 'समय' कहते हैं;
(२) निमेष- आँख के मिचने से प्रकट होता है; अर्थात्, खुली आँख के मिचने मे जो समय लगे, उसे 'निमेष' कहते हैं। एक निमेष असख्यात समय का होता है;
(३) काष्ठा- पन्द्रह निमेष की एक 'काष्ठा' होती है, **(४) कला-** तीस काष्ठा की एक 'कला' होती है,
(५) घड़ी- बीस से कुछ अधिक कला की एक 'घड़ी' होती है, **(६) मुहूर्त-** दो घड़ी (४८ मिनट) का एक 'मुहूर्त' बनता है;
(७) अहोरात्र- सूर्य के गमन से प्रकट होता है। तीस मुहूर्त का एक 'अहोरात्र' होता है; **(८) मास-** तीस अहोरात्र का एक 'मास' होता है;
(९) ऋतु- दो मास की एक 'ऋतु' होती है; **(१०) अयन-** तीन ऋतुओं का एक 'अयन' होता है; और
(११) वर्ष- दो अयन का एक 'वर्ष' बनता है। यह सब व्यवहारकाल है। 'पल्योपम', 'सागरोपम' आदि भी व्यवहारकाल के भेद हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

अन्तर्मुहूर्त- मुहूर्त में से एक समय कम शेषकाल-प्रमाण को भिन्नमुहूर्त कहते हैं। भिन्नमुहूर्त काल में से भी एक समय कम शेष काल प्रमाण को 'अन्तर्मुहूर्त' कहते हैं; अथवा जो मुहूर्त के समीप हो, उसे 'अन्तर्मुहूर्त' कहते हैं।

पूर्व- ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष काल को 'पूर्व' कहते हैं। **सागर-** दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योपमकाल को 'सागर' कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, दूसरा अध्याय, पृष्ठ ३८)

–'समयकाल, घड़ीकाल, पाककला, इत्यादि कहिए हैं, सो यहु व्यवहारकाल मुख्यकाल (निश्चयकाल) का अस्तित्व कौ कहै हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६४)

–'**समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम्।**

व्यवहाराभिध: काल: स कालज्ञै: प्रपञ्चित:।। ३७।।'

अर्थ- जिस काल का परिमाण ज्योतिषी देवों के समूह के गमनागमन के आश्रय से समय आदि भेदरूप किया गया है, उसे काल के जाननेवाले विद्वानों ने व्यवहारकाल कहा है।

(श्रीज्ञानार्णव, सर्ग ६, गाथा ३७ व अर्थ, पृष्ठ ९२)

प्रश्न ४- व्यवहारकाल क्या है?

उत्तर- निश्चयकाल (कालाणु) की पर्याय का नाम ही व्यवहारकाल है।

–'उपर्युक्त समय, निमेषादि सब वास्तव में निश्चयकाल (कालद्रव्य) की ही पर्यायें हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ५- व्यवहारकाल के कितने भेद हैं?

उत्तर- व्यवहारकाल के दो प्रकार से भेद किये जाते हैं-

(क) (१) समय, और (२) आवली- दो भेद; और

(ख) (१) अतीत (भूत), (२) अनागत (भविष्य), और वर्तमान -तीन भेद।

–'**समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।**'

सारणी १० : व्यवहारकाल के भेद

व्यवहारकाल
- (क)
  - समय
  - आवली
- (ख)
  - अतीत
  - अनागत
  - वर्तमान
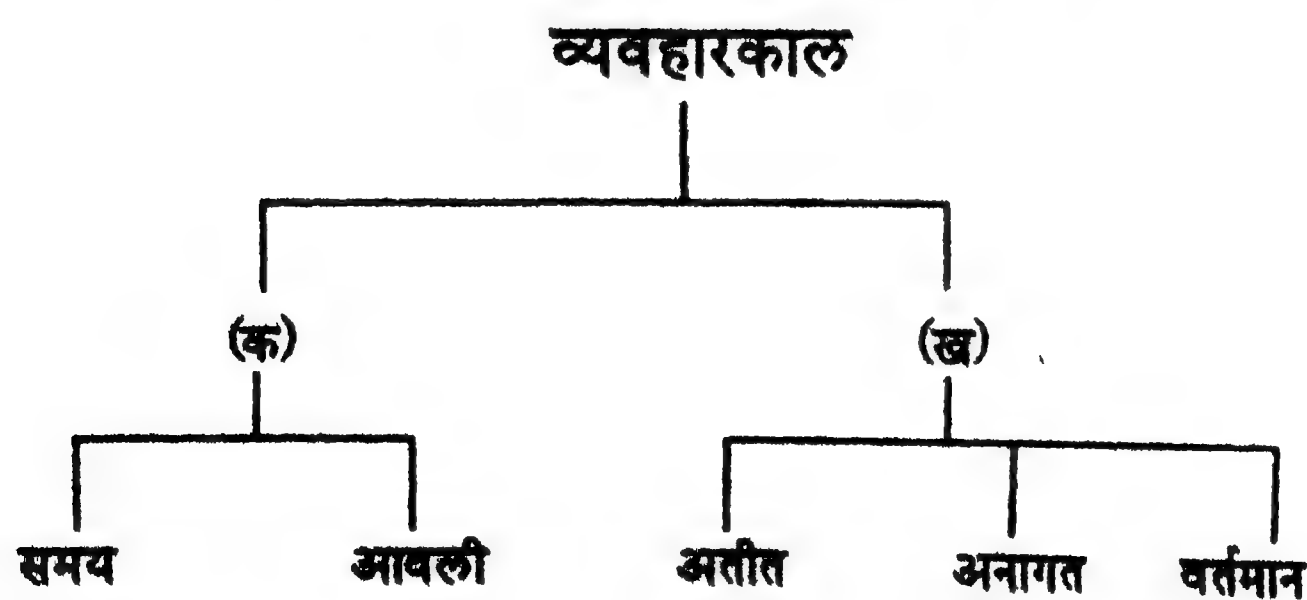
आधार–श्रीनियमसार, गाथा ३१, पृष्ठ ६५)

अन्वयार्थ- समय और आवली के भेद से व्यवहारकाल के दो भेद हैं, अथवा तीन भेद (भूत, भविष्य, वर्तमान) हैं।

(श्रीनियमसार, गाथा ३१ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६५)

-'ववहारो पुण तिविहो, तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु।'

अर्थ- बहुरि व्यवहारकाल तीन प्रकार के हैं, अतीत, अनागत, वर्तमान।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५७८ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६९)

प्रश्न ६- समय किसे कहते हैं?

उत्तर- एक आकाशप्रदेश से निकटवर्ती अन्य आकाशप्रदेश पर्यन्त मन्दगति से गमन करते हुए परमाणु के गमनकाल को समय कहते हैं। समय व्यवहारकाल का सबसे छोटा अंश है।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या ७९, पृष्ठ ३८)

प्रश्न ७- आवली किसे कहते है?

उत्तर- 'वर्तमान समय से लेकर एक आवली मात्र काल को आवली कहते हैं, तथा उतने काल सम्बन्धी निषेकों को भी आवली या उदयावली कहते हैं। असख्यात समय की एक आवली होती है।'

(श्रीलब्धिसार, पृष्ठ २८, आधार-धवलासार, पृष्ठ २७६)

प्रश्न ८- अतीत, वर्तमान, अनागतकाल किसे कहते हैं?

उत्तर- **अतीतकाल**- सिद्धराशी कौं संख्यात आवली करि गुणैं, जो प्रमाण होई, तितना जानना। (कुल सिद्धराशि को असंख्यात आवली से गुणा करने पर जो प्रमाण आये उसे अनादि से लगाकर अतीतकाल का परिमाण जानना)।

वर्तमानकाल- वर्तमानकाल एक समयमात्र जानना।

अनागतकाल- सर्व जीवराशी व सर्व पुद्‌गलराशी तैं भी अनन्तगुणा जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५७८-५७९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६९)

प्रश्न ९- 'समय' को व्यवहारकाल का सबसे छोटा अंश कहा है, लेकिन एक परमाणु एक समय में जितने कालाणुओं को स्पर्श कर सकता है, समय के उतने अंश होने चाहिए?

[यहाँ प्रश्न यह है कि जब पुद्‌गल-परमाणु शीघ्रगति के द्वारा एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर पहुँच जाता है; तब वह चौदह राजू तक आकाश के प्रदेशों में श्रेणीबद्ध जितने कालाणु हैं, उन सबको स्पर्श करता है। इसलिये असंख्यात कालाणुओं को स्पर्श करने से 'समय' के भी असंख्यात अंश होने चाहिए। **-श्रीप्रवचनसार, गाथा १३९ का भावार्थ, पृष्ठ २८७**]

उत्तर- समय के अंश नहीं हो सकते, क्योंकि समय निरंश है; 'जैसे, विशिष्ट अवगाहपरिणाम के कारण एक परमाणु के परिमाण (माप) के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध बनता है; तथापि

वह स्कन्ध परमाणु के अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि परमाणु निरंश है। उसी प्रकार; जैसे, एक कालाणु से व्याप्त एक आकाशप्रदेश के अतिक्रमण के माप के बराबर एक 'समय' में परमाणु विशिष्ट गतिपरिणाम के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है, तब (उस परमाणु द्वारा उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु समय के असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते क्योंकि समय निरंश है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३९ की टीका, पृष्ठ २८७)

प्रश्न १०- आगम (शास्त्रो) में कहा है कि 'जितने काल में परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है, उतने काल को समय कहते हैं'। यदि ऐसा है तो चौदह राजू गमन करता हुआ परमाणु जितने आकाश प्रदेशों को पार करता है, उतना समय लगना चाहिए।

उत्तर- 'शास्त्रों में परमाणु के एक आकाशप्रदेश से अन्य प्रदेश पर जाने के काल को 'समय' परमाणु की मन्दगति की अपेक्षा से कहा है और परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन (तीव्र गति से) करता है, तो भी एक समय ही होता है। यहाँ यह दृष्टांत है कि देवदत्त नामक कोई पुरुष मन्दगति से सौ दिनों में सौ योजन चलता है और वही पुरुष (देवदत्त) विद्या के प्रभाव से शीघ्रगति करके एक दिन में भी सौ योजन जाता है। तब शीघ्र गति के कारण उसे सौ योजन गमन में सौ दिन नहीं, एक ही दिन लगता है। उसी प्रकार चौदह राजू गमन में भी शीघ्रगमन के कारण परमाणु को (अपने विशिष्ठ गतिपरिणाम के कारण) एक ही समय लगता है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २२ की टीका, पृष्ठ ७६)

प्रश्न ११- व्यवहारकाल को पराश्रित क्यों कहा है?

उत्तर- समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी आदि वास्तव में कालद्रव्य की ही पर्यायें हैं, परन्तु वे परमाणु आदि द्वारा प्रगट होती हैं; अर्थात्, परपदार्थों द्वारा मापी जा सकती हैं; इसलिये उन्हें उपचार से पराश्रित कहा जाता है।

-'पर की अपेक्षा बिना; अर्थात्, परमाणु, आँख, सूर्य आदि पर पदार्थों की अपेक्षा बिना व्यवहारकाल का माप निश्चित करना अशक्य होने से, उसे '**पराश्रित**'[१] ऐसी उपमा दी जाती है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ की टीका, पृष्ठ ५१)

प्रश्न १२- व्यवहारकाल का लक्षण क्या है?

उत्तर- (१) परिणाम, (२) क्रिया, (३) परत्व, और (४) अपरत्व- ये चार व्यवहारकाल के

---

१. परमाणु के गमन के आश्रित 'समय' है; आँख मिचने के आश्रित 'निमेष' है; उसकी (निमेष की) अमुक संख्या से 'काष्ठा, 'कला', और घड़ी होती हैं; सूर्य के गमन के आश्रित 'अहोरात्र' होता है और उसकी (अहोरात्र की) संख्या से 'मास', 'ऋतु, 'अयन', और वर्ष होते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ की टीका, पृष्ठ ५०-५१)

लक्षण हैं और वर्तना निश्चयकाल का लक्षण है।

-**'वर्तनापरिणामक्रिया: परत्वापरत्वे च कालस्य।। २२।।'**

अर्थ- वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, और अपरत्व- ये कालद्रव्य के उपकार हैं। यहाँ उपकार का अर्थ निमित्तमात्र है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २२ व अर्थ, पृष्ठ ३४३)

-'अपने अपने पर्यायरूप परिणमैं है; यातैं परिणमनरूप जो क्रिया, ताकों परत्व अर अपरत्व जो आगैं पीछैंपना, सो काल का उपकार है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६४)

प्रश्न १३- परिणाम, क्रिया, परत्व, और अपरत्व का संक्षिप्तस्वरूप क्या है?

उत्तर- परिणाम, क्रिया, परत्व, और अपरत्व का संक्षिप्तस्वरूप निम्न प्रकार है-

१. **परिणाम**- द्रव्य का अपने स्वभाव को छोड़े बिना पर्यायरूप से पलटना (परिणमन करना) परिणाम है। जीव के उपशमादि पाँच भावरूप परिणाम हैं और पुद्गल के वर्णादिक तथा घटादिक अनेकरूप परिणाम हैं। द्रव्य की पर्याय (परिणति) को परिणाम कहते हैं।

२. **क्रिया**- एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र को गमन करना क्रिया है। क्रिया (गमनागमन) केवल जीव और पुद्गल द्रव्यों के ही होती है; शेष चार द्रव्यों (धर्म, अधर्म, आकाश, और काल) के नहीं होती है।

३. **परत्व**- जिसे बहुत समय लगे, उसे परत्व कहते हैं।

४. **अपरत्व**- जिसे थोड़ा समय लगे, उसे अपरत्व कहते हैं।

[इन सभी कार्यों का निमित्तकारण कालद्रव्य है।]

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ३४३)

प्रश्न १४- वर्तना किसे कहते हैं?

उत्तर- वर्तना निश्चयकाल का लक्षण है।

-'सर्व द्रव्य अपने अपने उपादानकारण से अपनी पर्याय के उत्पादरूप वर्तते हैं। उसमें बाह्य निमित्तकारण कालद्रव्य है; इसलिये वर्तना काल का लक्षण या उपकार कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ३४३)

-'जो वर्तै वा वर्तन मात्र होइ, ताकौ वर्तना कहिए।............बहुरि षट् द्रव्य की वर्तना कौ कारण मुख्य काल है। वर्तना गुण द्रव्य समूह विषैं ही पाइए है; ऐसैं होतैं काल का आधार करि सर्व द्रव्य प्रवर्तैं हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६३-६६४)

प्रश्न १५- परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व- ये चार वर्तना के भेद हैं; इसलिये इन भेदों

का क्या प्रयोजन है?

उत्तर- काल दो तरह का है- निश्चयकाल और व्यवहारकाल। उसमें वर्तना तो निश्चयकाल का लक्षण है; और परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व- ये चार व्यवहारकाल के लक्षण हैं। निश्चय और व्यवहारकाल के लक्षणों को भिन्न-भिन्न बतलाना ही इन भेदों का प्रयोजन है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ३४४)

प्रश्न १६- कालाणुओं (कालद्रव्य) की संख्या कितनी है?

उत्तर- कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की भाँति एक-एक जड़े हुए हैं।

-**'लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।**
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि।। २२।।'

गाथार्थ- जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भाँति भिन्न-भिन्नरूप से एक-एक स्थित हैं, वे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २२ व गाथार्थ, पृष्ठ ७३)

-'कालद्रव्यों की संख्या असंख्यात है। वे रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक्, लोक के समस्त प्रदेशों पर स्थित हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३९ की टीका, पृष्ठ ३७१)

-**'लोगपदेसप्पमा कालो' -अर्थ**- बहुरि जेते लोकाकाश के प्रदेश हैं, तितने कालाणु हैं। तथा,

-'लोकाकाश का एक-एक प्रदेश विषैं जे एक-एक तिष्ठैं हैं; जैसें, रत्ननि की राशी भिन्न-भिन्न तिष्ठैं, तैसैं जे भिन्न-भिन्न तिष्ठैं हैं, ते कालाणू जानने।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८८ व ५८९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७३-६७४)

[श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह की गाथा २२; एवं श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड की गाथा ५८९ मूलरूप से एक ही है।]

प्रश्न १७- व्यवहारकाल की सख्या कितनी हैं?

उत्तर- जीव अनन्त, जीव से अनन्तगुणा पुद्गल, और पुद्गल से अनन्तगुणा तीन काल (भूत-वर्तमान-भविष्य) के समय। 'समय' व्यवहारकाल का सबसे छोटा अंश होने से, व्यवहारकाल की सख्या तीनकाल के समयों के बराबर है।

-**'ववहारो पुण कालो, पोग्गलदव्वादणंतगुणमेत्तो।**
तत्तो अणंतगुणिदा, आगासपदेसपरिसंखा।। ५९०।।'

टीका- बहुरि व्यवहारकाल पुद्‌गलद्रव्य तैं अनन्तगुणा समयरूप जानना। बहुरि तिनि तैं अनन्तगुणी सर्व आकाश के प्रदेशनि की संख्या जाननी।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५९० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७४)

-**'सोऽनन्तसमय:॥ ४०॥'** -**अर्थ-** वह कालद्रव्य (व्यवहारकाल) अनन्त समयवाला है। काल की पर्याय वह समय है। यद्यपि वर्तमानकाल एक समयमात्र ही है, तथापि भूत-भविष्य की अपेक्षा से उसके अनन्त समय हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ४० एवं अर्थ, पृष्ठ ३७१)

प्रश्न १८- क्या एक कालाणु को 'अनन्त' कहा जा सकता है?

उत्तर- हॉ! कहा जा सकता है। एक समय में अनन्त पदार्थों (छः द्रव्यों) की पर्यायें (परिणति) सख्या मे अनन्त होती हैं। उन पर्यायों में एक कालाणु की पर्याय निमित्त होती है। इस अपेक्षा से एक कालाणु को उपचार से 'अनन्त' कहा जाता है। मुख्य; अर्थात्, निश्चयकालाणु द्रव्य की संख्या असंख्यात है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ४० की टीका, पृष्ठ ३७२)

प्रश्न १९- कालद्रव्य किस द्रव्य के परिणमन में सहकारीकारण (निमित्तकारण) होता है?

उत्तर- कालद्रव्य सभी द्रव्यों (छ: द्रव्यों) के परिणमन में सहकारीकारण (निमित्तकारण) होता है।

-'बहुरि षट् द्रव्य की वर्तना कौं कारण (निमित्त) मुख्य काल है। वर्तनागुण द्रव्यसमूह विषैं ही पाइए है; अैसैं होतैं काल का आधार करि सर्व द्रव्य प्रवर्तैं हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६४)

प्रश्न २०- कालद्रव्य के अपने परिणमन में सहकारीकारण कौन है?

उत्तर- जिस प्रकार आकाशद्रव्य अन्य सब द्रव्यों का आधार है और अपना भी आधार है, उसी प्रकार कालद्रव्य भी अन्य द्रव्यों के परिणमन में सहकारीकारण है और अपने परिणमन मे भी सहकारीकारण है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

प्रश्न २१- जिस प्रकार कालद्रव्य अपने परिणमन में उपादानकारण है और सहकारीकारण भी है; उसी प्रकार शेष सभी द्रव्य भी अपने-अपने परिणमन में उपादान और सहकारीकारण होवे, (तब) उन द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य का क्या प्रयोजन है?

उत्तर- ऐसा नहीं है। यदि अपने से भिन्न सहकारी (निमित्त) कारण का प्रयोजन न हो, तो सर्वद्रव्यों के सामान्य गति, स्थिति, और अवगाहन के विषय में सहकारी कारणभूत धर्म, अधर्म, और आकाशद्रव्य का भी कोई प्रयोजन न रहे। तथा कालद्रव्य का समय, घड़ी, दिवस आदि कार्य तो

प्रत्यक्षरूप से दिखायी पड़ता है; परन्तु धर्म, अधर्म, आकाशद्रव्य का कोई कार्य प्रत्यक्षरूप से दिखायी नहीं देता। मात्र आगम कथन ही है। अत: कालद्रव्य की भाँति उनका भी अभाव प्राप्त होगा। तत्पश्चात् जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य रहते हैं (विश्‍व में शेष रहेंगे) और ऐसा मानना तो आगम से विरुद्ध है। तथा जिस प्रकार घ्राण इन्द्रिय से रसास्वाद नहीं हो सकता है, उसी प्रकार अन्य द्रव्य का गुण अन्य द्रव्य द्वारा नहीं हो सकता है क्योंकि ऐसा मानने से **द्रव्यसङ्करूप दोष**[1] का प्रसङ्ग आता है। अत: सर्व द्रव्यों के परिणमन में सहकारी होना कालद्रव्य का ही गुण है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

प्रश्‍न २२- पुद्गल परमाणु की गति में सहकारीकारण धर्मद्रव्य है, वहाँ कालद्रव्य का क्या प्रयोजन है?

उत्तर- एक कार्य में अनेक सहकारीकारण (निमित्तकारण) होते हैं। अत: पुद्गलों (परमाणु व स्कन्ध दोनों) की गति में धर्मद्रव्य के साथ-साथ कालद्रव्य भी सहकारीकारण है।

-'गति मे सहकारीकारण धर्मद्रव्य विद्यमान होनेपर भी मछली को गति करने मे जल की भाँति और मनुष्यों को शकटआरोहण (घुड़सवारी) आदि की भाँति अन्य भी बहुत से सहकारीकारण होते हैं।..............श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पञ्चास्तिकायप्राभृत मे कहा है कि-' **"पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु"** इसका अर्थ कहा जाता है- धर्मद्रव्य विद्यमान होनेपर भी जीवों को गति में कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल सहकारीकारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन दो भेदवाले पुद्गलों को गमन में कालद्रव्य सहकारीकारण होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २५ की टीका, पृष्ठ ८२)

प्रश्‍न २३- लोकाकाश के बाह्य भाग मे (अलोकाकाश में) कालद्रव्य का अभाव होने से वहाँ आकाशद्रव्य का परिणमन किस प्रकार होता है?

उत्तर- आकाश के एक अखण्डद्रव्य होने के कारण कालद्रव्य के लोकाकाश में ही रहने पर भी सम्पूर्ण आकाशद्रव्य मे परिणमन होता है।

-'आकाश अखण्डद्रव्य होने से, जिस प्रकार कुम्हार के चाक के एक भाग में लकड़ी की प्रेरणा करने पर पूरा चाक भ्रमण करता (घूमता) है, तथा स्पर्शेन्द्रिय के विषय का एक भाग मे मनोहर अनुभव करने से समस्त शरीर में सुख का अनुभव होता है; उसी प्रकार (आकाश के एक अखण्डद्रव्य होने से), लोकाकाश में रहे हुए कालद्रव्य आकाश के एक भाग में स्थित होनेपर भी

---

१. **द्रव्यसङ्करूप दोष**- एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यरूप हो जाना (मानना) द्रव्यसङ्करदोष है। (जो अनेक द्रव्यों के एकरूपता को प्राप्ति है, सो सङ्करदोष है) **'सर्वेषाम् युगपत्प्राप्ति सङ्करः'**

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ३६३)

सम्पूर्ण आकाश में परिणमन होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २२ की टीका, पृष्ठ ७४)

-'जिस प्रकार लटकती हुई लम्बी डोरी को, लम्बे बाँस को, या कुम्हार के चाक को एक ही स्थान पर स्पर्श करने पर भी सर्वत्र चलन होता है; (तथा) जिस प्रकार मनोज्ञ स्पर्शनेन्द्रियविषय का अथवा रसनेन्द्रियविषय का शरीर के एक ही भाग में स्पर्श होनेपर भी सम्पूर्ण आत्मा में सुखानुभव होता है; और जिस प्रकार सर्पदंश या व्रण (घाव) आदि शरीर के एक ही भाग में होनेपर भी सम्पूर्ण आत्मा में दु:खवेदना होती है, उसी प्रकार कालद्रव्य लोकाकाश में ही होनेपर भी सारे आकाश में परिणति होती है, क्योकि आकाश अखण्ड एक द्रव्य है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २४ की टीका, पृष्ठ ५०)

प्रश्न २४- क्या कालद्रव्य सभी द्रव्यों को परिणमाता है?

उत्तर- नहीं! सभी द्रव्य अपने-अपने उपादानकारण (उस समय की योग्यता) से अपनी-अपनी अवस्थारूप स्वयं परिणमते है। कालद्रव्य उनके परिणमन में सहकारीकारण (निमित्तकारण) मात्र होता है।

-'जिस प्रकार शीत ऋतु में स्वयं अध्ययन क्रिया करते हुए पुरुष को अग्नि सहकारी है, और जिस प्रकार स्वयं घूमने की क्रिया करते हुए कुम्हार के चाक को नीचे की कीली सहकारी है, उसी प्रकार निश्चय से स्वयमेव परिणाम को प्राप्त जीव-पुद्गलादि द्रव्यों को (व्यवहार से) कालाणुरूप निश्चयकाल, बहिरङ्ग निमित्त है।' तथा,

-'यहाँ यह बात मुख्यत: ध्यान में रखनी चाहिए कि कालद्रव्य किसी द्रव्य को परिणमित नही करता। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता से स्वयमेव परिणमित होनेवाले द्रव्यों को वह बाह्य निमित्तमात्र है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २४ का भावार्थ, पृष्ठ ४९-५०)

-'उपादान कार्यरूप परिणमित हो, तो काल निमित्त कहलाता है; यदि परिणमित न हो, तो (निमित्त भी) नहीं कहलाता।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा २१ का भावार्थ, पृष्ठ ६०)

-'इहां निमित्तमात्र वस्तु कौं हेतु का कर्ता कहिए है; जैसैं, शीतकाल विषैं शीत करि शिष्य पढ़ने कौं समर्थ न भए; तहां करीषा (कन्डे, तिनके आदि) के अग्नि का निमित्त भया। तब वे पढ़ने लग गए। तहां निमित्तमात्र देखि अैसा कहिए जो करीषा की अग्नि शिष्यनि कौं पढ़ावै है; सो करीषा की अग्नि आप पढ़नेरूप क्रियावान न हो है। तिनिके (शिष्य के) पढ़ने कौं निमित्तमात्र है। तैसैं काल आप क्रियावान न हो है। काल के निमित्त तै वे (जीवादि द्रव्य) स्वयमेव परिणवै हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६४)

–'ण य परिणमदि सयं सो, ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं।

विविहपरिणामियाणं, हवदि हु कालो सयं हेदू।। ५७०।।'

टीका– सो कालसंक्रम जो पलटना, ताका विधान करि अपने गुणनि करि परद्रव्यरूप होइ नाहीं परिणवै है। बहुरि परद्रव्य के गुणनि कौं अपने विषैं नाहीं परिणमावैं है। बहुरि हेतुकर्ता (निमित्तकर्ता) प्रेरक होइकरि भी अन्य द्रव्य कौं अन्य गुणनि करि सहित नाहीं परिणमावैं है। तौ नानाप्रकार परिणमनि कौं धरैं जे द्रव्य स्वयमेव परिणमें हैं, तिनकौं उदासीन सहज निमित्तमात्र हो है; जैसैं, मनुष्य के प्रभात संबंधी क्रिया कौं प्रभातकाल कारण है। क्रियारूप तौ स्वमेव मनुष्य ही प्रवर्तैं हैं, परन्तु तिनिकौं निमित्तमात्र प्रभात का काल हो है, तैंसे जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५७० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६५)

प्रश्न २५– कालद्रव्य का क्षेत्र कितना है?

उत्तर– कालद्रव्य एकप्रदेशी है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य (कालाणु) पृथक्-पृथक् रत्नों की राशि के समान ध्रुवरूप रहते हैं।

–'बहुरि कालाणु एक-एक लोकाकाश का प्रदेश विषैं एक-एक पाइए है, सो ध्रुवरूप है, भिन्न-भिन्न सत्त्व धरैं है, तातैं तिनिका (कालद्रव्य का) क्षेत्र एक-एक प्रदेशी है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७२)

प्रश्न २६– कालद्रव्य के एकप्रदेशी होने की सिद्धि कैसे होती है?

उत्तर– कार्य मे जो अनुकूल हो, वो निमित्तकारण होता है। कालद्रव्य सभी द्रव्यो के परिणमन में निमित्तकारण है। सबसे छोटा द्रव्य एक रजकण (पुद्गल परमाणु) है; उसके परिणमन मे अनुकूल निमित्त भी एक रजकण बराबर होना चाहिए। अत: यह सिद्ध होता है कि कालाणु एकप्रदेशी है।

(आधार–श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, उपसंहार, पृष्ठ ३८५)

प्रश्न २७– कालद्रव्य को असंख्यातप्रदेशी मानने में क्या दोष आता है?

उत्तर– एकप्रदेशी कालद्रव्य से ही पर्यायसमय (काल का सबसे छोटा अंश) की सिद्धि होती है। कालद्रव्य को असंख्यातप्रदेशी मानने से पर्यायसमय की सिद्धि नहीं होगी।

–'ऐसा हो तो (कालद्रव्य असंख्यात प्रदेशी हो तो) पर्यायसमय प्रसिद्ध नहीं होता; इसलिये असंख्यप्रदेशी (कालद्रव्य को) मानना योग्य नहीं है। परमाणु के द्वारा प्रदेशमात्र द्रव्यसमय का उल्लंघन करने पर (अर्थात् परमाणु के द्वारा एकप्रदेशमात्र कालाणु से निकट के दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मन्दगति से गमन करने पर) पर्यायसमय प्रसिद्ध होता है। यदि द्रव्यसमय (कालद्रव्य) लोकाकाश तुल्य असंख्यप्रदेशी हो, तो पर्यायसमय की सिद्धि कहाँ से होगी? अर्थात् नहीं होगी।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १४४ की टीका, पृष्ठ २९८-२९९)

प्रश्न २८- क्या कालद्रव्य को पर्याय अपेक्षा से अनेकप्रदेशी (बहुप्रदेशी) माना जा सकता है?

उत्तर- नहीं! कालद्रव्य पर्याय अपेक्षा से भी एकप्रदेशी ही है।

-'जब पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता है, तब उस प्रदेश में रहनेवाला कालाणु उसमें निमित्तभूतरूप से रहता है। इस प्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गल परमाणु के एकप्रदेश तक के गमन पर्यन्त ही सहकारीरूप से रहता है; अधिक नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य पर्याय से भी अनेकप्रदेशी नहीं है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३८ का भावार्थ, पृष्ठ २८४-२८५)

प्रश्न २९- अस्तिकाय किसे कहते हैं?

उत्तर- बहुप्रदेशी द्रव्यो को अस्तिकाय कहते हैं।

-'**द्वि-आदि**[1] प्रदेश जिसका लक्षण, ऐसा अस्तिकायपना है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०२ की टीका, पृष्ठ १५६)

प्रश्न ३०- कालद्रव्य को अस्तिकायपना क्यों नहीं है?

उत्तर- एकप्रदेशी होने के कारण कालद्रव्य को अस्तिकायपना नहीं है।

-'कालाणुओ को, यद्यपि उनकी सख्या लोकाकाश के प्रदेशों जितनी (असंख्य) है, तथापि एकप्रदेशीपने के कारण अस्तिकायपना नहीं है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०२ की टीका, पृष्ठ १५६)

-'काल को प्रदेशप्रचयात्मकपने (प्रदेशों के समूहपने) का अभाव होने से वह वास्तव में अस्तिकाय नहीं है, ऐसा सामर्थ्य से निश्चित होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २२ की टीका, पृष्ठ ४७)

-'यहाँ (विश्व में) काल द्वितीयादि प्रदेशरहित (अर्थात् एक से अधिक प्रदेशरहित) है, क्योंकि '**समओ अप्पदेसो**', (काल अप्रदेशी है)- ऐसा शास्त्र का वचन है।' तथा,

-'कालद्रव्य को अस्तित्व ही है; कायत्व नहीं है, क्योंकि काय की भाँति उसे बहुप्रदेशों का अभाव है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३४ की टीका, पृष्ठ ७१ व ७२)

-'**कालस्यैकप्रदेशो भवति, अत: कारणादस्य कायत्वं न भवति अपि तु द्रव्यत्वमस्त्येवेति**'

अर्थ- काल को एकप्रदेश है। उस कारण से उसे कायत्व नहीं है, परन्तु द्रव्यत्व है ही।

(श्रीनियमसार, गाथा ३६ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ ७४)

---

१. **द्वि-आदि**- दो या अधिक; दो से लेकर अनन्त तक।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०२, पृष्ठ १५६ की पादटिप्पणी)

–**'कालस्सेगो ण तेण सो काओ'** –**अर्थ**– कालाणु को एक ही प्रदेश है। इस कारण वह काय नहीं है।

(श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा २५ की टीका, पृष्ठ ८१)

–'कालद्रव्य को, बहुप्रदेश जिसका लक्षण है, ऐसे कायत्व का अभाव होने से वह अप्रदेश है।'

(श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, षड्द्रव्य पञ्चास्तिकाय अधिकार की चूलिका, पृष्ठ ८८)

–**'कालस्य प्रदेशाः इति न सन्ति'** –**अन्वयार्थ**– काल के प्रदेश नहीं है।

टीका– कालाणु प्रदेशमात्र (एकप्रदेशी) होने से अप्रदेशी है।.............कालाणु तो द्रव्य से प्रदेशमात्र होने से, और पर्याय से परस्पर सम्पर्क न होने से अप्रदेशी ही है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३५ का अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ २७८–२७९)

प्रश्न ३१– परमाणु एकप्रदेशी होनेपर भी अस्तिकाय कैसे है?

उत्तर– पुद्गल परमाणु के एकप्रदेशी होनेपर भी उसमें स्कन्धरूप होकर बहुप्रदेशी होने की शक्ति है; इस कारण उसे उपचार से अस्तिकाय कहा जाता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ३०, पृष्ठ ६–७)

–**'एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।**
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु।। २६।।'

अर्थ– एकप्रदेशी (होनेपर) भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुप्रदेशी हो सकता है। इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से परमाणु को 'काय' कहते हैं।

(श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा २६ एवं गाथार्थ, पृष्ठ ८३)

प्रश्न ३२– कालद्रव्य स्कन्धरूप क्यों नहीं होता?

उत्तर– कालद्रव्य में स्पर्शगुण नहीं है; इसलिये एक कालाणु दूसरे के साथ मिलकर स्कन्धरूप नहीं होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३९ की टीका, पृष्ठ ३७१)

–'स्निग्ध–रूक्षत्व (स्पर्शगुण की पर्यायें) जिसका कारण है, ऐसे बन्ध का (काल में) अभाव होने से वैसा नहीं होता..........,क्योंकि स्निग्ध–रूक्षत्व पुद्गल का ही धर्म है।'

(श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा २६ की टीका, पृष्ठ ८४)

–'वे कालाणु स्निग्ध–रूक्षगुण के अभाव के कारण रत्नों की राशि की भाँति पृथक्–पृथक् ही रहते हैं; पुद्गल परमाणुओं की भाँति परस्पर मिलते नहीं हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३८ का भावार्थ, पृष्ठ २८४)

प्रश्न ३३– अस्तिकाय न होनेपर भी काल की द्रव्य संज्ञा क्यों है?

उत्तर- द्रव्य के लक्षणों की विद्यमानता के कारण अस्तिकाय न होनेपर भी काल को द्रव्यसंज्ञा प्राप्त है।

-'जिस प्रकार वास्तव में जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, और आकाश को द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से वे "द्रव्य" संज्ञा को प्राप्त करते हैं; उसी प्रकार काल भी (उसमें द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से) "द्रव्य" संज्ञा को प्राप्त करता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०२ की टीका, पृष्ठ १५६)

प्रश्न ३४- 'अणु' संज्ञा तो पुद्‌गल की है। काल को अणु संज्ञा किस प्रकार है?

उत्तर- अणु का वास्तविक अर्थ सूक्ष्म है। कालद्रव्य भी पुद्‌गल परमाणु की ही भाँति एकप्रदेशी, अविभागी होने के कारण अतिसूक्ष्म होने से 'अणु' संज्ञा प्राप्त कर कालाणु कहलाता है।

-'वास्तविकरूप से "अणु" शब्द सूक्ष्मता का वाचक है; जैसे, परमपने अर्थात् प्रकृष्टपने जो अणु है, वह "परमाणु" (परम + अणु) है। "अणु" का अर्थ "सूक्ष्म"- इस व्युत्पत्ति से "परमाणु" शब्द "अतिसूक्ष्म" को कहता है और वह सूक्ष्मतावाचक "अणु" शब्द निर्विभाग पुद्‌गल की विविक्षा मे "परमाणु" को और अविभागी कालद्रव्य की विविक्षा में "कालाणु" को कहता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २६ की टीका, पृष्ठ ८४)

प्रश्न ३५- कालद्रव्य की विशेषताएँ क्या हैं?

उत्तर- कालद्रव्य एकप्रदेशी, अरूपी, अमूर्तिक, नित्य, अवस्थित, और निष्क्रिय है। अस्ति है, लेकिन काय नहीं है और परिणमनहेतुत्ववाला है।

-'**ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य।**
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति।। २४।।'

अन्वयार्थ- काल पाँच वर्ण, पाँच रसरहित, दो गन्ध, और आठ स्पर्शरहित, अगुरूलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षणवाला है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४९)

-'प्रत्येक कालाणु जड़, एकप्रदेशी, और अमूर्तिक है। उसनें स्पर्शगुण नहीं है; इसलिये एक दूसरे के साथ (दूसरे कालाणु के साथ) मिलकर स्कन्धरूप नहीं होता। काल में किसी भी अपेक्षा प्रदेश-समूह की कल्पना नहीं हो सकती; इसलिये अकाय है, निष्क्रिय है; अर्थात्, एकप्रदेश से दूसरे प्रदेश में नहीं जाता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३९ की टीका, पृष्ठ ३७१)

-'बहुत कहने से क्या? जो अनादिनिधन है, अमूर्त है, नित्य है, समयादि के उपादानकारणभूत होनेपर भी समयादि के भेदरहित है; वह कालाणु द्रव्यरूप निश्चयकाल है और जो

सादिसान्त है; समय, निमिष, घड़ी, प्रहर आदि विवक्षित व्यवहारनय के भेदरूप है, वही द्रव्यकाल की पर्यायरूप व्यवहारकाल है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ टीका, पृष्ठ ७२)

–'बहुरि कालाणू एक-एक लोकाकाश का प्रदेश विषैं एक-एक पाइए है, सो ध्रुवरूप है; भिन्न-भिन्न सत्व धरै है, तातैं तिनका क्षेत्र एक-एक प्रदेशी है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७२)

प्रश्न ३६- कालद्रव्य की विद्यमानता की सिद्धि कैसे होती है?

उत्तर- प्रत्येक कार्य के दो कारण अवश्य होते हैं- उपादानकारण, और निमित्तकारण। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन का उपादानकारण द्रव्य स्वयं; अर्थात्, द्रव्य अपने परिणमन स्वभाव की उस समय की योग्यता से ही परिणमन करता है, लेकिन उस परिणमन में कोई बाह्य निमित्तकारण भी अवश्य होना चाहिए। वह निमित्तकारण परिणमनहेतुत्वगुणवाला कालद्रव्य है। इस प्रकार कालद्रव्य की विद्यमानता की सिद्धि होती है।

–'जीव-पुद्गलों के उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक परिणाम; अर्थात्, उसकी समयविशिष्टवृत्ति (उस समय की योग्यतारूप परिणमन) समय को उत्पन्न करनेवाले किसी पदार्थ के बिना नही हो सकती। जिस प्रकार आकाश बिना द्रव्य अवगाहन प्राप्त नहीं कर सकते, उसी प्रकार निश्चयकाल (कालाणु) बिना द्रव्य परिणाम को प्राप्त नहीं हो सकते। इस प्रकार निश्चयकाल के अस्तित्व बिना (निमित्तभूत कालद्रव्य के सद्भाव के अभाव में) अन्य किसी प्रकार जीव-पुद्गल के परिणाम नहीं बन सकते; इसलिये "निश्चयकाल विद्यमान है"- ऐसा निश्चित होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २३, पृष्ठ ४८ की पादटिप्पणी)

–'**वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत्।**
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत्॥ ४८॥'

श्लोकार्थ- कुम्हार के चक्र की भाँति यह परमार्थकाल (पाँच अस्तिकायों की) वर्तना का निमित्त है। उसके बिना पाँच अस्तिकायों को वर्तना नहीं हो सकती।

(श्रीनियमसार, श्लोक ४८ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ६९)

–'द्रव्य कायम रहकर एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्थारूप से होता है, उसे वर्तना कहते हैं। इस वर्तना में उस द्रव्य की निज शक्ति उपादानकारण है, क्योंकि यदि निज में वह शक्ति न हो, तो स्वयं न परिणमे। किसी भी कार्य के लिये दो कारण स्वतन्त्ररूप से होते हैं; इसलिए (द्रव्यों की प्रतिसमय की वर्तना के लिए) निमित्तकारण संयोगरूप से होना चाहिए। अतः उस वर्तना में जो वस्तु निमित्तरूप है, उस वस्तु को ही कालद्रव्य कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, उपसंहार, पृष्ठ ३८५)

प्रश्न ३७- कालद्रव्य को न मानें तो क्या दोष आता है?

उत्तर- परमागम श्रीनियमसार की टीका करते हुए श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव ने इस प्रश्न के उत्तर में 'मार्गप्रकाश' नामक ग्रन्थ के एक श्लोक को उद्धृत किया है-

-'कालाभावे न भावानां परिणामस्तदंतरात्।
न द्रव्यं नापि पर्य्यायः सर्वाभावः प्रसज्यते॥'

श्लोकार्थ- काल के अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं होगा और परिणमन न हो, तो द्रव्य भी न होगा तथा पर्याय भी न होगी। इस प्रकार सर्व के अभाव का (शून्य का) प्रसङ्ग आयेगा।

(श्रीनियमसार, गाथा ३२ की संस्कृत टीका में उद्धृत श्लोक व श्लोकार्थ, पृष्ठ ६९)

प्रश्न ३८- 'जीव काललब्धि के वश अनन्त सुख का भाजन होता है'- शास्त्रों में जहाँ ऐसा कथन हो, वहाँ क्या अर्थ करना चाहिए?

उत्तर- यह कथन कालद्रव्य के निमित्तत्व की सिद्धि करने के लिये होता है। जीव-पुद्गल के परिणाम बहिरङ्ग द्रव्यभूत द्रव्यकाल के सद्भाव में उत्पन्न होते हैं; इसलिये वे द्रव्यकाल से उत्पन्न कहे जाते हैं। अतः इसका अर्थ- 'ऐसा है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा से उपचार किया है'- करना चाहिए।

(आधार-श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा २१ का भावार्थ, पृष्ठ ६०)

प्रश्न ३९- काललब्धि का क्या तात्पर्य है?

उत्तर- जिस समय कार्य होता है, उस समय (काल) को काललब्धि कहते हैं।

-'काललब्धि तो कोई वस्तु नहीं है; जिस काल में कार्य बनता है, वही काललब्धि है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०९)

प्रश्न ४०- काल नित्य है अथवा अनित्य?

उत्तर- द्रव्य अपेक्षा नित्य है और पर्याय अपेक्षा अनित्य है।

-'व्यवहारकाल **क्षणभङ्गी**[1] है क्योंकि सूक्ष्मपर्यायमात्र उतनी (समयमात्र जितनी) ही है। निश्चयकाल (कालाणु) नित्य है, क्योंकि वह अपने गुण-पर्यायों के आधारभूत द्रव्यरूप से सदैव अविनाशी है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०० की टीका, पृष्ठ १५४)

-'यह काल है, यह काल है- ऐसा करके जिस द्रव्यविशेष का सदैव व्यपदेश (कथन) किया जाता है, वह (निश्चयकालरूप द्रव्यविशेष) सचमुच अपने सद्भाव को प्रगट करता हुआ नित्य है और जो उत्पन्न होते ही नष्ट होता है, वह (व्यवहारकाल) सचमुच उसी द्रव्यविशेष की "समय"

१. **क्षणभङ्गी-** प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला; प्रतिसमय जिसका ध्वंस होता है ऐसा; क्षणभँगुर; क्षणिक।
(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १००, पृष्ठ १५४ की पादटिप्पणी)

नामक पर्याय है।..........इस प्रकार यहाँ ऐसा कहा है कि निश्चयकाल द्रव्यरूप होने से नित्य है; व्यवहारकाल पर्यायरूप होने से क्षणिक है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०१ की टीका से)

प्रश्न ४१- श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह नामक ग्रन्थ में काल का कथन मुख्यरूप से क्यों नहीं है?

उत्तर- श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह नामक शास्त्र में काल के एकप्रदेशी होने से अस्तिकाय न होने के कारण मुख्यरूप से काल का कथन नहीं किया गया है।

(आधार-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०२ की टीका, पृष्ठ १५६)

-'इस ग्रन्थ में जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के परिणामों का वर्णन करते हुए उन परिणामों द्वारा जिसके परिणाम ज्ञात होते हैं (मापे जाते हैं), उस पदार्थ का (काल का), तथा उन परिणामों (जीव पुद्गल के परिणामों)की **अन्यथा अनुपपत्ति**[1] द्वारा जिसका अनुमान होता है; उस पदार्थ का (काल का) गौणरूप से वर्णन करना उचित है। ऐसा मानकर श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह नामक ग्रन्थ में पञ्चास्तिकाय के प्रकरण में गौणरूप से काल के वर्णन का समावेश किया गया है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०२, पृष्ठ १५६-१५७ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ४२- कालद्रव्य को जानने का क्या लाभ है?

उत्तर- काल एक स्वतन्त्र द्रव्य है। काल मोक्षमार्ग और मोक्षप्राप्ति में साधक अथवा बाधक नहीं है। ऐसा जानकर अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेकर मोक्षमार्ग (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होना ही कालद्रव्य को जानने का सच्चा लाभ है।

-'शुद्ध एक निज निरूपम तत्त्व को छोड़कर उस काल से मुझे कोई फल नहीं है।'

(श्रीनियमसार, श्लोक ४७ का श्लोकार्थ, पृष्ठ ६७)

-'वही; अर्थात्, निश्चयसम्यक्त्व ही तीनोंकाल में मुक्ति का कारण है। उसके (सम्यक्त्व के) अभाव में काल तो सहकारीकारण भी नहीं होता; अत: वह हेय है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २२ की टीका, पृष्ठ ७७)

प्रश्न ४३- 'पञ्चमकाल में मुक्ति नहीं होती'। शास्त्रों के इस कथन का क्या आशय है?

उत्तर- वास्तव में कोई भी काल मुक्ति में बाधक अथवा साधक नहीं है। शास्त्रों के उक्त कथन का आशय है कि भरतक्षेत्र का जीव इस काल में (पञ्चमकाल में) तीव्र पुरुषार्थ के अभाव में **मोहमुक्तमुक्ति**[2], **जीवनमुक्ति**[3] अथवा **विदेहमुक्ति**[4] नहीं प्राप्त कर सकेगा। लेकिन दृष्टिमुक्ति प्राप्त कर

---

१. **अन्यथा अनुपपत्ति-** अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकना।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २३, पृष्ठ ४८ की पादटिप्पणी)

२. **मोहमुक्तमुक्ति-** बारहवाँ गुणस्थान; मोह का पूर्ण अभाव।

३. **जीवनमुक्ति-** तेरहवाँ गुणस्थान; अरहन्तदशा।

४. **विदेहमुक्ति-** सिद्धदशा।

सकता है। तीव्र पुरुषार्थ का अभाव जीव का अपना दोष है; काल का नहीं। शास्त्रों में इसी काल (पञ्चमकाल) में मुनि जम्बूकुमार आदि के मोक्ष जाने का उल्लेख है। साथ ही विदेहक्षेत्र के मुनि को, यदि कोई पूर्वभव का बैरी इस भरतक्षेत्र में ले आये, तो वह मुनि उग्र पुरुषार्थ के बल से यहाँ से भी इसी पञ्चमकाल में मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति में दोष काल का नहीं, बल्कि स्वयं का है।

–'कौन कहता है कि पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र से मुक्ति नहीं है? आज भी यदि कोई महाविदेहक्षेत्र में से ध्यानस्थ मुनि को उठाकर यहाँ भरतक्षेत्र में रख जायें, तो पञ्चमकाल और भरतक्षेत्र के होनेपर भी वह मुनि पुरुषार्थ के द्वारा क्षपकश्रेणी को लगाकर केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष किसी काल अथवा क्षेत्र के द्वारा नहीं रुकता। पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र में जन्मा हुआ जीव उस भव से मोक्ष प्राप्त नहीं करता; इसका कारण काल अथवा क्षेत्र नहीं है, किन्तु वह जीव स्वयं ही अपनी योग्यता के कारण मन्द पुरुषार्थी है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीप्रवचनसार गाथा ८० पर प्रवचन, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६)

मरकर भी आत्मानुभव कर!

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन् अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

श्लोकार्थ- आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई! तू किसी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्वों का कौतूहली होकर आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्मा के विलासरूप, सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा।

(पूज्यश्री अमृतचन्द्राचार्यदेव, आत्मख्याति टीका, श्लोक २३ व अर्थ)

द्रव्यज्ञान के लाभ

-'इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या।
षड्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम्।। ५१।।'

श्लोकार्थ- इस प्रकार जिनमार्गरूपी रत्नाकर में से पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक षट्द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्यों के कण्ठाभरण के हेतु बाहर निकाली है।

(परमागम श्रीनियमसार की श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति टीका का श्लोक ५१ व श्लोकार्थ)

प्रश्न १- छः द्रव्यों में कौनसा द्रव्य उपादेय और कौनसा द्रव्य हेय है?

उत्तर- वास्तव में (निश्चय से) एकमात्र अपना त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा ही उपादेय और शेष सभी; अर्थात्, निज आत्मा के अतिरिक्त शेष अनन्त आत्माएँ (जीव), अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक और असंख्यात कालद्रव्य, ज्ञान के ज्ञेय हैं और ग्रहण-त्याग की अपेक्षा हेय हैं।

श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय अधिकार की चूलिका में श्रीमद्ब्रह्मदेव ने कहा है- **'तत्र शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् सर्वे जीवा उपादेया भवन्ति। व्यक्तिरूपेण पुनः पञ्चपरमेष्ठिन एव। तत्राप्यर्हत्सिद्धद्वयमेव। तत्रापि निश्चयेन सिद्ध एव। परमनिश्चयेन तु भोगाकांक्षादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमसमाधिकाले सिद्धसदृशः स्वशुद्धात्मैवोपादेयः, शेषद्रव्याणि हेयानीति तात्पर्यम्।'**

अर्थ- वहाँ शुद्ध निश्चयनय से शक्तिरूप से सर्व जीव **शुद्ध-बुद्ध**[१]- एकस्वभावी होने से उपादेय हैं और व्यक्तिरूप से पञ्चपरमेष्ठी ही उपादेय हैं। उनमें भी अर्हन्त और सिद्ध- ये दो ही उपादेय हैं। इन दोनों में भी निश्चय से सिद्ध ही उपादेय है और परम निश्चयनय से तो भोगाकांक्षादिरूप

---

१. **'शुद्ध-बुद्ध'**- मिथ्यात्व-रागादि समस्त विभावरहित होने से आत्मा 'शुद्ध' कहलाता है, और केवलज्ञानादि अनन्तगुणों से सहित होने से आत्मा 'बुद्ध' कहलाता है। शुद्धबुद्ध का लक्षण सर्वत्र इस प्रकार जानना।
(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, षड्द्रव्यपञ्चास्तिकाय अधिकार की चूलिका, पृष्ठ ९१)

समस्त विकल्पजालरहित परमसमाधिकाल में सिद्धसमान स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है; अन्य सर्व द्रव्य हेय हैं- यह तात्पर्य है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय अधिकार की चूलिका, पृष्ठ ९०-९१)

-'इन छहों द्रव्यों में जीव ही उपादेय है। यद्यपि शुद्ध निश्चय से शक्ति की अपेक्षा सभी जीव उपादेय हैं; तो भी व्यक्ति की अपेक्षा पञ्चपरमेष्ठी ही उपादेय हैं; उनमें भी अरहन्त सिद्ध ही हैं; उन दोनों में भी सिद्ध ही हैं और निश्चयनयकर मिथ्यात्वरागादि विभावपरिणाम के अभाव में विशुद्धात्मा ही उपादेय हैं- ऐसा जानना।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा २२ का भावार्थ, पृष्ठ १३८)

प्रश्न २- छहों द्रव्यों के स्वरूप के विचार में क्या सावधानी रखनी चाहिए और क्यों?

उत्तर- 'कालद्रव्य तथा अन्यद्रव्य (पञ्चास्तिकाय) में परमागम के अविरोधरूप से विचार करना, परन्तु "वीतराग सर्वज्ञ का वचन सत्य है"- इस प्रकार मन में निश्चय करके विवाद नहीं करना; किसलिये? क्योंकि विवाद करने से राग-द्वेष होता है और राग-द्वेष से संसार की वृद्धि होती है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २२ की टीका, पृष्ठ ७७)

प्रश्न ३- छहों द्रव्यों को जानने का क्या लाभ है?

उत्तर- विश्व में छः द्रव्यों के अलावा और कुछ नहीं है; अतः चारों अनुयोगों में भी कालसहित पञ्चास्तिकाय (छः द्रव्यों) का ही वर्णन है। अतः जो जीव इन छहों द्रव्यों के कथन को सही अर्थ में जानता है; अर्थात्, श्रद्धान करता है (अनुभव करता है), तो इन्हीं छः द्रव्यों में से जीवास्तिकाय के रूप में मुख्यरूप से वर्णित अपने त्रिकाली, अखण्ड, शुद्ध-बुद्ध-एकात्मा को सम्यक् प्रकार से पहचान समस्त कर्मों का नाश करके परमपद सिद्धदशा की प्राप्ति कर सादिअनन्त परमसुख को भोगता है।

-'एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।

जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं॥ १०३॥'

अन्वयार्थ- इस प्रकार प्रवचन के सारभूत पञ्चास्तिकायसंग्रह (कालद्रव्यसहित पञ्चास्तिकाय) को जानकर जो (जीव) राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है।

'वास्तव में सम्पूर्ण प्रवचन (द्वादशाङ्गरूप से विस्तीर्ण) काल (द्रव्य) सहित पञ्चास्तिकाय से अन्य कुछ भी प्रतिपादित नहीं करता; इसलिये प्रवचन का सार (चारों अनुयोगों का सार) ही यह पञ्चास्तिकायसंग्रह है। जो पुरुष समस्त वस्तुतत्त्व का कथन करनेवाले इस पञ्चास्तिकायसंग्रह को **अर्थतः[1] अर्थीरूप से[2]** जानकर इसी में कहे हुए जीवास्तिकाय में **अन्तर्गत स्थित अपने को[3]** (निज

१. **अर्थतः**:- अर्थानुसार; वाच्य का लक्ष करके; वाच्यसापेक्ष; यथार्थ रीति से।

..............क्रमशः

आत्मा को) स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला निश्चित करके, **परस्पर कार्यकारणभूत**[1] ऐसे अनादि रागद्वेषपरिणाम और कर्मबन्ध की परम्परा से, जिसमें **स्वरूपविकार**[2] आरोपित है, ऐसा अपने को (निज आत्मा को) उसकाल अनुभव में आता देखकर, उसकाल (तत्काल; उसी समय) विवेकज्योति प्रगट होने से कर्मबन्ध की परम्परा का प्रवर्तन करनेवाली (निरन्तर जारी रहनेवाली) रागद्वेषपरिणति को छोड़ता है; वह पुरुष वास्तव में जिसका **स्नेह**[3] जीर्ण होता जाता है, ऐसा जघन्य **स्नेहगुण**[4] के सन्मुख वर्तते हुए परमाणु की भाँति भावी बन्ध से पराङ्मुख वर्तता हुआ (न करता हुआ), पूर्व बन्ध से छूटता हुआ, अग्नितप्त जल की **दुःस्थिति**[5] समान जो दुःख उससे **परिमुक्त**[6] होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०३, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १५७-१५९)

-'इति जिनपतिमार्गांभोधिमध्यस्थरत्नं द्युतिपटलजटालं ताद्धि षड्द्रव्यजातम्।

हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।। १६।।'

श्लोकार्थ- इस प्रकार उस षट्द्रव्यसमूहरूपी रत्न को, जो कि तेज के अम्बार के कारण किरणोंवाला है, और जो जिनपति के मार्गरूपी समुद्र के मध्य में स्थित है; उसे जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष हृदय में भूषणार्थ धारण करता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का बल्लभ होता है (अर्थात्, जो पुरुष अन्तरङ्ग में छः द्रव्य की यथार्थ श्रद्धा करता है, वह मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण करता है)।

(श्रीनियमसार, श्लोक १६ व श्लोकार्थ, पृष्ठ २४)

प्रश्न ४- छहों द्रव्यों में परम उपादेय निज जीवतत्त्व को जानने से सर्व दुःख का अभाव कैसे

---

२. **अर्थीरूप से-** गरजीरूप से; याचकरूप से; सेवकरूप से; कुछ प्राप्त करने के प्रयोजन से; हित-प्राप्ति के हेतु से।

३. जीवास्तिकाय में स्वयं (निज आत्मा) समाहित है; इसलिये जैसा (चारो अनुयोगों मे) जीवास्तिकाय के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वैसा ही अपना स्वरूप है।

१. **परस्पर कार्यकारणभूत-** जीव के रागद्वेषपरिणाम और जड़ कर्मों में अनादिकाल से एक-दूसरे को कार्यकारणपना है।

२. **स्वरूपविकार-** स्वरूप का विकार। [स्वरूप दो प्रकार का है- (१) द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत स्वरूप, और (२) पर्यायार्थिकनय का विषयभूत स्वरूप। जीव में विकार पर्यायार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप में होता है, द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप में नहीं। द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत स्वरूप तो सदैव अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यात्मक है।]

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०३, पृष्ठ १५८ व १५९ की पादटिप्पणियाँ)

३. **स्नेह-** यहाँ स्नेह का अर्थ जीव की राग-द्वेषादिरूप चिकनाहट से है।

४. **स्नेहगुण-** का अर्थ यहाँ पुद्गल के स्पर्शगुण की पर्यायरूप चिकनाहट से है।
[जिस प्रकार जघन्य चिकनाहट के सन्मुख वर्तता हुआ परमाणु भावी बन्ध से पराङ्मुख है; उसी प्रकार जिस जीव के राग-द्वेषादि जीर्ण होते जाते हैं, वो जीव भावी बन्ध से पराङ्मुख है।]

५. **दुःस्थिति-** अशान्त स्थिति; अस्थिरता; खराब-बुरी स्थिति, तले-ऊपर अथवा खदबद होना। यहाँ भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि से तप्त जल अस्थिर, तले-ऊपर और खदबद होता है; उसी प्रकार दुःख आकुलतामय है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०३, पृष्ठ १५८ व १५९ की पादटिप्पणियाँ)

६. **परिमुक्त-** पूर्णतया मुक्त; सदैव के लिये मुक्त; सादिअनन्त मुक्त।

हो जाता है?

उत्तर- पर्याय में शुद्धपरिणत जीव; अर्थात्, सर्वज्ञदेव को जानकर, शक्तिरूप से उन्हीं के (अर्हन्त के) समान त्रिकाल शुद्ध निज आत्मा का अनुभवन करने से यह जीव मिथ्यात्व का नाश और धर्म की प्राप्ति करता है। निजात्मा में स्थिरता करते-करते, पूर्ण स्थिरता; अर्थात्, वीतराग होकर सर्व दु:खों से सदैव के लिये मुक्त हो जाता है।

-'मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्जदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरापरो जीवो।। १०४।।'

अन्वयार्थ- जीव इस अर्थ को जानकर (शुद्ध आत्मा को जानकर) उसके अनुसरण का उद्यम करता हुआ, हतमोह होकर (दर्शनमोह का अभाव कर), राग-द्वेष को प्रशमित (निवृत्त) करके, उत्तर (भावी) और पूर्व (भूत) बन्ध का जिसे नाश हुआ है, ऐसा होता है।

टीका- प्रथम, कोई जीव (बिरला जीव) इस शास्त्र के (श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ के) अर्थभूत शुद्ध चैतन्यस्वभाववाले आत्मा को जानता है; अत: (फिर) उसी के अनुसरण का उद्यम करता है; अत: उसे दृष्टिमोह का क्षय होता है; अत: स्वरूप के परिचय के कारण ज्ञानज्योति प्रगट होती है; अत: रागद्वेष प्रशमित अर्थात् निवृत्त होते हैं; अत: उत्तर और पूर्व (भविष्य और भूतकाल) का बन्ध विनष्ट होता है; अत: पुन: बन्ध होने के हेतुत्व का अभाव होने से स्वरूपस्थरूप से सदैव तपता है- प्रतापवन्त वर्तता है (वह जीव स्वरूपस्थित रहकर परमानन्दज्ञानादिरूप परिणमित होता है); अर्थात्, दु:ख का पूर्ण अभाव करता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०४, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १५९-१६०)

यही बात भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने परमागम श्रीप्रवचनसार में कही है-

-'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।'

अन्वयार्थ- जो (जो जीव) अरहन्त को द्रव्यपनें, गुणपनें और पर्यायपनें जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय (नाश) को प्राप्त होता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४१)

-'एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी।। ३२३।।'

अन्वयार्थ- जो इस प्रकार निश्चय से सब द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनको और इन द्रव्यों की सब पर्यायों को सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है- श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है। जो ऐसा श्रद्धान नहीं करता है, शङ्का करता है- वह सर्वज्ञ के आगम

से प्रतिकूल है, प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३२३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४६)

प्रश्न ५- द्रव्य का यथार्थ स्वरूप जानने-मानने से मोक्षसुख की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तर- द्रव्य का यथार्थ स्वरूप जानने-मानने से-

(१) सभी परपदार्थों से दृष्टि हट जाती है, (२) सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक का मार्ग ज्ञात हो जाता है, (३) निज ज्ञायकस्वभाव की महिमा आ जाती है, (४) मिथ्यात्व का अभाव होकर **पञ्चपरमेष्ठियों**[1] में गिनती होने लगती है, और (५) क्रमशः **पञ्चपरावर्तन**[2] का अभाव होकर सादिअनन्त पञ्चमगति (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न ६- द्रव्य का यथार्थ स्वरूप जानने-मानने से सभी परपदार्थों से दृष्टि कैसे हट जाती है?

उत्तर- विश्व के सभी द्रव्य अनन्तानन्त गुणों के समूह हैं और सभी अपने-अपने में (स्वचतुष्टय में) किसी परपदार्थ की अपेक्षा अथवा आश्रयरहित रहते हैं- यह जानते-मानते ही परपदार्थों से दृष्टि हटकर स्वयं ही अपने ज्ञायकस्वभाव पर आ जाती है; अर्थात्, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

-'मैं ज्ञायक स्वभाव हूँ और प्रत्येक वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती रहती है। उसका मैं ज्ञाता हूँ; किन्तु कर्ता नहीं हूँ- ऐसा निश्चय होने से कर्ताबुद्धि छूट जाती है और अकर्तृत्व अर्थात् साक्षीपना-ज्ञायकपना होजाता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ३८)

-'चैतन्यपरिणति का वेग बाहर-निमित्त की ओर (परपदार्थों की ओर) ढले, वह बन्धनभाव है; चैतन्यपरिणति का वेग भीतर-स्व की ओर ढले, वह अबन्धमार्ग है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत संख्या ४८, पृष्ठ ३६)

-'सव्व अचेयण जाणि जिय एक्कु सचेयणु सारु।
जो जाणेविणु परम-मुणि लहु पावइ भवपारु॥ ३६॥'

अर्थ- जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अचेतन हैं; सचेतन तो केवल एक जीव (द्रव्य) ही है और वही सारभूत है। उसको जानकर परममुनि शीघ्र ही संसार से पार होता है।

(आचार्य योगीन्दुदेव विरचित योगसार, दोहा ३६ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६७)

---

१. **पञ्चपरमेष्ठी**- अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु (मुनि)- ये पञ्चपरमेष्ठी हैं। -**(णमोकार महामन्त्र)**

२. **पञ्चपरावर्तन**- जीव अनादि से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव इन पञ्च-परावर्तनों को करता हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

[विस्तार के लिये 'प्रकरण-२:२(ग) : पञ्च-परावर्तन', पृष्ठ ११२ देखें।]

-'समस्त ही वर्णादिक तथा रागादिक भाव पुरुष (आत्मा) से भिन्न ही हैं।'

(श्रीसमयसार, कलश ३७ का भावार्थ, पृष्ठ १०१)

-'परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, सम्यक्त्व भला है;'

अन्वयार्थ- आत्मा में परद्रव्यों से भिन्नत्व की श्रद्धा करना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द २ की प्रथम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५६)

प्रश्न ७- द्रव्य का यथार्थ स्वरूप जानने-मानने से सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक का मार्ग कैसे ज्ञात हो जाता है?

उत्तर- परपदार्थों से दृष्टि हटने का नाम ही दृष्टि का निज ज्ञायक-स्वभाव पर आ जाना है और इसी का नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। यही मोक्षमार्ग है, जिसका प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होकर पूर्णता सिद्धदशा पर होती है।

-'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।। १।।'

अर्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र- तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है; अर्थात्, मोक्ष की प्राप्ति का उपाय हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १ व अर्थ, पृष्ठ ४)

-'शुद्धनय (अपना त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव) भूतार्थ है, सत्यार्थ है। इसका आश्रय लेने से (जीव) सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा का ज्ञानश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।'

(श्रीसमयसार, गाथा ११ का भावार्थ, पृष्ठ २४)

-'निश्चयनय (त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव) के आश्रित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं।'

(श्रीसमयसार, गाथा २७२ की गाथा, पृष्ठ ३८७)

-'स्वसन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया; उसमें केवलज्ञान का निर्णय, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन, पुरुषार्थ, मोक्षमार्ग- यह सब एक साथ आ गया है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ९७)

प्रश्न ८- द्रव्य का यथार्थस्वरूप जानने-मानने से निज ज्ञायकस्वभाव की महिमा कैसे आ जाती है?

उत्तर- मैं जीवद्रव्य; मेरे ज्ञानादि अनन्तगुण; प्रत्येक गुण में प्रत्येक समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण ध्रौव्य- ऐसा वस्तुस्वरूप है। मेरे ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय का पार नहीं। तो ऐसी अनन्त-अनन्त पर्यायें जिस ज्ञानगुण में से आती है, उस ज्ञानगुण की महिमा तो वचनातीत है और ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों का स्वामी मैं। ऐसे निज ज्ञायकस्वभाव की महिमा अनुभवगम्य ही है।

-'तीनों लोकों में संख्या अपेक्षा- (१) जीव अनन्त हैं, (२) इनसे अनन्तगुणे परमाणु [पुद्गलद्रव्य] हैं, (३) इनसे अनन्तगुणे तीनकाल के समय हैं, (४) इनसे अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश हैं, (५) इनसे अनन्तगुणे प्रत्येक द्रव्य में गुण हैं, (६) इनसे अनन्तगुणे सब द्रव्यों के गुण हैं, (७) इनसे अनन्तगुणा सब द्रव्यों की पर्यायें हैं, और (८) इनसे अनन्तगुणे **अविभाग-प्रतिच्छेद**[1] हैं।

विश्व में उक्त आठ संख्या (क्रमाङ्क १ से ८) तक ही **ज्ञेय**[2] है और निज ज्ञायकस्वभाव अर्थात्, मुझ आत्मद्रव्य में केवलज्ञान की शक्ति है। केवलज्ञान जिस अद्भुतशक्ति के स्वामी ज्ञानगुण में से आता है, वह ज्ञानगुण मुझमें है। ज्ञानगुण के समान ही वचनातीत शक्ति के धारक दर्शन, सुख, आनन्द आदि अनन्त-अनन्त गुणों का स्वामी मेरा ज्ञायकस्वभाव (आत्मद्रव्य) है। इस प्रकार निज ज्ञायकस्वभाव की महिमा आ जाती है।'

[जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या २६, पृष्ठ २३७; क्रमाङ्क १ से ५ तक पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आधार-प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ २१८; तथा क्रमाङ्क ६ से ८ तक पूज्य गुरुदेवश्री, आधार-ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या १८४, पृष्ठ ७२]

-'हे जीव! एक बार हर्ष तो ला कि "अहो, मेरा आत्मा ऐसा!" कैसा? कि सिद्ध भगवान-जैसा। सिद्ध भगवान-जैसी ज्ञान-आनन्द की परिपूर्ण शक्ति मेरे आत्मा में भरी पड़ी ही है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत, संख्या २३४, पृष्ठ १४०)

-'निज ज्ञायकस्वभाव (आत्मद्रव्य) के आश्रय से प्रगट एक समय की निर्मल पर्याय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) को रत्नत्रय कहा है; तो उसके फलस्वरूप केवलज्ञानपर्याय (ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय) महारत्न है; तो ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों का धारक ज्ञानगुण भी महारत्न है। ऐसे ज्ञान-आनन्द आदि अनन्तगुणोंरूप महा-महारत्नों का धारक आत्मद्रव्य तो महाद्रव्यों से भरा हुआ सागर है। उसकी महिमा का क्या कहना। अहो! इसकी (ज्ञायकस्वभाव की) महिमा वचनातीत है। इसकी महिमा अपार-अपार अनुभवगम्य ही है।'

(परमागमसार, पूज्य गुरुदेवश्री का वचनामृत संख्या २९५, पृष्ठ ६९)

-'अहो! ज्ञानस्वभाव का माहात्म्य कितना है, सामर्थ्य कितना है- उसकी जगत को खबर नहीं है। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं; उनमें यहाँ से गिनती करने पर आकाश का अन्तिम प्रदेश

---

१. **अविभाग-प्रतिच्छेद**- किसी गुण में (अर्थात् गुण की पर्याय मे) अंश कल्पना करने पर उसका जो छोटे से छोटा अंश (निरंश) होता है, उसे उस गुण का (अर्थात् गुण की पर्याय का) अविभाग-प्रतिच्छेद कहा जाता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १६४ की पादटिप्पणी, पृष्ठ ३२८)

-'शक्ति के अविभागी अंश को अविभाग-प्रतिच्छेद कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २७४, पृष्ठ ६२)

२. **ज्ञेय**- **'सकल द्रव्य के गुन अनन्त परजाय अनन्ता;**
जानै एकै काल, प्रगट केवली भगवन्ता।'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४ का पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ९८)

कौनसा? उसका अन्त है ही नहीं। काल के अनन्त समय हैं, उनमें वर्तमान समय से गिनने पर काल का अन्तिम समय कौनसा? उसका अन्त है ही नहीं। उसी प्रकार द्रव्य अनन्त हैं; उनकी गिनती करने पर एक जीव द्रव्य के ज्ञान-दर्शनादि गुण भी आकाश के प्रदेशों की अपेक्षा अनन्तगुने हैं। उनमें अन्तिम गुण कौनसा? उसका अन्त है ही नहीं। अहाहा! गजब बात है! ज्ञान की पर्याय ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक है। जिसका पार नहीं है, ऐसे अपार अनन्तानन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ज्ञेय बनानेवाली एक समय की ज्ञानपर्याय का सामर्थ्य कितना? शक्ति कितनी? उस एक समय की पर्याय में अनन्तानन्त ज्ञेय प्रमाण ज्ञान की पर्याय के अविभाग-प्रतिच्छेद कितने? उसका अन्तिम प्रतिच्छेद कौनसा? अहाहा! गजब बात है। सिद्ध हों उनका (सिद्धपर्याय का) आदि गिना जा सकता है किन्तु अन्त नहीं। सिद्ध हुए उनके भव का अन्त तो आ गया परन्तु उनका पहला भव कौनसा? अनादि है; उसका प्रारम्भ है ही कहाँ? अन्तरहित द्रव्य हैं, उनका अन्त कैसे आये? अन्तरहित क्षेत्र है, उसका अन्त आये कैसे? अन्तरहित काल है, उसका अन्त आये कैसे? अन्तरहित भाव हैं, उनका अन्त आये कैसे? अहाहा! इतने-इतने अनन्त ज्ञेय हैं; उन्हें जाननेवाला ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है। ऐसे अनन्त पदार्थों को श्रुतज्ञान में ज्ञेय बनाया उसकी पर्याय में विषयों का रस नहीं रह सकता। राग रह सकता है, किन्तु राग का रस नहीं रह सकता। अहाहा! आत्मवस्तु (ज्ञायकस्वभाव) ही कोई ऐसी चमत्कारिक है। उसका क्या कहना भाई!'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर-गुजराती, बोल संख्या ४८५, पृष्ठ ११७)

-'इस जगत में अनन्त जीव हैं, जीवों की अपेक्षा पुद्गल अनन्तगुणे हैं, और काल के समयों की अपेक्षा आकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्तगुणी है, और इन सबकी अपेक्षा आत्मोन्मुख ज्ञान के एक समय का अनन्तगुणा सामर्थ्य है। यदि ज्ञान आत्मोन्मुख हो, तो वह आकाशादि से भी अनन्तगुणा जाने वैसी उसकी अवस्था की शक्ति है और ऐसी अनन्त अवस्थाओं का पिण्ड आत्मस्वभाव (निज-ज्ञायकस्वभाव) है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ १६४)

-'द्रव्यों की संख्या में पुद्गलद्रव्य सबसे अनन्त है; क्षेत्र से आकाशद्रव्य सबकी अपेक्षा अनन्तगुणा है; और भाव से भगवान आत्मा के ज्ञान की अनन्तता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ १६७)

प्रश्न ९- द्रव्य का यथार्थस्वरूप जानने-मानने से मिथ्यात्व का अभाव और पञ्च परमेष्ठियों में गिनती कैसे होने लगती है?

उत्तर- निज ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि आना ही मिथ्यात्व का अभाव और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है। ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि स्व-पर के यथार्थश्रद्धान से आती है। अत: स्व-पर का यथार्थश्रद्धान,

ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि, मिथ्यात्व का अभाव, और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एकार्थवाची हुए। सम्यग्दर्शनपूर्वक ही क्रमशः श्रावकदशा, मुनिपना, श्रेणी, केवलज्ञान, एवं सिद्धदशा की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मिथ्यात्व का अभाव होकर पञ्चपरमेष्ठियों में गिनती होने लगती है।

वास्तव में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु ही पञ्चपरमेष्ठी हैं। सम्यग्दृष्टि नियम से साधु, अरहन्त, और सिद्धपद प्राप्त करेगा, इस अपेक्षा भावी- नैगमनय से उसे पञ्चपरमेष्ठियों में गिना जा सकता है।

-'मिथ्यात्व और रागादि जीते होने के कारण असंयत (अव्रति) सम्यग्दृष्टि आदि एकदेश "जिन" हैं।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १ की टीका, पृष्ठ ५)

-'स्व-पर के विवेक से मोह का नाश किया जा सकता है। यह स्व-पर का विवेक जिनागम के द्वारा स्व-पर के लक्षणों को यथार्थतया जानकर किया जा सकता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १० का भावार्थ, पृष्ठ १६२)

-'स्व-पर के यथार्थश्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो, तब जीव सम्यक्त्वी होता है; इसलिये स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४१)

-**'एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।**
सो सिद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुदिट्ठी।। ३२३।।'

अन्वयार्थ- जो इस प्रकार के निश्चय से सब द्रव्य और इन द्रव्यों की सर्व पर्यायों को सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है; श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है। जो ऐसा श्रद्धान नहीं करता है, शङ्का करता है; वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है, प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३२३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४६)

-'सम्यग्दर्शन हुआ, वह तो भगवान हो गया। राग का मैं कर्ता नहीं, पर का मैं कर्ता नहीं। मैं तो सर्वज्ञ हूँ; तो श्रद्धा में सर्वज्ञ हो गया। बोलने की बात नहीं है। अकर्तापना प्रगट हुआ है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, वचनामृत संख्या २१६, पृष्ठ ५१)

प्रश्न १०- द्रव्य का यथार्थस्वरूप जानने-मानने से पञ्च-परावर्तन का अभाव होकर सादिअनन्त पञ्चमगति की प्राप्ति कैसे हो जाती है?

उत्तर- द्रव्य के यथार्थस्वरूप का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का कारण है और सम्यग्दृष्टि जीव नियम से पञ्च-परावर्तन का अभाव कर सादिअनन्त **अविनाशी पञ्चमगति**[1]; अर्थात्, मोक्षसुख को प्राप्त

१. **अविनाशी पञ्चमगति**- वह पञ्चमगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है; इसलिये ध्रुवत्व का अवलम्बन करती है। चारों गतियाँ (मनुष्य,

..............क्रमशः

करता है।

-'इकत्तीस सागर से अधिक आयु के धारक नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर- ऐसे १४ विमानों में उत्पन्न होनेवाले देवों के परावर्तन (पञ्चपरावर्तन) नहीं होता क्योंकि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ २०३ की पादटिप्पणी)

-'सम्माइट्ठी-जीवडहँ दुग्गइ-गमणु ण होई।

जइ जाइ वि तो दोसु णवि पुव्व-क्किउ खवणेइ।। ८८।।'

अर्थ- सम्यग्दृष्टि जीव कुगतियों में नहीं जाता है। यदि कदाचित् वह जाता भी है, तो इसमें सम्यक्त्व का दोष नहीं। इससे वह पूर्वकृत कर्म का ही क्षय करता है।

(आचार्ययोगीन्दुदेव विरचित योगसार, दोहा ८८ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३७९)

-'जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिँ जे सिज्झहिँ जिण-उत्तु।

अप्पा-दंसणिँ ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु।। १०७।।'

अर्थ- जो सिद्ध हो चुके हैं, भविष्य में होंगे, और वर्तमान में होते हैं; वे सब निश्चय से आत्मदर्शन से ही सिद्ध हुए हैं- यह भ्रान्तिरहित समझो।

(आचार्ययोगीन्दुदेव विरचित योगसार, दोहा १०७ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३८४)

-'वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं, जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिन्तवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर, उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पञ्चमगति-मोक्ष को प्राप्त करते हैं।'

(श्रीसमयसार, गाथा १ की टीका, पृष्ठ ६)

रुचि अनुयायी वीर्य!

जिसे सचमुच ताप लगा हो, जो संसार से ऊब गया हो, उसकी यह बात है। विभाव से ऊब जाये और संसार का त्रास लगे तो मार्ग मिले बिना नहीं रहता। कारण दे तो कार्य प्रगट होता ही है। जिसे जिसकी रुचि-रस हो वहाँ उसका समय कट जाता है; 'रुचि अनुयायी वीर्य'। निरन्तर ज्ञायक के मन्थन में रहे, दिन-रात उसके पीछे पड़े, तो वस्तु प्राप्त हुए बिना न रहे।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या ६०, पृष्ठ २६)

तिर्यञ्च, नारक और देव) पर निमित्त से होती हैं; इसलिये ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं।

(श्रीसमयसार, गाथा १ की टीका, पृष्ठ ६)

प्रश्न ११- प्रत्येक द्रव्य के (१) नाम, (२) लक्षण, (३) संख्या, (४) प्रदेश संख्या (माप), (५) काय, (६) भेद, (७) सामान्यगुण, (८) विशेषगुण, और (९) पर्यायें- बताइए?

उत्तर-

क्रमाङ्क/विषय	जीव	पुद्गल	धर्म	अधर्म	आकाश	काल
१. नाम	जीवद्रव्य	पुद्गलद्रव्य	धर्मद्रव्य	अधर्मद्रव्य	आकाशद्रव्य	कालद्रव्य
२. लक्षण	ज्ञान-दर्शन	स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण	गतिहेतुत्व	स्थितिहेतुत्व	अवगाहनहेतुत्व	परिणमनहेतुत्व
३. संख्या	अनन्त	अनन्तानन्त	एक	एक	एक	लोकप्रमाण असंख्यात
४. प्रदेशसंख्या (माप)	असंख्यातप्रदेशी	एकप्रदेशी (परमाणु अपेक्षा)	असंख्यातप्रदेशी	असंख्यातप्रदेशी	अनन्तप्रदेशी	एकप्रदेशी
५. काय	अस्तिकाय	अस्ति है, काय नहीं	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्ति है, काय नहीं।
६. भेद	संसारी और मुक्त	परमाणु और स्कन्ध	-	-	लोकाकाश और अलोकाकाश	-
७. सामान्यगुण	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, आदि	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, आदि	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, आदि	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, आदि	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, आदि	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, आदि
८. विशेषगुण	ज्ञान, दर्शन आदि	स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि	गतिहेतुत्व आदि	स्थितिहेतुत्व आदि	अवगाहनहेतुत्व आदि	परिणमनहेतुत्व आदि
९. पर्यायें	एक व्यञ्जनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायें	एक व्यञ्जन और अनन्त अर्थपर्यायें (स्कन्धअपेक्षा) और प्रत्येक परमाणु में एक स्वभावव्यञ्जन और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायें	एक स्वभावव्यञ्जन-पर्याय और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायें	एक स्वभावव्यञ्जन-पर्याय और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायें	एक स्वभावव्यञ्जन-पर्याय और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायें	एक स्वभावव्यञ्जन-पर्याय और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायें

द्रव्यों के अनेकान्त स्वरूप का वर्णन

[श्री रामजी माणेकचन्द दोशी, एडवोकेट]

१. द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकार के हैं।

२. अमूर्तिकद्रव्य चेतन और जड़ के भेद से दो प्रकार के हैं।

३. मूर्तिकद्रव्य दो तरह के हैं- (१) अणु, और (२) स्कन्ध।

४. मूर्तिकद्रव्य के सूक्ष्म और बादर, इस तरह दो भेद हैं।

५. सूक्ष्ममूर्तिकद्रव्य दो तरह का है- (१) सूक्ष्मसूक्ष्म, और (२) सूक्ष्म।

६. स्कन्ध, सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार का है।

७. सूक्ष्म अणु दो तरह के हैं- (१) पुद्गलाणु, और (२) कालाणु।

८. अक्रिय (गमनागमन से रहित चार द्रव्य) और सक्रिय (गमनागमनसहित जीव और पुद्गल) के भेद से द्रव्य दो तरह के हैं।

९. द्रव्य दो तरह के हैं- (१) एकप्रदेशी, और (२) बहुप्रदेशी।

१०. बहुप्रदेशीद्रव्य दो भेदरूप हैं- (१) संख्यात प्रदेशवाला, और (२) संख्या से पार (संख्यातीत) प्रदेशवाला।

११. संख्यातीत बहुप्रदेशीद्रव्य दो भेदरूप हैं- (१) असंख्यातप्रदेशी, और (२) अनन्तप्रदेशी।

१२. अनन्तप्रदेशीद्रव्य दो तरह का है- (१) अखण्ड आकाश, और (२) अनन्तप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध।

१३. लोक के असंख्यातप्रदेशों को रोकनेवाले द्रव्य दो तरह के हैं- (१) अखण्डद्रव्य (धर्म, अधर्म तथा केवल समुद्घात करनेवाला जीव), और (२) पुद्गल महास्कन्ध (यह संयोगी द्रव्य है)।

१४. अखण्ड लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी द्रव्य दो प्रकार का है- (१) धर्म तथा अधर्म (लोकव्यापक), और (२) जीव (लोकप्रमाण) [संख्यासे असंख्यातप्रदेशी और विस्तार में शरीरप्रमाण व्यापक]।

१५. अमूर्त बहुप्रदेशीद्रव्य दो भेदरूप हैं- (१) सङ्कोचविस्ताररहित (आकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा सिद्धजीव), और (२) सङ्कोचविस्तारसहित (संसारी जीवके प्रदेश

सङ्कोचविस्तारसहित हैं।)

१६. द्रव्य दो तरह के हैं- (१) सर्वगत (आकाश), और (२) देशगत (अवशिष्ट; अर्थात्, शेष पाँच द्रव्य)।

१७. सर्वगत दो प्रकार से हैं- (१) क्षेत्रसर्वगत (आकाश), और (२) भाव से सर्वगत (ज्ञानशक्ति)।

१८. देशगत दो भेदरूप हैं- (१) एकप्रदेशगत (परमाणु, कालाणु, तथा एकप्रदेश स्थित सूक्ष्मस्कन्ध), और (२) अनेकदेशगत (धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गलस्कन्ध)।

१९. द्रव्यों में अस्ति दो प्रकार से हैं- (१) अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म, जीव, तथा पुद्गल), और (२) कायरहित अस्ति (कालाणु)।

२०. अस्तिकाय दो तरह से हैं- (१) अखण्डअस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म, तथा जीव), और (२) उपचरितअस्तिकाय (संयोगी पुद्गलस्कन्ध; पुद्गल में ही समूहरूप -स्कन्धरूप होने की शक्ति है)।

२१. प्रत्येक द्रव्यमें गुण तथा पर्याय में अस्तित्व दो तरह से है- (१) स्वसे अस्तित्व, और (२) परकी अपेक्षा से नास्तिरूप का अस्तित्व।

२२. प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व दो तरह से है- (१) ध्रुव, और (२) उत्पाद-व्यय।

२३. द्रव्यों में दो तरह की शक्ति है- (१) भाववती, (२) क्रियावती।

२४. द्रव्यों में सम्बन्ध दो तरह का है- (१) विभावसहित (जीव और पुद्गलके अशुद्धदशामें विभाव होता है), और (२) विभावरहित (दूसरे द्रव्य त्रिकाल विभावरहित हैं)।

२५. द्रव्यों में विभाव दो तरह से है- (१) जीव के विजातीय पुद्गल के साथ, और (२) पुद्गल के सजातीय के (एक-दूसरे के) साथ तथा सजातीय पुद्गल और विजातीय जीव इन दोनों के साथ।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ११, पृष्ठ ३३१ से ३३३)

भिखारी और बादशाह

'मुझे बाहर का कुछ चाहिए'- ऐसा माननेवाला भिखारी है। 'मुझे तो अपना एक आत्मा ही चाहिए, दूसरा कुछ नहीं'- ऐसा माननेवाला बादशाह है। आत्मा अचिन्त्य शक्तियों का स्वामी है। जिस क्षण जागे, उसी क्षण आनन्दस्वरूप जागृत ज्योति अनुभव में आ सकती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या ४३, पृष्ठ ३२)

प्रकरण - ३

गुण

प्रश्न १- गुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों व उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहता है, उसे गुण कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ६६, पृष्ठ २५)

-'अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनोऽन्वयिनो विशेषा गुणा;'

अर्थ- अनेकान्तात्मक[1] वस्तु के अन्वयी विशेष वे गुण हैं जो कि द्रव्य में एक ही साथ प्रवर्तते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ २७)

-'गुणो द्रव्यविधानं स्यात्;'

अर्थ- किसी द्रव्य में शक्ति की अपेक्षा से भेद कल्पित करना, यही गुण शब्द का अर्थ है।

(श्रीतत्त्वार्थसार, तीसरा अधिकार, श्लोक ९ व अर्थ, पृष्ठ १३१)

-'सरिसो जो परिणामो, अणाइणिहणो हवे गुणो सो हि।'

अर्थ- जो द्रव्य का परिणाम सदृश (पूर्व-उत्तर सब पर्यायों में समान) होता है; अनादि-निधन होता है, वह ही गुण है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २४१ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १०८)

-'जो सदाकाल पाये जावें, नित्यरूप हों- वे तो उन द्रव्यों के गुण हैं।' तथा,

-'गुण तो द्रव्य में सहभावी हैं, अन्वयी हैं, सदा नित्य हैं, कभी द्रव्य से तन्मयपना नहीं छोड़ते।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, गाथा ५७ का अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ ५६)

---

१. **अनेकान्त-** अनेकान्त शब्द में 'अनेक' का अर्थ एक से अधिक और 'अन्त' का अर्थ धर्म होने से 'अनेकान्त' का अर्थ अनेक धर्मात्मक वस्तु है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २६४ से २६९ का विशेषार्थ, पृष्ठ ५४)

-'एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली (अस्तित्व-नास्तित्व आदि) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, पृष्ठ ५७१)

-'तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुण:;'

अर्थ- वहाँ अन्वय वह द्रव्य है; और अन्वय का विशेषण वह गुण है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० की टीका, पृष्ठ १४१-१४२)

-'द्रव्य की अनेक पर्याय बदलने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक् नहीं हो; निरन्तर द्रव्य के साथ सहभावी रहे- वह गुण कहलाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३८ की टीका, पृष्ठ ३७०)

-'तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते।
गुणसंज्ञका: कथञ्चित्परिणतिरूपा: पुन: क्षणं यावत्॥ ४५॥'

अर्थ- जो स्वयं विशेषरहित हैं, ऐसे द्रव्य के विशेष ही गुण कहलाते हैं और वे प्रतिक्षण कथञ्चित् परिणमनशील हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ४५ व अर्थ, पृष्ठ ११)

प्रश्न २- गुणो का स्वरूप क्या है?

उत्तर- जिनागम में गुणो का स्वरूप अनेक प्रकार से वर्णित है-

१. गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हैं; गुण स्वयं निर्विशेष हैं; अर्थात्, स्वयं दूसरे गुणों से रहित हैं;

-'द्रव्याश्रया गुणा: स्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च।'

अर्थ- जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं अन्य विशेषों से रहित हैं; ऐसे जितने भी विशेष हैं, वे सब गुण कहलाते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १०४ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ २४)

-'द्रव्याश्रया निर्गुणा: गुणा:॥ ४१॥'

अर्थ- जो द्रव्य के आश्रय से हों और स्वय दूसरे गुणों से रहित हों, वे गुण हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ४१ व अर्थ, पृष्ठ ३७२)

२. सभी गुण द्रव्य के प्रदेशों में इकट्ठे रहते हैं;

-'अयमर्थो विदितार्थ: समप्रदेशा: समं विशेषा ये।
ते ज्ञानेन विभक्ता: क्रमत: श्रेणीकृता गुणा ज्ञेया:॥ १०५॥'

अर्थ- इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि द्रव्य के सभी प्रदेशों में साथ-साथ रहनेवाले और ज्ञान के द्वारा विभाग करके क्रम से एक पंक्ति मे स्थापित किये गये जितने भी विशेष हैं, वे सब गुण जानने चाहिए।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, सूत्र १०५ व अर्थ, पृष्ठ २४)

३. -गुण कथञ्चित नित्य हैं; अर्थात्, अपरिणमनशील हैं और कथञ्चित परिणमनशील हैं; अर्थात्, अनित्य हैं;

-'तत्रोदाहरणमिदं तद्भावाव्याद् गुणा नित्याः।'

अर्थ- अपने स्वभाव का नाश न होने के कारण गुण नित्य हैं; (अपरिणमनशील) हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १०९ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ २५)

-'वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।'

अर्थ- जैसे वस्तु परिणमनशील है, वैसे ही गुण भी परिणमनशील हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ११२ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ २५)

प्रश्न ३- गुणों को निर्गुण क्यों कहा गया है?

उत्तर- 'जैसे द्रव्य में गुण पाये जाते हैं, वैसे गुण में अन्य गुण नहीं पाये जाते; अतएव वे (गुण) स्वयं विशेषरहित होते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १०३ से १०६ का विशेषार्थ, पृष्ठ २४)

-'ज्ञानगुण जीवद्रव्य के आश्रित रहता है तथा ज्ञान में और कोई दूसरा गुण नहीं रहता। यदि उसमें गुण रहे, तो वह गुण न रहकर गुणी (द्रव्य) हो जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ४१ की टीका, पृष्ठ ३७२)

प्रश्न ४- गुण कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य (परिणमनशील) किस प्रकार हैं?

उत्तर- गुण विविध अवस्थाओं में रहकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते; इसलिये वे नित्य हैं, परन्तु प्रत्येक गुण के सजातीय परिणमन की अपेक्षा देखें, तो वे (गुण) परिणमनशील हैं।

-'नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया य एव गुणाः।
टङ्कोत्कीर्णन्यायात्त एव नित्या यथा स्वरूपत्वात्॥ १२०॥'

अर्थ- जितने भी गुण हैं वे सब परिणमनशील होने से जिस प्रकार उत्पाद-व्ययस्वरूप हैं; उसी प्रकार टङ्कोत्कीर्ण न्याय से अपने स्वरूप में स्थिर होने के कारण वे नित्य भी हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १२० व अर्थ, पृष्ठ २६)

-'क्योंकि जैसे ज्ञान यह गुण सामान्यरूप से नित्य है, वैसे ही वह घट को छोड़कर पट को जानता हुआ नष्टोत्पन्न; अर्थात्, अनित्य भी है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ११३ का अर्थ, पृष्ठ २६)

प्रश्न ५- गुण के पर्यायवाची शब्द क्या-क्या हैं?

उत्तर- शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, और आकृति- ये सब एकार्थवाची शब्द हैं; अर्थात्, ये सब विशेष या गुण के पर्यायवाची नाम हैं।

–'शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः।। ४८।।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ४८ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ १२)

–'गुण, सहभू, अन्वयी और अर्थ- ये सब एकार्थक हैं; अर्थात्, ये एक अर्थ के वाचक हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १३८ का अर्थ, पृष्ठ ३०)

–**'सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः।'**

अर्थ- सामान्य, अन्वय, अनुवृत्ति, उत्सर्ग, विधि, शक्ति, आदि शब्दों का अर्थ गुण होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसार, पण्डित वंशीधरशास्त्री कृत टीका, पृष्ठ १३२)

प्रश्न ६- गुणों को सहभू क्यो कहते हैं?

उत्तर- ' "सहभू" शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ यह है कि जो एक साथ हैं। तात्पर्य यह है कि गुण युगपत् हैं; पर्यायो के समान क्रम-क्रम से; अर्थात्, एक के बाद दूसरा इत्यादि क्रम से नहीं होते।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १३९ का अर्थ, पृष्ठ ३१)

प्रश्न ७- गुणों को अन्वयी क्यो कहते हैं?

उत्तर- 'अन्वय का अर्थ धारा या परम्परा है। प्रत्येक गुण में सदैव यह धारा पायी जाती है। इसलिये गुण अन्वयी कहलाते हैं।...........जिस समय हम द्रव्य को जिस गुणरूप देखते हैं, उस समय वह तन्मात्र प्रतीत होता है; अतः गुण व्यतिरेकी सिद्ध न होकर अन्वयी ही सिद्ध होते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १३७-१६३ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३४-३५)

प्रश्न ८- गुणो को **अर्थ**[१] क्यों कहते हैं?

उत्तर- ' "ऋ" एक धातु है; गमन करना उसका अर्थ है। उससे ही यह अर्थ शब्द बना है। गुणों में अनादि सन्तानरूप से अनुगतरूप अर्थ पाया जाता है; इसलिये गुण का "अर्थ" नाम सार्थक ही है। साराश यह है कि गुण भी स्वतःसिद्ध और परिणामी हैं; इसलिये नित्यानित्य स्वरूप होने से उनमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अच्छी तरह से घटते हैं।' अतः गुणों को अर्थ कहा है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १५८-१५९ का अर्थ, पृष्ठ ३३)

–'जो द्रव्यों को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं; पहुँचते हैं; अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं; पहुँचे जाते हैं- ऐसे "अर्थ" वे गुण हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८७ की टीका, पृष्ठ १५४)

---

१. **अर्थ-** 'ऋ' धातु में से अर्थ शब्द बना है। 'ऋ' अर्थात् पाना; प्राप्त करना; पहुँचाना; जाना। 'अर्थ' अर्थात् (१) जो पाये; प्राप्त करे; पहुँचे; अथवा (२) जिसे पाया जाये; प्राप्त किया जाये; पहुँचा जाये।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८७, पृष्ठ १५४ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ९- क्या गुणों को धर्म कह सकते हैं?

उत्तर- हाँ! गुणों को धर्म कह सकते हैं, परन्तु धर्म को गुण नहीं कह सकते।

-'चेतनपना, अचेतनपना, मूर्तिकपना, अमूर्तिकपना.......आदि उपर्युक्त धर्म तो गुण हैं। यद्यपि यहाँ इन्हें "धर्म" शब्द से कहा गया है, तथापि ये गुण हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, प्रथम भाग, पृष्ठ २१)

प्रश्न १०- गुण और धर्म में क्या अन्तर है?

उत्तर- 'धर्म अर्थात् धारण करने की योग्यता; गुण नहीं। गुणों की पर्याय होती है, पर धर्मों की नहीं होती।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, प्रथम भाग, पृष्ठ २१)

-'सत्; अर्थात्, स्वयं की अपेक्षा वस्तु सत्स्वरूप है। असत्; अर्थात्, पर की अपेक्षा से नहीं है- ऐसे वस्तु के अपेक्षित स्वभाव को धर्म कहा है। इन धर्मों की पर्यायें नहीं होती। गुण वस्तु में त्रिकाल होते हैं और इनकी पर्यायें होती हैं। इस प्रकार गुण व धर्म में अन्तर है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ ३६६)

प्रश्न ११- एक द्रव्य मे कितने गुण होते हैं?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण होते हैं और वे सब सदा ही एक दूसरे से जुदे रहते हैं। एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता।

-'**एवं यः कोऽपि गुणः सोऽपि च नः यात्तदन्यरूपो वा।**

स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ताः।। ५२।।'

अर्थ- इसी प्रकार द्रव्य का जो कोई गुण है, वह भी उससे भिन्न अन्य गुणस्वरूप नहीं हो सकता है; इसलिये परस्पर भिन्न रहनेवाले ये अनन्त गुण स्वयं प्रतिभासित होते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२ व अर्थ, पृष्ठ १३)

प्रश्न १२- गुण द्रव्य से पृथक् है या अपृथक्?

उत्तर- द्रव्य और गुणों के बीच संज्ञादि (संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि) अपेक्षा पृथकपना होनेपर भी वस्तु; अर्थात्, प्रदेश अपेक्षा अपृथक्पना है।

-'द्रव्य और गुण एक अस्तित्व से रचित हैं। इसलिये उनकी जो अनादिअनन्त सहवृति (एकसाथ रहना)- वह वास्तव में समवर्तीपना है;............वही संज्ञादि भेद होनेपर भी (द्रव्य और गुणों को संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेद होनेपर भी) वस्तुरूप से अभेद होने से अपृथक्पना है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५० की टीका, पृष्ठ ९१)

-'दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा।। १३।।'

अन्वयार्थ- द्रव्य बिना गुण नहीं होते; गुणों बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिये द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्तभाव (अभिन्नपना) है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३१)

प्रश्न १३- यदि द्रव्य गुणों से भिन्न हो और गुण द्रव्य से भिन्न हो, तो क्या दोष आता है?

उत्तर- यदि द्रव्य को गुणों अथवा गुणों को द्रव्य से भिन्न माना जाये, तो द्रव्य की (गुणों के समान) अनन्तता अथवा द्रव्य के नाश का प्रसङ्ग आ जायेगा।

-'जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति।। ४४।।'

अन्वयार्थ- यदि द्रव्य गुणों से अन्य (भिन्न) हों और गुण द्रव्य से अन्य हों, तो द्रव्य की अनन्तता हो अथवा द्रव्य का अभाव हो।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८२)

प्रश्न १४- किस अपेक्षा द्रव्य से गुण पृथक् नही होते?

उत्तर- प्रदेश-अपेक्षा द्रव्य से गुण पृथक् नहीं होते, क्योंकि द्रव्य और गुणों का क्षेत्र एक ही है।

-'जैसे; जो शुक्लत्व के- गुण के- प्रदेश हैं, वे ही वस्त्र के- गुणी के- हैं; इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है। इसी प्रकार जो सत्ता के- गुण के- प्रदेश हैं, वे ही द्रव्य के- गुणी के- हैं; इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०६ की टीका, पृष्ठ २१३)

-'गुण-गुणी में कोई प्रदेशभेद नहीं होता है।'

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ३७ का भावार्थ, पृष्ठ २५३)

प्रश्न १५- किस अपेक्षा द्रव्य से गुण पृथक् हैं?

उत्तर- संज्ञा, संख्या, लक्षण, और प्रयोजन की अपेक्षा द्रव्य से गुण पृथक् हैं।

संज्ञा- द्रव्य और गुण- इस प्रकार दोनों के नाम में भेद है;

संख्या- द्रव्य एक और गुण अनेक होते हैं;

लक्षण- 'गुणों का समूह वह द्रव्य'- यह द्रव्य का लक्षण है और 'जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहे'- यह गुण का लक्षण है। इस प्रकार लक्षण से भी द्रव्य और गुण में भेद है; और

प्रयोजन- द्रव्य का प्रयोजन अभेद है और प्रत्येक गुण का प्रयोजन अलग-अलग है।

- 'द्रव्य के और गुण के प्रदेश अभिन्न होनेपर भी द्रव्य में और गुण में संज्ञा-संख्या-लक्षणादि भेद होने से (कथञ्चित्) द्रव्य गुणरूप नहीं है और गुण वह द्रव्यरूप नहीं है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०६ का भावार्थ, पृष्ठ २१६)

प्रश्न १६- द्रव्य का गुण में और एक गुण का दूसरे गुण में क्या कोई अभाव है? यदि है, तो कौनसा और उसके समझने से क्या लाभ है?

उत्तर- 'द्रव्य है वह गुण नहीं; और गुण है वह द्रव्य नहीं। गुण और द्रव्य के बीच में तथा एक गुण और दूसरे गुण के बीच में अतद्भाव है। अपने द्रव्य में भी गुण में और द्रव्य में अतद्भाव है। आ हा हा! यहाँ तक गम्भीरता को स्पर्श किया है। तो फिर दूसरे बाहर के पदार्थ कि जिनके प्रदेश भी पृथक् ही हैं, वे तो सर्वथा भिन्न हैं ही। ऐसी दशा में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का क्या कर सकता है? प्रभु! तू तो अकेला ही है। अकेले में भी सत्ता को और द्रव्य को तद् अभाव है। ज्ञान है वह आत्मा नही; आनन्द है वह आत्मा नहीं; और आत्मा है वह आनन्द नहीं; ज्ञान नहीं- इस प्रकार दो के बीच तद् अभाव है। प्रवचनसारजी में द्रव्य की स्वतन्त्रता के अनेक बोल आये हैं। जिस प्रकार सत्य है, उसी प्रकार ज्ञान में आवे तभी पर्याय अन्दर झुक सकती है; अन्यथा पर्याय अन्दर में नही झुक सकती और अन्दर **त्रिकालीस्वभाव** पर लक्ष्य गये बिना आनन्दानुभूति नहीं हो सकती।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४१०, पृष्ठ १५३)

प्रश्न १७- द्रव्य को गुण स्पर्श नहीं करता और गुण को द्रव्य स्पर्श नहीं करता- ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर- 'गुणभेद की दृष्टि छुड़ाकर अभेद वस्तु की दृष्टि कराना ही इस कथन का प्रयोजन है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४११, पृष्ठ १५४)

प्रश्न १८- द्रव्य और गुणों में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद किस प्रकार से है?

उत्तर- 'निश्चयस्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जिस प्रकार हिमालय और विन्ध्याचल में भिन्नपना है अथवा एक ही क्षेत्र में स्थित जल और दूध में जिस प्रकार भिन्न प्रदेशपना है, वैसा भिन्नपना द्रव्य और गुणों में नहीं मानते। साथ ही साथ एकान्त से द्रव्य और गुणों का एकपना भी नहीं मानते। अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकार द्रव्य और गुणों में प्रदेशों की अपेक्षा से अभिन्नत्व है; उसी प्रकार संज्ञा, संख्या, लक्षणादि की अपेक्षा से अभिन्नत्व है, एकत्व है- ऐसा नहीं मानते; अर्थात्, एकान्त से द्रव्य और गुणों का न तो सर्वथा एकत्व मानते हैं और न सर्वथा भिन्नत्व ही। अपेक्षा के बिना एकत्व और अन्यत्व में से एक भी नहीं मानते। हाँ! भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दोनों स्वभाव को मानते हैं। प्रदेशों की एकता से एकत्व है; और संख्या, संज्ञादि की अपेक्षा से द्रव्य और गुणों में अन्यत्व है- ऐसा आचार्य मानते हैं। यही श्री जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय टीका गाथा ४५ में कहा है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४१२, पृष्ठ १५४)

प्रश्न १९- गुण का द्रव्य में क्या स्थान है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य **स्वचतुष्टय**[1]; अर्थात्, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव इन चारों स्वरूप है तथा गुण इन चारों में से अकेला भावरूप है।

(जिनधर्मप्रवेशिका, ब्र० यशपाल जैन, प्रश्न संख्या ३९, पृष्ठ १५)

-'द्रव्य और गुण के द्रव्य-क्षेत्र-काल एकसे हैं, किन्तु उनके भावों में अन्तर है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ८६, पृष्ठ २८-२९)

प्रश्न २०- गुणों का कर्ता कौन है?

उत्तर- द्रव्य के समान गुण भी अनादिअनन्त, अकृत्रिम, और स्वतःसिद्ध हैं। अतः इनका कोई कर्ता नहीं है।

-'वस्तु का स्वभाव होने से गुण स्वतः सपक्ष; अर्थात्, स्वतःसिद्ध हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १४४ का अर्थ, पृष्ठ ३१)

प्रश्न २१- गुणों का स्वरूप जानने से क्या पता चलता है?

उत्तर- गुणों का स्वरूप जानने से पता चलता है कि-

(१) प्रत्येक गुण अपने द्रव्य के आश्रित रहता है; इसलिये एक द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता तथा दूसरे द्रव्य को प्रेरणा, असर या मदद नहीं कर सकता; और

(२) एक गुण दूसरे गुण के आश्रित नहीं है; अतः एक गुण दूसरे गुण की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ४१ की टीका, पृष्ठ ३७२)

शूरवीर के खेल

शरीर तो तुझे छोड़ेगा ही, परन्तु तू (जो) शरीर को (दृष्टि में) छोड़ दे, उसकी बलिहारी है। यह तो शूरवीर के खेल हैं।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या ९८, पृष्ठ ६८)

---

१. **स्वचतुष्टय**- स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभाव को स्वचतुष्टय कहा जाता है। स्वद्रव्य अर्थात् निजगुण-पर्यायों के आधारभूत वस्तु स्वयं; स्वक्षेत्र अर्थात् वस्तु का निज विस्तार अर्थात् स्वप्रदेशसमूह; स्वकाल अर्थात् वस्तु की अपनी वर्तमानपर्याय; स्वभाव अर्थात् निजगुण-स्वशक्ति।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १४, पृष्ठ ३४ की पादटिप्पणी)

गुणों के भेद

प्रश्न १- गुणो के कितने भेद हैं?

उत्तर- गुणो के दो भेद हैं- (१) सामान्यगुण, और (२) विशेषगुण।

-**'अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेऽपि।**
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति।। १६०।।'

अर्थ- यद्यपि गुणत्व सामान्य की अपेक्षा से सभी गुण समान हैं, तथापि उनमें भेद भी हैं। उनमें कितने ही साधारण (सामान्य) गुण हैं और कितने ही असाधारण (विशेष) गुण हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १६० व अर्थ, पृष्ठ ३३)

-**'सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः।**
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृताः स्वतः।। ९४।।'

अर्थ- यद्यपि सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण निसर्गसिद्ध हैं। वे स्वभाव से प्राकृत हैं और टङ्कोत्कीर्ण की तरह सदा रहते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९४ व अर्थ, पृष्ठ ३०२)

-'गुण वह विस्तारविशेष हैं। वे सामान्यविशेषात्मक होने से दो प्रकार के हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९५ की टीका, पृष्ठ १७९)

प्रश्न २- सामान्यगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जो गुण समस्त द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्यगुण कहते हैं।

-'जो गुण सामान्यरूप से सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं, वे साधारण (सामान्य) गुण हैं; जैसे, अस्तित्व आदि।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १३७ से १६३ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३५)

-'जो शक्ति सभी द्रव्यों में हो, उसे सामान्यशक्ति कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३९४)

प्रश्न ३- विशेषगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जो गुण सब द्रव्यों में न रहकर अपने अपने द्रव्य में रहते हों, उन्हें विशेषगुण कहते हैं।

सारणी ११ : गुणों के भेद

- गुण
  - सामान्यगुण (सभी द्रव्यों में पाये जानेवाले)
    - अस्तित्व
    - वस्तुत्व
    - द्रव्यत्व
    - प्रमेयत्व
    - अगुरुलघुत्व
    - प्रदेशत्व
    - आदि अनन्तगुण
  - विशेषगुण
    - जीव–पुद्गल में पाये जानेवाले
      - क्रियावतीशक्ति
      - वैभाविकशक्ति
    - प्रत्येक द्रव्य में (प्रत्येक जाति के द्रव्य में अलग–अलग पाये जानेवाले)
      - जीव
        - ज्ञान
        - दर्शन
        - श्रद्धा
        - चारित्र
        - सुख
        - वीर्य, आदि
      - पुद्गल
        - स्पर्श
        - रस
        - गन्ध
        - वर्ण, आदि
      - धर्म
        - गतिहेतुत्व आदि
      - अधर्म
        - स्थितिहेतुत्व आदि
      - आकाश
        - अवगाहन हेतुत्व आदि
      - काल
        - परिणमन हेतुत्व आदि
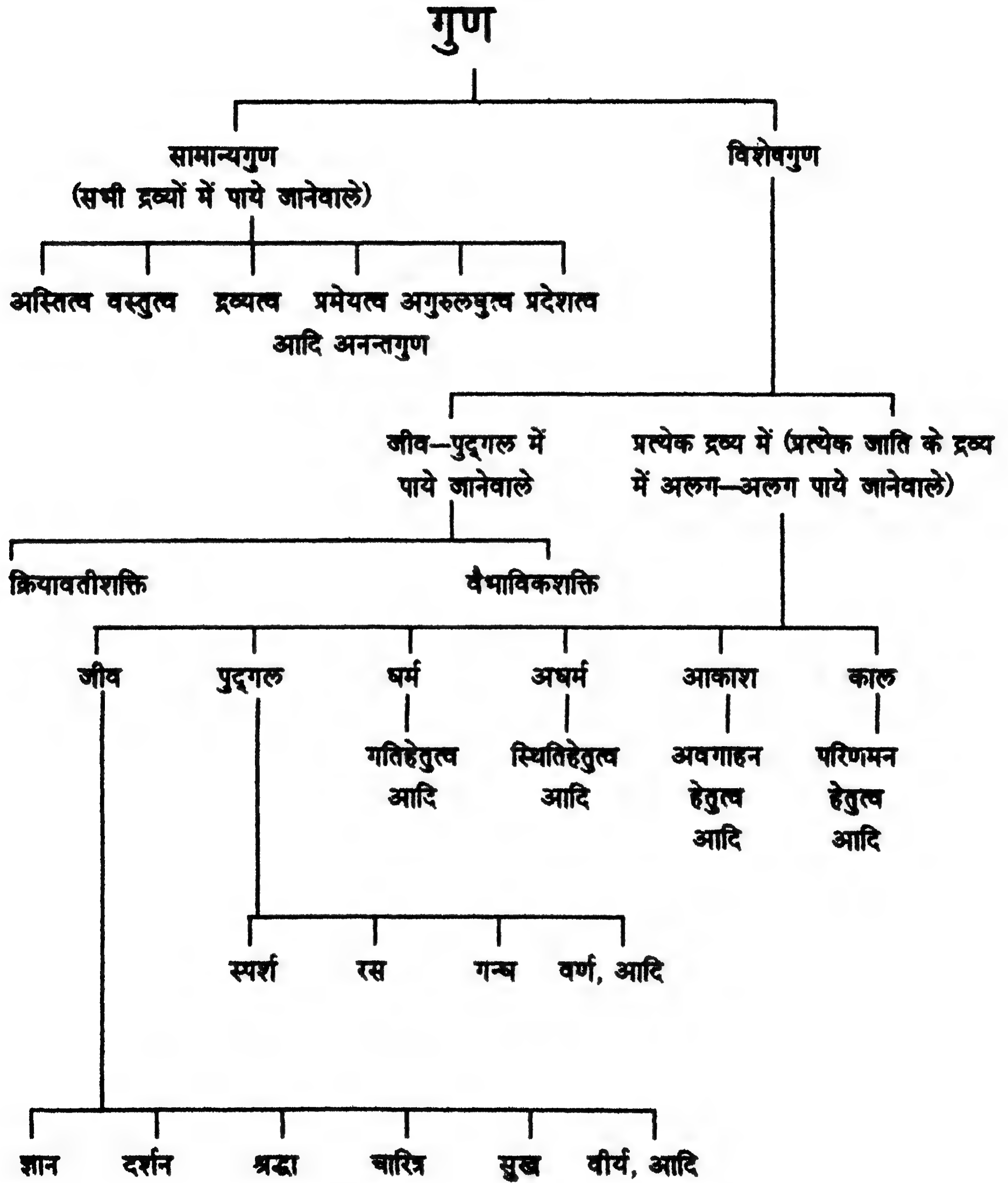
–'और जो प्रत्येक द्रव्य में (केवल एक ही जाति के द्रव्य में; भिन्न-भिन्न) पाये जाते हैं, वे असाधारण (विशेष) गुण हैं; जैसे, जीव के ज्ञानादि गुण व पुद्गल के रूप आदि गुण।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १३७ से १६३ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३५)

–'कुछ तो वे (गुण) होते हैं जो दूसरे द्रव्यों में न पाये जाकर केवल उसी में पाये जाते हैं। ये असाधारण (विशेष) गुण कहलाते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९३९ से ९४३ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३०१)

–'जो गुण के द्वारा यह बतलाये कि "एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से द्रव्यान्तर है," उसे विशेषगुण कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३८ की टीका, पृष्ठ ३७०)

–'**द्रव्यं द्रव्यात् गुण्यन्ते, ते गुणा उच्यन्ते।**' अर्थात् जो द्रव्य के दूसरे द्रव्य से पृथक् बताते हैं, उन्हें (विशेष) गुण कहते हैं। गुणो के द्वारा द्रव्यों की पृथक्ता का ज्ञान होता है; जैसे, चेतनागुण के द्वारा जीव जाने जाते हैं।

(चिद्विलास, अध्याय दूसरा, पृष्ठ २०)

प्रश्न ४- सामान्य और विशेष, गुण के इन दो भेदों से क्या सिद्ध किया जाता है?

उत्तर- सामान्यगुण छहों द्रव्य की समानता को सिद्ध करते हैं और विशेषगुणों के द्वारा प्रत्येक द्रव्य के पृथक्-पृथक् अस्तित्व का ज्ञान होता है।

–'**तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैगुणैर्यस्मात्।**
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरै।। १६२।।
संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति।
अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति।। १६३।।'

अर्थ- साधारणगुणों से द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है और असाधारण (विशेष) गुणों से द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है। उदाहरण यह है कि जैसे सत् यह गुण केवल सामान्य द्रव्य का साधक है और ज्ञान यह गुण द्रव्य विशेष का साधक है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १६२-१६३ व अर्थ, पृष्ठ ३४)

–'(द्रव्य) **सादृश्य-अस्तित्व**[1] (सामान्यगुणों) के द्वारा समानता को धारण करते हुये स्वरूप-अस्तित्व (विशेषगुणों) के द्वारा विशेष युक्त है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९१ की टीका, पृष्ठ १६३)

---

१. **अस्तित्व**- अस्तित्व दो प्रकार का है- (१) सादृश्य-अस्तित्व, और (२) स्वरूप-अस्तित्व। सादृश्य-अस्तित्व की अपेक्षा से सर्वद्रव्यों में समानता है और स्वरूप-अस्तित्व की अपेक्षा से समस्त द्रव्यों में विशेषता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९१, पृष्ठ १६३ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ५- यदि द्रव्य में सामान्यगुण न हों, तो क्या दोष आता है?

उत्तर- यदि द्रव्य में सामान्यगुण न हों, तो द्रव्यत्व ही न रहेगा और समस्त द्रव्यों में समानता सिद्ध न होगी।

-'विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्यों मे प्रवृत्त होकर रहनेवाला और प्रत्येक द्रव्य की बँधी हुई सीमा की अवगणना करता हुआ "सत्" ऐसा (सर्व द्रव्यों का) सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्व है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९७ की टीका, पृष्ठ १८८)

प्रश्न ६- यदि द्रव्य में विशेषगुण न हों, तो क्या दोष आता है?

उत्तर- यदि द्रव्य में विशेषगुण न हों, तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् नहीं जाना जा सकेगा और द्रव्यों की अनेकता सिद्ध नहीं होगी।

-'इस विश्व में, विचित्रता को विस्तारित करते हुए (विविधता; अनेकता को दिखाते हुए), अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त (भिन्न) रहकर प्रवर्तमान और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए -ऐसे विशेष लक्षणभूत (विशेष लक्षणों से) स्वरूपास्तित्व से (समस्त द्रव्य) लक्षित होते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९७ की टीका, पृष्ठ १८८)

प्रश्न ७- ऐसा कौनसा द्रव्य है जिसमें सामान्यगुण अथवा विशेषगुण नहीं होते?

उत्तर- ऐसा कोई द्रव्य नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य मे सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण होते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ८९, पृष्ठ २९)

प्रश्न ८- सामान्य और विशेषगुणो मे प्रथम कौन और पश्चात् कौन?

उत्तर- दोनों एकसाथ अनादिकालीन हैं; प्रथम या पश्चात् कोई नहीं है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ८१, पृष्ठ २८)

-'सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण निसर्गसिद्ध हैं। वे स्वभाव से प्राकृत हैं और टङ्कोत्कीर्ण की तरह सदा रहते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १४४ का अर्थ, पृष्ठ ३०२)

प्रश्न ९- सामान्यगुण कितने हैं?

उत्तर- सामान्यगुण अनन्त हैं, उनमें मुख्य छः हैं-

(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५)अगुरुलघुत्व, और (६) प्रदेशत्व।

-'अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, और प्रदेशत्व- ये मुख्य सामान्य छः गुण हैं; ये सभी द्रव्यों में हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३९४)

छ: सामान्यगुण

अस्तित्वगुण

प्रश्न १- अस्तित्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता और द्रव्य किसी से उत्पन्न भी नहीं होता, उसे अस्तित्वगुण कहते हैं।

-'जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी अभाव न हो, उसे अस्तित्वगुण कहते हैं, क्योंकि द्रव्य अनादिअनन्त है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ९३, पृष्ठ ३०)

-'द्रव्य में अस्तित्वगुण है और इस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५२)

-'द्रव्य का स्वभाव वह अस्तित्व सामान्यरूप अन्वय है; अर्थात्, "है, है, है"- ऐसा एकरूपभाव द्रव्य का स्वभाव है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९५, पृष्ठ १७८ की पादटिप्पणी)

-**'अस्तीत्यस्य भाव: अस्तित्वम्'** अर्थात्, पदार्थ का 'अस्ति' (है) ऐसा भाव-वह अस्तित्व है।

(श्रीनियमसार, गाथा ३४ की टीका, पृष्ठ ७२)

प्रश्न २- अस्तित्वगुण किस द्रव्य में पाया जाता है?

उत्तर- अस्तित्वगुण सामान्यगुण है; अत: छहों द्रव्यों के सम्पूर्ण भागों में व उनकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में पाया जाता है।

-'अस्तित्व..................ये स्वभावगुण सब द्रव्यों में पाये जाते हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५६)

प्रश्न ३- अस्तित्वगुण क्या सिद्ध करता है?

उत्तर- अस्तित्वगुण से द्रव्यों का निम्न स्वरूप सिद्ध होता है-

(१) प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त है; (२) प्रत्येक द्रव्य अजर-अमर है; (३) प्रत्येक द्रव्य स्वत:सिद्ध है; (४) प्रत्येक द्रव्य स्वसहाय; अर्थात्, अहेतुक है; और (५) प्रत्येक द्रव्य निर्विकल्प

अर्थात् अखण्ड है।

– **'तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धम्।**
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च॥ ८॥'

अर्थ– तत्त्व का लक्षण सत् (अस्तित्व) है या सन्मात्र ही तत्त्व है और जिस कारण से वह स्वतःसिद्ध है; इसलिये वह अनादि है, अनिधन है, स्वसहाय है और निर्विकल्प अर्थात् अखण्ड है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ८ व अर्थ, पृष्ठ ४)

– 'अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है और वह (अस्तित्व) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण अनादिअनन्त होने से तथा अहेतुक, एकरूप वृत्तिसे सदा ही प्रवर्तता होने के कारण ....द्रव्य का स्वभाव है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ६८ की टीका, पृष्ठ १८२)

प्रश्न ४– क्या यह सच है कि ईश्वर ने जगत की रचना की है?

उत्तर– अस्तित्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त है, अजरअमर है, और स्वतःसिद्ध है; अतः ईश्वर ने जगत की रचना की है– यह मान्यता पूरी तरह असत्य है।

– 'अस्तित्वगुण के कारण विश्व; अर्थात्, अनन्त जीव-अजीवादि छहों द्रव्य स्वयंसिद्ध अनादिअनन्त हैं; इसलिये किसी ने उन्हें बनाया नहीं है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ९५, पृष्ठ ३०)

– 'स्वतःसिद्ध का अर्थ है कि इसे किसी ने बनाया नहीं, किन्तु सदा से अपने इस स्वरूप के साथ अवस्थित है। किन्तु तत्त्व स्वतःसिद्ध तब बन सकता है, जब उसे अनादि आदिरूप मान लिया जाये। यदि इसे अनादि नहीं माना जाता है, तो न्याय का यह सिद्धान्त कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती, नहीं ठहरता क्योंकि ऐसी हालत मे असत् की उत्पत्ति सम्भव होने से अनन्त अकल्पित नये पदार्थों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।..........किन्तु न तो कभी ऐसा हुआ और न कभी ऐसा हो सकता है; इसलिये यही निष्कर्ष निकलता है कि सत्स्वरूप तत्त्व को अनादि मान लेना चाहिए।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ८ से १४ का विशेषार्थ, पृष्ठ ५)

– 'जिसके "है" पन (अस्तित्व) हो, वह द्रव्य है। इस तरह "अस्तित्वगुण" के द्वारा द्रव्य की रचना की जा सकती है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५२)

– 'अस्तित्व अन्य साधन की अपेक्षा से रहित-स्वयंसिद्ध है; इसलिये अनादिअनन्त है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९६, पृष्ठ १८२ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ५– क्या ईश्वर जगत की रक्षा करता है?

उत्तर- अस्तित्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त है, अजर-अमर है, स्वत:सिद्ध है, स्वसहाय है। अत: ईश्वर जगत की रक्षा करता है- यह मान्यता सर्वथा असत्य है।

-'(प्रत्येक द्रव्य) स्वयं किसी की सहाय बिना ही सत् है। यातैं याका कोऊ रक्षा करनेवाला हु नाही, अर कोऊ विनाश करनेवाला भी नाहीं है। जाका कोऊ विनाश करनेवाला होय, ताका रक्षक हू कहूँ देख्या चाहिये।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ११ का भावार्थ, पृष्ठ २०)

-'(१) प्रत्येक वस्तु अपनी अनन्तशक्तिसे स्वयंरक्षित है; (२) प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्वगुण होने से अपनी रक्षा (अस्तित्व) के लिये उसे किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं पड़ती।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ९६, पृष्ठ ३०)

-'स्वसहाय का अर्थ है आत्मसापेक्ष। ऐसा नियम है कि लोक में जितने तत्त्व हैं, वे सब आत्मनिर्भर हैं। उनका अस्तित्व अन्य सापेक्ष नहीं है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ८ से १४ का विशेषार्थ, पृष्ठ ५)

प्रश्न ६- क्या ईश्वर जगत का नाश करता है?

उत्तर- अस्तित्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त है, अजर-अमर है, स्वत:सिद्ध है, स्वसहाय है। अत: ईश्वर जगत का नाश करता है- यह मान्यता सर्वथा असत्य है।

-'अनिधन का अर्थ है विनाशरहित; जैसे, नये तत्त्व का उत्पाद नहीं होता, वैसे ही लोक मे जितने स्वतन्त्र तत्त्व हैं उनका विनाश भी नहीं होता।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ८-१४ का विशेषार्थ, पृष्ठ ५)

-'अस्तित्वगुण के कारण किसी द्रव्य का कभी नाश नहीं होता, किन्तु द्रव्यत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य स्वय ही सदैव अपनी नयी-नयी पर्यायें उत्पन्न करता है और स्वयं ही अपनी पूर्व अवस्थाओं का नाश करता है; अर्थात्, सदा परिवर्तित होता है और द्रव्यरूप से नित्यस्थायी रहता है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ९७, पृष्ठ ३१)

-'जगतविषै जो सत्तारूप वस्तु है ताका त्रिकालहूमें नाश नाहीं है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ११ का भावार्थ, पृष्ठ २०)

-'(कोई आत्मा के घातक, सर्वथा एकान्तवादी, कर्म को ही कर्ता विचार कर ऐसा कहते हैं) कर्म (जीव को) अज्ञानी करते हैं, उसी तरह कर्म (जीव को) ज्ञानी करते हैं, कर्म सुलाते हैं, कर्म जगाते हैं, कर्म सुखी करते हैं, कर्म दु:खी करते हैं, कर्म मिथ्यात्व को प्राप्त कराते हैं, कर्म असंयम को प्राप्त कराते हैं, कर्म उर्ध्वलोक, अधोलोक, और तिर्यग्लोक में भ्रमण कराते हैं; जो कुछ भी जितना शुभ और अशुभ है, वह सब कर्म ही करते हैं। इसलिये कर्म करता है, कर्म देता है, कर्म

हर लेता है- इस प्रकार जो कुछ भी करता है, वह कर्म ही करता है।

आचार्यदेव समझाते हुए कहते हैं कि जीव तो द्रव्यरूप से नित्य (अनादिअनन्त) है।........ नित्य का कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि कृतकत्व के और नित्यत्व के एकत्व का विरोध है; अर्थात्, आत्मा नित्य है; इसलिये वह कृतक; अर्थात्, किसीके द्वारा किया गया नहीं हो सकता।'

(आधार-श्रीसमयसार, गाथा ३३२ से ३४४ का गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ४६२ व ४६६)

-'अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पें जणिउ ण कोइ।

दव्व सहावें णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ।। ५६।।'

अर्थ- यह आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ और इस आत्मा से कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ। द्रव्यस्वभावकर नित्य जानो; पर्यायभाव से विनाशीक है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अधिकार, दोहा ५६ एवं अर्थ, पृष्ठ ५४)

-'(यह आत्मा) शुद्धनिश्चयकर शक्तिरूप शुद्ध ही है। कर्मों से उत्पन्न हुई नर-नारकादि पर्यायरूप नहीं होता और आप भी कर्म-नोकर्मादिक को नहीं उपजाता और व्यवहार से भी न जन्मता है, न किसी से विनाश को प्राप्त होता है, न किसी को उपजाता है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अधिकार, दोहा ५६ का भावार्थ, पृष्ठ ५५)

-'यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर इस जगत् का कर्ता है। जगत् के सभी द्रव्य स्व की अपेक्षा "सत्" हैं; उन्हें किसी ने नहीं बनाया।............प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। प्रत्येक द्रव्य स्वय स्व से परिणमन करता है; अन्य तो निमित्तमात्र व्यवहार कारण हैं; इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ की भूमिका, पृष्ठ ३२१)

[**विशेष**- जिस प्रकार ईश्वर जगत की रचना करता है, रक्षा करता है, नाश करता है- ये मान्यताएँ असत्य हैं, भ्रामक हैं उसी प्रकार आठ कर्म जीव को उत्पन्न करते हैं, रक्षा करते हैं, नाश करते हैं; मैं दूसरों को अथवा दूसरे मुझे उत्पन्न करते हैं, रक्षा करते हैं, नाश करते हैं- ये सभी मान्यताएँ भी असत्य हैं, क्योंकि अस्तित्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त है, अजर-अमर है, स्वतःसिद्ध है और स्वसहाय है।]

प्रश्न ७- अस्तित्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त और अजर-अमर है- ऐसा जानने-मानने से क्या लाभ होता है?

उत्तर- जिस प्रकार अस्तित्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त और अजर-अमर है, उसी प्रकार मैं भी अनादिअनन्त और अजर-अमर हूँ- ऐसा मानते ही सात प्रकार के भयों का अभाव हो जाता है।

-'मेरा आत्मा तो सदाकाल शुद्ध है, दृष्टा है, अचल है, अनादि है, अनन्त है, स्वभावतैं सिद्ध है, अलक्ष है, चैतन्यप्रकाशरूप सुख का स्थानक है, इसमें अचानक कछु हू होना नाहीं है ऐसे दृढ़भावयुक्त सम्यक्दृष्टि निशङ्क है। जाकै सम्यग्दर्शन है, ताके परिणाममें सप्तभय नाहीं हैं।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ११ का भावार्थ, पृष्ठ २०)

-'आयुकर्म के निमित्त से पर्याय का धारण करना, सो जीवितव्य है और पर्याय का छूटना, सो मरण है। यह जीव मिथ्यादर्शनादिक से पर्याय ही को अपनेरूप अनुभव करता है; इसलिये जीवितव्य रहनेपर अपना अस्तित्व मानता है और मरण होनेपर अपना अभाव होना मानता है। इसी कारण से इसे सदाकाल मरण का भय रहता है।.........सम्यग्दर्शनादिक से पर्यायमें अहंबुद्धि छूट जाये; स्वय अनादिनिधन चैतन्यद्रव्य है, उसमें अहंबुद्धि आये; पर्याय को स्वांग समान जाने; तब मरण का भय नही रहता।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ६१)

-'जो पर में आत्मबुद्धि है, सो पर्यायबुद्धि है और पर्यायबुद्धि भय भी उत्पन्न करती है। **भय के सात भेद**[१] हैं- इसलोक का भय, परलोक का भय, मृत्यु का भय, अरक्षा का भय, अगुप्ति का भय, वेदना का भय, अकस्मात का भय। जिसके ये भय हों, उसे मिथ्यात्वकर्म का उदय समझना चाहिए; सम्यग्दृष्टि होनेपर भय नहीं होते।'

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, सूत्र २ का अर्थ, पृष्ठ ९)

प्रश्न ८- अस्तित्वगुण की अपेक्षा द्रव्य को क्या कहते हैं?

उत्तर- अस्तित्वगुण के कारण द्रव्य को सत् या सत्ता कहते हैं।

-'**सद् द्रव्यलक्षणम्**।। २९।।' -**अर्थ**- द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९ व अर्थ, पृष्ठ ३५१)

-'अस्तित्व; अर्थात्, सत्ता नामक सत् का भाव; अर्थात्, **सत्त्व**[२]।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २०)

---

१. **सात प्रकार के भयों का संक्षिप्त स्वरूप**-

(१) अपना परिग्रह कुटुम्बादिक तथा आजीविकादिक बिगड़ि जानें का भय सो इसलोक का भय है; (२) बहुरि जा परलोकमें कौन गति क्षेत्रकूं प्राप्त हूंगा ऐसा परलोक का भय है, (३) बहुरि मरण होनेका बड़ा भय जो मेरा नाश होयगा, नाही जानिये कैसा दुःख होयगा, मेरा अभाव होयगा, ऐसा मरणभय है; (४) बहुरि रोगादिक कष्ट आवनेका भय सो वेदना भय है; (५) बहुरि अपना कोऊ रक्षक नाही ऐसा जानि भय करना सो अनरक्षाभय जानना; (६) बहुरि अपनी वस्तु चोरनेका भय सो अगुप्तिभय है; और (७) बहुरि अकस्मात् अचानक दुःख उपजने का भय सो अकस्मात् भय है। अपना और पर का स्वरूप सम्यक् जाननेवाला सम्यक्दृष्टि के ये सप्तभय नाहीं होय हैं।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ११ का भावार्थ, पृष्ठ १८-१९)

२. **सत्त्व**- सत्पना; अस्तित्वपना; विद्यमानपना; अस्तित्व का भाव; 'है'- ऐसा भाव।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८, पृष्ठ २० की पादटिप्पणी)

-'दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।

सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो ही परसमओ।। ९८।।'

अन्वयार्थ- द्रव्य स्वभाव से सिद्ध और 'सत्' है- ऐसा जिनेन्द्रदेव ने यथार्थत: कहा है; इस प्रकार आगम से सिद्ध है। जो इसे नहीं मानता, वह वास्तवमें परसमय है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९८ व अर्थ, पृष्ठ १९०-१९१)

-**'स्वभावे अवस्थितं द्रव्यं सत्'**; अर्थात, स्वभाव में अवस्थित होने से द्रव्य 'सत्' है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९९ का अन्वयार्थ, पृष्ठ १९५)

प्रश्न ९- सत् किसे कहते हैं?

उत्तर- जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हो, उसे सत् कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में पूर्व पर्याय का विनाश होकर ही नवीन पर्याय का उत्पाद होता है। लेकिन ऐसा होते हुए भी वह अपनी ध्रुवधारा को नहीं छोड़ता; उदाहरणार्थ, पिण्ड पर्याय का विनाश होकर घट पर्याय की उत्पत्ति होती है, तथापि मिट्टीरूप से वह ध्रुव है। आशय यह है कि उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य एक सत् के ही परिणाम हैं।

-**'उत्पादस्थितिभङ्गैर्युक्तं सद्द्रव्यलक्षणं हि यथा।'**

अर्थ- उत्पाद, ध्रौव्य, और व्यय- इन तीनों से युक्त सत् ही द्रव्य का लक्षण है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ८६ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १९)

-**'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।। ३०।।'** -**अर्थ-** जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हो, सो सत् है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३० व अर्थ, पृष्ठ ३५४)

-'द्रव्य का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप सत् है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३६ का भावार्थ, पृष्ठ १०६)

-**'उत्पादव्ययध्रुवत्वै: द्रव्यस्य सद्भाव:'**; अर्थात्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व (सत्) है, वह वास्तव में स्वभाव है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९६ का अन्वयार्थ, पृष्ठ १८२)

-'प्रत्येक द्रव्य सदा स्वभाव मे रहता है; इसलिये "सत्" है। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय -ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है।................प्रत्येक परिणाम स्वकाल में अपनेरूप से उत्पन्न होता है, पूर्वरूप से नष्ट होता है, और सर्व परिणामों में एकप्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश से रहित एकरूप-ध्रुव रहता है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समयभेद नहीं है; तीनों ही एक ही समय में हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९९ का भावार्थ, पृष्ठ १९७)

-'प्रत्यभिज्ञान के हेतुभूत किसी स्वरूप से ध्रुव रहती हुई और किन्हीं दो क्रमवर्ती

स्वरूपों से नष्ट होती हुई तथा उत्पन्न होती हुई- इस प्रकार परमार्थत: एक ही काल में तिगुनी (तीन अंशवाली) अवस्था को धारण करती हुई वस्तु "सत्" जानना। इसलिये सत्ता भी "उत्पादव्यय -ध्रौव्यात्मक" (त्रिलक्षणा) जानना।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २०)

प्रश्न १०- उत्पाद किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय नयी-नयी अवस्था की उत्पत्ति होती है, उसे उत्पाद कहते हैं।

-'द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं; जैसे, मिट्टी के घड़े का उत्पाद।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ६१, पृष्ठ १५)

-'परिणमन करनेवाले सत् की जो नवीन अवस्था होती है, वह उत्पाद कहलाता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २०१ का अर्थ, पृष्ठ ४१)

-'उत्तरभाव का प्रादुर्भाव (बाद के भाव की; अर्थात्, वर्तमानभाव की उत्पत्ति), सो उत्पाद है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ २७)

-'चेतन अथवा अचेतनद्रव्य में नवीन अवस्था का प्रगट होना, सो उत्पाद है। प्रत्येक उत्पाद होनेपर पूर्वकाल से चला आया जो स्वभाव या स्वजाति है, वह कभी छूट नहीं सकती।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ३५४)

-'जो वस्तु का परिणाम समय-समय प्रति पहला तो नष्ट होता है और दूसरा उत्पन्न होता है;...............सो दूसरा परिणाम जो उत्पन्न हुआ, उसको उत्पाद कहते हैं।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३८ का अन्वयार्थ, पृष्ठ १०७)

प्रश्न ११- व्यय किसे कहते हैं?

उत्तर-' द्रव्य की पूर्व पर्याय के त्याग को व्यय कहते हैं।

-'पूर्व पर्याय के नाश को व्यय कहते हैं; जैसे, घट पर्याय का उत्पाद होनेपर मिट्टी की पिण्ड पर्याय का व्यय।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ६१, पृष्ठ १५)

-'एक जाति का अविरोधक ऐसा जो क्रमभावीभावों का प्रवाह उसमें पूर्वभाव का विनाश, सो व्यय है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ २७)

–'सत् की अवस्था का नाश व्यय कहलाता है जो कि प्रध्वंसाभावरूप प्राप्त होता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २०२ का अर्थ, पृष्ठ ४१)

–'स्वजाति यानी मूलस्वभाव के नष्ट हुये बिना जो चेतन तथा अचेतन द्रव्य में पूर्व अवस्था का विनाश (उत्पाद के समय ही) होना, सो व्यय है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ३५४)

–'जो वस्तु का परिणाम समय-समय प्रति पहला तो नष्ट होता है और दूसरा उत्पन्न होता है, सो पहले परिणामरूप वस्तु का तो नाश (व्यय) है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३८ का अन्वयार्थ, पृष्ठ १०७)

प्रश्न १२– ध्रौव्य किसे कहते है?

उत्तर– प्रत्यभिज्ञान के कारणभूत द्रव्य की किसी अवस्था की नित्यता को ध्रौव्य कहते हैं।

–'दोनों पर्यायो मे (उत्पाद और व्यय में) द्रव्य का सदृशतारूप स्थायी रहना, उसे ध्रौव्य कहते हैं; जैसे, पिण्ड और घट पर्याय में मिट्टी का नित्य स्थायी रहना।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ६१, पृष्ठ १५)

–'**अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः।**'

अर्थ– जो अनादि पारिणामिक स्वभाव के द्वारा व्यय तथा उत्पाद के अभाव से ध्रुव रहता है– स्थिर रहता है, वह ध्रुव है।

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ १०५, आधार–श्रीमोक्षशास्त्र, अ० ५, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ३५४)

–'परिणमनशील द्रव्य में धारा की एकरूपता के बने रहने को ध्रौव्य कहते हैं। अथवा जो वस्तु जिस रूप है, उसका उसी रूप बना रहना भी ध्रौव्य है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १९९ से २०५ का विशेषार्थ, पृष्ठ ४२)

–'पूर्व–उत्तरभावों के व्यय–उत्पाद होनेपर भी स्वजाति का अत्याग, सो ध्रौव्य है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ २७)

–'अनादिअनन्तकाल तक सदा बना रहनेवाला मूल स्वभाव जिसका व्यय या उत्पाद नहीं होता, उसे ध्रौव्य कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ३५४)

प्रश्न १३– सत् (अस्तित्व) का लक्षण '**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**'[1] बताया परन्तु उत्पाद और व्यय तो एक समय का है। वह सत् कैसे हो सकता है?

उत्तर– सत् स्वतन्त्र और स्वसहायक है। अतः उत्पाद और व्यय भी प्रत्येक समय में स्वतन्त्ररूप से होते हैं।

---

१. श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३०, पृष्ठ ३५४

-'सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।'

अन्वयार्थ- 'सत् द्रव्य' 'सत् गुण' 'सत् पर्याय'- इस प्रकार सत्तागुण (अस्तित्वगुण) का विस्तार है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०७ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ २१६-२१७)

-'वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।

तस्मादुत्पादस्थितिभङ्गमयं तत् सदेतदिह नियमात्॥ ८९॥'

अर्थ- जिस प्रकार वस्तु स्वतःसिद्ध है, उसी प्रकार वह स्वतःपरिणामी भी है; इसलिये प्रकृत में वह सत् नियम से उत्पाद, ध्रौव्य, और व्ययरूप है, यह सिद्ध हुआ।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ८९ व अर्थ, पृष्ठ २०)

प्रश्न १४- सत् की अपेक्षा से अस्तित्व का लक्षण क्या है?

उत्तर- सत् की अपेक्षा अस्तित्व का लक्षण जिनागम में निम्न प्रकार वर्णित है-

-'एक पर्याय से प्रलय को प्राप्त होनेवाली, अन्य पर्याय से उत्पन्न होनेवाली, और अन्वयी गुण से ध्रुव रहनेवाली एकही वस्तु को व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यलक्षण अस्तित्व घटित होता ही है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १४)

-'द्रव्य का लक्षण अस्तित्व है और अस्तित्व उत्पाद-व्यय- ध्रौव्यरूप है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ३२)

-'द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिङ्गित (स्पर्शित) सदृश और विसदृश जिसका रूप है, ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति।'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, १९वीं शक्ति, पृष्ठ ५८९)

-'जीवपदार्थ सदा ही परिणामस्वरूप स्वभाव में रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय -ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्तासहित है।'

(श्रीसमयसार, गाथा २ की टीका, पृष्ठ ८)

प्रश्न १५- द्रव्य का अस्तित्व 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' तीनों से क्यों कहा है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप ही है। यदि द्रव्य को मात्र ध्रौव्यस्वरूप ही माना जाये, तो समस्त द्रव्य एकही सामान्य आकार से रहने चाहिए; अर्थात्, द्रव्य के कूटस्थपने का प्रसङ्ग उत्पन्न होगा और यदि द्रव्य को मात्र उत्पाद-व्यय स्वरूप ही माना जाये, तो समस्त द्रव्य क्षणिक ही होंगे; अर्थात्, संसार का लोप ही हो जायेगा।

-'परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः।

तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा॥ १५॥

परिणामिनोऽप्यभावात् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मन: प्रतीतत्वात्।। ९६।।'

अर्थ- परिणाम (उत्पाद-व्यय) के न मानने से द्रव्य सदा एकसा प्राप्त होता है; उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं बन सकता और ऐसी अवस्था में न तो परलोक ही बनता है और न कार्य-कारणभाव ही बन सकता है। इसी प्रकार यदि परिणामी (ध्रौव्य) को न माना जाये, तो वस्तु क्षणिक परिणाममात्र ठहरती है। परन्तु यह बात बनती नहीं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से कथञ्चित् नित्य आत्मा की प्रतीति होती है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ९५-९६ व अर्थ, पृष्ठ २१)

-'यदि पदार्थ ध्रुव ही हो तो मिट्टी, सोना, दूध इत्यादि समस्त पदार्थ एक ही सामान्य आकार से रहने चाहिए और घड़ा, कुण्डल, दही इत्यादि भेद कभी न होने चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता; अर्थात्, भेद तो अवश्य दिखायी देते हैं। इसलिये पदार्थ सर्वथा ध्रुव न रहकर किसी पर्याय से उत्पन्न और किसी पर्याय से नष्ट भी होते हैं। यदि ऐसा न माना जाये, तो संसार का ही लोप हो जाये।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ३२)

-'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य (१) नित्यानित्यस्वरूप पारमार्थिक सत् को बतलाते हैं, तथा (२) अपने स्वरूप की प्राप्ति के कारणभूत गुणपर्यायों को प्रगट करते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ २८)

-'**संयुक्त: स्थिरताविनाशजननै: प्रत्येकमेकक्षणे।**'

विशेषार्थ- जीवादि छह द्रव्यों में से प्रत्येक प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य से सयुक्त रहता है। कोई भी द्रव्य सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य नहीं है।

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशति:, धर्मोपदेशामृतम्, श्लोक १३४ की अन्तिम पंक्ति व विशेषार्थ, पृष्ठ ५३)

प्रश्न १६- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों का समय एक ही है या अलग-अलग?

उत्तर- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों द्रव्य के ही अंश होने से एक ही साथ हैं। तीनों का समय एक ही है, अलग-अलग नहीं।

-'द्रव्यत्व में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य प्रत्येकतया (एक-एक) प्रवर्तमान होनेपर भी त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्य में वे सम्पूर्णतया (तीनों एकसाथ) एक समय में ही देखे जाते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०३ की टीका, पृष्ठ २०७)

-'**तन्न यत: क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत्।**
उत्पादादित्रयमपि हेतो: संदृष्टितोऽपि सिद्धत्वात्।। २३४।।'

अर्थ- उत्पाद-व्यय, और ध्रौव्य इन तीनों में समयभेद नहीं है, किन्तु ये उत्पादादिक तीनों ही एक समयवर्ती हैं; यह बात हेतु और दृष्टान्त दोनों से सिद्ध होती है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २३४ व अर्थ, पृष्ठ ४८)

प्रश्न १७- प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है- इस अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व कितने प्रकार का है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार का अस्तित्व है- (१) उत्पाद-व्ययरूप अस्तित्व, और (२) ध्रौव्यरूप अस्तित्व।

-'प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व दो तरह से रहते हैं- ध्रुव और उत्पाद-व्यय।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ ३३२)

-'(प्रत्येक) सत्ता का अस्तित्व ध्रुवता की अपेक्षा से तो सदृश है और उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से विसदृश है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २६५)

[**विशेष**- श्रीधवल ग्रन्थ में उत्पाद-व्यय को विरुद्ध और ध्रौव्य को अविरुद्ध कहा है। -'धवल ग्रन्थ में आता है कि एकसमय की **पर्याय** में उत्पाद-व्यय; अर्थात्, उपजना व विनशना- इस प्रकार दो परस्पर विरुद्ध कार्य होते हैं। जिस समय द्रव्य की वर्तमान पर्याय उत्पन्न होती है, उसी समय पूर्व की पर्याय का व्यय होता है। उत्पाद भावरूप है और व्यय अभावरूप है। इस कारण उत्पाद व्यय से विरुद्ध कहा जाता है। ऐसा होते हुए गुण गुणपने त्रिकाल कायम रहते हैं। इससे वे अविरुद्ध हैं, ऐसा विरुद्ध-अविरुद्ध वस्तु का स्वरूप ही है।' -**पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन श्रीप्रवचनरत्नाकर, प्रथम भाग, पृष्ठ ६३**]

प्रश्न १८- प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अस्तित्वरूप है- इस कथन में क्या आध्यात्मिक रहस्य है?

उत्तर- 'प्रत्येक द्रव्य एक समय में अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप त्रिस्वभाव का स्पर्श करता है; उसी समय निमित्त होनेपर भी परद्रव्य उनका स्पर्श नहीं करते। सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ आत्मा उस सम्यग्दर्शन के उत्पाद को, मिथ्यात्व के व्यय को, और श्रद्धारूप अपनी ध्रुवता को स्पर्श करता है; किन्तु सम्यक्त्व के निमित्तभूत ऐसे देव, गुरु या शास्त्र को स्पर्श नहीं करता। वे तो भिन्न स्वभावी पदार्थ हैं। ....परद्रव्य भी उसके अपने ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव में अनादिअनन्त वर्तता है।...........अहो! पदार्थों का यह एक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव भलीभाँति पहचान ले, तो भेदज्ञान होकर स्वद्रव्य के ही आश्रय से निर्मल पर्याय का उत्पाद और मलिनता का व्यय हो- उसका नाम धर्म है और वही सर्वज्ञभगवान के सर्व उपदेश का तात्पर्य है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ६२, पृष्ठ १९-२१)

-'आत्मा का उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है। उसे पहचाने तो पर की या विकार की ओर रुचि का जोर न रहकर ध्रुवस्वभावोन्मुख ही हो जाये।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २६२)

प्रश्न १९- प्रत्येक सत् में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अस्तित्व से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- उत्पाद-व्यय अर्थात् बदलना; ध्रौव्य अर्थात् कायमपना; प्रत्येक द्रव्य का कायम रहकर बदलना उसका स्वभाव है- ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अस्तित्व से सिद्ध होता है।

-'प्रत्येक वस्तु का स्वरूप "स्थायी रहते हुये बदलना है"। उसे इङ्गलिश में PERMANANCY WITH A CHANGE (परिवर्तन के साथ स्थायित्व) कहा है। उसे दूसरी तरह यों भी कह सकते हैं कि- NO SUBSTANCE IS DESTROYED; EVERY SUBSTANCE CHANGES ITS FORM. (किसी वस्तु का नाश नहीं होता; प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है)।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ३५४)

प्रश्न २०- विश्व के अनन्त द्रव्यों की अपेक्षा अस्तित्व कितने प्रकार का है?

उत्तर- अनन्त द्रव्यो की अपेक्षा अस्तित्व के दो प्रकार हैं- सादृश्यअस्तित्व, और स्वरूपअस्तित्व। सादृश्यअस्तित्व को महासत्ता तथा स्वरूपअस्तित्व को अवान्तरसत्ता भी कहा जाता है।

-'सत्ता द्विविध है- महासत्ता, और अवान्तरसत्ता। उनमे, सर्व पदार्थसमूह में व्याप्त होनेवाली, "सादृश्यअस्तित्व" को सूचित करनेवाली महासत्ता है। दूसरी प्रतिनिश्चत (एक-एक निश्चित) वस्तु में रहनेवाली, "स्वरूपअस्तित्व" को सूचित करनेवाली अवान्तरसत्ता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २२)

-'(इस विश्व में) द्रव्य का स्वभाव वह अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय है; अस्तित्व दो प्रकार का है- (१) स्वरूप-अस्तित्व, (२) सादृश्य-अस्तित्व।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९५ की टीका, पृष्ठ १७८-१७९)

-**'एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च।'** **-अर्थ-** सत्ता दो प्रकार की है -एक महासत्ता (सादृश्यअस्तित्व) है, और दूसरी अवान्तरसत्ता (स्वरूपअस्तित्व) है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, गाथा २६४ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ ५४)

प्रश्न २१- सादृश्यअस्तित्व; अर्थात्, महासत्ता किसे कहते हैं?

उत्तर- 'समस्त पदार्थो के अस्तित्वगुण को ग्रहण करनेवाली सत्ता को महासत्ता कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ८१, पृष्ठ १७)

-**'किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि।**
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता।। २६५।।'

अर्थ- किन्तु सब पदार्थों में अन्वयरूप से जो 'सत्' इस प्रकार का कथन किया जाता है, उसे सामान्यमात्र का ग्राहक होने से सत्सामान्य की अपेक्षा महासत्ता (सादृश्यअस्तित्व) कहते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २६५ व अर्थ, पृष्ठ ५४)

-'इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं।। ९७।।

अन्वयार्थ- धर्म का वास्तव में उपदेश करते हुये जिनवरवृषभ ने इस विश्व में विविध लक्षणवाले (भिन्न भिन्न स्वरूपास्तित्ववाले सर्व) द्रव्यों का "सत्" ऐसा सर्वगत (सबमें व्यापनेवाला) लक्षण (सादृश्यअस्तित्व) एक कहा है।'

टीका- विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ, सर्वद्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहनेवाला, और प्रत्येक द्रव्य की बँधी हुई सीमा की अवगणना करता हुआ, "सत्" ऐसा सर्वगत सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्व है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९७, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १८८)

-'वह (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकरूप महासत्ता) "एक" है, क्योंकि वह त्रिलक्षणवाले समस्त वस्तुविस्तार का सादृश्य सूचित करती है; और वह "सर्वपदार्थस्थित" है, क्योंकि उसके कारण ही (महासत्ता के कारण ही) सर्व पदार्थों में त्रिलक्षण की (उत्पादव्ययध्रौव्य की), "सत्" ऐसे कथन की तथा "सत्" ऐसी प्रतीति की उपलब्धि होती है; और वह (महासत्ता) "सविश्वरूप" है, क्योंकि वह विश्व के रूपोंसहित; अर्थात्, समस्त वस्तुविस्तार के त्रिलक्षणवाले स्वभावोंसहित वर्तती है; और वह (महासत्ता) "अनन्तपर्यायमय" है, क्योंकि वह त्रिलक्षणवाली अनन्त द्रव्यपर्यायरूप व्यक्तियों से व्याप्त है।' इस प्रकार महासत्ता अर्थात् सादृश्यअस्तित्व का स्वरूप जानना।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २१)

प्रश्न २२- स्वरूपअस्तित्व; अर्थात्, अवान्तरसत्ता किसे कहते है?

उत्तर- 'किसी विवक्षित पदार्थ की सत्ता को अवान्तरसत्ता (स्वरूपअस्तित्व) कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ८३, पृष्ठ १७)

-'अपि चावान्तरसत्ता सद् द्रव्यं सन् गुणश्च पर्यायः।

सच्चोत्पादध्वंसौ सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः।। २६६।।'

अर्थ- तथा द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्य है- इस प्रकार जितना भी विस्तार है, वह अवान्तरसत्ता (स्वरूपअस्तित्व) कहलाता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २६६ व अर्थ, पृष्ठ ५४)

-'जैसे द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से, कुण्डलादि-उत्पादों से, बाजूबन्धादि-

व्ययों से, और पीतत्वादिध्रौव्यों से जो पृथक् नहीं दिखायी देता............ऐसे सुवर्ण का मूलसाधनपने से उनसे निष्पन्न होता हुआ जो (स्वरूप) अस्तित्व है, वह स्वभाव है। उसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों से, जो पृथक् दिखायी नहीं देता...............ऐसे द्रव्य का मूलसाधनपने से उनसे निष्पन्न होता हुआ जो (स्वरूप) अस्तित्व है, वह स्वभाव है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९६ की टीका, पृष्ठ १८६)

-'इस विश्व में विचित्रता को विस्तारित करते हुए (विविधता-अनेकता को दिखाते हुए), अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त (भिन्न-भिन्न) रहकर प्रवर्तमान, और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए -ऐसे विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से (समस्त द्रव्य) लक्षित होते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९७ की टीका, पृष्ठ १८८)

-'द्रव्य को निश्चित करनेवाला स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व कहा गया है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५४ की टीका, पृष्ठ ३१३)

प्रश्न २३- सादृश्यअस्तित्व और स्वरूपअस्तित्व से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- सादृश्यअस्तित्व; अर्थात्, महासत्ता की अपेक्षा से देखें, तो सर्व पदार्थों में एकत्व सिद्ध होता है। स्वरूपअस्तित्व; अर्थात्, अवान्तरसत्ता की अपेक्षा से देखें, तो प्रत्येक पदार्थ की भिन्नता सिद्ध होती है।

-'(छः) प्रकार के द्रव्यों का अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है; इसलिये स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा से उनमें अनेकत्व है, परन्तु सत्पना (अस्तित्वपना; "है" ऐसा भाव) जो कि सर्वद्रव्यों का सामान्य लक्षण है और जो सर्वद्रव्यों में सादृश्य बतलाता है उसकी अपेक्षा से सर्वद्रव्यों में एकत्व है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९७ की टीका, पृष्ठ १९०)

-'(सर्वपदार्थ), महासत्तारूप (सादृश्यअस्तित्वरूप) और अवान्तरसत्तारूप (स्वरूप-अस्तित्वरूप) होने से (१) सत्ता भी है और असत्ता भी है, (२) त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है, (३) एक भी है और अनेक भी है, (४) सर्वपदार्थस्थित भी है और एकपदार्थस्थित भी है, (५) सविश्वरूप भी है और एकरूप भी है, (६) अनन्तपर्यायमय भी है और एकपर्यायमय भी है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८ का भावार्थ, पृष्ठ २४)

[विशेष स्पष्टीकरण के लिये श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८ की टीका व भावार्थ देखें।]

-'वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं; तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। पररूप परिणमन न करने से अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती; इसलिये वे टङ्कोत्कीर्ण की भाँति (शाश्वत) स्थित

रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य (उत्पाद-व्यय) तथा अविरुद्ध कार्य (ध्रौव्य) दोनों की हेतुता से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं- टिकाये रखते हैं। इस प्रकार सर्व पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होता है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ११)

प्रश्न २४- स्वरूपअस्तित्व का ज्ञान क्यों कराया जाता है?

उत्तर- द्रव्य का निर्णय करने का साधन स्वरूपअस्तित्व है। स्व-पर का भेदविज्ञान ही धर्म का मूल है।

-'द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययरूप से त्रयात्मक भेदभूमिका में आरूढ़- ऐसा यह द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ, परद्रव्य के प्रति मोह को दूर करके स्व-पर के विभाग का हेतु होता है। इसलिये स्वरूपअस्तित्व ही स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये पद-पद पर अवधारना (लक्ष्य में लेना) चाहिए।' तथा,

-'मनुष्य, देव इत्यादि अनेकद्रव्यात्मक पर्यायों में भी जीव का स्वरूपअस्तित्व और प्रत्येक परमाणु का स्वरूपअस्तित्व सर्वथा भिन्न-भिन्न है। सूक्ष्मता से देखने पर वहाँ जीव और पुद्गल का स्वरूपअस्तित्व स्पष्टतया भिन्न जाना जा सकता है। स्व-पर का भेद करने के लिये जीव को इस स्वरूपास्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५४ की टीका व भावार्थ, पृष्ठ ३१३-३१४)

प्रश्न २५- स्व-पर का भेदविज्ञान करने के लिये स्वरूपअस्तित्व में अनेकान्त किस प्रकार घटित करना चाहिए?

उत्तर- मुझ आत्मा के स्वरूपअस्तित्व; अर्थात्, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव का परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावरूप अस्तित्वों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मुझ आत्मा में स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का अस्तित्व है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का नास्तित्व है। इस प्रकार वस्तु का अनेकान्त स्वरूप समझने से निज पद की प्राप्ति होती है।

-'जीव अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है- ऐसा कहने पर जीव परद्रव्य-क्षेत्र -काल-भाव से असत् है।' (इस प्रकार अनेकान्त द्वारा वस्तु का निश्चय करना चाहिए।)

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ३६०)

-'अस्तित्व प्रगटरूप से तथा नास्तित्व गर्भितरूप से कहकर यह बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्व से है और पररूप से न होने से एक द्रव्य अपना सब कुछ कर सकता है, किन्तु दूसरे द्रव्य का कभी कुछ नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त का नाम "अनेकान्त" है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५३)

–'अनेकान्त का स्वरूप ऐसा है कि ज्ञान तभी निर्मल हो सकता है जब प्रत्येक पदार्थ की स्थिति उस प्रकार से प्रतिभासित होने लगे।..........इसके लिये सर्व प्रथम द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा अस्तित्व और नास्तित्व को घटित किया गया है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २६४-२६९ का विशेषार्थ, पृष्ठ ५५)

[**विशेष**- स्वद्रव्य अपेक्षा से अस्तित्व और परद्रव्य अपेक्षा से नास्तित्वरूप अनेकान्त के विशेष स्पष्टीकरण के लिये **श्रीसमयसार परिशिष्ट के श्लोक** २५२ से २५९ देखें।]

प्रश्न २६- अस्तित्वगुण को कब माना और कब नहीं माना?

उत्तर- **शुद्ध ज्ञान-दर्शन** उपयोगमयी जीवतत्त्व के एक अस्तित्व का शरीरादि परद्रव्यो के **अनन्त अस्तित्वों से** सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्येक अस्तित्व का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव **सर्वथा भिन्न-भिन्न है**- ऐसा माननेवाले ने अस्तित्वगुण को माना और शरीरादि परद्रव्यों के अनन्त अस्तित्वों में निजात्मा के अस्तित्व की कल्पना करनेवाले ने अस्तित्वगुण को नहीं माना।

प्रश्न २७- अस्तित्वगुण को जानने के कितने लाभ हैं?

उत्तर- अस्तित्वगुण को जानने से निम्न लाभ हैं-

१. अस्तित्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अनादिअनन्त व अजर अमर है- ऐसा मानने से सात प्रकार के भयों का अभाव हो जाता है;

२. 'ईश्वर उत्पन्न करता है- रक्षा करता है- नाश करता है'; 'कर्म उत्पन्न करते हैं- रक्षा करते हैं- नाश करते हैं'; 'मैं दूसरो को, दूसरे मुझे उत्पन्न करते हैं- रक्षा करते हैं- नाश करते हैं'; आदि खोटी मान्यताओं का अभाव हो जाता है;

३. अस्तित्वगुण से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सिद्धि हो जाती है;

४. प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अस्तित्वस्वरूप है- ऐसा मानने से पर में एकत्व, कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व की बुद्धि का अभाव हो जाता है;

५. सादृश्यअस्तित्व से प्रत्येक द्रव्य की समानता का निश्चय होने से पर की महिमा छूट जाती है; और

६. प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप अस्तित्व भिन्न-भिन्न है- ऐसा मानते ही स्व-पर का भेदविज्ञान हो जाता है।

वस्तुत्वगुण

प्रश्न २८- वस्तुत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस शक्ति के कारण से द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व हो, उसे वस्तुत्वगुण कहते हैं।

– 'जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में अर्थक्रिया हो, उसको वस्तुत्वगुण कहते हैं; जैसे, घड़े की अर्थक्रिया जलधारण है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ८, पृष्ठ २)

– 'जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रिया हो (प्रयोजनभूत क्रिया) हो; जैसे कि, आत्मा की अर्थक्रिया जानना, आदि है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १००, पृष्ठ ३१)

– 'प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया (FUNCTIONALITY) करता ही है..... (क्योंकि) प्रत्येक द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व होता है, उसे वस्तुत्वगुण कहते हैं।'

(जिनधर्मप्रवेशिका, ब्र० यशपालजैन, प्रश्न ७३, पृष्ठ २३)

प्रश्न २९– 'अर्थक्रियाकारित्व' का क्या अर्थ है?

उत्तर– अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजनभूतक्रिया– (१) प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करता है अथवा द्रव्य में जो कार्य होता है, उसे ही प्रयोजनभूत क्रिया कहते हैं; (२) प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण अपना-अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है; जैसे, जीव का ज्ञानगुण जानने का ही कार्य करेगा; श्रद्धागुण श्रद्धान का ही कार्य करेगा, आदि।

– 'वस्तुत्वगुण के कारण द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है; जैसे, घड़ा पानी को धारण करता है। उसी तरह द्रव्य स्वयं ही अपने गुण-पर्यायों का प्रयोजनभूत कार्य करता है। एक द्रव्य किसी प्रकार किसी दूसरे द्रव्य का कार्य नहीं करता और न कर सकता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३१४)

– 'जो अनेकान्तात्मक वस्तु है, सो अर्थक्रियाकारी है–

जं वत्थु अणेयंतं, तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।

बहुधम्मजुदं अत्थं, कज्जकरं दीसदे लोए।। २२५।।'

अन्वयार्थ– जो वस्तु अनेकान्त है; अनेक धर्मस्वरूप है, सो ही नियम से कार्य करती है। लोक में बहुत धर्मों से युक्त पदार्थ ही कार्य करनेवाले देखे जाते हैं।

भावार्थ– लोक में नित्य, अनित्य, एक, अनेक भेद इत्यादि अनेक धर्मयुक्त वस्तुएँ हैं; सो कार्यकारिणी दिखायी देती हैं; जैसे, मिट्टी के घड़े आदि अनेक कार्य बनते हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २२५, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ १०२)

– 'अर्थक्रियाकारी; अर्थात्, प्रयोजनभूत क्रिया करनेवाला।'

(श्रीनियमसार, गाथा १७०, पृष्ठ ३४३ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ३०– यदि द्रव्य अर्थक्रिया; अर्थात्, प्रयोजनभूत क्रिया न करे तो क्या दोष उत्पन्न होता है?

उत्तर- वस्तुत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य व गुण अपना-अपना प्रयोजनभूत कार्य करता ही रहता है। यदि न करे तो- (१) द्रव्य कार्यरहित हो जाये और कोई भी द्रव्य या गुण कार्यरहित; अर्थात्, निकम्मा होता ही नहीं; और (२) कार्य के बिना वस्तु की सिद्धि ही नहीं होगी।

-'जो अर्थक्रियास्वरूप होवे सो ही परमार्थरूप वस्तु कही है और जो अर्थक्रियारूप नहीं है, सो आकाश के फूल समान शून्यरूप है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २२६ का भावार्थ, पृष्ठ १०२)

-'प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया करता ही है। यदि द्रव्य अर्थक्रिया न करे, तो वह कार्यरहित हो जाये; किन्तु व्यर्थ का (अपने कार्यरहित) कोई द्रव्य होता ही नहीं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५२)

-'यदि वस्तु को केवल ध्रुव ही माना जाये, तो दो दोष आते हैं। एक दोष यह है कि ध्रौव्य का ही नाश हो जायेगा तथा उत्पाद और व्यय के बिना वह अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकेगा और अर्थक्रिया के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

(श्रीचिद्विलास, अध्याय तीसरा, पृष्ठ ५५)

प्रश्न ३१- 'वस्तुत्वगुण' क्या सिद्ध करता है?

उत्तर- वस्तुत्वगुण सिद्ध करता है कि- (१) प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी अर्थक्रिया; अर्थात्, प्रयोजनभूत कार्य करता ही रहता है; और (२) प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण भी अपनी-अपनी अर्थक्रिया; अर्थात्, प्रयोजनभूत कार्य करता ही रहता है।

प्रश्न ३२- द्रव्य का 'वस्तु' नाम क्यो है?

उत्तर- जिनागम में द्रव्य का 'वस्तु' नाम अनेक कारणों से वर्णित है-

१. वस्तुत्वगुण की मुख्यता से द्रव्य को वस्तु कहते हैं;

-'वस्तुत्वगुण के कारण जो स्वयं अपनी क्रिया करे, वही वस्तु कही जाती है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५२)

२. जो अपनी गुण-पर्यायों में बसती है, उसे वस्तु कहते हैं; और

-'बसे हैं, एकीभाव रूप निवसै है, गुण, पर्याय जा विषैं, सो वस्तु (ज्ञेयपदार्थ) जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ७३०)

-'अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है, सो समय है।' (यहाँ समय से तात्पर्य जीवादि समस्त वस्तुएँ जानना।)

(श्रीसमयसार, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ११)

३. जिसमें सामान्य-विशेष स्वभाव हो, उसे वस्तु कहते हैं।

-सामान्य और विशेष के द्वारा वस्तु प्रगट होती है। वही कहते हैं- यदि वस्तु में सिर्फ

सामान्य ही कहा जाये, तो विशेष के बिना वस्तु का गुण नहीं जाना जा सकता और गुण के बिना वस्तु नहीं जानी जा सकती। अत: सामान्य को विशेष प्रगट करता है और यदि सामान्य न हो, तो विशेष कैसे उत्पन्न हो? अत: विशेष को सामान्य प्रगट करता है। इस प्रकार वस्तु सामान्य-विशेषमय सिद्ध होती है। कहा भी है-

-'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषं तद्वदेव हि।।'

अर्थ- वास्तव में विशेषरहित सामान्य और सामान्यरहित विशेष गधे के सींग के समान है।

(श्रीचिद्विलास, अधिकार ४, पृष्ठ ६०-६१)

-'सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा।
नासिद्धो धातुसंज्ञोऽपि कश्चित्पीत: सितोऽपर:।। १।।'

अर्थ- जिस प्रकार कोई धातु पीली और कोई धातु सफेद होती है; यह बात असिद्ध नहीं है, उसी प्रकार वस्तु सामान्यरूप और विशेषरूप होती है; यह बात भी स्वत:सिद्ध है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १ व अर्थ, पृष्ठ १४९)

-'वस्तु सामान्य-विशेषस्वरूप है; जैसे, वस्तु का सामान्य अंश स्वत: है, परत: नहीं है; वैसे वस्तु का विशेषअंश भी स्वत: है, परत: नहीं है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, श्रीवस्तुविज्ञानसार, पृष्ठ ९४)

-'वस्तु को ग्रहण करता है, वह प्रमाण है। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ की टीका, पृष्ठ २१६)

-'द्रव्य अंशी है और पर्याय उसका एक अंश है। अंशी को सामान्य कहते हैं और अंश को विशेष कहते हैं। इस सामान्य और विशेष को मिलाकर वस्तु का अस्तित्व है। सामान्य-विशेष के बिना कोई सत् पदार्थ नहीं होता।

(पूज्य गुरुदेवश्री, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ २२०)

प्रश्न ३३- द्रव्य का 'वस्तु' नाम क्या सिद्ध करता है?

उत्तर- द्रव्य का वस्तु नाम सिद्ध करता है कि- (१) प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्यायों में बसती है; और (२) प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषस्वरूप है; इसलिये प्रत्येक वस्तु व गुण अपना-अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है। एक वस्तु अपना सब कुछ कर सकती है, परन्तु दूसरी वस्तु का कभी कुछ नहीं कर सकती।

-'वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य क: किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि।। २१३।।'

श्लोकार्थ- इस लोक में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है; इसलिये वास्तव में वस्तु वस्तु

ही है- यह निश्चय है। ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है?

(श्रीसमयसार, कलश २१३ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ४८१)

- 'वस्तु के पर्यायस्वभाव के कारण वस्तु का अपना ही एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।'

(श्रीसमयसार, कलश २१४ का भावार्थ, पृष्ठ ४८२)

- 'वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है; अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं। अन्य के परिणाम का अन्य आश्रित नहीं होता) और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है); इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है- (यह निश्चय सिद्धान्त है)।'

(श्रीसमयसार, कलश २११ का श्लोकार्थ, पृष्ठ ४८०)

- '**णवणवकज्जविसेसा, तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणं।**
एक्केक्कम्मि य समये, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज।। २२९।।'

अन्वयार्थ- जीवादिक वस्तुओं के तीनों ही कालों मे एक-एक समय में पूर्व-उत्तर परिणाम के आश्रय करके नवीन-नवीन कार्य विशेष होते हैं; नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २२९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०३)

- 'जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है; ऐसी वस्तु अन्य वस्तु के बाहर यद्यपि लोटती है, तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नही करती, क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं।'

(श्रीसमयसार, कलश २१२ का श्लोकार्थ, पृष्ठ ४८१)

- 'वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती), क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। इसलिये उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों की सत्ताएँ भिन्न-भिन्न हैं); और इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, तब उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिये (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) आधाराधेयसम्बन्ध है।'

(श्रीसमयसार, गाथा १८१ से १८३ की टीका, पृष्ठ २७४)

- 'इस जगत में वस्तु है। वह (वे अपने) स्वभावमात्र ही है और "स्व" का भवन (होना) वह स्व-भाव है (अर्थात् अपना जो होना-परिणमना सो स्वभाव है)।'

(श्रीसमयसार, गाथा ७१ की टीका, पृष्ठ १२३)

-' "वस्तु" नाम यह भी सूचित करता है कि प्रत्येक द्रव्य के गुण, पर्याय अपने-अपने द्रव्य में ही बसते हैं; इसलिये जीव के गुण-पर्याय शरीर में अथवा परद्रव्य में वास नहीं करते। प्रत्येक जीव के गुण-पर्याय उस उस जीव में बसते हैं; इसलिये जीव को सचमुच किसी अन्य द्रव्य का अवलम्बन लेना पड़े- यह सम्भव ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने में ही परिपूर्ण है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १०२, पृष्ठ ३२)

प्रश्न ३४- यदि दो वस्तुएँ मिलकर एक अर्थक्रिया को करें, तो क्या दोष उत्पन्न होता है?

उत्तर- वस्तुत्वगुण के कारण प्रत्येक वस्तु अपना प्रयोजनभूत कार्य स्वयं ही करती है। यदि दो वस्तुएँ मिलकर एक अर्थक्रिया को करें, तो प्रत्येक वस्तु की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता खण्डित हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

-'जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं।। ८५।।'

टीका- यदि (जीव) व्याप्यव्यापकभाव से पुद्‌गलकर्म को भी करे और भाव्यभावकभाव से उसी को भोगे, तो वह जीव अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसङ्ग आने पर, स्व-पर का परस्पर विभाग अस्त हो जाने से, अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिता के कारण सर्वज्ञ के मत के बाहर है।

(श्रीसमयसार, गाथा ८५ व टीका, पृष्ठ १४५)

-'जो दो वस्तुएँ हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं; प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती; एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक (अर्थ) क्रिया नहीं होती -ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों, तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाये।'

(श्रीसमयसार, कलश ५३ का भावार्थ, पृष्ठ १४८)

-'दोनों द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय में रहते हैं; कोई किसी का व्याप्य-व्यापक नहीं है; अर्थात्, जीव में न तो पुद्‌गल का प्रवेश होता है और न पुद्‌गल में जीव का प्रवेश होता है। इससे जीवपदार्थ पौदगलिक कर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है।'

(श्रीसमयसारनाटक, सर्वविशुद्धिद्वार, दोहा १२ का अर्थ, पृष्ठ २५०)

-'क्रिया एक करता जुगल, यौं न जिनागम माहि।
अथवा करनी औरकी, और करै यौं नाहि।। २१।।'

अर्थ- क्रिया एक और कर्ता दो- ऐसा कथन जिनराज के आगम में नहीं है अथवा किसी भी क्रिया को कोई करे- ऐसा भी नहीं हो सकता।'

(श्रीसमयसारनाटक, सर्वविशुद्धिद्वार, दोहा २१ व अर्थ, पृष्ठ २५३-२५४)

–'विश्व में अनन्त पदार्थ अनन्तपने एक-दूसरे से पृथक्रूप से रहते हैं; वे एक-दूसरे का कार्य करें, तो अनन्तता नहीं रहेगी। अनन्त आत्माएँ, अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य आदि विश्व में अनन्तानन्त द्रव्य हैं; वे सब अपने-अपने से हैं। द्रव्य-गुण तो स्वयं से हैं ही; उन द्रव्यों की पर्यायें भी स्वयं से ही हैं। तब ही वे अनन्त रहती हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ २९)

–'एक वस्तु अन्य वस्तु के बाहर ही लोटती है और अन्य वस्तु से बाहर लोटती वस्तु अन्य का क्या करे? पानी से बाहर लोटती अग्नि पानी को स्पर्शे बिना गर्म किस प्रकार कर सकती है? शाक से बाहर लोटता चाकू शाक के खण्ड कैसे कर सकता है? शाक के टुकड़े की पर्याय वस्तु से स्वयं से ही स्वयं होती है; उससे बाहर लोटती वस्तु उसे छूती ही नहीं, तो उसका क्या करे? समयसार गाथा ३ में कहा है कि प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्याय को स्पर्शती है, चुम्बती है; किसी अन्य वस्तु को स्पर्श ही नहीं करती। तो उसका करे ही क्या? मात्र कर्तापने का अभिमान अज्ञानी करता है। प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने से ही स्वतन्त्रतया परिणमन करती है- ऐसा सर्वज्ञदेव की दिव्य-ध्वनि में ढिंढोरा पीटा गया है। तथापि किसी एक द्रव्य को मैं पलट सकता हूँ, उसका कुछ कर सकता हूँ- ऐसी मान्यता में अनन्ते पदार्थों को भी मैं पलट सकता हूँ- ऐसी अनन्त कर्तृत्वबुद्धि होने से वह मोटा मिथ्यात्व है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर ५२८, पृष्ठ २००)

प्रश्न ३५- वस्तुत्वगुण को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- वस्तुत्वगुण सम्बन्धी जानकारी से अनेक लाभ हैं-

१. प्रत्येक द्रव्य व गुण अपना-अपना प्रयोजनभूत कार्य करता ही रहता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्यायों में बसती है व अपने सामान्य-विशेषरूप स्वभाव में रहती है और स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता- ऐसा जानते-मानते ही मोह-रागद्वेष का अभाव होकर धर्म की प्राप्ति हो जाती है;

–'ज्ञान ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारों कारणों के एकत्रित होनेपर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है। उसे छोड़ देनेपर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा, और वस्तु का उच्छेद तो होता नहीं है, क्योंकि सत् का नाश होना असम्भव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से आक्रान्त (घिरा हुआ) होता हुआ भी रागी नहीं होता; द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता, किन्तु वह शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है।'

(श्रीसमयसार, गाथा १८५ की टीका, पृष्ठ २७८)

-'वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम।। १७।।'

(श्रीसमयसारनाटक, उत्थानिका, दोहा १७, पृष्ठ १३)

२. प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषस्वरूप होने से अपना-अपना प्रयोजनभूत कार्य करती ही रहती है और वह कार्य एक समय भी रुकता नहीं है- इससे क्रमबद्ध-क्रमनियमित पर्याय की सिद्धि हो जाती है;

-'पुण्य-पाप अधिकार की गाथा १६० में कहा है कि आत्मद्रव्य स्वयं ही "ज्ञान" होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है।............ यहाँ "विश्व को सामान्य-विशेषरूप से जानने का स्वभाव" कहने से उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात भी समा गयी।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ६३)

-'जीव अपने परिणाम भी चाहे जैसे इच्छानुसार नहीं कर सकता; किन्तु जो परिणाम क्रमसर-जैसा होना है, वही होता है; आगे-पीछे मनचाहा नहीं हो सकता। जगत में सब कुछ व्यवस्थित, क्रमसर होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर ५५३, पृष्ठ २१०)

-'प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि.........सर्वद्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३०८ से ३११ की टीका, पृष्ठ ४३८)

३. प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष स्वभाववाली होने के कारण अपनी प्रयोजनभूत क्रिया स्वयं ही करती है, ऐसा सिद्ध होने से 'निमित्त से उपादान में कुछ होता है'- ऐसी खोटी मान्यता का अभाव हो जाता है और वस्तु की स्वतन्त्रता का पता चल जाता है;

-'सर्व द्रव्य अपने स्वभाव को उल्लंघन न करते होने से निमित्तभूत अन्य द्रव्य अपने (अर्थात् सर्वद्रव्यों के) परिणामों के उत्पादक हैं ही नहीं; सर्व द्रव्य ही निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्पर्श न करते हुए; अपने स्वभाव से अपने परिणामभावरूप से उत्पन्न होते हैं।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३७२ की टीका, पृष्ठ ५०४)

-'उपादान है, निमित्त है; दोनों का अस्तित्व होते हुए भी दोनों स्वतन्त्र हैं, अपना-अपना कार्य स्वयं करते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, वस्तुविज्ञानसार, पृष्ठ ३९)

-'उपादान और निमित्त दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं; वे एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकते'

–'छहों द्रव्यों में अनादिअनन्त प्रत्येक समय कार्य होता ही रहता है; किसी भी समय कोई भी द्रव्य कार्यरहित नहीं होता और उस प्रत्येक कार्य के समय उपादानकारण और निमित्तकारण– दोनों सुनिश्चितरूप से होते ही हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, निमित्तोपादानविवेचन, पृष्ठ १३३ व २८८)

–'सामान्य किसी भी समय निर्विशेष नहीं होता; प्रत्येक समय सामान्य का विशेष कार्य तो होता ही है। चाहे जितना छोटा कार्य हो, तो भी वह सामान्य के परिणमन से ही होता है। निगोद से लेकर केवलज्ञान तक आत्मा की सर्व परिणति अपने से ही है। इस प्रकार जहाँ स्वतन्त्रता अपनी प्रतीति में आती है............निमित्त के अवलम्बन का चूरा हो जाता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, वस्तुविज्ञानसार, पृष्ठ १०५)

४. प्रत्येक वस्तु अपनी गुण–पर्यायरूप; अर्थात्, सामान्य–विशेषस्वभाव की मर्यादा में रहकर प्रतिसमय अपना प्रयोजनभूत कार्य करती रहती है– ऐसा श्रद्धान होते ही सम्पूर्ण दुःख का अभाव हो जाता है;

–'अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न–भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं; कोई किसी के अधीन नहीं है; कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होतीं।' ऐसा श्रद्धान हो जाये, तो सर्व दुःख दूर हो जायें।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५२)

५. प्रत्येक वस्तु सामान्य–विशेषस्वरूप है– ऐसा जानकर अपने सामान्य–विशेषस्वभाव का आश्रय ले, तो शुद्धज्ञान की प्राप्ति होती है; और

–'अन्य द्रव्यों से भिन्न, अपने में ही नियत, पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ (वस्तु का स्वरूप सामान्य–विशेषात्मक होने से स्वयं भी सामान्यविशेषात्मक को धारण करता हुआ) ग्रहण–त्याग से रहित, यह अमल (रागादि मल से रहित) ज्ञान अवस्थित अनुभव में आता है।'

(श्रीसमयसार, कलश २३५ का श्लोकार्थ, पृष्ठ ५५४)

६. वस्तुत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वतः क्रमबद्धरूप से अपनी प्रयोजनभूत क्रिया करता ही रहता है– ऐसा जानने–मानने से पर में कर्ताबुद्धि का अभाव होकर ज्ञाताबुद्धि प्रगट हो जाती है।

–'प्रत्येक वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती रहती है। उसका मैं ज्ञाता हूँ किन्तु कर्ता नहीं हूँ– ऐसा निश्चय होने से कर्ताबुद्धि छूट जाती है और अकर्तृत्व; अर्थात्, साक्षीपना–ज्ञायकपना हो जाता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव–ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ३८)

प्रश्न ३६– वस्तुत्वगुण को कब माना और कब नहीं माना?

उत्तर- वस्तुत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य व गुण अपनी-अपनी प्रयोजनभूत क्रिया करता ही रहता है। मुझ आत्मा की जाननेरूप प्रयोजनभूत क्रिया का शरीरादि परद्रव्यों की प्रयोजनभूत क्रियाओं से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- ऐसी मान्यतावाले ने वस्तुत्वगुण को माना; और शरीरादि अनन्त परद्रव्यों के कार्य 'मैं करता हूँ'- ऐसी कल्पना करनेवाले ने वस्तुत्वगुण को नहीं माना।

द्रव्यत्वगुण

प्रश्न ३७- द्रव्यत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्थाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं, उसे द्रव्यत्वगुण कहते हैं।

-'जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य सर्वदा एकसा न रहे और जिसकी पर्यायें (हालतें) हमेशा बदलती रहें।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ९, पृष्ठ २)

-'जिस शक्ति के कारण द्रव्य सदा एकरूप से न रहे, पर उसकी अवस्था (पर्याय) हमेशा बदलती रहती है- उसे द्रव्यत्वगुण कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५२)

-'जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहती है, उसे द्रव्यत्वगुण कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १०३, पृष्ठ ३२)

-'जो द्रव्य को द्रवित करता है; व्याप्त करता है, वह द्रव्यत्वगुण है।'

(चिद्विलास, अध्याय ५, पृष्ठ १०१)

प्रश्न ३८- द्रव्यत्वगुण के कारण वस्तु को क्या कहते हैं?

उत्तर- द्रव्यत्वगुण के कारण वस्तु को द्रव्य कहते हैं।

-'द्रवीभूत (द्रव्यत्व) गुण के कारण ही द्रव्य को "द्रव्य" नाम मिलता है।'

(चिद्विलास, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १८)

-'द्रव्यत्वगुण की मुख्यता से द्रव्य का नाम "द्रव्य" है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १०४, पृष्ठ ३२)

-'**(सद् द्रव्यलक्षणम्**[१]**)** इस सूत्र में "द्रव्य" शब्द का प्रयोग किया है। वह ऐसा भी

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २९, पृष्ठ ३५१

बतलाता है कि उसमें "द्रव्यत्वगुण" है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५२)

प्रश्न ३९- द्रव्यत्वगुण के कारण वस्तु को द्रव्य क्यों कहते हैं?

उत्तर- द्रव्य में द्रव्यत्वगुण के कारण वह गुण-पर्याय को द्रवित करता है। गुण में द्रव्यत्वशक्ति है जिससे वह द्रव्य-पर्याय को द्रवित करता है। इस प्रकार द्रव्यत्वगुण द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में है; इसलिये द्रव्यत्वगुण के कारण वस्तु को "द्रव्य" कहते हैं।

-' **"द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्"**- यह लक्षण भी प्रमाण है, क्योंकि गुण-पर्यायों के द्रवित हुये बिना द्रव्य भी नहीं हो सकता। अत: द्रवणा द्रव्यत्वगुण से है। द्रव्य द्रवित होने से गुण-पर्याय को व्याप्त करके प्रगट करता है; अत: गुण-पर्याय का प्रगट होना द्रव्यत्वगुण से है; अत: द्रव्यत्व की विविक्षा से "द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्"- यह लक्षण भी प्रमाण है।'

(श्रीचिद्विलास, अध्याय १, पृष्ठ १५)

-'द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य है। द्रव्य, गुण-पर्यायों को द्रवित करता है; गुण-पर्यायें, द्रव्य को द्रवित रखते हैं; इसलिये वे "द्रव्य" नाम प्राप्त करते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ६३, पृष्ठ २२)

प्रश्न ४०- द्रव्यत्वगुण क्या सूचित करता है?

उत्तर- द्रव्यत्वगुण "निरन्तर परिणमन" को सूचित करता है। प्रत्येक द्रव्य में हर समय परिणमन हो रहा है; एक समय भी रुकता नहीं है; अर्थात्, प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है।

-'द्रव्यत्वगुण के कारण द्रव्य निरन्तर एक अवस्था में से दूसरी अवस्था में द्रवा करता है- परिणमन किया करता है। द्रव्य त्रिकाल अस्तिरूप है; तथापि वह सदा एक सदृश (कूटस्थ) नहीं है, परन्तु नित्य बदलनेवाला परिणामी है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३९४)

-**'वस्त्वस्ति स्वत: सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।'**

अर्थ- जिस प्रकार वस्तु स्वत:सिद्ध है, उसी प्रकार वह स्वत: परिणामी भी है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ८९ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ २०)

-'द्रव्यत्व के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों के प्रवाहरूप से द्रवित होता है, परिणमित होता है। किसी की राह देखनी पड़े, रुक जाये- ऐसा नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३५७)

प्रश्न ४१- द्रव्य के प्रत्येक गुण में भी नयी-नयी पर्यायें होने का क्या कारण है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण में प्रति समय नवीन-नवीन पर्यायें होती रहती हैं क्योंकि सर्व गुण भी निरन्तर परिणमनस्वभावी है और उसमें द्रव्यत्वगुण निमित्त है।

– **'वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।'**

अर्थ- जैसे वस्तु परिणमनशील है, वैसे ही गुण भी परिणमनशील है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ११२ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ २५)

– 'गुण नित्य हैं; तो भी वे बिना प्रयत्न के स्वभाव से ही प्रति समय परिणमन करते रहते हैं। वह परिणमन उनकी ही अवस्था है; उनसे जुदी नहीं है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ११७ का अर्थ, पृष्ठ २६)

प्रश्न ४२- प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में बहिरङ्ग निमित्तकारण कौन है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य व गुण अपने-अपने परिणमनस्वभाव के कारण परिणमते हैं; उसमें (परिणमन में) बहिरङ्ग निमित्तकारण कालद्रव्य है।

– 'सर्व द्रव्यों में पर्यायें प्रतिसमय उत्पन्न व नष्ट होती रहती हैं। इस प्रकार के परिणमन में निमित्त कालद्रव्य है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१६ का भावार्थ, पृष्ठ ९८)

– 'अपने उपादानरूप से स्वयमेव परिणमित पदार्थों को, कुम्हार के चाक को फिरने में नीचे की कीली के सहकारीपने की भाँति..............पदार्थपरिणमित में जो सहकारीपना, उसे "वर्तना" कहते हैं। यह "वर्तना" जिसका लक्षण है, वह वर्तना लक्षणवाला कालाणुद्रव्यरूप "निश्चयकाल" है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ की टीका, पृष्ठ ७०-७१)

प्रश्न ४३- क्या कालद्रव्य प्रत्येक द्रव्य को परिणमन कराता है?

उत्तर- सर्वथा नहीं! छहों द्रव्य अपनी-अपनी स्वभावभूत परिणमनशक्ति के कारण स्वयं परिणमन करते है; परद्रव्यों की किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं रखते।

– 'परिणमने की शक्ति स्वभावभूत सब द्रव्यों में है; अन्य द्रव्य निमित्तमात्र हैं।-

णियणियपरिणामाणं, णियणियदव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं बाहिरदव्वं, णिमित्तमित्तं वियाणेह।। २१७।।

अन्वयार्थ- सब द्रव्य अपने-अपने परिणमन के उपादानकारण हैं; अन्य बाह्यद्रव्य हैं। वे अन्य के निमित्तमात्र जानो।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१७ की उत्थानिका, गाथा व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९८)

प्रश्न ४४- द्रव्यत्वगुण से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- द्रव्यत्वगुण के कारण द्रव्य की अवस्थाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं- इससे सिद्ध होता है कि-

१. सर्वद्रव्यों की अवस्थाओं का परिवर्तन स्वयं के कारण स्वयं में ही होता है; दूसरा कोई उनकी अवस्था नहीं बदलता;

–'वस्तु के पर्यायस्वभाव के कारण वस्तु का अपना ही एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।'

(श्रीसमयसार, श्लोक २१४ का भावार्थ, पृष्ठ ४८२)

–'जगत में जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में और गुण में निजरस से ही अनादि से वर्तती है, वह...............अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है? (कभी नहीं करा सकती।)'

(श्रीसमयसार, गाथा १०३ की टीका, पृष्ठ १७३-१७४)

–'एक: परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणति: स्यादनेकमप्येकमेव यत:।। ५२।।'

श्लोकार्थ- वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है; एक के ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है) और एक की ही परिणति-क्रिया होती है, क्योंकि अनेकरूप होनेपर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है।

(श्रीसमयसार, श्लोक ५२ व श्लोकार्थ, पृष्ठ १४८)

–'द्रव्य के अनादिअनन्त प्रवाह में एक के बाद एक परिणाम क्रमश: होते रहते हैं;.. ....एक ही द्रव्य के एक परिणाम में दूसरे परिणाम का भी जहाँ अभाव है, वहाँ एक द्रव्य की अवस्था में दूसरा द्रव्य कुछ करे- यह तो बात ही कहाँ रहती है?'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २७४)

२. जीव की कोई अवस्था अजीव से- शरीरादि से नहीं बदलती और शरीरादि किसी परद्रव्य की अवस्था जीव से नहीं बदलती;

–'स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण और शब्दादिरूप परिणमते पुद्गल आत्मा से कहीं यह नहीं कहते हैं कि "तू हमें जान"; और आत्मा भी अपने स्थान से छूटकर उन्हें जानने को नहीं जाता। दोनों सर्वथा स्वतन्त्रतया अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हैं।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३७३ की उत्थानिका, पृष्ठ ५०६)

–'जगत के जड़ या चेतन, समस्त द्रव्य अपने प्रवाह में वर्तते हैं,............**मैं ध्यान** रखकर शरीर को बराबर रखूँ- ऐसा कोई माने तो मिथ्यादृष्टि है। शरीर का प्रत्येक परमाणु उसके अपने प्रवाहक्रम में वर्त रहा है; उसके क्रम को कोई बदल नहीं सकता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २८५)

३. जीव अपनी सत्ता में रहता हुआ अपने परिणमनरूप समय में स्वयं ही अशुद्ध अथवा शुद्ध और अल्पज्ञान अथवा पूर्णज्ञानरूप परिणमित होता है; बाह्य परद्रव्य तो निमित्तमात्र है; और

–'ससरूवत्थो जीवो, कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि।
खित्ते एकम्मि ठिदो, णियदव्वे संठिदो चेव॥ २३२॥'

अन्वयार्थ– जीवद्रव्य अपने चैतन्यस्वरूप में स्थित होता हुआ अपने ही क्षेत्र में स्थित रहकर अपने ही द्रव्य में रहता हुआ अपने परिणमनरूप समय में अपने पर्यायस्वरूप कार्य को सिद्ध करता है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०४)

–'जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥ ९॥'

अन्वयार्थ– जीव परिणामस्वभावी होने से जब शुभ या अशुभ भावरूप परिणमन करता है, तब शुभ या अशुभ (स्वयं ही) होता है और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है, तब (स्वयं ही) शुद्ध होता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १३)

–'आत्मा का त्रिकाल सामान्य ज्ञानस्वभाव अपने कारण से प्रतिसमय परिणमित होता है और जिस पर्याय में जैसी योग्यता होती है, उतना ही ज्ञान का विकास होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, वस्तुविज्ञानसार, पृष्ठ ६३)

–'आत्मा में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञानादि अवस्थाएँ बदलती हैं और ज्ञानस्वभावरूप से आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। यहाँ तो यह विशेष बतलाना है कि स्थित रहकर अवस्था बदलती है; वह अपने स्वभावभूत है। किसी अन्य के कारण आत्मा स्थित नहीं रहता और किसी अन्य के कारण उसकी अवस्था नहीं होती।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २७२)

–'वह (आत्मा) अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि जिस प्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित कराता है, उसी प्रकार आत्मा परिणमित होता है।'

(श्रीसमयसार, कलश २२१ का भावार्थ, पृष्ठ ५०५)

४. पुद्गलद्रव्य भी परिणमनस्वभाववाला होने से अपनी नयी-नयी अवस्थारूप स्वयं ही परिणमित होता है; जैसे, मिट्टी स्वयं ही घड़ेरूप परिणमती है; कुम्हार घड़ेरूप नहीं परिणमता।

–'स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य, स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥ ६४॥'

श्लोकार्थ– इस प्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई और उसके सिद्ध होनेपर पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है, उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

(श्रीसमयसार, श्लोक ६४ व श्लोकार्थ, पृष्ठ १८६)

–'प्रथम तो परमाणु के परिणाम होता है, क्योंकि वह (परिणाम) वस्तु का स्वभाव होने से उल्लंघन नहीं किया जा सकता।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १६४ की टीका, पृष्ठ ३२८)

–'(द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने से मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती; इसलिये कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं। मिट्टी ही कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से कुम्भभावरूप से उत्पन्न होती है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३७२ की टीका, पृष्ठ ५०३)

इस प्रकार सिद्ध होता है कि जीव, पुद्गलादि समस्त द्रव्यों की अवस्थाएँ उनके अपने-अपने परिणमनस्वभाव के कारण निरन्तर हो रही हैं। वस्तु का स्वभाव किसी की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रश्न ४५- यदि द्रव्यत्वगुण नहीं माने, तो क्या दोष उत्पन्न होगा?

उत्तर- द्रव्यत्वगुण नहीं मानने से द्रव्य के सर्वथा परिणमनरहित; अर्थात्, कूटस्थ हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

–'यदि द्रव्य में परिणमन न हो, तो जीव की संसारदशा का नाश होकर मोक्षदशा की उत्पत्ति कैसे हो? शरीर की बाल्य अवस्था में से युवकदशा कैसे हो? छहों द्रव्यों में द्रव्यत्वशक्ति होने से सभी स्वतन्त्ररूप से अपनी-अपनी पर्याय में परिणम रहे हैं; कोई द्रव्य अपनी पर्याय परिणमाने के लिये दूसरे द्रव्य की सहायता या अपेक्षा नहीं रखता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३९४)

–'जग को सर्वथा अपरिवर्तनशील मानने से दिन-रात का भेद और बालक-युवा आदि अवस्थाएँ कुछ भी नहीं बन सकती हैं। जहाँ दिन है, वहाँ दिन ही रहना चाहिए और जहाँ रात्रि है, वहाँ रात्रि ही रहनी चाहिए। इसी प्रकार जो बालक है, वह सदा बालक ही बना रहे और जो युवा है, वह सदा युवा ही बना रहे। परन्तु ऐसा होता नहीं।............जितने भी तत्त्व हैं, वे सदा एकरूप ही न रहकर अपने स्वभावानुसार परिवर्तन भी करते रहते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २४८-२६० का विशेषार्थ, पृष्ठ ५३)

प्रश्न ४६- द्रव्यत्वगुण को जानने से क्या लाभ हैं?

उत्तर- द्रव्यत्वगुण को जानने से अनेक लाभ हैं-

१. द्रव्यत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की स्वतन्त्रता का ज्ञान होने से पर में कर्ताबुद्धि का अभाव होकर ज्ञाता-दृष्टा बुद्धि प्रगट हो जाती है;

–'आत्मा अपने परिणामप्रवाह में स्थिर है और जड़पदार्थ जड़ के परिणामप्रवाह में स्थित हैं। दोनों पदार्थों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। जिसने पदार्थों का ऐसा स्वरूप जाना, उसके **"मैं** पर में कुछ फेरफार करता हूँ या पर के कारण मुझमें कुछ फेरफार होता है"- **ऐसी मिथ्याबुद्धि तो**

दूर हो गयी; इसलिये वह समस्त द्रव्यों का ज्ञाता रह गया।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २७४)

-'जब आत्मा इस प्रकार परिणमन करता है कि "मैं परद्रव्य को जानता हूँ", तब ज्ञाताभावरूप परिणमन करने से; अर्थात्, ज्ञप्तिक्रिया के करने से ज्ञाता ही है।'

(श्रीसमयसार, श्लोक ९७ का भावार्थ, पृष्ठ २१९)

२. 'मैं अपने परिणाम का कर्ता स्वयं हूँ'- ऐसा जानने से अपने परिणाम स्व-सन्मुख हो जाते हैं और धर्म की प्राप्ति होती है;

-'अपने में अपने परिणाम अपने से होते हैं- ऐसा निश्चित करनेपर अन्तर में जहाँ से परिणाम की धारा बहती है ऐसे ध्रुवद्रव्य सन्मुख देखना रहा और ध्रुव-सन्मुख देखते ही सम्यक् पर्याय का उत्पाद होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ३३०)

-'पदार्थों की स्वतन्त्रता समझने से अपने परिणाम का कर्ता स्वयं है; अन्य नहीं है। इस प्रकार समझने से पर से विमुख होकर अपने में परिणाम लगाकर आत्मा का अनुभव करना- यह लाभ है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्न ५६१, पृष्ठ २१३)

३. प्रत्येक द्रव्य के अनादिअनन्त प्रवाह में एक के बाद एक परिणाम क्रमशः होते रहते हैं -ऐसा जानने से सर्वज्ञता का निर्णय हो जाता है; और

-'तीनकाल के समस्त परिणामों का प्रवाह, वह द्रव्य का प्रवाहक्रम है और उस प्रवाह क्रम के एक समय का अंश, सो परिणाम है। तीनकाल के जितने समय हैं, उतने ही प्रत्येक द्रव्य के परिणाम हैं।..........कोई परिणाम आगे-पीछे नहीं होते। इस निर्णय में तो सर्वज्ञता का निर्णय और ज्ञायक द्रव्य की दृष्टि हो जाती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २९५)

४. प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय नवीन-नवीन पर्यायें स्वयं से हो रही हैं- ऐसा जानने से भूत-भविष्य की पर्यायों से भी दृष्टि हट जाती है।

-'द्रव्य के अनादिअनन्त प्रवाह में एक के बाद एक परिणाम क्रमशः होते रहते हैं।.. ....एक ही द्रव्य के एक परिणाम में दूसरे परिणाम का भी अभाव है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २७४)

-'पर्याय नानारूप होती है। जो परिणति पहले समय में थी, वह दूसरे समय में नहीं होती।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५६)

प्रश्न ४७- द्रव्यत्वगुण और वस्तुत्वगुण के भाव में क्या अन्तर है?

उत्तर- वस्तुत्वगुण बताता है कि प्रत्येक द्रव्य-गुण में प्रयोजनभूतक्रिया होती है और द्रव्यत्वगुण से उस प्रयोजनभूतक्रिया की निरन्तरता का पता चलता है।

-'प्रत्येक द्रव्य में निरन्तर, प्रतिसमय नयी-नयी अवस्थाएँ होती रहती है- ऐसा द्रव्यत्वगुण बतलाता है और प्रत्येक द्रव्य मे प्रयोजनभूतक्रिया उसके अपने से हो रही है; कोई द्रव्य अपना कार्य किये बिना नहीं रहता- ऐसा वस्तुत्वगुण बतलाता है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ११०, पृष्ठ ३४)

प्रश्न ४८- अस्तित्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्वगुण का क्या अभिप्राय है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य-गुण अनादिअनन्त कायम रहता हुआ, अपनी-अपनी प्रयोजनभूत क्रिया करता हुआ, निरन्तर परिणमित हो रहा है- ऐसा 'अस्तित्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्व गुणों' से अभिप्राय निकलता है।

प्रश्न ४९- अस्तित्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्वगुण को कब माना और कब नहीं माना?

उत्तर- मैं आत्मा अनादिअनन्त कायम रहता हुआ, अपनी जाननेरूप प्रयोजनभूतक्रिया करता हुआ, निरन्तर परिणमित हो रहा हूँ। मुझ आत्मा का विश्व के अन्य द्रव्यो से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है -ऐसा माननेवाले ने अस्तित्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्वगुण को माना; और निजात्मा के अलावा विश्व के अन्य द्रव्यों में एकत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व की कल्पना करनेवाले ने अस्तित्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्वगुण को नहीं माना।

प्रमेयत्वगुण

प्रश्न ५०- प्रमेयत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय अवश्य रहता है, उसे प्रमेयत्वगुण कहते हैं।

-'जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय हो, उसको प्रमेयत्वगुण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १०, पृष्ठ २)

-'ज्ञान होना- वह प्रमेयत्व का लक्षण है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३६१)

-'जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय हो, उसे प्रमेयत्वगुण कहते हैं'; तथा,

-'ज्ञात होने की शक्ति का नाम प्रमेयत्वगुण है। उसका व्युत्पत्तिअर्थ है- प्रमेयत्व = प्र + मेय + त्व। प्र = प्रकृष्टरूप से; विशेषत:। मेय = माप में आने योग्य (मा धातु का विध्यर्थ कृदन्त)। त्व = पना (भाववाचक प्रत्यय)। अर्थात्, प्रमेयत्व = प्रकृष्टरूप से माप में (ज्ञान में, ख्याल में) आने योग्यपना।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १११ व ११९, पृष्ठ ३५ व ३६)

प्रश्न ५१- प्रमेयत्वगुण किस-किस द्रव्य में पाया जाता है?

उत्तर- प्रमेयत्वगुण सामान्यगुण है। अत: छहों द्रव्यों के सम्पूर्ण भागों और सम्पूर्ण अवस्थाओं में त्रिकाल रहता है।

-'अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो अन्य (सब) प्रमेयत्व द्रव्यों के साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३९० से ४०४ का भावार्थ, पृष्ठ ५५३)

प्रश्न ५२- "किसी न किसी ज्ञान" से क्या तात्पर्य है?

उत्तर- मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, और केवलज्ञान- इन पाँच में से कोई भी एक या अधिक ज्ञान- यह तात्पर्य है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ११२, पृष्ठ ३५)

प्रश्न ५३- प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य को क्या कहते हैं?

उत्तर- प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य को प्रमेय अथवा ज्ञेय कहते हैं।

-'द्रव्य, गुण-पर्याय में व्यापता है; गुण, द्रव्य-पर्याय में व्यापता है; तथा पर्याय, द्रव्य-गुण में व्यापती है- तीनों अवस्थाएँ पदार्थ की हैं। (अत:) पदार्थ............प्रमेय के भाव को धरने से प्रमेयरूप है।'

(अनुभवप्रकाश, ज्ञेयाधिकार, पृष्ठ ६६)

प्रश्न ५४- ज्ञेयरूप द्रव्य कौन-कौनसे हैं?

उत्तर- प्रमेयत्वगुण सामान्यगुण होने के कारण समस्त द्रव्यों में पाया जाता है; अत: जीवादि छहों द्रव्य ज्ञेयरूप हैं।

-'प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य ज्ञात होते हैं। छहों द्रव्यों में इस प्रमेयशक्ति के होने से ज्ञान छहों द्रव्यों के स्वरूप का निर्णय कर सकता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३९४)

-'प्रमेयत्व के कारण प्रत्येक द्रव्य प्रमाणज्ञान में प्रमेयरूप होता है, ज्ञात होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मसिद्धि, पृष्ठ ३५७)

प्रश्न ५५- ज्ञान करने की और ज्ञात होने की- ये दोनों शक्तियाँ एकसाथ किसमें हैं?

उत्तर- ज्ञान करने की ज्ञाताशक्ति और ज्ञात होने की प्रमेयत्व ज्ञेयशक्ति- दोनों शक्तियाँ एक ही साथ जीवद्रव्य में ही हैं।

-'जीव में तो ज्ञातापना और प्रमेयत्वपना (ज्ञेयपना) दोनों हैं; इसलिये जीव की सामर्थ्य दुगुनी है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २१०)

प्रश्न ५६- इस विश्व में कुल ज्ञेय कितने हैं?

उत्तर- छहों द्रव्य, उनके (छहों द्रव्यों के) अनन्तानन्त गुण और प्रत्येक गुण की त्रिकालवर्ती पर्यायें ज्ञेय हैं।

-' **"ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं"**- जानने योग्य पदार्थ को ज्ञेय कहा जाता है।.......जितने कुछ निज द्रव्य-गुण, पर द्रव्य-गुण हैं; सर्वद्रव्यों की अतीत, अनागत, वर्तमानरूप तीनकाल की जितनी पर्यायें हैं; नव पदार्थ; द्रव्य-गुण-पर्याय; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य; -इन सबको आगम में ज्ञेय नाम से कहा है।'

(अनुभवप्रकाश, ज्ञेयाधिकार, पृष्ठ ६६-६७)

-'णाणस्स जाव विसया, सपर सव्व दव्व गुणा तिपज्जाया।

सहाव विहावभावा, णेयं हवदि तं खलु समये।। ७।।'

अर्थ- जितनी भी वस्तु हैं, उतनी मब ज्ञान के जानने के योग्य होती हैं। वे कौन? जितने भी निजद्रव्यगुण, परद्रव्यगुण हैं; और जितनी भी अतीत, अनागत, वर्तमान द्रव्य की पर्यायें हैं; और जितने भी निज-निजभाव, परभाव हैं- वे सब प्रगट हैं। उन सबको आगम में ज्ञेयभाव कहा है।

(आत्मावलोकन, ज्ञेयवाद, पृष्ठ १३)

-'ज्ञेय तो लोक और अलोक के विभाग से विभक्त, अनन्त पर्यायमाला से आलिङ्गित स्वरूप से सूचित (प्रगट, ज्ञात) नाशवान दिखायी देता हुआ भी ध्रुव ऐसा षटद्रव्य-समूह; अर्थात्, सब कुछ है। (ज्ञेय छहों द्रव्यों का समूह; अर्थात्, सब कुछ है)।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २३ की टीका, पृष्ठ ४१)

प्रश्न ५७- क्या सभी ज्ञेय किसी ज्ञान में एकसाथ आ सकते (जाने जा सकते) हैं?

उत्तर- हाँ! केवली भगवान के केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में ये सभी ज्ञेय एकसाथ जानने में आते हैं।

-'सकल द्रव्यके गुन अनंत, परजाय अनंता;

जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।'

अन्वयार्थ- जिस ज्ञान से केवलज्ञानी भगवान छहों द्रव्यों के अपरिमित गुणों को और अनन्त

पर्यायों को एकसाथ स्पष्ट जानते हैं, उस ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

(छहढाला, चौथी ढाल, दोहा ४ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९८)

-'तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।। ३७।।'

अन्वयार्थ- उन (जीवादि) द्रव्यजातियो की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप में) ज्ञान (केवलज्ञान) में वर्तती हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६५-६६)

-'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।। २९।।' **-अर्थ**- केवलज्ञान का विषय-सम्बन्ध सर्वद्रव्य और उनकी सर्व पर्याय हैं; अर्थात्, केवलज्ञान एक ही साथ सभी पदार्थों को और उनकी सभी पर्यायों को जानता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८३)

प्रश्न ५८- केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायों को भी वर्तमानकाल में कैसे जान सकता है?

उत्तर- 'जगत में भी देखा जाता है कि अल्पज्ञ जीव का ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं का चिन्तवन कर सकता है, अनुमान के द्वारा जान सकता है, तदाकार हो सकता है। तब फिर पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायो को क्यों न जान सकेगा? ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि वह चित्रपट की भाँति अतीत और अनागत पर्यायों को भी जान सकती है और आलेख्यत्वशक्ति की भाँति द्रव्यों की ज्ञेयत्वशक्ति ऐसी है कि उनकी अतीत और अनागत पर्याय भी ज्ञान में ज्ञेयरूप होती हैं- ज्ञात होती हैं। इस प्रकार आत्मा की अद्भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्यों की अद्भुत ज्ञेयत्वशक्ति के कारण केवलज्ञान में समस्त द्रव्यों की तीनोंकाल की पर्यायों का एक ही समय में भासित होना अविरुद्ध है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३७ का भावार्थ, पृष्ठ ६७)

प्रश्न ५९- प्रमेयत्व से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- प्रमेयत्व से सिद्ध होता है कि (१) छहों द्रव्यों में प्रमेय; अर्थात्, ज्ञेय होने की शक्ति है, और (२) जीवद्रव्य में ज्ञेय व ज्ञाता- दोनों शक्तियाँ हैं।

-'प्रमेयत्वगुण तो समस्त द्रव्यों में है, परन्तु स्व-पर को जानने की सामर्थ्य जीव के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है। जीव में तो ज्ञातापना और प्रमेयत्वपना (ज्ञेयपना) दोनों हैं; इसलिये जीव की सामर्थ्य दुगुनी है। जड़ द्रव्य में अपने को अथवा पर को जानने की शक्ति नहीं है; मात्र जीव का प्रमेय होने की उसकी शक्ति है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २१०)

प्रश्न ६०- प्रमेयत्वगुण को न मानने से क्या दोष आयेगा?

उत्तर- प्रमेयत्वगुण न मानने से द्रव्य के सर्वथा अज्ञात होने का प्रसङ्ग आयेगा और जीव अपने को भी नहीं जान सकेगा।

-'प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य ज्ञात होते हैं। छहों द्रव्यो में इस प्रमेयशक्ति के होने से ज्ञान छहों द्रव्यों के स्वरूप का निर्णय कर सकता है। यदि वस्तु मे प्रमेयत्वगुण न हो, तो स्वयं को किस तरह बतला सकता है कि "यह वस्तु है"। जगत का कोई पदार्थ ज्ञान-अगोचर नहीं है; आत्मा में प्रमेयत्वगुण होने से आत्मा स्वय निज को जान सकता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३९४)

प्रश्न ६१- प्रमेयत्वगुण को जानने से क्या लाभ हैं?

उत्तर- प्रमेयत्वगुण को जानने से निम्नलिखित लाभ हैं-

१. छहों द्रव्यों में प्रमेयत्वगुण होने से वे किसी न किसी ज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं। विश्व में जितने ज्ञेय हैं, वे सब एकसाथ जाने जा सकते हैं। इससे केवलज्ञान की सिद्धि होती है;

-'आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।। २३।।'

अन्वयार्थ- आत्मा ज्ञान प्रमाण है; ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोकालोक है; इसलिये ज्ञान सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है।

टीका- ज्ञेय तो लोक और अलोक के विभाग से विभक्त, अनन्त पर्यायमाला से आलिङ्गित, स्वरूप से सूचित, नाशवान दिखायी देता हुआ भी ध्रुव- ऐसा षटद्रव्य-समूह; अर्थात्, सब कुछ है। (ज्ञेय छहों द्रव्यों का समूह अर्थात् सब कुछ है); इसलिये निःशेष आवरण के क्षय के समय ही लोक और अलोक के विभाग से विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करके इसी प्रकार अच्युतरूप रहने से ज्ञान सर्वगत है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २३, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ४१)

-'ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि वह चित्रपट की भाँति अतीत और अनागत पर्यायों को भी जान सकती है और आलेख्यत्वशक्ति की भाँति, द्रव्यो की ज्ञेयत्वशक्ति ऐसी है कि उनकी अतीत और अनागत पर्यायें भी ज्ञान में ज्ञेयरूप होती हैं, ज्ञात होती हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३७ का भावार्थ, पृष्ठ ६७)

२. प्रमेयत्वगुण बताता है कि परद्रव्यों के साथ मेरा मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है; कर्ता-कर्म आदि अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा ज्ञान होनेसे परद्रव्यों के प्रति कर्ता-भोक्ता बुद्धि का अभाव हो जाता है;

–'ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है; इसलिये ज्ञान के कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है।.............इसलिये जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ, वहाँ परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसी का कर्ता-भोक्ता नहीं होता।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३२० का भावार्थ, पृष्ठ ४४८)

–' "ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न हैं; आत्मा के दर्शनज्ञानचारित्रादि कोई गुण परद्रव्यों में नहीं है"- ऐसा जानने के कारण सम्यग्दृष्टि को विषयों के प्रति राग नहीं होता।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३६६ से ३७१ की उत्थानिका, पृष्ठ ४९७)

–'ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि स्व-पर को जानले और शरीरादि परवस्तुओं में ऐसी योग्यता है कि ज्ञान के ज्ञेय हों; परन्तु ज्ञान को कुछ लाभ-हानि करें- ऐसी सामर्थ्य उनमें नहीं है और ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि समस्त ज्ञेयों को जाने, परन्तु किसी ज्ञेय में फेरफार करे- ऐसी उसकी शक्ति नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २११)

३. प्रमेयत्वगुण के कारण पदार्थ सहज ही ज्ञान में ज्ञात होते हैं; अतः उनको जानने की आकुलता का नाश हो जाता है; और

–'मेरे ज्ञान स्वभाव की स्वच्छता ऐसी है कि उसकी ओर देखने से सब ज्ञात हो जाता है।..........आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तू पर को जानने की आकुलता को छोड़कर अपने में स्थिर हो।..............यदि स्वरूप में स्थिर हो, तो तेरे ज्ञान का ऐसा विकास प्रगट हो जायेगा कि लोकालोक सहज ही उसमें ज्ञात होंगे।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ १४२-१४३)

४. प्रमेयत्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी मर्यादा में रहकर ज्ञान का ज्ञेय बनता है -ऐसा जानने से ज्ञाता और ज्ञेय की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है।

–'णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।। २८।।'

अन्वयार्थ- आत्मा ज्ञानस्वभाव है और पदार्थ आत्मा के ज्ञेयस्वरूप हैं; जैसे कि, रूप (रूपी पदार्थ) नेत्रों का ज्ञेय हैं, वैसे वे एकदूसरे में नहीं वर्तते।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४८)

–'ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति
भूमिर्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव।। २१६।।'

श्लोकार्थ- चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्जवल करता है, तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि

नहीं होती। इस प्रकार ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है; तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता।'

(श्रीसमयसार, श्लोक २१६ का उत्तरार्द्ध व श्लोकार्थ, पृष्ठ ४९६)

–'**ज्ञेयाकार ग्यानकी परिणति, पै वह ग्यान ज्ञेय नहि होई।**

ज्ञेय रूप षट दरब भिन्न पद, ग्यानरूप आतम पद सोइ।।'

अर्थ– ज्ञान की परिणति ज्ञेय के आकार हुआ करती है, पर ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। छहों द्रव्य ज्ञेय हैं और वे आत्मा के निज स्वभावज्ञान से भिन्न हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, सर्वविशुद्धि द्वार, छन्द ५३ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ २७०)

–'आत्मा अपने (ज्ञान) परिणामप्रवाह मे स्थिर है और जड़ (ज्ञेय) पदार्थ जड़ के परिणामप्रवाह मे स्थित हैं। दोनों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २७४)

प्रश्न ६२– ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न हैं, तो ज्ञान ज्ञेय को जानता है– ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक-सम्बन्ध का व्यवहार किस प्रकार हैं?

उत्तर– जिस प्रकार दर्पण में पदार्थ झलकते हैं, वह दर्पण की अपनी स्वच्छता है; तथापि दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब देखकर कहा जाता है कि पदार्थ दर्पण में है। उसी प्रकार ज्ञान दर्पण मे भी ज्ञेय पदार्थों के (समस्त ज्ञेयाकारों के) प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। वह ज्ञान की अपनी ही अवस्था है; ज्ञेय कहीं ज्ञान में प्रवेश नहीं करते। परन्तु उस ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकारो को ज्ञान में देखकर व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञेय ज्ञान में है; अर्थात्, ज्ञायक का विश्व के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।

–'जहाँ ऐसा कहा जाता है कि "आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है", वहाँ परमार्थत: अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका तो मात्र उस मूर्तिक पदार्थ के आकाररूप होनेवाले ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध है और उस पदार्थाकार ज्ञान के साथ के सम्बन्ध के कारण ही "अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है"– ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का सम्बन्धरूप व्यवहार सिद्ध होता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १७४ का भावार्थ, पृष्ठ ३४६)

–'**णाणं ण जादि णेयं, णेयं पि ण जादि णाणदेसम्मि।**

णियणियदेसठियाणं, ववहारो णणणेयाणं।। २५६।।'

अन्वयार्थ– ज्ञान ज्ञेय मे नहीं जाता है और ज्ञेय भी ज्ञान के प्रदेशों में नहीं जाता है। अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं; तो भी ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञेयज्ञायक व्यवहार है।

भावार्थ– जैसे दर्पण अपने स्थान पर है; घटादिक वस्तुएँ अपने स्थान पर हैं; तो भी दर्पण

की स्वच्छता ऐसी है मानों कि दर्पण में घट आकर ही बैठा है। ऐसे ही ज्ञानज्ञेय का व्यवहार जानना चाहिए।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २५६, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ११४)

-'दर्पण में मयूर, मन्दिर, सूर्य, वृक्ष इत्यादि के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। वहाँ निश्चय से तो प्रतिबिम्ब दर्पण की ही अवस्थाएँ हैं; तथापि दर्पण में प्रतिबिम्ब देखकर कार्य में कारण का उपचार करके व्यवहार से यह कहा जाता है कि "मयूरादिक दर्पण में हैं"। इसी प्रकार ज्ञानदर्पण में भी सर्व पदार्थों के समस्त ज्ञेयाकारों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं; अर्थात्, पदार्थों के ज्ञेयाकारों के निमित्त से ज्ञान में ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं (क्योंकि यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्व पदार्थों को नहीं जान सकेगा)। वहाँ निश्चय से ज्ञान में होनेवाले ज्ञेयाकार ज्ञान की ही अवस्थाएँ हैं; पदार्थों के ज्ञेयाकार कहीं ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हैं। निश्चय से ऐसा होनेपर भी व्यवहार से देखा जाये, तो ज्ञान में होनेवाले ज्ञेयाकारों के कारण पदार्थों के ज्ञेयाकार हैं और उनके कारण पदार्थ हैं। इस प्रकार परम्परा से ज्ञान में होनेवाले ज्ञेयाकारों के कारण पदार्थ हैं। इसलिये उन (ज्ञान की अवस्थारूप) ज्ञेयाकारों को ज्ञान में देखकर, कार्य में कारण का उपचार करके, व्यवहार से ऐसा कहा जा सकता है कि "पदार्थ ज्ञान में हैं"।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३१ का भावार्थ, पृष्ठ ५४)

प्रश्न ६३- ज्ञान करना जीव का सहजस्वभाव है और ज्ञात (ज्ञेय) होना जीवादिक समस्त द्रव्यों का सहजस्वभाव है- तो जीव के संसार परिभ्रमण का क्या कारण है?

उत्तर- प्रमेयत्वशक्ति के कारण प्रत्येक द्रव्य ज्ञान में सहज ज्ञात होता है और ज्ञान करना जीव का सहजस्वभाव है। जीव केवल जाननेवाला नहीं रहता। जो ज्ञेय ज्ञान में निमित्त पड़ते हैं उनमें किसी को अच्छा और किसी को बुरा जानकर मिलाने व हटाने के यत्न में लगा रहता है। यह अज्ञानता ही जीव के संसार परिभ्रमण का मूल कारण है।

-'जैसे दीपक का स्वभाव घटपटादि को प्रकाशित करने का है, उसी प्रकार ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। ज्ञेय को जाननेमात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता। ज्ञेयों को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागी-द्वेषी-विकारी होता है जो कि अज्ञान है।'

(श्रीसमयसार, श्लोक २२२ का भावार्थ, पृष्ठ ५१२)

-'ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं, सो तो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें (ज्ञेय को) स्पर्श नहीं करता अथवा वे (ज्ञेय) ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। ऐसा होनेपर भी, ज्ञान में अन्य द्रव्यों का प्रतिभास देखकर, ये लोग ऐसा मानते हुये ज्ञानस्वरूप से च्युत होते हैं

कि "ज्ञान को परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध है"- यह उनका अज्ञान है।'

(श्रीसमयसार, श्लोक २१५ का भावार्थ, पृष्ठ ४९५)

-'अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है; सो स्वयं केवल देखनेवाला-जाननेवाला तो रहता नहीं है जिन पदार्थों को देखता-जानता है, उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है; इसलिये रागी-द्वेषी होकर किसी का सद्भाव चाहता है, किसी का अभाव चाहता है। परन्तु उनका सद्भाव या अभाव इसका किया हुआ होता नहीं, क्योंकि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कर्ता-हर्ता है नहीं; सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं। यह वृथा ही कषायभाव से आकुलित होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८८)

प्रश्न ६४- प्रमेयत्वगुण को कब माना और कब नहीं माना?

उत्तर- जगत के सब जीव-अजीव पदार्थ अपने-अपने प्रमेयस्वभाव के कारण ज्ञेय हैं। जीवपदार्थ ज्ञायक हैं; ज्ञान उसका गुण है। वह (जीव) अपने ज्ञानस्वभाव से जगत के समस्त पदार्थों को जानता है। जब कोई ज्ञेयपदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित होता है, तब ज्ञान की ज्ञेयाकार परिणति होती है; पर ज्ञान ज्ञान ही रहता है, ज्ञेय नही हो जाता और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है, ज्ञान नहीं हो जाता, क्योंकि ज्ञेय का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जुदा है और ज्ञायक का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-जुदा है- ऐसा माननेवाले ने प्रमेयत्वगुण को माना, और ज्ञान में ज्ञेय की आकृति देखकर ज्ञेय का ज्ञान से सम्बन्ध माननेवाले ने प्रमेयत्वगुण को नहीं माना।

प्रश्न ६५- ज्ञानी जीव ज्ञेय-ज्ञायक के विषय में किस प्रकार जानते हैं?

उत्तर- ज्ञानी जानते हैं कि वे स्वयं ही ज्ञान हैं, स्वयं ही अपने ज्ञेय हैं, और स्वयं ही अपने ज्ञाता हैं; बाह्य ज्ञेयों से तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

-'योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः॥ २७१॥'

भावार्थ- ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है और वह स्वयं ही निम्नप्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं; वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते। ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखायी देता है, परन्तु वे ज्ञान की ही तरङ्गें हैं। वे ज्ञान तरङ्गें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं। इस प्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है और स्वयं ही अपना जाननेवाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञाता- इन तीनों भावों से युक्त सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु हैं। 'ऐसा ज्ञानमात्रभाव मैं हूँ' -इस प्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है।

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, कलश २७१ और भावार्थ, पृष्ठ ५९८-५९९)

अगुरुलघुत्वगुण

प्रश्न ६६- अगुरुलघुत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है; अर्थात्, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, और द्रव्य में रहनेवाले अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते- उस शक्ति को अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं।

-'जो द्रव्य है उसका "द्रव्यत्व"- "गुणत्व" जिसरूप में हो, वैसा कायम रहकर परिणमन करता है किन्तु दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकता। इस गुण को "अगुरुलघुत्वगुण" कहते हैं। इसी शक्ति के कारण द्रव्य का द्रव्यत्व रहता है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमित नहीं होता तथा एक द्रव्य के अनेक (अनन्त) गुण बिखरकर अलग नहीं हो जाते।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५२-३५३)

-'जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य की द्रव्यता कायम रहे; अर्थात्, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप न परिणमे और एक गुण दूसरे गुणरूप न परिणमे तथा एक द्रव्य के अनेक या अनन्त गुण बिखरकर जुदे-जुदे न हो जायें, उसको अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ११, पृष्ठ ३)

-'जिस शक्ति के कारण द्रव्य का द्रव्यत्व बना रहे; अर्थात्, (१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता; (२) एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता; और (३) द्रव्य में विद्यमान अनन्त गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं हो जाते; उस शक्ति को अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १२०, पृष्ठ ३६)

-'षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।। १७।।'

अर्थ- षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप' से परिणमित, स्वरूपप्रतिष्ठत्व का कारणरूप (वस्तु के स्वरूप में रहने के कारणरूप)- ऐसा जो विशिष्ट (खास) गुण है, उस स्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति। तथा,

-'अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्यारूप षट्स्थानों में पतित-समाविष्ट-वस्तुस्वभाव की वृद्धि-हानि जिससे (जिस गुण से) होती है और जो (गुण) वस्तु को स्वरूप में स्थिर होने का कारण है, ऐसा कोई गुण आत्मा में (सभी द्रव्यों में) है- उसे अगुरुलघुत्वगुण कहा जाता है।'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, पृष्ठ ५८९)

---

१. **षट्स्थानपतित वृद्धिहानि-** छह स्थान में समावेश पानेवाली वृद्धिहानि; षट्गुण वृद्धिहानि।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३१-३२, पृष्ठ ६३ की पादटिप्पणी)

[षट्स्थानपतित वृद्धिहानि का स्वरूप (विस्तार में) श्रीगोम्मटसार ग्रन्थ से जानना चाहिए- **श्री समयसार, परिशिष्ट, पृष्ठ ५८९**]

प्रश्न ६७- अगुरुलघुत्वगुण का कार्य क्या है?

उत्तर- अगुरुलघुत्वगुण का विकार (विशेषकार्य) षट्गुणी वृद्धि-हानि है। यदि षट्गुणी वृद्धि-हानि न हो, तो अगुरुलघुत्वगुण भी नहीं होगा। छः प्रकार की वृद्धि-हानि होनेपर भी वह अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थित रहता है- ऐसा उसका अगुरुलघुत्वस्वभाव है।

-'अगुरुलघुत्वस्वभाव के अनन्त अंशों में स्वभाव से ही प्रति समय षट्गुण वृद्धिहानि होती रहती है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३१-३२, पृष्ठ ६३ की पादटिप्पणी)

-'अगुरुलघुगुण का परिणमन षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है। यह स्वभावपर्याय सभी द्रव्यों में है; कोई द्रव्य षट्गुणी हानि-वृद्धि बिना नही है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ५६)

प्रश्न ६८- छह प्रकार की वृद्धि-हानि कौनसी हैं?

उत्तर-

क्रम सं०	वृद्धि	हानि
१	अनन्तगुणवृद्धि	अनन्तभागहानि
२	असंख्यगुणवृद्धि	असंख्यभागहानि
३	संख्यातगुणवृद्धि	संख्यातभागहानि
४	संख्यातभागवृद्धि	सख्यातगुणहानि
५	असंख्यभागवृद्धि	असंख्यातगुणहानि
६	अनन्तभागवृद्धि	अनन्तगुणहानि

उपर्युक्तानुसार छः प्रकार से वृद्धि तथा छः प्रकार से हानि होती है। उसरूप अगुरुलघुत्वगुण का कोई सूक्ष्मपरिणमन होता है; वह केवलीगम्य है।

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २३३)

प्रश्न ६९- षट्गुणी वृद्धि-हानि का स्वरूप क्या है?

उत्तर- षट्गुणी वृद्धि-हानि का संक्षिप्त स्वरूप निम्नप्रकार है-

१. अनन्तभागवृद्धि- अनन्त गुणों में से एक गुण की पर्याय का जो उत्पाद, वह अनन्तभागवृद्धि है;

२. असंख्यातभागवृद्धि- असंख्यात गुणों की अपेक्षा एक गुण की पर्याय का जो उत्पाद है, वह असंख्यातभागवृद्धि है;

३. संख्यातभागवृद्धि- संख्यात गुणो की अपेक्षा एक गुण की पर्याय का जो उत्पाद

है, वह संख्यातभागवृद्धि है।

४. संख्यातगुणवृद्धि- ८ (संख्यात) गुणों में ८ (संख्यात) पर्याय का उत्पाद हुआ, वह संख्यातगुणवृद्धि है;

५. असंख्यातगुणवृद्धि- असंख्यात गुणों में असंख्याती पर्यायों का उत्पाद हुआ, वह असंख्यातगुणवृद्धि है; और

६. अनन्तगुणवृद्धि- अनन्त गुणों की अनन्ती पर्यायों का उत्पाद हुआ, वह अनन्तगुणवृद्धि है। [उसी समय (वृद्धि के समय) षड्स्थान हानि भी होती है-]

१. अनन्तभागहानि- व्यय की अपेक्षा अनन्त गुणों की अपेक्षा एक गुण की पर्याय का व्यय, अनन्तभागहानि है;

२. असंख्यातभागहानि- असंख्यात गुणों की अपेक्षा एक गुण की पर्याय का व्यय, वह असंख्यातभागहानि है;

३. संख्यातभागहानि- संख्यात गुणों की अपेक्षा एक गुण की पर्याय का व्यय, वह संख्यातभागहानि है;

४. संख्यातगुणहानि- एक गुण की पर्याय के व्यय की अपेक्षा १०० गुणों की पर्याय का व्यय, वह संख्यातगुणहानि है;

५. असंख्यातगुणहानि- एक गुण की पर्याय के व्यय की अपेक्षा असंख्यात गुणों की पर्याय का व्यय, असंख्यातगुणहानि है; और

६. अनन्तगुणहानि- एक गुण की पर्याय के व्यय की अपेक्षा अनन्त गुणों की पर्याय का व्यय, वह अनन्तगुणहानि है।

(श्रीधवलासार, प्रश्न १२१५, पृष्ठ २८५)

प्रश्न ७०- अगुरुलघुत्वगुण के छह प्रकार की वृद्धि-हानिरूप कार्य से क्या स्वरूप में भी हानि-वृद्धि होती है?

उत्तर- सर्वथा नहीं! 'षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप से परिणमित और स्वरूपप्रतिष्ठितपने के कारणरूप जो विशिष्ट गुण है, उस स्वरूप अगुरुलघुत्वशक्ति है। (आत्मा की) पर्याय में छ: प्रकार की वृद्धि-हानि होनेपर भी (द्रव्य) अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थित रहता है- ऐसा उसका अगुरुलघुत्वस्वभाव है।.............यह अगुरुलघुस्वभाव द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है; इसलिये द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यथा नहीं हो जाता; गुण न्यूनाधिक नहीं होते। अनन्त गुण अपने स्वरूप में ज्यों के त्यों स्थित रहते हैं और प्रत्येक पर्याय भी अपने-अपने स्वभाव से अगुरुलघु है। इस प्रकार स्वरूपप्रतिष्ठा का कारण, सर्वगुणों को समतौल रखने का कारण, समस्त गुण-पर्यायों में

अभेद अगुरुलघुत्वशक्ति के कारण द्रव्य अनादिअनन्त शोभा को प्राप्त होते हैं।'

(आधार-पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २३२-२३७)

[विशेष स्पष्टीकरण हेतु श्रीपञ्चाध्यायी गाथा १८६ से १९२ तक देखें।]

प्रश्न ७१- अगुरुलघुत्वगुण से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- अगुरुलघुत्वगुण से सिद्ध होता है कि- (१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के अधीन नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय में कायम रहता है; अर्थात्, प्रत्येक का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पृथक्-पृथक् है; (२) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता; (३) प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, वे अनन्त ही रहते हैं, और एक गुण उसी द्रव्य के दूसरे गुण में कुछ नहीं कर सकता; और (४) किसी द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय में कुछ नहीं कर सकती।

-'अगुरुलघुत्वगुण के कारण प्रत्येक वस्तु निज-निज स्वरूप से ही कायम रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणुरूप नहीं हो जाता; परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नहीं हो जाता। जड़ सदा जड़रूप से और चेतन सदा चेतनरूप से ही रहता है। ज्ञान का विकास विकारदशा में चाहे जितना स्वल्प हो, तथापि जीवद्रव्य बिल्कुल ज्ञानशून्य हो जाये- ऐसा कभी नहीं होता। इस शक्ति के कारण द्रव्य का एक गुण दूसरे गुणरूप न परिणमे तथा एक द्रव्य के अनेक या अनन्त गुण अलग-अलग नहीं हो जाते तथा कोई दो पदार्थ एक रूप होकर तीसरा नयी तरह का पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वस्तु का स्वरूप अन्यथा कदापि नहीं होता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३९५)

प्रश्न ७२- जीवद्रव्य में अगुरुलघुत्वगुण के कारण उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा क्या है?

उत्तर-(१) अनन्त गुणों के पिण्डरूप जीवद्रव्य का स्वद्रव्यत्व स्थायी रहता है और वह कभी शरीरादिरूप नहीं होता; (२) जीव का असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र कभी पररूप नहीं होता; पर में एकमेक नहीं होता; और दो जीवों का स्वक्षेत्र भी कभी एक नहीं होता; (३) जीव के एक गुण की पर्याय अन्यगुण की पर्यायरूप नहीं होती। एक गुण दूसरे का कुछ करे, दूसरे से उत्पन्न हो अथवा उसे बदले, ऐसा नहीं है; और (४) भाव; अर्थात्, गुण- जितने जिस रूप हैं, उतने उसीरूप सत् रहते हैं; बिखरकर अलग-अलग नहीं होते।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १२१, पृष्ठ ३७)

प्रश्न ७३- एक द्रव्य में रहनेवाले गुण अगुरुलघुत्वगुण के कारण परस्पर एक दूसरे का कार्य नहीं करते हैं- तो उनकी व्यवस्था कैसी है?

उत्तर- अगुरुलघुत्वगुण के कारण एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता; इसलिये एक गुण का

कार्यक्षेत्र दूसरे गुण में नहीं समा जाता। ऐसा होने से एक द्रव्य में भी एक गुण दूसरे गुण का कार्य नहीं कर सकता, किन्तु प्रत्येक गुण नित्यपरिणामस्वभावी होने से प्रतिसमय अपनी नयी-नयी पर्यायें उत्पन्न करता है; उसमें दूसरे गुण की पर्यायें निमित्तमात्र कही जाती हैं। एक गुण की वर्तमान पर्याय में कार्य होने से दूसरे गुण की वर्तमान पर्याय निमित्त कहलाती है। इस प्रकार एक द्रव्य के आश्रित गुणों में भी स्वतन्त्रता होने से एक गुण का दूसरे गुण के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

-'**न गुणः कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित्।**
नाधारोऽपि नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान्॥ १००९॥
किन्तु सर्वोऽपि स्वात्मीयः स्वात्मीयशक्तियोगतः।
नानारूपा ह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथः॥ १०१०॥'

अर्थ- कोई भी गुण दूसरे गुण में अन्तर्भूत नहीं होता। न एक गुण दूसरे गुण का आधार है, न आधेय है; न हेतु है और न हेतुमान ही है॥ १००९॥ किन्तु सभी गुण अपनी-अपनी शक्ति के योग से स्वतन्त्र हैं और वे विविध प्रकार के अनेक होकर भी पदार्थ के साथ परस्पर में मिले हुए हैं॥ १०१०॥

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १००९-१०१० व अर्थ, पृष्ठ ३१२)

प्रश्न ७४- क्या गुरु से ज्ञान, पुस्तक से ज्ञान अथवा चश्मे से ज्ञान आदि मान्यताएँ ठीक हैं?

उत्तर- सर्वथा नहीं! ज्ञान ज्ञानगुण में से ही होता है। गुरु से, पुस्तक से, अथवा चश्मे से ज्ञान होने की मान्यतावाले जीव को अगुरुलघुत्वगुण का सम्यक् ज्ञान नहीं है।

-'एक द्रव्य के अनन्त गुणों में से एक गुण दूसरे गुण में नहीं जाता। तो फिर भिन्न द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में कैसे जायेंगे? एक वस्तु का कोई भी गुण दूसरी वस्तु को मिलता है; अर्थात्, गुरु का ज्ञान शिष्य को प्राप्त होता है- ऐसी मान्यतावाला अगुरुलघुत्वगुण को नहीं मानता।' तथा

-'पर से आत्मा का और आत्मा से पर का कार्य हो, तो द्रव्य बदलकर नष्ट हो जाये। लेकिन ऐसा नहीं होता। अतः गुरु, पुस्तक आदि से ज्ञान हुआ- ऐसी मान्यतावाले ने अगुरुलघुत्वगुण को नहीं माना।'

(आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १२७-१२८, पृष्ठ ३९)

प्रश्न ७५- क्या एकेन्द्रियपने को प्राप्त होने से जीव के गुण कम हो जाते हैं और पञ्चेन्द्रियपने को प्राप्त होने से बढ़ जाते हैं?

उत्तर- सर्वथा नहीं, क्योंकि- (१) द्रव्य में अगुरुलघुत्वगुण के कारण गुणों की संख्या और शक्ति कभी कम या अधिक नहीं होती; और (२) गुणों की वर्तमान पर्यायों में परिवर्तन होता रहता

है, परन्तु द्रव्य-गुण तो सदैव सर्व अवस्थाओं में ज्यों के त्यों ही रहते हैं।

-'आत्मा की अगुरुलघुशक्ति वस्तु को त्रिकाली स्वरूप में रहने का कारण है। पूर्वकाल में निगोदअवस्था थी। उस समय साधक अवस्था के समय या सिद्धदशा के समय सदैव आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित है। आत्मा के अनन्त गुण हैं। वे सब अगुरुलघु स्वभाववाले हैं। पर्याय में हानिवृद्धि भले हो, परन्तु अनन्त गुण अपने स्वरूप में ज्यों के त्यों स्थित हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २३५)

प्रश्न ७६- अगुरुलघुत्वगुण को न मानने से क्या दोष आयेगा?

उत्तर- अगुरुलघुत्वगुण को न मानने से द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता के नाश का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

प्रश्न ७७- अगुरुलघुत्वगुण के अनुसार द्रव्यों की मर्यादा समझने से क्या लाभ है?

उत्तर- अगुरुलघुत्वगुण के अनुसार द्रव्यों की मर्यादा समझने से निम्न लाभ हैं-

१. प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता व अखण्डता का ज्ञान होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता- ऐसा ज्ञान होने से परद्रव्यों के प्रति कर्त्ता-बुद्धि का अभाव हो जाता है;

-'अगुरुलघुत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से व्यवस्थित रहता है, और पर के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप नहीं होता, और न कोई किसी का कर्त्ता हो सकता है।'

(पूज्य गुरुदेव के प्रवचन, आत्मसिद्धि, पृष्ठ ३५८)

२. छहों द्रव्य, उनके गुण तथा पर्यायों की स्वतन्त्रता जानने पर 'अपना हित-अहित (भला-बुरा) अपने से अपने में ही होता है; परद्रव्य मुझे लाभ-हानि नहीं कर सकते'- ऐसा सच्चा ज्ञान होने से धर्म की प्राप्ति होती है; और

-'अगुरुलघुत्वशक्ति के कारण वस्तु अपने स्वरूप मे ही प्रतिष्ठित रहती है।........अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठा से आत्मा त्रिकाल शोभायमान हो रहा है- ऐसा उसका अगुरुलघुत्व स्वभाव है। ....इसके अतिरिक्त पैसे से, शरीर से, वस्त्र से, या गहनो से- अरे! पुण्य से भी आत्मा की शोभा मानना; वह सच्ची शोभा नहीं है, किन्तु कलङ्क है। स्वरूपप्रतिष्ठित आत्मा स्वयं शोभायमान है।.............जो ऐसा समझे उसकी उन्मुखता द्रव्यस्वभाव की ओर हो जाती है। वह पर से अपनी शोभा नहीं मानता; इसलिये उसकी दृष्टि में पर के प्रति वीतरागभाव हो जाता है- इस प्रकार इसमें धर्म आता है।'

(पूज्य गुरुदेव के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २३३-२३४)

३. अगुरुलघुत्वगुण के कारण पर्याय में हानि-वृद्धि होनेपर भी गुण कभी कम या अधिक नहीं होते; त्रिकाली द्रव्य-गुण एकरूप ज्यों के त्यों स्थित रहते हैं- ऐसा निर्णय होने से पर्यायदृष्टि

का अभाव होकर द्रव्यदृष्टि प्रगट हो जाती है।

-'पर्याय में न्यूनाधिकता होनेपर भी त्रिकाली द्रव्य-गुण न्यूनाधिक नहीं होते। हीन अवस्था के समय आत्मा के कुछ गुण कम हो जायें- ऐसा नहीं है और पूर्ण अवस्था प्रगट होने से आत्मा के गुण बढ़ गये- ऐसा भी नहीं है। एकरूप स्वरूप में.................दृष्टि करने से पर्याय में वीतरागी शोभा प्रगट हो जाती है; तब पर्याय-भेद पर दृष्टि नहीं है, क्योंकि पर्याय स्वयं अन्तरोन्मुख होकर त्रिकाली द्रव्य की शोभा में समा गयी है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २३४)

प्रदेशत्वगुण

प्रश्न ७८- प्रदेशत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है, उसे प्रदेशत्वगुण कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १३४, पृष्ठ ४२)

-'जिस शक्ति के निमित्त द्रव्य का कुछ न कुछ आकार अवश्य हो, उसे प्रदेशत्वगुण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १२, पृष्ठ ३)

-'प्रदेशत्वगुण की ऐसी व्याख्या है कि जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य हो।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ३५३)

प्रश्न ७९- प्रदेशत्वगुण क्या बताता है?

उत्तर- प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना आकार अवश्य होता है और प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने आकार में ही रहता है।

-'प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के अपना-अपना आकार अवश्य होता है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वाकार में ही रहता है। सिद्धदशा होनेपर एक जीव दूसरे जीव में नहीं मिल जाता, किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकार में स्वतन्त्ररूप से कायम रहता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३९५)

-'प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेशरूप आकार में स्थित रहता है। अपना आकाररूप स्वक्षेत्रसहित है; स्वक्षेत्ररहित नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३५८)

प्रश्न ८०- प्रत्येक द्रव्य का आकार; अर्थात्, स्वक्षेत्र कितना है?

उत्तर- जीव, धर्म, और अधर्मद्रव्य का असंख्यातप्रदेशी आकार है; पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी आकारवाला है, लेकिन उसमें स्कन्धरूप होकर बहुप्रदेशी होने की शक्ति है; अतः व्यवहारनय से संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशी आकारवाला है। आकाश का अनन्तप्रदेशी आकार है और कालाणु एकप्रदेशी है।

-'**असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्॥ ८॥**' -**अर्थ**- धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और एक जीवद्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं। तथा,

-'**आकाशस्यानन्ताः॥ ९॥**' -**अर्थ**- आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। तथा,

-'**संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्॥ १०॥**' -**अर्थ**- पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात, और अनन्त प्रदेश हैं। (इसमें पुद्गलों की स्कन्धरूप पर्याय के प्रदेश बताये हैं)। तथा,

-'**नाणोः॥ ११॥**' -**अर्थ**- पुद्गल परमाणु के दो इत्यादि प्रदेश नहीं हैं अर्थात् एकप्रदेशी है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ८, ९, १०, ११ और अर्थ, पृष्ठ ३२९, ३३० व ३३१)

-'**संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।**
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु॥ ३५॥
लोयायासे ताव इदरस्स अणंतयं हवे देहो।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जह्मा॥ ३६॥'

अन्वयार्थ- मूर्तद्रव्य को संख्यात, असंख्यात, और अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म, तथा जीव के वास्तव में असंख्यात प्रदेश हैं। लोकाकाश में धर्म, अधर्म, तथा जीव की भाँति (असंख्यात प्रदेश) हैं। उसके शेष जो अलोकाकाश उसे अनन्त प्रदेश हैं। काल को कायपना नहीं है, क्योंकि वह एकप्रदेशी है।

(श्रीनियमसार, गाथा ३५-३६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७३)

प्रश्न ८१- द्रव्य का आकार सदा एकसा रहता है या बदलता रहता है?

उत्तर- संसारी जीव और पुद्गल स्कन्धों का आकार बदलता है। सिद्ध जीव, पुद्गल-परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल का आकार नहीं बदलता है।

प्रश्न ८२- असंख्यात प्रदेशी आकारवाले जीव, धर्म, और अधर्मद्रव्य में क्या समानता है और क्या असमानता है?

उत्तर- जीव, धर्म, और अधर्म- ये तीनों द्रव्य प्रदेशों की संख्या अपेक्षा समान हैं, परन्तु प्रदेशों की व्यापक अवस्था में भिन्नता है। धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं और

प्रत्येक जीव सङ्कोच-विस्तार के कारण अपने शरीरप्रमाण है और मुक्तजीव **अन्त के शरीरप्रमाण**[1] है।

– 'धर्म, अधर्म, और एक जीव के असंख्यात अंश होने से वे प्रत्येक असंख्यात प्रदेशी हैं और जैसे अवस्थित (नियत, लोकप्रमाण) प्रमाणवाले धर्म तथा अधर्म असंख्यात प्रदेशी हैं, उसी प्रकार सङ्कोच-विस्तार के कारण अनवस्थित (अनियत; देहप्रमाण) प्रमाणवाले जीव के- सूखे-गीले चमड़े की भाँति-निज अंशों का अल्पबहुत्व नहीं होता; इसलिये असंख्यात प्रदेशीपना ही है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३७ की टीका, पृष्ठ २८२)

– 'धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और जीव के प्रदेश असंख्यात हैं और वे संख्या की अपेक्षा से लोकप्रमाण असंख्यात हैं; तथापि उनके प्रदेशों की व्यापक अवस्था में अन्तर है। धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं और जीव के प्रदेश उस समय के जीव के शरीर के प्रमाण से चौड़े या छोटे होते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ८ की टीका, पृष्ठ ३२९)

प्रश्न ८३- जीव को साकार और निराकार क्यों कहा जाता है?

उत्तर- 'प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक आत्मा (जीव) का अपना अरूपी आकार तो है, किन्तु रूपी आकार न होने की अपेक्षा से वह (जीव) निराकार कहलाता है। आत्मा का अरूपी आकार इन्द्रियगम्य नहीं है; इस अपेक्षा से भी निराकार है और आत्मा का आकार ज्ञानगम्य है; इसलिये वह आकारवान् है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १३५, पृष्ठ ४२)

प्रश्न ८४- अमूर्तिक आकारवाले जीव के सङ्कोच-विस्तार कैसे होता है?

उत्तर- प्रदेशों की अवगाहना से सङ्कोच-विस्तार होता है। लोकाकाश के असंख्यप्रदेश तथा एक जीव के असंख्यप्रदेश- दोनों संख्यारूप से समान हैं। लोक के एक-एक प्रदेश में ज्यों-ज्यों जीव के अधिक प्रदेशों का अवगाहन होता है; त्यों-त्यों जीव के आकार का सङ्कोच होता है और लोक के एक प्रदेश में ज्यों-ज्यों जीव के कम प्रदेश रहते हैं; त्यों-त्यों जीव के आकार का विकास होता है। इस प्रकार सङ्कोच-विस्तार होता है। जीव का अवगाहनस्वभाव भी ऐसा है कि वह चाहे जितना संकुचित हो तथापि असंख्य प्रदेशों को तो वह रोकता ही है; संकुचित होकर संख्यात या एक ही प्रदेश में जीव के समस्त प्रदेश रह जायें- ऐसा सङ्कोच उसमें नहीं होता।

– 'दृष्टान्तो जीवस्य लोकासंख्यातमात्रदेशाः स्युः।

हानिर्वृद्धिस्तेषामवगाहनविशेषतो न तु द्रव्यात्॥ १८७॥'

---

१. सिद्धजीव अन्तिम शरीर से किञ्चित् न्यून आकारवाले हैं।

– **'किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।'** (श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४९)

अर्थ- एक जीव के प्रदेश असंख्यात प्रदेशी लोक के बराबर होते हैं। सो उनकी हानि (सङ्कोच) अथवा वृद्धि (विस्तार) केवल अवगाहन की विशेषता से होती है, द्रव्य की अपेक्षा से नहीं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १८७ व अर्थ, पृष्ठ ३८)

प्रश्न ८५- क्या जीव के सङ्कोच-विस्तार के प्रमाण में आत्मा के प्रदेशों में कमी अथवा वृद्धि होती है?

उत्तर- नहीं! आत्मा के नियत असंख्यात प्रदेश हैं। वे त्रिकाल उतने ही रहते हैं। उनमें एक भी प्रदेश कम या अधिक नहीं होता। छोटे या बड़े किसी भी आकार में एक समान असंख्यात प्रदेश ही रहते हैं।

-'द्रव्य के प्रदेशों में न्यूनाधिकता नहीं होती। वे जितने हैं सदाकाल उतने ही बने रहते हैं; तथापि अवगाहनगुण की अपेक्षा उनके अवगाहन में न्यूनाधिकता आती रहती है। असंख्य प्रदेशी एक ही जीवद्रव्य कभी कीड़ी के शरीर में समा जाता है और कभी फैलकर वह लोकाकाश के बराबर हो जाता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६२-७० का विशेषार्थ, पृष्ठ १६)

-'जो अनादि संसार से लेकर सङ्कोच-विस्तार से लक्षित हैं और जो चरमशरीर के परिमाण से कुछ न्यून परिमाण से अवस्थित होता है; ऐसा लोकाकाश के माप जितना मापवाला आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है ऐसी नियतप्रदेशत्वशक्ति। (आत्मा के लोकपरिमाण असंख्यप्रदेश नियत ही हैं। वे प्रदेश संसारअवस्था में सङ्कोचविस्तार को प्राप्त होते हैं और मोक्षअवस्था में चरमशरीर से कुछ कम परिमाण से स्थित रहते हैं।)'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, २४वीं शक्ति, पृष्ठ ५९०)

प्रश्न ८६- असंख्यात प्रदेशी आत्मा शरीराकार होने से क्या आत्मा के आकार का कारण शरीर है?

उत्तर- नहीं! शरीर में जैसा सङ्कोच या विस्तार हो, वैसा ही सङ्कोच या विस्तार आत्मा में होता है; परन्तु दोनों स्वतन्त्र हैं। शरीर के कारण आत्मा सकुचित हुआ अथवा आत्मा ने शरीर को संकुचित किया, ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सर्वथा अलग-अलग हैं; अपना-अपना स्वक्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

-'जीव और कर्म (शरीर) हैं; इनका अनादिसम्बन्ध है, तो भी जीव का कोई भी प्रदेश कर्म (शरीर) रूप नहीं होता और कर्म का कोई परमाणु जीवरूप नहीं होता; अपने-अपने लक्षण को धारण किये भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २३)

-'यद्यपि जीव और पुद्गल का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है; अनादि से एकक्षेत्र में रहते आये हैं। तथापि दोनों के स्वप्रदेश तो भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। आकाशद्रव्य की अपेक्षा जीव और पुद्गल का एकक्षेत्र कहा जाता है। फिर भी वास्तव में प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वप्रदेश भिन्न ही है। प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशी है। अत: प्रत्येक जीव के असंख्य स्वप्रदेश हैं; वे अरूपी हैं। प्रत्येक पुद्गलपरमाणु का अपना एक प्रदेश है; वह रूपी है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, परमार्थवचनिकाप्रवचन, पृष्ठ १६)

प्रश्न ८७- सिद्धदशा में जीव का कैसा आकार होता है?

उत्तर- चरम शरीर से किञ्चित् न्यून; अर्थात्, मोक्षदशा से पूर्व का जो अन्तिम शरीर था, उस आकार से किञ्चित् अल्प आकार सिद्धदशा में होता है। शरीर के केश-नख आदि कुछ भागों में आत्मप्रदेश नहीं है- उन्हें छोड़कर किञ्चित् न्यून आकार कहलाता है। सभी सिद्धभगवतों को ज्ञान, आनन्द, प्रभुता आदि एकसी होती है, परन्तु सबका आकार एक समान हो- ऐसा नियम नहीं है।

-'तथा वे सिद्ध कैसे हैं? चरम (अन्तिम) शरीर से कुछ न्यून हैं। वह किञ्चित् न्यूनपना, शरीर-उपाङ्गजनित नासिकादि छिद्र अपूर्ण होने से जिस क्षण सयोगी गुणस्थान के चरम समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ, उसमें शरीरोपाङ्ग नामकर्म का भी नाश हुआ, उसी क्षण हो गया -ऐसा जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५२)

-'(मुक्तावस्थावाले आत्मा के आकार के) अतीत अनन्तर (अन्तिम) शरीरानुसार अवगाहपरिणामरूप देहप्रमाणपना होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २८ की टीका, पृष्ठ ५७)

प्रश्न ८८- प्रदेशत्वगुण को न मानने से क्या दोष आयेगा?

उत्तर- प्रदेशत्वगुण के न मानने से आकार न रहने के कारण द्रव्य को निराकारपने का प्रसङ्ग आयेगा और आकार के अभाव में द्रव्य के ही अभाव का प्रसङ्ग उत्पन्न होगा।

-**'जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।**
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो॥ १४४॥'

अन्वयार्थ- जिस पदार्थ के प्रदेश अथवा एकप्रदेश भी परमार्थत: ज्ञात नहीं होते, उस पदार्थ को शून्य जानो जो कि अस्तित्व से अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १४४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २१६)

प्रश्न ८९- प्रदेशत्वगुण को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- प्रदेशत्वगुण को जानने से निम्नलिखित लाभ हैं-

१. जीव के छोटे-बड़े आकार से सुख-दु:ख का कोई सम्बन्ध नहीं है- ऐसा निर्णय होता है;

-'बाहुबलि भगवान पाँचसौ पच्चीस धनुष ऊँचे थे और महावीर भगवान सात हाथ ऊँचे थे। सिद्धदशा में भी उनका आकार तदानुसार भिन्न-भिन्न ही है।..........इससे तो यह मालूम होता है कि आकार की लघुता-दीर्घता के साथ ज्ञान-आनन्द का माप नहीं है। सवापाँचसौ धनुष का दीर्घ आकार हो, तो उसके ज्ञान-आनन्द अधिक और एक धनुष जितना आकार हो, तो ज्ञान-आनन्द कम हो- ऐसा नहीं है। प्रदेश तो दोनों के समान ही हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मसिद्धि, पृष्ठ ३३३)

२. प्रत्येक द्रव्य का आकार उसके प्रदेशत्वगुण के कारण से होता है; अत: किसी द्रव्य का आकार हम बना सकते हैं- ऐसी मिथ्यामान्यता समाप्त हो जाती है;

-'ठिगना शरीर हो, वहाँ लम्बा शरीर होने की इच्छा करता है; तथापि उसकी इच्छानुसार शरीर परिणमित नहीं होता तथा आत्मा के प्रदेशों में भी वैसा परिवर्तन नहीं होता। प्रदेशशक्ति का कार्य स्वतन्त्र है; उसमें इच्छा की निरर्थकता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३३८)

३. असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में एकसाथ रहते हुए भी सब द्रव्यों के आकार अलग-अलग रहते हैं- ऐसा निर्णय होता है; और

-**'अण्णोण्णं पविसंता देंता ओगासमण्णमण्णस्स।**
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।। ७।।'

अन्वयार्थ- वे (छहों द्रव्य) एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य अवकाश देते हैं, परस्पर (क्षीरनीरवत्) मिल जाते हैं; तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १९)

-'वे सब पदार्थ (छहों द्रव्य) अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एकदूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ११)

-'अनन्त पदार्थ एक ही क्षेत्र में साथ-साथ अनादिकाल से रहनेपर भी प्रत्येक पदार्थ का निज-निज स्वरूप भिन्न-भिन्न ही रहता है। यद्यपि लोक असंख्यप्रदेशी है; तथापि इसमें असंख्य-असंख्य प्रदेशी अनन्तजीव रहते हैं तथा एक द्रव्य के प्रदेश दूसरे द्रव्य के प्रदेश को स्पर्श

भी नहीं करते।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, परमार्थवचनिकाप्रवचन, पृष्ठ १७)

४. संसारावस्था में जीव के शरीराकार होनेपर भी उसका आकार अपने प्रदेशत्वगुण के कारण है; शरीर के कारण नहीं है- इस निर्णय से शरीर के प्रति मोह का अभाव हो जाता है।

-'जीव तथा शरीर के सङ्कोच-विकास का कार्य एक क्षेत्र में और एक काल में हो, तो उससे कहीं दोनों को एक नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार न्यायपूर्वक दो द्रव्यों की भिन्नता को जाने तो समस्त पर में से मोह (आत्मबुद्धि) छूट जाये और अपने चैतन्यरूप आत्मा में ही बुद्धि ढल जाये।' तथा,

-'बाह्य आकृति से महत्ता नहीं है, किन्तु असंख्य प्रदेशों में जो पूर्णरूप आत्मस्वभाव भरा है, उस स्वभाव की महत्ता है। ऐसे असंख्य प्रदेश में भरे हुये आत्मस्वभाव को जाने, तो देहादि समस्त पदार्थों में से अहङ्कार या महिमा छूट जाये।........मैं शरीर में रहा ही नहीं हूँ; मैं तो अपने असंख्य प्रदेश में ही हूँ- ऐसी भिन्नता के ज्ञान द्वारा मृत्यु प्रसङ्ग पर भी समाधि रहती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३३९ से ३४१)

सम्यक्त्व की रज भी उपकारी है

सम्यग्दर्शन कोई अपूर्व वस्तु है। शरीर की खाल उतारकर नमक छिड़कनेवाले पर भी क्रोध नहीं किया- ऐसे व्यवहारचारित्र इस जीव ने अनन्तबार पाले हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन एकबार भी प्राप्त नहीं किया। लाखों जीवों की हिंसा के पाप की अपेक्षा मिथ्यादर्शन का पाप अनन्तगुना है। सम्यक्त्वी जीव अपना निर्णय आप ही कर सकता है। सम्यक्त्वी समस्त ब्रह्माण्ड के भावों को पी गया होता है। सम्यक्त्व कोई अलग ही वस्तु है। सम्यक्त्वरहित क्रियाएँ इकाई बिना शून्य के समान हैं। सम्यक्त्व का स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है। हीरे का मूल्य हजारों रुपया होता है। उसके पहल पड़ने से खिरी हुई रज का मूल्य भी सैकड़ों रुपया होता है; उसी प्रकार सम्यक्त्व- हीरे का मूल्य तो अमूल्य है; वह यदि मिल गया तो कल्याण हो जायेगा, परन्तु वह नहीं मिला तब भी 'सम्यक्त्व कुछ अलग ही वस्तु है'- इस प्रकार उसका माहात्म्य समझकर उसे प्राप्त करने की उत्कण्ठारूप रज भी महान लाभ देती है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या ६२, पृष्ठ ४७-४८)

सामान्यगुण : प्रयोजन

प्रश्न १- "इस पुस्तक में" छहों सामान्यगुण घटित करो?

उत्तर-१. इस पुस्तक में उसके परमाणुओं का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि इसके प्रत्येक परमाणु में अस्तित्वगुण है;

२. इसमें (इस पुस्तक में) अर्थक्रिया है, क्योंकि उसमें वस्तुत्वगुण है;

३. इसकी (इस पुस्तक की) पर्याय में निरन्तर (प्रति समय) नया परिवर्तन होता है, क्योंकि उसमें द्रव्यत्वगुण है;

४. वह (यह पुस्तक) ज्ञात होने योग्य है, क्योंकि इसमे प्रमेयत्वगुण है;

५. इसका (इस पुस्तक का) कोई भी परमाणु बदलकर दूसरे परमाणुरूप नहीं होता। उसके सभी गुण-पर्यायें भी उसकी मर्यादा में व्यवस्थित हैं, क्योंकि इसमें अगुरुलघुत्वगुण है; और

६. यह (यह पुस्तक) आकारयुक्त है, क्योंकि इसमें प्रदेशत्वगुण है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १४०, पृष्ठ ४३)

प्रश्न २- छहो सामान्यगुणों का प्रयोजन सक्षेप में क्या है?

उत्तर- छहों सामान्यगुण द्रव्यों (सभी द्रव्यों) की स्वतन्त्रता बतलाते हैं और यही उनका प्रयोजन है।

-'१. किसी द्रव्य की उत्पत्ति या विनाश नहीं है; इसलिये कोई किसी का कर्ता नहीं है- ऐसा अस्तित्वगुण सूचित करता है;

२. प्रत्येक द्रव्य निरन्तर अपनी ही प्रयोजनभूत क्रिया करता है; इसलिये कोई द्रव्य एक समय भी अपने कार्यरहित बेकार नहीं होता- ऐसा वस्तुत्वगुण बतलाता है;

३. प्रत्येक द्रव्य निरन्तर प्रवाहक्रम से प्रवर्तमान अपनी नयी-नयी अवस्थाओं को सदैव स्वयं ही बदलता है; इसलिये किसी के कारण परिवर्तित हो या रुके, ऐसा पराधीन कोई द्रव्य नहीं है- ऐसा द्रव्यत्वगुण बतलाता है;

४. प्रत्येक द्रव्य में ज्ञात होने योग्यपना (प्रमेयत्व) होने के कारण ज्ञान से कोई अनजान (गुप्त) नहीं रह सकता; इसलिये कोई ऐसा माने कि हम अल्पज्ञों को नवतत्त्व क्या? आत्मा

क्या? धर्म क्या है?- यह सब ज्ञात नहीं हो सकता, तो उसकी वह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि यदि समझने का पुरुषार्थ करे, तो सत्य और असत्य का स्वरूप (सम्यक् मति-श्रुतज्ञान का विषय होने से) उसके ज्ञान में अवश्य ज्ञात होगा- ऐसा प्रमेयत्वगुण बतलाता है;

५. प्रत्येक द्रव्य का द्रव्यत्व नित्य व्यवस्थित रहता है; इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। पर्याय द्वारा भी कोई दूसरे पर असर, प्रभाव, प्रेरणा, लाभ-हानि कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्ध धारावाही पर्याय द्वारा अपने में ही वर्तता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने मे व्यवस्थित नियत मर्यादावाला होने से किसी द्रव्य को दूसरे की आवश्यकता नहीं होती- ऐसा अगुरुलघुत्वगुण बतलाता है; और

६. कोई वस्तु अपने स्वक्षेत्ररूप आकाररहित नहीं होती और आकार छोटा हो या बड़ा हो, वह लाभ-हानि का कारण नहीं है; तथापि प्रत्येक द्रव्य का स्व-अवगाहनारूप अपना स्वतन्त्र आकार अवश्य होता है- ऐसा प्रदेशत्वगुण बताता है।

-इस प्रकार छहों सामान्यगुण प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्र व्यवस्था बतलाते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १४६, पृष्ठ ४४-४६)

卐

सच्चा ध्यान करने की रीति

द्रव्य कैसा है? गुण कैसा है? पर्याय कैसी है? जिसमें वर्ण-गन्ध-स्पर्श है, वह पुद्गलद्रव्य है; यह अलग है और मैं चैतन्यद्रव्य अलग हूँ- इस प्रकार यथार्थ ज्ञान करना; बाद में यथार्थ ध्यान होता है। यथार्थ ज्ञान (द्रव्य-गुण-पर्याय का) हुए बिना यथार्थ ध्यान होता ही नहीं। पहले यथार्थ ज्ञान करना। जो गुरुदेव ने मार्ग बताया है, उसका यथार्थ ज्ञान करना। कैसा मुक्ति का मार्ग है? कैसे वह मिलता है? कैसा स्वभाव है? किस प्रकार मैं निर्मल हूँ? ये विभाव क्या है? मोक्षस्वरूप आत्मा कैसा है? यह सब पहले पहचान करके बाद में ध्यान करना, तो ध्यान यथार्थ जमता है। ज्ञान के बिना ध्यान जमता नहीं है।

(पू० बहनश्री चम्पाबहन, स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्नोत्तर संख्या ६४, पृष्ठ ५९)

सर्वज्ञदेव कथित छः द्रव्यों के स्वतन्त्रतादर्शक

छः सामान्यगुण

१. कर्ता जगत का मानता, 'जो कर्म या भगवान को'।
वह भूलता है लोक में, अस्तित्वगुण के ज्ञान को।।
उत्पादव्यययुत वस्तु है, फिर भी सदा ध्रुवता धरे।
'अस्तित्वगुण' के योग से, कोई नहिं जग में मरे।।

२. 'वस्तुत्वगुण' के योग से, हो द्रव्य में स्व-स्वक्रिया।
स्वाधीन गुण-पर्याय का, ही पान द्रव्यों ने किया।।
सामान्य और विशेष से, कर रहे निज काम को।
यों मानकर वस्तुत्व को, पाओ विमल शिवधाम को।।

३. 'द्रव्यत्वगुण' इस वस्तु को, जग में पलटता है सदा।
लेकिन कभी भी द्रव्य तो, तजता न लक्षण सम्पदा।।
स्व-द्रव्य में मोक्षार्थी हो, स्वाधीन सुख लो सर्वदा।
हो नाश जिससे आज तक, की दुःखदायी भवकथा।।

४. सब द्रव्य-गुण 'प्रमेय' से, बनते विषय हैं ज्ञान के।
रुकता न सम्यग्ज्ञान पर से, जानियो यों ध्यान से।।
आत्मा अरूपी ज्ञेय निज यह, ज्ञान उसको जानता।
है स्व-पर सत्ता विश्व में, सुदृष्टि उनको जानता।।

५. यह गुण 'अगुरुलघु' भी सदा, रखता महत्ता है महा।
गुण-द्रव्य को पररूप यह, होने न देता है अहा! ।।
निज गुण-पर्याय सर्व ही, रहते सतत निज भाव में।
कर्ता न हर्ता अन्य कोई, यों लखो स्व-स्वभाव में।।

६. 'प्रदेशत्वगुण' की शक्ति से, आकार द्रव्यों का धरे।
निजक्षेत्र में व्यापक रहे, आकार भी स्वाधीन है।।
आकार हैं सब के अलग, हो लीन अपने ज्ञान में।
जानो इन्हें 'सामान्यगुण', रक्खो सदा श्रद्धान में ।।

(जिनधर्मप्रवेशिका, ब्र० यशपाल जैन, पृष्ठ ३६)

मैं जानता हूँ; मुझे आता है

स्वच्छन्दी जीव अपनी मति-कल्पना से मार्ग का निर्णय कर लेता है कि मार्ग इस प्रकार ही है; मैं जो जानता हूँ, वह सत्य ही है। यदि बहुत शास्त्र अभ्यास किया हो तो, शास्त्र में इस प्रकार आता है, आत्मा ऐसा ही है- इस प्रकार अपनी मति से जो निर्णय किया हो, कहीं न कहीं स्वच्छन्दवृत्ति से अटक जाता है अथवा जहाँ ठीक लगता है, वहाँ अटक जाता है, लेकिन उसे किसी से पूछना नहीं रहता क्योंकि 'मैं सब जानता हूँ; मुझे सब आता है'- ऐसा उसे लगता है।

जिन्होंने मार्ग जाना है ऐसे अनुभूतिवाले ज्ञानियों ने क्या कहा है? यह देखने-जानने का अवकाश उसे नहीं रहता और जिसे मति-कल्पना न हो उसे अवकाश रहता है कि विशेष ज्ञानी कौन है और वे क्या कहते हैं?

गौतमस्वामी-इन्द्रभूति वेदान्त को मानता था। इन्द्र ने आकर परीक्षा की। उसे (गौतमस्वामी को) आश्चर्य लगा कि 'मुझे तो इतना सब आता होनेपर भी यह तो मैं नहीं जानता।' उसने (इन्द्र ने) जो प्रश्न पूछा कि द्रव्य कितने (इत्यादि) वो मुझे आते क्यों नहीं? 'मैं तो यह मानता था कि मैं सर्वज्ञ हूँ'..............इस प्रकार आश्चर्य लगा उसने वहाँ (महावीर भगवान के पास) जाने की तैयारी की। इस प्रकार अन्दर से योग्यता हुई कि मैं नहीं जानता, तो वहाँ जाने का अवकाश रहा। लेकिन 'मैं सब जानता हूँ' -ऐसा मानता हो, उसे कोई अवकाश नहीं रहता।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्नोत्तर संख्या १५४, पृष्ठ १०८)

विशेषगुण

प्रश्न १- प्रत्येक द्रव्य में कौन-कौनसे विशेषगुण हैं?

उत्तर- विशेषगुण सब द्रव्यों में न रहकर अपने-अपने द्रव्य मे ही रहते हैं। वे इस प्रकार हैं-

१. जीवद्रव्य में- चैतन्य (दर्शन-ज्ञान), श्रद्धा (सम्यक्त्व), चारित्र, सुख, वीर्य, क्रियावतीशक्ति, वैभाविकशक्ति, आदि अनन्त विशेषगुण हैं।

-**'तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम्।**
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम्॥ ९४२॥'

अर्थ- (यथा) जीव के चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व- ये स्पष्टतः विशेषगुण हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, अध्याय दूसरा, गाथा ९४२ व अर्थ, पृष्ठ ३०१)

-'जीवद्रव्य के ज्ञान आदि; अर्थात्, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आदि अनन्त गुण हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अधिकार १, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५६)

२. पुद्गलद्रव्य में- स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, क्रियावतीशक्ति, वैभाविकशक्ति, आदि अनन्त विशेषगुण हैं।

-**'वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।'**

अन्वयार्थ- वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श (गुण) सूक्ष्म से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के (सर्व) पुद्गल के होते हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३२ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ २७०)

-'पुद्गलद्रव्य के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इत्यादि, अनन्तगुण हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अधिकार १, गाथा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५६)

-**'भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ।'**

अर्थ- जीव और पुद्गल- ये दोनों द्रव्य भाव (वैभाविकशक्ति) और क्रिया (क्रियावतीशक्ति) दोनों से युक्त हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २५ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १५४)

३. धर्मद्रव्य में- गतिहेतुत्व आदि अनन्त विशेषगुण हैं।

४. अधर्मद्रव्य में- स्थितिहेतुत्व आदि अनन्त विशेषगुण हैं।

५. आकाशद्रव्य में- अवगाहनहेतुत्व आदि अनन्त विशेषगुण हैं।

६. कालद्रव्य में- परिणमनहेतुत्व आदि अनन्त विशेषगुण हैं।

-'गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं।। ३०।।'

अन्वयार्थ- धर्म जीव-पुद्गलों को गमन का निमित्त (गतिहेतुत्व) है और अधर्म (उन्हें) स्थिति का निमित्त (स्थितिहेतुत्व) है। आकाश जीवादि सर्वद्रव्यो को अवगाहन का निमित्त (अवगाहनहेतुत्व) है।

(श्रीनियमसार, गाथा ३० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६३)

-'आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा।। १३३।।
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं।। १३४।।'

-आकाश का अवगाह, धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व, और अधर्मद्रव्य का गुण स्थानकारणता (स्थितिहेतुत्व) है। काल का गुण वर्तना है। आत्मा का गुण उपयोग कहा है। इस प्रकार अमूर्तद्रव्यों के गुण संक्षेप से जानना चाहिए।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ का अन्वयार्थ, पृष्ठ २७४)

-'गति, स्थिति, अवगाह, और वर्तना (हेतुरूप) लक्षणयुक्त (क्रमपूर्वक) धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १५ की टीका, पृष्ठ ५९)

-'जीवद्रव्य में चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र इत्यादि; पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण; धर्मद्रव्य में गतिहेतुत्व आदि; अधर्मद्रव्य में स्थितिहेतुत्व आदि; आकाशद्रव्य में अवगाहनहेतुत्व; और कालद्रव्य में परिणमनहेतुत्व आदि (विशेषगुण) हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ५१, पृष्ठ १०)

चेत-चेत-नर चेत!

रजकण तेरे रखड़ते, ज्यों है रखड़ती रेत।
फिर तू नरतन पाये कब, चेत-चेत-नर चेत।।

(पूज्य गुरुदेवश्री, प्रवचनरत्नाकर, भाग २, पृष्ठ ३४)

जीवद्रव्य के विशेषगुण

चैतन्यगुण

प्रश्न १- चेतन, चैतन्य, और चेतना का क्या तात्पर्य है?

उत्तर- जीव चेतन द्रव्य है। ज्ञानदर्शन उसके गुण हैं। उसका एक नाम चैतन्य है। चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाले आत्मा के परिणाम को उपयोग (चेतना) कहते हैं।

(१) जीवद्रव्य को चेतन कहते हैं; (२) चैतन्य वह चेतन द्रव्य का गुण है; उसमें दर्शन और ज्ञान इन दोनों गुणों का समावेश हो जाता है; (३) चैतन्यगुण की पर्याय को चेतना कहा जाता है; तथा (४) चैतन्यगुण को चेतनागुण भी कहा जाता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १४८, पृष्ठ ४६)

प्रश्न २- चेतना किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसमें पदार्थों का प्रतिभास; अर्थात्, जानना हो, उसे चेतना कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ७८, पृष्ठ १६)

-'(जीव के) स्वधर्मों में व्यापनेवाली होने से (जीव के) स्व-स्वरूप से प्रकाशित होती हुई अविनाशिनी, भगवती, सवेदनरूप चेतना (है)।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १२७ की टीका, पृष्ठ २६३)

-'जिसमें पदार्थों का प्रतिभास हो, उसे चेतना कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १४९, पृष्ठ ४६)

प्रश्न ३- चेतना के कितने भेद हैं?

उत्तर- चेतना के दो भेद हैं- (१) दर्शनचेतना (दर्शनोपयोग), और (२) ज्ञानचेतना (ज्ञानोपयोग)।

-**'उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।**
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि।। ४०।।'

अन्वयार्थ- ज्ञान और दर्शन से संयुक्त- ऐसा वास्तव में दो प्रकार का उपयोग जीव को सर्वकाल अनन्यरूप से जानो।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७४-७५)

-'चेतना के दो भेद हैं- दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ७९, पृष्ठ १६)

प्रश्न ४- दर्शनचेतना किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसमें महासत्ता का (सामान्य का) प्रतिभास; अर्थात्, निराकार झलक हो, उसे दर्शनचेतना कहते हैं।

-**'भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।**

वण्णणहीणग्गहणं, जीवेण य दंसणं होदि।। ४८३।।'

टीका- सामान्य विशेषात्मक जे पदार्थ, तिनिका स्वरूप मात्र भेद रहित, जैसैं हैं तैसैं जीव करि सहित स्वपर सत्ता का प्रकाशना, सो दर्शन है। जो देखै वा जा करि देखिए वा देखने मात्र, सो दर्शन जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८१)

-**'जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।**

अविसेसिदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णए समए।। ४३।।'

गाथार्थ- पदार्थों मे विशेषना किये बिना (भेद किये बिना), आकार; अर्थात्, विकल्प किये बिना, पदार्थों का जो सामान्यरूप से (सत्तावलोकनरूप) ग्रहण- उसे परमागम में दर्शन कहा जाता है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४३ व गाथार्थ, पृष्ठ २११-२१२)

-'सामान्य को ग्रहण करनेवाला दर्शन है; अर्थात्, सामान्य जिसमें प्रतिभासित हो, वह दर्शन है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० की टीका, पृष्ठ ७५)

-'अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। (जिसमे ज्ञेयरूप आकार; अर्थात्, विशेष नहीं है, ऐसे दर्शनोपयोगमयी सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होनेरूप-दृशिशक्ति; अर्थात्, दर्शनक्रियारूप शक्ति।)'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, तीसरी पंक्ति, पृष्ठ ५८८)

-'किसी भी पदार्थ को जानने की योग्यता (लब्धि) होनेपर उस पदार्थ की ओर सन्मुखता-प्रवृत्ति अथवा दूसरे पदार्थों की ओर से हटकर विवक्षित पदार्थ की ओर उत्सुकता प्रगट होती है, सो दर्शन है। वह उत्सुकता चेतना में ही होती है। जब तक विवक्षित पदार्थ को थोड़ा भी नहीं जाना जाता, तब तक के चेतना के व्यापार को "दर्शनोपयोग" कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ १९७)

-'जिसमें पदार्थों के भेदरहित सामान्य प्रतिभास हो, उसे दर्शनचेतना कहते हैं; जैसे कि, ज्ञान का उपयोग घड़े की ओर था, वहाँ से छूटकर दूसरे पदार्थ-सम्बन्धी ज्ञानोपयोग प्रारम्भ हो; उससे

पूर्व जो चैतन्य का सामान्य प्रतिभासरूप व्यापार हो, वह दर्शनोपयोग है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १५१, पृष्ठ ४७)

प्रश्न ५- दर्शनचेतना के कितने भेद हैं?

उत्तर- दर्शनचेतना के चार भेद हैं- (१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन, और (४) केवलदर्शन।

-'उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।

चक्खु अचक्खु ओही दंसणमध केवलं णेयं॥ ४॥'

गाथार्थ- उपयोग दो प्रकार का है- दर्शन और ज्ञान। उसमें दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन- इस प्रकार चार प्रकार का जानना।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५)

-'दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।

अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं॥ ४२॥'

अन्वयार्थ- दर्शन भी चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और अनन्त जिसका विषय है ऐसा अविनाशी केवलदर्शन- ऐसे चार भेदवाला है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७९-८०)

प्रश्न ६- दर्शन कब उत्पन्न होता है?

उत्तर- छद्मस्थ जीवों को ज्ञानोपयोग से पूर्व और केवलज्ञानियो को ज्ञानोपयोग के साथ ही दर्शन उत्पन्न होता है।

-'दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।

जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि॥ ४४॥'

गाथार्थ- छद्मस्थ जीवों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छद्मस्थों को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एकसाथ नही होते हैं। केवली भगवान को ज्ञान और दर्शन- ये दोनों उपयोग एकसाथ ही होते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ व गाथार्थ, पृष्ठ २१३)

-'ज्ञान के पहले दर्शन होता है। बिना दर्शन के अल्पज्ञजनो के ज्ञान नहीं होता, परन्तु सर्वज्ञदेव के ज्ञान और दर्शन साथ होते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १०१, पृष्ठ २१)

प्रश्न ७- चक्षुदर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर- चक्षुइन्द्रिय द्वारा मतिज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास हो, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं।

-'चक्खूण जं पयासइ, दिस्सइ तं चक्खु-दंसणं बेंति।'

टीका- नेत्रनि का सम्बन्धी जो सामान्य ग्रहण, सो जो प्रकाशिए, देखिए याकरि वा तिस नेत्र के विषय का प्रकाशन, सो चक्षुदर्शन गणधरादिक कहैं हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८४ का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८२)

-'चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से और बहिरङ्ग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्तपदार्थ के सत्तासामान्य को विकल्परहित (निराकाररूप से) संव्यवहार से प्रत्यक्षपने, किन्तु निश्चय से परोक्षरूप से जो एकदेश देखता है, वह चक्षुदर्शन है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १६)

-'चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से (जीव) मूर्तवस्तु को **देखता**[1] **है-** (यह चक्षुदर्शन है)।'

(श्रीनियमसार, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ३५)

-'नेत्रजन्य मतिज्ञान से पहले सामान्य प्रतिभास या अवलोकन को चक्षुदर्शन कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १०२, पृष्ठ २१)

प्रश्न ८- अचक्षुदर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर- चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों और मन द्वारा मतिज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास हो, उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

-'सेसिंदिय-प्पयासो, णायव्वो सो अचक्खू त्ति।'

टीका- बहुरि नेत्र बिना च्यारि इन्द्रिय अर मन का जो विषय का प्रकाशन, सो अचक्षुदर्शन है, ऐसा जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८४ का उत्तरार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८२)

-'स्पर्शन-रसना-घ्राण-श्रोत्रेन्द्रियावरण का क्षयोपशम होने से अपनी-अपनी बहिरङ्ग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से, मूर्तपदार्थ के सत्तासामान्य को विकल्परहित (निराकाररूप से) जो परोक्षरूप से एकदेश देखता है- वह अचक्षुदर्शन है। उसी प्रकार मनइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से और सहकारीकारणरूप आठ पंखुड़ीवाले कमल के आकाररूप द्रव्यमन के आलम्बन से मूर्त और अमूर्त समस्त वस्तुओं के सत्तासामान्य को विकल्परहित परोक्षरूप से जो देखता है, वह मानस -अचक्षुदर्शन है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १६)

---

१. **देखना-** सामान्यरूप से अवलोकन करना; सामान्य प्रतिभास होना।

(श्रीनियमसार, गाथा १४, पृष्ठ ३५ की पादटिप्पणी)

-'अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) स्पर्शन, रसना, घ्राण, और श्रोत्र द्वारा उस-उसके योग्य विषयों को देखता है- (यह अचक्षुदर्शन है।)'

(श्रीनियमसार, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ३५)

-'नेत्रजन्य (नेत्र के) सिवाय अन्य इन्द्रियों और मन-सम्बन्धी मतिज्ञान से पहले होनेवाले सामान्य अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १०३, पृष्ठ २१)

प्रश्न ९- अवधिदर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर- अवधिज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

-'परमाणु-आदियाइं, अन्तिम-खंधं त्ति मुत्ति-दव्वाइं।
तं ओहि-दंसणं पुण, जं पस्सइ ताइ पच्चक्खं।। ४८५।।'

टीका- परमाणु आदि महास्कन्ध पर्यन्त जे मूर्तीक द्रव्य, तिनिकौं जो प्रत्यक्ष देखै, सो अवधिदर्शन है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८२)

-'अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्तवस्तु के सत्तासामान्य को विकल्परहित जो एकप्रदेश-प्रत्यक्षरूप से देखता है, वह अवधिदर्शन है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४ की टीका, पृष्ठ १६-१७)

-'उस प्रकार के (अवधिदर्शन के) आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्तद्रव्य को विकल्परूप से सामान्यत: अवबोधन करता है, वह अवधिदर्शन है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ ८०)

-'अवधिज्ञान से पहले होनेवाले सामान्य अवलोकन को अवधिदर्शन कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १०४, पृष्ठ २२)

प्रश्न १०- केवलदर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर- केवलज्ञान के साथ होनेवाले सामान्य प्रतिभास को केवलदर्शन कहते हैं।

-'बहुविह बहुप्पयारा, उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।
लोगालोग वितिमिरो, जो केवलदंसणुज्जोओ।। ४८६।।'

टीका- बहुत भेद कौं लीए बहुत प्रकार के चन्द्रमा, सूर्य, रत्नादिक सम्बन्धी उद्योत जगत विषैं हैं। ते परिमित जो मर्यादा लीएं क्षेत्र, तिस विषैं ही अपने प्रकाश करने कौं समर्थ हैं। तातैं तिनि प्रकाशनि की उपमा देने योग्य नाहीं, ऐसा समस्त लोक अर अलोक विषैं अन्धकार रहित केवल प्रकाशरूप केवलदर्शन नामा उद्योत जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८६ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५८२)

-'समस्त आवरण के अत्यन्त क्षय से, केवल ही (आत्मा अकेला ही) मूर्त-अमूर्त द्रव्य को सकलरूप से सामान्यत: अवबोधन करता है, वह स्वाभाविक केवलदर्शन है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ ८०)

-'केवलज्ञान के साथ होनेवाले सामान्य अवलोकन को केवलदर्शन कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १०५, पृष्ठ २२)

प्रश्न ११- ज्ञानचेतना किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसमें पदार्थों का विशेष प्रतिभास होता है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। ज्ञान की स्थिरता शुद्धोपयोग को उपयोगरूप ज्ञानचेतना कहा जाता है।

-'आत्मा का चैतन्य-अनुविधायी (अर्थात्, चैतन्य का अनुसरण करनेवाला) परिणाम, सो उपयोग है। वह भी दो प्रकार का है- ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। वहाँ विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है; अर्थात्, विशेष जिसमें प्रतिभासित हो वह ज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४० की टीका, पृष्ठ ७५)

-'**अर्थाज्ज्ञानं गुण: सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा।**
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना॥ १९७॥'

अर्थ- जिस समय ज्ञानगुण समीचीन भिन्न अवस्था को प्राप्त करके मात्र आत्मा की उपलब्धिरूप होता है, उस समय वह ज्ञानचेतना कहलाता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १९७ व अर्थ, पृष्ठ १८४)

-'साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति। (जो ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है, ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति।)'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, चौथी पंक्ति, पृष्ठ ५८८)

-'जो पदार्थों को साकाररूप विशेषता से जाने, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १३)

-'अवान्तरसत्ताविशिष्ट विशेषपदार्थ को विषय करनेवाली चेतना को ज्ञानचेतना कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ८२, पृष्ठ १७)

प्रश्न १२- क्या ज्ञानचेतना सभी जीवों में पायी जाती है?

उत्तर- ज्ञान करना तो जीव का स्वभाव है, परन्तु जो जीव समस्त परवस्तुओं को अपनेरूप मानकर जानता है, उसकी ज्ञानशक्ति अज्ञानरूप परिणमती है। ज्ञानचेतना का अर्थ है, अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करना; अर्थात्, राग-द्वेष आदि और इनके निमित्त से होनेवाली नर-नारकादि पर्यायें मेरी नहीं हैं; मैं तो एकमात्र ज्ञायक स्वभाव हूँ- ऐसा अनुभव करना ज्ञानचेतना है। यह सम्यग्दृष्टि के

होती है, मिथ्यादृष्टि के नहीं। मिथ्यादृष्टि के तो अज्ञानचेतना होती है, क्योंकि वह आत्मा को ज्ञायक स्वभाव न मानकर नाना प्रकार के राग-द्वेष आदि कर्मरूप और उनके फलरूप मानता है।

-'सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात्॥ १९८॥'

अर्थ- यह ज्ञानचेतना नियम से सम्यग्दृष्टि जीव के होती है; मिथ्यादृष्टि जीव के किसी भी हालत में नहीं होती, क्योंकि मिथ्यात्वरूप अवस्था के रहते हुये ज्ञानचेतना का होना असम्भव है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १९८ व अर्थ, पृष्ठ १८४)

-'पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा।'

अन्वयार्थ- जो प्राणित्वका (प्राणों का) अतिक्रम कर गये हैं, वे जीव ज्ञान को वेदते हैं।[1]

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३९ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७३-७४)

-'इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात्॥ २२६॥'

अर्थ- इस प्रकार सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टियों के एक अज्ञानचेतना ही होती है, क्योंकि उनके सब भाव केवल अज्ञानजन्य होते हैं। अज्ञान के बाहर उनके कोई भाव नहीं पाया जाता।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा २२६ व अर्थ, पृष्ठ १८८)

-'ज्ञान शब्द से आत्मा समझना चाहिए, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है। वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जाना जाता है, उसका नाम ज्ञानचेतना है; अर्थात्, जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्था को प्राप्त होता है- केवल शुद्धात्मा अनुभव करता है, उस समय उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है। ज्ञानचेतना निश्चय से सम्यग्दृष्टि को ही होती है, मिथ्यादृष्टि को कभी नहीं हो सकती।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ट १, पृष्ठ ११७)

प्रश्न १३- परिणामों की अपेक्षा से चेतना के कितने भेद हैं?

उत्तर- जीव का स्वरूप चेतना है। वह सत्सामान्य की अपेक्षा से एक प्रकार की है और सद्विशेष की अपेक्षा दो प्रकार की है- (१) ज्ञानचेतना, और (२) अज्ञानचेतना। अज्ञानचेतना के भी दो भेद हैं- (१) कर्मचेतना, और (२) कर्मफलचेतना। इस प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना व कर्मफलचेतना -ये चेतना के तीन प्रकार हैं।

-'प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना॥ ८१९॥'

---

१. 'पञ्चाध्यायी में चतुर्थ गुणस्थान से ज्ञानचेतना का विधान किया है और पञ्चास्तिकाय में तेरहवें गुणस्थान से ज्ञानचेतना को स्वीकार किया है, किन्तु इससे उनमें विरोध नहीं आता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ट १, पृष्ठ १२०)

अर्थ- प्रकृत बात यह है कि आत्मा का निज स्वरूप चेतना है और वह तीन प्रकार की है कर्मचेतना, कर्मफलचेतना, और ज्ञानचेतना। उनमें से सम्यग्दृष्टि को ज्ञानचेतना उपादेय है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ८१९ व अर्थ, पृष्ठ २८३)

-'यही चेतना परिणामों की अपेक्षा से तीन प्रकार की है। जब यह चेतना शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप से परिणमन करती है, तब ज्ञानचेतना; जब रागादि कार्यरूप से परिणमन करती है, तब कर्मचेतना; और जब हर्ष-शोकादि वेदनरूप कर्म के फलरूप परिणमन करती है, तब कर्मफलचेतना कही जाती है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धियुपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १४)

-'परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।। १२३।।'

अन्वयार्थ- आत्मा चेतनारूप से परिणमित होता है और चेतना तीन प्रकार से मानी गयी है और वह ज्ञानसम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी, अथवा कर्मफलसम्बन्धी- ऐसी कही गयी है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १२३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २५२)

-'कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण।। ३८।।'

अन्वयार्थ- त्रिविध चेतकभाव द्वारा एक जीवराशि कर्मों के फलको, एक जीवराशि कार्य को, और एक जीवराशि ज्ञान को चेतती (वेदती) है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७१-७२)

-'ज्ञान के प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उस ओर ही ध्यान रखना, वह ज्ञान का संचेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है।..........अज्ञानरूप (अर्थात्, कर्मरूप और कर्मफलरूप) उपयोग को करना, उसी की ओर (कर्म और कर्मफल की ओर ही) एकाग्र होकर उसी का अनुभव- करना, वह अज्ञानचेतना है।'

(श्रीसमयसार, कलश २२४ का भावार्थ, पृष्ठ ५१६)

-'सकलविमल केवलज्ञान और केवलदर्शन- ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं। मतिज्ञानादिरूप विकल-अशुद्ध उपयोग है। इस प्रकार उपयोग के दो प्रकार हैं। अव्यक्त सुख-दुःख के अनुभवरूप "कर्मफलचेतना" है; और मतिज्ञानसे मन:पर्ययज्ञान पर्यन्त अशुद्धोपयोगरूप ऐसी, स्वईहापूर्वक इष्ट -अनिष्ट विकल्परूपसे विशेष रागद्वेष के परिणमनरूप "कर्मचेतना" है; केवलज्ञानरूप "शुद्धचेतना" है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १५ की टीका, पृष्ठ ५८-५९)

प्रश्न १४- अज्ञानचेतना का स्वरूप क्या है?

उत्तर- अज्ञानचेतना के दो भेद हैं- (१) कर्मचेतना, और (२) कर्मफलचेतना। कर्मचेतना का

अर्थ है- ज्ञान के अतिरिक्त अन्य अनात्मीयभावों का कर्ता अपने को मानना, और कर्मफलचेतना का **अर्थ है**- ज्ञान के अतिरिक्त अन्य अनात्मीयभावों का भोक्ता अपने को मानकर निरन्तर उन्हीं का अनुभव करते रहना।

-'ज्ञान से अन्य में (ज्ञान के सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना (अनुभव करना) कि "यह मैं हूँ", सो अज्ञानचेतना है। वह दो प्रकार की है- कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उसमें ज्ञान से अन्य में (अर्थात्, ज्ञानके सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना कि "इसको मैं करता हूँ", वह कर्मचेतना है और ज्ञान से अन्य में ऐसा चेतना कि "इसे मैं भोगता हूँ", वह कर्मफलचेतना है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३८७ से ३८९ की टीका, पृष्ठ ५१८)

प्रश्न १५- ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना का फल क्या है?

उत्तर- ज्ञानचेतना से निज आत्मा के अनुभव का अभ्यास होता है और शुद्ध परमात्मा प्रगट होता है। ज्ञानचेतना मोक्ष का मार्ग है जिसके फलस्वरूप क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है। समस्त अज्ञानचेतना संसार का बीज है, क्योंकि अज्ञानचेतना से कर्मों का बन्ध होता है जिसके कारण शुद्ध ज्ञान प्रगट नहीं होता।

-'ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः।। २२४।।'

श्लोकार्थ- निरन्तर ज्ञान की संचेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है और अज्ञान की संचेतना से बन्ध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोकता है; अर्थात्, ज्ञान की शुद्धता नहीं होने देता।

(श्रीसमयसार, कलश २२४ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ५१६)

-'जबलग ग्यान चेतना न्यारी। तबलग जीव विकल संसारी।।
जब घट ग्यान चेतना जागी। तब समकिती सहज वैरागी।। ८८।।'

अर्थ- जबतक ज्ञानचेतना अपने से भिन्न है; अर्थात्, ज्ञानचेतना का उदय नहीं हुआ है, तबतक जीव दु:खी और संसारी रहता है और जब हृदय में ज्ञानचेतना जागती है, तब वह अपने आप ही ज्ञानी वैरागी होता है।

(श्रीसमयसारनाटक, सर्वविशुद्धिद्वार, दोहा ८८ व अर्थ, पृष्ठ २८७)

-'ज्ञानचेतनाकी भावना का फल यह है कि उस भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है; अन्य तृष्णा नहीं रहती और भविष्य में केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मों से रहित मोक्षअवस्था को प्राप्त होता है।'

(श्रीसमयसार, कलश २३२ का भावार्थ, पृष्ठ ५४४)

-'भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानचेतना मोक्ष का मार्ग और अज्ञानचेतना संसार का मार्ग।'

(श्रीसमयसार, कलश २२४ का भावार्थ, पृष्ठ २०२)

[**विशेष**- ज्ञानचेतना व अज्ञानचेतना के विशेष स्पष्टीकरण के लिये **श्रीसमयसार गाथा ३७३ से ३८९ और कलश २२२ से २३३** तक देखें।]

ज्ञानगुण

प्रश्न १६- ज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- ज्ञानगुण तो नित्य एकरूप ही है, किन्तु उसकी सम्यक्-पर्याय के पाँच भेद हैं- (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, और (५) केवलज्ञान। (ये पाँचों सम्यग्ज्ञान के भेद हैं); मिथ्याज्ञान पर्याय के तीन भेद हैं- (१) कुमति, (२) कुश्रुत, और (३) कुअवधि। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के पाँच और मिथ्याज्ञान के तीन, कुल आठ भेद हुए।

-'**आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।**
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते।। ४१।।'

अन्वयार्थ- आभिनिबोधिक (मति), श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवल- इस प्रकार ज्ञान के पाँच भेद हैं; और कुमति, कुश्रुत, तथा विभङ्ग- यह तीन (अज्ञान) भी (पाँच) ज्ञान के साथ संयुक्त किये गये हैं। (इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं।)

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७५-७६)

-'**केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।**
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं।। ११।।
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव।। १२।।'

अन्वयार्थ- जो (ज्ञान) केवल, इन्द्रियरहित, और असहाय है, वह स्वभावज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानरूप भेद किये जानेपर विभावज्ञान दो प्रकार का है।। ११।। सम्यग्ज्ञान चार भेदवाला है -मति, श्रुत, अवधि, तथा मनःपर्यय; और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) मति आदि के भेद से तीन भेदवाला है।। १२।।[1]

(श्रीनियमसार, गाथा ११-१२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २६-२७)

-'ज्ञान आठ प्रकार का है। इन आठ भेदों में मति, श्रुत, और अवधिज्ञान- ये तीन

---

१. श्रीनियमसार में ज्ञान के स्वभावज्ञान और विभावज्ञान- दो भेद करके केवलज्ञान को स्वभावज्ञान निरूपित किया है। विभावज्ञान के पुनः दो भेद करके उन्हें सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के रूप में निरूपित किया है।

मिथ्यात्व के उदयवश विपरीत अभिनिवेशरूप अज्ञान हैं, और वे ही शुद्धात्मादि तत्त्व के विषय में विपरीताभिनिवेशरहितपने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव को सम्यग्ज्ञान है। मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान –ये दोनों मिलकर ज्ञान के आठ भेद हुए।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १७-१८)

–'ये दर्शन-ज्ञान आत्मा के निजगुण हैं। उनमें से ज्ञान के आठ भेद हैं। उनमें केवलज्ञान तो पूर्ण है, अखण्ड है, शुद्ध है; तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान- ये चार ज्ञान तो सम्यक्ज्ञान; और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि- ये तीन मिथ्याज्ञान; ये केवल (केवलज्ञान) की अपेक्षा सातों ही खण्डित हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, गाथा ५८ का भावार्थ, पृष्ठ ५८)

[**विशेष**- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, और केवलज्ञान- इन पाँचों सम्यक्ज्ञान का विशेष स्पष्टीकरण इसी पुस्तक के **'प्रकरण-६ : सम्यग्ज्ञान'**, पृष्ठ ५८७ पर देखें।]

प्रश्न १७- मिथ्याज्ञान की कितनी पर्यायें हैं?

उत्तर- जब तक जीव मिथ्यादृष्टि रहता है, उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। मिथ्याज्ञान की तीन पर्यायें हैं- (१) कुमतिज्ञान, (२) कुश्रुतज्ञान, और (३) कुअवधिज्ञान।

–'तेई तीनों (मति, श्रुत, और अवधिज्ञान) मिथ्यात्व वा अनन्तानुबन्धी कोई कषाय के उदय होतैं तत्त्वार्थ का अश्रद्धानरूप परिणया जीव कैं तीनों मिथ्याज्ञान हो हैं। कुमति, कुश्रुति, विभङ्ग ए नाम हो हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४३८)

–'**मतिश्रुतावधयो विपर्ययाश्च।। ३१।।**' –**अर्थ**- मति, श्रुत, और अवधि- ये तीन ज्ञान विपर्यय भी होते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३१ व अर्थ, पृष्ठ ८६)

–'मति, श्रुत, और अवधिज्ञान- ये तीन मिथ्यात्वके उदयवश विपरीत अभिनिवेशरूप अज्ञान हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १७-१८)

–'(जहाँ) मिथ्यादर्शन हो; वहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान- "कुमतिज्ञान", "कुश्रुतज्ञान", तथा "विभङ्गज्ञान"- ऐसे नामान्तरों को (अन्य नामों को) प्राप्त होते हैं।'

(श्रीनियमसार, गाथा ११-१२ की टीका, पृष्ठ २९)

प्रश्न १८- कुमतिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- मिथ्यादर्शन के सद्भाव में वर्तता हुआ मतिज्ञान कुमतिज्ञान कहलाता है।

–'मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान) ही कुमतिज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ७७)

–**'विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु विणुवएस-करणेण।**

जा खलु पवद्दए मइ, मइ-अण्णाणं त्ति णं बेंति।। ३०३।।'

टीका- जीवनि के मारणे, बांधने के कारणरूप कार्यनि विषैं अन्य के उपदेश बिना ही स्वयमेव बुद्धि प्रवर्तैं; सो कुमतिज्ञान कहिए।

उपदेश तैं प्रवृतैं तो कुश्रुतज्ञान हो जाइ। तातैं विना ही उपदेश अैसा विचाररूप विकल्प लीए हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह का कारण आर्तरौद्र ध्यान कौ कारण शल्य, दंड, गारव आदि अशुभोपयोग का कारण जो मन, इन्द्रिय करि विशेष ग्रहणरूप मिथ्याज्ञान प्रवृतैं; सो मति अज्ञान सर्वज्ञदेव कहै हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४३९-४४०)

–'अर सामान्यपने तौ स्व-पर भेदविज्ञान रहित इन्द्रिय, मन जनित जानना, सो सर्व कुमति, कुश्रुत है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०४ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४१)

प्रश्न १९- कुश्रुतज्ञान किसे कहते है?

उत्तर- मिथ्यादर्शन के सद्भाव में वर्तता हुआ श्रुतज्ञान, कुश्रुतज्ञान कहलाता है।

–'मिथ्यादर्शन के उदय के साथका श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ७७)

–**'आभीयमासुरक्खं, भारह-रामायणादि-उवएसा।**

तुच्छा असाहणीया, सुय-अण्णाणं त्ति णं बेंति।। ३०४।।'

टीका- जो एकान्तवाद करि दूषित अपनी इच्छा के अनुसारि रच्या हुवा शास्त्र, जिनिविषैं हिंसारूप यज्ञादिक गृहस्थ का कर्म है; जटा धारण, त्रिदंड धारणादिरूप तपस्वी का कर्म है; सोलह पदार्थ हैं; वा छह पदार्थ हैं; वा भावन, विधि, नियोग, भूत ए च्यारि है; वा पचीस तत्त्व हैं; वा अद्वैत ब्रह्म का स्वरूप है वा सर्व शून्य है इत्यादि वर्णन पाइए है; ते शास्त्र **"तुच्छा:"** कहिए परमार्थ तैं रहित हैं। बहुरि **असाधनीया:** कहिए प्रमाण करने योग्य नाहीं। याही तैं संत पुरुषनि कौं आदरने योग्य नाहीं। अैसैं शास्त्राभ्यासनि तैं भया जो श्रुतज्ञान की सी अभासा लीएं कुज्ञान, सो श्रुत अज्ञान कहिए। जातैं प्रमाणीक इष्ट अर्थ तैं विपरीत अर्थ याका विषय हो है।........अर सामान्यपनैं तो स्व-पर भेदविज्ञान रहित इन्द्रिय, मन जनित जानना, सो सर्व कुमति, कुश्रुत है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०४ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४०-४४१)

प्रश्न २०- कुअवधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- मिथ्यादर्शन के सद्भाव में वर्तता हुआ अवधिज्ञान कुअवधिज्ञान कहलाता है।

-'मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का अवधिज्ञान ही विभङ्गज्ञान (कुअवधिज्ञान) है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ७७)

-**'विवरीयमोहिणाणं, खओवसमियं च कम्मबीजं च।**

वेभंगो त्ति पउच्चइ, समत्तणाणीण समयम्हि।। ३०५।।'

टीका- मिथ्यादृष्टि जीवनि कैं अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम तैं उत्पन्न भया; अैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लीएं रूपी पदार्थ है विषय जाका, अैसा आप्त, आगम, पदार्थनि विषैं विपरीत का ग्राहक, सो विभङ्ग नाम पावै है। **"वि"** कहिए विशिष्ट जो अवधिज्ञान, ताका **"भङ्ग"** कहिए विपरीत भाव, सो विभङ्ग कहिए; सो तिर्यञ्च-मनुष्य गति विषैं तौ तीव्र कायक्लेशरूप द्रव्य संयमादिक करि उपजै है; सो गुणप्रत्यय हो है। बहुरि देवनरक गति विषैं भवप्रत्यय हो है। सो सब ही विभङ्गज्ञान मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध का बीज कहिए कारण है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४१)

प्रश्न २१- कुमति, कुश्रत और कुअवधि- ये मिथ्याज्ञान किन जीवो के होते हैं?

उत्तर- कुमति व कुश्रुतज्ञान तो सभी मिथ्यादृष्टि जीवों के होते हैं। मिथ्यादृष्टि देवों व नारकियों को कुअवधिज्ञान भी होता है। किसी-किसी मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च के भी कुअवधिज्ञान होता है।

-**'अण्णाणतियं होदि हु, सण्णाणतियं खु मिच्छ अणउदये।**

णवरि विभागं णाणं, पंचिंदियसण्णिपुण्णेव।। ३०१।।'

टीका- जे सम्यग्दृष्टि कैं मति, श्रुति, अवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान हैं; संज्ञी पञ्चेन्द्री पर्याप्त व निवृत्ति अपर्याप्त जीव कैं विशेष ग्रहणरूप ज्ञेयाकार सहित उपयोग रूप है लक्षण जिनिका अैसैं हैं; तेई तीनों मिथ्यात्व वा अनन्तानुबन्धी कोई कषाय के उदय होतैं तत्त्वार्थ का अश्रद्धानरूप परिणया जीव के तीनों मिथ्याज्ञान हो हैं। कुमति, कुश्रुत, विभङ्ग ए नाम हो हैं। **"णवरि"** अैसा प्राकृत भाषा विषैं विशेष अर्थ कौं लीएं अव्यय जानना। सो विशेष यहु- जो अवधिज्ञान का विपर्ययरूप होना सोई विभङ्ग कहिए। सो विभङ्ग अज्ञान सैनी पञ्चेन्द्री पर्याप्त ही कैं हो है। याही तैं कुमति, कुश्रुति, एकेन्द्रिय आदि पर्याप्त अपर्याप्त सर्व मिथ्यादृष्टि जीवनि कैं अर सासादन मिथ्यादृष्टि सर्व जीवनि कैं संभवै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४३८)

-'इनमें से कुमति और कुश्रुत सभी मिथ्यादृष्टियों के होते हैं। सभी मिथ्यादृष्टि देवों, देवियों तथा नारकियों के कुअवधि भी होता है। किसी-किसी मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च के भी कुअवधि होता है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ५ का भावार्थ, पृष्ठ १४)

–'अनादि मिथ्यादृष्टि के कुमति और कुश्रुत होते हैं तथा उसके देव और नारकी के भव में कुअवधि भी होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय प्रथम, सूत्र ३१ की टीका, पृष्ठ ८६)

–'यह अवधिज्ञान (गुणप्रत्यय) मनष्यों को होता है, ऐसा कहा गया है। इसमें तीर्थङ्करों को नहीं लेना चाहिए। उनके अतिरिक्त अन्य मनुष्यों को समझना चाहिए। वह भी बहुत थोड़े मनुष्यों को होता है। इस अवधिज्ञान को "गुणप्रत्यय" भी कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

प्रश्न २२- मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्याज्ञान क्यों कहते हैं?

उत्तर- मिथ्यादृष्टि के स्व-पर का भेदज्ञान न होने के कारण उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है।

–**'सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।। ३२।।'**

अर्थ- अपनी इच्छा से चाहे जैसा ग्रहण करने के कारण विद्यमान और अविद्यमान पदार्थों का भेदरूप ज्ञान (यथार्थ विवेक) न होने से पागल के ज्ञान की भाँति मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपरीत; अर्थात्, मिथ्याज्ञान ही होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३२ व अर्थ, पृष्ठ ८७)

प्रश्न २३- ज्ञान के भेदों को जानने का क्या लाभ है?

उत्तर- जो जीव ज्ञान के मति-श्रुत आदि भेदों को जानकर, परद्रव्यों की ममता छोड़कर निज ज्ञानसामान्य आत्मा का आश्रय लेता है, वह शुद्धात्मा का अनुभव करके क्रम से परमात्मपद को प्राप्त होता है।

–**'अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः।**
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।। १७।।'

श्लोकार्थ- जिनेन्द्र कथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर, जो पुरुष परभावों का परिहार करके निज स्वरूप में रहते हुए शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है; गहरा उतर जाता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है (अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का पति होता है)।

(श्रीनियमसार, श्लोक १७ व श्लोकार्थ, पृष्ठ २६-२७)

–**'आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।**
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।। २०४।।'

गाथार्थ- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान- यह एक ही पद है (क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद ज्ञान ही हैं); वह यह परमार्थ है (शुद्धनय का विषयभूत ज्ञान सामान्य

ही यह परमार्थ है) जिसे प्राप्त करके आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है।

(श्रीसमयसार, गाथा २०४ व गाथार्थ, पृष्ठ ३०७)

- 'हे भाई! यदि तुझे अपने ज्ञान को टिकाना हो; विकसित करना हो, तो उसे आत्मा में समर्पित कर। जिस प्रकार सर्वज्ञ भगवान के निकट जाकर **"अर्घं समर्पयामि स्वाहा"** करता है, उसी प्रकार इस सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के निकट जाकर उसी में अन्तर्मुख होकर **"ज्ञानं समर्पयामि स्वाहा"** कर, तो तुझे सर्वज्ञता प्रगट हो जायेगी। इस सर्वज्ञता को देना तथा उसे लेकर उसका सम्प्रदान होना -तेरे ज्ञानगुण का स्वभाव है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५५३)

प्रश्न २४- यदि ज्ञानगुण का स्वभाव सर्वज्ञता को देना है, तो ज्ञानगुण अज्ञानरूप (विकाररूप) क्यों परिणमित होता है?

उत्तर- 'क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय, मन, वचन, देह, गति, कर्म, नोकर्म, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, अन्य जीव आदि जितनी पर वस्तुएँ हैं, उन सबको अपनी करके (अपनेरूप मानकर) जानता है। "वे मैं ही हूँ; मैं उनका कर्ता हूँ; वे मेरे कर्म हैं।" "मैं हूँ तो वे हैं; वे हैं तो मैं हूँ"- इस प्रकार परवस्तुओं को अपनेरूप जानता है (और) अपने को पर जानता है। इससे लोकालोक को जानने की सर्वशक्ति अज्ञानभावरूप परिणमी है। इस प्रकार जीव का ज्ञानगुण अज्ञान विकाररूप हुआ।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ २३)

श्रद्धागुण (सम्यक्त्वगुण)

प्रश्न २५- श्रद्धागुण (सम्यक्त्वगुण) किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस गुण की शुद्धदशा प्रगट होने से निजात्मा की यथार्थ प्रतीति हो, उसे श्रद्धागुण (सम्यक्त्वगुण) कहते हैं। इस गुण (श्रद्धागुण) के धारक; अर्थात्, सम्यग्दृष्टि को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, जीवादि सात तत्त्व, स्व-पर, और निज आत्मा का सच्चा श्रद्धान होता है। श्रद्धागुण की सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन पर्यायें हैं।

- 'जिस गुण के प्रकट होनेपर, अपने शुद्ध आत्मा का प्रतिभास हो, उसे सम्यक्त्वगुण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १०६, पृष्ठ २२)

- 'जिस गुण की निर्मलदशा प्रगट होने से अपने शुद्धात्मा का प्रतिभास (यथार्थ प्रतीति) हो; अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति हो। (१) सच्चे देव-गुरु-धर्म में दृढ़ प्रतीति; (२) जीवादि सात

तत्त्वों की सच्ची प्रतीति; (३) स्व-पर का श्रद्धान; और (४) आत्मश्रद्धान- इन लक्षणों के अविना-भावसहित जो श्रद्धान होता है- वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। उस पर्याय का धारक **सम्यक्त्व (श्रद्धा)** गुण है तथा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन उसकी पर्यायें हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २ की टीका, पृष्ठ १४)

-'आत्मा में "श्रद्धा" नामक एक गुण है। उसकी अनादि से विपरीत पर्याय है जिसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में उस पर्याय का अभाव होकर सम्यग्दर्शनरूप पर्याय होती है। वह सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वरूप है। उस श्रद्धागुण की तीन प्रकार की पर्याय होती हैं-

१. **मिथ्यादर्शन**- जो जीवों को अनादिकाल से है; यह पर्याय उल्टी-विपरीत है;

२. **सम्यग्दर्शन**- श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय है। उसे (इस गाथा में) **"आत्मनः रूपं"**; **अर्थात्**, आत्मा का स्वरूप कहा है; और

३. **मिश्र अवस्था**- जो कुछ सम्यक् तथा कुछ मिथ्यात्वस्वरूप होती है। यह अवस्था सादि मिथ्यादृष्टि के होती है और वह सम्यक्त्व से पतन होनेपर होती है तथा अत्यन्त अल्पकाल रहती है।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ का भावार्थ, पृष्ठ १२७-१२८)

-'सम्यक्त्व का अर्थ है- वस्तु का यथावत् निश्चय होना।...........यह **सम्यक्त्वगुण** है। वह प्रधानगुण है, क्योकि सभी गुणों मे सम्यक्पना इसी गुण के कारण है। सभी गुणों का अस्तित्व इसी गुण के कारण है, क्योकि सभी गुणों का निश्चय यथावस्थितभाव के द्वारा है।'

(चिद्विलास, दूसरा अध्याय, पृष्ठ २४-२५)

-'श्रद्धागुण में ऐसा स्वभाव है कि अपने स्वभाव की प्रतीतिरूप कार्य को (सम्यग्दर्शन को) अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है; किन्तु मिथ्यात्व को, विकार को, या जड़ को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे- ऐसा श्रद्धाशक्ति का स्वभाव नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ४९८)

-'आत्मा अग्नि समान ही प्रज्वलित जलहल ज्योति है; जैसे, अग्नि में पाचक....... गुण है, वैसे ही आत्मा में श्रद्धागुण है। अग्नि अनाज को पचाती है; उसी प्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को एक समय में श्रद्धा में लेता है। "मैं त्रिकाली भगवान हूँ", ऐसा स्वीकार करना -यह श्रद्धागुण के पचाने का कार्य है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, योगसारप्रवचन, पृष्ठ ९४)

प्रश्न २६- श्रद्धागुण अपने सम्यग्दर्शनरूप निर्मल कार्य को प्राप्त करने के स्थान पर मिथ्यात्वरूप क्यों परिणमता है?

उत्तर- 'जीव का सम्यक्त्वगुण था; (वह) जीव के भेद में अजीव का आस्तिक्य करता है। चेतन को अचेतन, अचेतन को चेतन, विभाव को स्वभाव, स्वभाव को विभाव, द्रव्य को अद्रव्य, गुण

को अवगुण, ज्ञान को ज्ञेय, ज्ञेय को ज्ञान, स्व को पर, पर को स्व (आपरूप) -इसी प्रकार अन्य सर्व विपरीतता बराबर होने की प्रतीति-आस्तिक्यभाव करता है। इस प्रकार जीव का सम्यक्त्वगुण मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ २४)

[**विशेष**- श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय 'सम्यग्दर्शन' के विशेष स्पष्टीकरण के लिये **'प्रकरण-५ : सम्यग्दर्शन', पृष्ठ ५२१** पर देखें।]

चारित्रगुण

प्रश्न २७- चारित्रगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- निश्चयसम्यग्दर्शनसहित अपने स्वरूप में रमन करना चारित्र है जो मिथ्यात्व और अस्थिरतारहित, अत्यन्त निश्चल, वीतरागरूप -ऐसा जीव का परिणाम है। ऐसी पर्यायों को धारण करनेवाले गुण को चारित्रगुण कहते हैं।

-'निश्चयसम्यग्दर्शनसहित स्वरूप में विचरण-रमण करना; अपने स्वभाव में अकषाय प्रवृत्ति करना; वह चारित्र है। वह चारित्र मिथ्यात्व और अस्थिरतारहित अत्यन्त **निर्विकार**[1] -ऐसा जीव का परिणाम है और ऐसी पर्यायों को धारण करनेवाले गुण को चारित्रगुण कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १६६, पृष्ठ ५०)

-'तिशेषरूप से स्ववस्तु में स्थिरतारूप अथवा विश्रामरूप आचरण चारित्राचरणगुण है।'

(आत्मावलोकन, पृष्ठ १०१)

-'चारित्र आचरण का नाम है। जो आचरण करे या जिसके द्वारा आचरण किया जाये, उसे चारित्र कहते हैं। चारित्ररूप परिणाम द्वारा वस्तु का आचरण किया जाता है। अत: वही आचरण चारित्र है अथवा चरणमात्र (आचरणमात्र) का नाम ही चारित्र है। यह निर्विकल्प है, वह निजाचरण ही है। पर का त्याग भी चारित्र का भेद है। द्रव्य में स्थिरता, विश्राम, और आचरण "द्रव्याचरण" कहलाता है। गुण में स्थिरता, विश्राम, और आचरण "गुणाचरण" कहलाता है। इसकी विशेषता यह है कि सत्तागुण में परिणाम की स्थिरता ही सत्ता का चारित्र (सत्ताचरण) है' तथा,

-'परिणामों की निजवृत्ति (स्वसन्मुखता) होनेपर जो स्वभावगुणरूप वस्तु में उपयोग की स्थिरता होती है, उसी का नाम चारित्र है' तथा,

---

१. **निर्विकार**- ऐसे परिणामों को स्वरूपस्थिरता, निश्चलता, वीतरागता, साम्य, धर्म, और चारित्र कहते हैं। जब आत्माके चारित्रगुण की ऐसी शुद्धपर्याय उत्पन्न होती है, तब बाह्य और अभ्यन्तरक्रिया का यथासम्भव (भूमिकानुसार) निरोध हो जाता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १६६, पृष्ठ ५० की पादटिप्पणी)

-'विश्रामस्वरूप में जो वेदकता होती है, वह "विश्रामरूप चारित्र" है। गुण वस्तु को आचरण (परिणमन) करके प्रगट करता है। अत: वह "आचरणरूप चारित्र" है। चारित्र द्रव्य का सर्वस्वगुण है।'

(चिद्विलास, दूसरा अध्याय, पृष्ठ ४०, ४१, ४२)

-'आत्मा अग्नि समान सदा ही प्रज्वलित जलहल ज्योति है; जैसे, अग्नि में दाहक गुण है, वैसे ही आत्मा में चारित्र त्रिकाली गुण है। अग्नि ईंधन को जलाती है। उसी प्रकार आत्मा कर्मरूपी ईंधन को आत्मिक बल से जला देता है।...............मोह-राग-द्वेष का नाशकर वीतरागता प्रगट करना, यह चारित्रगुण की दाहकता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, योगसार प्रवचन, पृष्ठ ९४)

-'इसी प्रकार, ज्ञान और श्रद्धाकी भाँति चारित्रगुण का भी ऐसा ही सम्प्रदानस्वभाव है कि अपने अनाकुल शान्तभाव को दे और उसी को स्वयं ग्रहण करे। शान्ति से विपरीत आकुलता राग-द्वेषरूप भावों को देने या लेने का चारित्रगुण का स्वरूप नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५५४)

प्रश्न २८- जीव का अनाकुल शान्तस्वभावी चारित्रगुण विकाररूप क्यों परिणमता है?

उत्तर- 'जीव का स्वआचरणगुण था। (वह) जितनी कुछ परवस्तुएँ हैं, उन सब पर को स्व-आचरणरूप करता रहता है; पर में बना रहता है; पर को ही ग्रहण किया करता है। (इस प्रकार) अपनी चारित्रगुण की सर्व शक्ति पर में लग रही है। इस प्रकार जीव का चारित्रगुण भी विकाररूप परिणमता है।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ २४)

[**विशेष**- चारित्रगुण का विशेष स्पष्टीकरण **'प्रकरण-७ : सम्यक्चारित्र', पृष्ठ ७१५** पर देखें।]

सुखगुण

प्रश्न २९- सुखगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- निराकुल आनन्दस्वरूप आत्मा के परिणाम विशेष के धारक को सुखगुण कहते हैं।

-'निराकुल आनन्दस्वरूप आत्मा के परिणाम विशेष को सुख कहते हैं; और वह (निराकुल आनन्द) पर्याय धारण करनेवाले गुण को सुखगुण कहते हैं। आत्मा में सुख अथवा आनन्द नाम का एक अनादिअनन्त गुण है। उसका सम्यक् परिणमन होनेपर मन, इन्द्रियाँ, और उनके विषयों से निरपेक्ष अपने आत्माश्रित निराकुलता लक्षणवाला सुख उत्पन्न होता है। उसके कारणरूप शक्ति वह

सुखगुण है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १६७, पृष्ठ ५१)

-'अनाकुलता जिसका लक्षण; अर्थात्, स्वरूप है, ऐसी सुखशक्ति।'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, पाँचवीं पंक्ति, पृष्ठ ५८८)

-'आह्लादस्वरूप आत्मा के परिणामविशेष को सुख कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ११७, पृष्ठ २४)

-'अनन्तगुणों की उस शुद्धता का फल सुख है जिसका वर्णन करते हैं। वस्तु के देखने-जाननेरूप परिणमन से जो सुख या आनन्द होता है; वह अनुपम, अबाधित, अखण्डित, अनाकुल और स्वाधीन होता है। यह द्रव्य-गुण-पर्याय सभी का सर्वस्व है; जैसे, सब उद्यम फल के बिना व्यर्थ होते हैं और फल के साथ कार्यकारी होते हैं, वैसे ही सुख कार्यकारी वस्तु है।'

(श्रीचिद्विलास, दूसरा अध्याय, पृष्ठ ८०)

-'निराकुलता सुख का लक्षण है। सुखगुण आत्मद्रव्य मे है, गुण मे है, और पर्याय में भी है; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों मे सुख व्याप्त है। आत्मा का एक भी प्रदेश सुखशक्ति से रहित -खाली नहीं है। जैसा आत्मा का आकार है, वैसा ही उसके सुख का आकार है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ७५)

प्रश्न ३०- सुख (आनन्द) गुण का कार्य क्या है?

उत्तर- सुखगुण का स्वभाव ऐसा है कि स्वयं अपने अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करे। परवस्तु मे से आनन्द ले- ऐसा सुखगुण का स्वरूप नहीं है। सुखगुण का स्वरूप ऐसा भी नहीं है कि आकुलता, दु:ख आदि को कार्यरूप से प्राप्त करे।

-'उसी प्रकार आनन्दगुण मे ऐसा स्वभाव है कि अपने अतीन्द्रिय-अनाकुल-आह्लाद के वेदन को अपने कार्यरूप से प्राप्त करता है किन्तु आकुलता, दु:ख, या इन्द्रिय-विषयों को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे- ऐसा आत्मा की आनन्दशक्ति का स्वभाव नही है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ४९८)

प्रश्न ३१- अनाकुल आनन्दस्वभावी जीव का सुखगुण दु:खरूप क्यों परिणमित होता है?

उत्तर- 'इस जीव का आत्मस्वरूप रस जो परमानन्द भोगगुण था (वह) पर पुद्गल के कर्मपनेरूप व्यक्त साता-असाता, पुण्य-पापरूप उदय, पर परिणाम के अनेक प्रकार के विकार-चिद्विकार परिणामों के ही रस को भोगता रहे; रस को लेता रहे; उस परमानन्दगुण की सर्वशक्ति पर परिणाम का ही स्वाद आस्वादती रहे (चाखती रहती है)- वह परस्वाद परम दु:खरूप (है)। इस प्रकार जीव का परमानन्दगुण दु:ख-विकाररूप परिणमित हुआ।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ २४)

प्रश्न ३२- सुखशक्ति कैसे प्रगट होती है?

उत्तर- आत्मा का त्रिकालीस्वभाव सुख से परिपूर्ण है। अपने स्वभाव में आनन्द भरा हुआ है। वहाँ न खोजकर बाहर में खोज करते हैं; अतः सुख प्रगट नहीं होता। जहाँ सुख भरा है, वहाँ खोजें तो अवश्य मिलेगा। जिसमें सुखशक्ति है, ऐसे आनन्दधाम निजात्मा की पहचान ही सुख प्रगट करने का सच्चा मार्ग है।

–'आत्मा त्रिकाल सुख का सागर है। उसे सुख के लिये किसी बाह्य पदार्थ की–पैसादि की आवश्यकता नहीं हो सकती। जो ऐसी सुखशक्तिवाले आत्मा को समझे, उसे पर में से सुखबुद्धि दूर हो जाती है और उसका ज्ञान स्वभावोन्मुख हो जाता है। उस ज्ञान परिणमन में सुखशक्ति भी साथ ही उछलती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ७४)

–'स्वयं ही दाता होकर अपने को आनन्द दिया और स्वयं ही पात्र होकर अपना आनन्द लिया; इसलिये वह आनन्द सदैव बना ही रहेगा; अर्थात्, आत्मा सदैव अपने को आनन्द देता ही रहेगा और स्वय सदा लेता ही रहेगा। इसलिये हे जीव! यदि तुझे आनन्द की आवश्यकता हो, तो आनन्ददाता ऐसे अपने आत्मा के ही निकट जा; वहीं से तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त जगत में तुझे कहीं से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५५४)

वीर्यगुण

प्रश्न ३३- वीर्यगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- आत्मा की शक्ति (सामर्थ्य; बल) को वीर्यगुण कहते हैं। पुरुषार्थ वीर्यगुण की पर्याय है।

–'स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, छठवीं पंक्ति, पृष्ठ ५८८)

–'आत्मा की शक्ति को (बल को) वीर्य कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ११८, पृष्ठ २४)

–'आत्मा की शक्ति–सामर्थ्य (बल) को वीर्य कहते हैं; अर्थात्, स्वरूप रचना के सामर्थ्यरूप शक्ति को वीर्यगुण कहते हैं; अर्थात्, पुरुषार्थरूप परिणामों के कारणभूत जीव की त्रिकाली शक्ति को वीर्यगुण कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १७१, पृष्ठ ५२)

-'द्रव्य की स्वशक्तिविशेष को वीर्य (बल) कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ६, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ ४१७)

-'अपने स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है। इस वीर्यशक्ति ने पूर्ण चैतन्यवस्तु को स्वरूप में स्थित कर रखा है। वीर्यशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है' तथा,

-'अनन्तगुणों के पिण्डरूप सम्पूर्ण द्रव्य को टिका रखे- ऐसी आत्मवीर्य की शक्ति समस्त गुणों में व्यापक है; इसलिये समस्त गुण निजस्वरूप से ही टिके रहते हैं; कोई गुण अन्य गुणरूप नहीं हो जाता।

आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। उनमें से प्रत्येक प्रदेश अनादिअनन्त निजस्वरूप से रहता है। एक प्रदेश कभी दूसरे प्रदेशरूप नहीं होता। असंख्य प्रदेश जैसे के तैसे अखण्डित स्वप्रदेशरूप से विराज रहे हैं- ऐसा आत्मा का क्षेत्रवीर्य है।

और प्रत्येक गुण की अनादिअनन्तकाल की अवस्थाओं में प्रत्येक समय की अवस्था का वीर्य स्वतन्त्र है। उस अवस्था का वीर्य ही अवस्था की रचना करता है। अवस्था का प्रत्येक समय का वीर्य भिन्न-भिन्न है और द्रव्य-गुण का वीर्य त्रिकाल है।

इस प्रकार आत्मा की वीर्यशक्ति द्रव्य के सामर्थ्य को टिका रखती है; अनन्तगुणों को निज-निज स्वरूप से टिका रखती है; और प्रत्येक समय की पर्याय की रचना करती है- ऐसी स्वरूप-रचना करने का उसका सामर्थ्य है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ८१, ८३ व ८४)

प्रश्न ३४- वीर्यशक्ति के कितने भेद हैं?

उत्तर- 'अपने स्वरूप को निष्पन्न करनेवाली सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है। उसके सामान्य और विशेष के भेद से दो भेद हैं। वस्तु के स्वरूप को निष्पन्न की सामर्थ्य "सामान्यवीर्यशक्ति" की है। "विशेषवीर्यशक्ति" के सामान्यरूप से तीन और विशेषरूप से अनेक भेद हैं जिनमें मुख्य चार हैं। इस प्रकार विशेषवीर्यशक्ति के कुल सात मुख्य भेद हैं- (१) द्रव्यवीर्यशक्ति, (२) गुणवीर्यशक्ति, (३) पर्यायवीर्यशक्ति, (४) क्षेत्रवीर्यशक्ति, (५) कालवीर्यशक्ति, (६) तपवीर्यशक्ति, और (७) भाववीर्यशक्ति।'

१. द्रव्यवीर्यशक्ति- द्रव्यवीर्य गुण-पर्यायवीर्य का समुदाय है। उसके रखने की सामर्थ्य "द्रव्यवीर्यशक्ति" है।

२. गुणवीर्यशक्ति- गुण को धारण करने की सामर्थ्य को "गुणवीर्यशक्ति" कहते हैं।

३. पर्यायवीर्यशक्ति- जो वस्तुरूप परिणमन करे, उसे पर्याय कहते हैं और उसे निष्पन्न रखने की- धारण करने की सामर्थ्य को "पर्यायवीर्यशक्ति" कहते हैं।

४. क्षेत्रवीर्यशक्ति- अपने प्रदेशों; अर्थात्, क्षेत्रों को परिपूर्ण निष्पन्न रखने की, धारण करने

की, सामर्थ्य को "क्षेत्रवीर्यशक्ति" कहते हैं।

५. **कालवीर्यशक्ति**- अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की मर्यादा या काल को रखने की, धारण करने की, सामर्थ्य का नाम "कालवीर्यशक्ति" है।

६. **तपवीर्यशक्ति**- निश्चय और व्यवहाररूप- दो भेदों को धारण करने की सामर्थ्यरूप 'तपवीर्यशक्ति' है।

७. **भाववीर्यशक्ति**- जिसके प्रभाव से वस्तु प्रगट होती है, उसे 'भाववीर्यशक्ति' कहते हैं।

(आधार-श्रीचिद्विलास, पाँचवाँ अध्याय, पृष्ठ ८७ से १००)

प्रश्न ३५- वीर्यगुण का कार्य क्या है?

उत्तर- स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यगुण आत्मा में त्रिकाल है। यह गुण किसी दूसरे की सहायता कि बिना स्वयं अपने स्वरूप की रचना करता है। 'स्वरूप की रचना' का तात्पर्य स्वरूप की नवीन रचना से नहीं है किन्तु आत्मा की सत्ता निरन्तर निजस्वरूप में स्थित रहती है; उसका नाम ही स्वरूप की रचना है।

-'आत्मसामर्थ्यबल जो आत्मस्वरूप में निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द आदि स्वसामर्थ्य की रचना करे, उसे वीर्यशक्ति कहते हैं। आत्मा शरीर, पुण्य-पापरहित है। उसमें वीर्यगुण क्या काम करता है? अतीन्द्रिय ज्ञानमयस्वरूप की रचना करता है; अर्थात्, उसमें निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, सुख की रचना करता है; परन्तु शरीर की क्रिया, छह पर्याप्ति की रचना करे, वह आत्मा के वीर्य का कार्य नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ९०-९१)

प्रश्न ३६- जीव का वीर्यगुण विकाररूप क्यों परिणमता है?

उत्तर- 'आत्मा के स्वरूप में विकार भरा नहीं है, तब फिर आत्मा की शक्ति विकार को कहाँ से रचेगी? जीव पर्यायबुद्धि से ही संसार परिणाम को उत्पन्न करता है; पर्यायबुद्धि में ही संसार की (विकार की) रचना है। स्वभावबुद्धि में संसार की रचना नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ८३)

-'इस जीव का सर्वस्वरूप परिणमने के बलरूप सर्व वीर्यगुण था, (वह) निर्बलरूप होकर परिणमा, स्वरूपपरिणमन की शक्ति अवरुद्ध होगयी, (अर्थात्) निर्बल होकर परिणमा। इस प्रकार जीव का वीर्यगुण विकाररूप परिणमा।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ २४)

-'जीव में वीर्य (पुरुषार्थ) नाम का गुण है और इस गुण में प्रतिक्षण कार्य हो रहा है; अर्थात्, जीव प्रतिक्षण पुरुषार्थ तो करता है किन्तु अपने शुद्ध स्वभाव की रुचि और ज्ञान न होने से

वर्तमान में पुरुषार्थ परोन्मुख होता है। स्वभाव की रुचि और ज्ञान करके उस पुरुषार्थ को स्वभावोन्मुख करना है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, भाग १, पृष्ठ १६०)

प्रश्न ३७- वीर्यगुण का सामर्थ्य कैसे प्रगट हो?

उत्तर- वीर्यगुण; अर्थात्, निजस्वरूप को रचने का सामर्थ्य। आत्मा मे अनन्त स्वभाव सामर्थ्य है। उसको जो न पहचाने, तो वह सामर्थ्य कहाँ से प्रगट होगा? केवलज्ञानादि स्वरूप की रचना करने का सामर्थ्य आत्मा में भरा है। उस सामर्थ्य की सँभाल करते ही पर्याय में सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक की रचना होगी।

-'त्रिकालशक्ति के आश्रयपूर्वक प्रत्येक समय की पर्याय उस-उस काल के स्वतन्त्र वीर्य सामर्थ्य से परिणमित हो रही है। उसे किसी पर की तो अपेक्षा नहीं है किन्तु अपनी पूर्व पर्याय तक की अपेक्षा नहीं है। अहो! निरपेक्ष स्वतन्त्र वीर्य प्रतिसमय आत्मा में उछल रहा है। यदि अपनी ऐसी शक्ति को पहचाने, तो अपनी पर्याय की रचना के लिये पराश्रय की बुद्धि छूट जाये और स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मल-निर्मल पर्याय की रचना हो। उसका नाम धर्म और मोक्षमार्ग है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ८८)

जीवत्वगुण

प्रश्न ३८- जीवत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- आत्मद्रव्य के कारणभूत चैतन्यमात्र भावरूप भावप्राण का धारण करना जिसका लक्षण है, उस शक्ति को जीवत्वगुण कहते हैं।

-'आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभाव का धारण जिसका लक्षण; अर्थात्, स्वरूप है, ऐसी जीवत्वशक्ति।'

(श्रीसमयसार, परिशिष्ट, प्रथम शक्ति, पृष्ठ ५८८)

-'आत्मा को कारणभूत चैतन्यमात्रभाव को धारण करनेवाली जीवनशक्ति है। उस जीवनशक्ति के द्वारा जो जीवित रहता आया है; जीवित रह रहा है; और जीवित रहेगा, उसे जीव कहते हैं। यह जीवनशक्ति चित्प्रकाशमण्डित द्रव्य में है, गुण में है, पर्याय में भी है।'

(चिद्विलास, पाँचवाँ अध्याय, पृष्ठ ८१)

-'जिस शक्ति के निमित्त से आत्मा प्राण धारण करे, उसको जीवत्वगुण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १२१, पृष्ठ २५)

-'यह जीव यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आदि-मध्य-अन्तरहित, स्व-पर प्रकाशक,

अविनाशी, निरुपाधि शुद्ध चैतन्य जिसका लक्षण (स्वरूप) है, ऐसे निश्चयप्राण (जीवत्वशक्ति) से जीता है; तो भी अशुद्धनय से अनादिकर्मबन्ध के वश अशुद्ध द्रव्यप्राणों और भावप्राणों से जीता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २ की टीका, पृष्ठ ९)

-'जीवत्व-चैतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुणयुक्त रहना- सो जीवन है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ १९२)

-'इस जीव को सहजरूप से (स्वभाव से ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु है और तीनोंकाल मे अवस्थायिपना (टिकना) जिसका लक्षण है, ऐसा वस्तु का स्वरूपभूत होने से सर्वदा अविनाशी निश्चय जीवत्व (है)।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १४५ की टीका, पृष्ठ ३०१)

प्रश्न ३९- प्राण किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जिनके संयोग से यह जीव जीवन अवस्था को प्राप्त हो और वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त हो, उनको प्राण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १२२, पृष्ठ २५)

-**'बाहिरपाणेहिं जहा, तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं।**
पाणंति जेहि जीवा, पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा॥ १२९॥'

टीका- जिनि अभ्यन्तर भाव प्राणनि करि जीव हैं, ते प्राणंति कहिए जीवै हैं; जीवन के व्यवहार योग्य हो हैं, कौनवत्? जैसे बाह्य द्रव्य प्राणनि करि जीव जीवै है, जातैं यथा शब्द दृष्टांतवाचक है; तातैं जे आत्मा के भाव हैं, तेई प्राण हैं असा कह्या है। असे कहने ही करि प्राण शब्द का अर्थ जानने का समर्थपणा हो है, तातैं तिस प्राण का लक्षण जुदा न कह्या है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १२९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७७)

-'इस प्रकार (प्राणसामान्य) अनादि सन्तानरूप (प्रवाहरूप) से प्रवर्तमान होने से (संसारदशा में) त्रिकाल स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १४७ की टीका, पृष्ठ ३०३)

प्रश्न ४०- प्राण के कितने भेद हैं?

उत्तर- प्राण के दो भेद हैं- (१) द्रव्यप्राण, और (२) भावप्राण।

-'आत्मा निश्चय से भावप्राण को धारण करता है.........व्यवहार से द्रव्यप्राण को धारण करता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २७ की टीका, पृष्ठ ५४)

-'तहाँ पुद्गल द्रव्य करि निपजे जे द्रव्य इन्द्रियादिक, तिनके प्रवर्तनरूप तो द्रव्यप्राण हैं। बहुरि तिनिका कारणभूत ज्ञानावरण अर वीर्यान्तराय के क्षयोपशमादिक तैं प्रगट भए चैतन्य उपयोग

के प्रवर्तनरूप भावप्राण हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १२९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७७)

सारणी १२ : प्राण के भेद-प्रभेद

प्राण
- द्रव्यप्राण (१०)
  - स्पर्शन
  - रसना
  - घ्राण
  - चक्षु
  - श्रोत्र
  - मनबल
  - वचनबल
  - कायबल
  - आयु
  - श्वासोच्छ्वास
- भावप्राण (२)
  - भावेन्द्रिय
    - स्पर्शन
    - रसना
    - घ्राण
    - चक्षु
    - श्रोत्र
  - बलप्राण
    - मनोबल
    - वचनबल
    - कायबल
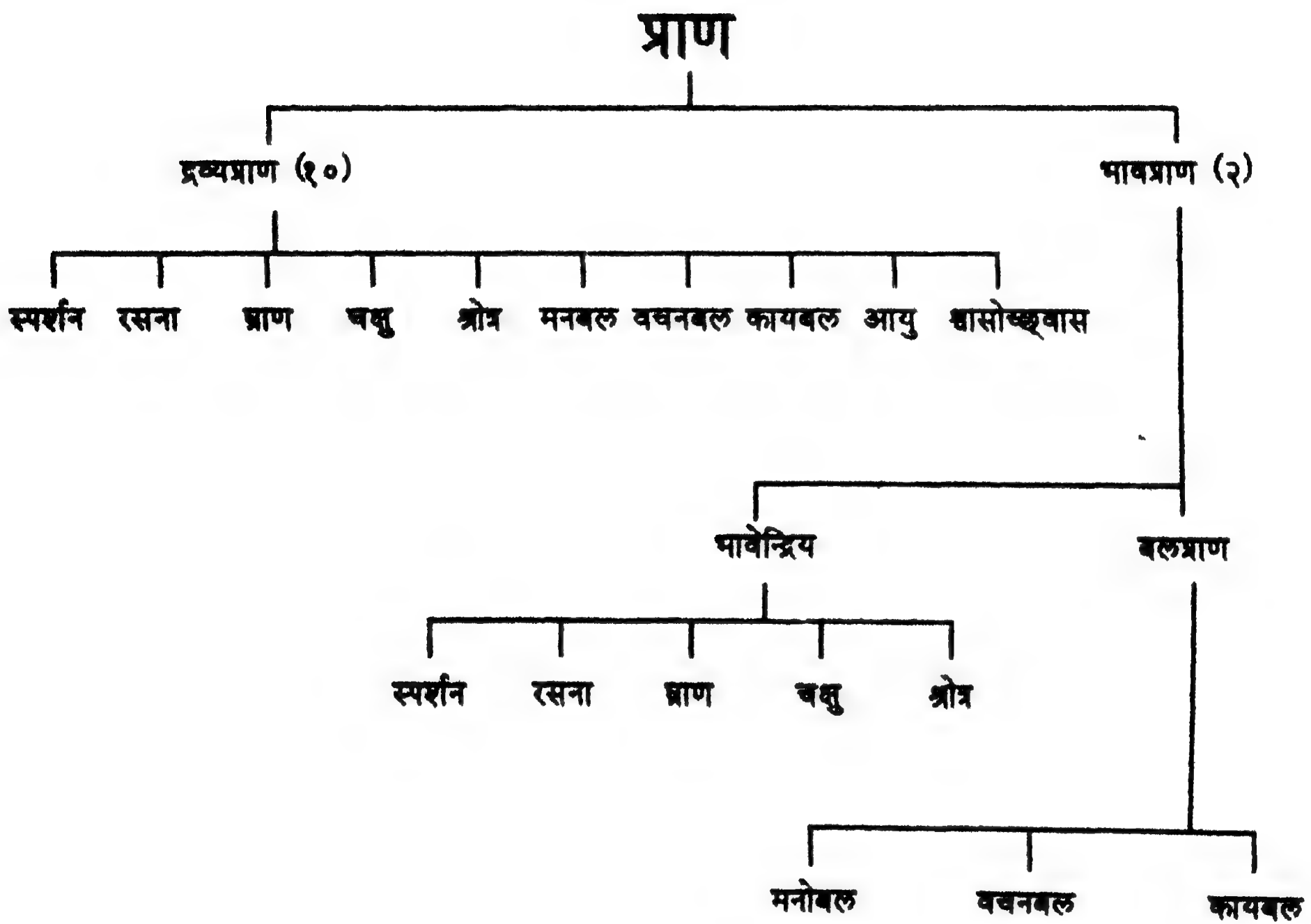
आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १२९-१३० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७७-२७८

-'द्रव्य और भावप्राणों से यथासम्भव जो जीवित रहता है; जीवित रहेगा; और पहले जीता था, वह जीव है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १३)

-'प्राण के दो भेद हैं- द्रव्यप्राण, और भावप्राण।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १२३, पृष्ठ २६)

प्रश्न ४१- द्रव्यप्राण किसे कहते हैं?

उत्तर- जिन प्राणों में सर्वथा पुद्गल ही व्यापक होता है, वे द्रव्यप्राण हैं।

- 'पुद्गलसामान्यरूप अन्वयवाले वे द्रव्यप्राण हैं' तथा

- 'जिन प्राणों में सदैव "पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य"-ऐसी एकरूपता, सदृशता (सदृश्यता) होती है, वे द्रव्यप्राण हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३० की टीका व पृष्ठ ६१ की पादटिप्पणी)

- 'पुद्गलद्रव्य करि निपजे जे द्रव्य इन्द्रियादिक, तिनके प्रवर्तनरूप तो द्रव्य प्राण हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १२९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७७)

प्रश्न ४२- द्रव्यप्राण के कितने भेद हैं?

उत्तर- द्रव्यप्राण के दस भेद हैं- पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु, और श्वासोच्छ्वास। ये पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं। इन द्रव्यप्राणों के संयोग-वियोग से जीवों की जन्म-मरणरूप अवस्थाएँ व्यवहार से कहलाती हैं।

- 'इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते।। १४६।।'

अन्वयार्थ- इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुप्राण, और श्वासोच्छ्वासप्राण- ये जीवों के (द्रव्य) प्राण हैं।

टीका- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र- ये पाँच इन्द्रियप्राण हैं; काय, वचन, और मन- ये तीन बलप्राण हैं; भव धारण का निमित्त (अर्थात्, मनुष्यादि पर्याय की स्थिति का निमित्त) आयुप्राण है; नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है, ऐसी वायु (श्वास) श्वासोच्छ्वासप्राण है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १४६, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ३०२)

- 'पंचवि इंदियपाणा, मणवचकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणापाणप्पाणा, आउगपाणेण होंति दह पाणा।। १३०।।'

टीका- पाँच इन्द्रियप्राण हैं- (१) स्पर्शन, (२) रसन, (३) घ्राण, (४) चक्षु, और (५) श्रोत्र। बहुरि तीन बलप्राण हैं- (१) मनोबल, (२) वचनबल, और (३) कायबल। बहुरि एक आनपान कहिए सासोस्वास प्राण हैं। बहुरि एक आयुप्राण है। ऐसैं प्राण दश हैं, अधिक नाहीं हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १३० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७८)

प्रश्न ४३- दस द्रव्यप्राणों में से किस जीव के कितने प्राण होते हैं?

उत्तर- एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण- स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास, और आयु; द्विन्द्रिय के छह प्राण- स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास, आयु, रसनेन्द्रिय, और वचन; त्रीन्द्रिय

के सात प्राण- पूर्वोक्त छह और घ्राणेन्द्रिय; चतुरिन्द्रिय के आठ प्राण- पूर्वोक्त सात और एक चक्षुरिन्द्रिय; पञ्चेन्द्रिय असैनी के नौ प्राण- पूर्वोक्त आठ और एक श्रोत्रेन्द्रिय; सैनी पञ्चेन्द्रिय के दश प्राण- पूर्वोक्त नौ और एक मन।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १२६, पृष्ठ २६)

[**विशेष-** विशेष स्पष्टीकरण के लिये श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड की गाथाएँ १३० से १३३ व १६६ से १७० तक टीकासहित और श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय दूसरा, सूत्र १४ की टीका, पृष्ठ २११ देखें।]

प्रश्न ४४- द्रव्यप्राण की रचना किस द्रव्य से होती है?

उत्तर- ये द्रव्यप्राण पुद्गलद्रव्य की स्कन्धरूप पर्यायें हैं। ये किञ्चितमात्र भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य से बने हुए हैं।

-'सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।'

अन्वयार्थ- फिर भी प्राण तो पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न (रचित) हैं।

टीका- इस प्रकार (प्राणसामान्य) अनादि सन्तानरूप से प्रवर्तमान होने से (ससारदशा में) त्रिकाल स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही। तथापि वह (द्रव्यप्राण) जीव का स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य से निष्पन्न- रचित है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १४७ का उत्तरार्द्ध, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ३०३)

-'तनता मनता वचनता, जड़ता जड़सम्मेल।
लघुता गुरुता गमनता, ये अजीवके खेल।। २७।।'

अर्थ- तन, मन, वचन, अचेतनता, एक-दूसरे से मिलना, हलका, और भारीपन तथा गति करना- यह सब पुद्गल नामक अजीव द्रव्य की परिणति है।

(श्रीसमयसारनाटक, उत्थानिका, छन्द २७ व अर्थ, पृष्ठ १७)

प्रश्न ४५- द्रव्यप्राण पुद्गल द्रव्य की रचना है, तो 'जीव द्रव्यप्राणों से जीता है'- ऐसा क्यों कहा जाता है?

उत्तर- वास्तव में जीव अपने चेतनाप्राण से जीता है, लेकिन संसारदशा में पुद्गल के सम्बन्ध से दूषित होने से द्रव्यप्राणों से संयुक्त है- ऐसा ज्ञान कराने के लिये व्यवहारनय से कहा जाता है कि 'जीव द्रव्यप्राणों से जीता है।'

-'यथार्थ में जीव सदैव चेतनाप्राण (भावप्राण) से जीता है। तथापि संसारदशा में व्यवहारजीवत्व के कारणभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से "व्यवहारनय" से जीता है- ऐसा द्रव्यप्राणों के संयोग का ज्ञान कराने के लिये कहा जाता है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ३ का भावार्थ, पृष्ठ १०)

प्रश्न ४६- जीव को द्रव्यप्राणों का सम्बन्ध कब तक रहता है?

उत्तर- संसारी जीव जब तक देहादि विषयों में ममता नहीं छोड़ता, तब तक वह द्रव्यप्राणों को धारण करता है।

-**'आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।**
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु।। १५०।।'

अन्वयार्थ- जब तक देहप्रधान विषयों में ममत्व को नहीं छोड़ता, तब तक कर्म से मलिन आत्मा पुनः पुनः अन्य-अन्य प्राणों को धारण करता है।

भावार्थ- द्रव्यप्राणों की परम्परा चलते रहने का अन्तरङ्ग कारण अनादि पुद्‌गलकर्म के निमित्त से होनेवाला जीव का विकारी परिणमन है। जब तक जीव देहादि विषयों के ममत्वरूप विकारी परिणमन को नहीं छोड़ता, तब तक उसके निमित्त से पुनः-पुनः पुद्‌गलकर्म बँधते रहते हैं और उसके पुनः-पुनः द्रव्यप्राणों का सम्बन्ध होता रहता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५०, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ३०७)

प्रश्न ४७- जीव को द्रव्यप्राणो का सम्बन्ध कब नहीं होता?

उत्तर- यदि जीव ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी निजात्मा को ध्यावे, तो उसको द्रव्यप्राणों का सम्बन्ध नहीं होता।

-**'जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।**
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति।। १५१।।'

अन्वयार्थ- जो इन्द्रियादिक का विजयी होकर उपयोगमात्र आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों के द्वारा रञ्जित नहीं होता; उसे प्राण कैसे अनुसरेंगे? (अर्थात् उसके (द्रव्य) प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता)।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३०८)

प्रश्न ४८- भावप्राण किसे कहते हैं?

उत्तर- 'आत्मा की जिस शक्ति के निमित्त से इन्द्रियादिक अपने कार्य में प्रवृत्तें, उसे भावप्राण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १२५, पृष्ठ २६)

-'चित्सामान्यरूप अन्वयवाले वे भावप्राण हैं' तथा 'जिन प्राणों में चित्सामान्यरूप अन्वय होता है, वे भावप्राण हैं; अर्थात्, जिन प्राणों में सदैव "चित्सामान्य, चित्सामान्य, चित्सामान्य" -ऐसी एकरूपता, सदृशता (सदृश्यता) होती है, वे भावप्राण हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ३० की टीका व पृष्ठ ६१ की पादटिप्पणी)

–'बहुरि तिनिका कारणभूत ज्ञानावरण अर वीर्यान्तराय के क्षयोपशमादिक तैं प्रकट भए चैतन्य उपयोग के प्रवर्तनरूप भावप्राण हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १२९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७७)

प्रश्न ४९- भावप्राण के कितने भेद हैं?

उत्तर- भावप्राण के दो भेद हैं- (१) भावेन्द्रिय, और (२) बलप्राण।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १२७, पृष्ठ २७)

–'भावप्राण के दो भेद हैं- भावेन्द्रिय, और बलप्राण। ये भेद ससारी जीवों में हैं। भावेन्द्रियाँ सब चेतन हैं और वे ज्ञान की मतिरूप पर्यायें हैं। भावबलप्राण जीव के वीर्यगुण की पर्याय हैं और द्रव्यबलप्राण पुद्‌गल की पर्याय है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १७८, पृष्ठ ५४)

प्रश्न ५०- भावेन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर- **लब्धि**[१] और **उपयोग**[२] को भावेन्द्रिय कहते है।

–'**लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्॥१८॥**'**अर्थ**- लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, दूसरा अध्याय, सूत्र १८ व अर्थ, पृष्ठ २१३)

–'भाव कहिए चेतना परिणाम, तीहिस्वरूप जो इन्द्रिय, सो भावेन्द्रिय कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १६५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ३१०)

–'भाव इन्द्रिय दो प्रकार की कही गयी है- (१) लब्धिरूप, और (२) उपयोगरूप। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा के जानने की शक्ति होती है, सो लब्धि कहलाती है। वह तो पाँच इन्द्रिय और मन द्वारा जानने की शक्ति एककाल ही रहती है और उनकी व्यक्तिरूप उपयोग की प्रवृत्ति ज्ञेय से उपयुक्त होती है। तब एककाल एक ही से होती है- ऐसी ही क्षयोपशम की योग्यता है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१ का भावार्थ, पृष्ठ ११६)

प्रश्न ५१- उपयोग और लब्धि दोनो को भावेन्द्रिय क्यों कहते हैं?

उत्तर- 'उपयोग और लब्धि दोनो को भावेन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि वे द्रव्यपर्याय नहीं, किन्तु गुणपर्याय हैं। क्षयोपशमहेतुक लब्धि भी एक पर्याय या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है, क्योंकि वह आत्मा का परिणाम है। वह उपयोग दर्शन, और ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, दूसरा अध्याय, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ २१४)

---

१. **लब्धि**- लब्धि का अर्थ प्राप्ति अथवा लाभ होता है। आत्मा के चैतन्यगुण का क्षयोपशमहेतुक विकास लब्धि है।

२. **उपयोग**- चैतन्य के व्यापार को उपयोग कहते हैं। आत्मा के चैतन्यगुण का जो क्षयोपशमहेतुक विकास है, उसके व्यापार को उपयोग कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, दूसरा अध्याय, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ २१३)

प्रश्न ५२- भावेन्द्रियों के बारे में प्रत्येक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव को क्या ध्यान रखना चाहिए?

उत्तर- 'प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने योग्य ज्ञान की क्षयोपशमलब्धि तो सभी सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवों के होती है, किन्तु जो जीव पराश्रय की रुचि छोड़कर पर की ओर से झुकाव हटाकर निज (आत्मा) की ओर उपयोग को लगाते हैं, उन्हें आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होता है और जो जीव पर की ओर ही उपयोग लगाये रहते हैं, उन्हें मिथ्याज्ञान होता है और इससे दु:ख ही होता है; कल्याण नहीं होता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, दूसरा अध्याय, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ २१४)

प्रश्न ५३- भावबलप्राण के कितने भेद हैं?

उत्तर- भावबलप्राण के तीन भेद है- (१) मनबल, (२) वचनबल, और (३) कायबल।

-'पंचवि इंदियपाणा, मणवचकायेसु तिण्णि बलपाणा।'

टीका- पाँच इन्द्रिय प्राण हैं। बहुरि तीन बलप्राण हैं- (१) मनोबल, (२) वचनबल, और (३) कायबल।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १३० का पूर्वार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७८)

प्रश्न ५४- मनबल, वचनबल, कायबल- इन तीनों भावबलप्राणों का स्वरूप क्या है?

उत्तर- 'अतीन्द्रिय शुद्ध चैतन्यप्राण से प्रतिपक्षभूत क्षायोपशमिक इन्द्रियप्राण हैं; अनन्तवीर्यलक्षण बलप्राण से अनन्तवें भाग प्रमाण मनोबल, वचनबल और कायबलरूप प्राण हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १२)

-'बहुरि मन सम्बन्धी ज्ञानावरण का क्षयोपशम का निकट तैं प्रगट भई अैसी मनोवर्गणा करि निपज्या द्रव्य मन करि निपजी जो जीव की शक्ति, सो अनुभया पदार्थ को ग्रहण करि उपजी, सो अन्तर्मुहूर्त मन:पर्याप्ति काल के अन्ति सम्पूर्ण भई, अैसी मन:पर्याप्ति है। बहुरि अनुभया पदार्थ का ग्रहण करना अर अनुभया पदार्थ का ग्रहण करने का योग्यपना का होना, सो "मन:प्राण" है।...

बहुरि स्वर नामा नामकर्म का उदय है सहकारी जाका, अैसी भाषा पर्याप्ति पूर्ण भए पीछैं वचन का विशेषरूप उपयोगादिक का परिणमावना, तींहि स्वरूप "वचनप्राण" है।

बहुरि कार्यवर्गणा का अवलम्बन करि निपजी जो आत्मा के प्रदेशनि का समुच्चयरूप होने की शक्ति, सो "कायबलप्राण" है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १२९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७७-२७८)

प्रश्न ५५- द्रव्यप्राण, भावप्राण, और शुद्धचेतनाप्राण- क्या आत्मा इन तीनों ही प्राणों से जीता है?

उत्तर- नहीं! अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यप्राण जीव के हैं, परन्तु निश्चयनय से

मात्र शुद्ध चैतन्यप्राण ही जीव के हैं; अर्थात्, जीव अपने शुद्ध चैतन्यप्राणों से ही जीता है। चैतन्यभावप्राण को धारण कर रखना- यही जीवत्वशक्ति का लक्षण है।

-'व्यवहारनय की अपेक्षा से इस प्रकार के चार द्रव्य और भावप्राणों से यथासम्भव जो जीवित रहता है, जीवित रहेगा, और पहले जीता था- वह जीव है। (जीव को) द्रव्येन्द्रियादि द्रव्यप्राण अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से; भावेन्द्रियादि क्षायोपशमिक भावप्राण अशुद्ध निश्चयनय से; और सत्ता, चैतन्य, बोध आदि शुद्धभावप्राण निश्चयनय से हैं। शुद्ध निश्चयनय से उपादेयभूत शुद्ध चेतना जिसके है, वह जीव है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १३)

-'जीव को टिकने का कारण अपने चैतन्यभाव को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति ही है- ऐसा कहा है। किसी निमित्त से, संयोग से, अथवा विकार से जीव नही टिकता। दस प्रकार के व्यवहारप्राणों से जीव जीता है- यह बात भी यहाँ नही ली है। जीव तो सदैव अपने चैतन्यभावप्राणों से ही जीता है- ऐसी उसकी जीवत्वशक्ति है।' तथा,

-'आत्मा पूर्वकाल में चैतन्यप्राण धारण करके जीता था, इस समय भी चैतन्यप्राण से ही जीवित है, और भविष्य में भी वह चैतन्यप्राण से ही जियेगा- ऐसा आत्मा का त्रैकालिक जीवन है। आत्मा चैतन्यमात्र भावप्राण को त्रिकाल धारण कर रखता है- ऐसी आत्मा की जीवत्वशक्ति आत्मा के सर्वक्षेत्र और सर्वकाल में विद्यमान है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ४० और ४२)

प्रश्न ५६- जीवत्वगुण का ज्ञान कराने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर- चैतन्यभावप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति के कारण ही जीव त्रिकाल जीता है; द्रव्यप्राणों से आत्मा नहीं जीता। ऐसा जानकर चैतन्यशक्तिमय निज आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करके, संसार का अभाव करके, मुक्तदशा को जीव प्राप्त करे-इस प्रयोजन के अर्थ जीवत्वशक्ति का ज्ञान कराया जाता है।

-'याका छूट रह्या जो अपना परम शुद्ध जीवत्वभाव कहिये, चेतनाभाव ता विषैं स्थापित करें; तब यह संसार तें छूटि सुखी होय। तातैं जिनधर्म का शरण पकड़ि अपने जीवत्वभाव का जानना, श्रद्धान करना, ग्रहण करना योग्य है। ऐसा जीवत्व पारिणामिभाव का दिखावने का तात्पर्य है।'

(भावदीपिका, अधिकार दूसरा, पृष्ठ ७)

-'यह जीवनशक्ति अनादिनिधन अनन्त महिमा को धारण करती है, सब शक्तियों में सार है, और सबका जीव (बीजरूप) है। ऐसी जीवनशक्ति को जानने से यह जीव जगत-पूज्यपद

को प्राप्त करता है; अत: जीवनशक्ति को अवश्य जानना चाहिए।'

(चिद्विलास, पाँचवाँ अधिकार, पृष्ठ ८४)

-'जीवत्वशक्ति से आत्मा को देखने से रागादि समस्त भाव तो मरे हुए (चैतन्यस्वरूप में अभावरूप) दिखायी देते हैं और चैतन्यस्वरूप एक आत्मा ही अपने द्रव्य-गुण और निर्मल पर्यायों से जीता-टिकता-शोभायमान दिखायी देता है। (अत: जीवत्वशक्ति को जानना।)'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ४६)

प्रश्न ५७- आत्मा में अनन्तगुण हैं- इसका ज्ञान क्यों कराया है?

उत्तर- आत्मा में अनन्तगुण हैं- ऐसा बताने का प्रयोजन अनन्तगुणों के अभेदपिण्ड निजात्मा की पहचान कराना है जिसके आश्रय से सर्वगुणों में निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं और क्रम से आत्मा मुक्तदशा को प्राप्त हो जाता है।

-'यहाँ भिन्न-भिन्न शक्तियाँ बतलाने का प्रयोजन नहीं है किन्तु आत्मवस्तु अनन्तशक्ति सम्पन्न है- यह बतलाना है; अनन्तधर्मस्वरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मद्रव्य की पहचान कराना है। कोई भी शक्ति लो; जैसे, जीवत्वशक्ति। वह शक्ति किसकी है?- आत्मद्रव्य की। आत्मद्रव्य कितना है? -एक साथ ज्ञानादि अनन्तधर्म जितना। ऐसे आत्मद्रव्य को प्रतीति मे लिये बिना उसकी कोई भी शक्ति निर्मल कार्य नही देती और शुद्ध द्रव्य को प्रतीति में लेकर उसके आश्रय से परिणमित होनेपर समस्त शक्तियाँ निर्मल कार्य देती हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५३३)

[**विशेष-** यहाँ आत्मा के कुछ विशेषगुणों का परिचय दिया है। आत्मा में अनन्त गुण हैं। उनमें से ४७ शक्तियो का वर्णन श्रीसमयसार के परिशिष्ट मे पृष्ठ ५८८ पर देखें। विशेष स्पष्टीकरण के लिये ४७ शक्तियों पर पू० गुरुदेवश्री के प्रवचन 'आत्मप्रसिद्धि' में देखें।]

अपूर्व आनन्द

प्रश्न- निर्विकल्प अनुभूति के समय आनन्द कैसा होता है?

उत्तर- उस आनन्द की किसी जगत के विभाव के आनन्द के साथ; बाहर की किसी वस्तु के साथ तुलना नहीं है। जिसको अनुभव में आता है, वह जानता है। उसे कोई उपमा लागू नहीं होती- ऐसी अचिन्त्य अद्भुत उसकी महिमा है।

(पूज्य बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या ४३१, पृष्ठ २००)

पुद्गलद्रव्य के विशेषगुण

प्रश्न १- पुद्गलद्रव्य के विशेषगुण कौनसे है?

उत्तर- पुद्गलद्रव्य में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण आदि अनन्त विशेषगुण हैं।

-**'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।। २३।।'**

अर्थ- स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्णवाले पुद्गलद्रव्य हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २३ व अर्थ, पृष्ठ ३४४)

-'रूप (वर्ण), रस, गन्ध, और स्पर्श- ये चारों गुण सर्व पुद्गलों में सामान्य हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १५ की टीका, पृष्ठ ५९)

प्रश्न २- पुद्गल के विशेषगुणो के ज्ञान का क्या प्रयोजन है?

उत्तर- अज्ञानी जीव अनादि मिथ्यावासना से 'स्वयं कौन है?' इसका वास्तविक ज्ञान न होने के कारण अपने को शरीरादिरूप मानते हैं। शरीर से भिन्न बुद्धि कराने के प्रयोजन से पुद्गल के विशेषगुणों का ज्ञान कराया गया है। जो जीव पुद्गल के स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि गुणों को जानकर अपने को स्पर्शादि से भिन्न जानता है, वह भेदविज्ञानी अनुभवी होकर मोक्षमार्ग को साधकर शाश्वत निराकुल सुख का भोक्ता होता है।

-**'अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन् निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः।**
इति निजहृदि मत्त्वा शुद्धमात्मानमेकम् परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः।। ४१।।'

श्लोकार्थ- यदि परमाणु एकवर्णादिरूप प्रकाशते (ज्ञात होते) निजगुणसमूह में हैं, तो उसमें मेरी (कोई) कार्यसिद्धि नहीं है (अर्थात्, परमाणु तो एक वर्ण, एक गन्ध आदि अपने गुणों में ही है। तो फिर उसमे मेरा कोई कार्य सिद्ध नहीं होता)। इस प्रकार निज हृदय में मानकर परम सुखपद का अर्थी भव्यसमूह शुद्ध आत्मा को एक को भाये।

(श्रीनियमसार, श्लोक ४१ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ५१)

-'स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं, क्योंकि वे इन्द्रियों के विषय हैं। वे इन्द्रियग्राह्यता की व्यक्ति और शक्ति के वश से भले ही इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हों या न किये जाते हों; तथापि वे एकद्रव्यात्मक सूक्ष्मपर्यायरूप परमाणु से लेकर अनेकद्रव्यात्मक स्थूलपर्यायरूप

पृथ्वीस्कन्ध तक के समस्त पुद्गल के, अविशेषतया विशेषगुणों के रूप में होते हैं और उनके मूर्त होने के कारण ही (पुद्गल के अतिरिक्त) शेष द्रव्यों के न होने से वे (स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण) पुद्गल को बतलाते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३२ की टीका, पृष्ठ २७१)

-'स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्दरूप इन्द्रियविषय........(पाँच) द्रव्येन्द्रियों,......... (पाँच) काया, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म, विचित्र पर्यायों की उत्पत्ति के हेतुभूत अनन्त अनन्ताणुक वर्गणाएँ, अनन्त असंख्याताणुक वर्गणाएँ और द्वि-अणुक स्कन्ध तक की अनन्त संख्याताणुक वर्गणाएँ तथा परमाणु तथा अन्य भी जो कुछ मूर्त हो, वह सब पुद्गल के भेदरूप समेटना।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८२ की टीका, पृष्ठ १३२)

-'जहाँ रूप-रस पाये जाते हैं, वहाँ सुख और ज्ञान आदि नहीं पाये जाते और जहाँ सुख और ज्ञान आदि पाये जाते हैं, वहाँ रूप और रस आदि नहीं पाये जाते। इससे मूर्त और अमूर्त पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ११-२१ का विशेषार्थ, पृष्ठ १५३)

-'जिसका लक्षण "सहज शुद्ध चैतन्य" है, वह जीवद्रव्य है। उससे विलक्षण पुद्गलादि पाँच भेदवाला अजीव द्रव्य है। जीव-अजीव का यथार्थ ज्ञान न होने से ही संसारी प्राणियों को स्व-पर का विवेक नहीं हो पाता और इसीलिये वे आत्मस्वरूप की प्राप्ति से वञ्चित रहते हैं। यही कारण है कि वे दुःखी हैं।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १ का भावार्थ, पृष्ठ २)

-'यह अज्ञानी जीव (स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिरूप) पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है। उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न है; कभी भी किसी प्रकार से एकरूप नहीं होते- ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है। इसलिये हे अज्ञानी! तू परद्रव्य को (स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिरूप पुद्गलद्रव्य को) एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थ की मान्यता से बस कर।'

(श्रीसमयसार, गाथा २३, २४ व २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५७)

-'हे आत्मन्! तू भगवान का परमागम का शरण ग्रहण करकै ज्ञानदृष्टितैं अवलोकनकर अष्ट प्रकार का स्पर्श, पञ्च प्रकार का रस, दोय प्रकार का गन्ध, पञ्च प्रकार वर्ण ये तुम्हारा रूप नाहीं है पुद्गल का है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ४१, पृष्ठ ६१)

-'कोई आत्मा ज्ञानस्वभावरहित नहीं होता और कोई पुद्गल स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरहित नहीं होता। गन्धादि पुद्गल के गुण हैं और ज्ञान जीव का गुण है। आत्मा स्पर्शादि से पृथक्

ज्ञानानन्दस्वभावी है। जिसके आश्रय से संसार-समुद्र से पार होकर आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आधार-भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ९०)

स्पर्शगुण

प्रश्न ३- स्पर्शगुण क्या है?

उत्तर- स्पर्शगुण पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है।

प्रश्न ४- स्पर्शगुण का कार्य कितने प्रकार का है?

उत्तर- स्पर्शगुण का कार्य आठ प्रकार का है- हल्का-भारी, ठण्डा-गरम, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम।

-'स्पर्शगुण की आठ पर्याय हैं'- (१) स्निग्ध, (२) रूक्ष, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) हल्का, (६) भारी, (७) मृदु, और (८) कर्कश।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ३४५)

-'जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गरम, भारी, हल्का, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ५० से ५५ की टीका, पृष्ठ ९८)

-'रूखा-चिकना, नरम-कठोर, हल्का-भारी, ठण्डा-गरम- यह आठ प्रकार का स्पर्श है; वह पुद्गल की अवस्था है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ९८)

प्रश्न ५- स्पर्शगुण से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- स्पर्शगुण पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है जिसकी हलका-भारी, ठण्डा-गरम, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम- ये आठ पर्यायें हैं। पुद्गल के स्पर्शगुण के कार्यक्षेत्र की मर्यादा इन्हीं आठ पर्यायों तक है। ज्ञान कहीं स्पर्शगुण का कार्य नहीं है; अतः सिद्ध होता है कि स्पर्शगुण पृथक् है और ज्ञानस्वरूप आत्मा पृथक् है।

-'जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गरम, भारी, हल्का, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ५० से ५५ की टीका, पृष्ठ ९८)

-'स्पर्श नामक पुद्गलद्रव्य का गुण है। स्पर्श है वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श अचेतन है; इसलिये ज्ञान और स्पर्श का भिन्नत्व है। रूखा-चिकना, नरम-कठोर, हल्का-भारी, ठण्डा-गरम -यह आठ प्रकार का स्पर्श है; वह पुद्गल की अवस्था है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ९८)

-'फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति।। ३९६।।'

गाथार्थ- स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है; इसलिये ज्ञान अन्य है, स्पर्श अन्य है- ऐसा जिनदेव कहते हैं।

टीका- स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेक हैं।

(श्रीसमयसार, गाथा ३९६, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५४६, ५४९, ५५१)

प्रश्न ६- ठण्डा-गरम आदि स्पर्श की पर्यायों को जानकर अज्ञानी क्या करता है?

उत्तर- स्पर्श पुद्गलद्रव्य का गुण है। हल्का-भारी, ठण्डा-गरम, रूखा-चिकना, कड़ा-नरमरूप स्पर्श और ज्ञानस्वभावी आत्मा परस्पर एक-दूसरे का स्पर्श भी नहीं करते, लेकिन अज्ञानी जीव स्पर्श की आठ पर्यायों को अपना (आत्मा का) कार्य मानकर परपदार्थों में राग-द्वेष करता है और व्यर्थ में दुःखी होता है।

-'असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं।। ३७९।।
एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।। ३८२।।'

गाथार्थ- अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुझसे यह नहीं कहता कि 'तू मुझे स्पर्श कर' और आत्मा भी काय के (स्पर्शेन्द्रिय के) विषय में आये हुये स्पर्श को (अपने स्थान से च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता।। ३७९।। ऐसा जानकर भी मूढ़ जीव उपशम को प्राप्त नहीं होता और शिवबुद्धि को (कल्याणकारी बुद्धि को, सम्यग्ज्ञान को) न प्राप्त हुआ स्वयं पर को ग्रहण करने का मन करता है।। ३८२।।

(श्रीसमयसार, गाथा ३७९ व ३८२ और गाथार्थ, पृष्ठ ५०७ व ५०९)

-'अज्ञानी आत्मा शीत और उष्ण का अनुभव (ज्ञान) करते समय स्वयं अपने को ही शीत और उष्ण मान बैठता है। शीत और उष्ण ये दोनों मिलकर मूर्तद्रव्य का एक गुण है, फिर भी अमूर्त आत्मा के "मैं शीत हूँ, मैं उष्ण हूँ"- ऐसा अनुभव होता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७७-७८ का अर्थ, पृष्ठ १६४)

-'तथा स्वयं जीव है। उसका स्वभाव तो ज्ञानादिक हैं और विभाव क्रोधादिक हैं और पुद्गल परमाणुओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि स्वभाव हैं। उन सबको अपना स्वरूप मानता है। "ये मेरे हैं"- इस प्रकार उनमें (पर गुणों में) ममत्वबुद्धि होती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८०)

प्रश्न ७- हल्का-भारी आदि स्पर्शगुण की पर्यायों में एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान के अभाव का उपाय क्या है?

उत्तर- हल्का-भारी आदिरूप परिणमित पुद्गल के स्पर्शगुण से मुझ अस्पर्शस्वभावी भगवान आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- ऐसा जानकर अस्पर्शस्वभावी निजात्मा का आश्रय ले, तो हल्का-भारी आदि स्पर्श में एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान का अभाव होकर अपना अनुभव हो।

-'स्पर्श अचेतन है, उसमें किञ्चित् ज्ञान नही है; उसकी जड़-पुद्गल के साथ एकता है और ज्ञान से भिन्नता है। ज्ञान चेतन है, वह परिपूर्ण ज्ञाता है; उसकी आत्मा के साथ एकता है और पुद्गल से भिन्नता है। इस प्रकार जड़ पदार्थों से ज्ञान भिन्न है। इससे जड़ के आश्रय से ज्ञान नहीं है, परन्तु आत्मा के आश्रय से ज्ञान है- ऐसा समझकर जड़ का आश्रय छोड़कर आत्मस्वभाव का आश्रय करे, तो "जड़ को और आत्मा को भिन्न जाना" कहलाये।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ १०८)

-'यह आठ पर्यायें पुद्गल के स्पर्शगुण की हैं। अनादि से अज्ञानी "मैं हल्का-भारी, मुझे गरमी-ठण्डी का बुखार" आदि खोटी मान्यताओं में पागल हो रहा है। सतगुरु ने कहा "तू तो अस्पर्शस्वभावी भगवान आत्मा है; हल्का-भारी आदि पुद्गल के स्पर्शगुण की पर्यायें है"- ऐसा जानकर निज भगवान आत्मा का आश्रय ले, तो स्पर्श की आठ पर्यायों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है -ऐसा अनुभव-ज्ञान हो।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ३, पृष्ठ ३३५)

प्रश्न ८- ज्ञानस्वरूप आत्मा का स्पर्शगुण से सम्बन्ध क्यों नहीं है?

उत्तर- स्पर्श तो पुद्गलद्रव्य का गुण है; अतः अचेतन है। पुद्गल का स्पर्शगुण आत्मा में नहीं है और आत्मा के ज्ञानादि गुण स्पर्श में नहीं हैं। स्पर्श के कारण ज्ञान नहीं है। स्पर्श के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह भी आत्मा के साथ एक नही होता। इस प्रकार अस्पर्शस्वभावी आत्मा पुद्गल के स्पर्शगुण से सर्वथा भिन्न है।

-'इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें स्पर्शगुण विद्यमान नहीं है; इसलिये अस्पर्श है।। १।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी स्पर्शगुण नहीं है; अतः अस्पर्श है।। २।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अतः अस्पर्श है।। ३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अतः अस्पर्श है।। ४।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक स्पर्शवेदनापरिणाम

को प्राप्त होकर स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अत: अस्पर्श है।। ५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से स्पर्श के ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं स्पर्शरूप नहीं परिणमता; अत: अस्पर्श है।। ६।। इस तरह छह प्रकार से स्पर्श के निषेध से वह अस्पर्श है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ४९ की टीका, पृष्ठ ९२-९३)

रसगुण

प्रश्न ९- रसगुण क्या है?

उत्तर- रसगुण पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है।

प्रश्न १०- रसगुण का कार्य कितने प्रकार का है?

उत्तर- रसगुण का कार्य पाँच प्रकार का है- खट्टा, मीठा, कड़वा, चरपरा, और कषायला।

-'रसगुण की पाँच पर्यायें हैं- (१) खट्टा, (२) मीठा, (३) कड़वा, (४) कषायला, और (५) चरपरा। इन पाँचों में से परमाणु में एककाल में एक रस पर्याय प्रगट होती है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ३४५)

-'जो कड़वा, कषायला, चरपरा, खट्टा, और मीठा रस है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ५० से ५५ की टीका, पृष्ठ ९८)

-'खट्टा-मीठा-चरपरा-कड़वा व कषायला- ये पाँच रस............एक पुद्गल की रचना हैं; पुद्गल की पर्यायें हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, वीतरागविज्ञान, भाग ३, पृष्ठ ८४)

प्रश्न ११- रसगुण से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- रसगुण पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है जिसकी खट्टी-मीठी-कड़वी-चरपरी, और कषायली- ये पाँच पर्याय होती हैं। रसगुण के कार्यक्षेत्र की मर्यादा इन्हीं पाँच पर्यायों तक है। ज्ञान कहीं रसगुण का कार्य नहीं है; अत: सिद्ध होता है कि रसगुण पृथक् है और ज्ञानस्वरूप आत्मा पृथक् है।

-'जो कड़वा, कषायला, चरपरा, खट्टा, और मीठा रस है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ५० से ५५ की टीका, पृष्ठ ९८)

-'ण रसो दु हवदि णाण जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा बेंति।। ३९५।।'

गाथार्थ- रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है; इसलिये ज्ञान अन्य है और रस अन्य है- ऐसा जिनदेव कहते हैं।

टीका- रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और रस के व्यतिरेक हैं।

(श्रीसमयसार, गाथा ३९५, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५४६, ५४८ व ५५१)

-'आचार्यभगवान कहते हैं कि हे भाई ! तेरा ज्ञान रस मे नहीं है और न रस के आश्रय से तेरा ज्ञान है। रस को जानते समय तुझे रस का अस्तित्व भासित होता है, परन्तु उस समय तेरे आत्मा में कुछ है या नहीं? उस समय तेरा ज्ञानस्वभाव तुझमे कार्य करता है या नहीं? या वह रस में ही चला गया है? तेरा ज्ञान त्रिकाल आत्मा के साथ अभेद है; उसकी श्रद्धा कर और रस की श्रद्धा छोड़।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ९२)

प्रश्न १२- खट्टा-मीठा आदि रस की पर्यायों को जानकर अज्ञानी क्या करता है?

उत्तर- रस पुद्गलद्रव्य का गुण है। रसगुण अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मे रहता हुआ खट्टा-मीठा-कड़वा-चरपरा और कषायलारूप परिणमित होता है और आत्मा भी अपने स्वचतुष्टय में रहता हुआ जाननेरूप परिणमित होता है; तथापि अज्ञानी जीव रस का स्वाद लेकर उन्हें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है और दुःखी होता है।

-'असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं।। ३७८।।
एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।। ३८२।।'

गाथार्थ- अशुभ अथवा शुभ रस तुझसे यह नहीं कहता कि "तू मुझे चख" और आत्मा भी रसना-इन्द्रिय के विषय में आये हुये रस को (अपने स्थान से च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता।। ३७८।। ऐसा जानकर भी मूढ़ जीव उपशम को प्राप्त नहीं होता और शिवबुद्धि को (कल्याणकारी बुद्धि को, सम्यग्ज्ञान को) न प्राप्त हुआ स्वयं पर को ग्रहण करने का मन करता है।। ३८२।।

(श्रीसमयसार, गाथा ३७८ व ३८२ और गाथार्थ, पृष्ठ ५०७ व ५०९)

-'अज्ञानी जीव स्वभाव को न मानने से बाह्य में सुख मानते हैं। रस को जानते हुए उसमें एकाकार हो जाते हैं कि इस रस में बड़ा आनन्द आया। बहुत मीठा लगा।..........सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव को भूलकर एक रस को जानने से ज्ञान वहीं राग करके रुक गया। उसे अज्ञानी जीव रस का स्वाद मानते हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ९२)

प्रश्न १३- खट्टा-मीठा आदि रसगुण की पर्यायों में एकत्वबुद्धि दूर करने का उपाय क्या है?

उत्तर- खट्टा-मीठा आदिरूप परिणमित पुद्गल के रसगुण से मुझ अरसस्वभावी भगवान आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- ऐसा जान कर निजात्मा का आश्रय ले, तो खट्टा-मीठा आदि रसपर्यायों में एकत्व बुद्धिरूप अज्ञान का अभाव हो जाता है।

-'अज्ञानी जीव स्वभाव से च्युत होकर रस की रुचि में लीन हुआ है; वह अधर्म है और परपदार्थों की (खट्टा-मीठा आदि रस की) रुचि से भिन्न होकर, छूटकर, स्वभाव की रुचि द्वारा वर्तमान अवस्था को स्वभाव में धारण कर रखे- बना रखे; वह धर्म है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ९३)

-'अज्ञानी जीव अनादि से खट्टे-मीठे रस को अपना स्वाद मान रहा है। सतगुरु ने कहा- "तू तो अरसस्वभावी भगवान आत्मा है और खट्टा-मीठा आदि पुद्गल के रसगुण की पर्यायें हैं। तेरा इनसे सर्वथा सम्बन्ध नही है।" ऐसा जानकर अपने अरसस्वभावी आत्मा की ओर दृष्टि दे, तो रस में एकत्वबुद्धि का अभाव हो।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ३, पृष्ठ ३३६)

प्रश्न १४- ज्ञानस्वरूप आत्मा का रसगुण से सम्बन्ध क्यों नहीं है?

उत्तर- रस तो पुद्गलद्रव्य का गुण है; अतः अचेतन है। पुद्गल का रसगुण आत्मा में नहीं है और आत्मा के ज्ञानादि गुण रस में नहीं हैं। रस को जानने जितनामात्र आत्मा का ज्ञान नहीं है। रस के कारण ज्ञान नहीं है। रस के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह भी आत्मा के साथ एक नहीं होता। इस प्रकार अरसस्वभावी आत्मा पुद्गल के रसगुण से सर्वथा भिन्न है।

-'जीव निश्चय से पुद्गलद्रव्य से भिन्न है; इसलिये उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है; अतः वह अरस है।। १ ।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने से स्वयं भी रसगुण नहीं है; इसलिये अरस है।। २ ।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है; इसलिये वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता; अतः अरस है।। ३ ।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये, तो उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता; इसलिये अरस है।। ४ ।। समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदनापरिणाम को पाकर रस नहीं चखता; इसलिये अरस है।। ५ ।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का (एकरूप होने का) निषेध होने से रस के ज्ञानरूप में परिणमित होनेपर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता।। ६ ।। इस

प्रकार छह तरह के रस के निषेध से वह अरस है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ४९ की टीका, पृष्ठ ९१)

गन्धगुण

प्रश्न १५- गन्धगुण क्या है?

उत्तर- गन्धगुण पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है।

प्रश्न १६- गन्धगुण का कार्य क्या है?

उत्तर- गन्धगुण का कार्य दो प्रकार का है- सुगन्ध और दुर्गन्ध।

-'गन्धगुण की दो पर्यायें हैं- (१) सुगन्ध, और (२) दुर्गन्ध। इन दोनों में से एककाल में एक गन्ध पर्याय प्रगट होती है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ३४५)

प्रश्न १७- गन्धगुण से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- गन्धगुण पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है जिसकी सुगन्ध और दुर्गन्ध दो प्रकार की पर्यायें होती हैं। गन्धगुण के कार्यक्षेत्र की मर्यादा सुगन्ध-दुर्गन्ध तक ही है। ज्ञान कहीं गन्धगुण का कार्य नहीं है; अत: सिद्ध होता है कि गन्धगुण पृथक् है और ज्ञानस्वरूप आत्मा पृथक् है।

-'जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है, वह सर्व ही जीव की नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ५० से ५५ की टीका, पृष्ठ ९८)

-**'गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति।। ३९४।।'

गाथार्थ- गन्ध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गन्ध कुछ जानती नहीं है; इसलिये ज्ञान अन्य है, गन्ध अन्य है- ऐसा जिनदेव कहते हैं।

टीका- गन्ध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गन्ध (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और गन्ध के व्यतिरेक (भेद; भिन्नता) है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३९४, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५४६, ५४८ व ५५१)

-'गन्ध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गन्ध पुद्गल का गुण है, अचेतन है; इसलिये ज्ञान और गन्ध का भिन्नत्व है। गन्ध अचेतन है, वह कुछ नहीं जानती, उसे अपनी खबर नहीं है। ज्ञान चेतन है, वह परिपूर्ण जानता है; स्व-पर को जानता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ८१)

प्रश्न १८- गन्ध को जानकर अज्ञानी जीव क्या करता है?

उत्तर- गन्ध पुद्गलद्रव्य का गुण है। गन्धगुण अपनी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप मर्यादा में रहता हुआ सुगन्ध व दुर्गन्धरूप परिणमित होता है और आत्मा भी अपने स्वचतुष्ट्य में रहता हुआ जाननेरूप परिणमित होता है; तथापि अज्ञानी जीव गन्ध को सूँघकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, राग-द्वेष करता है और दु:खी होता है।

-'असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं।। ३७७।।
एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।। ३८२।।'

गाथार्थ- अशुभ अथवा शुभ गन्ध तुझसे यह नहीं कहती कि 'तू मुझे सूँघ' और आत्मा भी घ्राणइन्द्रिय के विषय में आयी हुई गन्ध को (अपने स्थान से च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता।। ३७७।। ऐसा जानकर भी मूढ़ जीव उपशम को प्राप्त नहीं होता और शिवबुद्धि को (कल्याणकारी बुद्धि को, सम्यग्ज्ञान को) न प्राप्त हुआ स्वयं पर को ग्रहण करने का मन करता है।। ३८२।।

(श्रीसमयसार, गाथा ३७७ व ३८२ और गाथार्थ, पृष्ठ ५०६ से ५०९)

-'तथा स्वयं जीव है। उसका स्वभाव तो ज्ञानादिक है, और विभाव क्रोधादिक हैं, और पुद्गलपरमाणुओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि स्वभाव हैं- उन सबको अपना स्वरूप मानता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८०)

प्रश्न १९- सुगन्ध-दुर्गन्ध में एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान के अभाव का उपाय क्या है?

उत्तर- सुगन्ध-दुर्गन्धरूप परिणमित पुद्गल के गन्धगुण से मुझ अगन्धस्वभावी आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- ऐसा जानकर अगन्धस्वभावी निजात्मा का आश्रय ले, तो गन्धगुण में एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान का अभाव हो जाता है।

-'गन्ध के आश्रय से ज्ञान प्रगट नहीं होता, स्थायी नहीं रहता, और बढ़ता नहीं है; इसलिये तू पर (गन्ध) की रुचि छोड़कर, स्वसन्मुख होकर, ज्ञानस्वभाव की रुचि कर।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ८१)

-' "मैं अगन्धस्वभावी भगवान हूँ। सुगन्ध-दुर्गन्ध पुद्गल के गन्धगुण की पर्यायें हैं" -ऐसा जानकर अगन्धस्वभावी भगवान का आश्रय ले, तो गन्धगुण में एकत्व बुद्धिरूप अज्ञान का अभाव हो।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ३, पृष्ठ ३३६)

प्रश्न २०- ज्ञानस्वरूप आत्मा का गन्धगुण से सम्बन्ध क्यों नहीं है?

उत्तर- गन्ध तो पुद्गलद्रव्य का गुण है; अतः अचेतन है। पुद्गल का गन्धगुण आत्मा में नहीं है और आत्मा के ज्ञानादि गुण गन्ध में नहीं हैं। सुगन्ध-दुर्गन्ध को जानने जितना ही आत्मा का ज्ञान नहीं है। गन्ध के कारण ज्ञान नहीं है। गन्ध के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है; वह आत्मा के साथ एक नहीं होता। इस प्रकार अगन्धस्वभावी आत्मा पुद्गल के गन्धगुण से सर्वथा भिन्न है।

-'इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें गन्धगुण विद्यमान नहीं है; इसलिये अगन्ध है।। १।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी गन्धगुण नहीं है; इसलिये अगन्ध है।। २।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गन्ध नहीं सूँघता; इसलिये अगन्ध है।। ३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गन्ध नहीं सूँघता; अतः अगन्ध है।। ४।। सकल विषयों के विशेषो में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से केवल एक गन्धवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर गन्ध को नहीं सूँघता; अतः अगन्ध है।। ५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से [illegible] के ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी गन्धरूप नहीं परिणमता; अतः अगन्ध है।। ६।। इस तरह छह प्रकार के गन्ध के निषेध से वह अगन्ध है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ४९ की टीका, पृष्ठ ९२)

वर्णगुण

प्रश्न २१- वर्णगुण क्या है?

उत्तर- वर्णगुण पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है। जिनागम में वर्ण के लिये 'रूप' शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

प्रश्न २२- वर्णगुण का कार्य कितने प्रकार का है?

उत्तर- वर्णगुण का कार्य (परिणमन) पाँच प्रकार का है- (१) काला, (२) पीला, (३) नीला, (४) लाल, और (५) सफेद।

-'वर्णगुण की पाँच पर्यायें हैं- (१) काला, (२) नीला, (३) पीला, (४) लाल, और (५) सफेद। इन पाँचों में से परमाणु के एककाल में एक वर्ण पर्याय प्रगट होती है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ३४५)

-'(जो) काला, हरा, पीला, लाल, और सफेद वर्ण है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ५० से ५५ की टीका, पृष्ठ ९८)

-'वर्ण अर्थात् रङ्ग। लाल, पीला, नीला, काला, और सफेद- ऐसे पाँच प्रकार के रङ्ग हैं; वे अचेतन पुद्गल के रङ्गगुण की पर्यायें हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ७१)

प्रश्न २३- वर्णगुण से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- वर्णगुण पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है जिसकी काला, पीला, नीला, लाल, और सफेदरूप पाँच प्रकार की पर्यायें होती हैं। वर्णगुण के कार्यक्षेत्र की मर्यादा इन पाँच प्रकार की पर्यायों तक ही है। ज्ञान कहीं वर्णगुण का कार्य नहीं है; अतः सिद्ध होता है कि वर्णगुण पृथक् है और ज्ञानस्वरूप आत्मा पृथक् है।

-'जो काला, हरा, पीला, लाल, और सफेद वर्ण है; वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यका परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ५० से ५५ की टीका, पृष्ठ ९८)

-'**वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति।। ३९३।।'

गाथार्थ- वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है; इसलिये ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है- ऐसा जिनदेव कहते हैं।

टीका- वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और वर्ण के व्यतिरेक (भिन्नता) है; अर्थात्, ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३९३, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५४६, ५४८ व ५५१)

-'वर्ण और ज्ञान का पृथक्त्व है। ऐसा कहते ही वर्ण वर्णरूप है- ऐसा सिद्ध होता है। ....रङ्ग है; इसलिये ज्ञान है -ऐसा नहीं है। ज्ञान आत्माश्रित है और वर्ण पुद्गलाश्रित है। इस प्रकार ज्ञान की और वर्ण की स्पष्टतया भिन्नता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ७३-७४)

प्रश्न २४- वर्ण (रूप) को जानकर अज्ञानी जीव क्या करता है?

उत्तर- वर्ण पुद्गलद्रव्य का गुण है। वर्णगुण अपनी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप मर्यादा में रहता हुआ काला-पीलादिरूप परिणमित होता है और आत्मा भी अपने स्वचतुष्टय में रहता हुआ जाननेरूप परिणमित होता है; तथापि अज्ञानी जीव रूप-रङ्ग (वर्ण) को देखकर, उसे अच्छा-बुरा मानकर, राग-द्वेष करता है और दुःखी होता है।

-'**असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।**
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं।। ३७६।।

एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।। ३८२।।'

गाथार्थ- अशुभ अथवा शुभ रूप तुझसे यह नहीं कहता कि 'तू मुझे देख' और आत्मा भी (अपने स्थान से छूटकर) चक्षु-इन्द्रिय के विषय में आये हुये रूप को ग्रहण करने को नहीं जाता।। ३७६।। ऐसा जानकर भी मूढ़ जीव उपशम को प्राप्त नहीं होता और शिवबुद्धि को (कल्याणकारी बुद्धि को; सम्यग्ज्ञान को) न प्राप्त हुआ स्वयं पर को ग्रहण करने का मन करता है।। ३८२।।

(श्रीसमयसार, गाथा ३७६ व ३८२ और गाथार्थ, पृष्ठ ५०६ से ५०९)

- 'पाँच प्रकार के रङ्ग हैं। वे अचेतन पुद्गल के रङ्गगुण की पर्यायें हैं। सिर में काले बाल होते हैं। वहाँ यदि ऐसा माने कि इन बालों को देखने से मुझे ज्ञान हुआ, तो वह जीव अपने ज्ञानस्वभाव की रुचि छोड़कर बालों की रुचि करता है। इससे उसे अधर्म होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ७१)

प्रश्न २५- वर्ण (रूप) मे एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान के अभाव का उपाय क्या है?

उत्तर- काले-पीलेरूप परिणमित पुद्गल के वर्णगुण से मुझ अवर्णस्वभावी आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- ऐसा जानकर अवर्णस्वभावी निजात्मा का आश्रय ले, तो वर्णगुण में एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान का अभाव हो जाता है।

- 'आत्मा की जो अवस्था वर्णादि पर का आश्रय करे; उसमें रागादि के साथ एकता होती है, वह अधर्म है और यदि एकरूप द्रव्यस्वभाव का आश्रय करे; तो रागादि के साथ एकता टूटकर स्वभाव में अभेदता होती है, धर्म होता है' तथा

- 'ज्ञान आत्माश्रित है और वर्ण पुद्गलाश्रित है। इस प्रकार वर्ण की स्पष्टतया भिन्नता है। वर्ण से भिन्न ज्ञानस्वभाव के अनुभवन का उपाय यह है कि ज्ञान का लक्ष्य वर्ण की ओर से छोड़कर त्रिकाली स्वभाव की रुचि करके उसे स्वभाव की ओर उन्मुख करना चाहिए' तथा

- 'रूपादि से ज्ञान भिन्न है- ऐसा जो निर्णय करे, उसे कभी रूपादि विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती। इससे ज्ञानस्वभाव का सच्चा निर्णय करते ही अनन्त राग-द्वेष तो दूर हो ही गया और धर्म का अपूर्व प्रारम्भ भी हो गया।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ ७३, ७४ और ५०)

प्रश्न २६- ज्ञानस्वरूप आत्मा का वर्णगुण (रूप) से सम्बन्ध क्यों नहीं है।

उत्तर- वर्ण अर्थात् रूप तो पुद्गलद्रव्य का गुण है; अत: अचेतन है। पुद्गल का वर्णगुण आत्मा में नहीं है और आत्मा के ज्ञानादि गुण वर्ण में नहीं हैं। काले-गोरे रूपादि को जानने जितना

ही आत्मा का ज्ञान नहीं है। रूप के कारण ज्ञान नहीं है। रूप के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह भी आत्मा के साथ एक नहीं होता। इस प्रकार अवर्णस्वभावी आत्मा पुद्गल के वर्णगुण से सर्वथा भिन्न है।

-'इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें रूपगुण विद्यमान नहीं है; इसलिये अरूप है।। १।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी रूपगुण नहीं है; इसलिये अरूप है।। २।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता; इसलिये अरूप है।। ३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने मे आये तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता; इसलिये अरूप है।। ४।। सकल विषयों के विशेषों मे साधारण ऐसे ही एक सवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रूपवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर रूप नहीं देखता; इसलिये अरूप है।। ५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रूप के ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं रूप रूपसे नहीं परिणमता; इसलिये अरूप है।। ६।। इस तरह छह प्रकार के रूप के निषेध से वह अरूप है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ४९ की टीका, पृष्ठ ९१)

[**विशेष**- स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि पुद्गल के विशेषगुणों के विशेष स्पष्टीकरण के लिये श्रीअष्टपाहुड के भावपाहुड, गाथा ४६; श्रीसमयसार गाथा ४९, गाथा ३७३ से ३८२ और गाथा ३९० से ४०४; श्रीप्रवचनसार गाथा १७२; श्रीनियमसार गाथा ४६; श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह गाथा १२७; लघुद्रव्यसंग्रह, गाथा ५; पू० गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग २ व भेदविज्ञानसार देखें।]

अपराधी कौन?

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ।।

श्लोकार्थ- जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, वह अपराधी है; इसलिये बन्ध में पड़ता है और जो स्वद्रव्य में ही संवृत है (गुप्त है; मग्न है; सन्तुष्ट है)- ऐसा यति निरपराधी है; इसलिये बँधता नहीं है।

(पूज्यश्री अमृतचन्द्राचार्यदेव, आत्मख्याति टीका, श्लोक १८६ व अर्थ)

जीव और पुद्गल के विशेषगुण

प्रश्न १- जीव और पुद्गल दोनों द्रव्यों में पाये जानेवाले विशेषगुण कौनसे हैं?

उत्तर- क्रियावतीशक्ति और वैभाविकशक्ति- ये दो गुण जीव और पुद्गल दोनों द्रव्यों में पाये जाते हैं।

-'क्रियारूप **योग्यता**[1] तो केवल जीव और पुद्गल- इन दो द्रव्यों में ही है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा २४-२७ का विशेषार्थ, पृष्ठ १५४)

-'क्रियासहित जीव और पुद्गल- ये दो द्रव्य हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, चूलिका, पृष्ठ ८७)

-'एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन करना, वह चलन-हलनवती क्रिया कही गयी है। यह क्रिया जीव और पुद्गल दोनों के ही हैं और धर्म, अधर्म, आकाश, काल- ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा २८ का भावार्थ, पृष्ठ १४६)

-'जीव और पुद्गल में विभाव और स्वभावरूप परिणमन करनेवाली एक (वैभाविक) शक्ति है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ४४-४५ का विशेषार्थ, पृष्ठ १५७)

---

१. **योग्यता- 'योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति'** (न्यायदीपिका, पृष्ठ २७)

(क) योग्यता ही विषय का प्रतिनियामक कारण है। [यह कथन ज्ञान की योग्यता (सामर्थ्य) को लेकर है, परन्तु योग्यता का कारणपना सर्व में समान है।]

(ख) सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत, योग्यता- ये 'योग्यता' शब्द के अर्थ हैं।

(ग) 'योग्यता' शब्द का उपयोग निम्नोक्त शास्त्रो मे किया गया है। उन्हें पढ़कर योग्यता का सच्चा अर्थ समझने का जिज्ञासुओं से अनुरोध है-

(१) **श्रीप्रवचनसार**- गाथा ४४, १६७, १६८, १६९ टीका; (२) **श्रीसमयसार**- गाथा १३, २७५, ३१८, ३७३ टीका; (३) **श्रीनियमसार**- गाथा ६३ टीका; (४) **श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह**- गाथा ६४, ६६, ९९ टीका; (५) **इष्टोपदेश**- गाथा ३५ टीका तथा गाथा २ मूल में (योग्योपादान योगेन); (६) **अष्टसहस्री**- श्लोक ८८ टीका पृष्ठ ४०; (७) **प्रमेयकमलमार्तण्ड**- पृष्ठ १०५ 'योग्यता एवम् शरणम्'; (८) **प्रमाणपरीक्षा**- पृष्ठ ५२, ६७; (९) **श्रीतत्त्वार्थसूत्र**- अध्याय ८ सूत्र २; (१०) **तत्त्वार्थसार**- पृष्ठ ३७, ९५, १६४, १६६, १७६, १८२, १८३, २८४, २८६, ३०५, ३०९ 'योग्यता शरणम्'; (११) **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**- पृष्ठ २३०, २४९ संस्कृत; (१२) **परीक्षामुख**- द्वितीय अध्याय सूत्र ९; तथा (१३) गोम्मटसार कर्मकाण्ड- गाथा ५२, १९०, २८६।

(आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३ व ४८)

-'यह वैभाविकगुण जीव और पुद्गल- इन दो द्रव्यों में ही है; शेष चार द्रव्यों में नहीं है।'

(लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, पृष्ठ २२ की पादटिप्पणी)

क्रियावतीशक्ति

प्रश्न २- क्रियावतीशक्ति क्या है?

उत्तर- क्रियावतीशक्ति जीव और पुद्गलद्रव्य का विशेषगुण है।

प्रश्न ३- क्रियावतीशक्ति किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव और पुद्गलद्रव्य में क्रियावतीशक्ति नाम का विशेषगुण है। उसके कारण जीव और पुद्गल में अपनी-अपनी योग्यतानुसार कभी गमन-क्षेत्रान्तररूप व कभी स्थिरतारूप पर्याय होती है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १६८, पृष्ठ ५१)

-'एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र को गमन करना क्रिया है। वह क्रिया जीव और पुद्गल दोनों के होती है; दूसरे चार द्रव्यों के क्रिया नहीं होती।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ३४३)

-**'तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मकः।'**

अर्थ- जो प्रदेशों का हलन-चलनरूप परिस्पन्द होता है, वह क्रिया कहलाती है।

विशेषार्थ- प्रदेश चलनात्मक योग्यता का नाम क्रिया है।.........क्रिया में प्रदेशों की एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गति-अगति देखी जाती है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा २६ का पूर्वार्द्ध, अर्थ व विशेषार्थ, पृष्ठ १५४)

-'जीव और पुद्गल में अपनी-अपनी क्रियावतीशक्ति नाम का गुण नित्य है और अपनी-अपनी योग्यतानुसार कभी गति-क्षेत्रान्तररूप पर्याय होती है, कभी स्थिररहनेरूप पर्याय होती है। कोई द्रव्य (जीव या पुद्गल) एक-दूसरे को गमन या स्थिरता नहीं करा सकते। दोनों द्रव्य अपनी क्रियावतीशक्ति की उस समय की योग्यता के अनुसार स्वतः गमन करते हैं या स्थिर होते हैं।'

(लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १५, पृष्ठ ४ की पादटिप्पणी)

-'एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में गमन करनेरूप, परिस्पन्दनरूप, अथवा चलनेरूप क्रिया है। ये क्रियावान जीव और पुद्गल- ये दो द्रव्य हैं।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, चूलिका, पृष्ठ ८८)

-' "क्रिया" का लक्षण परिस्पन्दन (कम्पन) है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १२९ की टीका, पृष्ठ २६६)

प्रश्न ४- क्रियावतीशक्ति का कार्य कितने प्रकार का है?

उत्तर- क्रियावतीशक्ति का कार्य दो प्रकार का है- (१) गमनरूपक्रिया, और (२) स्थितिरूपक्रिया।

-'तहाँ प्रदेश तैं प्रदेशान्तर विषैं प्राप्त होना, सो गति क्रिया है। गमन करि कहीं तिष्ठना, सो स्थिति क्रिया है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

-'एक क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होना अथवा गतिपूर्वक स्थिररूप से रहना- ये क्रियावतीशक्ति का कार्य है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १८४, पृष्ठ ५६)

-'जीव और पुद्‌गल- इन दो द्रव्यों में क्रियावतीशक्ति होने से उनके हलन-चलन होता है, किन्तु वह हलन-चलनरूप क्रिया निरन्तर नही होती। वे किसी समय स्थिर होते हैं और किसी समय गतिरूप होते हैं, क्योंकि स्थिरता और हलन-चलनरूप क्रिया गुण नहीं है, किन्तु क्रियावतीशक्ति की पर्याय हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३८५-३८६)

[**विशेष**- परमागम श्रीनियमसार, गाथा ९ की टीका में गतिक्रिया और स्थितिक्रिया के भी दो-दो भेद किये हैं-

-'स्वभावगतिक्रियारूप और विभावगतिक्रियारूप परिणत जीव-पुद्‌गलो को स्वभावगति का और विभावगति का निमित्त सो धर्म है।'[१]

-'स्वभावस्थितिक्रियारूप और विभावस्थितिक्रियारूप परिणत जीव-पुद्‌गलों को स्थिति का (स्वभावस्थिति का तथा विभावस्थिति का) निमित्त, सो अधर्म है।'[२] -**श्रीनियमसार, गाथा ९ की टीका, पृष्ठ २३**]

प्रश्न ५- क्रियावतीशक्ति से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- क्रियावतीशक्ति से सिद्ध होता है कि- (१) प्रत्येक पुद्‌गलपरमाणु में अपनी-अपनी

---

१. चौदहवें गुणस्थान के अन्त मे जीव ऊर्ध्वगमनस्वभाव से लोकान्त मे जाता है; वह जीव की स्वभावगतिक्रिया है और संसारावस्था में कर्म के निमित्त से गमन करता है; वह जीव की विभावगतिक्रिया है। एक पृथक् परमाणु गति करता है; वह पुद्‌गल की स्वभावगतिक्रिया है और पुद्‌गलस्कन्ध गमन करता है; वह पुद्‌गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) विभावगतिक्रिया है। इस स्वाभाविक तथा वैभाविक गतिक्रिया में धर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।

२. सिद्धदशा में जीव स्थिर रहता है; वह जीव की स्वाभाविक स्थितिक्रिया है और ससारदशा मे स्थिर होता है; वह जीव की वैभाविक स्थितिक्रिया है। अकेला परमाणु स्थिर रहता है; वह पुद्‌गल की स्वाभाविक स्थितिक्रिया है और स्कन्ध स्थिर रहता है; वह पुद्‌गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) वैभाविक स्थितिक्रिया है। इस जीव-पुद्‌गल की स्वाभाविक तथा वैभाविक स्थितिक्रिया में अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।

(श्रीनियमसार, गाथा ९, पृष्ठ २३ की पादटिप्पणी)

क्रियावतीशक्ति है जिसके कारण वह गमन व स्थिररूप तथा क्षेत्रक्षेत्रान्तररूप स्वयं ही परिणमित होता है, तो मैं शरीर को चलाता हूँ, उठाता हूँ, बैठाता हूँ, मैं सामान लाता हूँ, मैं गाड़ी चलाता हूँ, आदि अभिप्राय मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं, और (२) सभी जीवों में भी अपनी-अपनी क्रियावतीशक्ति है जिसके कारण वे गमन व स्थिररूप तथा क्षेत्रक्षेत्रान्तररूप स्वयं ही परिणमित होते हैं, तो शरीर मुझे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में ले जाता है, मैं दूसरे जीवों को चलाता हूँ, आदि अभिप्राय मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं।

प्रश्न ६- पेट्रोल खत्म हुआ और मोटर रुक गयी। उसमें मोटर रुकने का सच्चा कारण क्या है?

उत्तर- मोटर उस काल की अपनी क्रियावतीशक्ति के स्थिरतारूप परिणाम के कारण रुकी है; उसमें पेट्रोल का खत्म होना तो निमित्तमात्र है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १९५, पृष्ठ ५९)

प्रश्न ७- रेलगाड़ी भाप से चलती है। क्या यह ठीक है?

उत्तर- नहीं! उसके चलने में उसकी अपनी क्रियावतीशक्ति का क्षेत्रान्तररूप परिणमन है। वही सच्चा कारण है; भाप आाद तो निमित्तमात्र हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १९५, पृष्ठ ५९)

प्रश्न ८- फल वृक्ष से पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के कारण गिरा। क्या यह सिद्धान्त ठीक है?

उत्तर- नहीं! फल अपने परमाणुओं की क्रियावतीशक्ति के गमनरूप परिणमन के कारण गिरता है। पृथ्वी की आकर्षणशक्ति, डण्ठल का सड़ जाना, हवा का चलना, आदि तो निमित्तमात्र हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १९७, पृष्ठ ५९)

प्रश्न ९- फव्वारे का पानी ऊपर उछलता है और झरने का पानी नीचे की ओर गिरता है। इसका क्या कारण है?

उत्तर- दोनों में उन-उन परमाणुओं की क्रियावतीशक्ति का गमनरूप परिणमन ही सच्चा कारण है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम अध्याय, प्रश्न १९८, पृष्ठ ५९)

प्रश्न १०- मोटर पैट्रोल से चलती है या उसे ड्राइवर चलाता है?

उत्तर- मोटर पैट्रोल या ड्राइवर से नहीं चलती, किन्तु उसके प्रत्येक परमाणु में क्रियावतीशक्ति है। अपने क्षणिक उपादान की योग्यता से वह चलती है। स्थिर रहने योग्य हो, उस समय अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण ही वह स्थिर रहती है; अन्य तो निमित्तमात्र है। **निमित्त**[1] से **उपादान**[2] का कार्य

---

१. **निमित्त**- जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप न परिणमे, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिसपर आरोप आसके, उस पदार्थ को निमित्तकारण कहते हैं। [निमित्त सच्चा कारण नहीं है; अहेतुवत् (अकारणवत्) है क्योंकि वह उपचारमात्र अथवा व्यवहारमात्र

.................क्रमशः

नहीं होता, किन्तु संयोग का ज्ञान कराने के लिये उपचार से वैसा कथन होता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १६९, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ११- क्रियावतीशक्ति को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- क्रियावतीशक्ति को जानने से- 'मैं शरीरादि पुद्‌गलों को या अन्य जीवों को, तथा शरीरादि पुद्‌गलस्कन्ध मुझ जीव को या दूसरे पुद्‌गलों को गमन या स्थिररूप परिणमित कराते हैं' -आदि खोटी मान्यताओं का अभाव होकर धर्म की प्राप्ति हो जाती है।

-' "मैं शरीर को चला सकता हूँ, स्थिर रख सकता हूँ; शरीर मुझे अन्य क्षेत्र में ले जाता है; मैं यह बोझ उठाता हूँ"- इत्यादि गति-स्थिति की (परके क्षेत्रान्तर होने और स्थिर रहने की) स्वतन्त्रता न माननेरूप घोर अज्ञान दूर हो जाये और अपने ज्ञातास्वभाव से मैं सदैव ज्ञायकस्वरूप ही हूँ- ऐसा सच्चा निर्णय हो, वही धर्म का मूल है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या १८५)

वैभाविकशक्ति

प्रश्न १२- वैभाविकशक्ति क्या है?

उत्तर- वैभाविकशक्ति जीव व पुद्‌गल का विशेषगुण है।

प्रश्न १३- वैभाविकशक्ति किसे कहते हैं?

उत्तर- यह एक विशेष भाववाला गुण है। इस गुण के कारण परद्रव्य के सम्बन्धपूर्वक स्वयं अपनी योग्यता से अशुद्ध पर्यायें होती हैं। यह वैभाविकगुण जीव और पुद्‌गल- इन दो द्रव्यों में ही है; शेष चार द्रव्यों में नहीं है। मुक्त जीवों में इस गुण की शुद्ध स्वाभाविक पर्याय ही होती है।

-**'अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च।**
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः।। ९४६।।'

अर्थ- उन गुणो में स्वतःसिद्ध एक वैभाविकशक्ति है जो जीव के संसार अवस्था में अपने

कारण है।]

२. **उपादान**- **(क)** जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादानकारण कहते हैं; जैसे, घट की उत्पत्ति में मिट्टी, **(ख)** अनादिकाल से द्रव्य में जो पर्यायो का प्रवाह चला आ रहा है, उसमें अनन्तरपूर्व क्षणवर्तीपर्याय उपादानकारण है और अनन्तर उत्तर क्षणवर्तीपर्याय कार्य है, **(ग)** उस समय की पर्याय की योग्यता उपादानकारण है और वही पर्याय कार्य है। उपादान ही सच्चा (वास्तविक) कारण है। [**(क)** ध्रुव उपादान द्रव्यार्थिकनय से, और **(ख तथा ग)** क्षणिक उपादान पर्यायार्थिकनय से हैं।]

(लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १३२ व १३०, पृष्ठ ३४-३५)

[**विशेष**- निमित्त-उपादान सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण के लिये **श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, दूसरा भाग, उपादान-निमित्त तथा निमित्त-नैमित्तिक अधिकार, पृष्ठ ३२ से ९५** तक देखें।]

कारण से विकृत बनी रहती है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १४६ व अर्थ, पृष्ठ ३०२)

-'वैभाविकगुण उस शक्ति को कहते हैं जिसके निमित्त से दूसरे द्रव्य के सम्बन्ध होने पर विभाव परिणति हो।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १३०, पृष्ठ २७)

-**'अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी।**
त्वद्गुणाकारसंक्रान्तिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः।। ७२।।'

अर्थ- द्रव्यों में एक वैभाविकशक्ति है। उसके कार्यकारी होनेपर जो अन्य के निमित्त से तद्गुणाकार संक्रम होता है, वह बन्ध कहलाता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७२ व अर्थ, पृष्ठ १६३)

प्रश्न १४- वैभाविकगुण का कार्य कितने प्रकार का है?

उत्तर- वैभाविकगुण का कार्य दो प्रकार का है- (१)स्वभावरूप कार्य, और (२) विभावरूप कार्य।

-**'अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया।**
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः।। ६१।।'

अर्थ- यद्यपि सत् अनादि सिद्ध है, तथापि वह परिणमनशील होने से उसके दो प्रकार की क्रिया होती है- एक स्वाभाविकी क्रिया और दूसरी वैभाविकी क्रिया।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ६१ व अर्थ, पृष्ठ १६१)

प्रश्न १५- क्या वैभाविकगुण पारिणामिकभाव है?

उत्तर- हाँ! वैभाविकगुण भी अन्य गुणों की भाँति स्वतःसिद्ध नित्य पारिणामिकभाव है।

-**'सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत्।'**

अर्थ- यह कहना ठीक है, किन्तु वैभाविकीशक्ति नित्य है, क्योंकि वह शक्ति है; जैसे, अन्य शुद्ध शक्तियाँ।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ८० का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १६४)

प्रश्न १६- वैभाविकगुण के स्वाभाविक और वैभाविक परिणमन में क्या अन्तर है?

उत्तर- स्वाभाविक और वैभाविकक्रिया में अन्तर इतना ही है कि जब तक जीव के प्रतिसमय के तरह-तरह के परिणमन होते रहते हैं और उनके तरह-तरह के निमित्त बने रहते हैं, तब तक वैभाविकशक्ति का विभावरूप परिणमन रहता है और जबसे (जिस समय से) वे परिणमन एक स्वरूप होने लगते हैं; तरह-तरह के निमित्त नहीं रहते हैं, तबसे वैभाविकशक्ति का स्वभावरूप परिणमन

कहलाता है।

–'सत् की स्वाभाविकी और वैभाविकी– इन दोनों प्रकार की क्रियाओं को पारिणामिकी कहा है। इन दोनों में अन्तर इतना है कि स्वाभाविकी क्रिया के प्रति समय के जुदे-जुदे निमित्त नहीं होते जबकि वैभाविकी क्रिया के प्रति समय के जुदे-जुदे निमित्त होते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ६१ से ७० का विशेषार्थ, पृष्ठ १६२)

प्रश्न १७– क्या एक वैभाविकशक्ति ही स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार के परिणमन का कारण है?

उत्तर– शक्ति तो एक ही है, पर उसका परिणमन दो प्रकार का है– एक स्वभावपरिणमन जो विशेष निमित्त निरपेक्ष होता है, और दूसरा विभावपरिणमन जो कर्म के निमित्त से होता है। ऐसा न मानकर यदि दो शक्तियाँ मानी जायें, तो कार्य-कारणभाव की व्यवस्था गड़बड़ा जाती है जिससे बन्ध-मोक्ष कुछ भी नहीं बनते और एक शक्ति के एकसाथ दो परिणमन होते नहीं हैं। यदि हों, तो विभाव को नित्य मानना पड़ेगा; अतः सिद्ध होता है कि शक्ति तो एक ही है, पर उसका संसार (विभाव) दशारूप परिणमन विशेष निमित्त सापेक्ष होता है और मोक्ष (स्वभाव) दशारूप परिणमन विशेष निमित्त के बिना होता है!

–'पदार्थ की जो दो शक्तियाँ हैं, वे अवस्थाभेद से ही दो है; तत्त्वतः वे दो नहीं। यदि उन दोनों शक्तियों का एकसाथ सद्भाव मान लिया जाता है, तो बड़ा भारी दोष आता है। तब न तो कार्यकारणभाव ही बनता है और न बन्ध-मोक्ष ही बनता है। इन दोनों का अभाव प्राप्त होता है। यदि कोई एक शक्ति का ही द्विधाभाव माने, सो यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर वे दोनों भाव एक साथ प्राप्त होते हैं और उन दोनों भेदों के एक साथ प्राप्त होनेपर विभाव भी बिना बाधा के नित्य ठहरता है; अतः एक वैभाविकीशक्ति के विभावरूप और स्वभावरूप ये दो प्रकार के क्रम से होनेवाले परिणमन मान लेना ही ठीक है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९१ से ९३ का अर्थ, पृष्ठ १६७)

प्रश्न १८– वैभाविकगुण का विभावरूप परिणमन निमित्त सापेक्ष होता है, तो क्या जैसे निमित्त मिलेगें उसी के अनुसार परिणमन होगा?

उत्तर– सर्वथा नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो वस्तु का वैभाविक परिणमन से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकेगा, दूसरे वस्तु की कार्यकारी योग्यता का कोई नियम नहीं रहेगा, और तीसरे निमित्तानुसार परिणमन मानने पर जीव का अजीवरूप भी परिणमन हो सकता है। अतः ऐसा समझना चाहिए कि वैभाविक परिणमन निमित्त सापेक्ष होनेपर भी वह अपनी उस काल में प्रकट होनेवाली योग्यतानुसार ही होता है।

–'न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते॥ ६२॥'

अर्थ- सत् की वैभाविकी क्रिया केवल पराधीन होती है। ऐसा नहीं है, क्योंकि जो शक्ति सत् की नहीं है, वह अन्य के द्वारा भी नहीं की जा सकती है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ६२ का अर्थ, पृष्ठ १६१)

–'विकारो को शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से- परकृत, परभाव, पराकार, पुद्गलभाव... ....निमित्तकृत आदि नामों से पुकारा जाता है, किन्तु उससे वे परकृतादि नहीं हो जाते; मात्र अपने में से वे टाले जा सकते हैं; इतना ही वे दर्शाते हैं।'

(आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १८२, पृष्ठ ५६)

–'साधारण नियम तो यह है कि प्रत्येक कार्य अपनी उपादान की योग्यतानुसार ही होता है। जिस कार्य की उपादान में योग्यता न हो, वह कार्य उससे कभी भी नहीं हो सकता है; इसलिये इस नियम के अनुसार यह निश्चित होता है कि जीव में स्वयं ही ऐसी योग्यता है जिसके कारण वह बँधता है (विकाररूप परिणमता है) और वह योग्यता उसकी अनादिकालीन है। इसे ही वैभाविकशक्ति का विभावरूप परिणमन कहते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७१-८२ का विशेषार्थ, पृष्ठ १६५)

प्रश्न १९- वैभाविकगुण की शुद्ध पर्याय कब प्रगट होती है?

उत्तर- जीव की सिद्धदशा होनेपर इस गुण की शुद्ध स्वाभाविक पर्याय प्रगट होती है। पुद्गलद्रव्य में जब तक एक परमाणु स्वतन्त्र रहे, अबन्धदशारूप रहे, तब तक इस गुण की शुद्ध पर्याय होती है।

–'मुक्तदशा में वैभाविकशक्ति का शुद्ध परिणमन होता है। मुक्त-स्वतन्त्र पुद्गलपरमाणु जब तक स्वतन्त्र (अबन्ध पर्यायरूप) रहे, तब तक उनके इस गुण की भी शुद्धपर्याय होती है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १८१, पृष्ठ ५४)

प्रश्न २०- वैभाविकशक्ति से क्या समझना चाहिए?

उत्तर- 'जीव की वैभाविकशक्ति गुण है; इसलिये बन्ध का कारण नहीं है; उसका परिणमन भी बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि उसका परिणमन तो सिद्ध भगवन्तों के भी होता है।

यदि जीव परपदार्थों के वश हो जाये, तो उसकी पर्याय में विकार (अशुद्धता) होती है। वह जीव का अपना अपराध है। जीव जिस परपदार्थ के वश होता है, उसे निमित्त कहा जाता है। जीव ने विकार किया (स्वयं अशुद्धभावरूप परिणमित हुआ), तब किस परपदार्थ के वश हुआ? यह बतलाने के लिये उन परपदार्थों को निमित्तकारण और विकार को नैमित्तिक (कार्य) कहा जाता है। यह

कथन भेदज्ञान कराने के लिये है, किन्तु निमित्त ने नैमित्तिक पर कुछ असर किया अथवा प्रभाव डाला- ऐसा बतलाने के लिये यह कथन नहीं है, क्योंकि ऐसा माना जाये, तो दो द्रव्यों की एकता माननेरूप मिथ्यात्व हो जाता है। इसलिये ऐसा समझना चाहिए कि जीव के अपने दोष से ही अशुद्धता होती है और उसे जीव स्वयं करता है; इसलिये वह दूर भी की जा सकती है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, प्रथम भाग, प्रश्न १८२, पृष्ठ ५५)

-'वैभाविक नाम की एक शक्ति है, किन्तु उसका स्वभाव भी कहीं विकार करने का नहीं है। किसी भी विशेष भावरूप से परिणमित होना, वह वैभाविकशक्ति का कार्य है। उसमें भी निर्मल-निर्मल विशेष भावोंरूप परिणमित होना ही उसका स्वभाव है। ऐसी वैभाविकशक्ति सिद्धदशा में भी है। विकाररूप परिणमन होता है। वह तो ऊपर की (पर्याय की) एक समय की वैसी योग्यता है, किन्तु आत्मा की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है। "शक्तिमान को भजो"- ऐसे शक्तिमान आत्मा को पहचान कर उसे भजे (आराधना करे), तो विकार दूर होकर शुद्धता हुए बिना न रहे।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३६३)

卐

कबहु न निज घर आये!

हम तो कबहु न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।। टेक।।
परपद निजपद मान मगन है, पर परिणति लिपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतनभाव न भाये।। १।।
नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये।
अमल अखंड अतुल अविनाशी, आतम गुण नाहीं गाये।। २।।
वह बहु भूल भई हमरी, फिर कहा काज पछिताये।
'दौल' तजौ अजहूं विषयन को, सत् गुरु वचन सुहाये।। ३।।

-श्री दौलतरामजी

धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य के विशेषगुण

प्रश्न १- धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य के विशेषगुण कौनसे हैं?

उत्तर- धर्मद्रव्य के गतिहेतुत्वादि, अधर्मद्रव्य के स्थितिहेतुत्वादि, आकाशद्रव्य के अवगाहनहेतुत्वादि, और कालद्रव्य के परिणमनहेतुत्वादि विशेषगुण हैं।

- **'गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ।।'**

टीका- बहुरि गति, स्थान, अवगाह, वर्तनारूप क्रिया का उपकार ते धर्मादिक च्यारि द्रव्यनि के लक्षण हैं। तहा गतिहेतुत्व धर्मद्रव्य का लक्षण है। स्थितिहेतुत्व अधर्मद्रव्य का लक्षण है। अवगाहहेतुत्व आकाशद्रव्य का लक्षण है। वर्तनाहेतुत्व कालद्रव्य का लक्षण है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६५ का उत्तरार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

- 'आकाश का अवगाह, धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व, और अधर्मद्रव्य का गुण स्थानकारणता है। काल का गुण वर्तना है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ का अन्वयार्थ, पृष्ठ २७४)

प्रश्न २- धर्म, अधर्म, आकाश, और काल- इन चार द्रव्यों के विशेषगुणों का ज्ञान कराने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर- धर्म, अधर्म, आकाश, व काल के विशेषगुणों का ज्ञान कराने का प्रयोजन **निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध**[1] का ज्ञान कराना है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी परिणतिरूप वर्तता है; परद्रव्य तो बाह्य निमित्तमात्र है। धर्म-अधर्म-आकाश-काल के विशेषगुणों के द्वारा पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक -सम्बन्ध बतानेवाले लक्षणों का यहाँ ज्ञान कराया है- (१) जीव-पुद्गल स्वयं अपनी क्रियावतीशक्ति

---

१. **निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध**- 'जब उपादान स्वयं स्वत: कार्यरूप परिणमित होता है, तब भावरूप या अभावरूप किस उचित (योग्य) निमित्तकारण का उसके साथ सम्बन्ध है- वह बतलाने के लिये उस कार्य को **नैमित्तिक** कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों के स्वतन्त्र सम्बन्ध को **निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध** कहते हैं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध परस्पर की परतन्त्रता का सूचक नहीं है; परन्तु नैमित्तिक (कार्य) के साथ कौन निमित्तरूप पदार्थ है, उसका वह ज्ञान कराता है। जिस कार्य को निमित्त की अपेक्षा से नैमित्तिक कहते हैं, उसे अपने उपादान की अपेक्षा से उपादेय भी कहते हैं।'

- निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दोनों स्वतन्त्र पर्यायों के बीच होता है।
- निमित्त और नैमित्तिक का स्वचतुष्टय (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) भिन्न-भिन्न है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, द्वितीय भाग, प्रश्न ३९३, पृष्ठ ३७)

से चलते हैं; उसमें धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्वगुण निमित्त होता है; (२) जीव-पुद्गल स्वयं अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण स्थिर होते हैं; उसमें अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्वगुण निमित्त होता है; (३) सब द्रव्य अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं; उसमें आकाशद्रव्य का अवगाहनहेतुत्वगुण निमित्त होता है; और (४) **सभी द्रव्य** अपने-अपने परिणमन स्वभाव के कारण परिणमते हैं; उसमे कालद्रव्य का परिणमनहेतुत्वगुण निमित्त होता है।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र १७ से २२)

गतिहेतुत्वगुण

प्रश्न ३- गतिहेतुत्व क्या है?

उत्तर- गतिहेतुत्व धर्मद्रव्य का विशेषगुण है।

-'धर्मास्तिकाय द्रव्य का गतिनिमित्तता विशेषगुण है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १७ का भावार्थ, पृष्ठ ५०)

-'धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्वपना गुण है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ७२)

प्रश्न ४- गतिहेतुत्व से क्या तात्पर्य है?

उत्तर- जब जीव और पुद्गल स्वय अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण गतिरूप परिणमित हों, उस समय उन्हें लोक में स्थिर और सर्वव्यापक धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्वगुण निमित्त होता है। यही गतिहेतुत्व का तात्पर्य है।

-'यह धर्म के गतिहेतुत्व का दृष्टान्त है। जिस प्रकार पानी स्वयं गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ स्वयमेव गमन करती हुई मछलियो को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्म (धर्मास्तिकाय) भी स्वय गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ स्वयमेव गमन करते हुये जीव पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८५ की टीका, पृष्ठ १३६)

-'स्वयमेव गमनादि क्रियारूप प्रवर्तमान जीव और पुद्गलों को धर्मास्तिकाय सहकारी कारण है। उसमें उसका कारणत्व इतना ही है कि जहाँ धर्मादिद्रव्य होते हैं, वहीं जीव-पुद्गल गमनादि क्रियारूप प्रवर्तित होते हैं।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १७ का भावार्थ, पृष्ठ ५१-५२)

-'जैसैं सलिल समूहमैं, करै मीन गति-कर्म।
तैसैं पुद्गल जीवकौं, चलनसहाई धर्म॥ २२॥'

अर्थ- जिस प्रकार मछली की गमनक्रिया में पानी सहायक होता है, उसी प्रकार जीव-पुद्गल की गति में सहकारी धर्मद्रव्य है। (सहकारी; अर्थात्, उदासीन निमित्तकारण है; प्रेरक नहीं है। यह गतिहेतुत्व का तात्पर्य है)

(श्रीसमयसारनाटक, उत्थानिका, छन्द २२ का अर्थ, पृष्ठ १५)

प्रश्न ५- गतिहेतुत्वगुण धर्मद्रव्य के अस्तित्व को किस प्रकार सिद्ध करता है?

उत्तर- प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्तकारण होते ही हैं। जीव और पुद्गल अपनी-अपनी क्रियावतीशक्ति के गमनरूप परिणमन के कारण क्षेत्रान्तर हुए, लेकिन जीव और पुद्गलों के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आने का निमित्त कौन है? निमित्त तो उपादान से भिन्न होता है; अत: जीव या पुद्गल- ये क्षेत्रान्तर के निमित्त नहीं हैं। कालद्रव्य परिणमन में निमित्त है, आकाशद्रव्य अवगाह मे निमित्त है, और अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त है। तो यह निश्चित होता है कि क्षेत्रान्तर का निमित्त इन पाँच द्रव्यों के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गमन के हेतुपनेरूप जो द्रव्य है, वह धर्मद्रव्य है। इस प्रकार गतिहेतुत्वगुण धर्मद्रव्य के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

-'एक ही साथ सर्व गमनपरिणामी (गतिरूपपरिणमित) जीव-पुद्गलों के गमन का हेतुपना धर्म का विशेषगुण है।...........एक ही काल में गतिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतुपना धर्म को बतलाता है, क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं; इसलिये उनके वह सम्भव नहीं है। जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है; इसलिये उसके वह सम्भव नहीं है। लोक-अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश को वह सम्भव नहीं है और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से अधर्म को वह सम्भव नहीं हैं; अर्थात्, काल और पुद्गल एकप्रदेशी हैं; इसलिये वे लोक तक गमन में निमित्त नहीं हो सकते। जीव समुद्घात को छोड़कर अन्य काल में लोक के असंख्यातवें भाग में ही रहता है; इसलिये वह भी लोक तक गमन में निमित्त नहीं हो सकता। यदि आकाश गति में निमित्त हो, तो जीव और पुद्गलों की गति अलोक में भी होने लगे जिससे लोकालोक की मर्यादा ही न रहेगी; इसलिये गतिहेतुत्व आकाश का भी गुण नहीं है। अधर्मद्रव्य तो गति से विरुद्ध स्थितिकार्य में निमित्तभूत है; इसलिये वह भी गति में निमित्त नहीं हो सकता। इस प्रकार "गतिहेतुत्वगुण" धर्म नामक द्रव्य का अस्तित्व बतलाता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७५-२७६)

प्रश्न ६- क्या धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्वगुण जीव और पुद्गलों को गमन कराता है?

उत्तर- जीव और पुद्गल स्वयं अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण गमनरूप परिणमित होते हैं।

उस समय गतिहेतुत्वगुणरूप धर्मद्रव्य निमित्त होता है। धर्मद्रव्य स्वय गमन नहीं करता और न ही जीव और पुद्गलों को गमन कराता है; मात्र निमित्तकारण है।

–'ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदिस्स य पसरो जीवाणं पोग्गलाणं च॥ ८८॥'

अन्वयार्थ– धर्मास्तिकाय गमन नहीं करता और अन्य द्रव्य को गमन नहीं कराता। वह जीवों तथा पुद्गलों को (गतिपरिणाम में आश्रयमात्ररूप होने से) गति का उदासीन प्रसारक (अर्थात्, गतिप्रसार में उदासीन निमित्तभूत) है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १३९)

–'जैसैं ते पंथादिक आप गमन नाहीं करैं है; जीवनि कौं प्रेरक होइ गमनादि नाई करावैं है। स्वयमेव जे गमनादि करैं, तिनको कारणभूत हो हैं। सो कारण इतना ही, जो जहा पंथादिक होंइ, तहां ही वे गमनादिरूप प्रवर्तैं। तैसें धर्मादिक द्रव्य आप गमनादि नाहीं करै है; पुद्गलनि को प्रेरक होइ गमनादि क्रिया नाहीं करावै है; स्वयमेव ही गमनादि क्रियारूप प्रवर्तते जे जीव पुद्गल, तिनकौं सहकारी कारण हो हैं। सो कारण इतना ही जो धर्मादिक द्रव्य जहाँ होइ, तहाँ ही गमनादि क्रियारूप जीव पुद्गल प्रवर्तैं हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६७ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६३)

–'तहाँ तैसै मत्स्यनि के गमन करने का साधन भूत जलद्रव्य है। तैसैं गति क्रियावान जे जीव-पुद्गल तिनकैं गतिक्रिया का साधनभूत सो धर्मद्रव्य है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६०५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६९१)

–'जीव और पुद्गल– इन दो द्रव्यों में क्रियावतीशक्ति होने से उनके हलन-चलन होता है।.............हलन-चलनरूप परिणमन का मूलकारण द्रव्य स्वयं है और हलन-चलन मे जो निमित्त होता है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३८५-३८६)

प्रश्न ७– क्या गतिहेतुत्वगुण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है?

उत्तर– नहीं जाता, क्योंकि गतिहेतुत्व धर्मास्तिकायद्रव्य का गुण है और वह द्रव्य तो त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है; उसमें (धर्मद्रव्य में) क्रियावतीशक्ति नहीं है।

–'तहाँ प्रदेश तैं प्रदेशांतर विषैं प्राप्त होना, सो गतिक्रिया है।...............बहुरि धर्म, अधर्म, आकाश विषैं ए क्रिया नाहीं है; जातैं इनके **स्थानचलन**[1] **प्रदेशचलन**[2] का अभाव है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६६ की टीका, पृष्ठ ६६२)

---

१. **स्थानचलन**– तहा अपने स्थान कौं छोडि अन्य स्थान होना, सो स्थानचलन कहिए।

२. **प्रदेशचलन**– प्रदेशनि का चञ्चलरूप होना सो प्रदेशचलन कहिए।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६२)

प्रश्न ८- 'गतिहेतुत्व' धर्मद्रव्य का विशेषगुण है- इससे क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- धर्मद्रव्य में 'गतिहेतुत्वगुण' तो है, परन्तु ज्ञानगुणरहित होने से धर्मद्रव्य अचेतन है। अत: मुझ ज्ञानस्वभावी आत्मा का धर्मद्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- ऐसा सिद्ध हो जाता है।

-'धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति।। ३९८।।'

गाथार्थ- धर्म (अर्थात् धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिये ज्ञान अन्य है, धर्म (द्रव्य) अन्य है- ऐसा जिनदेव कहते हैं।

टीका- धर्म (धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और धर्म के व्यतिरेक (भिन्नता) है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३९८, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५४६, ५४९ व ५५१)

प्रश्न ९- गतिहेतुत्वगुण के धारक धर्मद्रव्य को जानकर भव्यजीव का कर्तव्य क्या है?

उत्तर- धर्मद्रव्य स्वतन्त्र द्रव्य है। वह (धर्मद्रव्य) गतिहेतुत्व आदि अनन्तगुणों का अभेद पिण्ड है और मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मा से सर्वथा भिन्न है- ऐसा जानकर धर्मद्रव्य से सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप निजात्मा की पहचान करना ही भव्यजीव का परम कर्तव्य है।

-'गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं गमनहेतुत्वं विशेषगुणात्वादेवान्य-द्रव्याणामसंभवत्सद्धर्मद्रव्यं निश्चिनोति।.......अयमत्रार्थ- यद्यपि पञ्चद्रव्याणि (धर्मादिद्रव्याणि) जीवस्योपकारं कुर्वन्ति तथापि तानि दुःखकारणान्येवेति ज्ञात्वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनो-पयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्तव्यमिति।।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की श्रीजयसेनाचार्य कृत टीका, पृष्ठ २७४ से २७७)

-'इस प्रकार यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए; अर्थात्, निश्चय से सिद्ध हुआ समझना-अनुभव करना चाहिए।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३९० से ४०४ की टीका, पृष्ठ ५५१)

प्रश्न १०- गतिहेतुत्वगुण को कब माना और कब नहीं माना?

उत्तर- जीव और पुद्गल अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण गमनरूप परिणमते हैं। उसमें धर्म-द्रव्य का गतिहेतुत्वगुण निमित्तमात्र है; वह गमन नहीं कराता- ऐसा माननेवाले ने गतिहेतुत्वगुण को माना, परन्तु जीव के कारण शरीर और शरीर के कारण जीव का गमन माननेवाले ने गतिहेतुत्वगुण को निमित्त न मानकर स्वयं को या शरीर को निमित्त मानने के कारण गतिहेतुत्वगुण को नहीं माना।

-'गतिक्रियापरिणत जीव-पुद्गल न हों तो वहाँ धर्मद्रव्य उन्हें सहायमात्ररूप भी नहीं है; जीव-पुद्गल स्वयं गतिक्रियारूप से परिणमित होते हों तभी धर्मद्रव्य उन्हें उदासीन सहायमात्ररूप

(निमित्तमात्ररूप) है, अन्यथा नहीं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८४, पृष्ठ १३५ की पादटिप्पणी)

स्थितिहेतुत्वगुण

प्रश्न ११- स्थितिहेतुत्व क्या है?

उत्तर- स्थितिहेतुत्व अधर्मद्रव्य का विशेषगुण है।

-'अधर्मास्तिकाय द्रव्य का स्थितिकारणत्व विशेषगुण है। इस द्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में यह गुण नहीं है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ५३)

-'अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्वपना गुण है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ७२)

-'अधर्मद्रव्य का विशेषगुण स्थितिहेतुत्व है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६४)

प्रश्न १२- स्थितिहेतुत्व से क्या तात्पर्य है?

उत्तर- जब जीव और पुद्गल स्वयं अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण स्थिररूप परिणमित होते हैं, उस समय उन्हें लोक में स्थिर और सर्वव्यापक अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्वगुण निमित्त होता है -यह 'स्थितिहेतुत्व' से तात्पर्य है।

-'यह (अधर्मास्तिकाय) स्थितिक्रियायुक्त को पृथ्वी की भाँति कारणभूत है। जिस प्रकार पृथ्वी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप (स्थिर) वर्तती हुई तथा पर को स्थिति नहीं कराती हुई स्वयमेव स्थितिरूप से परिणमित अश्वादिक को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र के रूप मे स्थिति में अनुग्रह करती है, उसी प्रकार अधर्म (अधर्मास्तिकाय) भी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप से वर्तता हुआ और पर को स्थिति नहीं कराता हुआ स्वयमेव स्थितिरूप परिणमित होते हुये जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र की भाँति स्थिति में अनुग्रह करता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८६ की टीका, पृष्ठ १३७)

-'**ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।**
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।। १८।।'

अन्वयार्थ- स्थिर हुए पुद्गल और जीव द्रव्यों को स्थिर होने में सहकारी अधर्मद्रव्य है; जैसे, मुसाफिरों को छाया। किन्तु वह अधर्मद्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों को कदापि रोक नहीं रखता (स्थिर नहीं करता) है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५२)

-'ज्यौं पंथी ग्रीषमसमै, बैठे छायामांहि।
त्यौं अधर्मकी भूमिमैं, जड़ चेतन ठहरांहि।। २३।।'

अर्थ- जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में पथिक छाया का निमित्त पाकर बैठते हैं, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य जीव-पुद्गल की स्थिति में निमित्तकारण है।

(श्रीसमयसारनाटक, उत्थानिका, छन्द २३ व अर्थ, पृष्ठ १५)

प्रश्न १३- 'स्थितिहेतुत्वगुण' अधर्मद्रव्य के अस्तित्व को किस प्रकार सिद्ध करता है?

उत्तर- प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्तकारण होते ही हैं। जीव और पुद्गल अपनी-अपनी क्रियावतीशक्ति के स्थिररूप परिणमन के कारण गतिपूर्वक स्थिर हुए- यह तो उपादानकारण हुआ, लेकिन जीव और पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थिररूप परिणमन का निमित्तकारण कौन है? निमित्त तो उपादान से भिन्न होता है; अत: जीव या पुद्गल- ये गतिपूर्वक स्थिति के निमित्त नहीं हैं। कालद्रव्य परिणमन में निमित्त है, आकाशद्रव्य अवगाह में निमित्त है, और धर्मद्रव्य गति में निमित्त है। तो फिर यह निश्चित होता है कि गतिपूर्वक स्थिति का निमित्त इन पाँच द्रव्यों के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। स्थिति के हेतुपनेरूप जो द्रव्य है, वह अधर्मद्रव्य है। इस प्रकार 'स्थितिहेतुत्वगुण' अधर्मद्रव्य के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

-'एक ही साथ सर्वस्थान परिणामी (स्थितिरूप परिणमित) जीव-पुद्गलों के स्थिर होने का हेतुत्व स्थिति का; अर्थात्, स्थिर होने का निमित्तपना अधर्म का विशेषगुण है।...........उन-उन विशेषगुणों के द्वारा उन-उन अमूर्तद्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है, सिद्ध होता है।...........एक ही काल में स्थितिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक स्थिति का हेतुपना अधर्म को बतलाता है, क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी होने से उनके वह सम्भव नहीं है। जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र हैं; इसलिये उसके वह सम्भव नहीं है। लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह सम्भव नहीं है और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से धर्म के वह सम्भव नहीं है।............इस प्रकार (स्थितिहेतुत्व) गुण विशेष से (अधर्मद्रव्य) द्रव्य विशेष जानना चाहिए।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७५ से २७७)

प्रश्न १४- क्या अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्वगुण गमन करते हुये जीव और पुद्गलों को स्थिर करता है?

उत्तर- नहीं! गति करते हुये जीव और पुद्गल स्वयं क्रियावतीशक्ति के स्थिररूप परिणमन के कारण स्थिर होते हैं। अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्वगुण उन्हें स्थिर नहीं करता; मात्र निमित्तकारण है।

-'अधर्म (जीव पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता) नहीं है। वह (अधर्म)

वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को ही प्राप्त नहीं होता। तो फिर उसे (पर के) **सहस्थायी**[1] के रूप में पर के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्तृत्व कहाँ से होगा? (नहीं हो सकता।).............अधर्म जीव-पुद्गलों को (गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गतिपूर्वक स्थिति का उदासीन ही प्रसारक (अर्थात्, गतिपूर्वक-स्थितिप्रसार का उदासीन ही निमित्त) है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८ की टीका, पृष्ठ १४०)

-'विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति।। ८९।।'

अन्वयार्थ- जिन्हें गति होती हैं, उन्हीं को फिर स्थिति होती है। वे (गतिस्थितिमान पदार्थ) तो अपने परिणामों से गति और स्थिति करते हैं।

टीका- वास्तव में (निश्चय से) धर्म (द्रव्य) जीव-पुद्गलों को कभी गतिहेतु नहीं होता; अधर्म (द्रव्य) कभी स्थितिहेतु नहीं होता, क्योंकि वे पर को गतिस्थिति के यदि मुख्यहेतु (निश्चयहेतु) हों, तो जिन्हें गति हो उन्हें गति ही रहना चाहिए; स्थिति नही होना चाहिए और जिन्हें स्थिति हो, उन्हें स्थिति ही रहना चाहिए; गति नही होना चाहिए। किन्तु एक को ही (उसी एक पदार्थ को) गति और स्थिति देखने में आती है; इसलिये अनुमान हो सकता है कि वे (धर्म-अधर्म) गति-स्थिति के मुख्य-हेतु नहीं हैं, किन्तु व्यवहारनय स्थापित उदासीनहेतु हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८९, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १४१-१४२)

-'जैसे शुद्धात्मस्वरूप में स्थिति का कारण निश्चय से वीतराग निर्विकल्प स्वसवेदन है और व्यवहार से अर्हन्त सिद्धादि परमेष्ठी के गुणों का स्मरण है, वैसे ही जीव-पुद्गलो की स्थिति का निश्चयकारण अपना उपादानकारण है तथा व्यवहारकारण अधर्मद्रव्य है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ५४)

-'बहुरि जैसैं पंथी जननि कैं स्थान करने का साधन भूत छाया है। तैसैं स्थान-क्रियावान जे जीव-पुद्गल, तिनके स्थान क्रिया का साधनभूत अधर्मद्रव्य है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६०५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६९१)

-'ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।। १८।।'

गाथार्थ- स्थितियुक्त पुद्गल और जीवों को स्थिति मे सहकारीकारण अधर्मद्रव्य है। जिस प्रकार छाया यात्रियों की स्थिति में सहकारी है, उसी प्रकार गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को

१. **सहस्थायी**- साथ में स्थिति (स्थिरता) करनेवाला।
(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८८, पृष्ठ १४० की पादटिप्पणी)

अधर्मद्रव्य स्थिर नहीं करता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १८ व गाथार्थ, पृष्ठ ६५)

प्रश्न १५- क्या अधर्मद्रव्य आकाश, धर्म, और कालद्रव्य की स्थिति में भी निमित्त है?

उत्तर- नहीं! क्योंकि वे भी गतिपूर्वक स्थिर रहनेवाले द्रव्य नहीं हैं, परन्तु त्रिकाल स्थिर हैं। गतिपूर्वक स्थिर से तात्पर्य है कि जो चलकर ठहरते हैं- ऐसे जीव-पुद्‌गलों को अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्वगुण निमित्त होता है।

-'स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमित जीव और पुद्‌गलों के स्थिर रहने में जो निमित्त हो, उसे अधर्मास्तिकाय द्रव्य कहते हैं; जैसे, मुसाफिर को ठहरने में वृक्ष की छाया। सर्वदा स्थिर रहनेवाले धर्मास्तिकाय, आकाश, और कालद्रव्य (जो अनादि से स्थिर ही है) की स्थिति में अधर्मद्रव्य की निमित्तता नहीं है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ५३)

प्रश्न १६- 'स्थितिहेतुत्वगुण' अधर्मद्रव्य का विशेषगुण है- इससे क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- अधर्मद्रव्य में स्थितिहेतुत्वगुण तो है, परन्तु ज्ञानगुणरहित होने से ज्ञानस्वभावी अधर्म-द्रव्य अचेतन है; अत: आत्मा का अधर्मद्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- ऐसा सिद्ध हो जाता है।

-'णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति।। ३९९।।'

गाथार्थ- अधर्म (अर्थात् अधर्मास्तिकाय) ज्ञान नही है, क्योंकि अधर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिये ज्ञान अन्य है, अधर्म अन्य है- ऐसा जिनदेव कहते हैं।

टीका- अधर्म (अधर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और अधर्म के व्यतिरेक (भिन्नता) है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३९९, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५४७, ५४९ व ५५१)

प्रश्न १७- स्थितिहेतुत्वगुण के धारक अधर्मद्रव्य को जानकर भव्यजीव का कर्तव्य क्या है?

उत्तर- अधर्मद्रव्य स्वतन्त्र द्रव्य है। स्थितिहेतुत्व आदि अनन्तगुणों का अभेद पिण्ड है। मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मा से सर्वथा भिन्न है- ऐसा जानकर अधर्मद्रव्य से सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप निज आत्मा की पहचान करना ही भव्यजीव का परम कर्तव्य है।

-'जो द्रव्य गमन का निमित्त है, जो द्रव्य स्थिति का कारण है...........उन सबको सम्यक् द्रव्यरूप में अवलोकित करके (यथार्थतया स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में समझकर) भव्यसमूह सर्वदा निजतत्त्व में प्रवेश करो।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ५४)

-'तथैव च स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं स्थितिहेतुत्वं विशेषगुण-त्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सदधर्मद्रव्यं निश्चिनोति।........अयमत्रार्थ- यद्यपि पञ्चद्रव्याणि (अधर्मादिद्रव्याणि) जीवस्योपकारं कुर्वन्ति तथापि तानि दुःखकारणान्येवेति ज्ञात्वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनो-पयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्तव्यमिति।।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३ व १३४ की श्रीजयसेनाचार्य, संस्कृत टीका, पृष्ठ २७५-२७७)

प्रश्न १८- स्थितिहेतुत्वगुण को कब माना और कब नहीं माना?

उत्तर- गति करते हुये जीव और पुद्गल अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण स्थितिरूप परिणमते हैं; उसमें अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्वगुण निमित्तमात्र है। वह (स्थितिहेतुत्वगुण) गति करते हुये जीव और पुद्गलों को नहीं रोकता- ऐसा माननेवाले ने स्थितिहेतुत्वगुण को माना; परन्तु जीव के कारण शरीर और शरीर के कारण जीव का रुकना माननेवाले ने स्थितिहेतुत्वगुण को निमित्त न मानकर स्वयं को या शरीर को निमित्त मानने के कारण स्थितिहेतुत्वगुण को नहीं माना।

अवगाहनहेतुत्वगुण

प्रश्न १९- अवगाहनहेतुत्व क्या है?

उत्तर- अवगाहनहेतुत्व आकाशद्रव्य का विशेषगुण है।

-'युगपत सर्वद्रव्यों के साधारण अवगाह का हेतुपना आकाश का विशेषगुण है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ का भावार्थ, पृष्ठ २७५)

-'जिसमें सब द्रव्य रहते हैं, ऐसे अवगाहनगुण को धारण करता है; वह आकाश-द्रव्य है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१३ का भावार्थ, पृष्ठ ९६)

-'आकाश का अवगाहनागुण है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ७२)

-'आकाश का अवकाशदानरूप लक्षण ही विशेषगुण है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३० की टीका, पृष्ठ ६४)

प्रश्न २०- 'अवगाहनहेतुत्व' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर- आकाश एक अखण्ड और सर्वव्यापी द्रव्य है। 'अवगाहनहेतुत्व' उसका विशेषगुण है। जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल- ये पाँच द्रव्य रहते हैं; उसे लोकाकाश कहते हैं और लोक के बाहर अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। विश्व के सभी द्रव्य अपने-अपने प्रदेशों (क्षेत्र) में रहते हैं; अर्थात्, उनका अपना-अपना अवगाहन होता है। उस अवगाहन में आकाशद्रव्य

का अवगाहनहेतुत्वगुण मात्र निमित्त होता है। यह 'अवगाहनहेतुत्व' से तात्पर्य है।

-'जगत की प्रत्येक वस्तु का अपना क्षेत्र होता है; अर्थात्, उसे लम्बाई-चौड़ाई होती है; यानी उसे अपना अवगाहन होता है। वह अवगाहन अपना उपादानकारण हुआ और उसमें निमित्तकारण दूसरी वस्तु होती है।............(जो) अवगाहन में निमित्तकारणरूप है उसे "आकाशद्रव्य" कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३८४)

-'निवास करनेवालों कौं वसतिका जो बसने का क्षेत्र, सो कारण है। तैसैं............. अवगाह का कारण आकाशद्रव्य है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६७ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६३)

प्रश्न २१- अवगाहनहेतुत्वगुण आकाशद्रव्य के अस्तित्व को किस प्रकार सिद्ध करता है?

उत्तर- जीवादिक पाँचों द्रव्य अपने-अपने क्षेत्रों मे रहते हैं। वह अवगाहन अपना उपादानकारण हुआ, परन्तु जीवादिक द्रव्यों की इस अवगाहना का निमित्तकारण कौन है? एक ही काल में सभी द्रव्यों को साधारण अवगाह की निमित्तभूतता आकाश को बतलाती है, क्योंकि बाकी द्रव्य सर्वव्यापक नहीं है; अत: उनके वह सम्भव नहीं है। इस प्रकार 'अवगाहनहेतुत्वगुण' आकाशद्रव्य के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

-'युगपत् सर्व द्रव्यों के साधारण **अवगाह**[1] का हेतुपना आकाश का विशेषगुण है।... ....वहाँ एक ही काल में समस्त द्रव्यों को साधारण अवगाह का सम्पादन (अवगाहहेतुपनेरूप लिङ्ग) आकाश को बतलाता है, क्योंकि शेष द्रव्यों के सर्वगत (सर्वव्यापक) न होने से उनके वह सम्भव नहीं है।..............इस प्रकार गुणविशेष (अवगाहनहेतुत्व) से द्रव्यविशेष (आकाश) जानना चाहिए।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७५-२७७)

-'जगत के समस्त पदार्थ अनादि हैं और सभी के अपना-अपना क्षेत्र है। वह उसका अवगाहन है। अवगाहन में निमित्त होनेवाली वस्तु समस्त अवगाहन लेनेवाले द्रव्यों से बड़ी होनी चाहिए। जगत में ऐसी एक वस्तु अवगाहन में निमित्तकारणरूप है, उसे आकाशद्रव्य कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५ का उपसंहार, पृष्ठ ३८४)

प्रश्न २२- क्या आकाशद्रव्य का अवगाहनहेतुत्वगुण जीवादिक द्रव्यों को रहने के लिये स्थान देता है?

उत्तर- जीवादिक द्रव्य अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं। आकाशद्रव्य का 'अवगाहनहेतुत्वगुण'

---

१. **अवगाह**- लीन होना; मज्जित होना; अवकाश प्राप्त करना।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४, पृष्ठ २७५ की पादटिप्पणी)

उसमें मात्र निमित्तकारण है।

-'बहुरि जैसे बास करनेवालों के साधनभूत बसतिका है। तैसैं अवगाह क्रियावान जे **जीव**-पुद्गलादिक द्रव्य तिनिकैं अवगाह क्रिया का साधनभूत आकाशद्रव्य है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६०५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६९१-६९२)

-'तीर्थस्वरूप पुरुष के द्वारा सेवित भूमि-जलादिरूप स्थान भी उपचार से तीर्थ (कहा जाता) है। इस प्रकार सरलता से बोध होने के लिये कहा जाता है। उसी प्रकार सर्व द्रव्य यद्यपि निश्चयनय से अपने प्रदेशों में रहते हैं, तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से लोकाकाश में रहते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १९ की टीका, पृष्ठ ६७)

-'पदार्थ रहते तो हैं स्वक्षेत्र में, आकाश उन्हे निमित्त है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, वीतरागविज्ञान, भाग ३, पृष्ठ ९५)

प्रश्न २३- क्या अवगाहनशक्ति किसी अन्य द्रव्य में भी है?

उत्तर- जैसे आकाश मे सब द्रव्यों को अवगाहन देने की शक्ति है, वैसी अवगाहन देने की शक्ति सभी द्रव्यों में है।

-'सव्वाणं दव्वाणं, अवगाहणसत्ति अत्थि परमत्थं।
जह भसमपाणियाणं, जीवपएसाण जाण बहुयाणं।। २१४।।'

अन्वयार्थ- सब ही द्रव्यों के परस्पर परमार्थ से (निश्चय से) अवगाहना देने की शक्ति है; जैसे, भस्म और जल के अवगाहनशक्ति है, वैसे ही जीव के असंख्यात प्रदेशों के जानना चाहिए।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१४ व अर्थ, पृष्ठ ९६)

प्रश्न २४- जब सभी द्रव्यों में अवगाहनशक्ति है, तो 'अवगाहनहेतुत्वगुण' आकाश का असाधारण (विशेष) गुण कैसे है?

उत्तर- परस्पर तो अवगाह सभी द्रव्य देते हैं, परन्तु आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है; इसलिये इसमें सभी द्रव्य एक साथ समाते हैं। यह आकाश के अवगाहनहेतुत्वगुण की असाधारणता है।

-'यद्यपि अवगाहगुण समस्त द्रव्यों में है, तथापि आकाश में यह गुण सबसे बड़ा है, क्योंकि यह समस्त पदार्थों को साधारण एक साथ अवकाश देता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ३३९)

-'**बहुरि प्रश्न**- जौ ऐसैं हैं तो सूक्ष्म पुद्गलादिकनि कैं भी अवगाहहेतुत्व स्वभाव आया। आकाश ही का असाधारण लक्षण कैसैं कहिए है? **तहाँ उत्तर**- जो सर्व पदार्थनि कौं साधारण अवगाहहेतुत्व इस आकाश ही का असाधारण लक्षण है। और द्रव्य सर्व द्रव्यनि कौं अवगाह देने कौं

समर्थ नाहीं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६०५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६९२)

प्रश्न २५- क्रियापूर्वक अवगाह करनेवाले जीव और पुद्गल को अवकाश दान देना ठीक है; किन्तु क्षेत्रान्तर की क्रिया से रहित धर्म, अधर्म, और कालद्रव्य जो कि आकाश के साथ नित्य सम्बन्धरूप है, उन्हें भी आकाश अवकाश दान देता है- यह किस प्रकार है?

उत्तर- जैसे आकाश गतिरहित है तो भी उसे सर्वगत कहा जाता है; उसी प्रकार धर्म, अधर्म, और काल द्रव्य गतिरहित हैं, तो भी लोकाकाश में उनकी व्याप्ति है; इसलिये यह उपचार किया जाता है कि आकाश उन्हें अवगाहन देता है।

-'जो उपचार करि कहिए हैं; जैसैं, गमन का अभाव होते संतैं भी सर्वत्र सद्भाव की अपेक्षा आकाश कौं सर्वगत कहिए हैं। तैसैं धर्मादिक द्रव्यनि कैं अवगाह क्रिया का अभाव होते संतैं भी लोक विषैं सर्वत्र सद्भाव की अपेक्षा अवगाह का उपचार कीजिए है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६०५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६९२)

प्रश्न २६- 'अवगाहनहेतुत्वगुण' आकाशद्रव्य का विशेषगुण है- इससे क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- आकाशद्रव्य में अवगाहनहेतुत्वगुण तो है, परन्तु ज्ञानस्वभावी ज्ञानगुणरहित होने से आकाशद्रव्य अचेतन है; अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा का आकाशद्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- यह सिद्ध हो जाता है।

-'आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति।। ४०१।।'

गाथार्थ- आकाश भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है; इसलिये ज्ञान अन्य है, आकाश अन्य है- ऐसा जिनदेव कहते हैं।

टीका- आकाश (आकाशद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और आकाश के व्यतिरेक हैं।

(श्रीसमयसार, गाथा ४०१, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५४७, ५५० व ५५१)

प्रश्न २७- अवगाहनहेतुत्वगुण के धारक आकाशद्रव्य को जानकर भव्यजीव का कर्तव्य क्या है?

उत्तर- आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है। अवगाहनहेतुत्वादि अनन्तगुणों का अभेद पिण्ड है। मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मा से सर्वथा भिन्न है- ऐसा जानकर आकाशद्रव्य से सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप निजात्मा की पहचान करना ही भव्यजीव का परम कर्तव्य है।

-'शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव मोक्ष का कारण है। सर्व प्रकार से उपादेयरूप शुद्ध

जीवास्तिकाय से आकाशद्रव्य भिन्न है; इसलिये वह हेय है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १९ का तात्पर्य, पृष्ठ ५६)

–'**इह गमननिमित्तं यत्स्थितेः कारणं वा यदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम्।**

तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक् प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोकः।। ४६।।'

श्लोकार्थ– यहाँ ऐसा आशय है कि जो (द्रव्य) गमन का निमित्त है, जो (द्रव्य) स्थिति का कारण है, और दूसरा जो (द्रव्य) सर्व को स्थान देने में प्रवीण है, उन सबको सम्यक् द्रव्यरूप से अवलोककर (यथार्थतः स्वतन्त्र द्रव्यरूप से समझकर), भव्यसमूह सर्वदा निज तत्त्व में प्रवेश करो।

(श्रीनियमसार, श्लोक ४६ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ६४–६५)

–'**सर्वद्रव्याणां साधारणमवगाहहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सदाकाशं निश्चिनोति।.............अयमत्रार्थ– यद्यपि पञ्चद्रव्याणि (आकाशादिद्रव्याणि) जीवस्योपकारं कुर्वन्ति तथापि तानि दुःखकारणान्येवेति ज्ञात्वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्तव्यमिति।।**'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३–१३४ की श्रीजयसेनाचार्य कृत टीका, पृष्ठ २७४ से २७७)

प्रश्न २८– 'अवगाहनहेतुत्वगुण' को कब माना और कब नहीं माना?

उत्तर– सभी द्रव्य अपने-अपने क्षेत्र में रहते हैं। उसमें आकाशद्रव्य का अवगाहनहेतुत्वगुण निमित्तमात्र है– ऐसा माननेवाले ने अवगाहनहेतुत्वगुण को माना, परन्तु 'मैं शरीर में रहता हूँ, मैं मकान में रहता हूँ', आदि उल्टी मान्यतावाले ने अवगाहनहेतुत्वगुण को निमित्त न मानकर शरीर, मकान, आदि को निमित्त मानने के कारण अवगाहनहेतुत्वगुण को नहीं माना।

परिणमनहेतुत्वगुण

प्रश्न २९– परिणमनहेतुत्व क्या है?

उत्तर– परिणमनहेतुत्व लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्यों का विशेषगुण है।

–'(काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों की प्रति-पर्याय में समयवृत्तिका हेतुपना (समय-समय की परिणति का निमित्तत्त्व) काल का विशेषगुण है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३–१३४ की टीका, पृष्ठ २७५)

–'मुख्य कालद्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश की पर्यायपरिणति का हेतु होने से उसका लिङ्ग परिवर्तन है (अर्थात्, कालद्रव्य का लक्षण वर्तनाहेतुत्व है)।'

(श्रीनियमसार, गाथा ३३ की टीका, पृष्ठ ७०)

-'कालद्रव्य का वर्तना तो गुण है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा १८ की टीका, पृष्ठ ७२)

-'वर्तना लक्षणवाला परमार्थकाल है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा २१ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ५९)

प्रश्न ३०- 'परिणमनहेतुत्व' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर- सभी द्रव्य अनादिअनन्त अपने-अपने परिणमन स्वभाव के कारण परिणमन करते हैं। उसमें कालद्रव्य का 'परिणमनहेतुत्वगुण' निमित्त होता है; वह द्रव्यों को परिणमन नहीं कराता। यह परिणमनहेतुत्व से तात्पर्य है।

-'सब द्रव्यों की पर्यायें प्रतिसमय उत्पन्न व नष्ट होती रहती हैं। इस प्रकार के परिणमन में निमित्त कालद्रव्य है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१६ का भावार्थ, पृष्ठ ९८)

-'सर्वद्रव्य अपने-अपने उपादानकारण से अपनी पर्याय के उत्पादरूप वर्तते हैं। उसमें बाह्य निमित्तकारण कालद्रव्य है। (यह वर्तना; अर्थात्, परिणमनहेतुत्व से तात्पर्य है।)'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ३४३)

-'**वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत्।**
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत्।। ४८।।'

श्लोकार्थ- कुम्हार के चक्र की भाँति (अर्थात् जिस प्रकार घड़ा बनने में कुम्हार का चाक निमित्त है, उसी प्रकार) यह परमार्थकाल (पाँच अस्तिकायों की) वर्तना का निमित्त है। उसके बिना पाँच अस्तिकायों को वर्तना (परिणमन) नहीं हो सकती।

(श्रीनियमसार, श्लोक, ४८ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ६९)

-'अपने उपादानरूप से स्वयमेव परिणमित पदार्थों को- कुम्हार के चाक को फिरने में नीचे की कीली के सहकारीपने की भाँति; शीतकाल में अध्ययन करते हुये विद्यार्थी को अध्ययन में अग्नि के सहकारीपने की भाँति; पदार्थपरिणति में जो सहकारीपना, उसे वर्तना (अर्थात् परिणमनहेतुत्व) कहते हैं।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ की टीका, पृष्ठ ७०-७१)

प्रश्न ३१- 'परिणमनहेतुत्वगुण' कालद्रव्य के अस्तित्व को किस प्रकार सिद्ध करता है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य कायम रहकर एक अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्थारूप से होता है, उसे परिणमन कहते हैं। इस परिणमन में प्रत्येक वस्तु की निज शक्ति उपादानकारण है, क्योंकि यदि निज (स्वयं) में वह शक्ति न हो, तो स्वयं न परिणमे। अब प्रश्न उठता है कि इन द्रव्यों के परिणमन में निमित्तकारण कौन है? द्रव्यों के परिणमन के हेतुपनेरूप जो द्रव्य है, वह कालद्रव्य है। इस प्रकार

परिणमनहेतुत्वगुण कालद्रव्य को सिद्ध करता है।

-'(काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों की प्रति-पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना (समय-समय की परिणति का निमित्तत्व) काल का विशेषगुण है।.............(काल के अतिरिक्त) **शेष समस्त द्रव्यों के प्रत्येक पर्याय में**, समयवृत्ति का हेतुपना काल को बतलाता है, क्योंकि उनके **समयविशिष्ट**[१] वृत्ति कारणान्तर से सधती होने से (अर्थात्, उनके समय से विशिष्ट ऐसी परिणति अन्य कारण से होती है इसलिये) स्वत: उनके वह (समयवृत्ति हेतुपना) सम्भवित नहीं है।............इस प्रकार गुणविशेष (परिणमनहेतुत्व) से द्रव्यविशेष (कालाणु) जानना चाहिए।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की टीका, पृष्ठ २७५ से २७७)

-'वर्ते वा वर्तनमात्र होई, ताकौं वर्तना कहिए। सो धर्मादिक द्रव्य अपने अपने पर्यायनि की निष्पत्ति विषैं स्वयमेव वर्तमान हैं। तिनके बाह्य कोई कारणभूत उपकार बिना सो प्रवृत्ति संभवै नाहीं; तातैं तिनकैं तिस प्रवृत्ति करावने कौं कारण कालद्रव्य है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६३)

प्रश्न ३२- क्या कालद्रव्य का परिणमनहेतुत्वगुण सब द्रव्यों को परिणमाता है?

उत्तर- परिणमन करने की स्वभावभूत शक्ति सब द्रव्यो में है। कालद्रव्य का परिणमहेतुत्वगुण तो निमित्तमात्र है।

-'णियणियपरिणामाणं, णियणियदव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं बाहिरदव्वं, णिमित्तमित्तं वियाणेह।। २१७।।'

अन्वयार्थ- सब द्रव्य अपने-अपने परिणमन के उपादानकारण हैं; अन्य बाह्य द्रव्य (कालद्रव्य) हैं; वे अन्य के निमित्तमात्र जानों।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९८)

-'ण य परिणमदि सयं सो, ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं
विविहपरिणामियाणं, हवदि हु कालो सयं हेदू।। ५७०।।'

टीका- सो कालसंक्रम जो पलटना, ताका विधान करि अपने गुणनि करि परद्रव्यरूप होइ नाहीं परिणवै है। बहुरि परद्रव्य के गुणनि कौं अपने विषैं नाही परिणमावैं है। बहुरि हेतुकर्ता प्रेरक होइकरि भी अन्य द्रव्य कौं अन्य गुणनि करि सहित नाहीं परिणमावैं है। तौ नानाप्रकार परिणमनि कौं धरैं जे द्रव्य स्वयमेव परिणमें हैं, तिनकौं उदासीन सहज निगित्त मात्र हो है। जैसैं, मनुष्य कैं प्रभात सम्बन्धी क्रिया कौं प्रभातकाल कारण है। क्रियारूप तौ स्वयमेव मनुष्य ही प्रवर्तैं हैं, परन्तु तिनिकौं

१. **समयविशिष्ट**- 'काल में अतिरिक्त द्रव्यों की परिणति "एक समय मे यह परिणति हुई है"- इस प्रकार समय से विशिष्ट है; अर्थात्, व्यवहार से उसमें समय की अपेक्षा आती है; इसलिये उसमे कोई द्रव्य-कालद्रव्य- निमित्त होना चाहिए।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४, पृष्ठ २७६ की पादटिप्पणी)

निमित्तमात्र प्रभात का काल हो है, तैसैं जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५७० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६६५)

-'जीव पुद्गलों के परिणाम बहिरङ्गद्रव्यभूत द्रव्यकाल के सद्भाव में उत्पन्न होते हैं; इसलिये वे द्रव्यकाल से उत्पन्न हुये कहे जाते हैं। निश्चयकाल की सिद्धि करने के लिये ही ऐसा कहने की शास्त्र-पद्धति है। वास्तव में वह परिणाम तो अपने उपादानकारण से होता है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा २१ का भावार्थ, पृष्ठ ६०)

प्रश्न ३३- 'परिणमनहेतुत्वगुण' कालद्रव्य का विशेषगुण है- इससे क्या सिद्ध होता है?

उत्तर- कालद्रव्यो मे परिणमनहेतुत्वगुण तो है, परन्तु ज्ञानगुणरहित होने से कालद्रव्य अचेतन हैं; अत: ज्ञानस्वरूप आत्मा का कालद्रव्यों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- यह सिद्ध हो जाता है।

-**'कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति।। ४००।।'

गाथार्थ- काल ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल कुछ जानता नहीं है; इसलिये ज्ञान अन्य है, काल अन्य है- ऐसा जिनदेव कहते हैं।

टीका- काल (कालद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और काल के व्यतिरेक है।

(श्रीसमयसार, गाथा ४००, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५४७, ५४९ व ५५१)

प्रश्न ३४- 'परिणमनहेतुत्वगुण' के धारक कालद्रव्य को जानकर भव्यजीव का कर्तव्य क्या है?

उत्तर- लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर विराजमान प्रत्येक कालाणु स्वतन्त्र द्रव्य है। परिणमनहेतुत्वादि अनन्तगुणों का अभेद पिण्ड है। मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मा से सर्वथा भिन्न है- ऐसा जानकर लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्यों से सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप निजात्मा की पहचान करना ही भव्यजीव का परम कर्तव्य है।

-**'न च भवति फलं मे तेन कालेन किंचिद् निजनिरुपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय।। ४७।।'**

श्लोकार्थ- शुद्ध एक निजनिरुपमतत्त्व को छोड़कर उस काल से मुझे कोई फल नहीं है।

(श्रीनियमसार, श्लोक ४७ का उत्तरार्द्ध व श्लोकार्थ, पृष्ठ ६७)

-**'सर्वद्रव्याणां युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सकालद्रव्यं निश्चिनोति।............अयमत्रार्थ:- यद्यपि पञ्चद्रव्याणि (कालादिद्रव्याणि) जीवस्योपकारं कुर्वन्ति तथापि तानि दु:खकारणान्येवेति ज्ञात्वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्तव्यमिति।।'**

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १३३-१३४ की श्रीजयसेनाचार्य कृत टीका, पृष्ठ २७५ से २७७)

प्रश्न ३५- 'परिणमनहेतुत्वगुण' को कब माना कब नहीं माना?

उत्तर- छहों द्रव्य अपने-अपने परिणमनस्वभाव के कारण अपनी-अपनी अवस्थारूप से स्वयं स्वत: परिणमित होते हैं। उसमें कालद्रव्य का परिणमनहेतुत्वगुण निमित्त होता है- ऐसा माननेवाले ने परिणमनहेतुत्वगुण को माना; और छहों द्रव्य अपनी-अपनी अवस्थारूपसे स्वयं स्वत: परिणमित होते हैं, परन्तु 'मैं निमित्त तो हूँ ना'- ऐसा माननेवाले ने परिणमनहेतुत्वगुण को निमित्त न मानकर स्वयं को निमित्त मानने के कारण परिणमनहेतुत्वगुण को नहीं माना।

卐

शरीर में रोग आये; स्वाध्याय न हो सके, तो क्या करना?

प्रश्न- शरीर में रोग आये तब क्या करना?

उत्तर- शरीर तो स्वतन्त्र द्रव्य है। गुरुदेव फरमाते हैं कि आत्मा अलग है और शरीर अलग है। दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र हैं। शरीर शरीर का काम करता है। आत्मा अपना काम करता है। सङ्कल्प-विकल्प जो होते हैं वे भी अपना स्वरूप नहीं, शरीर क्या अपना होगा? वह तो परद्रव्य है। शरीर और आत्मा का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अलग है। आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ है; उसकी भावना आत्मा में की जा सकती है। मैं ज्ञायक हूँ, शाश्वत हूँ, अनन्त सुख से परिपूर्ण हूँ, इस प्रकार उसकी भावना करना, उसका विचार करना, आत्मा का स्मरण करना। उसके लिये उसी प्रकार का चिन्तवन-स्वाध्याय करना।

प्रश्न- शरीर की तकलीफ के समय स्वाध्याय न हो सके, तो क्या करना?

उत्तर- गुरुदेव ने जो मन्त्र दिया है वह याद करना। बस, आत्मा का कल्याण किस प्रकार हो, उसकी भावना करनी। आत्मा आनन्द से भरा हुआ है। शरीर की तकलीफ के समय वाचन (स्वाध्याय) न हो सके तो खेद नहीं करना। खेद आ जाये तो मन को बदलना चाहिए। शरीर है तो उसके अनेक प्रकार का उदय आता है और जाता है। ये एक धर्म गुरुदेव ने बताया है वह प्राप्त हो तो महाभाग्य की बात है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्नोत्तर संख्या १४०, पृष्ठ ९८)

अनुजीवी और प्रतिजीवीगुण

प्रश्न १- अनुजीवीगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- वस्तु के भावस्वरूपी गुणों को अनुजीवीगुण कहते हैं; जैसे, दर्शन-ज्ञानरूप चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि।

-'भावस्वरूप गुणों को अनुजीवीगुण कहते हैं; जैसे, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, चेतना, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादिक।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ६८, पृष्ठ १४)

-'वस्तु में भावस्वरूप गुण अनुजीवीगुण कहे जाते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ८, सूत्र ४ की टीका, पृष्ठ ५२०)

प्रश्न २- प्रतिजीवीगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- वस्तु के अभावस्वरूपी गुणो को प्रतिजीवीगुण कहते हैं; जैसे, नास्तित्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि।

-'वस्तु के अभावस्वरूप धर्म को प्रतिजीवीगुण कहते हैं; जैसे, नास्तित्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ६९, पृष्ठ १४)

-'वस्तु में............अभावस्वरूप गुण प्रतिजीवीगुण कहे जाते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ८, सूत्र ४ की टीका, पृष्ठ ५२०)

[**विशेष-** श्रीपञ्चाध्यायी में अनुजीवीगुणों को असाधारण (विशेष) और प्रतिजीवीगुणों को साधारण (सामान्य) गुण बताया है। यथा-

-'प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं। कुछ तो वे होते हैं जो दूसरे द्रव्यों में न पाये जाकर केवल उसी में पाये जाते हैं। ये असाधारण गुण कहलाते हैं; इनकी दूसरी संज्ञा "अनुजीवी" भी है; और कुछ वे गुण होते हैं जो विवक्षित द्रव्य के सिवा अन्य द्रव्यों में भी यथासम्भव पाये जाते हैं। ये साधारण गुण कहलाते हैं; इनकी दूसरी संज्ञा "प्रतिजीवी" भी है।'

-श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९३९ से ९४३ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३०१]

प्रश्न ३- जीव के अनुजीवीगुण कौनसे हैं?

उत्तर- चेतना अर्थात् दर्शन-ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, सुख, भव्यत्व, अभव्यत्व, वैभाविकत्व, क्रियावतीशक्ति आदि अनन्त अनुजीवीगुण प्रत्येक जीव में पाये जाते हैं।

- 'चेतना (दर्शन-ज्ञान), श्रद्धा (सम्यक्त्व), चारित्र, सुख, वीर्य, भव्यत्व, अभव्यत्व, वैभाविकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, क्रियावतीशक्ति- आदि जीव के अनुजीवीगुण हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २०१, पृष्ठ ६० तथा जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ७६, पृष्ठ १६)

प्रश्न ४- जीव के प्रतिजीवीगुण कौनसे हैं?

उत्तर- अव्याबाधत्व, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व आदि प्रतिजीवीगुण हैं।

- 'अव्याबाध, अवगाह, अगुरुलघु, सूक्ष्मत्व, नास्तित्व इत्यादि जीवके प्रतिजीवीगुण हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ७७, पृष्ठ १६ तथा श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २०२, पृष्ठ ६०)

प्रश्न ५- अव्याबाधत्व प्रतिजीवीगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- वेदनीयकर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्ध पर्याय प्रगट होकर साता और असातारूप आकुलता का अभाव हो जाता है, उसे अव्याबाधत्व प्रतिजीवीगुण कहते हैं।

- 'साता और असातारूप आकुलता के अभाव को अव्याबाध प्रतिजीवीगुण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १३१, पृष्ठ २७)

- 'वेदनीयकर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्ध पर्याय प्रगट हो, उसे (उस गुण को) अव्याबाध प्रतिजीवीगुण कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २०३, पृष्ठ ६०)

प्रश्न ६- अवगाहनत्व प्रतिजीवीगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- आयुकर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और परतन्त्रता का अभाव हो जाता है, उसे अवगाहनत्व प्रतिजीवीगुण कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २०४, पृष्ठ ६०)

- 'परतन्त्रता के अभाव को अवगाह प्रतिजीवीगुण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १३२, पृष्ठ २८)

प्रश्न ७- अगुरुलघुत्व प्रतिजीवीगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- गोत्रकर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और उच्चता-नीचता का व्यवहार दूर हो जाता है, उसे अगुरुलघुत्व प्रतिजीवीगुण कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २०५, पृष्ठ ६१)

-'उच्चता और नीचता के अभाव को अगुरुलघुत्व प्रतिजीवीगुण कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १३३, पृष्ठ २८)

प्रश्न ८- सूक्ष्मत्व प्रतिजीवीगुण किसे कहते हैं?

उत्तर- नामकर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और इन्द्रियों के विषयरूप स्थूलता का अभाव होता है, उसे सूक्ष्मत्व प्रतिजीवीगुण कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २०६, पृष्ठ ६१)

-'इन्द्रियों के विषयरूप स्थूलता के अभाव को सूक्ष्मत्व प्रतिजीवीगुण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १३४, पृष्ठ २८)

प्रश्न ९- जीव के प्रतिजीवीगुणों की शुद्ध पर्याय कब प्रगट होती है?

उत्तर- आठों कर्मों के अभावपूर्वक सिद्धदशा की प्राप्ति होनेपर अव्याबाध, अगुरुलघु, अवगाहनत्व, और सूक्ष्मत्व आदि प्रतिजीवीगुणों की शुद्ध पर्यायें प्रगट हो जाती हैं।

-'सिद्धभगवान ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मों से रहित हैं और सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं। क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध- इन आठ गुणों से मण्डित हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा २०१ का भावार्थ, पृष्ठ ३०५)

-'अरिहन्त के अघातिकर्म शेष हैं; इसलिये बाह्य विवक्षा में (अव्याबाध, अवगाह, अगुरुलघु, और सूक्ष्मत्व) चार गुण व्यक्त नहीं हुए हैं।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ ६१)

प्रश्न १०- जीव के अनुजीवी और प्रतिजीवीगुणों के घात में कौन निमित्त है?

उत्तर- (१) जीव के अनुजीवीगुणों की पर्यायों के घात में चार घातियाकर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय) निमित्त होते हैं; और (२) जीव के प्रतिजीवीगुणों की पर्यायों के घात में चार अघातियाकर्म (वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र) निमित्त होते हैं।

-'ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय- ये चार घातियाकर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे जीव के अनुजीवीगुणों की पर्याय के घात में निमित्त हैं और बाकी के वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र- इन चार को अघातियाकर्म कहते हैं, क्योंकि ये जीव के अनुजीवीगुणों की पर्याय के घात में निमित्त नहीं, किन्तु प्रतिजीवीगुणों की पर्याय के घात में निमित्त हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ८, सूत्र ४ की टीका, पृष्ठ ५२०)

-'तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया।

घातकत्वाद् गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः।। ९९८।।

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघातिविवक्षया।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिवत्।। ९९९।।'

अर्थ- इनमें चार घातिकर्म हैं। यह इनकी सार्थक संज्ञा है, क्योंकि ये जीव के अनुजीवीगुणों को घात करते हैं- ऐसा आगम है।।९९८।। इनसे बचे हुए शेष चार कर्म अघाति कहलाते हैं। यद्यपि इनमें जीव के अनुजीवीगुणों को घातने की शक्ति नहीं है, तो भी इनमें कर्मशक्ति पायी जाती है।। ९९९।। तथा,

-'यह कहना कि फिर अघातिकर्मों का कोई काम ही नहीं रहता, सो यह बात भी नहीं है। वे जीव के प्रतिजीवीगुणों का घात करते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ९९८, ९९९, अर्थ और विशेषार्थ, पृष्ठ ३१०-३११)

-'ज्ञानावरण के उदय से ज्ञानभाव प्रकट नहीं होता; दर्शनावरण के उदय से दर्शनभाव प्रकट नहीं होता; वेदनीय के उदय से अव्याबाधगुण प्रकट नहीं होता; मोहनीय के उदय से सम्यक्त्वगुण प्रकट नहीं होता; आयुकर्म के उदय से अवगाहनगुण प्रकट नहीं होता; नामकर्म के उदय से सूक्ष्मत्वगुण प्रकट नहीं होता; गोत्रकर्म के उदय से अगुरुलघुगुण प्रकट नहीं होता; और अन्तराय कर्म के उदय से वीर्यगुण प्रकट नहीं होता। ये आठ मुख्य गुण हैं जो इन कर्मों के उदय से प्रकट नहीं होते।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ११३८-११४० का विशेषार्थ, पृष्ठ ३३८)

प्रश्न ११- घाति या अघातिकर्म जीव के अनुजीवी-प्रतिजीवीगुणों को घात करते हैं- इसका ज्ञान कराने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर- जीव के अनुजीवी-प्रतिजीवीगुणो के घात में घाति-अघातिकर्म निमित्त होते हैं। इसका ज्ञान कराने का प्रयोजन यह नहीं है कि घाति-अघातिकर्म जीव के गुणों का घात करते हैं। यहाँ तो **सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने का ही प्रयोजन है।** जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानादि **स्वभाव का घात करता है**; अर्थात्, ज्ञान आदि शक्ति को व्यक्त नहीं करता, तब उसके घात में किस **कर्म का उदय निमित्त होता है**- मात्र उसका ज्ञान कराना है। कर्म की अवस्था कर्म में ही होती है; जीव में नहीं। कर्मों का निमित्तपना तो अपूर्णता को बतलाता है और वह अपूर्णता एक समय की है; जीव के स्वभाव में नहीं है।

-'यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्य सामग्री को मिलावे; तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिए, और बलपानपना भी चाहिए। सो तो है नहीं। सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मों का उदयकाल हो, उस काल में स्वयं ही आत्मा

स्वभावरूप परिणमन नहीं करता; विभावरूप परिणमन करता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २५)

-'जिस प्रकार सोने के साथ हथौड़ी का सम्बन्ध नहीं है। हथौड़ी कहीं सोने को उत्पन्न करने में निमित्त नहीं है। परन्तु सोने की अवस्था होती है, उसमें वह निमित्तरूप है। निश्चय से तो उस आकार का कारण सोना ही है, परन्तु व्यवहार से उस आकार और हथौड़ी का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसी प्रकार आत्मा में त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं है, परन्तु वर्तमान अवस्था के साथ ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है- ऐसा जानना चाहिए।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ १३४)

दौड़त दौड़त दौड़ियो जितनी मन की दौड़

तीर्थों में जाकर भगवान को ढूंढता है। कहाँ है भगवान? अरे! तू स्वयं भगवान है, तेरे निकट ही भगवान है- उसे नहीं देखता।

तीर्थों में जाने से भगवान का स्मरण होता है कि भगवान यहाँ से मोक्ष पधारे थे; भगवान ने यहां साधना की थी। ऐसे स्मरण होने से स्वयं को भी भावना जाग्रत होती है। बाकी चैतन्य भगवान तो अपने पास है। 'दौड़त दौड़त दौड़ियो जितनी मन की दौड़' हर ओर दौड़ता फिरता है, परन्तु भीतर सबकुछ है; वहां नहीं देखता। 'गुरुगम लेना रे जोड़' तू गुरु आज्ञा से चलना- गुरुदेव कहते हैं कि तू स्वयं ही भगवान है। तू स्वयं अपने में है, भीतर खोज ले। अरे! अनन्तकाल बीत गया, स्वयं भगवान होने पर भी बाहर भटकता रहा। अपनी परिणति को देखता है, तो वेदन में सर्व विभावभाव, राग-द्वेष, कलुषितता, एवं आकुलता दिखाई देती है; चैतन्य भगवान अन्दर शुद्धता से परिपूर्ण है, वह तुझे दिखाई नहीं देता; इसलिये विश्वास नहीं आता। गुरुदेव कहते हैं कि 'तू भगवान है' तथापि उसे ऐसा लगता है कि भगवान तो कोई अलग ही होता है? 'मैं भगवान हूँ' -ऐसा विश्वास अन्तर में आना कठिन लगता है।

यह तो पूज्य गुरुदेव के प्रताप से वाणी का स्रोत प्रवाहित हुआ- और उसमें 'तू ही भगवान है'- ऐसा समझाया; इसलिये उसे विश्वास आता है, नहीं तो ऐसा लगता है कि हम भगवान कहाँ से हो सकते हैं? क्योंकि उसे अपने वेदन में अकेली कलुषितता भासती है। गुरुदेव ने इतना जोर देकर कहा है; इसलिये विश्वास बैठता है, तो ऐसा लगता है कि 'हम भगवान आत्मा हैं।'

(पू० बहनश्री चम्पाबेन)

गुणज्ञान के लाभ

प्रश्न १- छहों द्रव्यों के विशेषगुणों को सम्यक् प्रकार से जानना कब कहलायेगा?

उत्तर- निम्नलिखित सात सिद्धान्तों की सम्यक् स्वीकृति के बाद ही विशेषगुणो का ज्ञान सम्यक् कहलायेगा-

१. जिनमें ज्ञान-दर्शन की शक्ति है, वे सब जीव है; जिनमे मेरा ज्ञान-दर्शन नही है, वे सभी द्रव्य (दूसरे जीवोंसहित) मुझसे भिन्न हैं;

२. जिसमें स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण पाया जाये, वह पुद्गलद्रव्य है। पुद्गल मुझ जीव से सर्वथा भिन्न है;

३. जिसमें गतिहेतुत्वगुण पाया जाये, वह धर्मद्रव्य है। जीव-पुद्गल जब अपनी-अपनी क्रियावतीशक्ति से गमनरूप परिणमते हैं, तब धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्वगुण निमित्त होता है। वह जीव पुद्गलों को गमन नहीं कराता;

४. जिसमें स्थितिहेतुत्वगुण पाया जाये, वह अधर्मद्रव्य है। जीव-पुद्गल जब अपनी-अपनी क्रियावतीशक्ति से स्वयं स्वतः चलकर स्थिर होते हैं, तो अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्वगुण निमित्त होता है। अधर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों को स्थिर नहीं करता है;

५. जिसमें अवगाहनहेतुत्वगुण पाया जाये, वह आकाशद्रव्य है। सर्वद्रव्य अनादिकाल से अपने-अपने क्षेत्र में रहते हैं। उसमें आकाशद्रव्य निमित्त होता है;

६. जिनमें परिणमनहेतुत्वगुण पाया जाये, वे कालद्रव्य हैं। सर्वद्रव्य निज परिणमन स्वभाव के कारण स्वयं स्वतः परिणमते हैं। उसमें कालद्रव्य निमित्त है। कालद्रव्य परिणमन नहीं कराता; और

७. मुझ जीव का अन्य जीवों, पुद्गल- धर्म-अधर्म-आकाश, और कालद्रव्यों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अपने को आपरूप जानकर पर का अंश भी अपने में न मिलाये और अपना अंश भी पर में न मिलाये- तो छहों द्रव्यों के विशेषगुणों का जानना सम्यक् संज्ञा प्राप्त करेगा।

प्रश्न २- प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व-वस्तुत्वादि अनन्त सामान्यगुण और अनन्त विशेषगुण हैं।

अनन्त-अनन्त गुण द्रव्य के एक ही क्षेत्र में किस प्रकार रहते हैं?

उत्तर- अनन्त सामान्य व अनन्त विशेषगुण द्रव्य के एक ही क्षेत्र में एकतापूर्वक रहते हैं। सम्पूर्ण द्रव्य एकरूप होकर अखण्ड व्यापकरूप में विद्यमान हैं और प्रत्येक गुण भी सम्पूर्ण द्रव्य में व्यापक होकर रहता है। द्रव्य अनन्तगुणों में व्याप्त होनेपर भी एकरूप रहता है। प्रत्येक गुण भी अपना एकत्व रखकर सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त है; एक गुण अनेक गुणों में व्याप्त है। अनन्त गुणों में एक गुण व्यापक और एक गुण में अनन्त गुण व्यापक- इस प्रकार (१) सम्पूर्ण द्रव्य एकत्व को धारण किये हुए अखण्डरूप से रहता है, (२) द्रव्य में रहने वाले अनन्तगुण एक दूसरे से व्याप्त हैं; अर्थात्, एक गुण में दूसरे गुणों का रूप मौजूद रहता है, और (३) द्रव्य में रहनेवाले अनन्तगुण त्रिकाल एकत्र ही रहते हैं; वे पृथक् नहीं होते।

-'एक गुण मे सब गुणों का रूप होता है। वस्तु में अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण में सब गुणों का रूप होता है।..........वस्तुत्वगुण है, तो सब गुण सामान्य-विशेषरूप हैं। इस प्रकार प्रत्येक गुण सब गुणों में है और सबकी सिद्धि का कारण है।'

(चिद्विलास, अध्याय ५, पृष्ठ १०१)

-'एक गुण दूसरे अनन्त गुणों में व्याप्त होता है और एक गुण में दूसरे अनन्त गुण व्याप्त होते हैं। कोई एक गुण ऐसा नहीं है कि जिसमें दूसरे गुण व्याप्त न हों। देखो! यह आत्मा (द्रव्य) के अन्तरङ्ग समाज की एकता। अनन्त गुणों का समाज परस्पर व्याप्त होकर त्रिकाल ऐसी एकतापूर्वक विद्यमान है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ११५)

-'एक घर में रहनेवाले दस मनुष्य एक-दूसरे में व्याप्त नहीं हो सकते, परन्तु चैतन्यगृह में रहनेवाले अनन्त गुण एक-दूसरे में व्यापक हैं। एक ही घर में रहनेवाले दस व्यक्तियों में तो कोई कहीं से आया और कोई कहीं से; और अल्पकाल में कोई कहीं चला जाता है और कोई कहीं। वहाँ किसी का किसी के साथ कोई लेन-देन नहीं है; सब पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु आत्मा के गुण तो त्रिकाल एकत्र ही रहनेवाले हैं; वे कभी पृथक् नहीं होते।' तथा,

-'अस्तित्व को मुख्य करके देखो, तो आत्मा के समस्त गुणों में अस्तिपने का भास होता है; जीवत्वशक्ति को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में जीवत्व का भास होता है; ज्ञान को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में ज्ञान का भास होता है; आनन्द को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में आनन्द का भास होता है। इस प्रकार एक गुण के साथ ही साथ अनन्त गुणों का पिण्ड बँधा हुआ है।..........चैतन्य की सत्ता में ही अनन्त गुणों का एकरूप पिण्ड भासित होता है। उस

चैतन्यसत्ता के स्वीकार से धर्म का प्रारम्भ होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ११६ व ११७)

प्रश्न ३- छहों द्रव्यों के विशेषगुणों को यथार्थतया जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- छहों द्रव्यों के विशेषगुणों को जानने से निम्न लाभ हैं-

१. छहों द्रव्यों के विशेषगुणों को यथार्थतया जानने से पता चलता है कि सर्वद्रव्यों से भिन्न एकमात्र निजात्मा ही उपादेय है;

-'उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परमतच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो।। २०४।।'

अन्वयार्थ- जीवद्रव्य उत्तम गुणों का धाम है; ज्ञान आदि उत्तम गुण इसी में हैं; सब द्रव्यों में यह ही द्रव्य प्रधान है; सब द्रव्यों को जीव ही प्रकाशित करता है; सब तत्त्वों में परमतत्त्व जीव ही है; अनन्तज्ञान सुख आदि का भोक्ता यह ही है। इस तरह से हे भव्य! तू निश्चय से जान।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २०४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९३)

-'ज्ञान, रूपीपना, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, तथा परिणमनहेतुत्व, आदि विशेष धर्मों द्वारा प्रत्येक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से असाधारणपना है। आत्मा में अनन्त धर्म हैं, किन्तु उनमें ज्ञान असाधारण धर्म है। उसके द्वारा आत्मा लक्षित होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३५८)

-'शुद्धनिश्चयनय से शक्तिरूप से सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी होने से उपादेय हैं और व्यक्तिरूप से पञ्चपरमेष्ठी ही उपादेय हैं। उनमें भी अर्हन्त और सिद्ध- ये दो ही उपादेय हैं। इन दोनों में भी निश्चय से सिद्ध ही उपादेय हैं और परम निश्चयनय से तो भोगाकांक्षादिरूप समस्त विकल्पजालरहित परमसमाधिकाल में सिद्धसमान स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है; अन्य सर्व द्रव्य हेय हैं -यह तात्पर्य है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय अधिकार की चूलिका, पृष्ठ ९१)

२. छहों द्रव्यों के विशेषगुणों को यथार्थतया जानने से पता चलता है कि प्रत्येक जीव में असाधारण ज्ञानगुण हैं परन्तु जो मेरा ज्ञान है, वह दूसरे जीवों में नहीं है; अतः निजात्मा के अलावा अन्य सब जीवों से पृथक्ता का ज्ञान हो जाता है;

-'यद्यपि केवलज्ञान-दर्शन लक्षण से सब जीव समान हैं, तो भी एक जीव का ग्रहण करने से सबका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि प्रदेश सबके भिन्न-भिन्न हैं। इससे यह निश्चय हुआ कि यद्यपि केवलज्ञान-दर्शन लक्षण से सब जीव समान हैं, तो भी प्रदेश सबके जुदे-जुदे हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ९८ का भावार्थ, पृष्ठ २१७)

–'ज्ञानगुण सर्व जीवों में है; तथापि इस जीव का जो ज्ञान है, वह अन्य जीवों में नहीं है; इसलिये अपने ज्ञान द्वारा स्वयं अन्य सर्व जीवों से भिन्न अनुभव में आता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ३५४)

३. छहों द्रव्यों के विशेषगुणों को यथार्थतया जानकर जो जीव स्वतःसिद्ध निजात्मा का अनुभव करता है, वह शाश्वत सुख को प्राप्त करता है;

–'अनादि मिथ्यावासना के कारण जीवों को स्वयं कौन है?– उसका वास्तविक ज्ञान नहीं है और अपने को शरीरादिरूप मानते हैं। उन्हें जीवद्रव्य तथा अजीवद्रव्य का यथार्थ भेद दर्शाकर मुक्ति का मार्ग प्राप्त कराने के हेतु यहाँ जड़ पुद्गलद्रव्य के और चेतन जीवद्रव्य के वीतरागसर्वज्ञकथित लक्षण कहे गये। जो जीव उन लक्षणों को जानकर, अपने को स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र द्रव्यरूप में पहचानकर, भेदविज्ञानी अनुभवी होता है; वह निजात्मद्रव्य में लीन होकर मोक्षमार्ग को साधकर शाश्वत निराकुल सुख का भोक्ता होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १२६-१२७ का भावार्थ, पृष्ठ १८७)

–'पुद्गलद्रव्य वर्ण, रस आदि सहित मूर्तीक है; शेष धर्म, अधर्म आदि चार द्रव्य अमूर्तीक है।.............आत्मा स्वयंसिद्ध, स्थिर, चैतन्यस्वभावी, ज्ञानामृतस्वरूप है। इस संसार में जिन्हें परिपूर्ण अमृतरस का स्वाद लेने की अभिलाषा है, वे ऐसे ही आत्मा का अनुभव करते हैं।'

(श्रीसमयसारनाटक, अजीवद्वार, छन्द ११ का अर्थ, पृष्ठ ६२)

–'जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः।
दुरिततरुकुठारः सुद्धबोधावतारः सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः॥ ५४॥'

श्लोकार्थ– सर्व तत्त्वों में जो एक सार है, जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है, जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है, जो शुद्ध ज्ञान का अवतार है, जो सुखसागर की बाढ़ है, और जो क्लेशोदधिका किनारा है– वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है।'

(श्रीनियमसार, श्लोक ५४ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ७८)

४. छहों द्रव्यों के विशेषगुणों को यथार्थतया जानने से स्व-पर का भेदविज्ञान होता है, जिससे मोह का सर्वथा अभाव हो जाता है;

–'मोह का क्षय करने के प्रति प्रवण बुद्धिवाले बुधजन इस जगत में आगम में कथित अनन्त गुणों में से किन्हीं गुणों के द्वारा– जो गुण अन्य के साथ योगरहित होने से असाधारणता धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुये हैं उनके द्वारा– अनन्त द्रव्यपरम्परा में स्व-पर के विवेक को प्राप्त करो।...............(जैसे चैतन्य लक्षण के द्वारा आत्मा को ध्रुवद्रव्य के रूप में जाना; उसी प्रकार

अवगाहहेतुत्व, गतिहेतुत्व, इत्यादि लक्षणों से जो कि स्वलक्ष्यभूत द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते, उनके द्वारा आकाश, धर्मास्तिकाय इत्यादि को भिन्न-भिन्न ध्रुवद्रव्यों के रूप में जानता हूँ); इसलिये मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्‌गल नहीं हूँ, और आत्मान्तर नहीं हूँ,.........इस प्रकार जिसने स्व-पर का विवेक निश्चित किया है, ऐसे इस आत्मा को विकारकारी मोहाङ्कुर का प्रादुर्भाव नहीं होता।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९० की टीका, पृष्ठ १६० से १६२)

-'आपा-पर का ज्ञान होनेपर ही दुःख दूर होता है तथा आपा-पर का ज्ञान जीव अजीव का ज्ञान होनेपर ही होता है, क्योंकि आप स्वयं जीव हैं; शरीरादि अजीव हैं। यदि लक्षणादि द्वारा जीव-अजीव की पहचान हो, तो अपनी और पर की भिन्नता भासित हो।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७८)

-'समस्त (स्व-पर के) चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके "अवश्य यह परभाव ही हैं, (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)"- यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावो को तत्काल छोड़ देता है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ ७२)

५. विशेषगुणों के द्वारा छहों द्रव्यों की पृथक्‌ता का यथार्थ ज्ञान होने से परद्रव्यों में कर्ताबुद्धि का अभाव हो जाता है;

-'नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः।। २००।।'

श्लोकार्थ- परद्रव्य और आत्मतत्त्व का (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है? (नहीं हो सकता)।'

(श्रीसमयसार, श्लोक २०० व श्लोकार्थ, पृष्ठ ४५१)

-'निज निज भाव क्रियासहित, व्यापक व्यापि न कोइ।
कर्त्ता पुदगल करमकौ, जीव कहांसौं होइ।। १२।।'

अर्थ- दोनों द्रव्य अपने अपने गुण-पर्याय में रहते हैं, कोई किसी का व्याप्य-व्यापक नहीं है; अर्थात्, जीव में न तो पुद्‌गल का प्रवेश होता है और न पुद्‌गल में जीव का प्रवेश होता है। इससे जीव पदार्थ पौद्‌गलिक कर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है?

(श्रीसमयसारनाटक, सर्वविशुद्धि द्वार, दोहा १२ व अर्थ, पृष्ठ २५०)

६. विशेषगुणों के द्वारा समस्त द्रव्यों की पृथक्‌ता का यथार्थ ज्ञान होने से एकमात्र निजात्मा के अलावा किसी अन्य परद्रव्य में एकत्व स्थापित करना नहीं रहता; अर्थात्, जीव का उपयोग स्व-सन्मुख हो जाता है;

-'जैसे समुद्र के बीच में पहुँचे हुए किसी एकाकी जहाज पर बैठे हुए पक्षी को उस जहाज के अतिरिक्त अन्य किसी जहाज का, वृक्ष का, या भूमि इत्यादि का आधार न होने से दूसरा कोई शरण नहीं है; इसलिये इसका उड़ना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार विषयविरक्तता होने से मन को आत्मद्रव्य के अतिरिक्त किन्हीं अन्य द्रव्यों का आधार नहीं रहता; इसलिये दूसरा कोई शरण न रहने से मन निरोध को प्राप्त होता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १९६ की टीका, पृष्ठ ३७८)

-'इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः।। ३१।।'

श्लोकार्थ- इस प्रकार (पूर्वोक्तरूप से) भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होनेपर जब सर्व अन्य भावों से भिन्नता हुई, तब वह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है, ऐसे दर्शनज्ञानचारित्र से जिसने परिणति की है- ऐसा अपने आत्मारूपी बाग में प्रवृत्ति करता है; अन्यत्र नहीं जाता।'

भावार्थ- सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना, तब उपयोग के रमण के लिये अपना आत्मा ही रहा; अन्य ठिकाना नहीं रहा।'

(श्रीसमयसार, श्लोक ३१, श्लोकार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ७६)

७. विशेषगुणों के द्वारा परद्रव्यों से भिन्नता और स्वभावों से अभिन्नता जानने से धर्म प्राप्ति के सही मार्ग का पता चल जाता है; और

-'हे जीव! तेरे ज्ञान को और सर्व गुणों को ज्ञान के साथ एकमेक बतलाया और पर से भिन्न बतलाया; इसलिये तू अपने गुणों को- अपने धर्म को- पर में मत ढूँढ, परन्तु अपने स्वभाव में ही देख- अपने स्वभाव को पहचान। तेरे गुण पर में नहीं है; इसलिये परसन्मुख देखने से तेरे गुण प्रगट नहीं होंगे।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ २५३)

-'पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तियों का समूहरूप जो आत्मा है, उसे आत्मा में धारण कर रखना- सो यही जो कुछ त्यागने योग्य था, उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था, उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है।'

(श्रीसमयसार, कलश २३६ का भावार्थ, पृष्ठ ५५४)

८. छहों द्रव्यों के विशेषगुणों को जो यथार्थतया नहीं जानता वह ज्ञानदर्शनस्वभावी निजात्मा को न पहचानने के कारण परद्रव्यों में ही आत्मबुद्धि करता हुआ संसार के दुःख भोगता है।

-'अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तो णिव्वाणु लहेहि।

पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ सो संसार भमेहि।। १२।।'

अर्थ- हे जीव! यदि तू आत्मा को आत्मा समझेगा, तो निर्वाण प्राप्त करेगा तथा यदि तू परपदार्थों को आत्मा मानेगा, तो तू संसार में परिभ्रमण करेगा।

(श्रीयोगसार, दोहा १२ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६१-३६२)

-'ज्ञानदर्शनस्वभाव परमात्मद्रव्य, उसका सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप निजभाव, उसरूप समभाव से जो जुदे पदार्थ हैं उनका सङ्ग छोड़ दे, क्योंकि उनके सङ्ग से चिन्तारूपी समुद्र में गिर पड़ेगा जो समुद्र राग-द्वेषरूपी कल्लोलों से व्याकुल है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, दोहा १०९ का भावार्थ, पृष्ठ २२७)

प्रश्न ४- अनन्त सामान्यगुणों व अनन्त विशेषगुणों के ज्ञान का प्रयोजन क्या है?

उत्तर- छहों द्रव्यों में एकमात्र जीवद्रव्य ही ज्ञानशक्तिवाला है। ज्ञान का फल सुख है। यदि यथार्थ ज्ञान करे, तो सुख हो। परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभाव को नही पहचानता और ज्ञान से भिन्न अन्य वस्तुओं में सुख की कल्पना करता है; जिसके कारण संसार में परिभ्रमण करता है। अत: समस्त परद्रव्यों से भिन्न अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य, आदि अनन्त विशेषगुणों से अभिन्न निजात्मा को पहचानकर संसार का अभाव करके सिद्धदशा की प्राप्ति करना- यही प्रयोजन है।

卐

अपूर्व श्रवण

अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होना- ऐसा जिनभगवान का उपदेश है और तदनुसार अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होना, वह जिनोपदेश का भावश्रवण है। ऐसा भावश्रवण जीव ने पहले कभी नहीं किया; इसलिये कहते हैं कि हे जीव! पूर्वकाल में नहीं सुनी हुई ऐसी बात है; इसलिये तू पूर्वकाल में भी नहीं किये ऐसे अपूर्वभाव से श्रवण करना। पूर्व अनन्तकाल में जो अनुभव किया है, उससे भिन्न प्रकार की यह बात है; इसलिये श्रवण में भी अपूर्वता लाना, तभी वाचक-वाच्य की सन्धि होगी।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

प्रकरण - ४

पर्याय

प्रश्न १- पर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर- गुणों के विशेष कार्य को (परिणमन को) पर्याय कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २११, पृष्ठ ६२)

-**'परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्य्याय:'**- अर्थात्, जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे, सो पर्याय है।

(श्रीनियमसार, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ३५)

-'अखण्ड और एक वस्तु या गुण में विभाग के किये जाने को पर्याय मानते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १३७-१६३ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३५)

-'एक समयमात्र की मर्यादावाला काल परिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त **अन्वयव्यतिरेक**[1] वे पर्यायें हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० की टीका, पृष्ठ १४२)

-**'व्यतिरेकिण: पर्याया अथवा क्रमभुव: पर्याया इति पर्यायलक्षणम्।'**

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की श्रीजयसेनाचार्य की टीका, पृष्ठ १७२)

-'परिणाम नाम पर्याय का है। एक अवस्थारूप द्रव्य का पलट (बदल) कर दूसरी अवस्थारूप होना, उसको पर्याय कहते हैं; जैसे, मिट्टी पिण्ड अवस्थारूप थी सो पलटकर घड़ा बनी।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ११७ का भावार्थ, पृष्ठ ५९)

-'समय-समय परिणमे (बदले), सो पर्याय है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३७ का भावार्थ, पृष्ठ १०७)

-'पर्यायें = (प्रवाहक्रम के तथा विस्तारक्रम के) निर्विभाग अंश। (प्रवाहक्रम के अंश तो

---

१. **अन्वयव्यतिरेक**- अन्वय अर्थात् द्रव्य। 'अन्वय वह द्रव्य है।' व्यतिरेक अर्थात् भेद; एक दूसरेरूप नहीं होना; पर्याय। 'अन्वय के व्यतिरेक (भेद) वे पर्याय हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० की टीका, पृष्ठ १४२)

-'एक दूसरे में नहीं प्रवर्तें, ऐसे जो अन्वय (द्रव्य) के व्यतिरेक (भेद)।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० की टीका, पृष्ठ १४२ की पादटिप्पणी)

प्रत्येक द्रव्य के होते हैं, किन्तु विस्तारक्रम के अंश अस्तिकाय के ही होते हैं।)'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५, पृष्ठ १३ की पादटिप्पणी)

- 'वस्तु के व्यतिरेकी विशेष, वे पर्यायें है।............प्रदेश नाम के उनके (अस्तिकायों के) जो अवयव हैं, वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होने से पर्यायें कहलाती है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १४-१५)

- 'पर्याय का लक्षण परस्पर व्यतिरेक है (अर्थात्, एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप न होने से पर्यायों में परस्पर व्यतिरेक है)। वह लक्षण प्रदेशो मे भी व्याप्त है, क्योकि एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप न होने से प्रदेशों मे परस्पर व्यतिरेक है; इसलिये प्रदेश भी पर्यायें कहलाते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १५ की पादटिप्पणी)

- 'अनेकान्तात्मक वस्तु के.........व्यतिरेकी विशेष, वे पर्यायें हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ २७)

- 'जो द्रव्य की अनेकरूप परिणति क्रम से हो; अर्थात्, अनित्यपनेरूप समय-समय उपजे, विनशे, नानास्वरूप हों- वह पर्याय कही जाती है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ५७ का अर्थ, पृष्ठ ५६)

- 'प्रत्येक गुण अपनी धारा के भीतर रहते हुए ही प्रति समय अन्य-अन्य अवस्थाओ को प्राप्त होता है। गुणों की इन अवस्थाओं का नाम ही पर्याय है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रस्तावना, पृष्ठ २९)

- 'पर्याय दो प्रकार की है- सहवर्ती और क्रमवर्ती। सहवर्ती को गुण कहते हैं और क्रमवर्ती को पर्याय कहते हैं।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा १८ का भावार्थ, पृष्ठ ७१)

- '**तद्भावः परिणामः॥ ४२॥**' -**अर्थ**- जो द्रव्य का स्वभाव (निजभाव; निजतत्त्व) है, सो परिणाम है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ४२ व अर्थ, पृष्ठ ३७३)

- 'द्रव्य जिस स्वरूप से होता है तथा जिस स्वरूप से परिणमता है, वह तद्भाव परिणाम है।...............पर्याय को क्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ४२ की टीका, पृष्ठ ३७३)

- 'पर्याय- (१) क्रम से होनेवाली वस्तु की, गुण की, अवस्था को पर्याय कहते हैं; (२) गुण के विकार को (विशेष कार्य को) पर्याय कहते हैं; (३) द्रव्य मे जो विक्रिया हो अथवा जो अवस्था बदले, वह पर्याय कहलाती है।'

(श्रीतत्त्वार्थसार, अध्याय ३, गाथा ९, पृष्ठ १३१, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३८ की टीका, पृष्ठ ३७०)

- 'क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च।। १६५।।'

अर्थ- जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप, और कथञ्चित् ध्रौव्यात्मक होती हैं- वे पर्यायें कहलाती हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १६५ व अर्थ, पृष्ठ ३५)

- 'पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है। जो द्रव्य में अनुक्रम से उत्पन्न हो; कदाचित्- कोई बार हो, उसे पर्याय कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १४)

- 'द्रव्य का अर्थ है वस्तु और वस्तु की वर्तमान अवस्था को पर्याय कहते हैं। द्रव्य अंशी (सम्पूर्ण वस्तु) है और पर्याय उसका एक अश है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, भाग १, पृष्ठ २२०)

- 'अन्वय के व्यतिरेक को पर्याय कहते हैं। इनमे पर्यायों की परिभाषा बतलायी है। द्रव्य के जो भेद हैं, सो पर्याय हैं। द्रव्य तो त्रिकाल है। उस द्रव्य को क्षण-क्षण के भेद से (क्षणवर्ती अवस्था से) लक्ष्य में लेना, सो पर्याय है। पर्याय का स्वभाव व्यतिरेकरूप है; अर्थात्, एक पर्याय के समय दूसरी पर्याय नही होती। गुण और द्रव्य सदा एकसाथ होते हैं, किन्तु पर्याय एक के बाद दूसरी होती है।..........वस्तु के जो एक-एक समय के भिन्न-भिन्न भेद हैं, सो पर्याय है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, भाग १, पृष्ठ ८०)

- 'गुण के विकार को पर्याय कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ३८, पृष्ठ ८)

[**विशेष**- उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिनागम मे कही तो पर्याय का लक्षण कालभेद की अपेक्षा किया है और कहीं अखण्ड वस्तु मे या गुण में विभाग करने को पर्याय कहा है। परन्तु श्रीपञ्चाध्यायी मे कथित पर्याय का लक्षण- 'जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप, और कथञ्चित् ध्रौव्य हो; वह पर्याय है'- अधिक व्यापक है, क्योंकि इसमें पर्याय के सभी लक्षण समाहित हैं।]

प्रश्न २- पर्यायें क्रमवर्ती क्यो कहलाती हैं?

उत्तर- प्रत्येक गुण की त्रिकालभावी जो अनन्त पर्यायें हैं, वे सब एकसाथ नहीं पायी जातीं किन्तु प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न होती हैं। एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी- इस प्रकार प्रवाहक्रम से वर्तन करने के कारण पर्यायें क्रमवर्ती कहलाती है।

- 'पर्याय नानारूप होती हैं। जो परिणति पहले समय में थी, वह दूसरे में नहीं होती। समय-समय में उत्पाद-व्ययरूप होता है; इसलिये पर्याय क्रमवर्ती कही जाती हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५६)

–'अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेष:।। १६७।।
वर्तन्ते तेन यतो भवितुंशीलास्तथा स्वरूपेण।
यदि वा स एव वर्ती येषां क्रमवर्तीनस्त एवार्थात्।। १६८।।
अयमर्थः प्रागेकं जातं उच्छिद्य जायते चैकः।
अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योऽप्युत्पद्यते यथादेशम्।। १६९।।'

अर्थ– "क्रम" धातु है जो पाद विक्षेप अर्थ में प्रसिद्ध है। अपने अर्थ के अनुसार क्रम यह उसी का रूप है।। १६७।। यतः क्रम से जो वर्णन करें अथवा क्रमरूप से होने का जिनका स्वभाव है या क्रम ही जिनमें होता रहे; अतः पर्यायें सार्थकरूप से क्रमवर्ती कहलाती हैं।। १६८।। आशय यह है कि पहले एक पर्याय का नाश करके एक अन्य पर्याय उत्पन्न होती है; फिर उसका नाश हो जानेपर दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। यद्यपि पर्यायों का ऐसा क्रम चालू रहता है, तथापि यह अपने द्रव्य के अनुसार ही होता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १६७ से १६९ व अर्थ, पृष्ठ ३६)

–' "पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं"– इसका अर्थ है कि पर्यायें एक के बाद दूसरी इस क्रम से होती हैं; उदाहरणार्थ, पिण्ड, कोश, कुशूल, आढक, और घट ये पर्यायें मिट्टी में युगपत् नहीं पायी जाती किन्तु क्रम से होती हैं; इसलिये वे क्रमवर्ती कहलाती हैं। आशय यह है कि प्रति समय एक पर्याय का स्थान दूसरी पर्याय लेती रहती है। यह नही हो सकता कि एक पर्याय के रहते हुए दूसरी पर्याय हो जाये; इसलिये स्वभावतः पर्यायो में क्रम घटित हो जाता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १६४-१९८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ४०)

–'देव-मनुष्यादि पर्यायें उपजती हैं और विनष्ट होती हैं, क्योंकि वे क्रमवर्ती होने से उमका स्वसमय उपस्थित होता है और बीत जाता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १८ की टीका, पृष्ठ ३९)

प्रश्न ३– पर्यायों को व्यतिरेकी क्यों कहा जाता है?

उत्तर– प्रत्येक गुण अपनी धारा के भीतर रहते हुए ही प्रति समय अन्य-अन्य अवस्थाओं को प्राप्त होता है। गुणों की इन अवस्थाओं का नाम ही पर्याय है। प्रति समय अन्य-अन्य होने के कारण ही इन्हें व्यतिरेकी कहा जाता है।

–'अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोऽपि सन्ति गुणाः।। १५२।।'

अर्थ– सारांश यह है कि जितनी भी पर्यायें हैं, वे एक-एक समय की पृथक्-पृथक् कही

गयी हैं; इसलिये अनेक होनेपर जिस प्रकार वे व्यतिरेकी हैं; उस प्रकार अनेक होनेपर भी गुण व्यतिरेकी नहीं हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १५२ व अर्थ, पृष्ठ ३२)

-'व्यतिरेक = भेद; एक का दूसरेरूप नहीं होना। "यह वह नहीं है"- ऐसे ज्ञान के निमित्तभूत भिन्नरूपता। (एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप न होने से पर्यायों में परस्पर व्यतिरेक है; इसलिये पर्यायें द्रव्य के व्यतिरेकी [व्यतिरेकवाले] विशेष हैं।)' तथा,

-'पर्याय का लक्षण परस्पर व्यतिरेक है। वह लक्षण प्रदेशों में भी व्याप्त है, क्योंकि एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप न होने से प्रदेशों में परस्पर व्यतिरेक है; इसलिये प्रदेश भी पर्यायें कहलाते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १४ व १५ की पादटिप्पणी)

-'व्यतिरेक = भेद; एक का दूसरेरूप न होना। "यह वह नहीं है"- ऐसे ज्ञान का निमित्तभूत भिन्नरूपत्व।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०० की पृष्ठ १९९ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ४- पर्याय में व्यतिरेकीपना कितने प्रकार का है?

उत्तर- पर्याय में व्यतिरेकीपना चार प्रकार का है- (१) द्रव्य (देश) व्यतिरेक, (२) क्षेत्र व्यतिरेक, (३) काल व्यतिरेक, और (४) भाव व्यतिरेक।

प्रश्न ५- द्रव्य (देश) व्यतिरेक किसे कहते है?

उत्तर- द्रव्य व्यतिरेक में अभेद द्रव्य का प्रदेश भेद विवक्षित है; अर्थात्, जो एक देश है, वह वही है; दूसरा नही- यह देश व्यतिरेक कहलाता है।

-'स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः।
सोऽपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः।। १४७।।'

अर्थ- जो एक देश है, वह वही है; दूसरा नहीं है और जो दूसरा देश है, वह पहला नहीं है किन्तु वह वही है- यह देश व्यतिरेक है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १४७ व अर्थ, पृष्ठ ३२)

प्रश्न ६- क्षेत्र व्यतिरेक किसे कहते हैं?

उत्तर- क्षेत्र व्यतिरेक में द्रव्यों का क्षेत्र भेद विवक्षित है; अर्थात्, एक-एक प्रदेश के क्षेत्र के भिन्नपनेरूप भेद को क्षेत्र व्यतिरेक कहते हैं।

-'अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम्।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः।। १४८।।'

अर्थ- और जो एक देश जितने क्षेत्र में रहता है, वह वही क्षेत्र है; दूसरा नहीं है और जो

दूसरा क्षेत्र है, वह दूसरा ही है; पहला नही- यह क्षेत्र व्यतिरेक है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १४८ व अर्थ, पृष्ठ ३२)

प्रश्न ७- काल व्यतिरेक किसे कहते हैं?

उत्तर- काल व्यतिरेक में द्रव्यों की प्रति समय होनेवाली पर्यायो का भेद लिया गया है; अर्थात्, पर्याय के भिन्नत्व के भेद को काल व्यतिरेक कहते हैं।

-'अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेऽपि कालव्यतिरेक:।। १४९।।'

अर्थ- इसी प्रकार एक समय मे जो भी अवस्था होती है, वह वही है; दूसरी नही हो सकती और जो दूसरे समय में अवस्था होती है, वह दूसरी ही है; पहली नही हो सकती- यह काल व्यतिरेक है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १४९ व अर्थ, पृष्ठ ३२)

प्रश्न ८- भाव व्यतिरेक किसे कहते है?

उत्तर- गुणों में गुणाशों की अपेक्षा होनेवाला तरतमभाव (तारतम्यभाव) भाव व्यतिरेक कहलाता है।

-'भवति गुणांश: कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्य:।
सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योऽपि भावव्यतिरेक:।। १५०।।'

अर्थ- तथा जो कोई एक गुणांश है, वह वही है, अन्य नहीं हो सकता और जो दूसरा गुणाश है, वह दूसरा ही है; पहला नहीं हो सकता -यह भाव व्यतिरेक है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १५० व अर्थ, पृष्ठ ३२)

प्रश्न ९- व्यतिरेक और क्रमवर्ती मे क्या अन्तर है?

उत्तर- द्रव्यों मे स्थूल और सूक्ष्म- ऐसी दो प्रकार की पर्यायें होती हैं। स्थूल पर्यायें वे हैं जिनका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान किया जा सकता है और सूक्ष्म पर्यायें वे हैं जिन्हें प्रत्यक्षदर्शी ही स्पष्टरूप से जान सकते हैं। जब एक स्थूल पर्याय के बाद दूसरी स्थूल पर्याय होती है, तब उनमें सदृश्यता और विसदृश्यता का स्पष्ट ज्ञान होता है; किन्तु सूक्ष्म पर्यायों में एकसा ज्ञान नहीं किया जा सकता। क्रम तो सूक्ष्म पर्यायों मे भी पाया जाता है, किन्तु व्यतिरेक सूक्ष्म पर्यायों में घटित न होकर स्थूल पर्यायों में ही घटित होता है। व्यतिरेक मे "यह वह नहीं है" या "जैसा पहले था, वैसा अब नहीं है" -ऐसा बोध होता है, किन्तु क्रम में ऐसा बोध नहीं होता।

-'तत्र व्यतिरेक: स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा।
अंशविभाग: पृथगिति सदृशांशानां सतामेव।। १७२।।

तस्मात् व्यतिरेकित्वं तस्य स्यात् स्थूलपर्यय: स्थूल:।
सोऽयं भवति न सोऽयं यस्मादेतावतैव संसिद्धि:।। १७३।।
विष्कम्भ: क्रम इति वा क्रम: प्रवाहस्य कारणं तस्य।
न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा।। १७४।।
क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च।
स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवतीति।। १७५।।'

अर्थ- व्यतिरेक वहाँ होता है, जहाँ द्रव्यों के सदृश अशों में परस्पर के अभावरूप से पृथक्-पृथक् अशविभाग किया जाता है।। १७२।। अतएव् जो पर्याय स्थूल से भी स्थूल है, व्यतिरेकीपना उसी मे घटित होता है, क्योंकि "वह यह है" और "वह यह नहीं है" -इतने मात्र से ही उसकी सिद्धि होती है।। १७३।। तथा क्रम विष्कम्भ को कहते है या जो पर्यायजात के प्रवाह का कारण है, वह भी क्रम कहलाता है। पर्यायों मे तथात्व है या अन्यथात्व; क्रम में यह कुछ भी विवक्षित नही है।। १७४।। किन्तु जो क्रमवर्तीपना व्यतिरेकपूर्वक होता है, उसमे "यह वह है, किन्तु वह नहीं है" अथवा "यह वैसा है, किन्तु वैसा नहीं है" -यह विशेषता अवश्य पायी जाती है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १७२ से १७५ व अर्थ, पृष्ठ ३६-३७)

प्रश्न १०- पर्याय का लक्षण अनित्य क्यों बताया है?

उत्तर- उत्पाद और व्ययरूप अवस्थाओ के कारण पर्यायें अनित्य कहलाती हैं। जो ज्ञान वर्तमान समय में है, वही ज्ञान अगले समय में नही रहता। दूध कुछ समय बाद दहीरूप में परिणम जाता है; दही से मट्ठा (छाछ) हो जाता है। मनुष्य से देव हो जाता है, इत्यादि। इस प्रकार निरन्तर परिवर्तन पर्यायों की अनित्यता का द्योतक है।

-'अपि च यदा परिणाम: केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु।
अभिनवभावानभिनवभावाभावदनित्यमंशनयात्।। ३४०।।'

अर्थ- जिस समय केवल परिणाम दृष्टिगत होता है, वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है; उस समय पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा वस्तु अनित्य प्राप्त होती है, क्योंकि प्रति समय न्यूतन (नवीन) पर्याय का उत्पाद और प्राचीन पर्याय का नाश देखा जाता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ३४० व अर्थ, पृष्ठ ६९)

-'उत्पाद और व्यय (अर्थात् पर्यायें) एक क्षणवर्ती हैं; अत: वे द्रव्य में अनित्यता के प्रयोजक हैं, क्योंकि एक क्षणवर्तित्व का अनित्यता के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २०६-२२८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ४५)

-'गुणपर्यायें...............व्यतिरेक द्वारा अनित्यता को बतलाते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०, पृष्ठ २८ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ११- पर्याय का लक्षण उत्पाद-व्यय और कथञ्चित् ध्रौव्यात्मक किस प्रकार है?

उत्तर- उत्पाद आदि द्रव्य के भेद न होकर पर्याय के भेद हैं, क्योंकि वे स्वयं पर्यायरूप हैं। प्रत्येक पर्याय का स्वसमय में स्वरूप से उत्पाद होता है, पूर्वरूप से व्यय होता है, और सर्व परिणामों में एक प्रवाहपना होने से प्रत्येक पर्याय एकरूप ध्रुव रहती है। ध्रुव भी एक अंशरूप होने के कारण पर्याय है; अत: पर्याय का लक्षण उत्पाद-व्यय और कथञ्चित् ध्रौव्यात्मक कहा है।

-'उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य- ये तीन पर्यायों के भेद हैं; सत् के नहीं।............उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य- इनमें से परिणमन करनेवाले उस सत् की जो नवीन अवस्था होती है; वह उत्पाद कहलाता है।................तथा व्यय भी सत् का नहीं होता है, किन्तु उस सत् की अवस्था का नाश व्यय कहलाता है।..............सत् का केवल ध्रौव्य ही हो यह बात नहीं है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से उसका कथञ्चित् ध्रौव्य होता है, क्योंकि उत्पाद और व्यय के समान वह ध्रौव्य भी एक अंशरूप है; सर्वांशरूप नहीं है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २०० से २०३ का अर्थ, पृष्ठ ४१)

-'जैसे द्रव्य के विस्तार का छोटे से छोटा अंश वह प्रदेश है, उसी प्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटे से छोटा अंश वह परिणाम है। प्रत्येक परिणाम स्वकाल मे अपनेरूप से उत्पन्न होता है, पूर्वरूप से नष्ट होता है, और सर्वपरिणामों में एकप्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश से रहित एकरूप-ध्रुव रहता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९९ का भावार्थ, पृष्ठ १९७)

-'अन्वय व्यतिरेकों सहित ही होता है। इसलिये ध्रौव्य उत्पाद-व्ययसहित ही होगा, अकेला नहीं हो सकता; जैसे, उत्पाद (या व्यय) द्रव्य का अंश है, समग्र द्रव्य नहीं (अत: पर्याय का लक्षण है)। इस प्रकार ध्रौव्य भी द्रव्य का अंश है- समग्र द्रव्य नही।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १००, पृष्ठ २०० की पादटिप्पणी)

प्रश्न १२- पर्यायें द्रव्य से भिन्न हैं या अभिन्न?

उत्तर- द्रव्य और पर्यायें न तो सर्वथा भिन्न हैं और न ही सर्वथा अभिन्न हैं। प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है; अत: पर्यायें द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं।

-'अब द्रव्य पर्यायों के कथञ्चित् भेद कथञ्चित् अभेद दिखाते हैं-

दव्वाणपज्जयाणं, धम्मविवक्खाइ करिए भेओ।

वत्थुसरूवेण पुणो, ण हि भेओ सक्कदे काउं।। २४५।।

अन्वयार्थ- द्रव्य और पर्यायों के धर्म-धर्मी की विवक्षा से भेद किया जाता है; वस्तुस्वरूप से भेद करने को समर्थ नहीं है।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २४५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११०)

-'अथवा जलकल्लोलवदद्वैतं द्वैतमपि च तद् द्वैतम्।
उन्मज्जच्च निमज्जन्नाप्युन्मज्जन्निमज्जदेवेति॥ ४१२॥'

अर्थ- अथवा सत् और परिणाम- ये दोनों जल और कल्लोल के समान कथञ्चित् अभिन्न और कथञ्चित् भिन्न हैं। भेद की अपेक्षा विचार करनेपर जल में कल्लोलें उदित भी होती हैं और अस्त भी होती हैं, किन्तु अभेद की अपेक्षा विचार करने पर न वे उदित होती हैं और न अस्त होती हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ४१२ व अर्थ, पृष्ठ ८४)

-'वे गुणपर्यायें (गुण और पर्यायें) जो कि द्रव्य में एक ही साथ तथा क्रमशः प्रवर्तते हैं, (द्रव्य से) कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ २७)

-'प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है; इसलिये प्रत्येक द्रव्य वह का वही भी रहता है और बदलता भी है।............इसलिये द्रव्य (पर्यायों से) अनन्य तथा अन्य-अन्य दोनों भासित होता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ११४ का भावार्थ, पृष्ठ २३४-२३५)

प्रश्न १३- पर्यायें द्रव्य से भिन्न किस प्रकार हैं?

उत्तर- पर्यायें द्रव्य से निम्न कारणों से भिन्न कही जाती हैं-

१. द्रव्य त्रिकाल है और पर्याय एक समय की है। जो पर्याय पहले समय में थी, वह दूसरे समय में नहीं होती। इस प्रकार काल की अपेक्षा द्रव्य और पर्याय में भिन्नता सिद्ध होती है; और

-'पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति के काल में ही सत् (विद्यमान) होने से, उससे अन्य कालों में असत् (अविद्यमान) ही हैं। और पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुँथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्वकाल में उत्पाद होता है, उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्ति का पहले असत्पना होने से पर्यायें अन्य ही हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ११३ की टीका, पृष्ठ २३१)

-'त्रिकाल-अवस्थायी एक जीव की नर-नारकादि अनेक पर्यायें अपने-अपने काल में विद्यमान हैं और दूसरी पर्यायों के काल में अविद्यमान हैं तथा जीव तो सर्व पर्यायों में अन्वयरूप से विद्यमान होनेपर भी मनुष्यादिपर्यायरूप से देवादिपर्याय में न होने से अविद्यमान भी कहा जाता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १९ का भावार्थ, पृष्ठ ४१)

-'द्रव्य और पर्याय के स्वरूप में यह अन्तर है कि द्रव्य त्रिकाल स्थिर है; वह बदलता नहीं है, किन्तु पर्याय क्षणिक है; वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। पर्याय के बदलने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, भाग १, पृष्ठ २१८)

–'द्रव्य पर्याय से भिन्न है, क्योंकि ध्रुव मे पर्याय नही और पर्याय मे ध्रुव आता नहीं; अर्थात्, ध्रुव पर्याय को स्पर्श करता नहीं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर ४२६, पृष्ठ १५९)

–'कोई भी पर्याय हो; चाहे तो केवलज्ञान की या मोक्ष की पर्याय हो, किन्तु उसका काल एक समय का होने से वह नष्ट होने योग्य है। समस्त पर्याये नष्ट होने योग्य हैं। सवर की पर्याय हो लेकिन नष्ट होने योग्य है, क्योंकि एक समय की है न। इस अपेक्षा नष्ट होने योग्य है और त्रैकालिक तत्त्व तो जैसा है वैसा ही सदा रहता है; इसलिये समस्त नाशवान भावों से ध्रुव सामान्य वस्तु दूर है, भिन्न है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, दृव्यदृष्टिजिनेश्वर, बोल २२७, पृष्ठ ५३)

२. पर्यायें संज्ञा, संख्या, लक्षण, व प्रयोजन की अपेक्षा से द्रव्य से भिन्न हैं। पर्याय और द्रव्य- इस प्रकार संज्ञाभेद है। द्रव्य एक है और जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी पर्यायें हैं –इस प्रकार संख्याभेद है। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और गुणों के कार्य को व अखण्डवस्तु में भेद कल्पना को पर्याय कहते हैं- इस प्रकार लक्षणभेद है। द्रव्य का प्रयोजन अभेद है और प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न प्रकार प्रयोजनभूत है- इस प्रकार प्रयोजनभेद है। अत: सिद्ध होता है कि संज्ञा, संख्या, लक्षण, व प्रयोजन की अपेक्षा पर्यायें द्रव्य से भिन्न हैं।

–'सत्परिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्वाद्वै।
सत्परिणामद्वैतं स्यादपि दीपप्रकाशयोरेव।। ४११।।'

अर्थ- यथा, दीप और प्रकाश अभिन्न प्रदेशी होने से जिस प्रकार इनमे कथञ्चित् अद्वैत है और संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा भेद होने से जिस प्रकार इनमे कथञ्चित् द्वैत है, उसी प्रकार अभिन्न प्रदेशी होने से सत् और परिणाम में कथञ्चित् अद्वैत है और संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा द्वैत भी है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ४११ व अर्थ, पृष्ठ ८४)

–'एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं। उन्हे परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है। वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं।'

(श्रीसमयसार, श्लोक ५२ का भावार्थ, पृष्ठ १४८)

–'द्रव्य-गुण और पर्याय वस्तुरूप से अभेद भिन्न हैं। नाम, सख्या, लक्षण, और प्रयोजन की अपेक्षा से द्रव्य, गुण, और पर्याय मे भेद है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३८ की टीका, पृष्ठ ३७०)

–'जब पर्यायार्थिकनय से द्रव्य-गुण-पर्याय के भिन्न-भिन्न स्वरूप का विचार करना होता है; तब तो द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह पर्याय नहीं होती, क्योंकि इन तीनों के लक्षण

भिन्न-भिन्न हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, भाग १, पृष्ठ ४८)

प्रश्न १४- पर्यायें द्रव्य से अभिन्न किस प्रकार हैं?

उत्तर- पर्यायें वस्तुरूप से द्रव्य से अभेद हैं, अभिन्न हैं, क्योंकि पर्याय के बिना द्रव्य की और द्रव्य के बिना पर्याय की सिद्धि नहीं होती। पर्याय के बिना द्रव्य अस्तित्व धारण नहीं करता और द्रव्य के आश्रय बिना पर्याय की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

-'णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।'

अन्वयार्थ- इस विश्व में गुण ऐसा कुछ या पर्याय ऐसा कुछ द्रव्य के बिना (द्रव्य से पृथक्) नही होता।

टीका- वास्तव में द्रव्य से पृथग्भूत (भिन्न) ऐसा कोई गुण या ऐसी कोई पर्याय कुछ नहीं होता; जैसे, सुवर्ण से पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि नहीं होता तदनुसार।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ११० का पूर्वार्द्ध, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ २२४)

-'द्रव्य और पर्याये भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं; इसलिये पर्यायों की विवक्षा के समय भी असत् उत्पाद मे जो पर्याये है, वे द्रव्य ही हैं और द्रव्य की विवक्षा के समय भी सत् उत्पाद में जो द्रव्य है, वे पर्यायें ही हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १११ का भावार्थ, पृष्ठ २२९)

-'पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति।। १२।।'

अन्वयार्थ- पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्यायें नहीं होतीं; दोनों का अनन्यभाव (अनन्यपना) श्रमण प्ररूपित करते हैं।

टीका- यहाँ द्रव्य और पर्यायों का अभेद दर्शाया है।............वे (द्रव्य और पर्याय) एक अस्तित्व में नियत (दृढ़रूप से स्थित) होने के कारण **अन्योन्यवृत्ति**[1] नहीं छोड़ते; इसलिये वस्तुरूप से उनका अभेद है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १२, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ३०-३१)

-'उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।। १०१।।'

अन्वयार्थ- उत्पाद, ध्रौव्य, और व्यय पर्यायों में वर्तते हैं; पर्यायें नियम से द्रव्य में होती हैं; इसलिये वह सब द्रव्य हैं।

---

१. **अन्योन्यवृत्ति-** एक दूसरे के आश्रय से निर्वाह करना; एक दूसरे के आधार से स्थिर रहना; एक दूसरे के कारण बना रहना।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १२ की टीका, पृष्ठ ३१ की पादटिप्पणी)

टीका- पर्यायें द्रव्याश्रित ही हैं; द्रव्य से भिन्न पदार्थरूप नही हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०१, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ २०१ से २०३)

-'जैसे, तरङ्गमालाओ से समुद्र को जुदा नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य (अर्थात् पर्यायें) ये भी सत् से जुदे नहीं हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २०६ से २२८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ४६)

-**'यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।**
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।। ५१।।'

श्लोकार्थ- जो परिणमित होता है, सो कर्ता है; (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है, सो कर्म है; और जो परिणति है, सो क्रिया है। यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नही हैं।

भावार्थ- द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का अभेद है और पर्यायदृष्टि से भेद है।

(श्रीसमयसार, कलश ५१, श्लोकार्थ व भावार्थ, पृष्ठ १४७)

-'द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य-गुण-पर्याय मे भेद नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, भाग १, पृष्ठ ४८)

प्रश्न १५- द्रव्य और पर्याय को अभिन्न बताने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा से कायम रहता हुआ पर्याय की अपेक्षा बदलता रहता है। द्रव्य त्रिकाल स्थिर है; वह बदलता नही है और पर्याय क्षणिक है; वह प्रति समय बदलती रहती है। किन्तु भिन्न-भिन्न पर्यायोंरूप परिणमित होते हुए भी द्रव्य वही का वही रहता है। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय को अभिन्न बताने का प्रयोजन द्रव्य के अखण्ड वस्तुपने को सिद्ध करना है।

-**'गुणपर्ययवद्द्रव्यं तद्गुणपर्ययवपुः सदेकं स्यात्।**
न हि किञ्चिद्गुणरूपं पर्ययरूपं च किञ्चिदंशांशैः।। ४३८।।'

अर्थ- गुण और पर्यायवाला द्रव्य है। इसका तात्पर्य है कि उसका शरीर ही गुण और पर्यायों से बना है; इसलिये सत् एक है। किन्तु ऐसा नहीं है कि कुछ अशो की अपेक्षा वह गुणरूप है और कुछ अंशों की अपेक्षा वह पर्यायरूप है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ४३८ व अर्थ, पृष्ठ ८८)

-**'तस्मादेकत्वं प्रति प्रयोजकं स्यादखण्डवस्तुत्वम्।**
प्रकृतं यथा सदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत्।। ४४२।।'

अर्थ- इसलिये प्रकृत में सत् के एकत्व के प्रति एक अखण्डवस्तुत्व ही प्रयोजक है; अतः सत् एक है। इसका तात्पर्य है कि वह द्रव्य की अपेक्षा अखण्डित है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ४४२ व अर्थ, पृष्ठ ८९)

-'प्रथम तो द्रव्य द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को कभी न छोड़ता हुआ सत् (विद्यमान) ही

है और द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति का उत्पाद होता है, उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से द्रव्य अनन्य ही है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ११२ की टीका, पृष्ठ २३०)

प्रश्न १६- द्रव्य और पर्याय को भिन्न-भिन्न बताने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर- पर्याय और द्रव्य दो अलग-अलग धर्म हैं- ऐसा सिद्ध करने के लिये द्रव्य और पर्याय को भिन्न-भिन्न कहा जाता है।

-'त्रिकाली द्रव्य और प्रकट पर्याय दोनों भिन्न-भिन्न धर्म अस्तिरूप हैं। उन दोनों धर्मों का परस्पर भिन्न अस्तित्व सिद्ध करना ही प्रयोजन है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४१९, पृष्ठ १५६)

प्रश्न १७- द्रव्य से पर्याय भिन्न हैं, तो पर्याय कहाँ से आती है?

उत्तर- 'पर्याय आती तो द्रव्य में से है; कहीं अधर (निराधार) से नहीं आती। लेकिन जब पर्याय को सत्‌रूप से स्वतन्त्र सिद्ध करना हो, तब पर्याय पर्याय से ही है। द्रव्य से पर्याय हो, तो द्रव्य एकरूप रहता है और पर्याय अनेकरूप होती है; अतः उसे (पर्याय को) द्रव्य जैसा एकरूप ही होना चाहिए, लेकिन वैसी होती नहीं। द्रव्य सत् है; वैसे पर्याय भी सत् है, स्वतन्त्र है- इस अपेक्षा से द्रव्य से पर्याय को भिन्न कहा जाता है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४१५, पृष्ठ १५५)

प्रश्न १८- द्रव्य और पर्याय की भिन्नता व अभिन्नता किस प्रकार समझनी चाहिए?

उत्तर- द्रव्य और पर्याय न तो सर्वथा भिन्न ही हैं और न सर्वथा अभिन्न ही हैं। इस विषय में **स्याद्वाद**[१] है जो दृष्टिभेद से घटित होता है। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति अपेक्षाभेद से पिता व पुत्र उभयरूप सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य व पर्याय के बारे में जानना चाहिए।

-'वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः (१) सामान्य, और (२) विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं- (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक।'

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना, और सिद्धपना पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीव सामान्य को देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवाले जीवों को "वह

---

१. **स्याद्वाद**- वस्तु के अनेकान्तस्वरूप को समझानेवाली कथनपद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।
(स्यात् = कथञ्चित्; किसी प्रकार से; किसी सम्यक् अपेक्षा से। वाद = कथन।)
स्याद्वाद अनेकान्त का द्योतक है (बतलानेवाला है)। अनेकान्त और स्याद्वाद का द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।
(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न १०९, पृष्ठ ४७)

सब जीव द्रव्य हैं"- ऐसा भासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब जीवद्रव्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना, और सिद्धपना पर्यायस्वरूप अनेक विशेषो को देखनेवाले और सामान्य को न देखनेवाले जीवों को (वह जीव द्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है, क्योकि द्रव्य उन-उन विशेषों के साथ तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है- कण्डे, घास, पत्ते, और काष्ठमय अग्नि की भाँति। और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो ऑखों को एकही साथ खोलकर उनके द्वारा और इनके द्वारा (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक चक्षुओ के द्वारा) देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना, और सिद्धपना पर्यायो मे रहनेवाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना, और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेष तुल्यकाल में ही (एक ही साथ) दिखायी देते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ११४ की टीका, पृष्ठ २३३-२३४)

प्रश्न १९- क्या एक समय की पर्याय भी सत् है?

उत्तर- प्रत्येक समय की पर्याय पर की अपेक्षारहित, निरपेक्ष सत् है।

-'पर्याय भी निरपेक्ष सत् है।..............प्रत्येक समय की पर्याय भी स्वय अपने से सत् होने से "द्रव्य से नहीं आलिङ्गित" ऐसी शुद्ध पर्याय है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ७६)

-'ज्ञप्तिक्रिया सत्रूप है और सत्रूप होने से अहेतुक (स्वत:सिद्ध) है।'

(श्रीसमयसार, गाथा २७०, पृष्ठ ३८४ की पादटिप्पणी)

-'प्रत्येक पर्याय सत् है, स्वतन्त्र है; उसे पर की अपेक्षा नही।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्न ४३५, पृष्ठ १६२)

-'वस्तु की हर एक अवस्था- (पर्याय भी)- "स्वत:सिद्ध" एव "स्वसहाय" है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ३५७)

प्रश्न २०- एक समय की पर्याय को 'सत्' क्यो कहा जाता है?

उत्तर- प्रत्येक पर्याय स्वय ही अपने षट्कारक की क्रियारूप से स्वतन्त्र परिणमन करती है। उसे पर की भी अपेक्षा नही और स्वद्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है। प्रत्येक समय पर्याय की योग्यता से ही पर्याय होती है; अत: पर्याय को सत् कहा जाता है।

-'पर्याय स्वय षटकारक की क्रियारूप से स्वतन्त्र परिणमन करती है।............वीतरागी पर्याय का, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का लक्ष्य-आश्रय त्रिकाली द्रव्य है; परन्तु वह लक्ष्यरूप पर्याय स्वय षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण कर्ता होकर करती है, परिणमती है। पर्याय अहेतुक

सत् है न्! विकारीपर्याय भी पर की अपेक्षा बिना-परनिरपेक्ष अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्रतया परिणमन करती है- ऐसा पञ्चास्तिकाय गाथा ६२ में कहा है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४३६, पृष्ठ १६३)

-'जब सामान्यधर्म और विशेषधर्म- ऐसे दोनो धर्म ही सिद्ध करने हो, तब तो ऐसा कहा जाता है कि पर्याय तो पर्याय धर्म से ही है; द्रव्य के कारण नही है, क्योंकि यदि सामान्य और विशेष (द्रव्य और पर्याय) दोनो धर्म को निरपेक्ष न मानकर सामान्य के कारण विशेष माने, तो विशेषधर्म की हानि होती है; इसलिये पर्याय भी अपने से सत् है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १९७)

-'श्री अमितगति आचार्यकृत योगसार में कहते हैं कि-

उत्पद्यते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः।

ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन॥ १९॥

-इसमें कहते हैं कि............जीव स्वयं परिणमनशील होने से प्रतिसमय उसके गुणों की पर्याय बदलती है।............इसलिये मतिज्ञानादिक का उत्पाद या विनाश, पर से भी नहीं है और द्रव्य स्वय भी उसका दाता नहीं है। प्रतिसमय पर्याय की योग्यता से पर्याय होती है। सामान्य द्रव्य को उसका दाता कहना- वह सापेक्ष है। पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें, तो वह पर्याय स्वय वैसी परिणमित हुई है; उस समय का पर्यायधर्म ही वैसा है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १९८)

-'एक समय की पर्याय सत् है, स्वतन्त्र है। जिस काल जो पर्याय होना है, वह पर्याय अपने षट्कारक की क्रिया से स्वतन्त्र होती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टिजिनेश्वर, बोल संख्या २७०, पृष्ठ ६३)

-'पर्याय का कारण पर्याय ही है। पर्याय की सत्ता गुण के बिना ही पर्याय का कारण है; पर्याय का सूक्ष्मत्व पर्याय का कारण है; पर्याय का वीर्य पर्याय का कारण है; पर्याय का प्रदेशत्व पर्याय का कारण है।'

(चिद्विलास, पञ्चम अध्याय, पृष्ठ ११५-११६)

-'आत्मा में वर्तमान ज्ञप्तिक्रिया- धर्म की क्रिया जो हुई है, वह स्वतः सत् व अहेतुक है। उसका उत्पाद स्वतः उत्पाद से है और तत्कालीन पर्याय की योग्यता ही उसका कारण है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ १६९)

प्रश्न २१- 'पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है'- ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर- पर्याय के ऊपर से लक्ष्य छोड़कर ध्रुवद्रव्य की तरफ ढलने का प्रयोजन है। पर्याय उस

समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है- ऐसा बताकर उसके ऊपर का लक्ष्य छुड़ाकर ध्रुवद्रव्य की ओर लक्ष्य कराने का प्रयोजन है। पर्याय निश्चित है, ध्रुव है; अर्थात्, उस समय की सत् होने से आगे-पीछे हो सके- ऐसा नहीं है। इस प्रकार जाने तो दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे और द्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से वीतरागता उत्पन्न हो। वीतरागता ही मूल तात्पर्य है। अरे! ऐसी बात करोड़ों रूपये अर्पण करने पर भी मिलनेवाली नहीं है। अहा! जिसके जाननेपर वीतरागता उत्पन्न हो, भला उसकी कीमत क्या? वह तो अनमोल है।

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तरसंख्या ४५७, पृष्ठ १७०)

प्रश्न २२- द्रव्य को सर्वथा पर्यायरहित मानने मे क्या दोष आता है?

उत्तर- यदि द्रव्य को सर्वथा पर्यायरहित माना जाये, तो द्रव्य के जो परिणाम प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं, उनमें विरोध उत्पन्न होगा और कार्य-कारणभाव की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी।

-'परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व धारण नही करती, क्योकि वस्तु द्रव्यादि के द्वारा (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से) परिणाम से भिन्न अनुभव मे (देखने मे) नहीं आती, क्योकि (१) परिणामरहित वस्तु गधे के सींग के समान है, तथा (२) उसका दिखायी देनेवाले गोरस इत्यादि (दूध, दही वगैरह) के परिणामों के साथ विरोध आता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १० की टीका, पृष्ठ १५-१६)

-'सन्नित्यं सर्वस्मादिति पक्षे विक्रिया कुतो न्यायात्।

तदभावेऽपि न तत्त्वं क्रिया फलं कारकाणि यावदिति।। ४२३।।'

अर्थ- सत् सर्वथा नित्य है। ऐसा पक्ष स्वीकार करने पर पदार्थ मे विक्रिया किस युक्ति से घटित की जा सकती है? अर्थात् नहीं की जा सकती और पदार्थ में विक्रिया के नही बनने पर तत्त्व, क्रिया, फल, और कारक- ये कुछ भी नही बनते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ४२३ व अर्थ, पृष्ठ ८६)

-'परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः।

तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा।। ९५।।'

अर्थ- परिणाम के न मानने से द्रव्य सदा एकसा प्राप्त होता है। उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं बन सकता और ऐसी अवस्था मे न तो परलोक ही बनता है और न कार्य-कारणभाव ही बन सकता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ९५ व अर्थ, पृष्ठ २१)

प्रश्न २३- द्रव्य को सर्वथा परिणामवाला; अर्थात्, अनित्य मानने में क्या दोष आता है?

उत्तर- यदि द्रव्य को सर्वथा परिणामवाला; अर्थात्, अनित्य माना जाये, तो द्रव्य क्षणिक परिणाममात्र ठहरने से उसके प्रमाण और फल का अभाव सिद्ध होता है और द्रव्य के आश्रय के बिना

परिणाम की ही शून्यता का प्रश्न उपस्थित होता है।

-'(जैसे, परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व धारण नहीं करती, उसी प्रकार) वस्तु के बिना परिणाम भी अस्तित्व को धारण नहीं करता, क्योंकि स्वाश्रयभूत वस्तु के अभाव में (अपने आश्रयरूप जो वस्तु है वह न हो तो) निराश्रय परिणाम को शून्यता का प्रसङ्ग आता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १० की टीका, पृष्ठ १६)

-'परिणामिनोऽप्यभावात् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु।

तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतत्वात्॥ ९६॥'

अर्थ- इसी प्रकार यदि परिणामी (द्रव्य) को न माना जाये, तो वस्तु क्षणिक परिणाममात्र ठहरती है। परन्तु यह बात बनती नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से कथञ्चित् नित्य आत्मा की प्रतीति होती है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ९६ व अर्थ, पृष्ठ २१)

-'अयमप्यात्मरिपुः स्यात् सदनित्यं सर्वथेति किल पक्षः।

प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क्व तत्फलं यस्मात्॥ ४२९॥'

अर्थ- सत् सर्वथा अनित्य है; यह पक्ष भी स्वयं अपना शत्रु है, क्योंकि जब सत् का पहले ही नाश हो जाता है, तब प्रमाण और उसका फल कैसे बन सकता है?

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ४२९ व अर्थ, पृष्ठ ८७)

-'जो अनेक प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं, वे नित्य स्थिर रहनेवाली वस्तु के बिना नहीं हो सकती। यदि नित्य स्थिर रहनेवाला पदार्थ न हो, तो अवस्था कहाँ से आये?'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ २२०)

प्रश्न २४- पर्याय को 'अर्थ' क्यों कहा जाता है?

उत्तर- 'जो द्रव्य को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं, पहुँचते हैं अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त किये जाते हैं -ऐसे 'अर्थ', वे पर्याय हैं।..............जैसे कुण्डल इत्यादि पर्यायें सुवर्ण को क्रमपरिणाम से प्राप्त करती हैं, पहुँचती हैं; अथवा (वे) सुवर्ण के द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त की जाती हैं, पहुँची जाती हैं; इसलिये कुण्डल इत्यादि पर्यायें "अर्थ" हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८७ की टीका, पृष्ठ १५५)

प्रश्न २५- प्रत्येक द्रव्य में कितनी पर्यायें होती हैं?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण की प्रति समय एक पर्याय होती है। इस अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य में एक समय में ही एकसाथ अनन्त पर्यायें हो जाती है तथा एक गुण की अनन्त समयों में अनन्त पर्यायें होती हैं। जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही पर्यायें प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण में होती हैं और वे क्रमशः एक-एक समय में एक ही होती है।

– **'कारणकज्जविसेसा, तिस्सु वि कालेसु होंति वत्थूणं।**
एक्केक्कम्मि य समए, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज।। २२३।।'

अन्वयार्थ– वस्तुओं के पूर्व और उत्तर परिणाम को पाकर तीनो ही कालों मे एक-एक समय में कारण- कार्य के विशेष होते है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २२३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०१)

– 'सब द्रव्यो के अतीतकाल अनन्त समयरूप, आगामीकाल उनके अनन्तगुणा समयरूप है। उस काल के समय-समयवर्ती एक द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्यायें हैं।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३०२ का भावार्थ, पृष्ठ १३३-१३४)

प्रश्न २६– द्रव्य की भूतकाल की पर्यायो की सख्या अधिक है या आगामी (भविष्य) काल की पर्यायों की?

उत्तर– 'द्रव्य की पर्यायो मे अतीत (भूतकालीन) पर्याये अनन्त हैं; अनागत (भविष्यकालीन) पर्याये उनसे अनन्तगुनी हैं; और वर्तमान पर्याय एक ही है। सर्वद्रव्यों के अनन्त समयरूप भूतकाल तथा उससे अनन्तगुने समयरूप भविष्यकाल है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २४८, पृष्ठ ६९)

– **'तेसु अतीदा णंता, अणंतगुणिदा य भाविपज्जाया।**
एक्को वि वट्टमाणो, एत्तियमित्तो वि सो कालो।। २२१।।'

अन्वयार्थ– उन द्रव्यो की पर्यायो मे अतीत पर्याये अनन्त हैं और अनागत पर्यायें उनसे अनन्तगुणी है; वर्तमान पर्याय एक ही है। सो जितनी पर्याये है, उतना ही व्यवहारकाल है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २२१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १००-१०१)

– 'सब द्रव्यो के अतीतकाल अनन्त समयरूप, आगामीकाल उससे अनन्तगुणा समयरूप है। उस काल के समय-समयवर्ती एक द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्याये हैं।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३०२ का भावार्थ, पृष्ठ १३३-१३४)

[**विशेष**– भूतकाल से भविष्यकाल एक समय अधिक है अथवा भविष्यकाल की अपेक्षा भूतकाल एक समय न्यून है- ऐसी मान्यता यथार्थ नहीं हैं। –**श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ ६९]**

प्रश्न २७– द्रव्यों मे विद्यमान पर्यायें उत्पन्न होती हैं या अविद्यमान?

उत्तर– प्रत्येक द्रव्य मे एक-एक समय मे अपने-अपने क्रमपरिणाम मे नवीन-नवीन ही पर्यायें उत्पन्न होती हैं; अर्थात्, अविद्यमान पर्याये ही उत्पन्न होती हैं।

– **'सव्वाण पज्जयाणं, अविज्जमाणाण होदि उप्पती।**
कालाईलद्धीए, अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि।। २४४।।'

अन्वयार्थ- अनादिनिधन द्रव्यो मे कालादिलब्धि से सब अविद्यमान पर्यायों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ- अनादिनिधन द्रव्य मे काल आदि लब्धि से पर्याये अविद्यमान उत्पन्न होती है। ऐसा नहीं है कि सब पर्याये एक ही समय में विद्यमान हों और वे ढकती जाती हैं। (पर्याये) समय-समय क्रम से नवीन-नवीन ही उत्पन्न होती हैं।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २४४, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ १०९)

प्रश्न २८- पर्याय किसका अश है?

उत्तर- 'पर्याय गुण का एक समयपर्यन्त का अंश है; इसलिये द्रव्य का भी एक समयपर्यन्त का अश है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २४४, पृष्ठ ६८)

प्रश्न २९- पर्याय के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- व्यतिरेक, भेद, व्यावृति, परिणाम, कर्म, अंश, भाग, प्रकार, छेद, भेद, अनित्य, विशेष, उत्पाद, व्यय, क्रमवर्ती, भङ्ग आदि पर्याय के नामान्तर है।

-'अपि चांश: पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च।
भेदश्च्छेदो भङ्गः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते।। ६०।।'

अर्थ- इनके अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद, और भङ्ग- ये सब एकार्थ-वाचक है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६० व अर्थ, पृष्ठ १४)

-'व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्याय वाचकाः।। १०।।'

अर्थ- व्यतिरेक, भेद, व्यावृत्ति, परिणाम इत्यादि शब्दो का अर्थ पर्याय होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसार, टीका-पंडित वंशीधर शास्त्री, पृष्ठ १३२)

कर्ता, कर्म और क्रिया

करता परिनामी दरव, करम रूप परिनाम।
किरिया परजयकी फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम।।

अर्थ- अवस्थायें पलटनेवाला द्रव्य कर्ता है; उसकी अवस्था कर्म है, और अवस्था से अवस्थान्तर होना क्रिया है; इस प्रकार (एक ही) वस्तु के तीन नाम हैं।

(श्रीसमयसार-नाटक, कर्ता-कर्म क्रियाद्वार, दोहा ७, पृष्ठ ७१-७२)

पर्याय के भेद

प्रश्न १- पर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर- पर्याय के दो भेद हैं- (१) अर्थपर्याय, और (२) व्यञ्जनपर्याय।

(आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८१, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६७०; श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५६; श्रीपुरुषार्थसिद्धियुपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १४; श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१, ६२, व ६३, पृष्ठ १५; श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २७३ का भावार्थ, पृष्ठ १२२; जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्रीबरैयाजी, प्रश्न ३९, पृष्ठ ८)

[**विशेष**- जिनागम में कहीं-कहीं पर्याय के (१) द्रव्यपर्याय, और (२) गुणपर्याय इस प्रकार दो भेद किये हैं। -'द्रव्य और गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्याय के दो प्रकार हैं- (१) द्रव्यपर्याय, (२) गुणपर्याय।' -**श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ का भावार्थ, पृष्ठ १७४**]

प्रश्न २- द्रव्यपर्याय-गुणपर्याय और व्यञ्जनपर्याय-अर्थपर्याय- पर्याय के इन दो प्रकार के भेदों में क्या अन्तर है?

उत्तर- पर्याय के इन दो प्रकार के भेदो में कोई अन्तर नहीं है। द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय क्रमश: व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय के ही पर्यायवाची नाम हैं। गुण और अर्थ- ये एकार्थवाची होने से जिसे गुणपर्याय कहते हैं, वही अर्थपर्याय है और जिसे द्रव्यपर्याय कहते हैं, वही व्यञ्जनपर्याय है।

-**'गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः।**
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च।। ६२।।
अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि।
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः।। ६३।।'

अर्थ- अर्थ और गुण- ये एकार्थवाची होने से कितने ही विद्वान प्रकृत में गुणपर्यायों को अर्थपर्याय भी कहते हैं।। ६२।। और इसी प्रकार कितने ही विद्वान जिन्हें पहले देशाशों की अपेक्षा द्रव्यपर्याय कह आये हैं, उन्हें व्यञ्जनपर्याय भी कहते हैं।। ६३।।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय गाथा ६२-६३ व अर्थ, पृष्ठ १५)

सारणी १३ : पर्याय के भेद

पर्याय
- व्यञ्जनपर्याय
  - स्वभाव व्यञ्जनपर्याय
    - जीव (सिद्ध)
    - पुद्गल (परमाणु)
    - धर्म
    - अधर्म
    - आकाश
    - काल
  - विभाव व्यञ्जनपर्याय
    - समानजातीय व्यञ्जनपर्याय
      - द्वि-त्रिअणुक आदि स्कन्ध
        - शब्द
        - बन्ध
        - सूक्ष्म
        - स्थूल
        - संस्थान
        - भेद
        - तम
        - छाया
        - आतप
        - उद्योत
    - असमानजातीय व्यञ्जनपर्याय
      - देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च (सभी संसारी (शरीरसहित) जीव)
- अर्थपर्याय
  - स्वभाव अर्थपर्याय
  - विभाव अर्थपर्याय
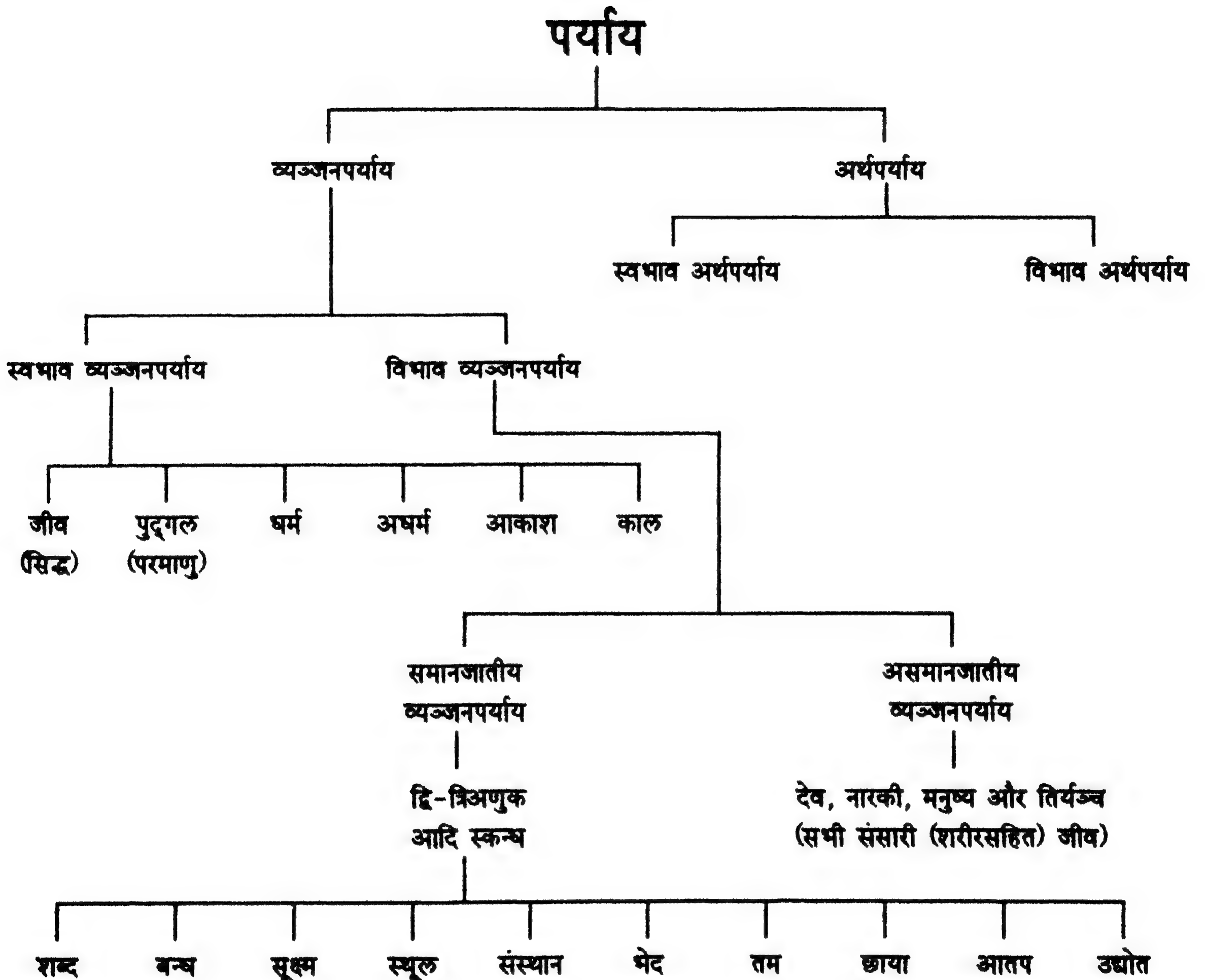
आधार- (१) श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१ से ७०, पृष्ठ १५ से १७; (२) श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ५७, पृष्ठ ५६-५७; (३) श्रीतत्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २४ व टीका, पृष्ठ ३४६-३४७; (४) श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६, पृष्ठ ६०-६१; (५) श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका व भावार्थ, पृष्ठ १७३-१७४; (६) जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ३८ से ४७, पृष्ठ ८-९; एवं (७) श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २११ से २३३, पृष्ठ ६२ से ६६।

व्यञ्जनपर्याय (द्रव्यपर्याय)

प्रश्न १- व्यञ्जनपर्याय अर्थात् द्रव्यपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर- द्रव्य के प्रदेशत्वगुण के विकार को या बहुप्रदेशी द्रव्यो मे प्रदेशो की अपेक्षा से विभाग कल्पना करने को व्यञ्जनपर्याय अर्थात् द्रव्यपर्याय कहते है।

-'अर स्थूल, वचनगोचर, चिरस्थायी असै व्यञ्जनपर्याय;' तथा

-'बहुरि द्रव्य के आकारादि परिणमनरूप व्यञ्जनपर्याय।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८१-५८२, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका, पृष्ठ ६७०-६७१)

-'जिससे व्यक्त हो, प्रगट हो, वह व्यञ्जनपर्याय है।'

(श्रीनियमसार, गाथा १५ की टीका, पृष्ठ ३८)

-'जो नर-नारकादि आकाररूप अथवा सिद्ध के आकाररूप पर्याय है, उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १४)

-'**अंशविभाग: स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये।**
विष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवांगुलिवितस्तिहस्तादि:।। २४।।
प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोऽप्यनन्ताश्च।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्ययाख्यास्ते।। १२५।।'

अर्थ- जिस प्रकार आकाश में विस्तार के अनुसार एक अंगुल, एक विलस्त, और एक हाथ आदिरूप से अंश विभाग किया जाता है; उसी प्रकार जो द्रव्य अखण्डप्रदेशी और बड़ा है, उसमे भी विस्तार के अनुसार अंश विभाग किया जाता है और इस विभाग के अनुसार द्रव्य में पहला, दूसरा इत्यादि रूपसे असंख्यात या उससे भी आगे जाकर अनन्तरूप जितने निरंश अश प्राप्त होते हैं; उतने वे द्रव्यपर्याय माने जाते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २४-२५ व अर्थ, पृष्ठ ७-८)

-'द्रव्य में प्रदेश विभाग ही द्रव्यपर्याय है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १३७-१६३ का विशेवार्थ, पृष्ठ ३५)

–'अनेक द्रव्यात्मक एकता की **प्रतिपत्ति**[१] की कारणभूत द्रव्यपर्याय है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, पृष्ठ १७२)

–'द्रव्य के प्रदेशत्वगुण के विशेष कार्य को व्यञ्जनपर्याय कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २१३, पृष्ठ ६२)

प्रश्न २- व्यञ्जनपर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर- व्यञ्जनपर्याय के दो भेद हैं- (१) स्वभाव व्यञ्जनपर्याय, और (२) विभाव व्यञ्जनपर्याय।

(आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २१४; श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५७; श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१ से ७० का विशेषार्थ, पृष्ठ १६-१७; जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ४१, पृष्ठ ८)

प्रश्न ३- स्वभाव व्यञ्जनपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर- पर निमित्त के सम्बन्ध से रहित द्रव्य का जो आकार होता है, उसे स्वभाव व्यञ्जनपर्याय कहते है।

–'परमाणु का जो आकार, वह स्वभावद्रव्य व्यञ्जनपर्याय है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५७)

–'बिना दूसरे निमित्त से जो व्यञ्जनपर्याय हो, उसे स्वभाव व्यञ्जनपर्याय कहते हैं; जैसे, जीव की सिद्धपर्याय।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ४२, पृष्ठ ८)

–'पर निमित्त के सम्बन्धरहित द्रव्य का जो आकार हो, उसे स्वभाव व्यञ्जनपर्याय कहते हैं; जैसे, सिद्धभगवान का आकार।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २१५, पृष्ठ ६२)

प्रश्न ४- विभाव व्यञ्जनपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर- पर निमित्त के सम्बन्धसहित द्रव्य का जो आकार होता है, उसे विभाव व्यञ्जनपर्याय कहते हैं; जैसे, पुद्गल की स्कन्धरूप पर्याय व जीव की नर-नारकादि पर्याय।

–'एक परमाणु मे दो, तीन इत्यादि अनेक परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होना, ये विभावद्रव्य व्यञ्जनपर्याय है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५७)

–'दूसरे के निमित्त से जो व्यञ्जनपर्याय हो, उसको विभाव व्यञ्जनपर्याय कहते हैं;

---

१. **प्रतिपत्ति**- प्राप्ति; ज्ञान; स्वीकार। **(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, पृष्ठ १७२ की पादटिप्पणी)**

जैसे, जीव की नर-नारकादि पर्याय।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ४३, पृष्ठ ८)

-'पर निमित्त के सम्बन्धवाले द्रव्य का जो आकार हो, उसे विभावव्यञ्जनपर्याय कहते हैं; जैसे, जीव की नर-नारकादि पर्याय।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २१६, पृष्ठ ६२)

[**विशेष- (१)** ग्रन्थाधिराज श्रीनियमसार में 'स्वभावपर्याय' और 'विभावपर्याय' का सामान्यरूप से उल्लेख है। वहाँ कर्मोपाधि (परद्रव्य) के सम्बन्धरहित पर्याय को 'स्वभावपर्याय' और कर्मोपाधिसहित पर्याय को 'विभावपर्याय' बताया है-

-'णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।। १५।।'

अन्वयार्थ- मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च, और देवरूप पर्यायें- वे विभावपर्यायें कही गयी हैं; कर्मोपाधिरहित पर्यायें- वे स्वभावपर्यायें कही गयी हैं। **-श्रीनियमसार, गाथा १५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३६;**

(२) श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह में नर-नारक आदि पर्यायों में परद्रव्य का निमित्त होने के कारण उन्हें 'अशुद्ध पर्यायें' नाम दिया है। 'देव-नारक-तिर्यञ्च-मनुष्यस्वरूप पर्यायें परद्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं; इसलिये अशुद्धपर्यायें हैं।' **-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ३७**]

प्रश्न ५- एक द्रव्य में कितनी व्यञ्जनपर्यायें होती हैं?

उत्तर- एक द्रव्य में एक ही व्यञ्जनपर्याय होती है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में एक ही प्रदेशत्वगुण होता है और प्रदेशत्वगुण के परिणमन को व्यञ्जनपर्याय कहते हैं।

-'प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशत्वगुण के कारण व्यञ्जनपर्याय एक होती है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २२७, पृष्ठ ६४)

प्रश्न ६- स्वभाव व्यञ्जनपर्याय किस द्रव्य में होती है?

उत्तर- शुद्ध जीव (सिद्ध), शुद्ध पुद्गल (परमाणु), धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्यों में स्वभाव व्यञ्जनपर्याय ही होती है।

-'जीव के सिद्धत्वादि स्वभाव पर्याय हैं.................और परमाणु का जो आकार वह स्वभावद्रव्य व्यञ्जनपर्याय है।...............जीव और पुद्गल- इन दोनों में स्वभाव और विभाव दोनों हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल- इन चारों में अस्तित्वादि स्वभावगुण ही हैं..............धर्मादि (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) के- चार पदार्थों के विभावगुण पर्याय नहीं है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, गाथा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५६-५७)

-'(स्वभाव व्यञ्जनपर्याय) शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल में तथा धर्मादि शेष चार द्रव्यों में घटित होती है।'

(आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१-७० का विशेषार्थ, पृष्ठ १६)

-'शुद्ध जीवास्तिकाय मे (मुक्तदशा में) सिद्धत्वलक्षणरूप शुद्धद्रव्य-व्यञ्जनपर्याय।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २४ की टीका, पृष्ठ ७९)

प्रश्न ७- विभाव व्यञ्जनपर्याय किस द्रव्य मे होती है?

उत्तर- संसारी जीवों व स्कन्ध में विभाव व्यञ्जनपर्याय होती है।

-'छह द्रव्यो में विभावपरिणाम के परिणमनेवाले जीव और पुद्गल दो ही हैं। अन्य चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य) अपने स्वभावरूप तो परिणमते हैं, लेकिन जीव-पुद्गल की तरह विभाव व्यञ्जनपर्याय के अभाव से विभाव परिणमन नहीं है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, दूसरा अध्याय, दोहा २८ का भावार्थ, पृष्ठ १४५)

-'एक परमाणु में दो, तीन, इत्यादि अनेक परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होना- ये विभावद्रव्य व्यञ्जनपर्याय है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५७)

-'व्यञ्जनपर्याय (विभाव) अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गलद्रव्य में घटित होती है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१-७० का विशेषार्थ, पृष्ठ १६)

प्रश्न ८- एक आत्मा में व्यञ्जनपर्यायें कितनी हैं?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य मे एक प्रदेशत्वगुण होने के कारण एक आत्मा में एक ही व्यञ्जनपर्याय होती है।

प्रश्न ९- एक स्कन्ध में व्यञ्जनपर्यायें कितनी हैं?

उत्तर- एक स्कन्ध में जितने परमाणु हैं, उतनी ही व्यञ्जनपर्यायें होती हैं, क्योंकि एक परमाणु (एक द्रव्य) में एक व्यञ्जनपर्याय होती है।

प्रश्न १०- सादिअनन्त[१] स्वभाव व्यञ्जनपर्याय किसमें होती हैं?

---

१. समय (काल) को चार भागों में बाँटा जा सकता है- **(क)** अनादिअनन्त, **(ख)** सादिअनन्त, (ग) अनादिसान्त, और **(घ)** सादिसान्त।

(क) अनादिअनन्त- जिसका आदि और अन्त न हो, उसे अनादिअनन्त कहते हैं। द्रव्य और गुण अनादिअनन्त हैं। अभव्य जीव की संसार पर्याय भी अनादिअनन्त है।

(ख) सादिअनन्त- क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञानादि क्षायिकभाव, तथा मोक्ष पर्याय नये प्रगट होते हैं। उस अपेक्षा से वे सादि (आदिसहित) और वे पर्यायें बदलने पर भी ज्यों के त्यों अनन्तकाल होते ही रहते हैं; इसलिये उन्हे अनन्त कहा है।

(ग) अनादिसान्त- संसार पर्याय अनादिकालीन है, किन्तु जिस भव्यजीव के ससारदशारूप अशुद्धपर्याय का अन्त आ जाता है, उसे वह अनादिसान्त है।

..............**क्रमशः**

उत्तर- सादिअनन्त स्वभाव व्यञ्जनपर्याय सिद्धभगवान मे होती है; औरो में नहीं होती है।

-'सादिअनन्त स्वभाव व्यञ्जनपर्याय सिद्धभगवान को होती है, क्योंकि उनके विकार और पर निमित्त का सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २२९, पृष्ठ ६५)

प्रश्न ११- सादिसान्त स्वभाव व्यञ्जनपर्याय किसमे होती हैं?

उत्तर- पुद्‌गल का बन्ध-मुक्त स्वभाव होने से सादिसान्त स्वभाव व्यञ्जनपर्याय पुद्‌गल परमाणु में ही होती है।

-'सादिसान्त स्वभाव व्यञ्जनपर्याय एक पुद्‌गल परमाणु मे ही होती है। जब वह (परमाणु) स्कन्ध से पृथक् होता है, तब शुद्ध होता है। लेकिन जब पुन: स्कन्धरूप परिणमित होता है, तब अशुद्ध हो जाता है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २३३, पृष्ठ ६६)

प्रश्न १२- अनादिअनन्त स्वभाव व्यञ्जनपर्याय किसमे होती है?

उत्तर- धर्म, अधर्म, आकाश, और काल- ये चारो द्रव्य अनादिअनन्त शुद्ध हैं; अत: इन चारों मे अनादिअनन्त स्वभाव व्यञ्जनपर्याय ही होती है।

-'त्रिकाल स्वभाव व्यञ्जनपर्याय धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और काल -इन चार द्रव्यो के होती है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २३१, पृष्ठ ६५)

प्रश्न १३- जीव में विभाव व्यञ्जनपर्याय कहाँ तक होती हैं?

उत्तर- पहले गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक के सभी जीवो मे विभाव व्यञ्जनपर्याय ही होती है; अर्थात्, मात्र सिद्धभगवान को छोड़कर सब जीवों में विभाव व्यञ्जनपर्याय होती है।

-'चौदहवें गुणस्थान तक सर्व संसारी जीवों को विभाव व्यञ्जनपर्याय होती है, क्योंकि वहाँ तक जीव का पर निमित्त (पौद्‌गलिक कर्म) के साथ सम्बन्ध रहता है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २२८, पृष्ठ ६५)

[**विशेष**- जिनागम में कहीं-कही शुद्ध द्रव्यो की व्यञ्जनपर्यायरहित परिणति कही गयी है। श्रीप्रवचनसार में भी अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्‌गल (स्कन्ध) में ही व्यञ्जनपर्याय स्वीकार करते हुए अनेक द्रव्यों में एकता की प्रतिपत्ति (ज्ञान) को द्रव्यपर्याय (व्यञ्जनपर्याय) कहा है और समानजातीय व्यञ्जनपर्याय और असमानजातीय व्यञ्जनपर्याय उसके दो भेद किये हैं।

(ब) सादिसान्त- सम्यक्‌दृष्टि को मोक्षमार्ग-सम्बन्धी क्षयोपशम तथा उपशमभाव नये-नये होते हैं, इसलिये वे सादि और उनका अन्त आता है; इसलिये सान्त है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २८४, पृष्ठ ७८ व ७९)

-'अर्थपर्याय तो छहों द्रव्यों में पायी जाती है, किन्तु व्यञ्जनपर्याय जैसी अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गलद्रव्य मे घटित होती है; वैसी शुद्ध जीव, शुद्ध पुद्गल में, तथा धर्मादि शेष चार द्रव्यों में घटित नहीं होती, क्योंकि इन द्रव्यों का सदा अवस्थित एक आकार पाया जाता है; इसलिये इन द्रव्यों में आकारमात्र को देखकर व्यञ्जनपर्याय कही गयी है। प्रवचनसार मे बताया है कि जो अनेक द्रव्यरूप एकता की प्रतिपत्ति का कारण है, वह व्यञ्जनपर्याय है। इसके समानजातीय और असमानजातीय ऐसे दो भेद हैं।' **-श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१-७० का विशेषार्थ, पृष्ठ १६;**

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि कही-कही जिनागम में ससारी जीव और स्कन्धों में घटित होनेवाली विभाव व्यञ्जनपर्याय को ही व्यञ्जनपर्याय माना गया है।]

प्रश्न १४- उपर्युक्त विवेचन[१] की अपेक्षा विभाव व्यञ्जनपर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर- विभाव व्यञ्जनपर्याय के दो भेद हैं- (१) समानजातीय व्यञ्जनपर्याय, और (२) असमानजातीय व्यञ्जनपर्याय।

-'द्रव्यपर्याय के दो भेद हैं- (१) समानजातीय; जैसे, द्विअणुक, त्रिअणुक इत्यादि स्कन्ध; और (२) असमानजातीय; जैसे, मनुष्य, देव इत्यादि।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ का भावार्थ, पृष्ठ १७४)

-'जीव और पुद्गल में वैभाविक नाम का एक गुण है जिसके निमित्त से पुद्गलों में तो सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार का बन्ध होता है, किन्तु जीवद्रव्य में सजातीय बन्ध न होकर केवल विजातीय बन्ध ही होता है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य में सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के बन्ध की कारणभूत वैभाविकीशक्ति मानी गयी है और जीव में केवल विजातीय बन्ध की कारणभूत वैभाविकीशक्ति मानी गयी है। इसलिये पुद्गल के साथ पुद्गल का और जीव के साथ भी पुद्गल का सम्बन्ध होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है, उसे (समानजातीय और असमानजातीय) व्यञ्जनपर्याय कहते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २३२-२४७ का विशेषार्थ, पृष्ठ ५०)

प्रश्न १५- समानजातीय द्रव्यपर्याय (व्यञ्जनपर्याय) किसे कहते हैं?

उत्तर- एक पुद्गल जाति के अनेक द्रव्यों में एकपने के ज्ञान को समानजातीय द्रव्यपर्याय (व्यञ्जनपर्याय) कहते हैं; जैसे, द्विअणुक, त्रिअणुक आदि स्कन्ध।

-'जैसे अनेक पटात्मक (एक से अधिक वस्त्रों से निर्मित) द्विपटिक, त्रिपटिक ऐसे समानजातीय द्रव्यपर्याय है; उसी प्रकार अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक ऐसी समानजातीय

---

१. श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१-७० के विशेषार्थ के कथित विवेचन

द्रव्यपर्याय है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, पृष्ठ १७३)

–'अनेक पुद्‌गलरूप, जो द्विअणुक और त्रिअणुक आदि बनते हैं, वह समानजातीय व्यञ्जनपर्याय हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१-७० का विशेषार्थ, पृष्ठ १७)

प्रश्न १६- समानजातीय द्रव्यपर्यायें; अर्थात्, पुद्‌गल की विभाव व्यञ्जनपर्यायें कौनसी हैं?

उत्तर- (१) शब्द, (२) बन्ध, (३) सूक्ष्म, (४) स्थूल, (५) संस्थान, (६) भेद, (७) तम, (८) छाया, (९) आतप, और (१०) उद्योत- ये पुद्‌गलद्रव्य की विभाव व्यञ्जनपर्यायें हैं।

–'**शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च॥ २४॥**'

अर्थ- उक्त लक्षणवाले पुद्‌गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप, और उद्योतादिवाले होते हैं; अर्थात्, ये भी पुद्‌गल की पर्यायें हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २४ व अर्थ, पृष्ठ ३४६)

–'**सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।**
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥ १६॥'

अर्थ- शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, सस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत, और आतप पुद्‌गलद्रव्य की पर्यायें हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ व गाथार्थ, पृष्ठ ६०)

प्रश्न १७- शब्द किसे कहते हैं?

उत्तर- जो कान से सुना जाये (जिसके ज्ञान में कर्णेन्द्रिय निमित्त हो), उसे शब्द कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४७)

–'वीणा आदि का स्वर शब्द है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १६, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी)

–'**सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।**
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो॥ ७९॥'

अर्थ- शब्द स्कन्धजन्य है। स्कन्ध परमाणुदल का संघात है और वे स्कन्ध स्पर्शित होने -टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार वह (शब्द) नियत रूप से **उत्पाद्य**[1] है।

टीका- शब्द पुद्‌गलस्कन्धपर्याय है। इस लोक में बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित,

---

१. **उत्पाद्य**- उत्पन्न करानेयोग्य, जिसकी उत्पत्ति मे अन्य कोई निमित्त होता है, ऐसा।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९, पृष्ठ १२७ की पादटिप्पणी)

भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य- ऐसी जो ध्वनि, वह शब्द है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९, अन्वयार्थ एवं टीका, पृष्ठ १२६)

प्रश्न १८- शब्द कितने प्रकार के हैं?

उत्तर- शब्द के दो प्रकार हैं- (१) भाषात्मक, और (२) अभाषात्मक।

(१) भाषात्मक शब्द- जो मुख से उत्पन्न हो, सो भाषात्मक शब्द है।

(२) अभाषात्मक शब्द- जो दो वस्तुओं के आघात से उत्पन्न हो, उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होने में प्राणी तथा जड़ पदार्थ दोनों निमित्त हैं।

भाषात्मक शब्द के दो भेद हैं- (क) अक्षरात्मकभाषा, और (ख) अनक्षरात्मकभाषा।

(क) अक्षरात्मकभाषा- संस्कृत, प्राकृत आदि देशभाषारूप हैं। उसमें भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पिशाची आदि भाषा के भेद से आर्य अथवा म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अक्षरात्मकभाषा अनेक प्रकार की है।

(ख) अनक्षरात्मकभाषा- जो द्विन्द्रियादिक तिर्यञ्च जीवों के शब्दरूप से तथा केवली भगवान की दिव्यध्वनिरूप से हो, वह अनक्षरात्मकभाषा है।

अभाषात्मकशब्द के भी दो भेद हैं- (क) प्रायोगिक, और (ख) वैस्रसिक।

(क) प्रायोगिक- अर्थात्, प्रयोग से हुए। पुरुषादि के प्रयोग (निमित्त) से उत्पन्न होनेवाला शब्द प्रायोगिक है; जैसे, वीणा, ढोल, झाँझ, बसरी आदि से उत्पन्न हुआ शब्द।

प्रायोगिक शब्द के चार प्रकार हैं- (१) तत, (२) वितत, (३) घन, और (४) सुषिर।

-**'ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं परहादिकम्।**
घनं तु कांस्यतालादि सुषिरं वंशादिकं विदुः॥'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९ की तात्पर्यवृत्ति टीका)

(१) तत- वीणा (तारवाली), सितार, तम्बूरादि से उत्पन्न शब्द 'तत' है; **(२) वितत-** ढोल, नगाड़े आदि से उत्पन्न शब्द 'वितत' है; **(३) घन-** मँजीरा, घण्टा आदि की ध्वनि 'घन' है; और **(४) सुषिर-** बंशी, शङ्खादि से उत्पन्न ध्वनि 'सुषिर' है।

(ख) वैस्रसिक- अर्थात्, स्वभाव से हो ऐसा। मेघ (बादल-गर्जना) आदि से उत्पन्न शब्द वैस्रसिक है।

[(१) श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४६-३४७; (२) श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९, पृष्ठ १२७ की पादटिप्पणी; (३) श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६०-६१; एवं (४) श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९ की तात्पर्यवृत्ति टीका।]

प्रश्न १९- क्या शब्द आकाश का गुण है?

उत्तर- 'शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय है; इसलिये वह मूर्त है। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द

आकाश का गुण है, लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि आकाश अमूर्त है; इसलिये उसके (आकाश के) गुण भी अमूर्त हैं और अमूर्तगुण इन्द्रिय का विषय नही हो सकता।

(आधार–श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९ की पृष्ठ १२७ की पादटिप्पणी)

प्रश्न २०– शब्द कैसे उत्पन्न होता है?

उत्तर– महास्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है।

सारणी १४ : शब्द के भेद–प्रभेद

- **शब्द**
  - भाषात्मक
    - अक्षरात्मक
    - अनक्षरात्मक
  - अभाषात्मक
    - प्रायोगिक
      - तत
      - वितत
      - घन
      - सुषिर
    - वैस्रसिक
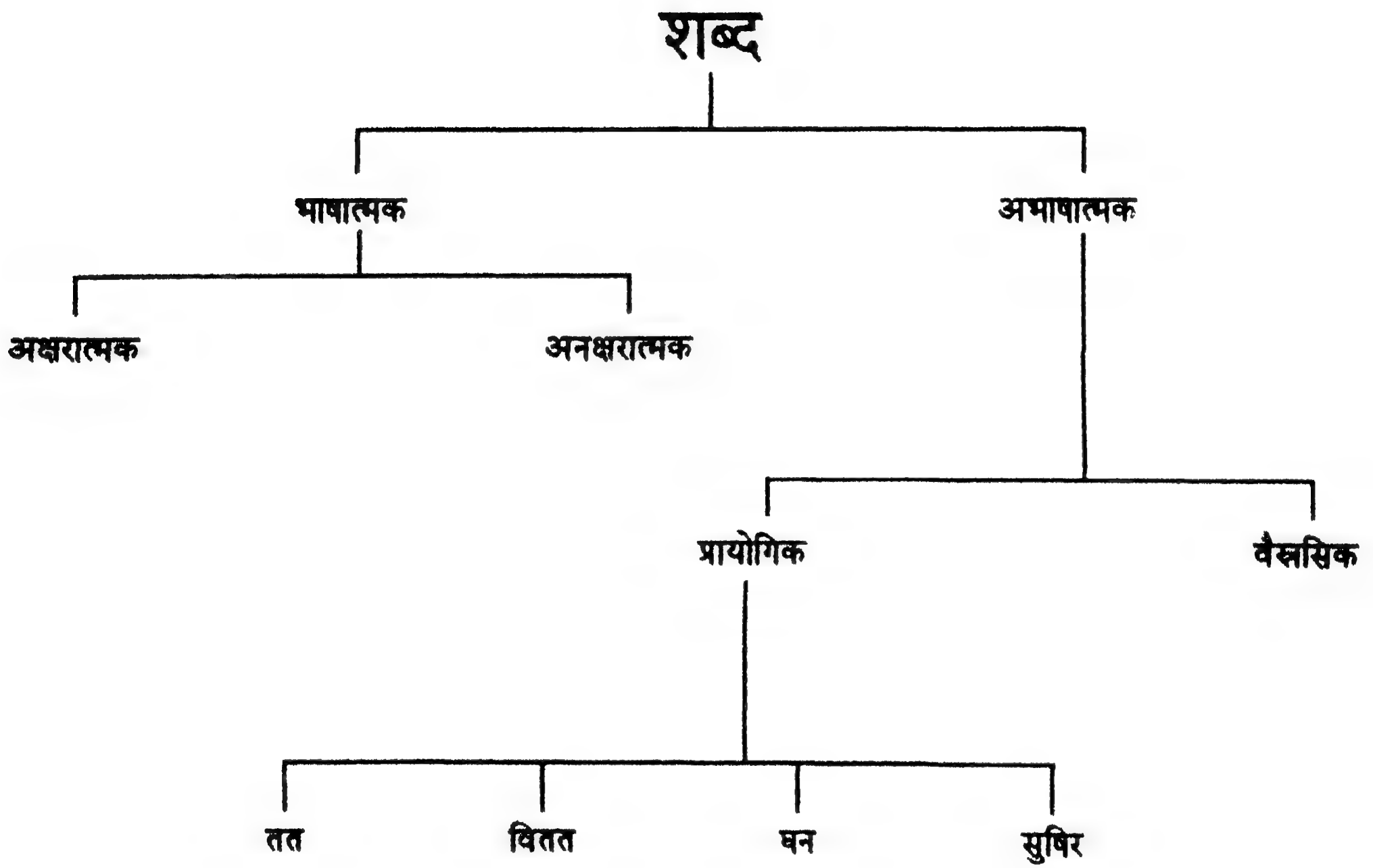
आधार– (१) श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४६–३४७;
(२) श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९, पृष्ठ १२७ की पादटिप्पणी; एवं
(३) श्रीवृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६०–६१।

प्रश्न २१– क्या शब्द स्कन्धजन्य है?

उत्तर– नहीं! वास्तव में तो शब्दयोग्य वर्गणाएँ स्वयं शब्दरूप परिणमित होती है, लेकिन स्कन्धों (गला, होट, घण्टा आदि) के शब्द की उत्पत्ति में निमित्त होने के कारण शब्द को व्यवहार से स्कन्धजन्य भी कहा जाता है।

–'बहिरङ्ग साधनभूत (बाह्य कारणभूत) महास्कन्धो द्वारा तथाविध परिणामरूप (शब्द-परिणामरूप) उत्पन्न होने से वह (शब्द) स्कन्धजन्य है।' तथा–

–'समस्त लोक में सर्वत्र व्याप्त अनन्त परमाणुमयी शब्दयोग्य वर्गणाएँ स्वयमेव शब्दरूप परिणमित होनेपर भी वायु, गला, तालु, ओष्ठ, घण्टा-मोगरी आदि महास्कन्धों का टकराना वह बहिरङ्गकारण सामग्री है; अर्थात्, शब्दरूप परिणमन मे वे महास्कन्ध निमित्तभूत हैं; इसलिये इस अपेक्षा से (निमित्त अपेक्षा से) शब्द को व्यवहार से स्कन्धजन्य कहा जाता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९ की टीका, पृष्ठ १२६ व पृष्ठ १२७ की पादटिप्पणी)

प्रश्न २२- शब्द का उपादानकारण क्या है?

उत्तर- 'किसी भी प्रकार का शब्द हो, सभी शब्दों का उपादानकारण लोक में सर्वत्र व्याप्त शब्द योग्य वर्गणाएँ ही हैं। वे वर्गणाएँ ही स्वयमेव शब्दरूप से परिणमित होती हैं। जीभ, गला, ढोल, मेघ आदि मात्र निमित्तभूत हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९, पृष्ठ १२७ की पादटिप्पणी)

–'शब्दातीत निज परमात्मा की भावना से च्युत हुए शब्दादि मनोज्ञ और अमनोज्ञ पाँच इन्द्रियों के विषयो मे आसक्त जीवों ने जो सुस्वर और दु:स्वर नामक नामकर्म उपार्जित किया था, उसके उदय से यद्यपि जीव मे शब्द दिखलायी देता है; तो भी उस जीव के संयोग से उत्पन्न हुआ होने से व्यवहार से "जीव का शब्द" कहलाता है। परन्तु निश्चय से तो वह शब्द पुद्गल स्वरूप ही है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६१)

प्रश्न २३- बन्ध किसे कहते है और बन्ध कितने प्रकार का है?

उत्तर- जिस सम्बन्ध विशेष से अनेक वस्तुओं में एकपने का ज्ञान हो, उस सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं। बन्ध के तीन प्रकार हैं- (१) जीवबन्ध, (२) पुद्गलबन्ध, और (३) उभयबन्ध। आत्मा में राग-द्वेष की उत्पत्ति होना जीवबन्ध है; अनेक पुद्गलों का बन्ध पुद्गलबन्ध है; और जीव तथा पुद्गलों का बन्ध उभयबन्ध है।

–'अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मक:।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत् तृतीयो द्वन्द्वज: क्रमात्।। ४६।।
रागात्मा भावबन्ध: स जीवबन्ध इति स्मृत:।
द्रव्यं पौद्गलिक: पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा।। ४७।।
इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथ:।
बन्ध्यबन्धकभाव: स्याद्भावबन्धनिमित्तत:।। ४८।।

सारणी १५ (क) : बन्ध के भेद-प्रभेद

बन्ध
- प्रायोगिक
  - अजीवविषय
  - जीवविषय
- वैस्रासिक
  - आदिमान
  - अनादिमान
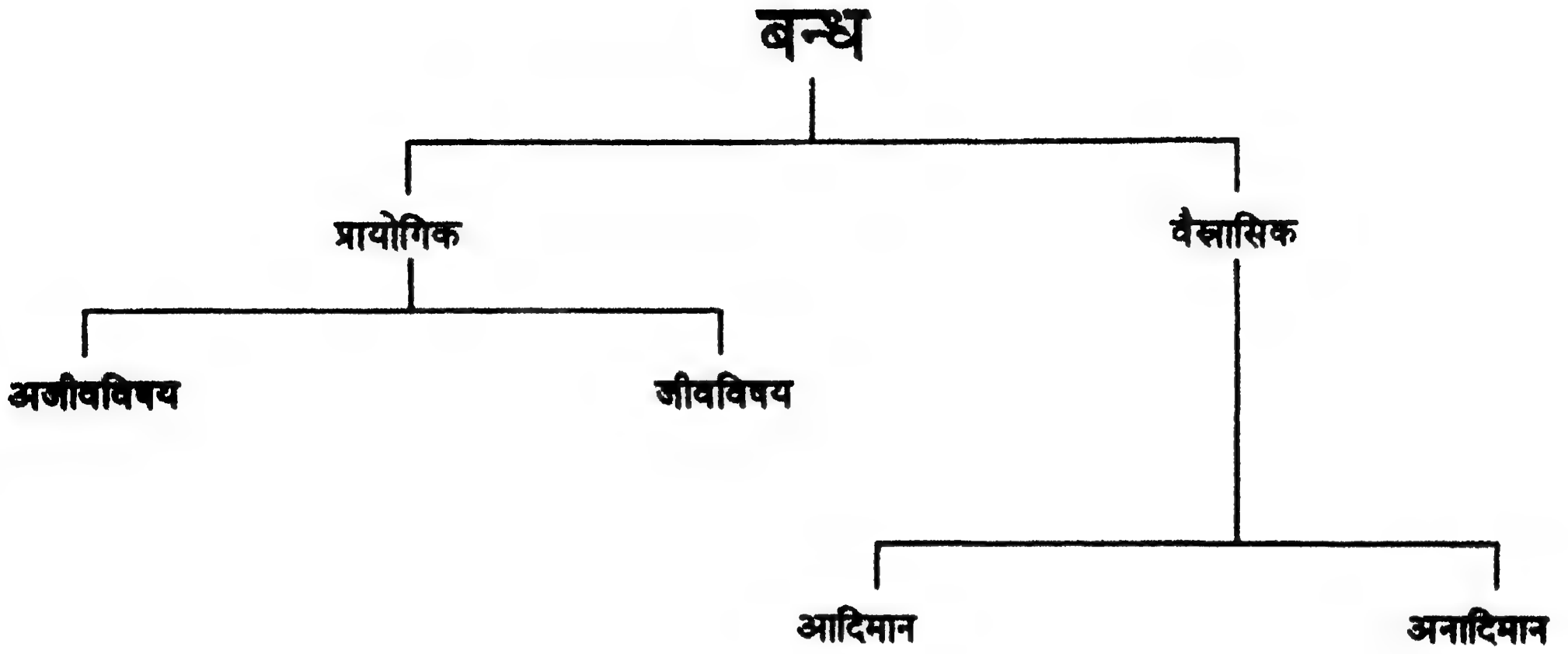
आधार- (१) श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ४६ से ४८ व अर्थ, पृष्ठ १५८; एवं
(२) श्रीप्रवचनसार, गाथा १७७ की टीका, पृष्ठ ३५०।

सारणी १५ (ख) : बन्ध के भेद-प्रभेद

बन्ध
- जीवबन्ध
- पुद्गलबन्ध
- उभयबन्ध
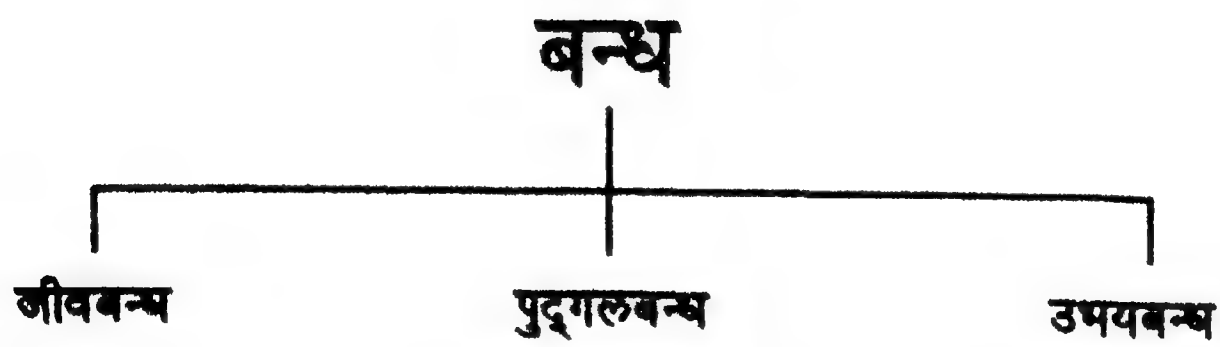
आधार- (१) श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ४६ से ४८ व अर्थ, पृष्ठ १५८; एवं
(२) श्रीप्रवचनसार, गाथा १७७ की टीका, पृष्ठ ३५०।

अर्थ- वास्तव में बन्ध तीन प्रकार का है- भावबन्ध, द्रव्यबन्ध, और उभयबन्ध। प्रारम्भ के दो प्रत्येक हैं और तीसरा जीव और पुद्गल इन दोनों के मेल से होता है।। ४६।। भावबन्ध रागद्वेषरूप होता है। इसे जीवबन्ध भी कहते हैं। द्रव्यबन्ध कर्मरूप पुद्गल पिण्ड को कहते हैं।। ४७।। तथा जीव और कर्म इन दोनों के प्रदेशों का परस्पर में बन्ध्यबन्धकभाव उभयबन्ध कहलाता है जो भावबन्ध के निमित्त से होता है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ४६-४७-४८ व अर्थ, पृष्ठ १५८)

-'प्रथम तो यहाँ कर्मों का जो स्निग्धता-रूक्षतारूप स्पर्श विशेषों के साथ एकत्व परिणाम है, सो केवल पुद्गलबन्ध है; और जीव का औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायों के साथ जो एकत्व परिणाम है, सो केवल जीवबन्ध है; और जीव तथा कर्मपुद्गल के परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबन्ध है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १७७ की टीका, पृष्ठ ३५०)

-'मिट्टी के पिण्डादिरूप जो यह अनेक प्रकार का बन्ध है, वह तो केवल पुद्गल-बन्ध ही है और जो कर्म-नोकर्मरूप (जीव के साथ) बन्ध है, वह जीव और पुद्गल के संयोगरूप (उभय) बन्ध है तथा विशेष-कर्मबन्ध से पृथग्भूत् स्वशुद्धात्मा की भावना से रहित जीव को अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से द्रव्यबन्ध कहलाता है। उसी प्रकार अशुद्धनिश्चयनय से जो यह रागादिरूप भावबन्ध (जीवबन्ध) कहलाता है, वह भी शुद्ध निश्चयनय से पुद्गलबन्ध ही है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६१-६२)

प्रश्न २४- बन्ध के दूसरी अपेक्षा से कितने प्रकार हैं?

उत्तर- बन्ध के दो प्रकार हैं- (१) प्रायोगिक, और (२) वैस्रसिक।

(१) प्रायोगिक बन्ध- जो पुरुष की अपेक्षासहित हो, वह प्रायोगिक बन्ध है। इसके दो भेद हैं- (क) अजीवविषय, और (ख) जीवाजीवविषय।

(क) अजीवविषय- लाख और लकड़ी का जो बन्ध है, सो अजीव विषयक प्रायोगिकबन्ध है;

(ख) जीवाजीवविषय- जीव के जो कर्म और नोकर्म का बन्ध है, सो जीवाजीवविषयक प्रायोगिकबन्ध है।

(२) वैस्रसिक बन्ध- पुरुष की अपेक्षा रहित जो बन्ध होता है, उसे वैस्रसिक बन्ध कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं- (क) आदिमान, और (ख) अनादिमान।

(क) आदिमान- पुद्गल में स्निग्ध-रूक्षादि के कारण जो बिजली, उल्कापात, बादल, आग, इन्द्रधनुष आदि होते हैं; सो आदिमान वैस्रसिक बन्ध हैं।

(ख) अनादिमान- पुद्गल महास्कन्ध आदि अनादिमान वैस्रसिक बन्ध है। [धर्म, अधर्म, और आकाश अमूर्तिक द्रव्यों मे वैस्रसिक अनादिमान बन्ध उपचार से कहा जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, और जगद्व्यापी महास्कन्ध के बीच मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थ का अनादिमान वैस्रसिक बन्ध है।]

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४७)

प्रश्न २५- सूक्ष्म किसे कहते हैं और सूक्ष्म के कितने भेद हैं?

उत्तर- जो इन्द्रियो के द्वारा अग्राह्य हो, सो सूक्ष्म है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १६, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी)

सूक्ष्म के दो भेद हैं- (१) अन्त्य (साक्षात्), और (२) आपेक्षिक।

(१) अन्त्य (साक्षात्)- पुद्गल परमाणु को अन्त्य; अर्थात्, साक्षात् सूक्ष्मपना है, और

(२) आपेक्षिक- बिल्वफल (आँवला) की अपेक्षा बेर का सूक्ष्मपना आपेक्षिक सूक्ष्म है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४७ एवं श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२)

प्रश्न २६- स्थूल किसे कहते हैं और स्थूल के कितने भेद है?

उत्तर- जो इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हो, सो स्थूल है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १६, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी)

स्थूल के भी दो भेद हैं- (१) अन्त्य, और (२) आपेक्षिक।

(१) अन्त्य- जगद्व्यापी (तीनोलोक मे व्याप्त) महास्कन्ध अन्त्य स्थूल है; अर्थात् उसमें सबसे अधिक स्थूलता है; और

(२) आपेक्षिक- बेर की अपेक्षा बिल्वफल (आँवले) का स्थूलपना आपेक्षिक स्थूल है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८, एवं श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२)

प्रश्न २७- सस्थान किसे कहते हैं और संस्थान के कितने भेद हैं?

उत्तर- आकृति को सस्थान कहते है। इसके दो भेद हैं- (१) इत्थंलक्षण सस्थान, और (२) अनित्थलक्षण संस्थान।

(१) इत्थंलक्षण संस्थान- गोल, त्रिकोण, चौरस, लम्बा, चौड़ा, और परिमण्डल- ये इत्थलक्षण संस्थान हैं; और

(२) अनित्थंलक्षण संस्थान- जिसकी कोई नियत आकृति नहीं; जैसे, बादल आदि।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८)

[**विशेष**- समचतुरस्त्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन, और हुण्डक के भेद से छह प्रकार का संस्थान यद्यपि जीव को व्यवहारनय से है; तो भी संस्थानरहित चैतन्यचमत्कार की परिणति से भिन्न होने से निश्चयनय से वह संस्थान (उक्त छह संस्थान) पुद्गल का ही है। जीव से भिन्न जो गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि व्यक्त-अव्यक्तरूप अनेक प्रकार के संस्थान हैं; वे भी पुद्गल ही हैं। **-श्रीवृहद्-द्रव्यसग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२**]

प्रश्न २८- भेद किसे कहते हैं और भेद कितने हैं?

उत्तर- स्कन्ध के किसी भी भाग; अर्थात्, खण्ड को भेद कहते हैं।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १६, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी)

भेद छह प्रकार का है- (१) उत्कर, (२) चूर्ण, (३) खण्ड, (४) चूर्णिका, (५) प्रतर, और (६) अनुचटन।

(१) उत्कर- आरे आदि से लकड़ी आदि का विदारण, सो उत्कर है; **(२) चूर्ण**- जौ, गेहूँ, बाजरा आदि का आटा, सो चूर्ण है; **(३) खण्ड**- घड़े आदि के टुकड़े, सो खण्ड हैं; **(४) चूर्णिका**- उड़द, चना, मूँग, चोला आदि दालें चूर्णिका हैं; **(५) प्रतर**- (शास्त्र में इसका वर्णन प्राप्त नहीं हुआ); और **(६) अनुचटन**- तप्तमान लोहे को घन आदि से पीटने पर निकलनेवाले स्फुलिङ्ग (चिन्गारियाँ) अनुचटन है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८)

-'गेहूँ आदि के चूर्णरूप तथा घी, शक्कर आदिरूप अनेक प्रकार के आकार भेद जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२)

प्रश्न २९- तम किसे कहते हैं?

उत्तर- तम अर्थात् अन्धकार। दृष्टि को रोकनेवाले अन्धकार को तम कहते हैं। यह प्रकाश का विरोधी है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ४८; एवं श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२)

प्रश्न ३०- छाया किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रकाश को ढके सो छाया है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका)

-'वृक्षादि के आश्रय से होनेवाले तथा मनुष्यादि की प्रतिच्छायारूप जो है, उसे छाया जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२)

सारणी १६ : सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, व छाया के भेद

(क) सूक्ष्म

- अन्त्य (साक्षात्)
- आपेक्षिक

(ख) स्थूल

- अन्त्य (साक्षात्)
- आपेक्षिक

(ग) संस्थान

- इत्थंलक्षणसंस्थान
- अनित्थंलक्षणसंस्थान

(घ) भेद (खण्ड)

- उत्कर
- चूर्ण
- खण्ड
- चूर्णिका
- प्रतर
- अनुचटन

(च) छाया

- तद्वर्णपरिणति
- प्रतिबिम्बस्वरूप

आधार- (१) श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४७; एवं
(२) श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२।

-'धूप में मनुष्यादि की छाया तथा दर्पण में मुखादि का दिखना, छाया अर्थात् प्रतिबिम्ब है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा १६, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी)

छाया के दो भेद हैं- (१) तदवर्णपरिणति, और (२) प्रतिबिम्बस्वरूप।

(१) तद्वर्णपरिणति- रङ्गीन काँच में से देखने पर काँच के रङ्ग जैसा दिखायी देना, तद्वर्ण-परिणति है; और

(२) प्रतिबिम्बस्वरूप- दर्पण, फोटो आदि मे दिखायी देनेवाले प्रतिबिम्ब को प्रतिबिम्बस्वरूप कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८)

प्रश्न ३१- आतप किसे कहते हैं?

उत्तर- सूर्य के विमान में और अन्य भी सूर्यकान्तमणि आदि विशेष प्रकार के पृथ्वीकाय में आतप जानना। [आतप का अभिप्राय उष्णता से है।]

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२)

-'सूर्य अथवा सूर्यकान्तमणि का प्रकाश आतप है।'

(द्रव्यसंग्रह, गाथा १६, पृष्ठ ४९ की पादटिप्पणी)

-'सूर्य के विमान के द्वारा जो उत्तम प्रकाश होता है, उसे आतप कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८)

प्रश्न ३२- उद्योत किसे कहते हैं?

उत्तर- चन्द्रमा, चन्द्रकान्तमणि, दीपक आदि के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८)

-'चन्द्र के विमान में तथा जुगनू आदि तिर्यञ्च जीवों में उद्योत होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ६२)

प्रश्न ३३- पुद्गलद्रव्य की उपर्युक्त विभाव व्यञ्जनपर्यायों को जानने का क्या लाभ है?

उत्तर- शब्द, खण्ड, सूक्ष्म एवं स्थूल आकार, अन्धकार, छाया, आदि जो भी बाह्य में दिखायी देता है; वह सभी पुद्गलद्रव्य की विभाव व्यञ्जनपर्यायें हैं। **मुझ आत्मा का इनसे किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है- ऐसा जानते-मानते ही वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान हो जाता है; बाह्य संयोगों में इष्ट-अनिष्ट की अनादि की खोटी मान्यता समाप्त हो जाती है; और धर्म का आरम्भ होकर क्रमशः वृद्धि और पूर्णता हो जाती है; अर्थात्, अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्षसुख की प्राप्ति हो जाती है।**

प्रश्न ३४- अज्ञानी जीव समानजातीय द्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि किस प्रकार करता है?

उत्तर- धन, मकान, गाड़ी, वस्त्र, आभूषण, आदि अनन्त पुद्‌गल परमाणुओं की स्कन्धरूप समानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं। अज्ञानी जीव जितनी भी समानजातीय व्यञ्जनपर्याये दृष्टिगोचर होती हैं, उनको एक द्रव्य मानकर उनमें एकत्वबुद्धि करता है और ससार मे परिभ्रमण करता है।

-' "बहुरि यह मेरा धन, यह मेरा मदिर, ये मेरे आभूषण, ये मेरे वस्त्र, ये मेरे धान्यादि पदार्थ"..........बहुरि दृष्टि विषैं जेति घट-पटादि पुद्‌गल की पर्याय आवै हैं, तिनकू जुदा-जुदा द्रव्य माने है। ये घट है, ये पट है, ये स्वर्ण है, ये पाषाण है, ये पर्वत है, ये सूर्य है, ये चन्द्रमा है इत्यादि पर्यायन विषै द्रव्यबुद्धि धारे है, तिनको सत्य माने है।.. ....इत्यादि भाव अगृहीत मिथ्यात्वरूप जानना।'

(भावदीपिका, चौथा अधिकार, पृष्ठ २९)

प्रश्न ३५- समानजातीय द्रव्य पर्यायो में एकत्वबुद्धि का अभाव कैसे हो?

उत्तर- धन, मकान, वस्त्र, आभूषण, आदि समानजातीय द्रव्यपर्याये हैं। पुद्‌गल की इन विभाव व्यञ्जनपर्यायों में अनन्त पुद्‌गलपरमाणु हैं। प्रत्येक परमाणु अपने-अपने अस्तित्वादि अनन्त सामान्य व स्पर्शादि अनन्त विशेषगुणोसहित भिन्न-भिन्न द्रव्यरूप से विराज रहा है। एक पुद्‌गलपरमाणु का दूसरे पुद्‌गलपरमाणु से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। एक ही स्कन्ध मे रहते हुये एक परमाणु का दूसरे परमाणु से जब कोई सम्बन्ध नहीं है, तो मुझ आत्मा से अनन्त पुद्‌गलपरमाणुरूप धन, मकान, आभूषण आदि समानजातीय द्रव्यपर्यायों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात्, कभी नही हो सकता- ऐसा श्रद्धान-ज्ञान हो, तो समानजातीय द्रव्यपर्यायों मे एकत्वबुद्धि का अभाव होकर धर्म की प्राप्ति होती है।

-'पुद्‌गलस्कन्ध अपनी बद्धदशा में अनेक देशवाला होकर भी अखण्ड होता है; इसलिये तो उसे अखण्ड अनेक देशवाला माना है, किन्तु वस्तुतः एक स्कन्ध में जितने परमाणु हैं, वे जुदे-जुदे हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा २३ से २७ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०)

-'**खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि॥ ८१॥**'

अन्वयार्थ- (वह परमाणु) स्कन्ध के भीतर हो तथापि (परिपूर्ण स्वतन्त्र) द्रव्य है, ऐसा जानो।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ८१ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १३०)

-'यहाँ (विश्व में), जैसे एक **त्रि-अणुक**[1] समानजातीय अनेक द्रव्यपर्याय विनिष्ट होती है और दूसरी **चतुरणुक**[2] (समानजातीय अनेक द्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वे तीन या चार

१. **त्रि-अणुक-** तीन अणुओं (परमाणुओं) का बना हुआ स्कन्ध।

२. **चतुरणुक-** चार अणुओं (परमाणुओं) का बना हुआ स्कन्ध।

पुद्गल (परमाणु) तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (ध्रुव हैं)। इसी प्रकार सभी समानजातीय द्रव्यपर्यायें विनिष्ट होती हैं और उत्पन्न होती हैं, किन्तु समानजातीय द्रव्य (अनन्त पुद्गलपरमाणु) तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (ध्रुव हैं)।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०३ की टीका, पृष्ठ २०८)

प्रश्न ३६- असमानजातीय द्रव्यपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर- अनेक जाति के अनेक द्रव्यों में एकपने के ज्ञान को असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहते हैं; जैसे, मनुष्य, देव आदि।

-'जैसे अनेक रेशमी और सूती पटो के बने हुये द्विपटिक, त्रिपटिक- ऐसी असमानजातीय द्रव्यपर्याय है; उसी प्रकार अनेक जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य-ऐसी असमानजातीय द्रव्यपर्याय है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, पृष्ठ १७३-१७४)

-'जीव और पुद्गल मिलकर जो नर-नारकादि पर्याय होती है, वह असमानजातीय व्यञ्जनपर्याय है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१-७० का विशेषार्थ, पृष्ठ १७)

प्रश्न ३७- असमानजातीय द्रव्यपर्यायें कौनसी हैं?

उत्तर- मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यञ्च, और इनके एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदि अनेक भेद असमानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं, क्योंकि इनमें जीव और पुद्गल जाति के अनेक द्रव्यों में एकपने का ज्ञान होता है।

-'पर्यायी आत्मा के ज्ञान बिना आत्मा पर्यायस्वभाववाला होता है। इसलिये शुभाशुभरूप मिश्रपरिणाम से आत्मा व्यवहार से मनुष्य होता है; उसका मनुष्याकार वह मनुष्यपर्याय है। केवल अशुभकर्म से व्यवहार से आत्मा नारक होता है; उसका नारक-आकार वह नारक पर्याय है। किञ्चित् शुभमिश्रित मायापरिणाम से आत्मा व्यवहार से तिर्यञ्चकाय में जन्मता है; उसका आकार वह तिर्यञ्चपर्याय है, और केवल शुभकर्म से व्यवहार से आत्मा देव होता है; उसका आकार वह देवपर्याय है- यह (असमानजातीय) व्यञ्जनपर्याय है।'

(श्रीनियमसार, गाथा १५ की टीका, पृष्ठ ३९)

प्रश्न ३८- अज्ञानी जीव असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि किस प्रकार करते हैं?

उत्तर- अज्ञानी जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न न जानकर अज्ञानी जीव "मैं मनुष्य ही हूँ"; "शरीरादि की क्रियाओं को मैं करता हूँ"- इस प्रकार असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि करते हैं।

-'बहुरि मैं देव, मैं नारकी, मैं मनुष्य, मैं तिर्यञ्च अर इनके अनेक विशेष; तिन विषै

अहंबुद्धि, सो परपर्याय विषैं अहंबुद्धि मिथ्यात्वभाव है। ऐसा तो परद्रव्यादि विषैं जो अहंबुद्धि, सो मिथ्यात्वभाव है।'

(भावदीपिका, चौथा अधिकार, पृष्ठ २८)

-'जो जीव पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय का, जो कि सकल अविद्याओ का एक मूल है, उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की सम्भावना करने मे नपुंसक होने से उसी में बल धारण करते हैं; (अर्थात् उन असमानजातीय द्रव्यपर्यायो के प्रति ही बलवान हैं), वे-जिनकी **निरर्गल**[1] एकान्तदृष्टि उछलती है ऐसे- "यह मै मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है"- इस प्रकार अहङ्कार-ममकार से ठगाये जाते (हैं)।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९४ की टीका, पृष्ठ १७५, १७६)

-'अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी अनादिनिधन वस्तु आप है; और मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादिकों से रहित, जिनका नवीन सयोग हुआ है- ऐसे शरीरादिक पुद्गल पर हैं। इनके सयोगरूप नानाप्रकार की मनुष्य, तिर्यञ्चादिक (असमानजातीय) पर्यायें होती हैं। उन पर्यायो में अहबुद्धि धारण करता है; स्व-पर का भेद नहीं कर सकता। जो पर्याय प्राप्त करे, उस ही को आपरूप मानता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३८)

-'स्वयं एक आत्मा और अनन्त पुद्गलपरमाणुमय शरीर- इनके सयोगरूप मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं, उसी पर्याय को स्व मानता है। तथा आत्मा का ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव है, उसके द्वारा किञ्चित् जानना-देखना होता है; और कर्मोपाधि से हुए क्रोधादिकभाव उनरूप परिणाम पाये जाते हैं; तथा शरीर का स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वभाव है-वह प्रगट है और स्थूल-कृषादिक होना तथा स्पर्शादि का पलटना इत्यादि अनेक अवस्थाये होती हैं- इन सबको अपना स्वरूप जानता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ४६)

-'तथा वह पर्याय (असमानजातीय पर्याय) एक तो स्वयं आत्मा, और अनन्त पुद्गलपरमाणुमय शरीर उनसे एक पिण्ड बन्धानरूप है। तथा जीव को उस पर्याय में "यह मैं हूँ" -ऐसी अहंबुद्धि होती है। तथा स्वयं जीव है, उसका स्वभाव तो ज्ञानादिक है और विभाव क्रोधादिक है और पुद्गलपरमाणुओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि स्वभाव हैं- उन सबको अपना स्वरूप मानता है। "ये मेरे हैं"- इस प्रकार उनमें ममत्वबुद्धि होती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८०)

---

१. **निरर्गल**- अंकुश बिना की; बेहद।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९४, पृष्ट १७५ की पादटिप्पणी)

-'जो आत्मा इस प्रकार जीव और पुद्‌गल के (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभाव के द्वारा स्व-पर के विभाग को नहीं देखता, वही आत्मा- "यह मैं हूँ, यह मेरा है"- इस प्रकार मोह से परद्रव्य में (मनुष्यादिपर्यायो में) अपनेपन का अध्यवसान करता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १८३ की टीका, पृष्ठ ३५८)

प्रश्न ३९- असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि का फल क्या है?

उत्तर- जीव-पुद्‌गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में जो जीव और पुद्‌गल को एक मानकर "मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ"- आदिरूप श्रद्धान करते हैं, वे परसमयरूप ही परिणमित होते हैं; अर्थात्, उनको मिथ्यात्व का अभाव नही होता और संसार मे ही परिभ्रमण करते रहते हैं।

-**'जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा।'**

अन्वयार्थ- जो जीव (असमानजातीय द्रव्य) पर्यायों में लीन हैं, उन्हें परसमय कहा गया है।

भावार्थ- जो मनुष्यादि पर्याय में लीन हैं, वे एकान्तदृष्टिवाले लोग मनुष्यव्यवहार का आश्रय करते हैं; इसलिये रागी-द्वेषी होते हैं और इस प्रकार परद्रव्यरूप कर्म के साथ सम्बन्ध करते होने से वे परसमय हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९४ का पूर्वार्द्ध, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ १७४, १७५ व १७७)

-**'ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।**
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं।। १९०।।'

अन्वयार्थ- जो देह-धनादिक में "मै यह हूँ और यह मेरा है"- ऐसी ममता को नहीं छोड़ता, वह श्रमणता को छोड़कर उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १९० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३६८)

-'असमानजातीय मनुष्यादि पर्यायो मे जीव-पुद्‌गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है' तथा,

-'जिन गुणों का विचार करते हैं, उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं, कितने ही पुद्‌गलाश्रित हैं। उनके विशेष न जानते हुये असमानजातीय मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धि से मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२१ व २२३)

प्रश्न ४०- असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि का अभाव कैसे हो?

उत्तर- मनुष्य-देव इत्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्यायों मे एक जीव है और अनन्त पुद्‌गल-परमाणुमय शरीर है। ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व का स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादियुक्त अनन्त पुद्‌गलपरमाणुओं से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जीव और पुद्‌गल दो भिन्न-भिन्न जाति के द्रव्य हैं; दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं- ऐसा श्रद्धान-ज्ञान हो तो मनुष्य-देव आदि जीव-पुद्‌गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि का अभाव होकर धर्म की प्राप्ति हो।

–'जैसे, एक मनुष्यत्वस्वरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरी देवत्वस्वरूप (असमानजातीय द्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वह जीव और पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं। इसी प्रकार सभी असमानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट हो जाती हैं और उत्पन्न होती हैं, परन्तु असमानजातीय द्रव्य (जीव और अनन्तपरमाणु) तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०३ की टीका, पृष्ठ २०८)

–'यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न–भिन्न रहता है; तथापि, जैसे पुद्गलों की अन्य पुद्गल के सम्बन्ध से स्कन्धरूप पर्याय होती है, उसी प्रकार जीव की पुद्गलों के सम्बन्ध से देवादिक पर्याय होती है। जीव की ऐसी अनेक द्रव्यात्मक देवादिपर्याय अयुक्त नही है, क्योंकि भीतर देखने पर, अनेक द्रव्यों का संयोग होनेपर भी, जीव कहीं पुद्गलों के साथ एकरूप पर्याय नहीं करता। परन्तु वहाँ भी मात्र जीव की (पुद्गलपर्याय से भिन्न) अस्खलित (अपने से च्युत न होनेवाली) एक द्रव्यपर्याय ही सदा प्रवर्तमान रहती है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५२ का भावार्थ, पृष्ठ ३१०)

–'मनुष्य-देव इत्यादि अनेक द्रव्यात्मक (असमानजातीय द्रव्य) पर्यायों मे भी जीव का स्वरूपअस्तित्व और प्रत्येक परमाणु का स्वरूपअस्तित्व सर्वथा भिन्न-भिन्न है। सूक्ष्मता से देखने पर वहाँ जीव और पुद्गल का स्वरूपअस्तित्व (अर्थात् अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य -उत्पाद-व्यय) स्पष्टतया भिन्न जाना जा सकता है। स्व-पर का भेद करने के लिये जीव को इस स्वरूपास्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५४ का भावार्थ, पृष्ठ ३१४)

–'जो यह पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय त्रसस्थावर के भेदपूर्वक माने जाते हैं, वे वास्तव में अचेतनत्व के कारण अन्य हैं और जीव भी चेतनत्व के कारण उनसे अन्य है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १८२ की टीका, पृष्ठ ३५७)

प्रश्न ४१– असमानजातीय द्रव्यपर्यायों मे एकत्वबुद्धि के अभाव का फल क्या है?

उत्तर– मनुष्य-देव इत्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्यायो में जो जीव और पुद्गल के स्वरूपअस्तित्व को सर्वथा भिन्न-भिन्न जानते हैं, वे ज्ञानानन्दस्वभावी निजात्मा को पहचानने के कारण स्वसमयरूप परिणमित होते हैं और क्रम से निर्वाण की प्राप्ति करते हैं।

–'और जो **असङ्कीर्ण**[1] द्रव्य-गुण-पर्यायों से सुस्थित भगवान आत्मा के स्वभाव का

---

१. **असङ्कीर्ण**– एकमेक नहीं ऐसे; स्पष्टतया भिन्न। (भगवान आत्मस्वभाव स्पष्ट भिन्न, पर के साथ एकमेक नहीं, ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायों से सुस्थित है।)

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९४ की टीका, पृष्ठ १७६ की पादटिप्पणी)

-जो कि सकल विद्याओं का एक मूल है उसका आश्रय करके यथोक्त आत्मस्वभाव की भी सम्भावना मे समर्थ होने से (असमानजातीय द्रव्य) पर्यायमात्र प्रति के बल को दूर करके आत्मा के स्वभाव मे ही स्थिति करते हैं (लीन होते हैं),.........ऐसे मनुष्यादि गतियो में और उन गतियों के शरीरों में अहङ्कार-ममकार न करके............अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार को अङ्गीकार करके............राग-द्वेष का उन्मेष (प्राकट्य) रुक जाने से परम उदासीनता का अवलम्बन लेते हुए, समस्त परद्रव्यों की सङ्गति दूर कर देने से मात्र स्वद्रव्य के साथ सङ्गतता होने से वास्तव में स्वसमय होते हैं; अर्थात्, स्वसमयरूप परिणमित होते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९४ की टीका, पृष्ठ १७६-१७७)

-'तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणादि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।। १५४।।'

अन्वयार्थ- जो जीव उस अस्तित्व-निष्पन्न तीन प्रकार से कथित भेदोंवाले द्रव्यस्वभाव को जानता है, वह अन्य द्रव्य में मोह को प्राप्त नहीं होता।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १५४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३१२, ३१३)

-'णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पा णं हवदि झादा।। १९१।।'

अन्वयार्थ- 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं; मैं एक ज्ञान हूँ'- इस प्रकार जो ध्यान करता है, वह ध्याता ध्यानकाल मे आत्मा होता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १९१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३६९)

-'छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव-तीरु।। ७२।।'

अर्थ- हे योगी! यह शरीर छिद जावे, दो टुकड़े हो जावे अथवा भिद जावे, छेदसहित हो जावे, नाश को प्राप्त होवे; तो भी तू भय मत कर, मन में खेद मत ला। अपने निर्मल आत्मा का ही ध्यानकर; अर्थात्, वीतराग चिदानन्द शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मरहित अपने आत्मा का चिन्तवन कर- जिस परमात्मा के ध्यान से तू भवसागर का पार पायेगा।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ७२ व अर्थ, पृष्ठ ७२)

प्रश्न ४२- भेदज्ञानी जीव स्त्री आदि असमानजातीय द्रव्यपर्यायों के विषय में कैसा विचार करता है?

उत्तर- 'इसका उदाहरण इस प्रकार है कि जब स्त्री आदि इन्द्रियगोचर हों (दिखायी दें), तब उसके विषय में तत्त्व विचार करना कि यह स्त्री है- वह क्या है? जीव नामक तत्त्व की

(असमानजातीय) एक पर्याय है। इसका शरीर है, वह तो पुद्गल तत्त्व की पर्याय है। यह हावभाव चेष्टा करती है, वह इस जीव के विकार हुआ है; यह आस्रव तत्त्व है और बाह्य चेष्टा पुद्गल की है। इस विकार से इस स्त्री की आत्मा के कर्म का बन्ध होता है। यह विकार इसके न हो तो "आस्रव" "बन्ध" इसके न हो। कदाचित् मैं भी इसको देखकर विकाररूप परिणमन करूँ, तो मेरे भी "आस्रव" "बन्ध" हो; इसलिये मुझे विकाररूप न होना- यह "सवर तत्त्व" है। बन सके, तो कुछ उपदेश देकर इसका विकार दूर करूँ (ऐसा विकल्प राग है)। यह राग भी करने योग्य नही है। स्वसन्मुख ज्ञातापने में धैर्य रखना योग्य है। इस प्रकार तत्त्व की भावना से अपना भाव अशुद्ध नहीं होता है; इसलिये जो दृष्टिगोचर (असमानजातीय) पदार्थ हो, उनमे इस प्रकार तत्त्व की भावना रखना- यह तत्त्व की भावना का उपदेश है।'

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा ११४ का भावार्थ, पृष्ठ १९७)

प्रश्न ४३- समानजातीय व असमानजातीय व्यञ्जनपर्यायों को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- समानजातीय व असमानजातीय व्यञ्जनपर्यायो को जानने से- (१) विश्व में जितनी समानजातीय व्यञ्जनपर्यायें दृष्टिगोचर होती हैं, उनमें अनादिकाल से जो द्रव्यरूप बुद्धि वर्त रही है, उसका अभाव होकर धर्म की प्राप्ति हो जाती है; (२) समानजातीय स्कन्धो मे द्रव्यरूप बुद्धि का अभाव होने से उसमें इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना का भी अभाव हो जाता है; और (३) असमानजातीय द्रव्यपर्याय में ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व का अनन्त पुद्गलपरमाणुमय शरीर से सर्वथा सम्बन्ध नही है- ऐसे श्रद्धान से जन्म-मरण का अभाव होकर क्रम से मुक्तदशा (सिद्धदशा) की प्राप्ति हो जाती है।

परम पारिणामिकभावरूप अखण्डभाव का अवलम्बन ले

अपनी दृष्टि की डोर चैतन्य पर बाँध दे। पतङ्ग आकाश में उड़ाये, परन्तु डोर हाथ में रहती है; उसी प्रकार दृष्टि की डोर चैतन्य में बाँध दे, फिर भले उपयोग बाहर जाता हो। अनादिअनन्त अद्भुत आत्मा का- परम पारिणामिकभावरूप अखण्ड एक भाव का- अवलम्बन ले। परिपूर्ण आत्मा का आश्रय करेगा तो पूर्णता आयेगी। गुरु की वाणी प्रबल निमित्त है, परन्तु समझकर आश्रय तो अपने को ही करना है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या १८९, पृष्ठ ६८)

अर्थपर्याय (गुणपर्याय)

प्रश्न १- अर्थपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रदेशत्वगुण को छोड़कर बाकी गुणो के परिणमन को अर्थपर्याय कहते हैं और गुणों मे जो गुणांश होते हैं, वे भी गुणपर्याय या अर्थपर्याय कहलाते हैं।

-'सूक्ष्म वचन अगोचर क्षणस्थायी अैसैं तौ अर्थपर्याय;' तथा

-'एक द्रव्य विषैं जे गुणनि के परिणमनरूप षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि लिये अर्थपर्याय;'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५८१-५८२ की स०च० टीका, पृष्ठ ६७० व ६७१)

-'सन्ति गुणांशा इति ये गुणपर्यायास्त एव नाम्नापि।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात्॥ ६१॥
गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च॥ ६२॥'

अर्थ- इस प्रकार गुण मे जो गुणाश होते हैं, वे ही नाम से (अर्थपर्याय) गुणपर्याय कहलाते हैं और ऐसा कथन करना कोई विरोध को भी नहीं प्राप्त होता, क्योंकि प्रकृत में गुणपर्यायों को अशरूप स्वीकार किया गया है॥ ६१॥ अर्थ और गुण ये एकार्थवाची होने से कितने ही विद्वान प्रकृत में गुणपर्यायों को अर्थपर्याय भी कहते हैं॥ ६२॥

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१-६२ व अर्थ, पृष्ठ १५)

-'गुणों मे जो गुणांश होते हैं, वे ही गुणपर्याय हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा १३७ से १६३ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३५)

-'गुण द्वारा आयत की अनेकता की प्रतिपत्ति (प्राप्ति; ज्ञान; स्वीकार) की कारणभूत गुणपर्याय है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, पृष्ठ १७२)

-'वस्तु समय-समय परिणमन करती है; अत: एक समय की वर्तमान पर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं।'

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २७४ का भावार्थ, पृष्ठ १२२)

–'ज्ञानादि गुणों का भी स्वभाव अथवा विभावरूप परिणमन है, वह छह प्रकार से हानि–वृद्धिरूप है। उसे अर्थपर्याय कहते है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९ का भावार्थ, पृष्ठ १४)

–'प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण गुणों के विशेष कार्य को अर्थपर्याय कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २१७, पृष्ठ ६२)

प्रश्न २– गुणपर्यायों (अर्थपर्यायो) का कर्ता कौन है?

उत्तर– प्रत्येक द्रव्य स्वयं एक गुणपर्याय से अन्य गुणपर्यायरूप परिणमित होता है; अर्थात्, गुणपर्यायें द्रव्य से ही अभेद उत्पन्न होती है। द्रव्य स्वयं ही गुणपर्यायों का कर्ता है।

–'परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति।। १०४।।'

अन्वयार्थ– सत्तापेक्षा से अविशिष्टरूप से द्रव्य स्वयं ही गुण से गुणान्तररूप परिणमित होता है, (अर्थात् द्रव्य स्वयं ही एक गुणपर्याय में से अन्यगुणपर्यायरूप परिणमित होता है और उसकी सत्ता गुणपर्यायों की सत्ता के साथ अविशिष्टरूप–अभिन्न–एक ही रहती है) और उससे गुणपर्यायें द्रव्य ही कही गयी हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १०४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २०९)

प्रश्न ३– अर्थपर्याय (गुणपर्याय) के कितने भेद हैं?

उत्तर– अर्थपर्याय के दो भेद हैं– (१) स्वभाव अर्थपर्याय, और (२) विभाव अर्थपर्याय।

–'गुण द्वारा आयत की अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुणपर्याय (अर्थपर्याय) है। वह भी दो प्रकार है– (१) स्वभावपर्याय, और (२) विभावपर्याय।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, पृष्ठ १७२)

–'अर्थपर्याय के दो भेद है– स्वभाव अर्थपर्याय और विभाव अर्थपर्याय।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ४५, पृष्ठ ९)

प्रश्न ४– स्वभाव अर्थपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर– प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशत्वगुण को छोड़कर बाकी गुणों मे जो षट्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणमन होता है, वह स्वभाव अर्थपर्याय है।

–'अगुरुलघुगुण का परिणमन षट्गुणी हानिवृद्धिरूप है। यह स्वभावपर्याय सभी द्रव्यों में पायी जाती है। कोई द्रव्य षट्गुणी हानिवृद्धि बिना नहीं है। यही अर्थपर्याय कही जाती है। वह शुद्ध पर्याय है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५६)

–'जैसे, कभी पट में अपने स्थूल अगुरुलघुगुण द्वारा कालक्रम से प्रवर्तमान अनेक

प्रकाररूप से परिणमित होने के कारण अनेकत्व की प्रतिपत्ति गुणात्मक स्वभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्यों मे अपने-अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति- वह गुणात्मक स्वभावपर्याय है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, पृष्ठ १७४)

-'उसमें स्वभावपर्याय छह द्रव्यों को साधारण है, अर्थपर्याय है, वाणी और मन को अगोचर है, अति सूक्ष्म है, आगमप्रमाण से स्वीकार करने योग्य तथा छह वृद्धिहानि के भेदोंसहित है; अर्थात्, अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धिसहित होती है और इसी प्रकार वृद्धि की भाँति हानि भी लगायी जाती है।'

(श्रीनियमसार, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ३५)

-**'अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।'**

अन्वयार्थ- अन्य निरपेक्ष (अन्य की अपेक्षारहित) जो परिणाम वह स्वभावपर्याय है।

(श्रीनियमसार, गाथा २८ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६०)

-'अगुरुलघुगुण की हानिवृद्धि से उत्पन्न होनेवाली पर्यायें शुद्ध (अर्थ) पर्यायें हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १६ की टीका, पृष्ठ ३७)

-'परनिमित्त के सम्बन्धरहित जो अर्थपर्याय होती है, उसे स्वभाव अर्थपर्याय कहते हैं; जैसे, जीव की केवलज्ञान पर्याय।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २१९, पृष्ठ ६३)

प्रश्न ५- विभाव अर्थपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर- परनिमित्त के सम्बन्ध से जो अर्थपर्याय हो, उसे विभाव अर्थपर्याय कहते हैं; जैसे, जीव के राग-द्वेष आदि की पर्याय।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ४७, पृष्ठ ९)

-'जैसे पट में, रूपादिक के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति- वह गुणात्मक विभावपर्याय है; उसी प्रकार समस्त द्रव्यों में रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति- वह गुणात्मक विभावपर्याय है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ९३ की टीका, पृष्ठ १७४)

प्रश्न ६- एक द्रव्य में कितनी अर्थपर्यायें होती हैं?

उत्तर- प्रत्येक द्रव्य में अनन्त अर्थपर्यायें होती हैं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं और प्रदेशत्वगुण को छोड़कर बाकी गुणों के परिणमन को अर्थपर्याय कहते हैं।

-'प्रत्येक द्रव्य में अनन्तगुण होनेसे उसकी अर्थपर्यायें अनन्त होती हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २२७, पृष्ठ ६४)

प्रश्न ७- जीवद्रव्य में कौनसी अर्थपर्यायें होती हैं?

उत्तर- जीवद्रव्य में स्वभाव और विभाव- दोनों प्रकार की अर्थपर्याये होती हैं।

-'जीव और पुद्गल- इन दोनो में तो स्वभाव और विभाव दोनो हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय, दोहा ५७ का भावार्थ, पृष्ठ ५७)

प्रश्न ८- जीवद्रव्य के ज्ञानगुण की कितनी पर्यायें हैं?

उत्तर- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान- यह सम्यक्ज्ञान की पर्यायें हैं और कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, तथा कुअवधिज्ञान- यह मिथ्याज्ञान की पर्यायें हैं। इस प्रकार ज्ञानगुण की आठ पर्यायें हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २६५, पृष्ठ ७२)

प्रश्न ९- ज्ञानगुण की आठ पर्यायों मे स्वभाव अर्थपर्याय और विभाव अर्थपर्याय कौन-सी हैं?

उत्तर- (१) केवलज्ञान स्वभाव अर्थपर्याय है; (२) सम्यग्मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान- यह केवलज्ञान की अपेक्षा से विभाव अर्थपर्याये हैं और ये सम्यक्ज्ञान की पर्याये है; इसलिये उन्हें एकदेश स्वभाव अर्थपर्यायें कहा जाता है; और (३) कुमति, कुश्रुत, और कुअवधिज्ञान -ये विभाव अर्थपर्यायें हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २६६, पृष्ठ ७२)

प्रश्न १०- जीवद्रव्य के दर्शनगुण की कितनी पर्यायें हैं?

उत्तर- जीवद्रव्य के दर्शनगुण की (१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन, और (४) केवलदर्शन- ये चार पर्यायें होती हैं।

प्रश्न ११- दर्शनगुण की पर्यायों में स्वभाव अर्थपर्याय और विभाव अर्थपर्याय कौनसी हैं?

उत्तर- (१) केवलदर्शन स्वभाव अर्थपर्याय है, और (२) चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, और अवधिदर्शन विभाव अर्थपर्यायें हैं, क्योंकि इनमें दर्शनावरणीय कर्म का निमित्तपना है।

(आधार-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ ८०)

प्रश्न १२- जीवद्रव्य के श्रद्धागुण की कितनी पर्यायें हैं?

उत्तर- जीवद्रव्य के श्रद्धागुण की दो पर्यायें हैं- (१) मिथ्यादर्शन, और (२) सम्यग्दर्शन। इसमें सम्यग्दर्शन स्वभाव अर्थपर्याय है और मिथ्यादर्शन विभाव अर्थपर्याय है।

-'जीवद्रव्य; अर्थात्, आत्मवस्तु में अनन्तगुण हैं। उनमें से एक गुण श्रद्धा (मान्यता; विश्वास; प्रतीति) है। इस गुण की अवस्था अनादिकाल से उलटी है; इसलिये जीव को अपने स्वरूप

का भ्रम बना हुआ है। उस अवस्था को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस श्रद्धागुण की सुलटी (शुद्ध) अवस्था सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार आत्मा के श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय सम्यग्दर्शन है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, प्रथम अध्याय का परिशिष्ट, पृष्ठ १००)

प्रश्न १३- जीवद्रव्य के चारित्रगुण की स्वभाव अर्थपर्यायें कौनसी हैं?

उत्तर- (१) स्वरूपाचरणचारित्र, देशचारित्र, व सकलचारित्र- चारित्रगुण की एकदेश स्वभाव अर्थपर्यायें हैं, और (२) यथाख्यातचारित्र पूर्णस्वभाव अर्थपर्याय है।

प्रश्न १४- दुःख क्या है?

उत्तर- दुःख जीवद्रव्य के सुखगुण की आकुलतारूप विभाव अर्थपर्याय है।

प्रश्न १५- मोक्षदशा क्या है?

उत्तर- मोक्ष जीवद्रव्य के समस्त गुणों की स्वभाव अर्थपर्याय और प्रदेशत्वगुण की स्वभाव व्यञ्जनपर्याय है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २८३, पृष्ठ ७८)

[**विशेष-** यहाँ जीवद्रव्य की कुछ ही पर्यायों की चर्चा की है। तदनुसार ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों के सम्बन्ध में इतना ध्यान रखना चाहिए कि जो अर्थपर्याय पर निमित्त के सम्बन्धरहित हो, वह स्वभाव अर्थपर्याय है और जो अर्थपर्याय पर निमित्त के सम्बन्धसहित हो, वह विभाव अर्थपर्याय है।]

प्रश्न १६- जीव के ज्ञानादि गुणों की स्वभाव व विभाव अर्थपर्यायों को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- जीवद्रव्य के प्रत्येक गुण में प्रत्येक समय एक पर्याय की उत्पत्ति और एक पर्याय का व्यय स्वयमेव हो रहा है। ऐसा श्रद्धान होते ही परसन्मुखता का अभाव होने से मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है।

-'आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्थारूप होता है। यह बात समझे तो "मेरी अवस्था दूसरा कोई बदल देता है"- ऐसी पराश्रयबुद्धि छूट जाये और अपने ध्रुवस्वभाव की ओर उन्मुखता हो। ध्रुव के साथ पर्याय की एकता होने से निर्मल पर्यायरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २४७)

प्रश्न १७- जीवद्रव्य में कौनसी पर्यायें होती हैं?

उत्तर- जीवद्रव्य में (१) स्वभाव अर्थपर्याय, (२) विभाव अर्थपर्याय, (३) स्वभाव व्यञ्जनपर्याय, और (४) विभाव व्यञ्जनपर्याय- ये चारों ही पर्यायें होती हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २२१, पृष्ठ ६३)

प्रश्न १८- चार प्रकार की पर्यायों मे से तीन प्रकार की पर्याये किसके होती हैं?

उत्तर- संसारी सम्यक्दृष्टि जीव के तीन प्रकार की पर्याये होती हैं, क्योकि- (१) क्षायिक-सम्यक्त्वरूप स्वभाव अर्थपर्याय किसी को चौथे गुणस्थान से होती है और बारहवे गुणस्थान से चारित्रगुण की स्वभाव अर्थपर्याय होती है; तेरहवें गुणस्थान से ज्ञानादि की पूर्ण शुद्ध अर्थपर्यायें होती हैं; (२) योगगुण की स्वभाव अर्थपर्याय तेरहवे गुणस्थान के अन्त में प्रगट होती है; (३) चौदहवें गुणस्थान तक प्रदेशत्वगुण की विभाव व्यञ्जनपर्याय होती है; और (४) शेष जिन-जिन गुणों का अशुद्ध परिणमन है, उनकी विभाव अर्थपर्याये चौदहवें गुणस्थान तक होती हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २९०, पृष्ठ ८०-८१)

प्रश्न १९- पहले अर्थपर्यायें शुद्ध हों और फिर व्यञ्जनपर्याय शुद्ध हो- ऐसा किन द्रव्यों में होता है?

उत्तर- 'ऐसा जीवद्रव्य में होता है; जैसे, चौथे गुणस्थान में श्रद्धागुण की पर्याय पहले शुद्ध होती है; बारहवें गुणस्थान में चारित्रगुण की अर्थपर्याय शुद्ध होती है; तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यगुण की पर्यायें परिपूर्ण शुद्ध होती हैं; चौदहवे गुणस्थान मे योगगुण की पर्याय शुद्ध होती है; और सिद्धदशा होनेपर वैभाविकगुण, क्रियावतीशक्ति तथा चार प्रतिजीवीगुण- अव्याबाध, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व- इत्यादि की अर्थपर्याये शुद्ध होती हैं और उसी समय व्यञ्जनपर्याय (प्रदेशत्वगुण की पर्याय) शुद्ध होती है, किन्तु वे पहले शुद्ध नहीं होती।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २३२, पृष्ठ ६५-६६)

प्रश्न २०- आत्मा में स्वभाव अर्थपर्यायें कैसे प्रगट होती हैं?

उत्तर- आत्मा में स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार की पर्याये होती हैं। जो जीव पर्यायो का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाल एकरूप अखण्ड ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेता है, उसे स्वभाव अर्थपर्यायें स्वयमेव प्रगट होती हैं।

-**'क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः**
क्वचित्सहजपर्य्ययैः क्वचिदशुद्धपर्य्यायकैः।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं।
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्ध्यै सदा।। २६।।'

श्लोकार्थ- जीव तत्त्व क्वचित् सद्गुणोंसहित विलसता है; दिखायी देता है; क्वचित् अशुद्धरूप गुणोंसहित विलसता है; क्वचित् सहज पर्यायोंसहित विलसता है; और क्वचित् अशुद्ध पर्यायोंसहित विलसता है। इन सबसे सहित होनेपर भी जो इन सबसे रहित है, ऐसे इस जीवतत्त्व को

मैं सकल अर्थ की सिद्धि के लिये सदा नमता हूँ, भाता हूँ।

(श्रीनियमसार, श्लोक २६ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ३६-३७)

प्रश्न २१- पुद्गलद्रव्य में कौनसी अर्थपर्यायें होती है?

उत्तर- पुद्गलद्रव्य के दो भेद हैं- (१) परमाणु, और (२) स्कन्ध। परमाणु में स्वभाव अर्थपर्यायें और स्कन्ध मे विभाव अर्थपर्याये होती हैं।

-'परमाणुपर्याय पुद्गल की शुद्धपर्याय है जो कि परमपारिणामिकभावस्वरूप है, वस्तु मे होनेवाली छह प्रकार की हानिवृद्धिरूप है, अतिसूक्ष्म है, अर्थपर्यायात्मक है, और सादिसान्त होनेपर भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है; अथवा एक समय में भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होने से सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मक है।

स्कन्धपर्याय स्वजातीय बन्धरूप लक्षण से लक्षित होने के कारण अशुद्ध है।'

(श्रीनियमसार, गाथा २८ की टीका, पृष्ठ ६०)

प्रश्न २२- पुद्गलद्रव्य की कितनी पर्याये हैं?

उत्तर- पुद्गल के मुख्य चार विशेषगुणों (स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण) की कुल २० (बीस) पर्याये हैं। विवरण इस प्रकार है-

(१) स्पर्शगुण की- (१) स्निग्ध, (२) रूक्ष, (३) ठण्डा, (४) गर्म, (५) हल्का, (६) भारी, (७) कड़ा (कठोर), और (८) नर्म (मृदु)- आठ पर्यायें; **(२) रसगुण की**- (१) खट्टा, (२) मीठा, (३) कड़वा, (४) कषायला, और (५) चरपरा- पाँच पर्याये; **(३) गन्धगुण की**- (१) सुगन्ध, और (२) दुर्गन्ध- दो पर्यायें; और **(४) वर्णगुण की**- (१) काला, (२) नीला, (३) पीला, (४) लाल, और (५) सफेद- पाॅच पर्याय हैं। इस प्रकार कुल २० पर्यायें हैं।

प्रश्न २३- पुद्गलद्रव्य की एक समय में कितनी पर्यायें होती हैं?

उत्तर- पुद्गलद्रव्य के स्पर्शगुण को छोड़कर शेष गुणों में दूसरे द्रव्यों की ही भाँति प्रत्येक समय एक पर्याय होती है। पुद्गल का स्पर्शगुण अपवाद है।

प्रश्न २४- पुद्गलद्रव्य के स्पर्शगुण की एक समय में अधिकतम कितनी पर्यायें होती हैं?

उत्तर- पुद्गलद्रव्य के स्पर्शगुण की चार युगलों में आठ पर्यायें होती हैं-

(१) हल्का-भारी; (२) ठण्डा-गर्म; (३) स्निग्ध-रूक्ष; और (४) कड़ा-नरम

पुद्गलपरमाणु में स्पर्शगुण की दो युगलों में से ठण्डा अथवा गर्म और स्निग्ध अथवा रूक्ष दो पर्यायें प्रत्येक समय होती हैं। **सूक्ष्मस्कन्ध**[1] में चार युगलों में से एक-एक; अर्थात्, चार पर्यायें

---

१. **सूक्ष्मस्कन्ध**- कार्माण और तैजसशरीर सूक्ष्मस्कन्ध हैं।

-'**अप्रतीघाते॥ ४०॥**'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ३४८ एवं अध्याय २, सूत्र ४०)

सारणी १७ : पुद्गलद्रव्य की पर्यायें

पुद्गलद्रव्य

वर्ण रस गन्ध स्पर्श (विशेषगुण)

(पाँच पर्यायें) पीला हरा काला लाल सफेद

(पाँच पर्यायें) चरपरा कड़वा कषायला मीठा खट्टा

(दो पर्यायें) सुगन्ध दुर्गन्ध

(आठ पर्यायें) हल्का भारी रूखा चिकना ठण्डा गरम नरम कठोर
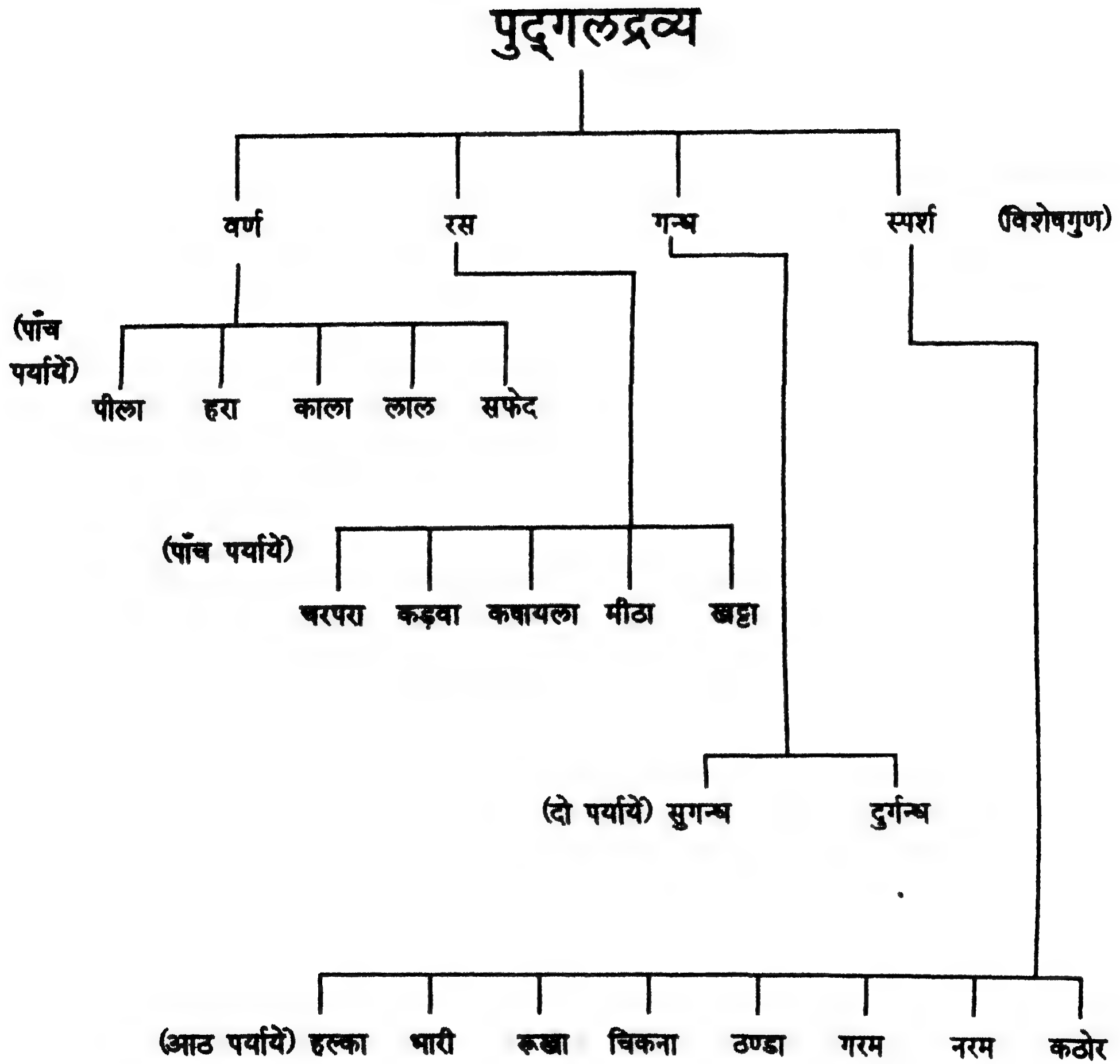
(पुद्गलद्रव्य की पर्यायें- वर्ण की पाँच + रस की पाँच + गन्ध की दो + स्पर्श की आठ = कुल २०)

आधार-श्रीद्रव्यसंग्रह, अमूर्तिकत्व अधिकार, गाथा ३, पृष्ठ २०

भी एक साथ होती हैं। **स्थूलस्कन्धों**[१] में चारो युगलों की सभी; अर्थात्, आठों पर्यायें भी एक साथ होती हैं।

प्रश्न २५- पुद्गलद्रव्य के स्पर्शगुण के अतिरिक्त किसी और द्रव्य के किसी गुण में क्या एक समय में एक से अधिक पर्यायें होती हैं?

उत्तर- नही! पुद्गल के स्पर्शगुण के अतिरिक्त सभी द्रव्यो के प्रत्येक गुण में एक समय मे एक ही पर्याय होती है। मात्र पुद्गल का स्पर्शगुण ही अपवाद है और यह पुद्गल का स्वयंसिद्ध स्वभाव है जिसमें तर्क का अवकाश नहीं है।

प्रश्न २६- पुद्गलद्रव्य के स्पर्शादिगुणों की पर्यायो मे स्वभाव व विभाव अर्थपर्यायें कौनसी हैं?

उत्तर- स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण- ये चारों गुण प्रत्येक पुद्गल में समानरूप से पाये जाते हैं। एक शुद्ध परमाणु मे इन चारो गुणों का स्वभावरूप परिणमन होता है और स्कन्ध में इनका विभावरूप परिणमन होता है।

-'जैसे अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, और वीर्य- ये चारो गुण सर्व जीवों में सामान्य हैं; वैसे ही रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श- ये चारों गुण सर्व पुद्गलों में सामान्य हैं और जिस प्रकार शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावयुक्त सिद्धजीव में अनन्तचतुष्टय अतीन्द्रिय है; उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु द्रव्य मे रूपादि चतुष्टय अतीन्द्रिय है। जिस प्रकार रागादि स्नेहगुण से कर्मबन्ध की अवस्था में ज्ञानादि चतुष्टय का अशुद्धपना है; उसी प्रकार स्निग्ध-रूक्षत्वगुण से द्विअणुकादि बन्ध-अवस्था में रूपादि चतुष्टय का अशुद्धपना है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १५ की टीका, पृष्ठ ५९)

प्रश्न २७- ध्वनि, प्रतिध्वनि, छाया, प्रतिबिम्ब, सूर्य का विमान, घड़ी के लट्टू का हिलना, बुखार, खट्टारस, और खुशबू, पुद्गलद्रव्य के किस गुण की पर्यायें हैं?

उत्तर-(१) ध्वनि वह पुद्गलद्रव्य के भाषावर्गणारूप स्कन्ध में से उत्पन्न हुई ध्वनिरूप पर्याय है। एक पुद्गलपरमाणु ध्वनिरूप परिणमित नहीं होता; इसलिये वह किसी मुख्यगुण की पर्याय नहीं है, किन्तु स्पर्शगुण के क़ारण हुये स्कन्ध की विशेष प्रकार की पर्याय है और उस स्कन्ध का आकार वह विभाव व्यञ्जनपर्याय है;

(२) प्रतिध्वनि भी उपरोक्तानुसार भाषावर्गणा में से उत्पन्न हुई स्कन्धरूप पर्याय है और

---

१. **स्थूलस्कन्ध-** औदारिक, वैक्रियक, और आहारकशरीर स्थूलस्कन्ध हैं।

-'**परं परं सूक्ष्मम्।। ३७।।**'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र ३६ की टीका, पृष्ठ २२६ व सूत्र ३७)

उसका आकार वह विभाव व्यञ्जनपर्याय है;

(३) छाया और प्रतिबिम्ब पुद्‌गलद्रव्य के वर्णगुण की विभाव अर्थपर्यायें हैं;

(४) सूर्य का विमान पुद्‌गलद्रव्य के अनेक स्कन्धों का अनादिअनन्त पिण्ड है। सूर्य में जो तेज (प्रकाश) है, वह वर्णगुण की विभाव अर्थपर्याय है;

(५) घड़ी के लट्टू का चलना- वह पुद्‌गलद्रव्य की क्रियावतीशक्ति के कारण होनेवाली गमनरूप विभाव अर्थपर्याय है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २८३, पृष्ठ ७७-७८)

(६) बुखार पुद्‌गलद्रव्य के स्पर्शगुण की विभाव अर्थपर्याय है; (७) खट्टारस रसगुण की विभाव अर्थपर्याय है; और (८) खुशबू गन्धगुण की विभाव अर्थपर्याय है।

प्रश्न २८- दो परमाणुओं की व्यञ्जन और अर्थपर्याय की तुलना करो तथा जीव की सिद्धपर्याय के साथ उनकी तुलना करो?

उत्तर- '(१) दो पृथक् परमाणु जब तक पृथक् रहते हैं, तब तक उनकी स्वभाव व्यञ्जनपर्यायें समान होती हैं। स्वभाव अर्थपर्यायें शुद्ध होनेपर भी उनके स्पर्शादि गुणों के परिणमन में परस्पर अन्तर होता है। परमाणु का बन्धस्वभाव होने से उसमें पुन: स्कन्ध होने की योग्यता है; इसलिये अपने स्पर्शगुण के कारण वे बन्धदशा को प्राप्त करते हैं;

(२) दो सिद्धात्माओं की परस्पर स्वभाव व्यञ्जनपर्यायें एकसी नहीं होती, किन्तु दो पृथक् परमाणुओं की स्वभाव व्यञ्जनपर्यायें एकसी होती हैं;

(३) जीव का मोक्षस्वभाव होने से दो सिद्धात्माओं की स्वभाव अर्थपर्यायें सदैव एक समान शुद्ध परिणमित होती हैं, किन्तु दो पृथक् पुद्‌गलपरमाणुओं मे ऐसा नहीं होता; और

(४) सिद्धभगवान शुद्ध हुए सो हुए; फिर कभी भी बन्धदशा को प्राप्त नहीं होते, किन्तु पुद्‌गलपरमाणु पुन:-पुन: बन्धदशा को प्राप्त होते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २८७, पृष्ठ ७९-८०)

प्रश्न २९- पुद्‌गल की पर्यायों को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- हल्का-भारी, खट्टा-मीठा, सुगन्ध-दुर्गन्ध, गोरा-काला आदि पुद्‌गलद्रव्य के स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णगुण की पर्यायें हैं। इन पर्यायों का स्वामी एकमात्र पुद्‌गलद्रव्य है। मैं इन सबसे भिन्न अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अवर्णस्वभावी, चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ- ऐसा श्रद्धान-ज्ञान होने से पुद्‌गल की पर्यायों में अपनेपने की मान्यता का अभाव हो जाता है; दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर आ जाती है और क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

-'इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन्।
कुरु रतिमतुलां त्वं चिच्चमत्कारमात्रे भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूप:।। ३८।।'

श्लोकार्थ- इस प्रकार विविध भेदोवाला पुद्गल दिखायी देने से हे भव्यशार्दूल! (भव्योत्तम!) तू उसमे रतिभाव न कर। चैतन्य चमत्कारमात्र मे (अर्थात् चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा मे) तू अतुल रति कर कि जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होगा।

(श्रीनियमसार, श्लोक ३८ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ५४)

प्रश्न ३०- धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य में कौनसी अर्थपर्याये होती है?

उत्तर- धर्म, अधर्म, आकाश, और काल- इन चारो मे अनादिअनन्त स्वभाव अर्थपर्याये ही होती है।

-'धम्मादिचउन्नाणं सहावगुणपज्जया होंति।। ३३।।'

अन्वयार्थ- धर्मादि चार द्रव्यो को स्वभावगुणपर्याये होते (होती) हैं।

टीका- धर्म, अधर्म, आकाश, और काल को स्वजातीय या विजातीय बन्ध का सम्बन्ध न होने से उन्हे विभावगुणपर्याये नही होती, परन्तु स्वभावगुणपर्याये होती हैं- ऐसा अर्थ है।

(श्रीनियमसार, गाथा ३३ का उत्तरार्द्ध, अन्वयार्थ, व टीका, पृष्ठ ६९-७०)

प्रश्न ३१- अर्थपर्याय (गुणपर्याय) को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- अर्थपर्याय का सही ज्ञान होनेपर कि 'प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक गुण प्रति समय नवीन-नवीन पर्यायरूप स्वयमेव ही परिणमित हो रहा है; उसे अपने परिणमन मे परद्रव्य-गुण-पर्यायो की किञ्चित्मात्र भी अपेक्षा नहीं है'- परद्रव्यों मे अहबुद्धि, कर्ता व भोक्ताबुद्धि का सर्वथा अभाव होकर धर्म की प्राप्ति, वृद्धि व क्रम से पूर्णता की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न ३२- पर्याय को कब माना और कब नही माना?

उत्तर- प्रत्येक पर्याय अपने द्रव्यगुण मे से पूर्व पर्याय का अभाव करके क्रमबद्धरूप से हुई है, दूसरे द्रव्य से सर्वथा नहीं- ऐसा माननेवाले ने पर्याय को माना। दूसरे द्रव्य से व अगली-पिछली पर्यायों से सम्बन्ध माननेवाले ने; अर्थात्, पर्यायो मे फेरफार की बुद्धिवाले जीव ने पर्याय को नही माना।

स्वाश्रय से मुक्ति : पराश्रय से बन्ध

मैं एक अखण्ड ज्ञायकमूर्ति हूँ; विकल्प का एक अंश मेरा नहीं है- ऐसा स्वाश्रयभाव रहे वह मुक्ति का कारण है, और विकल्प का एक अंश भी मुझे आश्रयरूप है- ऐसा पराश्रयभाव रहे वह बन्ध का कारण है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत सख्या ३, पृष्ठ २)

पर्यायज्ञान के लाभ

प्रश्न १- पर्याय का सम्यक् स्वरूप जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- पर्याय का सम्यक् स्वरूप जानने से अनेक लाभ है-

१. विश्व के जड़-चेतन सभी द्रव्यों की अर्थ व व्यञ्जनपर्यायें अपने द्रव्य-गुणों से ही होती हैं; अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय का कारण नहीं है- ऐसा पता चल जाता है;

-'दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह।। ३०८।।'

गाथार्थ- जो द्रव्य (पर्याय) जिन गुणों से उत्पन्न होता है, उन गुणो से उसे अनन्य जानो; जैसे, जगत मे कड़ा इत्यादि पर्यायो से सुवर्ण अनन्य है वैसे।

(श्रीसमयसार, गाथा ३०८ व गाथार्थ, पृष्ठ ४३६-४३७)

-'जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं।। १०३।।'

गाथार्थ- जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) जिस द्रव्य मे और गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य मे तथा गुण में सक्रमण को प्राप्त नही होती (बदलकर अन्य मे नहीं मिल जाती)। अन्यरूप से सक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह (वस्तु) अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है।

(श्रीसमयसार, गाथा १०३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १७३)

-'जीव और अजीव समस्त द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते हैं। अजीव मे प्रत्येक परमाणु भी अपनी क्रमबद्ध अवस्थारूप से स्वय उत्पन्न होता है। उसकी वर्ण -गन्धादिरूप अर्थपर्याय भी क्रमबद्ध उसी से है और घड़ा आदि के आकाररूप व्यञ्जनपर्याय भी क्रमबद्ध उसी से है। मिट्टी घड़ेरूप उत्पन्न हुई। वहाँ उसकी व्यञ्जनपर्याय कुम्हार ने की- ऐसा नहीं है। घड़ेरूप से मिट्टी स्वय उत्पन्न हुई है और मिट्टी ही उसमें व्याप्त है; कुम्हार व्याप्त नहीं है; इसलिये कुम्हार उसका कर्ता नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ५४-५५)

२. पर्याय का स्वरूप जानने से पता चलता है कि प्रत्येक पर्याय अपने द्रव्य-गुण में से

पूर्वपर्याय का अभाव करके नयी उत्पन्न होती है;

–'जिस प्रकार घी की उत्पत्ति में.. ....पूर्व अवस्था से विनाश को प्राप्त होनेवाले और उत्तर अवस्था से उत्पन्न होनेवाले स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिक परिणामी गुणो मे मक्खन पर्याय विनाश को प्राप्त होती है तथा घी पर्याय उत्पन्न होती है; उसी प्रकार सर्वभावों का भी वैसा ही है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १५ की टीका, पृष्ठ ३५)

३. प्रत्येक पर्याय अपने द्रव्यगुण में से होती है; दूसरे द्रव्य से उसका सर्वथा सम्बन्ध नहीं है- ऐसा श्रद्धान-ज्ञान होने से निमित्त से कार्य होता है- ऐसी खोटी मान्यता का अभाव हो जाता है;

–'(द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने से मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लङ्घन नहीं करती। इसलिये कुम्हार घडे का उत्पादक है ही नही; मिट्टी ही कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से कुम्भभावरूप से उत्पन्न होती है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३७२ की टीका, पृष्ठ ५०३)

–'वस्तु की क्रमबद्धपर्याय जब स्वय उससे होती है, तब सामने दूसरी वस्तु निमित्तरूप से होती है। इसका नाम निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, किन्तु अवस्था न होना हो और निमित्त आकर कर दे- ऐसा कोई निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध नही है। जड़ और चेतन समस्त द्रव्य स्वय ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; इसलिये निमित्त से कुछ होता है- यह बात ही उड़ जाती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १२९)

४. पर्यायों के सम्यक् ज्ञान से पता चलता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी पर्यायों को करता है, ऐसा न मानकर जो अपनी इच्छानुसार पदार्थों की पर्याय को बदलना चाहता है, वह दुःखी ही रहता है;

–'जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान हो जाये तो सर्व दुःख दूर हो जाये।.. ....मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थो को अन्यथा माने; अन्यथा परिणमित करना चाहे तो आप ही दुःखी होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५२)

–'कार्य स्वयमेव पदार्थों की स्वतन्त्रता से होता है। इच्छावाले जीव की इच्छानुसार कार्य नही होते। इससे वह आकुल-व्याकुल ही रहता है; इसलिये इच्छा ही दुःख है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, प्रथम भाग, पृष्ठ २०४)

५. पर्यायें क्रमवर्ती हैं। एक के बाद दूसरी, फिर तीसरी इस प्रकार प्रवाहक्रम में स्वयं ही वर्तन करती हैं। प्रत्येक पर्याय के क्रम की निश्चितता का सही ज्ञान होने से पर्यायों में फेरफार की खोटी बुद्धि का अभाव हो जाता है;

–'क्रमबद्ध को मानने से सम्यक् पुरुषार्थ का आरम्भ होता है, क्योकि सारे जगत का परिणमन क्रमबद्ध मानने से पर्याय पर दृष्टि नही रहती। किसी भी पर्याय को हटाने या लाने का विकल्प नहीं रहता और दृष्टि स्वभाव-सन्मुख हो जाती है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर सख्या ५७२, पृष्ठ २१७)

–'आत्मा परद्रव्य की पर्याय को तो आगे-पीछे नही कर सकता, परन्तु अपने मे क्रमानुसार होनेवाली पर्याय को भी इधर उधर नही कर सकता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टिजिनेश्वर, बोल २५५, पृष्ठ ६०)

६. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है- ऐसा निर्णय करनेवाले जीव को ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने से राग उत्पन्न नहीं होता। निर्मल वीतरागी पर्यायें ही उत्पन्न होती हैं; प्रमाद और आकुलता का अभाव हो जाता है;

–'जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है। उसमे ज्ञान, श्रद्धा आदि समस्तगुणो का परिणमन साथ ही है। उस परिणामरूप से कौन उत्पन्न होता है? जीव उत्पन्न होता है। वह जीव कैसा- ज्ञायकस्वभावी। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञानभावरूप ही (श्रद्धा, ज्ञान, आनन्दादि गुणो के निर्मल अंशरूप ही) उत्पन्न होता है, रागरूप उत्पन्न नहीं होता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १४८)

–'ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर जो क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ है- ऐसे ज्ञानी को प्रमाद भी नहीं होता और आकुलता भी नही होती, क्योकि (१) ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता किसी भी समय दूर नही होती; इसलिये प्रमाद नही होता। दृष्टि के बल से स्वभाव के अवलम्बन का प्रयत्न चालू ही है, और (२) क्रम बदलने की बुद्धि नहीं है; इसलिये उतावली भी नही है; पर्यायबुद्धि की आकुलता नही है किन्तु धैर्य है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ १६२-१६३)

७. क्रमबद्धरूप से होनेवाली प्रत्येक समय की पर्याय अपने द्रव्य-गुण की भी अपेक्षारहित होती है- ऐसी सच्ची प्रतीति होने से संसार का अभाव हो जाता है;

–'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। पदार्थ की प्रतिसमय की पर्याय क्रमबद्ध होती है- यह बात समझने मे महापुरुषार्थ है। भाई! क्रमबद्ध होनेवाली पर्याय को पर की तो अपेक्षा नहीं है, परन्तु अपने द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नही है- ऐसे तत्त्व को समझ लेने से तेरे भवभ्रमण का अन्त आयेगा। यह एक ही करने योग्य कार्य है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टिजिनेश्वर, बोल ४०७, पृष्ठ ९४-९५)

८. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय प्रतिसमय अपने षट्कारकरूप से स्वयं परिणमती है -ऐसा पता चल जाता है;

–'एक समय मे पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है; द्रव्य के कारण नही तथा पूर्वपर्याय के कारण उत्तर-पर्याय परिणमती हो- ऐसा भी नही है। प्रत्येक पदार्थ की पर्याय प्रतिसमय षट्कारक से स्वतन्त्रपने ही परिणमती है। यह वस्तु की स्थिति है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ५५९, पृष्ठ २१२)

९. द्रव्य और पर्याय- दो भिन्न-भिन्न धर्म हैं। जिसमें द्रव्य त्रिकाल है और पर्याय एक समय की होती है- ऐसा सही ज्ञान होने से एक समय के विकार से रहित त्रिकाल एकरूप ज्ञायकस्वभाव की सम्यक्प्रतीति होती है;

–'द्रव्य-गुण त्रैकालिक हैं। उसके प्रतिक्षणवर्ती जो भेद हैं, सो पर्याय हैं। पर्याय की मर्यादा एक समयमात्र की है।.........एक पर्याय दूसरी पर्याय मे नहीं आती; इसलिये पहली पर्याय के विकाररूप होनेपर भी मै अपने स्वभाव से दूसरी पर्याय को निर्विकार कर सकता हूँ। इसका अर्थ यह है कि विकार एक समयमात्र के लिये है और विकाररहित स्वभाव त्रिकाल है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ८३)

१०. पर्याय एकसमय की सत् है- ऐसा निर्णय करनेवाले को तुरन्त धर्म की प्राप्ति होती है;

–'पर्याय निश्चित है, ध्रुव है; अर्थात्, पर्याय उस समय की सत् होने से आगे पीछे हो सके- ऐसा नहीं है। इस प्रकार जाने तो दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाये और द्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से वीतरागता उत्पन्न हो।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ४५७, पृष्ठ १७०)

–'जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य-गुण सत्-अहेतुक है, उसी प्रकार एक-एक समय की पर्याय भी सत्-अहेतुक है।....... ....पर्याय की ऐसी निरपेक्षता स्वीकार करने से पर्याय का निर्मल परिणमन ही होता है, क्योकि निरपेक्षता स्वीकार करनेवाली पर्याय स्वद्रव्य की ओर उन्मुख है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ १००)

११. पर्याय एक समय की है, क्षणिक है; अनादिअनन्त नहीं है। उसका आश्रय नहीं लिया जा सकता; अत: त्रिकाल एकरूप अखण्ड ज्ञायकस्वभावी आत्मा के आश्रय से तुरन्त धर्म की प्राप्ति करनी चाहिए- ऐसा पता चल जाता है;

–'पर्याय के आश्रय से लाभ माननेवाला क्षणिक पर्याय को ही वस्तु का सर्वस्व मानता है। वह पर्याय की दृष्टि छोड़कर द्रव्य में दृष्टि नही करता; इसलिये उसे सम्यग्दर्शनादि का लाभ नही होता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २५७)

-'पर्यायें क्रमशः होती है। पहले समय की अवस्था दूसरे समय नहीं रहती, किन्तु उसका व्यय हो जाता है। कोई जीव एक पर्याय को दूसरे समय रखना चाहे, तो भी नहीं रह सकती -ऐसा ही स्वभाव है। इसलिये क्या करना चाहिए? कि ध्रुवस्वभाव, जो नित्य स्थायी शुद्ध ज्यो का त्यो है, उसके सन्मुख देख और उसमे दृष्टि की एकाग्रता कर, तो उस ध्रुव के आधार से पर्याय का निर्मल परिवर्तन हो जायेगा।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ २५१)

१२. प्रत्येक द्रव्य के स्वतन्त्र परिणमन को अस्वीकार करके शरीरादि परद्रव्यों की क्रियाओं का कर्ता स्वयं को मानना ही मिथ्यात्व है- यह पता चल जाता है;

-' "मै परजीवो को दु:खी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि; तथा बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ" इत्यादि- जो यह अध्यवसान है, वह सब परभाव के पर मे व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नही है। इसलिये "मै आकाश पुष्प को तोड़ता हूँ"- ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप है; मात्र अपने अनर्थ के लिये ही है (अर्थात्, मात्र अपने लिये ही हानि का कारण होता है, पर का तो कुछ कर नहीं सकता)।'

(श्रीसमयसार, गाथा २६६ की टीका, पृष्ठ ३९७)

-' "जिसका करना अशक्य हो, उसे करने की बुद्धि होना मूर्खता है। देहादि के कार्य मैं कर सकता हूँ, हस्त-पादादि को मै हिला-डुला सकता हूँ, परद्रव्य के कार्य को मै कर सकता हूँ-" यह समस्त विचारश्रृङ्खला अबुद्धिमत्तापूर्ण है। "मै परजीवो को सुखी अथवा दु:खी कर सकता हूँ, मार या बचा सकता हूँ, देश कुटुम्बादि की सेवा कर सकता हूँ"- ऐसी बुद्धि होना मूर्खतापूर्ण है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ५५७, पृष्ठ २११)

१३. प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी व्यञ्जन व अर्थपर्यायों का स्वयं ही कर्ता है- ऐसा वस्तुस्वरूप का निर्णय होने से इष्ट-अनिष्ट की खोटी मान्यता का अभाव हो जाता है; और

-'जो अपने को सुखदायक-उपकारी हो, उसे इष्ट कहते हैं; अपने को दु:खदायक -अनुपकारी हो, उसे अनिष्ट कहते है। लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्ता हैं, कोई किसी को सुख-दु:खदायक, उपकारी-अनुपकारी है नहीं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८९)

-'तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो................तब सच्चा धर्म होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२९)

१४. द्रव्य-गुण के आश्रय बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय के बिना द्रव्य-गुणों का

प्रगटपना नहीं होता; अर्थात्, प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है; अत: जो स्वयं को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानता है, उसके मोह का नियम से अभाव हो जाता है।

-'यह जो आत्मा-आत्मा का एकरूप (कथञ्चित् सदृश्य) त्रैकालिक प्रवाह है, सो द्रव्य है। उसका जो एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेषण है, सो गुण है और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं, सो पर्याये हैं। इस प्रकार अपना आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से मन के द्वारा ज्ञान में आता है। इस प्रकार त्रैकालिक निज आत्मा को मन के द्वारा ज्ञान मे लेकर; जैसे, मोतियों को और सफेदी को हार मे ही अन्तर्गर्भित करके मात्र हार ही जाना जाता है; उसी प्रकार आत्मपर्यायों को और चैतन्यगुण को आत्मा मे ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट हो जाता है। इसलिये जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है और उससे दर्शनमोह निराश्रय होता हुआ नष्ट हो जाता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० का भावार्थ, पृष्ठ १४३)

न विहार कर परद्रव्य में

-तूं स्थाप निजको मोक्षपथमें, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्यमें।।

गाथार्थ- हे भव्य! तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर; उसी को चेत-अनुभव कर, और उसी में निरन्तर विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

(आचार्य कुन्दकुन्ददेव, श्रीसमयसार, गाथा ४१२ व गाथार्थ)

सुख तेरी आत्मा में है

'यह पैसे आदि की सम्पदा- वह सब आपदा है। वह सम्पदा स्वयं आपदा नहीं है परन्तु आपदा का निमित्त है। लक्ष्मी वास्तव में आपदा का कारण नहीं है परन्तु उसके प्रति का मोह- वह आपदा का कारण है। मोह करके पैसे का रखवाला- चौकीदार बनता है। तू पैसे का दास है कि तेरा वह दास है? तू उसका चौकीदार हुआ; इसलिये तू ही उसका दास हुआ है। बाहर की सम्पदा क्षणिक और नाशवान है। पैसे में सुख नहीं है; सुख तेरी आत्मा मे ही है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मधर्म, जुलाई १९९६, पृष्ठ १३)

सम्यग्दर्शन ही सच्चा उपाय है

(तथा) आयुकर्म के निमित्त से पर्याय का धारण करना सो जीवितव्य है और पर्याय का छूटना सो मरण है। यह जीव मिथ्यादर्शनादिक से पर्याय ही को अपनेरूप अनुभव करता है; इसलिये जीवितव्य रहने पर अपना अस्तित्व मानता है और मरण होनेपर अपना अभाव होना मानता है। इसी कारण से इसे सदाकाल मरण का भय रहता है, उस भय से सदा आकुलता रहती है। जिनको मरण का कारण जाने उनसे बहुत डरता है, कदाचित् उनका सयोग बने तो महाविह्वल हो जाता है। -इस प्रकार महादु.खी रहता है।

उसका उपाय यह करता है कि मरण के कारणो को दूर रखता है अथवा स्वय उनसे भागता है। तथा औषधादिक साधन करता है; किला, कोट आदि बनाता है- इत्यादि उपाय करता है। सो ये उपाय झूठे हैं, क्योकि आयु पूर्ण होनेपर तो अनेक उपाय करे, अनेक सहायक हो, तथापि मरण हो ही जाता है; एक समयमात्र भी जीवित नहीं रहता। और जब तक आयु पूर्ण न हो तब तक अनेक कारण मिलो, सर्वथा मरण नहीं होता। इसलिये उपाय करने से मरण मिटता नहीं है, तथा आयु की स्थिति पूर्ण होती ही है; इसलिये मरण भी होता ही है। इसका उपाय करना झूठा ही है।

तो सच्चा उपाय क्या है? सम्यग्दर्शनादिक से पर्याय में अहंबुद्धि छूट जाये, स्वयं अनादिनिधन चैतन्यद्रव्य है, उसमें अहंबुद्धि आये, पर्याय को स्वाङ्ग समान जाने; तब मरण का भय नहीं रहता। तथा सम्यग्दर्शनादिक से ही सिद्धपद प्राप्त करे तब मरण का अभाव ही होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही सच्चे उपाय हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ६१)

प्रकरण - ५

कुल पृष्ठ संख्या ६६

सम्यग्दर्शन

प्रश्न १- सम्यग्दर्शन किसे कहते है?

उत्तर- तत्त्वों की सम्यक् (सच्ची) श्रद्धा का नाम; अर्थात्, विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि प्रयोजनभूत पदार्थो का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

-**'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।। २।।'**

अर्थ- तत्त्व (वस्तु) के स्वरूपसहित अर्थ-जीवादि पदार्थो की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २ व अर्थ, पृष्ठ ७)

-**'यद् इह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम् एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम्।'**

अर्थ- 'इस आत्मा को अन्य द्रव्यो से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) ही नियम से सम्यक्‌दर्शन है।'

(श्रीसमयसार, कलश ६ का श्लोकार्थ, पृष्ठ २८)

-**'भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।**
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।। १३।।'

गाथार्थ- भूतार्थनय से ज्ञात जीव, अजीव, और पुण्य-पाप, तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, और मोक्ष- ये नवतत्त्व सम्यक्त्व है।

टीका- यह जीवादि नवतत्त्व भूतार्थनय (निश्चयनय) से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं।

(श्रीसमयसार, गाथा १३, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ २९-३०)

-**'जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं'- अर्थ**- जीवादि पदार्थो का श्रद्धान सम्यक्त्व है।

(श्रीसमयसार, गाथा १५५ का गाथार्थ, पृष्ठ २३५)

-**'आत्मविनिश्चितिः दर्शनम्'-अर्थ**-अपने आत्मा का विनिश्चय (निश्चय) सम्यग्दर्शन है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २१६ का अन्वयार्थ, पृष्ठ १८७)

-**'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।**
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्।। २२।।'

अन्वयार्थ- जीव, अजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) रहित; अर्थात्, अन्य

को अन्य समझनेरूप जो मिथ्याज्ञान है, उससे रहित श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास निरन्तर ही करना चाहिए। कारण कि वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप (सम्यग्दर्शन) है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २६)

–'ससार की बीजभूत कर्मजनित पर्याय को आत्मरूप से–अपनेरूप जानने का नाम ही विपरीत श्रद्धान है, और उसका मूल से विनाश करना ही सम्यग्दर्शन है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १५ का भावार्थ, पृष्ठ २१)

–**'परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, सम्यक्त्व भला है;'**

अन्वयार्थ– आत्मा मे परवस्तुओ से भिन्नत्व की श्रद्धा करना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, पद २ की प्रथम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५६)

–**'छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिदिट्ठा।**
सद्दहइ ताण रूवं सो सिदिट्ठी मुणेयव्वो।। १९।।'

अर्थ– छह द्रव्य, नव पदार्थ, पॉच अस्तिकाय, सात तत्त्व– यह जिनवचन मे कहैं है। उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करे, उसे सम्यग्दृष्टि जानना।

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा १९ व अर्थ, पृष्ठ २३)

–'आत्मा के विषय मे जो निश्चय हो जाता है, उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है।'

(श्रीपद्मनन्दि–पञ्चविंशतिः, एकत्वसप्ततिः, गाथा १४ का गाथार्थ, पृष्ठ ११४)

–**'अग्नाविवोष्णभावः सम्यग्बोधो ऽस्ति दर्शनं शुद्धम्।'**

गाथार्थ– जिस प्रकार अभेदस्वरूप से अग्नि में उष्णता रहती है, उसी प्रकार से आत्मा में ज्ञान है; इस प्रकार की प्रतीति का नाम शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

(श्रीपद्मनन्दि–पञ्चविंशतिः, निश्चयपञ्चाशत्, गाथा १४ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १८३)

–'विपरीत अभिप्रायरहित आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान, सो सम्यग्दर्शन है।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १० का अर्थ, पृष्ठ ८)

–**'सत्यप्रतीति अवस्था जाकी, दिन दिन रीति गहै समताकी।**
छिन छिन करै सत्यकौ साकौ, समकित नाम कहावै ताकौ।। २७।।'

अर्थ– आत्मा के स्वरूप की सत्य प्रतीति होना; दिन–प्रतिदिन समताभाव में उन्नति होना; और क्षण–क्षणपर परिणामो की विशुद्धि होना– इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, चौपाई २७ व अर्थ, पृष्ठ ३७५)

–**'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पेणा तं तु।**
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि।। ४१।।'

गाथार्थ– जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना, वह सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व आत्मा का

स्वरूप है। इस सम्यक्त्व के होनेपर दुरभिनिवेशरहित सम्यक्ज्ञान होता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ का गाथार्थ, पृष्ठ १८७-१८८)

-'वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित शुद्धात्म आदि तत्त्वों में "यही है; इस प्रकार ही है" -ऐसा निश्चय वह सम्यक्त्व है।' तथा,

-' "अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि, अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि" इत्यादि विपरीत अभिनिवेशरहित ज्ञान की ही "सम्यक्" विशेषण से वाच्य (कहने योग्य) अवस्था विशेष को सम्यग्दर्शन कहा जाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ की टीका, पृष्ठ २१८ व २१९)

-'**श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।**
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्।। ४।।'

अर्थ- सत्यार्थ जे आप्त (देव), आगम (शास्त्र), तपोभृत (गुरु) तिनका श्रद्धान तीन मूढता-रहित, निःशङ्कितादि अष्टअङ्गसहित और अष्टमदरहित होय, सो सम्यग्दर्शन है।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, सूत्र ४ व भावार्थ, पृष्ठ २ व ३)

-'**विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।**'

अर्थ- विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय; आग्रह) रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।

(श्रीनियमसार, गाथा ५१ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०६-१०७)

-'**चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।**'

अर्थ- चलता[१], **मलिनता**[२], और **अगाढ़ता**[३]रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।

(श्रीनियमसार, गाथा ५२ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०६ व १०८)

-'**छ-पंच-णव-विहाणं, अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।**
आणाए अहिगमेण य, सद्दहणं होई सम्मत्तं।। ५६१।।'

टीका- द्रव्य भेद करि छह प्रकार, अस्तिकाय भेद करि पाँच प्रकार, पदार्थ भेद करि नौ प्रकार अैसे जो सर्वज्ञदेव करि कहे जीवादिक वस्तु तिनका श्रद्धान-रुचि-यथावत् प्रतीति; सो सम्यक्त्व जानना। सो सर्वदेव ने जैसे कह्या, तेसैं ही है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५८)

---

१. **चलता**- व्यवहारमात्र देवादिक की प्रतीति तो हो, परन्तु अरहन्तदेवादि मे- 'यह मेरा है, यह अन्य का है', इत्यादि भाव, सो चलपना है।

२. **मलिनता**- शङ्कादि मल लगे, सो मलिनपना है।

३. **अगाढ़ता**- यह शान्तिनाथ शान्तिकर्ता है, इत्यादि भाव; सो अगाढ़पना है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३४)

[विस्तार के लिये '**प्रकरण-५:४ : सम्यग्दर्शन के दोष**', **पृष्ठ ५६२-६६३, प्रश्न संख्या ११, १२ व १३** देखें।]

–'भूतार्थनय के विषयभूत, शुद्ध समयसार शब्द से वाच्य, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म आदि समस्त परद्रव्यों से भिन्न, परमचैतन्यविलासलक्षण, स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है- ऐसी रुचि वह सम्यग्दर्शन है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५२ की टीका, पृष्ठ २४६-२४७)

–'त्रिकाल एकरूप परमपारिणामिकस्वभाव ही आदरणीय है और उसकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीनियमसार प्रवचन, शुद्धभाव अधिकार, अध्याय ३, पृष्ठ ४४)

–'द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद स्वभाव की ओर झुकने पर, कर्त्ता-कर्म-क्रिया के भेद का विभाग क्षय होता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है -यही सम्यग्दर्शन है।

(पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, सम्यग्दर्शन, भाग १, पृष्ठ ९०)

–'श्रद्धागुण की जिस अवस्था के प्रगट होने से अपने शुद्ध आत्मा का प्रतिभास हो, सो सम्यग्दर्शन है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, प्रथम अध्याय का परिशिष्ठ, पृष्ठ १००)

–'विपरीताभिनिवेशरहित जीवादिकतत्त्वार्थश्रद्धान- वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१५)

–'स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४१)

प्रश्न २- सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन का मुख्य लक्षण तो तत्त्वार्थश्रद्धान ही है लेकिन उसके (तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण के) साथ अविनाभावी होने के कारण सम्यग्दर्शन के चार लक्षण कहे गये है- (१) तत्त्वार्थ-श्रद्धान, (२) स्व-पर का श्रद्धान, (३) आत्मश्रद्धान, और (४) देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान।

–'इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भवपने से रहित सर्व सम्यग्दृष्ट्रियो मे तो पाया जाये और किसी मिथ्यादृष्टि मे न पाया जाये- ऐसा सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२३)

–'इस प्रकार विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थो का श्रद्धानपना, सो सम्यग्दर्शन का लक्षण है; सम्यग्दर्शन लक्ष्य है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१८)

-'आपा परिचै निज विषै, उपजै नहिं संदेह।
सहज प्रपंच रहित दसा, समकित लच्छन एह।। २९।।'

अर्थ- अपने में ही आत्मस्वरूप का परिचय पाता है, कभी सन्देह नही उपजता, और छल -कपटरहित वैराग्यभाव रहता है- यही सम्यग्दर्शन का चिह्न (लक्षण) है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा २९ व अर्थ, पृष्ठ ३७५)

-'अनुभूति को लक्षण कहा है, लेकिन वास्तव मे तो वह ज्ञान की पर्याय है; सही लक्षण तो प्रतीति ही है। केवल आत्मा की प्रतीति- यह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या २०९, पृष्ठ ८३-८४)

प्रश्न ३- चारो लक्षणो में परस्पर एकता दिखायी देती है, परन्तु अन्य-अन्य प्रकार से (चार प्रकार से) कहने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन के लक्षणो (चारो) मे सच्ची दृष्टि से एक लक्षण ग्रहण करने पर भी चारो लक्षणो का ग्रहण होता है; तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न-भिन्न विचारकर अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहे है।

-'जहॉ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तो यह प्रयोजन है कि इन तत्त्वो को पहचाने तो यथार्थ वस्तु के स्वरूप का व अपने हित-अहित का श्रद्धान करे; तब मोक्षमार्ग में प्रवर्ते।

तथा जहॉ आपा-पर का भिन्न श्रद्धान (सम्यक्त्व) का लक्षण कहा है, वहॉ तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन जिससे सिद्ध हो, उस श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।...............तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन आपा-पर के भिन्न श्रद्धान से सिद्ध होता जानकर इस लक्षण को कहा है।

तथा जहॉ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ आपा-पर के भिन्न श्रद्धान का प्रयोजन इतना ही है कि आपको आप जानना। आपको आप जाननेपर, पर का भी विकल्प कार्यकारी नहीं है। ऐसे मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

तथा जहॉ देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ बाह्य साधन की प्रधानता की है, क्योंकि अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण है।...........सो बाह्य कारण की प्रधानता से कुदेवादिक का श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिक का श्रद्धान कराने के अर्थ देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की मुख्यता से भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवॉं अधिकार, पृष्ठ ३२७)

प्रश्न ४- सम्यग्दर्शन के चारों लक्षणों में परस्पर सापेक्षता किस प्रकार है?

उत्तर- 'मिथ्यात्वकर्म के उपशमादि होनेपर विपरीताभिनिवेश का अभाव होता है, वहॉ चारों

लक्षण युगपत् पाये जाते हैं। विचार अपेक्षा मुख्यरूप से तत्त्वार्थो का विचार करता है, या आपापर (स्व-पर) का भेदविज्ञान करता है, या आत्मस्वरूप ही का स्मरण करता है, या देवादिक (देव-धर्म -गुरु) का स्वरूप विचारता है। इस प्रकार ज्ञान मे तो नानाप्रकार विचार होते है, परन्तु श्रद्धान मे सर्वत्र परस्पर सापेक्षपना पाया जाता है। तत्त्व विचार करता है, तो भेदविज्ञानादि के अभिप्रायसहित करता है और भेदविज्ञान (स्व-पर मे) करता है, तो तत्त्वविचारादि के अभिप्रायसहित करता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षपना है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२७-३२८)

प्रश्न ५- तत्त्वार्थश्रद्धान और अरहन्तादिक (देव-गुरु-शास्त्र) के श्रद्धान मे परस्पर सापेक्षपना किस प्रकार हैं?

उत्तर- 'जिसके तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसके सच्चे अरहन्तादिक के स्वरूप का श्रद्धान होता ही होता है। तत्त्वार्थश्रद्धान बिना पक्ष से अरहन्तादिक का श्रद्धान करे, परन्तु यथावत् स्वरूप की पहचानसहित श्रद्धान नही होता; तथा जिसके सच्चे अरहन्तादिक के स्वरूप का श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है, क्योकि अरहन्तादिक का स्वरूप पहचानने से जीव-अजीव-आस्रवादिक (तत्त्वों) की पहचान होती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२५)

-'इसलिये प्रवचनसार मे ऐसा कहा है-

जो जाणदि अरहतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।

इसका अर्थ यह है- जो अरहन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व से जानता है; वह आत्मा को जानता है। उसका मोह विलय को प्राप्त होता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० व अर्थ, आधार-श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२६)

इस प्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धान और अरहन्तादिक के श्रद्धान मे परस्पर सापेक्षपना है।

प्रश्न ६- यदि तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व का सच्चा लक्षण माने, तो अनेक तिर्यञ्चादि तुच्छज्ञानी जीव सात तत्त्वो का नाम भी नहीं जानते। फिर भी उनके सम्यक्त्व का कथन शास्त्रो में है- सो कैसे?

उत्तर- 'जीव-अजीवादिक के नामादिक जानो या न जानो अथवा अन्यथा जानो। उनका (सात तत्त्वों का) स्वरूप यथार्थ पहचानकर श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है।..............तुच्छज्ञानी तिर्यञ्चादिक (जो) सम्यग्दृष्टि हैं, वे जीवादिक का नाम भी नहीं जानते; तथापि उनका (सात तत्त्वो का) सामान्यरूप से स्वरूप पहचानकर श्रद्धान करते हैं; इसलिये उनके सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

जैसे; कोई तिर्यञ्च अपना तथा औरो का नामादिक तो नहीं जानता, परन्तु आपही में अपनत्व मानता है; औरों को पर मानता है। उसी प्रकार तुच्छज्ञानी, जीव-अजीव का नाम नहीं जानता; परन्तु जो ज्ञानादिस्वरूप आत्मा है, उसमे तो अपनत्व मानता है और जो शरीरादि हैं, उनको पर मानता है -ऐसा श्रद्धान उसके होता है। वही जीव-अजीव का (सच्चा) श्रद्धान है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१९)

प्रश्न ७- मिथ्यादृष्टि जीवों के भी तत्त्वार्थश्रद्धान का उल्लेख शास्त्रो में है; इसलिये सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान मानने पर अतिव्याप्ति दोष आता है?

उत्तर- 'सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, सो भावनिक्षेप से कहा है। ऐसे गुणसहित सच्चा तत्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टि के कदाचित् नही होता। मिथ्यादृष्टि को तत्त्वश्रद्धान या तो नामनिक्षेप से होता है अथवा आगमद्रव्यनिक्षेप से। मिथ्यादृष्टि को तत्त्वश्रद्धान का गुण नहीं होता। व्यवहार में जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहा जाये, वह मिथ्यादृष्टि के होता है; वह तत्त्वार्थश्रद्धान के प्रतिपादक शास्त्रो का अभ्यास तो करता है, लेकिन उनका स्वरूप निश्चय करने मे उपयोग नही लगाता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान सर्वथा नही पाये जाने से 'तत्त्वार्थश्रद्धान' सम्यक्त्व के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं लगता है।'

(आधार-श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२२-३२३)

प्रश्न ८- सम्यक्त्व के चारो लक्षणो मे तत्त्वार्थश्रद्धान को मुख्य लक्षण क्यों कहा है?

उत्तर- 'तुच्छबुद्धियों को अन्य लक्षणो मे, (तत्त्वार्थश्रद्धान के अतिरिक्त शेष तीन लक्षणो मे), प्रयोजन प्रगट भासित नही होता व भ्रम उत्पन्न होता है। और इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में प्रगट प्रयोजन भासित होता है; कुछ भ्रम उत्पन्न नहीं होता; इसलिये इस लक्षण (तत्त्वार्थश्रद्धान) को मुख्य किया है।' तथा,

-'अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में तो देवादिक का श्रद्धान व आपापर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान गर्भित होता है। वह तो तुच्छबुद्धियो को भी भासित होता है तथा अन्य लक्षण में तत्त्वार्थश्रद्धान का गर्भितपना विशेष बुद्धिमान हों, उन्हीं को भासित होता है; तुच्छबुद्धियो को नहीं भासित होता; इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२९-३३०)

प्रश्न ९- सम्यक्त्व का मुख्य लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान को मानने पर किस प्रयोजन की सिद्धि होती है?

उत्तर- तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व का मुख्य लक्षण मानने पर मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि होती है और जीव को किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं होता।

–'तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण मे जीव–अजीवादिक का व आस्रवादिक का श्रद्धान होता है। वहाँ सर्व का (सातों तत्त्वो का) स्वरूप भलीभाँति भासित होता है। तब मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि होती है तथा यह श्रद्धान (तत्त्वार्थश्रद्धान) होनेपर सम्यक्त्वी होता है, परन्तु यह सन्तुष्ट नहीं होता। आस्रवादिक का श्रद्धान होने से रागादि छोड़कर मोक्ष का उद्यम रखता है। इसके भ्रम उत्पन्न नहीं होता।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३०)

प्रश्न १०– सम्यक्त्व के लक्षणो मे देवादिक का श्रद्धान अथवा आपापर का श्रद्धान अथवा आत्मश्रद्धान लक्षण को मुख्य करने से क्या भ्रम उत्पन्न होता है?

उत्तर– तत्त्वार्थश्रद्धान के अतिरिक्त शेष तीन लक्षणो मे से किसी को भी सम्यक्त्व का मुख्य लक्षण मानने से तुच्छबुद्धि जीवो को अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो सकते है।

–'देव–गुरु–धर्म के श्रद्धान मे तुच्छबुद्धियो को यह भासित हो कि अरहन्तदेवादिक को मानना, और को नही मानना– इतना ही सम्यक्त्व है। वहाॅ जीव–अजीव का व बन्ध–मोक्ष के कारण–कार्य का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि न हो; व जीवादिक का श्रद्धान हुए बिना इसी श्रद्धान मे सन्तुष्ट होकर अपने को सम्यक्त्वी माने, एक कुदेवादिक से द्वेष तो रखे, अन्य रागादि छोड़ने का उद्यम न करे– ऐसा भ्रम उत्पन्न हो।

तथा आपापर के श्रद्धान में तुच्छबुद्धियों को यह भासित हो कि आपापर का ही जानना कार्यकारी है। इसी से सम्यक्त्व होता है। वहाॅ आस्रवादिक का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि न हो; व आस्रवादिक का श्रद्धान हुए बिना इतना ही जानने मे सन्तुष्ट होकर अपने को सम्यक्त्वी माने; स्वच्छन्द होकर रागादि छोड़ने का उद्यम न करे –ऐसा भ्रम उत्पन्न हो।

तथा आत्मश्रद्धान मे तुच्छबुद्धियो को यह भासित हो कि आत्मा ही का विचार कार्यकारी है। इसी से सम्यक्त्व होता है। वहाॅ जीव–अजीवादिक का व आस्रवादिक का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि न हो; व जीवादिक के विशेष व आस्रवादिक के स्वरूप का श्रद्धान हुए बिना इतने ही विचार से अपने को सम्यक्त्वी माने; स्वच्छन्द होकर रागादि छोड़ने का उद्यम न करे– इसके भी ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

ऐसा जानकर इन लक्षणो को मुख्य नहीं किया।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२९–३३०)

प्रश्न ११– सम्यग्दर्शन क्या है?

उत्तर– 'सम्यग्दर्शन जीवद्रव्य के श्रद्धागुण की एक निर्मल पर्याय है।......जीवद्रव्य अर्थात् आत्मवस्तु में अनन्त गुण हैं। उनमें से एक श्रद्धा (मान्यता; विश्वास; प्रतीति) नाम का गुण है। उस गुण

(श्रद्धागुण) की अवस्था (पर्याय) अनादिकाल से विपरीत हो रही है; इसलिये जीव को अपने स्वरूप का भ्रम बना हुआ है। इस विपरीत अवस्था को ही मिथ्यादर्शन कहते हैं। इस श्रद्धागुण की शुद्ध (अविपरीत) अवस्था सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन आत्मा के श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, प्रथम अध्याय का परिशिष्ठ, पृष्ठ १००)

– 'ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार (जैसी है वैसी ही; यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है, वह सम्यग्दर्शन पर्याय है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २४२ की टीका, पृष्ठ ४७३)

– 'सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धागुण की निर्विकारी पर्याय हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ १४३)

प्रश्न १२- सम्यग्दर्शन को पर्याय होते हुए भी उसे कही-कहीं 'सम्यक्त्वगुण' क्यों कहा है?

उत्तर- 'वास्तव में तो सम्यग्दर्शन पर्याय ही है; किन्तु जैसा गुण है, वैसी ही उसकी पर्याय प्रगट हुई है- इस प्रकार गुण-पर्याय की अभिन्नता बताने के लिये कहीं-कहीं उसे सम्यक्त्वगुण भी कहा जाता है। किन्तु वास्तव मे सम्यक्त्व पर्याय है, गुण नहीं। जो गुण होता है वह त्रिकाल रहता है। सम्यक्त्व त्रिकाल नहीं होता, किन्तु उसे जीव जब अपने सत् पुरुषार्थ से प्रकट करता है, तब होता है; इसलिये वह पर्याय है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, प्रथम अध्याय का परिशिष्ठ, पृष्ठ ११०)

अन्तर सुखरस गटागटी

चिन्मूरत दृग्धारीकी मोहि, रीति लगत है अटापटी।। टेक।।
बाहिर नारकिकृत दु:ख भोगै, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि सङ्ग पै तिस, परनतितैं नित हटाहटी।। १ ।।
ज्ञानविराग शक्तितैं विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदननिवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी।। २ ।।
जे भवहेतु अबुधके ते तस, करत बन्धकी झटाझटी।
नारक पशुतिय षढ विकलत्रय, प्रकृतिनकी है कटाकटी।। ३ ।।
संयम धर न सकै पै संयम, धारन की उर चटाचटी।
तासु सुयश गुनकी 'दौलत' के, लगी रहै नित रटारटी।। ४ ।।

–श्री दौलतरामजी

सम्यग्दर्शन के भेद

प्रश्न १- उत्पत्ति की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के कितने भेद हैं?

उत्तर- उत्पत्ति की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है- (१) निसर्गज, और (२) अधिगमज।

-**'तन्निसर्गादधिगमाद्वा।। ३।।'**

अर्थ- वह सम्यग्दर्शन स्वभाव से अथवा दूसरे के उपदेशादि से उत्पन्न होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३ व अर्थ, पृष्ठ १७)

प्रश्न २- निसर्गज सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर- जो दूसरे के उपदेशादि के बिना स्वयमेव; अर्थात्, पूर्व संस्कार से उत्पन्न होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३ की टीका, पृष्ठ १७)

-'वहाँ देवादिक बाह्यनिमित्त के बिना हो, उसे निसर्ग से हुआ कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६०)

-'अपने आप अर्थात् निसर्गज'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा २८ का अर्थ, पृष्ठ ३७५)

-'उपदेशादि बाह्यनिमित्त बिना होई, सो निसर्गज है।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १० का अर्थ, पृष्ठ ८)

प्रश्न ३- अधिगमज सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर- जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेशादि से (निमित्त से) उत्पन्न होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३ की टीका, पृष्ठ १८)

-'देवादिक के निमित्त से हो, उसे अधिगम से हुआ कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६०)

-'गुरु के उपदेश से अर्थात् अधिगमज,'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा २८ का अर्थ, पृष्ठ २७५)

-'अर उपदेशादि बाह्य निमित्त तैं होई सो अधिगमज है।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १० का अर्थ, पृष्ठ ८)

सारणी १८ : सम्यग्दर्शन के भेद (उत्पत्ति की अपेक्षा)

सम्यग्दर्शन

निसर्गज	अधिगमज
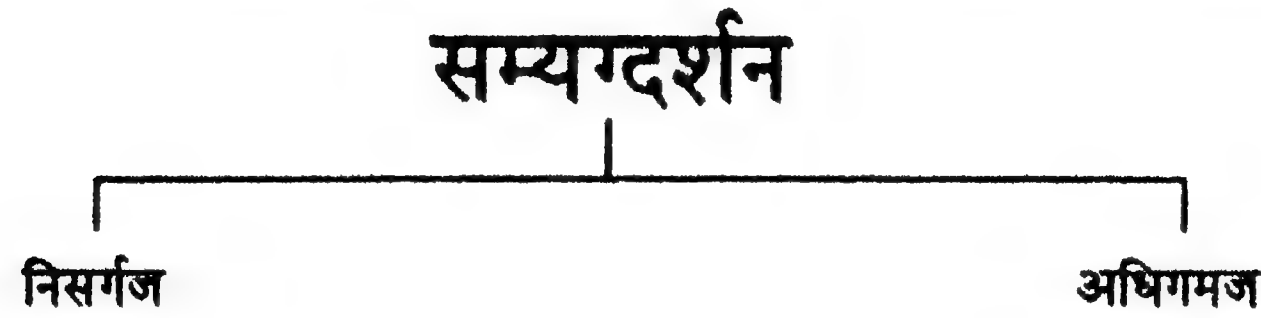
आधार-श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३ व अर्थ

प्रश्न ४- सम्यक्त्व के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) निश्चय सम्यक्त्व, और (२) व्यवहार सम्यक्त्व।

प्रश्न ५— निश्चय सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर- 'विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप आत्मा का परिणाम, वह तो निश्चय सम्यक्त्व है, क्योंकि यह सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है। सत्यार्थ ही का नाम निश्चय है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३०)

-'जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना (निश्चय) सम्यग्दर्शन है और वह आत्मा का स्वरूप है।'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ का अन्वयार्थ, पृष्ठ १२६)

-'वर्ते निज स्वभावका अनुभव लक्ष प्रतीत
वृत्ति वहे निजभावमें परमार्थे समकित।'

अर्थ- अपने स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान, और अनुभव वर्ते और अपने भाव में अपनी वृत्ति वहे, सो परमार्थ (निश्चय) सम्यक्त्व है।

(आत्मसिद्धि, गाथा १११ व अर्थ, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ट १, पृष्ठ १०५)

- 'मिथ्यामति-गँठि-भेदि जगी निरमल जोति, जोगसौं अतीत सो तो निह्चै प्रमानियै।'

अर्थ- मिथ्यात्व के नष्ट होने से मन-वचन-काय के अगोचर जो आत्मा की निर्विकार श्रद्धान की ज्योति प्रकाशित होती है, उसे निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिए।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ५१ की प्रथम दो पंक्ति व अर्थ, पृ०३८२)

-'परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, सम्यक्त्व भला है;'

अन्वयार्थ- आत्मा में पर वस्तुओ से भिन्नत्व की श्रद्धा करना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, दोहा २ की प्रथम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५६)

प्रश्न ६- व्यवहार सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर- 'विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान को कारणभूत श्रद्धान, सो व्यवहार- सम्यक्त्व है, क्योंकि कारण में कार्य का उपचार किया है। सो उपचार ही का नाम व्यवहार है।' तथा,

-'देव-गुरु-धर्मादिक का श्रद्धान है, सो व्यवहारसम्यक्त्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३०)

-'जिनेन्द्रदेव ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, और मोक्ष- यह सात तत्त्व कहे हैं। इन सबकी यथावत्-यथार्थरूप से श्रद्धा करना व्यवहार से सम्यग्दर्शन है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, दोहा ३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ५८)

-'इहि विध जो सरधा तत्त्वनकी, सो समकित व्यवहारी।'

अर्थ- सात तत्त्वो की भेदसहित श्रद्धा करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, दोहा १० की द्वितीय पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७०-७१)

- 'वहै दुंद दसासौं कहावै जोग मुद्रा धरै, मति श्रुतग्यान भेद विवहार मानियै।।'

अर्थ- जिसमें योग, मुद्रा, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि के विकल्प हैं, वह व्यवहार सम्यक्त्व जानना।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ५१ की मध्यम पंक्तियां व अर्थ, पृष्ठ ३८२)

-'पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्य तथा जीव-पुद्गल के सयोगी परिणामो से उत्पन्न आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, सवर, निर्जरा, और मोक्ष- इस प्रकार नव पदार्थों के विकल्परूप व्यवहार सम्यक्त्व है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०७ की जयसेनाचार्य कृत टीका, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ट १, पृष्ठ १०६)

[**विशेष- (१)** कुछ प्रमुख जैनशास्त्रो में निश्चयसम्यक्त्व को वीतरागसम्यक्त्व और व्यवहारसम्यक्त्व को सरागसम्यक्त्व के नाम से उल्लेखित किया गया है; यथा-

-'सरागवीतरागात्म-विषयत्वाद् द्विधा स्मृतम्।'

अर्थ- सम्यक्त्व दोय प्रकार है- एक सराग, एक वीतराग।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५८)

-'सम्यक्त्व दो प्रकार का है- एक सरागसम्यक्त्व, दूसरा वीतरागसम्यक्त्व।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १७ का भावार्थ, पृष्ठ १३२)

(क) सरागसम्यक्त्व- 'तहां उपशम, संवेग, आस्तिक्यादिक गुणनिरूप राग सहित श्रद्धान होइ, सो सराग सम्यक्त्व है।' **-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६१ की टीका, स० च०, पृष्ठ ६५८**

-'**प्रशम** अर्थात् शान्तिपना, **संवेग**; अर्थात्, जिनधर्म की रुचि तथा जगत से अरुचि, **अनुकम्पा**; अर्थात्, परजीवों को दु:खी देखकर दयाभाव और **आस्तिक्य**; अर्थात्, देव-गुरु-धर्म की तथा छह द्रव्यों की श्रद्धा- इन चारों का होना वह व्यवहारसम्यक्त्वरूप सरागसम्यक्त्व है।' **-श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १७ का भावार्थ, पृष्ठ १३२;**

(ख) वीतरागसम्यक्त्व- 'बहुरि केवल चैतन्य मात्र आत्मस्वरूप की विशुद्धता मात्र वीतराग सम्यक्त्व है।' **-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५८;**

-'वीतरागसम्यक्त्व जो निश्चयसम्यक्त्व वह निजशुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्र से तन्मयी है।' **-श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १७ का भावार्थ, पृष्ठ १३२;**

(२) श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ५०-५१ में सम्यक्त्व के चार भेदों का वर्णन है- (१) निश्चयसम्यक्त्व, (२) व्यवहारसम्यक्त्व, (३) सामान्यसम्यक्त्व, और (४) विशेषसम्यक्त्व। इसमें ज्ञान की अल्पशक्ति के कारण मात्र चेतना चिह्न के धारक आत्मा को पहचानकर निज और पर के स्वरूप का जानना, सो '**सामान्यसम्यक्त्व**' और हेय, ज्ञेय, उपादेय के भेदाभेद को विस्ताररूप से समझना, सो '**विशेषसम्यक्त्व**' बताया है।]

सारणी १९ : सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन

- **निश्चय (वीतराग सम्यक्त्व)**
  - **औपशमिक**
    - **प्रथमोपशम सम्यक्त्व**
    - **द्वितीयोपशम सम्यक्त्व**
  - **क्षायोपशमिक**
  - **क्षायिक**
  - **वेदक**
- **व्यवहार (सराग सम्यक्त्व)**
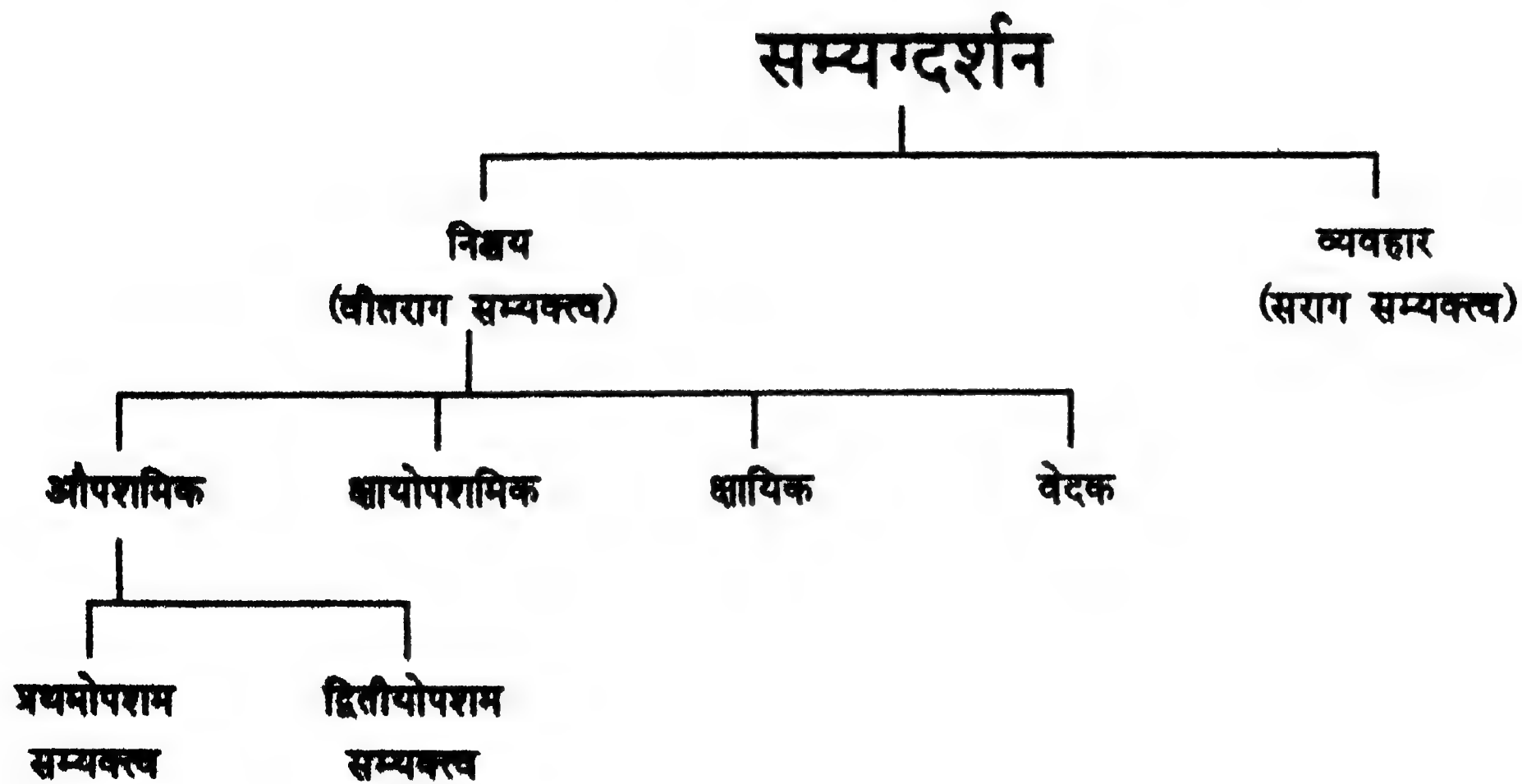
आधार-श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३० से ३३५

प्रश्न ७- निश्चय सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का है?

उत्तर- निश्चय सम्यग्दर्शन तो एक ही प्रकार का है। इसके दर्शनमोह की अपेक्षा तीन भेद किये गये हैं- (१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक, और (३) क्षायिक। शास्त्रों में वेदक सम्यक्त्व मिलाकर चार भेदों का भी कथन है।

प्रश्न ८- औपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते है?

उत्तर- 'निज शुद्धात्म सन्मुख पुरुषार्थी जीव के कर्मो की पाँच अथवा सात (दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार) प्रकृतियो के **उपशम**[१] के समय काल में (निमित्त) होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, दूसरा अध्याय, प्रश्न संख्या ६७)

-'दर्शनमोह का उपशम तैं होइ सो औपशमिक है।' तथा,

-'तहाँ औपशमिक सम्यक्त्व तौ जैसे कादा (कीचड़; गन्दगी) जाके नीचे बैठ्या, ऐसा जल ऊपरि निर्मल होइ तैसा जानना।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १० का अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ ८ व ९)

-**'सात प्रकृति उपसमहि, जासु सो उपशम मंडित।'**

अर्थ- जो कर्मो की सात प्रकृतियो को उपशमाता है, वह औपशमिकसम्यग्दृष्टि है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ४२ व अर्थ, पृष्ठ ३७९-३८०)

प्रश्न ९- औपशमिक सम्यक्त्व के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) प्रथमोपशमसम्यक्त्व, और (२) द्वितीयोपशमसम्यक्त्व।

(१) प्रथमोपशमसम्यक्त्व- अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को निज शुद्धात्म सन्मुखतापूर्वक प्रगट होनेवाले सम्यग्दर्शन को प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं।

-'मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे करण द्वारा दर्शनमोह का उपशम करके जो सम्यक्त्व उत्पन्न हो, उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३३)

(२) द्वितीयोपशमसम्यक्त्व- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के अनन्तर होनेवाले उपशम सम्यक्त्व को द्वितीयोपशमसम्यक्त्व कहते हैं।

---

१. **उपशम**- जहाँ सत्ता तो पायी जाये और उदय न पाया जाये, उसका नाम उपशम है।

[**विशेष**- अनिवृत्तिकरण मे किये अन्तरकरणविधान से जो सम्यक्त्व के काल में उदय आने योग्य निषेक थे, उनका तो अभाव किया; उनके परमाणु अन्यकाल मे उदय आने योग्य निषेकरूप किये तथा अनिवृत्तिकरण मे ही किये उपशमविधान से जो उस काल के पश्चात् उदय आने योग्य निषेक थे, वे उदीरणारूप होकर इस काल मे उदय न आ सकें ऐसे किये।]

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३३)

–'श्रेणी चढ़ने के सन्मुख सप्तम गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी चतुष्क के **विसंयोजन**[1] तथा दर्शनमोहनीय त्रिक के उपशम के समय (निमित्त) होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को द्वितीयोपशमसम्यक्त्व कहते हैं।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, दूसरा अध्याय, प्रश्नोत्तर संख्या ७२)

–'उपशमश्रेणी के सन्मुख होनेपर सप्तमगुणस्थान में क्षयोपशमसम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व हो, उसका नाम द्वितीयोपशमसम्यक्त्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३३)

प्रश्न ९०– क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर– निज शुद्धात्म सन्मुख पुरुषार्थी जीव के कर्मों की सात प्रकृतियों के क्षयोपशम के समयकाल में (निमित्त) होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

–'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी की चार, मिथ्यात्व, और सम्यग्मिथ्यात्व (कुल छः) प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय, सदवस्थारूप कर्म प्रकृतियों का उपशम तथा सम्यक् प्रकृति का उदय होता है।'

(आधार-गुणस्थान-प्रवेशिका, दूसरा अध्याय, प्रश्न सख्या ६८)

–'सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्व के वर्तमानकाल में उदय आने योग्य निषेकों का उदय हुए बिना निर्जरा होती है, वह तो क्षय जानना और इन्ही के आगामीकाल में उदय आने योग्य निषेकों की सत्ता पायी जाये, वही उपशम है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय पाया जाता है, ऐसी दशा जहाँ हो सो क्षयोपशम है; इसलिये समलतत्त्वार्थश्रद्धान हो वह क्षयोपशमसम्यक्त्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३४)

–'क्षयोपशम तैं होई सो क्षायोपशमिक है।' तथा,

–'क्षायोपशमिक ऊगता सूर्यवत् किछू रागमलसहित जानना।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १० का अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ ८ व ९)

–**'सातमांहि कछु खपैं, कछुक उपसम करि रक्खै।**
सो छय उपसमवंत, मिश्र समकित रस रक्खै।।'

अर्थ– सात प्रकृतियों में से कुछ क्षय हों और कुछ उपशम हों, तो वह क्षयोपशमसम्यक्त्वी है; उसे सम्यक्त्व का मिश्ररूप स्वाद मिलता है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ४२ व अर्थ, पृष्ठ ३७९-३८०)

---

१. **विसंयोजन**– जो तीन करण द्वारा अनन्तानुबन्धी के परमाणुओं को अन्य चारित्रमोह की प्रकृतिरूप परिणमित करके उनकी सत्ता नाश करे, उसका नाम विसंयोजन है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३६)

प्रश्न ११- क्षयोपशम सम्यक्त्व को 'समल' क्यों कहा है?

उत्तर- 'क्षयोपशम सम्यक्त्व में जो नियमरूप कोई मल लगता है, सो केवली जानते हैं। इतना जानना कि इसके (क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के) तत्त्वार्थश्रद्धान में किसी प्रकार से समलपना होता है; इसलिये यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है।' तथा,

-'यहाँ जो मल लगता है उसका तारतम्यस्वरूप तो केवली जानते हैं; उदाहरण बतलाने के अर्थ चलमलिन अगाढ़पना कहा है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३४)

प्रश्न १२- क्षयोपशम सम्यक्त्व कौन से गुणस्थान तक पाया जाता है?

उत्तर- 'क्षयोपशमसम्यक्त्व चतुर्थादि सप्तमगुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३५)

प्रश्न १३- क्षायिक सम्यक्त्व किसे कहते है?

उत्तर- निज शुद्धात्म सन्मुख पुरुषार्थी जीव के कर्मों की सात प्रकृतियों के क्षय के समय (निमित्त) होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व हमेशा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है और सादिअनन्त होता है; अर्थात्, इसके एकबार होनेपर कभी अभाव नहीं होता है।

-'तीनो प्रकृतियों (**मिथ्यात्व**[१], मिश्रमोहनीय, और सम्यक्त्वमोहनीय) के सर्वथा सर्व

---

१. **मिथ्यात्व**- प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वो के, अर्थात्, अदेव को देव, अतत्त्व को तत्त्व, अधर्म को धर्म माननेरूप इत्यादि विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। यह श्रद्धागुण की विपरीत पर्याय है।

-'स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है।' **(रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृ० ३४१)**

-'ताही तत्त्व मे जीवादि पदार्थ अपने-अपने जिस-जिस भावरूप तिष्ठै हैं, तिस ही भाव कहिये स्वरूपसहित मानना, सो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन भाव है। अर जिय भावरूप नाहीं, तिस भावरूप मानना सो अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव होय है।' **(भावदीपिका, चौथा अधिकार, पृष्ठ २८)**

-'मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अदेव मे देवबुद्धि, अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि, अधर्म मे धर्मबुद्धि, इत्यादि विपरीताभिनिवेशरूप जीव के परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं।' **(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न ३१२, पृष्ठ ७४)**

मिथ्यात्व के दो प्रकार हैं- (क) अगृहीत मिथ्यात्व, और (ख) गृहीत मिथ्यात्व।

(क) अगृहीत मिथ्यात्व- जीव परद्रव्य का कुछ कर सकता है या शुभ विकल्प से आत्मा को लाभ होता है- ऐसी अनादिकालीन विपरीत मान्यता मिथ्यात्व है और इसे किसी से ग्रहण नही किया है; इसलिये अगृहीत है।

-**'जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व॥'**

अन्वयार्थ- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, और मोक्ष प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। उनमे विपरीत श्रद्धा करना- सो अगृहीत मिथ्यादर्शन है। **(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द २ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३१)**

-'शुभविकल्प से आत्मा को लाभ होता है- ऐसी अनादिकाल से चली आयी जो जीव की मान्यता है- सो मिथ्यात्व है। यह किसी के सिखाने से नहीं हुआ, इसलिये अगृहीत है।' **(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ८, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५१०)**

...........**क्रमशः**

निषेकों का नाश होनेपर अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान हो, सो क्षायिकसम्यक्त्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३५)

(ख) गृहीत मिथ्यात्व- मनुष्यभव प्राप्त होनेपर परोपदेश के निमित्त से जीद जो अतत्त्व-श्रद्धा ग्रहण करता है, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, अथवा खोटे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

-'जन्म के बाद अनेक प्रकार की नयी विपरीत मान्यताएँ ग्रहण कीं, उसी को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। स्वयं विचारशक्तिवाला होकर भी नये-नये भ्रमों को पुष्ट करता रहता है; यही गृहीत मिथ्यात्व है।' तथा,

-'लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, और गुरुमूढ़ता के सेवन से कुदेव-कुगुरु के द्वारा जीव विपरीत मान्यता को पुष्ट करने वाले भ्रम ग्रहण करता है; यही गृहीत मिथ्यात्व है।' **(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, भाग १, पृष्ठ २०६ व २०८)**

गृहीत मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं- (१) एकान्तमिथ्यात्व, (२) विपरीतमिथ्यात्व, (३) विनयमिथ्यात्व, (४) संशयमिथ्यात्व, और (५) अज्ञानमिथ्यात्व।

(१) एकान्तमिथ्यात्व- आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थों का स्वरूप अपने-अपने अनेकान्तमय (अनेक धर्मवाला) होनेपर भी उन्हें सर्वथा एक ही धर्मवाला मानना, सो एकान्तमिथ्यात्व है; जैसे, जीव को सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य ही मानना, गुण-गुणी को सर्वथा भेद या अभेद ही मानना- सो एकान्तमिथ्यात्व है।

-'तहाँ जीवादि वस्तु सर्वथा सत्वरूप ही है, सर्वथा असत्वरूप ही है, सर्वथा एक ही है, सर्वथा अनेक ही है इत्यादि प्रतिपक्षी दूसरा भाव की अपेक्षारहित एकान्तरूप अभिप्राय सो एकान्त मिथ्यात्व है।' **(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९२)**

(२) विपरीतमिथ्यात्व- आत्मा के स्वरूप को अन्यथा मानने की रुचि को विपरीतमिथ्यात्व कहते हैं, जैसे, सग्रंन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, मिथ्यादृष्टि साधु को सच्चे गुरु मानना, केवली के स्वरूप को विपरीतरूप से मानना, इत्यादिरूप से जो विपरीत रुचि है, सो विपरीतमिथ्यात्व है।

-'बहुरि अहिंसादिक समीचीन धर्म का फल जो स्वर्गादिक सुख ताकौं हिंसादिकरूप यज्ञादिक का फल कल्पना करि मानैं, वा जीव के प्रमाण करि सिद्ध हैं जो मोक्ष, ताका निराकरण करि मोक्ष का अभाव मानैं, वा प्रमाण करि खण्डित जो स्त्री कैं मोक्षप्राप्ति, ताका अस्तित्व वचन करि स्त्री कौं मोक्ष है ऐसा मानैं इत्यादि एकान्त अवलम्बनकरि विपरीतरूप जो अभिनिवेश-अभिप्राय, सो विपरीत मिथ्यात्व है।' **(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९२)**

(३) विनयमिथ्यात्व- समस्त देवो को तथा समस्त धर्म-मतों को समान मानना, सो विनयमिथ्यात्व है।

-'बहुरि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सापेक्षारहितपनैं करि गुरुचरणपूजादिरूप विनय ही करि मुक्ति है- यहु श्रद्धान वैनयिक मिथ्यात्व है।' **(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९२)**

(४) संशयमिथ्यात्व- 'धर्म का स्वरूप यों है या यों है'- ऐसे परस्पर विरुद्ध दोरूप का श्रद्धान; जैसे, आत्मा अपने कार्य का कर्ता होगा, या परवस्तु के कार्य का कर्ता होगा? निमित्त और व्यवहार के आलम्बन से धर्म होगा या अपने शुद्धात्मा के आलम्बन से धर्म होगा? इत्यादिरूप से संशय रहना, सो सशयमिथ्यात्व है।

-'बहुरि प्रत्यक्षादि प्रमाणकरि ग्रह्या जो अर्थ, ताका देशान्तर विषैं अर कालान्तर विषैं व्यभिचार जो अन्यथाभाव, सो सम्भवै है। तातैं अनेक मत अपेक्षा परस्पर विरोधी जो आप्तवचन, ताका भी प्रमाणता की प्राप्ति नाहीं। तातैं ऐसैं ही तत्त्व है ऐसा निर्णय करने की शक्ति के अभाव तैं सर्वत्र संशय ही है, ऐसा जो अभिप्राय, सो संशय मिथ्यात्व है।' **(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९२)**

(५) अज्ञानमिथ्यात्व- जहाँ हित-अहित का कुछ भी विवेक न हो, या कुछ भी परीक्षा किये बिना धर्म की श्रद्धा करना सो, अज्ञान मिथ्याव है; जैसे, पशुवध में अथवा पाप में धर्म मानना, सो अज्ञानमिथ्यात्व है।

-'बहुरि ज्ञानावरण दर्शनावरण का तीव्र उदयकरि संयुक्त जे एकेन्द्रियादिक जीव, तिनके अनेकान्तस्वरूप वस्तु है, ऐसा वस्तु का सामान्य भाव विषैं अर उपयोग लक्षण जीव है ऐसा वस्तु का विशेष भाव विषैं जो अज्ञान, ताकरि निपज्या जो श्रद्धान

............क्रमशः

-'क्षय तैं होइ सो क्षायिक है।' तथा,

-'क्षायिक सम्यक्त्व हरितमणि समान सर्वथा निर्मल जानना।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १० का अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ ८ व ९)

-'सात प्रकृति क्षय करन-हार छायिकी अखंडित।'

अर्थ- सातों प्रकृतियों का क्षय करनेवाला क्षायिकसम्यग्दृष्टि है। यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ४२ व अर्थ, पृष्ठ ३७९-३८०)

प्रश्न १४- क्षायिक सम्यक्त्व कैसा होता है?

उत्तर- 'सो यह (क्षायिक सम्यक्त्व) प्रतिपक्षी कर्म (अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, और सम्यक्त्वमोहनीय कर्म) के अभाव से निर्मल है व मिथ्यात्व रञ्जना के अभाव से वीतराग हैं; इसका नाश नहीं होता। जबसे उत्पन्न हो, तब से सिद्ध अवस्था पर्यन्त इसका सद्भाव है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३५)

प्रश्न १५- वेदक सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर- जहाँ छ: प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी की चार, मिथ्यात्व, और सम्यग्मिथ्यात्व) का उपशम या क्षय हों अथवा कोई (कर्म प्रकृति) क्षय और कोई उपशम हो; केवल सातवीं प्रकृति सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो, वहाँ वेदक सम्यक्त्व होता है।

-'षट प्रकृति उपसमै वा खपैं, अथवा छय उपसम करै।
सताईं प्रकृति जाके उदय, सो वेदक समकित धरै॥'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ४२ की अन्तिम दो पंक्ति व अर्थ, पृष्ठ ३८०)

सो अज्ञान मिथ्यात्व है।' **(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९२)**

[**विशेष-** अगृहीत मिथ्यात्व को निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व को बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते है। जिसे गृहीत मिथ्यात्व हो, उसे अगृहीत भी नियम से होता है।]

सम्पूर्ण जिनागम में मिथ्यात्व को महापाप की संज्ञा दी गयी है-

-'जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिये इस मिथ्यात्व को सप्तव्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है।' **(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, छठा अधिकार, पृष्ठ १९२)**

-'यो मिथ्यात्वभाव जीव कौं सर्वथा अकल्याण का कारण है।.. ... .तातैं ये महापापरूप ही है, हेय है।'

(भावदीपिका, चौथा अधिकार, पृष्ठ ४८)

[**विशेष-** मिथ्यात्व का स्वरूप, भेद, माहात्म्य और छोड़ने के उपाय आदि के विस्तार के लिये **श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १५ से १८ की टीका; श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ८, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५०५-५१५; श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १०४९ से १०५२ व १०९६ से १०९८ का अर्थ व विशेषार्थ, पृष्ठ ३१८ से ३३०;** श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७६-८४; **एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, चतुर्थ भाग, पृष्ठ ७९-९३** आदि ग्रन्थों का अध्ययन करे।]

-'तथा इस क्षयोपशमसम्यक्त्व ही का नाम वेदकसम्यक्त्व है। जहाँ मिथ्यात्व मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है। सम्यक्त्वमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ वेदक नाम पाता है। सो कथनमात्र दो नाम है; स्वरूप में भेद नहीं हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३५)

-'अनन्तानुबन्धी कषायनि का प्रशस्त उपशम नाहीं है, इस हेतु तैं तिन अनन्तानुबन्धी कषायनि का अप्रशस्त उपशम कौं होते अथवा विसंयोजन होते, बहुरि दर्शनमोह का भेदरूप मिथ्यात्वकर्म अर सम्यग्मिथ्यात्वकर्म, इनि दोऊनि कौं प्रशस्त उपशमरूप होतैं वा अप्रशस्त उपशम होतैं वा क्षय होने के सन्मुख होतैं बहुरि सम्यक्त्व प्रकृतिरूप देशघातिया स्पर्धकों का उदय होतैं ही जो तत्त्वार्थश्रद्धान है लक्षण जाका, अैसा सम्यक्त्व होइ, सो वेदक अैसा नाम धारक है।' तथा,

-'याहीं का (वेदक सम्यक्त्व का) दूसरा नाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है, भिन्न नाहीं है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९८ व ९९)

प्रश्न १६- निमित्तादि की अपेक्षा से सम्यक्त्व के कितने भेद हैं?

उत्तर- निमित्तादि की अपेक्षा सम्यक्त्व के दस भेद किये गये हैं- (१) आज्ञासम्यक्त्व, (२) मार्गसम्यक्त्व, (३) उपदेशसम्यक्त्व, (४) सूत्रसम्यक्त्व, (५) बीजसम्यक्त्व, (६) संक्षेपसम्यक्त्व, (७) विस्तारसम्यक्त्व, (८) अर्थसम्यक्त्व, (९) अवगाढ़सम्यक्त्व, और (१०) परमावगाढ़सम्यक्त्व।

-'आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढ़ं च।। ११।।'

भावार्थ- हेय, उपादेय तत्त्वनिविषै विपरीत अभिप्रायरहित सो सम्यक्त्व एक प्रकार है। ताहि कैं आज्ञादिक आठ कारणनितैं उपजने की अपेक्षा आठ भेद किये हैं। अर ज्ञान की प्रकर्षता का सहकारकरि विशेषपना की अपेक्षा अवगाढ़, परमावगाढ़ ए दो भेद किये हैं। ऐसैं ए दश भेद जानने।

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा ११ व भावार्थ, पृष्ठ ९)

प्रश्न १७- सम्यक्त्व के दस भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- निमित्तादि की अपेक्षा से वर्णित सम्यक्त्व के दस भेदों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार है-

१. आज्ञासम्यक्त्व- 'जिन-आज्ञा मानने से पश्चात् जो तत्त्वश्रद्धान हुआ, सो आज्ञा-सम्यक्त्व है।'[१]

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३२)

---

१. **'मुझको जिनआज्ञा प्रमाण है'**, इतना ही श्रद्धान सम्यक्त्व नहीं है। आज्ञा मानना तो कारणभूत है; इसी से यहाँ आज्ञा से उत्पन्न कहा है। (इसी प्रकार अन्यत्र जानना।)

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३२)

सारणी २० : सम्यग्दर्शन के भेद (निमित्तादि की अपेक्षा)

सम्यक्त्व

आज्ञा-सम्यक्त्व	मार्ग-सम्यक्त्व	उपदेश-सम्यक्त्व	सूत्र-सम्यक्त्व	बीज-सम्यक्त्व	संक्षेप-सम्यक्त्व	विस्तार-सम्यक्त्व	अर्थ-सम्यक्त्व	अवगाढ-सम्यक्त्व	परमावगाढ सम्यक्त्व

आधार- श्रीआत्मानुशासन, गाथा ११ से १४, पृष्ठ ९ से ११; एवं श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३२

–'जो शास्त्र–पठन बिना वीतराग की आज्ञा ही करि, वचन सुननें ही करि श्रद्धान होइ सो आज्ञा सम्यक्त्व कह्या है।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १२ के अर्थ, पृष्ठ १०)

२. **मार्गसम्यक्त्व**- 'निर्ग्रन्थमार्ग के अवलोकन से तत्त्वश्रद्धान हो, सो मार्गसम्यक्त्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३२)

–'बहुरि ग्रन्थविस्तार का सुननें बिना बाह्याभ्यान्तर परिग्रहरहित ऐसा कल्याणरूप मोक्ष का मार्ग ताहिं दर्शनमोह की शान्ति होनें तैं श्रद्धान करता जो होइ ताहि मार्गश्रद्धान कहै हैं।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १२ का अर्थ, पृष्ठ १०)

३. **उपदेशसम्यक्त्व**- 'बहुरि उत्कृष्ट पुरुष तीर्थङ्करादिक तिनके पुराणनिका उपदेशतै जो निपजी (उत्पन्न) सो सम्यग्ज्ञानकरि आगम समुद्रविषै प्रवीण पुरुषनिकरि उपदेश है आदि विषै जाकै, ऐसी दृष्टि कही है, यहु उपदेशसम्यक्त्व है।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १२ का अर्थ, पृष्ठ १०)

४. **सूत्रसम्यक्त्व**- 'मुनि के आचरण का विधानको प्रतिपादन करता जो आचारसूत्र ताहि सुनि करि श्रद्धान करता जो होइ सो सूत्रदृष्टि भले प्रकार कही है- यहु सूत्रसम्यक्त्व है।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १३ का अर्थ, पृष्ठ १०)

५. **बीजसम्यक्त्व**- 'बहुरि केई बीज जे गणितज्ञानकों कारण तिनि करि अनुपमदर्शनमोह का उपशम के वशतैं दुष्कर है जानने की गति जाकी ऐसा जु पदार्थनिका समूह, ताकि भई है उपलब्धि श्रद्धानरूप परिणति जाकै ऐसा करणानुयोग का ज्ञानी भव्य ताकै बीजदृष्टि हो है। यह बीजसम्यक्त्व जानना।

[बीज जो गणितज्ञान का कारण उसकी उपलब्धि; अर्थात्, श्रद्धानरूप परिणति जिसके होती है, ऐसे

करणानुयोग का ज्ञानी भव्य को उत्पन्न बीजदृष्टि को बीजसम्यक्त्व कहते हैं।]

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १३ का अर्थ, पृष्ठ १०)

६. **संक्षेपसम्यक्त्व**- 'बहुरि पदार्थनि को संक्षेपपनैं ही करि जांनि श्रद्धानकों प्राप्त भया सो भली संक्षेपदृष्टि है, यहु संक्षेपसम्यक्त्व जानना।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा का अर्थ, पृष्ठ १०)

७. **विस्तारसम्यक्त्व**- 'जो द्वादशाङ्गरूप वानी को सुनि कीन्हीं जो रुचि श्रद्धान ताहि विस्तारदृष्टि हे भव्य! तू जांनि, यहु विस्तार सम्यक्त्व है।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १४ का अर्थ, पृष्ठ १०)

८. **अर्थसम्यक्त्व**- 'बहुरि जैनशास्त्र के वचननि बिना कोई अर्थ का निमित्ततैं भई सो अर्थदृष्टि है, यहु अर्थसम्यक्त्व जानना।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १४ का अर्थ, पृष्ठ १०)

९. **अवगाढ़सम्यक्त्व**- 'श्रुतकेवली के जो तत्त्वश्रद्धान है, उसे अवगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३२)

-'बहुरि अङ्ग अर अङ्गबाह्यसहित जैनशास्त्र ताकौं अवगाहि करि जो निपजी सो अवगाढ़दृष्टि है, यह अवगाढ़सम्यक्त्व जानना।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १४ का अर्थ, पृष्ठ १०-११)

१०. **परमावगाढ़सम्यक्त्व**- 'केवलीज्ञानी के जो तत्त्वश्रद्धान उसको परमावगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३२)

-'बहुरि केवलज्ञान करि अवलोक्या पदार्थविषै श्रद्धान सो इहाँ परमावगाढदृष्टि प्रसिद्ध है, यह परमावगाढ़सम्यक्त्व जानना।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १४ का अर्थ, पृष्ठ ११)

[**विशेष**- 'सम्यक्त्व तो एक ही है; निमित्तादि की अपेक्षा ये दस भेद किये गये हैं।' -**श्रीआत्मानुशासन, गाथा १४ का भावार्थ**]

प्रश्न १८- सम्यग्दर्शन कहाँ पाया (जाना) जा सकता है?

उत्तर- 'निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, और विधान से भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक तत्त्वों का अधिगम (जानना) होता है।'

-'**निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानत:।। ७।।**'

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ७ का अर्थ व सूत्र, पृष्ठ ३५)

प्रश्न १९- निर्देश किसे कहते हैं और सम्यग्दर्शन का निर्देश क्या है?

उत्तर- वस्तुस्वरूप के कथन को निर्देश कहते हैं। जीवादि सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धापूर्वक निज शुद्धात्मा का प्रतिभास-विश्वास-प्रतीति ही सम्यक्त्व का निर्देश है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३६)

प्रश्न २०- स्वामित्व किसे कहते हैं और सम्यग्दर्शन का स्वामित्व किस जीव को है?

उत्तर- वस्तु के अधिकारीपन को स्वामित्व कहते हैं। चारों गति के संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य जीव स्वामी होते हैं; अर्थात्, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य जीव को ही सम्यक्त्व का अधिकारीपना है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३६-३७)

प्रश्न २१- साधन किसे कहते हैं और सम्यक्त्व का साधन क्या है?

उत्तर- वस्तु की उत्पत्ति के कारण (निमित्त) को साधन कहते हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण अर्थात् साधन के दो भेद हैं- (१) अन्तरङ्गसाधन, और (२) बाह्यसाधन।

(१) अन्तरङ्गसाधन- सम्यग्दर्शन का अन्तरङ्गसाधन (कारण) तो स्व-शुद्धात्मा के त्रिकाली ज्ञायकभाव, (पारिणामिकभाव) का आश्रय है; और

(२) बाह्यसाधन- सम्यग्दर्शन के बाह्यसाधन (कारण; निमित्त) भिन्न-भिन्न गतियों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं-

(क) तिर्यञ्च और मनुष्य गति में- (१) जातिस्मरण, (२) **धर्मश्रवण**[1], और (३) जिनबिम्ब दर्शन;

(ख) देवगति में बारहवें स्वर्ग से पहले- (१) जातिस्मरण, (२) धर्मश्रवण, (३) जिन कल्याणकदर्शन, और (४) देवऋद्धिदर्शन;

(ग) बारहवें स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त- (१) जातिस्मरण, (२) धर्मश्रवण, और (३) जिन कल्याणकदर्शन;

(घ) नव ग्रैवेयक में- (१) जातिस्मरण, और (२) धर्मश्रवण;

(च) नरक गति में तीसरे नरक पर्यन्त- (१) जातिस्मरण, (२) धर्मश्रवण, और (३) दु:खानुभव; और

(छ) चौथे से सातवें नरक पर्यन्त- (१) जातिस्मरण, और (२) दु:खानुभव।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३६)

प्रश्न २२- सभी देव-नारकी (मिथ्यादृष्टि) अवधिज्ञान (विभङ्गज्ञान) द्वारा एक, दो या तीन आदि भव जानते हैं। उससे सभी को जातिस्मरण तो होता ही है। जातिस्मरण को सम्यग्दर्शन का

---

१. **धर्मश्रवण**- उपर्युक्त धर्मश्रवण सम्यग्ज्ञानियों से प्राप्त होना चाहिए।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७, पृष्ठ ३६ की टिप्पणी)

कारण (निमित्त) मानने से सभी देव-नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे?

उत्तर- 'साधारणत: भवस्मरण (जातिस्मरण) द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु पूर्वभव में धर्मबुद्धि से किये गये अनुष्ठान विपरीत (विफल) थे, ऐसी प्रतीति प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होती है। इसी बात को ध्यान में रखकर भवस्मरण को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण (बाह्यसाधन) कहा है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३६)

प्रश्न २३- नरक मे साधुओं का गमन नहीं होता, फिर वहाँ (नारकी जीवों को) धर्मश्रवण किस प्रकार सम्भव है?

उत्तर- 'अपने पूर्वभव के सम्बन्धियो को धर्म उत्पन्न कराने में प्रवृत्त और सभी बाधाओं से रहित सम्यग्दृष्टि देवों का तीसरे नरक पर्यन्त गमन होता है। (ये सम्यग्दृष्टि देव ही उन नारकी जीवों को करुणापूर्वक धर्मोपदेश देते हैं।)'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३६)

प्रश्न २४- दु:खानुभव को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण (साधन) बताया है, सो दु:खानुभव की तो सभी नारकियों को प्रधानता है; अत: सभी नारकियों को सम्यक्त्व हो जाना चाहिए?

उत्तर- 'वेदना (दु:खानुभव) सामान्यत: सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि मिथ्यात्व के कारण इस वेदना की उत्पत्ति हुई है, उन जीवों के वेदना सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होती है; दूसरे जीवों के वेदना सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं होती।'

(श्रीधवला, पुस्तक ६, पृष्ठ ४२२-४२३, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३७)

-'नरक में आहार का एक दाना और पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती तथा जन्म होते ही सोलह रोग होते हैं; तथापि जब पूर्व का संस्कार याद आता है, तब ऐसा विचार करता है कि सन्तों ने कहा था कि "तू राग व शरीर से भिन्न है।" ये वचन सुने तो थे पर प्रयोग नहीं किया -ऐसा सोचकर राग का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में एकाग्र होता है; अर्थात्, धर्मी हो जाता है। तीसरे नरक पर्यन्त पूर्व के बैरी निर्दयतापूर्वक शरीर को बाँधकर गरम धकधगाती लोहे की सलाखों से मारते हैं। ऐसी स्थिति में भी राग से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन पा सकते हैं। पूर्व में जो सुना था उसे ख्याल में लेकर, जैसे बिजली ताँबे के तार में एकदम उतर जाती है, उसी तरह अन्दर में ज्ञानानन्द भगवान विराजता है; उसमें अपनी पर्याय को वह गहरे में उतार देता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, प्रवचनरत्नाकर, भाग २, पृष्ठ ७१)

प्रश्न २५- जिनबिम्बदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण कैसे होता है?

उत्तर- 'जिनबिम्बदर्शन से (जो जीव अपने संस्कार को शुद्ध आत्मोन्मुख करे, उनके) **निधत्ति**[1] और **निकाचितरूप**[2] मिथ्यात्वादि कर्मसमूह का भी क्षय देखा जाता है और इसी कारण जिनबिम्बदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।'

(श्रीधवला, पुस्तक ६, पृष्ठ ४२७-४२८, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३७)

प्रश्न २६- अधिकरण किसे कहते हैं और सम्यक्त्व का अधिकरण क्या है?

उत्तर- 'वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का अन्तरङ्ग आधार (अधिकरण) आत्मा है और बाह्य आधार **त्रसनाली**[3] है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३५ व ३९)

प्रश्न २७- स्थिति किसे कहते हैं और सम्यग्दर्शन की स्थिति क्या है?

उत्तर- 'वस्तु के काल की मर्यादा को स्थिति कहते हैं। तीनो प्रकार के सम्यग्दर्शन (उपशम, क्षयोपशम, और क्षायिक) की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर की है, और क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति सादिअनन्त है, तथा संसार में रहने की अपेक्षा से उसकी (क्षायिक सम्यग्दर्शन की) उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो कौडी पूर्व है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३५ व ३९)

प्रश्न २८- विधान किसे कहते हैं और सम्यग्दर्शन का विधान क्या है?

उत्तर- 'वस्तु के भेदों को विधान कहते हैं। सम्यग्दर्शन (का विधान) एक प्रकार अथवा स्वपर्याय की योग्यतानुसार तीन प्रकार है- औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक तथा (निमित्तादि की अपेक्षा से) आज्ञा, मार्ग, बीज, उपदेश, सूत्र, सक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़, और परमावगाढ़- इस तरह १० भेदरूप है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३५ व ३९)

प्रश्न २९- सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक वस्तुस्वरूप का ज्ञान किन **अनुयोगों**[4] (अधिकारों)

---

१. **निधत्ति**- संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य प्रकृतियो को निधत्ति कहते हैं।

२. **निकाचित**- संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, और अपकर्षण के अयोग्य प्रकृतियों को निकाचित कहते हैं।
(गुणस्थान-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २३-२४, पृष्ठ २९)

३. **त्रसनाली**- लोकाकाश के मध्य मे चौदह राजू लम्बे और एक राजू चौड़े स्थान को त्रसनाली कहते हैं।
(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ७ की टीका, पृष्ठ ३९)

४. **अनुयोग**- भगवान प्रणीत उपदेश विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न अधिकार मे कहा गया है; प्रत्येक अधिकार का नाम अनुयोग है। सम्यक्ज्ञान का उपदेश देने के लिये प्रवृत्त हुए अधिकार को अनुयोग कहते हैं।
(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ८ की टीका, पृष्ठ ४०)

द्वारा होता है?

उत्तर- सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्पबहुत्व- इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी पदार्थ का ज्ञान होता है।

- **'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च॥ ८॥'**

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ८ का अर्थ व सूत्र, पृष्ठ ३९)

[अनुयोगों की विशेष जानकारी के लिये श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ८ की टीका, पृष्ठ ३९ से ४३ देखें।]

卐

चैतन्य के आँगन में चक्कर लगा

जिस प्रकार भगवान और गुरु के आँगन में चक्कर लगाते हैं, उस प्रकार 'ज्ञायक' (आत्मा) को ग्रहण करने के लिये बारम्बार चक्कर लगाये; बारम्बार अभ्यास करे। भगवान के दर्शन के लिये भगवान के द्वार (मन्दिर) पर चक्कर लगाते हैं; गुरु के दर्शन के लिये गुरु के आँगन में चक्कर लगाते हैं और जब भगवान का द्वार खुले और भगवान के दर्शन हों- गुरु के दर्शन हों; उस प्रकार चैतन्य के आँगन में चक्कर लगाना चाहिए कि चैतन्य का दर्शन किस प्रकार हो? उसकी महिमा कैसी? उसके (चैतन्य के) बारम्बार चक्कर लगाये और अभ्यास करे, तो चैतन्य का द्वार खुल जाये और दर्शन हों।

जो भगवान के द्वार से हट जाये- थक जाये, तो दर्शन न हों। उसी प्रकार यहाँ भी तुझे अन्दर से थकना नहीं- निराश नहीं होना है। गुरु की महिमा लगे, तो गुरु के आँगन चक्कर मारने से गुरु के दर्शन हो; उसी प्रकार चैतन्य के आँगन में बारम्बार चक्कर लगाना, चैतन्य का विचार- अभ्यास करना, और उसकी (चैतन्य की) रटन लगानी चाहिए।

चैतन्य की प्राप्ति नहीं होती; इसलिये उसकी रटन बन्द नहीं करनी चाहिए। अन्तर में पड़ा हुआ जो संस्कार है, वह अन्दर में कार्य किये बिना रहता ही नहीं है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्नोत्तर संख्या २५४, पृष्ठ १५२)

सम्यग्दर्शन के अङ्ग

प्रश्न १- सम्यग्दर्शन के कितने अङ्ग (गुण) हैं?

उत्तर- 'सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग कहे है- (१) निःशङ्कितत्व, (२) निःकाक्षितत्व, (३) निर्विचिकित्सत्व, (४) अमूढ़दृष्टित्व, (५) उपबृहण, (६) स्थितिकरण, (७) प्रभावना, और (८) वात्सल्य।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

-श्रीसमयसारनाटक मे सम्यग्दर्शन के आठ गुण इस प्रकार कहे हैं-

-**'करुना वच्छल सुजनता, आतम निंदा पाठ।**

समता भगति विरागता, धरमराग गुन आठ।। ३०।।'

अर्थ- करुणा, मैत्री, सज्जनता, स्वलघुता, समता, श्रद्धा, उदासीनता, और धर्मानुराग- ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ३० व अर्थ, पृष्ठ ३७६)

प्रश्न २- निःशङ्कित अङ्ग किसे कहते है?

उत्तर- 'भय का अभाव अथवा तत्त्वो में संशय का अभाव, सो निःशङ्कितत्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

-'सर्वज्ञदेव के कहे हुए तत्त्वो मे संशय-सन्देह धारण नही करना, सो निःशङ्कित अङ्ग है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १२ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७४)

-**'सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।**

किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या।। २३।।'

अन्वयार्थ- सर्वज्ञदेव द्वारा कहा गया यह समस्त वस्तुसमूह अनेकान्तस्वभावरूप है। वह क्या सत्य है अथवा असत्य है? ऐसी शङ्का कभी भी नहीं करनी चाहिए। इसी को निःशङ्कित नामक अङ्ग कहते हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३०-३१)

–'तत्त्वभूत सत्यार्थस्वरूप इस प्रकार ही है, अन्य प्रकार नाहीं। ऐसैं अकम्प जो खड्ग का जल तिसकी ज्यों सन्मार्ग में संशयरहित जो रुचि कहिये श्रद्धान सो निःशङ्कित गुण है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा ११ का अर्थ, पृष्ठ १८)

–'रागादि दोष अथवा अज्ञान असत्य वचन का कारण है और ये दोनों (रागादि और अज्ञान) वीतराग सर्वज्ञदेव में नहीं है। इस कारण उनके द्वारा कहे हुए हेय-उपादेय तत्त्व में, मोक्ष में, और मोक्षमार्ग में भव्यों को शङ्का-संशय-सन्देह करना योग्य नहीं है।............इस सम्बन्ध में विभीषण की कथा भी (प्रसिद्ध) है। वह इस प्रकार है- सीता-हरण प्रकरण में रावण के राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध करने के प्रसङ्ग में विभीषण ने विचार किया कि राम तो आठवाँ बलदेव है, और लक्ष्मण आठवॉ वासुदेव है, और रावण आठवाँ प्रतिवासुदेव है। प्रतिवासुदेव का मरण वासुदेव के हाथ से होता है- ऐसा जैन आगम मे कहा है। वह मिथ्या नहीं हो सकता है। इस प्रकार निःशङ्क होकर अपने बड़े भाई, तीन लोक के कण्टकरूप रावण को छोड़कर, तीस अक्षौहिणी चतुरङ्ग सेनासहित वह रामचन्द्र के पास चला गया। यह व्यवहारनय से निःशङ्कित अङ्ग का व्याख्यान है।

निश्चय से तो उसी व्यवहार-निःशङ्कितगुण के सहकारीपने से इहलोकभय, परलोकभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, व्याधिवेदनाभय, और अकस्मातभय- ये सात भय छोड़कर घोर उपसर्ग अथवा परीषह आने पर भी शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय की भावना, वही निःशङ्कितगुण जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १९४-१९५)

–'आत्मस्वभाव की निःशङ्कता मोक्ष का मार्ग है।'

–'अपने आत्मा की निःशङ्क श्रद्धा करना ही धर्म का मूल है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ २२२ व २२३)

प्रश्न ३- निःकांक्षितत्व अङ्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- 'परद्रव्यादि में रागरूप वाञ्छा का अभाव, सो निःकांक्षितत्व अङ्ग है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

–'धर्म को धारण करके सांसारिक सुखों की इच्छा न करना, सो निःकांक्षित अङ्ग है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १२ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७४)

–**'इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।**
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत्।। २४।।'

अन्वयार्थ- इस लोक में ऐश्वर्य, सम्पदा आदि; परलोक में चक्रवर्ती, नारायण आदि; पदों को और एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को भी न चाहे, सो निःकांक्षित नामक अङ्ग है। (निःकांक्षित नाम

वांछारहित का है।)

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३१-३२)

-'जो इन्द्रियजनित सुख में सुखपना का आस्थारहित श्रद्धानभाव, सो अनाकांक्षणा नामा सम्यक्त्व का गुण भगवान कह्या है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा १२ का अर्थ, पृष्ठ २०)

-'इस लोक और परलोक की तृष्णारूप भोगाकांक्षानिदान के त्याग द्वारा केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्रगटतारूप मोक्ष के लिये दान, पूजा, तपश्चरण आदि आचरण करना- वह नि:कांक्षित गुण कहलाता है। इस सम्बन्ध में सीता महादेवी की कथा इस प्रकार है- जब सीता लोगों की निन्दा दूर करने के लिये अग्निकुण्ड में प्रवेश कर शुद्ध (निर्दोष) हुई; तब रामचन्द्र द्वारा दिये गये पट्ट-महाराणी-विभूतिपद छोड़कर, सकलभूषण नामक केवलज्ञानी के पादमूल में कृतान्तवक्र आदि राजाओं और बहुत-सी रानियो के साथ जिनदीक्षा लेकर, शशिप्रभा आदि आर्यिकाओं के समूह के साथ में ग्राम, पुर, खेटक आदि में विहार करती हुई भेदाभेद रत्नत्रय भावना से बासठ वर्ष तक जैनमत की प्रभावना करके अन्त समय मे तैंतीस दिन तक निर्विकार परमात्मा की भावनासहित सन्यास करके (समाधिमरण करके) अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ। तत्पश्चात् निर्मल सम्यक्त्व का फल देखकर धर्मानुराग से नरक में रावण और लक्ष्मण को सम्बोधन कर अब स्वर्ग में है। भविष्य में स्वर्ग से आकर सीता का जीव सकल चक्रवर्ती होगा; रावण और लक्ष्मण उसके पुत्र होंगे। तत्पश्चात् तीर्थङ्करदेव के पादमूल मे अपना पूर्वभव देखकर, परिवारसहित दोनो पुत्र और सीता का जीव जिनदीक्षा लेकर, भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से पञ्च अनुत्तर विमान में तीनों अहमिन्द्र होंगे। वहाँ से आकर रावण तीर्थङ्कर होगा और सीता गणधर होंगी। लक्ष्मण धातकीखण्ड द्वीप में तीर्थङ्कर होगा। इस प्रकार व्यवहार निष्काक्षित गुण जानना। निश्चय से तो उसी व्यवहार नि:कांक्षितगुण के सहकारीपने से (निमित्तपने से), दृष्ट, श्रुत, और अनुभूत पञ्चेन्द्रियभोगो का त्याग कर, निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक निजात्मजनित सुखामृत के रस में चित्त का संतोष, वही निष्कांक्षित गुण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १९६-१९७)

प्रश्न ४- निर्विचिकित्सा अङ्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- 'परद्रव्यादि मे द्वेषरूप ग्लानि का अभाव, सो निर्विचिकित्सत्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

-'मुनियों के शरीरादि मैले देखकर घृणा न करना, सो निर्विचिकित्सा अङ्ग है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १२ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७४)

-'क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया।। २५।।'

अन्वयार्थ- भूख, प्यास, सरदी, गरमी इत्यादि नानाप्रकार के भावों मे और विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं करनी चाहिए। इसी को निर्विचिकित्सा अङ्ग कहते हैं।

[विचिकित्सा नाम असुहावने अथवा ग्लानि का है। उनसे जो रहित हो, उसे निर्विचिकित्सा कहते हैं।]

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३२)

-'जो मनुष्यपर्याय का काय है सो स्वभाव ही तैं अशुचि है, यामें कोऊ उत्तम मनुष्य के रत्नत्रय प्रकट हो जाये तो अशुचि भी काय पवित्र है। यातैं व्रतीनिका देह रोगादिकतैं मलिनहू देख इसमें जुगुप्सा जो ग्लानि ताका अभाव अर रत्नत्रय मे प्रीति सो निर्विचिकित्सित नामा अङ्ग है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा १३ का अर्थ, पृष्ठ २४)

-'भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक भव्य जीवो की दुर्गन्ध, खराब आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणाभाव से योग्यता प्रमाण ग्लानि छोड़ना, उसे द्रव्य-निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं। "जैनमत मे सब बाते अच्छी है, किन्तु मुनि को वस्त्ररहितपना तथा ये जलस्नानादि नहीं करते वही दोष है"- ऐसा कुत्सितभाव, विशिष्ठ विवेकबल द्वारा छोड़ना- वह भाव निर्विचिकित्सा कहलाता है। इस व्यवहार-निर्विचिकित्सागुण के विषय मे उद्दायन महाराजा की और रुक्मिणी महादेवी की कथा आगम प्रसिद्ध जानना। निश्चय से तो उसी व्यवहार निर्विचिकित्सागुण के बल से (निमित्त से) समस्त द्वेषादि विकल्परूप तरङ्गों का त्याग कर निर्मल आत्मानुभूति जिसका लक्षण है, ऐसी निज शुद्धात्मा में स्थिति; वही (निश्चय) निर्विचिकित्सा गुण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १९७-१९८)

प्रश्न ५- अमूढ़दृष्टित्व अङ्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- 'तत्त्वों में व देवादिक में अन्यथा प्रतीतिरूप मोह का अभाव, सो अमूढ़दृष्टित्व है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

-'सच्चे और झूठे तत्त्वों की पहचान रखना, सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १२ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७४)

-'लोके शास्त्राभासे[1] समयाभासे[2] च देवताभासे[3]।
नित्यमपि तत्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्।। २६।।'

---

१. **शास्त्राभासे**- शास्त्र, जैसे, प्रतिभासित होनेवाले अन्यवादियों द्वारा रचे गये ग्रन्थ।

२. **समयाभासे**- सच्चेमत की तरह ही प्रतिभासित होनेवाली अन्यवादियों की (अन्य मत की) कोई क्रिया; युक्ति, युक्त से भासित होनेवाले अन्यवादियों द्वारा कहे गये कल्पित तत्त्व।

...........क्रमश:

अन्वयार्थ- लोक मे शास्त्राभास में, धर्माभास में, और देवताभास में तत्त्वों में रुचिवान सम्यग्दृष्टि पुरुष को सदा ही मूढ़तारहित श्रद्धान करना चाहिए। सो ही अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३३)

-'नरक, तिर्यञ्च, कुमानुषादि गतिनिका घोर दुःखनिका मार्ग ऐसा जो मिथ्यामार्ग तिसविषैं अर कुमार्गी जो मिथ्यामार्ग में तिष्ठनेवाले पुरुषनिविषैं जाकै मनकरि प्रशंसा नाहीं, वचनिकरि स्तवन नाहीं तथा कायकरि प्रशंसा जो अंगुलिनि के नखादिकनिका मिलाप नाही, सराहना नाहीं सो अमूढ़दृष्टि है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा १४ का अर्थ, पृष्ठ २४-२५)

-'वीतराग-सर्वज्ञ-प्रणीत आगम के अर्थ से विपरीत कुदृष्टियों द्वारा रचित जो रसायनशास्त्र, खनिजविद्या, हरमेखल, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर-विकुवर्ण आदि अज्ञानियों के चित्त में विस्मय उत्पन्न करनेवाले शास्त्र देखकर और सुनकर जो कोई जीव मूढ़ता से उनमें धर्मबुद्धि द्वारा रुचि अथवा भक्ति नहीं करता है, वही व्यवहार-अमूढ़दृष्टि कहलाता है। इस विषय में उत्तर-मथुरा में उदुरुलि भट्टारक, रेवती श्राविका, तथा चन्द्रप्रभ नामक विद्याधर ब्रह्मचारी की कथाएँ प्रसिद्ध है। निश्चय से तो व्यवहार-अमूढ़दृष्टिगुण के प्रसाद से (निमित्त से) अन्तःतत्त्व और बहिःतत्त्व का निश्चय होनेपर समस्त मिथ्यात्वरागादि शुभाशुभ **सङ्कल्प[1]-विकल्पों[2]** में इष्टबुद्धि-आत्मबुद्धि-उपादेयबुद्धि-हितबुद्धि-ममत्वभाव का त्यागकर त्रिगुप्तिरूप से विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मा में जो निश्चल स्थिति करना, वही अमूढ़दृष्टिपना है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १९८)

प्रश्न ६- उपबृहण अङ्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- 'आत्मधर्म का और जिनधर्म का बढ़ाना, उसका नाम उपबृहंण है; इसी अङ्ग का नाम उपगूहन भी कहा जाता है; वहाँ धर्मात्मा जीवों के दोष ढकना- ऐसा उसका अर्थ जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

---

३. **देवताभासे-** अन्यवादियो के शास्त्र, वस्त्र, स्त्री व अन्य राग-द्वेष के चिह्नादिसहित चमत्कारिक प्रतिभासित होनेवाले कल्पित देव। [**गुरुभासे-** गुरु- जैसे भासित होनेवाले विषय-कषाय से युक्त लम्पटी भेषधारी गुरु।]

(आधार-श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २६ की टीका, पृष्ठ ३३)

१. **सङ्कल्प-** स्त्री, पुत्र आदि बाह्य द्रव्यों मे 'यह मेरा है'- ऐसी कल्पना, वह सङ्कल्प है।

२. **विकल्प-** अन्तरङ्ग मे 'मैं सुखी हूँ; मैं दुःखी हूँ'- ऐसा हर्ष-विषाद करना, वह विकल्प है।

[वास्तविकरूप से सङ्कल्प वही विकल्प, अर्थात्, सङ्कल्प विकल्प की ही पर्याय है।]

(श्रीवृहद्-द्रव्यसग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १९८-१९९)

-'द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्‌गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो सङ्कल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।'

(श्रीसमयसार, श्लोक १० का श्लोकार्थ, पृष्ठ ३५)

-'अपने गुणो को और दूसरों के अवगुणो को छिपाना तथा आत्मधर्म को बढ़ाने (निर्मल बनाने) का नाम उपगूहन अङ्ग है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १२ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७५)

-'**धर्मोऽभिवर्द्धनीय: सदात्मनो मार्दवादिभावनया।**
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्।। २७।।'

अन्वयार्थ- उपबृहंण नामक गुण के लिये मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से निरन्तर अपने आत्मा के धर्म की; अर्थात्, शुद्धस्वभाव की वृद्धि करनी चाहिए और दूसरे के दोषों को गुप्त भी रखना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३४)

-'यो जिनेन्द्रभगवान को उपदेश्यो हुवो रत्नत्रयरूप मार्ग है सो स्वयमेव शुद्ध है, निर्दोष है। इस रत्नत्रयमार्ग कै कोऊ अज्ञानीजन का आश्रय तथा कोऊ अशक्त जनकरि निंद्यता प्रगट भई होय, ताहि जो दूर करै (आच्छादन करै), शुद्ध निर्दोष करै, तानै उपगूहन कहिये हैं।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा १५ का अर्थ, पृष्ठ २६)

-'**भेदाभेद रत्नत्रय**' की भावनारूप मोक्षमार्ग स्वभाव से शुद्ध ही है। उसमें अज्ञानी मनुष्यो के निमित्त से तथा अशक्त मनुष्यो के निमित्त से धर्म की निन्दा-दोष-अपवाद अथवा अप्रभावना जब होती है; तब आगम के अविरोधरूप से शक्ति अनुसार धन से अथवा धर्मोपदेश से धर्म के लिये जो दोषों को ढका जाता है अथवा दूर किया जाता है, वह व्यवहारनय से उपगूहन कहलाता है। इस बिषय में मायाचार से ब्रह्मचारी ने पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा में जड़ित रत्न की चोरी की। तब जिनदत्त श्रेष्ठी ने उपगूहन किया (ब्रह्मचारी के दोष को ढका)- वह कथा प्रसिद्ध है। निश्चय से तो उसी व्यवहार उपगूहनगुण के सहकारीपने से (निमित्त से) निज निरञ्जन निर्दोष परमात्मा के आच्छादक मिथ्यात्व-रागादि दोषों का, उसी परमात्मा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप ध्यान द्वारा प्रच्छादननाश-गोपण करना-ढकना- वही उपगूहनगुण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १९९)

प्रश्न ७- स्थितिकरण अङ्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- 'अपने स्वभाव में और जिनधर्म में अपने को और पर को स्थापित करना, सो स्थितिकरण है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

---

१. **भेदाभेद रत्नत्रय**- अर्थात्, भेद और अभेद रत्नत्रय। भेद रत्नत्रय व्यवहारनय से शुद्ध है और अभेद रत्नत्रय निश्चयनय से शुद्ध है। दोनों (व्यवहारनय व निश्चयनय) साथ होते हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१, पृष्ठ १९९ की पादटिप्पणी)

-'काम विकारादि के कारण धर्म से च्युत होते हुए अपने को और पर को धर्म मे पुन: दृढ़ करना; सो स्थितिकरण अङ्ग है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १२ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७५)

-'**कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।**
श्रुतमात्मन: परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्॥ २८॥'

अन्वयार्थ- काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार न्यायमार्ग से; अर्थात्, धर्ममार्ग से विचलित करवाने के लिये प्रगट हुआ हो- तब शास्त्र अनुसार अपनी और पर की स्थिरता भी करनी चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३४)

-'कोऊ पुरुष सम्यग्दर्शनकरि सहित श्रद्धानी था तथा चारित्रधारक व्रत संयमसहित था, फिर कोऊ प्रबल कषाय के उदयकरि तथा खोटी संगतिकरि तथा रोग की तीव्र वेदनाकरि तथा दरिद्रताकरि तथा मिथ्या उपदेशकरि तथा मिथ्यादृष्टिनिके मन्त्र-तन्त्रादिक चमत्कार देखि सत्यार्थ श्रद्धान, आचरणतैं चलायमान होता होय, तिनकूं चलते जानि, जिनका धर्म में वात्सल्य है ऐसे धर्मात्मा प्रवीण पुरुष ताकूं उपदेशादिकरि फिर सत्यार्थ श्रद्धान में, चारित्र में स्थापन करैं सो स्थितिकरण कहिये।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा १६ का अर्थ, पृष्ठ २७)

-'**भेदाभेद रत्नत्रय**' के धारक (मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविकारूप) चार प्रकार के संघ में से कोई जब दर्शन और चारित्रमोह के उदय से दर्शन, ज्ञान, अथवा चारित्र का त्याग करने की इच्छा करता है; तब आगम से, अविरोधरूप से, शक्तिप्रमाण धर्मश्रवण से, धन से, सामर्थ्य से, अथवा किसी भी उपाय से उसे धर्म में स्थिर किया जाता है- वह व्यवहार से स्थितिकरण है। पुष्पडाल मुनि को धर्म में स्थिर करने के प्रसङ्ग में वारिषेणकुमार की कथा आगम प्रसिद्ध है। निश्चय से तो उसी व्यवहार स्थितिकरण गुण से (निमित्त से) धर्म मे दृढ़ता होनेपर दर्शन और चारित्रमोह के उदय से उत्पन्न समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्पजाल का त्याग कर निज परमात्वस्वभाव की भावना से उत्पन्न परमानन्द जिसका एक लक्षण है, ऐसे सुखामृत के रसास्वाद द्वारा परमात्मा में तल्लीन-तन्मय परम समरसीभाव से चित्त को स्थिर करना वही स्थितिकरण गुण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ २००)

प्रश्न ८- प्रभावना अङ्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- 'अपने स्वरूप की तथा जिनधर्म की महिमा प्रगट करना, सो प्रभावना है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

१. यहाँ पाँचवें और छठे गुणस्थान का निश्चय व व्यवहार रत्नत्रय लिया गया है।
(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१, पृष्ठ २०० की पादटिप्पणी)

-'जैनधर्म की शोभा में वृद्धि करना, सो प्रभावना अङ्ग है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७५)

-'**आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।**

दान तपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।। ३०।।'

अन्वयार्थ- निरन्तर रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा को प्रभावनायुक्त करना चाहिए और दान, तप, जिनपूजन, और विद्या के अतिशय से; अर्थात्, इनकी वृद्धि करके जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३५-३६)

-'संसारी जीवनि के हृदयविषैं अज्ञानरूप अन्धकार की व्याप्ति होय रही है। ताहि सत्यार्थ स्वरूप के प्रकाशतैं दूर करिकैं जिनेन्द्र के शासन का, माहात्म्य का प्रकाश करना सो प्रभावना नामा सम्यक्त्व का अङ्ग है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा १८ का अर्थ, पृष्ठ ३०)

-'श्रावक को दान, पूजा आदि द्वारा और मुनि को तप-श्रुत आदि से जैन शासन की प्रभावना करना -इसे व्यवहार से प्रभावना गुण जानना। इस विषय में उत्तर मथुरा में जिनसमय की प्रभावना करने के स्वभाववाली उर्विल्ला महादेवी को प्रभावना के निमित्त से उपसर्ग होनेपर वज्रकुमार विद्याधर श्रमण ने आकाश में जैनरथ भ्रमण कराकर प्रभावना की थी। यह एक आगम प्रसिद्ध कथा है तथा दूसरी कथा यह है- तद्भव मोक्षगामी हरिषेण नामक दसवें चक्रवर्ती ने जिनसमय की प्रभावनाशील अपनी माता वप्रा महादेवी के निमित्त से, और अपने धर्मानुराग से जैनमत की प्रभावना के लिये ऊँचे तोरणवाले जिनमन्दिरों से समस्त पृथ्वी को विभूषित किया था। यह कथा रामायण में प्रसिद्ध है। निश्चय से तो उसी व्यवहार प्रभावना गुण के बल से (निमित्त से) मिथ्यात्व-विषय-कषायादि समस्त विभाव परिणामरूप परसमयों का प्रभाव नष्ट करके शुद्धोपयोगलक्षण स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निज शुद्धात्मा का प्रकाशन अनुभव करना, वही प्रभावना है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ २०२)

प्रश्न ९- वात्सल्य अङ्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- 'स्वरूप में व जिनधर्म में व धर्मात्माजीवों में अति प्रीतिभाव, सो वात्सल्य है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३८)

-'अपने साधर्मीजनों से बछड़े पर गाय की प्रीति समान प्रेम रखना, सो वात्सल्य अङ्ग है।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७५)

–'अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥ २९॥'

अन्वयार्थ– मोक्षसुखरूप सम्पदा के कारणभूत धर्म में, अहिसा मे, और सभी साधर्मीजनों मे निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य अथवा प्रीति का आलम्बन करना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३५)

–'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप धर्म के धारकनिका यूथ (समूह) में भये ऐसे मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका तथा अव्रत सम्यग्दृष्टि तिनतैं सत्यार्थभावसहित अर कपटरहित यथायोग्य प्रतिपत्ति कहिए आदर, सत्कार, वैयावृत्यकरि आनन्द मानना सो वात्सल्यनामा अङ्ग कहिये है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा १७ का अर्थ, पृष्ठ २८)

–'बाह्य और अभ्यन्तर रत्नत्रय के धारक ऐसे चतुर्विध संघ के प्रति गाय को बछड़े के प्रति होता है; उसी प्रकार; अथवा पाँच इन्द्रिय के विषय के निमित्तभूत पुत्र, स्त्री, स्वर्णादि के प्रति स्नेह होता है उसी प्रकार; जो स्वाभाविक स्नेह होना– उसे व्यवहार से वात्सल्यगुण कहते हैं। उस सम्बन्ध में हस्तिनापुर के राजा पद्मराज के बलि नामक दुष्ट मन्त्री ने जब निश्चय–व्यवहार रत्नत्रय के आराधक श्री अकम्पनाचार्य आदि सात्रसौ मुनियों पर उपसर्ग किया; तब निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधक विष्णुकुमार नामक मुनि ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामनरूप धारण करके बलि नामक मन्त्री के पास तीन डग (कदम) भूमि माँगकर एक पैर मेरुपर्वत के शिखर पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रखा, और तीसरा पग रखने का स्थान खाली नहीं है– ऐसा कहकर वचन के छल से मुनियों के वात्सल्य के निमित्त बलि नामक मन्त्री को बाँधा। ऐसी एक आगम प्रसिद्ध कथा है।.......निश्चय वात्सल्य तो उसी व्यवहार वात्सल्यगुण के सहकारीपने से धर्म मे दृढ़ता होनेपर, मिथ्यात्व–रागादि समस्त शुभाशुभ बहिर्भावों में प्रीति छोड़कर, रागादि विकल्पोपाधिरहित परम स्वास्थ्य के सवेदन से उत्पन्न सदानन्द जिसका एक लक्षण है– ऐसे सुखामृत के रसास्वाद मे प्रीति करना ही है।'

(श्रीबृहद्–द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ २००–२०१)

प्रश्न १०– सम्यक्त्व के वर्णित आठ अङ्गों की परिभाषाओ मे व्यवहार अङ्गो अथवा व्यवहार सम्यक्त्व के कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तर– 'निश्चय सम्यक्त्व अथवा निश्चय अङ्ग के सहकारी; अर्थात्, उचित निमित्त का ज्ञान कराना ही व्यवहार अङ्गों अथवा व्यवहार सम्यक्त्व के कथन का एकमात्र अभिप्राय है।

–'प्रथमानुयोग में उपचाररूप किसी धर्म का अङ्ग होनेपर सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं; जैसे, जिन जीवों के शङ्का–कांक्षादिक नहीं हुए, उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं; परन्तु किसी एक कार्य में शङ्का–कांक्षा न करने से ही तो सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होनेपर होता

है। परन्तु निश्चयसम्यक्त्व का तो व्यवहारसम्यक्त्व में उपचार किया और व्यवहारसम्यक्त्व के किसी एक अङ्ग में सम्पूर्ण व्यवहारसम्यक्त्व का उपचार किया- इस प्रकार उपचार द्वारा सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २७३)

प्रश्न ११- सम्यक्त्व के वर्णित आठ अङ्गो में अनेक का सम्यग्दृष्टि जीवों में भी अभाव और कुछ का मिथ्यादृष्टि जीवों में भी सद्भाव देखा जाता है, सो कैसे?

उत्तर- 'जैसे मनुष्य शरीर के हस्त-पादादिक अङ्ग कहे जाते हैं। वहाँ कोई मनुष्य ऐसा भी हो जिसके हस्त-पादादि में कोई अङ्ग न हो; वहाँ उसके मनुष्य-शरीर तो कहा जाता है, परन्तु उन अङ्गों (हस्त-पादादि) बिना वह शोभायमान सकल कार्यकारी नहीं होता। उसी प्रकार सम्यक्त्व के नि:शङ्कितादि (आठ) अङ्ग कहे जाते हैं। वहाँ कोई सम्यक्त्वी ऐसा भी हो जिसके नि:शङ्कितत्त्वादि में (आठ अङ्गों में) कोई अङ्ग न हो; वहाँ उसके सम्यक्त्व तो कहा जाता है, परन्तु उन अङ्गों के बिना वह (सम्यक्त्व) निर्मल सकल कार्यकारी नहीं होता तथा जिस प्रकार बन्दर के भी हस्त-पादादि अङ्ग होते हैं', परन्तु जैसे मनुष्य के होते हैं वैसे नहीं होते; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों के भी व्यवहाररूप नि:शङ्कितादिक अङ्ग होते हैं, परन्तु जैसे निश्चय की सापेक्षतासहित सम्यक्त्वी के होते हैं वैसे नहीं होते।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३९)

卐

भव्यजीव को ही श्रीगुरु के वचन रुचिकर होते हैं

जाके मुकति समीप, भई भवस्थिति घट गई।
ताकी मनसा सीप, सुगुरु मेघ मुकता वचन।।

अर्थ- जिसकी भवस्थिति घट जाने से; अर्थात्, किञ्चित् न्यून अर्धपुद्गलपरावर्तन कालमात्र शेष रहने से मुक्ति-अवस्था समीप आ गयी है; उसके मनरूप सीप में सद्गुरु मेघरूप और उनके वचन मोतीरूप परिणमन करते हैं। भाव यह है कि ऐसे जीवों को ही श्रीगुरु के वचन रुचिकर होते हैं।

(श्रीसमयसार-नाटक, साध्य-साधक द्वार, छन्द ५, पृष्ठ ३३७)

सम्यग्दर्शन के दोष

सम्यग्दर्शन के दोषों में अभिप्राय मात्र उन दोषों को बताना है जिनकी उपस्थिति में सम्यग्दर्शन नहीं होता। 'सम्यग्दर्शन के दोष' से ऐसा अभिप्राय कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि सम्यग्दर्शन में दोष होते हैं। -सम्पादक

प्रश्न १- सम्यग्दर्शन किन दोषों से रहित होता है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन पच्चीस दोषों से रहित होता है- (१) शङ्कादि आठ दोष, (२) आठ मद, (३) षट् (छ:) अनायतन, और (४) तीन मूढ़ता। शास्त्रों में इन्हे सम्यक्त्व के २५ मल कहा है।

-'सम्यक्त्व में पच्चीस मल कहे हैं- आठ शङ्कादि, आठ मद, तीन मूढ़ता, षट अनायतन, सो ये सम्यक्त्वी के नहीं होते।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३९)

-'अष्ट महामद अष्ट मल, षट आयतन विशेष।

तीन मूढ़ता संजुगत, दोष पचीसौं एष।। ३२।।'

अर्थ- आठ मद, आठ मल, छह अनायतन, और तीन मूढ़ता- ये सब मिलाकर पच्चीस दोष हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणास्थानाधिकार, दोहा ३२ व अर्थ, पृष्ठ ३७६)

-'ऐसैं सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष है, तिनिकरि जो रहित होइ सोई निर्मल श्रद्धान है।'

(श्रीआत्मानुशासन, गाथा १० व अर्थ, पृष्ठ ८)

प्रश्न २- सम्यग्दर्शन के शङ्कादि आठ दोष कौनसे हैं?

उत्तर- सम्यग्दर्शन के आठ गुणों (अङ्गों) से विपरीत आठ दोष हैं- (१) शङ्का, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) मूढ़दृष्टि, (५) अनुपगूहन, (६) अस्थितिकरण, (७) अवात्सल्य, और (८) अप्रभावना।

-'इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।'

अन्वयार्थ- इन आठ गुणों से उल्टे आठ दोष हैं। उन्हें हमेशा दूर करना चाहिए।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १३ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ७४-७५)

-'आसंका अस्थिरता वांछा। ममता द्रिष्टि दसा दुरगंछा॥
वच्छल रहित दोष पर भाखै। चित प्रभावना माँहि न राखै॥ ३४॥'

अर्थ- जिनवचन में सन्देह, आत्मस्वरूप से चिगना, विषयों की अभिलाषा, शरीरादि से ममत्व, अशुचि में ग्लानि, सहधर्मियों से द्वेष, दूसरो की निन्दा, ज्ञान की वृद्धि, आदि धर्म प्रभावनाओं में प्रमाद- ये आठ मल सम्यग्दर्शन को दूषित करते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ३४ व अर्थ, पृष्ठ ३७६-३७७)

प्रश्न ३- सम्यग्दर्शन के आठ मद (दोष) कौनसे हैं?

उत्तर- मद अर्थात् अभिमान। जीव में आठ प्रकार के मद पाये जाते हैं जो सम्यग्दर्शन को दूषित करते हैं- **(१) कुलमद**- पितृपक्ष मे राजादि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान; **(२) जातिमद**- मातृपक्ष (मामा, आदि) में राजादि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान; **(३) रूपमद**- शारीरिक सौन्दर्य का अभिमान; **(४) ज्ञानमद**- विद्या का अभिमान; **(५) धनमद**- धन, सम्पत्ति का अभिमान; **(६) बलमद**- शारीरिक शक्ति का अभिमान; **(७) तपमद**- व्रत, उपवासादि तप का अभिमान; और **(८) प्रभुतामद**- बड़प्पन, आज्ञादि का अभिमान।

-'पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठानै;
मद न रूपकौ मद न ज्ञानकौ, धन बलकौ मद भानै।
तपकौ मद न मद जु प्रभुताकौ, करै न सो निज जानैं;
मद धारै तौ यही दोष वसु समकितकौ मल ठानै॥'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १३ का उत्तरार्द्ध और छन्द १४ का पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ७७)

-'जाति लाभ कुल रूप तप, बल विद्या अधिकार।
इनकौ गरब जु कीजिये, यह मद अष्ट प्रकार॥ ३३॥'

अर्थ- जाति, धन, कुल, रूप, तप, बल, विद्या, और अधिकार- इनका गर्व करना, यह आठ प्रकार का महामद हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ३३ व अर्थ, पृष्ठ ३७६)

प्रश्न ४- छ: अनायतन दोष कौनसे हैं?

उत्तर- (१) कुगुरु, (२) कुदेव, (३) कुधर्म, (४) कुगुरु सेवक, (५) कुदेव सेवक, और (६) कुधर्म सेवक- ये छ: अनायतन; अर्थात्, धर्म के अस्थान हैं। ये सम्यग्दर्शन के छ: दोष कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन छ: की (कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, व उनके सेवकों की) भक्ति, पूजा, विनय आदि

तो दूर, प्रशंसा भी नहीं करता। भय, आशा, लोभ, स्नेह आदि किसी भी कारण से इन्हें अथवा इनमें से किसी को नमस्कारमात्र करने से भी सम्यक्त्व दूषित हो जाता है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १४ के उत्तरार्द्ध का भावार्थ)

–**'कुगुरु कुदेव कुधर्म थर, कुगुरु कुदेव कुधर्म।**
इनकी करै सराहना, यह षडायतन कर्म।। ३५।।'

अर्थ– कुगुरु, कुदेव, कुधर्म के उपासकों और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की प्रशंसा करना– ये छ: अनायतन हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ३५ व अर्थ, पृष्ठ ३७७)

–'कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र अर कुदेव का श्रद्धान वा सेवन करनेवाला अर कुगुरु की सेवा करनेवाला अर कुशास्त्र पढ़नेवाला ऐसैं छह प्रकार ये धर्म के आयतन कहिये स्थान नाही। इनतैं कदाचित् अपना भला होना नाहीं, यातैं छहूँ अनायतन हैं।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा २७ का भावार्थ, पृष्ठ ५०)

प्रश्न ५– तीन मूढ़ता नामक दोष कौनसे हैं और इनका संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर– (१) देवमूढ़ता, (२) गुरुमूढ़ता, और (३) धर्ममूढ़ता– ये तीन मूढ़ता नामक सम्यक्त्व के दोष हैं।

[विभिन्न शास्त्रों में इन मूढ़ताओं के अलग-अलग नाम दिये गये हैं; तथापि भाव सभी का एक ही है।]

–'कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा– यह तीन सम्यक्त्व के मूढ़ता नामक दोष हैं।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १४ के उत्तरार्द्ध का भावार्थ, पृष्ठ ७९)

–**'देवमूढ़ता गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता पोष।'**

अर्थ– देवमूढ़ता; अर्थात्, सच्चे देव का स्वरूप नहीं जानना– गुरुमूढ़ता; अर्थात्, निर्ग्रन्थ मुनि का स्वरूप नहीं समझना– और धर्ममूढ़ता; अर्थात्, जिनभाषित धर्म का स्वरूप नहीं समझना– ये तीन मूढ़ता है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ३६ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ ३७७)

–'आचार्य श्री समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थ श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में तीन मूढ़ताओं के नाम दिये हैं– (१) लोकमूढ़ता, (२) देवमूढ़ता, (३) गुरुमूढ़ता (पाखण्डमूढ़ता)।'

आचार्यदेव सबसे पहले **लोकमूढ़ता** का वर्णन करते हैं–

–**'आपगासागरस्नानमुच्चय: सिकताश्मनाम्।**
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते।। २२।।'

अर्थ- जो लौकिक जे मिथ्याधर्मी जिन तिनकी रीति देख जे नदीस्नान में धर्म माने हैं, समुद्र के स्नान में धर्म माने हैं, बालू रेत का पुञ्ज करै हैं, तथा पाषाण का ढेर करने में धर्म माने हैं, धर्म मानि पर्वत तें पड़ना, अग्निविषैं पड़ना, ताहि लोकमूढ़ता कहिये है, सो लोकमूढ़ता करि रहित सम्यग्दर्शन होय है।

अब **देवमूढ़ता** का स्वरूप कहते हैं-

-'वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा:।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते।। २३।।'

अर्थ- अपने वाञ्छित होय ताकू वर कहिये। वर की वांछा करके आशावान हुवा संता जो रागद्वेषकरि मलीन देवताकूं सेवन करै सो देवमूढ़ता कहिये हैं।

अन्त मे **गुरुमूढ़ता** अर्थात् पाखण्डमूढ़ता का वर्णन करते हैं-

-'सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्।। २४।।'

अर्थ- परिग्रह, आरम्भ अर हिंसाकरि जे सहित संसाररूप भंवरनिमें प्रवर्तन करते ऐसे पाखण्डिनिकी (कुगुरुओ की) जो प्रधानता उनके वचन में आदर करि प्रवर्तन करना सो पाखण्ड-मूढ़ता है।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, पहला अधिकार, गाथा २२ से २४ व अर्थ, पृष्ठ ३२, ३८ व ४२)

-श्रीमद् ब्रह्मदेव ने श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका में इन मूढ़ताओं का- (१) देवमूढ़ता, (२) लोकमूढ़ता, और (३) समयमूढ़ता के नाम से उल्लेखित किया है। आचार्यदेव ने इनका वर्णन इस तरह किया है-

(१) देवमूढ़ता- क्षुधा आदि अठारह दोषरहित, अनन्तज्ञानादि, अनन्तगुणसहित वीतरागसर्वज्ञदेव का स्वरूप नहीं जानते हुए जो जीव ख्याति, पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि वैभव के लिये रागद्वेष से आहत, आर्त, और रौद्र परिणामवाले क्षेत्रपाल, चण्डिका आदि मिथ्यादेवों का आराधन करते हैं- उसे देवमूढ़ता कहते हैं। वे देव कुछ भी फल नहीं देते।

(२) लोकमूढ़ता- 'गङ्गा आदि नदीरूप तीर्थों में स्नान, समुद्र में स्नान, प्रात:काल में स्नान, जल में प्रवेश करके मरना, अग्नि में प्रवेश करके मरना, गाय की पूँछ पकड़कर मरना, भूमि-अग्नि-वटवृक्ष की पूजा करना- ये सब पुण्य के कारण हैं'- ऐसा जो कहते हैं उनको लोकमूढ़ता जानना। लौकिक -पारमार्थिक, हेय-उपादेय, और स्व-पर ज्ञानरहित अज्ञानियों का प्रवाह से; अर्थात्, कुल परम्परा से चला आया अन्य भी जो कोई धर्माचरण है, वह भी लोकमूढ़ता है- ऐसा जानना।

(३) समयमूढ़ता- अज्ञानियों के मन में चमत्कार; अर्थात्, आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदि देखकर वीतराग-सर्वज्ञप्रणीत धर्म को छोड़कर कुदेव-शास्त्र, और वेषधारियों को भय, आशा, स्नेह, और लोभ से धर्म के लिये प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना- वह समय-मूढ़ता है।

ये उक्त लक्षणयुक्त तीनो मूढ़ताएँ **सरागसम्यग्दृष्टि**[1] की अवस्था में त्यागने योग्य हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १९०-१९२)

-सम्यग्दर्शन (प्रथम भाग) नामक पुस्तक मे पूज्य गुरुदेवश्री ने तीन मूढ़ताओं को गृहीत मिथ्यात्व के प्रकार के रूप मे निरूपित किया है। इसमें गृहीत मिथ्यात्व के मुख्य तीन प्रकार बताये गये हैं- (१) देवमूढ़ता, (२) गुरुमूढ़ता, और (३) धर्ममूढ़ता अर्थात् लोकमूढ़ता।

देवमूढ़ता- अज्ञानी, रागी, द्वेषी को देव के रूप मे मानना; कोई बड़ा कहा जानेवाला आदमी किसी कुदेव को देव मानता हो; इसलिये स्वय भी उस कुदेव को मानना और उससे कल्याण मानकर उसकी पूजा-वन्दनादि करना तथा लौकिक लाभादि की आकांक्षा से अनेक प्रकार के कुदेवादि को मानना- सो देवमूढ़ता है।

गुरुमूढ़ता- जिस कुटुम्ब मे जन्म हुआ है; उस कुटुम्ब में मानेजानेवाले कुलगुरु को समझे बिना मानना, अज्ञानी को गुरुरूप मे मानना, अथवा गुरु का स्वरूप सग्रन्थ (परिग्रहसहित) मानना -सो गुरु-सम्बन्धी महाभूल अर्थात् गुरुमूढ़ता है।

धर्ममूढ़ता (लोकमूढ़ता)- हिंसाभाव में धर्म मानना, सो धर्ममूढ़ता है। वास्तव में जैसे पाप में आत्मा की हिंसा है, वैसे पुण्य में भी आत्मा की हिंसा होती है; इसलिये पुण्य में धर्म मानना भी धर्ममूढ़ता है तथा धर्म मानकर नदी इत्यादि में स्नान करना, पशु-हिंसा मे धर्म मानना इत्यादि सब धर्म सम्बन्धी भूल हैं। इसे लोकमूढ़ता कहते हैं।

(पूज्य गुरुदेवश्री, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ २११)

प्रश्न ६- मिथ्यादेव कुछ भी फल नहीं देते, इसका कोई प्रमाण है?

उत्तर- 'रावण ने रामचन्द्र और लक्ष्मण का विनाश करने के लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की; कौरवों ने पाण्डवों का नाश करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की; कंस ने नारायण (कृष्ण) का विनाश करने के लिये बहुत-सी विद्याएँ सिद्ध कीं; परन्तु उन विद्याओं द्वारा रामचन्द्र, पाण्डवों, और कृष्ण नारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। उन्होंने (राम, आदि ने) यद्यपि मिथ्यादेवों की

---

१. **सराग सम्यग्दृष्टि-** जिन जीवों को सम्यग्दर्शन तो यथार्थ ही प्रगट हुआ है, परन्तु चारित्र अपेक्षा से उन्हें मुख्यत: राग विद्यमान होने से 'सराग सम्यग्दृष्टि' कहा है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १७२, पृष्ठ २५७ की पादटिप्पणी)

आराधना नहीं की, तो भी निर्मल सम्यक्त्व से **उपार्जित**[1] पहले किये हुए पुण्य से उनके सर्व विघ्न दूर हुए।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १९१)

प्रश्न ७- सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों में कोई दोष लगने पर क्या सम्यक्त्व का नाश हो जाता है?

उत्तर- 'कदाचित् किसी को (सम्यग्दृष्टि को) कोई मल (दोष) लगे, परन्तु सम्यक्त्व का सर्वथा नाश नहीं होता; वहाँ सम्यक्त्व मलिन ही होता है- ऐसा जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३९)

प्रश्न ८- किन कारणों से सम्यक्त्व का घात (नाश) होता है?

उत्तर- अभिमान, क्रोध, प्रमाद आदि पाँच कारणों से सम्यक्त्व का घात (नाश) होता है।

-'ग्यान गरब मति मंदता, निठुर वचन उदगार।
रुद्रभाव आलस दसा, नास पंच परकार।। ३७।।'

अर्थ- ज्ञान का अभिमान, बुद्धि की हीनता, निर्दय वचनों का भाषण, क्रोधी परिणाम, और प्रमाद- ये पाँच सम्यक्त्व के घातक हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ३७ व अर्थ, पृष्ठ ३७७)

प्रश्न ९- सम्यग्दर्शन के अतिचार कितने हैं?

उत्तर- विषय इच्छा, कुशास्त्र, व कुदेवों की भक्ति आदि सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

-'लोक हास भय भोगरुचि, उग्र सोच थिति मेव।
मिथ्या आगमकी भगति, मृषा दर्सनी सेव।। ३८।।'

अर्थ- लोक-हास्य का भय; अर्थात्, सम्यक्त्वरूप प्रवृत्ति करने में लोगों की हँसी का भय; इन्द्रियों के विषय भोगने में अनुराग; आगामी काल की चिन्ता; कुशास्त्रों की भक्ति; और कुदेवों की सेवा- ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ३८ व अर्थ, पृष्ठ ३७८)

प्रश्न १०- कर्म की कितनी और कौनसी प्रकृतियाँ सम्यक्त्व की घातक हैं?

उत्तर- मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व की घातक हैं। इनमें चारित्रमोहनीय की चार और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं-

-'चारित मोहकी च्यारि मिथ्यातकी तीन तामैं, प्रथम प्रकृति अनंतानुबंधी कोहनी।
बीजी महा-मानरसभीजी मायामयी तीजी, चौथी महालोभ दसा परिग्रह पोहनी।।

---

१. 'निर्मल सम्यक्त्व के साथ रहे हुए शुभराग से उपार्जित पुण्य'- ऐसा यहाँ समझना।
(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१, पृष्ठ १९१ की पादटिप्पणी)

पांचईं मिथ्यातमति छट्ठी मिश्रपरनति, सातईं समै प्रकृति समकित मोहनी।

एई षट विगवनितासी एक कुतियासी, सातौं मोहप्रकृति कहावैं सत्ता रोहनी।।४१।।'

अर्थ- सम्यक्त्व की घातक चारित्रमोहनीय की चार, और दर्शनमोहनीय की तीन- ऐसी सात प्रकृतियाँ हैं। उनमें से पहली अनन्तानुबन्धी क्रोध, दूसरी अभिमान के रङ्ग से रँगी हुई अनन्तानुबन्धी मान, तीसरी अनन्तानुबन्धी माया, चौथी परिग्रह को पुष्ट करनेवाली अनन्तानुबन्धी लोभ, पाँचवीं मिथ्यात्व, छठी मिश्र मिथ्यात्व और सातवीं सम्यक्त्वमोहनीय है। इनमें से छ· प्रकृतियाँ व्याघ्रनी के समान सम्यक्त्व के पीछे पड़कर भक्षण करनेवाली हैं और सातवीं कुतिया; अर्थात्, कर्कशा स्त्री के समान सम्यक्त्व को सकम्प अथवा मलिन करनेवाली है। इस प्रकार यह सातो प्रकृतियाँ सम्यक्त्व के सद्भाव को रोकती हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ४१ व अर्थ, पृष्ठ ३७८-३७९)

प्रश्न ११- सम्यक्त्व मे चल दोष क्या है?

उत्तर- 'अरहन्तदेवादि में- यह मेरा है, यह अन्य का है, इत्यादि भाव- सो चलपना है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३४)

-'नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतं।

लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितं।।

स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते।

अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छाद्धोऽपि चेष्टते।।'

अर्थ- नाना प्रकार अपने ही विशेष कहिए आप्त, आगम, पदार्थरूप श्रद्धान के भेद, तिनि विषैं जो चलै- चञ्चल होइ, सो चल कह्या है। सोई कहिए है- अपना कराया अर्हन्तप्रतिबिबादिक विषैं यहु मेरा देव है ऐसे ममत्व करि, बहुरि अन्यकरि कराया अर्हन्तप्रतिबिबादिक विषैं यहु अन्य का है, ऐसैं पर का मानिकरि (मानकर) भेदरूप भजन करै है; तातैं चल कह्या है। इहां दृष्टांत कहै हैं -जैसैं, नाना प्रकार कल्लोल तरङ्गनि की पंक्ति विषैं जल एक ही अवस्थित है, तथापि नानारूप होई चल है; तैसैं मोह जो सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है, तातैं श्रद्धान है, सो भ्रमणरूप चेष्टा करै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९९-१००)

प्रश्न १२- सम्यक्त्व में मलिनपना (मल दोष) क्या हैं?

उत्तर- 'शङ्कादि मल लगे सो मलिनपना है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३४)

-'तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मण:।

मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत्।।'

अर्थ- सो भी **वेदक सम्यक्त्व**[1] है, सो सम्यक्त्व प्रकृति के उदय तैं न पाया है माहात्म्य जिहि, ऐसा हो है। बहुरि सो शङ्कादि मल का सङ्गकरि मलिन हो है। जैसैं, शुद्ध सोना बाह्य मल का संयोग तैं मलिन हो है, तैसे वेदक सम्यक्त्व शङ्कादिक मल का संयोग तैं मलिन हो है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १००)

प्रश्न १३- सम्यक्त्व में अगाढ़ दोष क्या है?

उत्तर- 'यह शान्तिनाथ शान्तिकर्ता हैं, इत्यादि भाव अगाढ़पना है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३४)

-**'स्थान एव स्थितं कंप्रमगाढमिति कीर्त्यते। वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता॥**
समेप्यनंतशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं। देवोऽस्मै प्रभुरेषोस्मा इत्यास्था सुदृशामपि॥'

अर्थ- स्थान कहिए आप्त, आगम, पदार्थनि का श्रद्धानरूप अवस्था, तिहिं विषैं तिष्ठता हुआ ही कांपै, गाढ़ा न रहै, सो अगाढ़ ऐसा कहिए है। ताका उदाहरण कहै है- जैसैं तीव्र रुचि रहित होय सर्व अर्हन्त परमेष्ठीनि कैं अनन्तशक्तिपना होतैं संते, भी इस शांतिकर्म, जो शांति क्रिया ताकै अर्थि शांतिनाथ देव है, सो प्रभु कहिए समर्थ है। बहुरि इस विघ्ननाशन आदि क्रिया के अर्थि पार्श्वनाथ देव समर्थ है। इत्यादि प्रकार करि रुचि, जो प्रतीति, ताकी शिथिलता संभवै है। तातैं बूढ़े का हाथ विषैं लाठी शिथिल सम्बन्धपना करि अगाढ़ है, तैसैं सम्यक्त्व अगाढ़ है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ १००)

प्रश्न १४- कौनसा सम्यक्त्व निर्मल (दोषरहित) है?

उत्तर- औपशमिक एव क्षायिक सम्यक्त्व पूरी तरह निर्मल हैं।

-'बहुरि औपशमिक अर क्षायिक सम्यक्त्व विषैं मल उपजावने कौं कारण तिस सम्यक्त्व प्रकृति का उदय का अभाव तैं निर्मलपना सिद्ध है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९९)

पुण्य की रुचि : धर्म की अरुचि

जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है; उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या ५२, पृष्ठ ३९)

---

१. चल-मल-अगाढ़ दोष क्षायोपशमिक और वेदक सम्यक्त्व पर समानरूप से लागू होते हैं क्योंकि **'याही का (वेदक सम्यक्त्व ही का) दूसरा नाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है, भिन्न नाहीं है।'** -श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ९९।

सम्यग्दर्शन : उपाय, माहात्म्य, और लाभ

प्रश्न १- सम्यग्दर्शन प्रकट करने का उपाय क्या है?

उत्तर- 'पहले तो आज्ञादि से व किसी परीक्षा से कुदेवादिक की मान्यता छोड़कर अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान करना, क्योंकि यह श्रद्धान होनेपर गृहीतमिथ्यात्व का तो अभाव होता है तथा मोक्षमार्ग के विघ्न करनेवाले कुदेवादिक का निमित्त दूर होता है, मोक्षमार्ग के सहायक अरहन्तदेवादिक का निमित्त मिलता है; इसलिये पहले देवादिक (सच्चे देव-गुरु-शास्त्र) का श्रद्धान करना। फिर जिनमत में कहे जीवादिक तत्त्वों का विचार करना, नाम लक्षणादि सीखना क्योंकि इस अभ्यास से तत्त्वार्थश्रद्धान की प्राप्ति होती है। फिर आपापर (स्व-पर) का भिन्नपना जैसे भासित हो, वैसे विचार करता रहे, क्योंकि इस अभ्यास से भेदविज्ञान होता है। फिर आपमें अपनत्व मानने के अर्थ स्वरूप का विचार करता रहे, क्योंकि इस अभ्यास से आत्मानुभव (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति होती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२८-३२९)

-'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्ज्यत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।'

अन्वयार्थ- जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने, और पर्यायपनें जानता है; वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय (नाश) को प्राप्त होता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४१)

-'जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।। ३१।। '

गाथार्थ- जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (भिन्न) आत्मा को जानते है; उन्हें, जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं, वे वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।

(श्रीसमयसार, गाथा ३१ व गाथार्थ, पृष्ठ ६४)

-'सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।। १४४।।'

गाथार्थ- जो सर्व नयपक्षों से रहित कहा गया है, वह समयसार है। इसी को ही (समयसार

को ही) केवल सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान ऐसी संज्ञा मिलती है।

भावार्थ- पहले आत्मा का आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय करके; फिर इन्द्रिय-बुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही मिलाकर; तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके; एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' के नाम को प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं है।

(श्रीसमयसार, गाथा १४४, गाथार्थ एवं भावार्थ, पृष्ठ २१६-२१७)

-'**प्रमाणनयैरधिगमः॥ ६॥**'

अर्थ- सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वों का ज्ञान, प्रमाण और नयों से होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ६ व अर्थ, पृष्ठ २४)

-'जीव पदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है। वहाँ स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है तथा जिस काल किसी जीव के दर्शनमोह के उपशम-क्षय-क्षयोपशम से स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो, तब जीव सम्यक्त्वी होता है; इसलिये स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है।'

(आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, आधार-श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृ० ३४१)

-'आत्मा और परद्रव्य सर्वथा भिन्न हैं, एक का दूसरे मे अत्यन्त अभाव है; इसलिये आत्मा परद्रव्य का (और परद्रव्य आत्मा का) कुछ लाभ-हानि नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये पहले स्वद्रव्य-परद्रव्य की भिन्नता निश्चित करके, परद्रव्यों का लक्ष्य छोड़कर, स्वद्रव्य के विचार में आना चाहिए। स्वद्रव्य में त्रिकाल, एकरूप, अखण्ड, अभेद, परिपूर्ण, चैतन्यस्वभावी आत्मा; और वर्तमान विकारी, दोषसहित, अल्पज्ञ पर्याय- ऐसे दो पहलू हैं। आत्मा के दोनों पहलुओं का निश्चय करने के बाद पर्याय का आश्रय छोड़कर अपने त्रिकाल, अखण्ड, अभेद, चैतन्यस्वभावी आत्मा की ओर उन्मुख होना चाहिए। इस प्रकार त्रैकालिक द्रव्य की ओर उन्मुख होनेपर, वह त्रैकालिक नित्य पहलू होने से, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।'

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ठ १, पृष्ठ १०७ से १०९)

-' "पर का कर्ता आत्मा नहीं; राग का भी कर्ता नहीं। राग से भिन्न ज्ञायक मूर्ति हूँ" -ऐसी अन्तर में प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि है। ऐसा समय मिला है जिसमें आत्मा को राग से भिन्न कर देना ही कर्तव्य है। अवसर चूकना बुद्धिमानी नहीं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या २१६, पृष्ठ ८५)

-'तुझे धर्म करना (सम्यग्दर्शन प्रगट करना) है न? तो तू अपने को पहचान! सर्व प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे! तू है कौन? क्या क्षणिक पुण्य-पाप का करनेवाला तू है? नहीं

नहीं! तू तो ज्ञान का कर्ता ज्ञानस्वभावी है। पर का ग्रहण करनेवाला अथवा छोड़नेवाला नहीं है। तू तो मात्र ज्ञाता ही है- ऐसा निर्णय ही धर्म के प्रथम प्रारम्भ; अर्थात्, सम्यग्दर्शन का उपाय है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, सम्यक्‌दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ १२६)

-'जो वस्तुस्वरूप की कीमत हो; उसकी रुचि और महिमा हो, तो उसे उपादेय समझकर उसमे (निजआत्मा में) एकाग्रता करे, तो शुद्धता (सम्यग्दर्शन) प्रगटे। यही मोक्ष का मार्ग है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, नियमसारप्रवचन, गुजराती, गाथा ३८, पृष्ठ ६२)

-'अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।। २३।।'

श्लोकार्थ- आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई! तू किसी प्रकार महाकष्ट से, अथवा मरकर भी, तत्त्वों का कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्तद्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्मा के विलासरूप, सर्व परद्रव्यो से भिन्न देखकर, इस शरीरादि मूर्तिक पुद्‌गलद्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा।

(श्रीसमयसार, कलश २३ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ५७-५८)

-' "मैं शुभाशुभभाव से रहित हूँ"- इस प्रकार के विचार में लगना भी एक पक्ष है। इससे भी उस पार स्वरूप है। स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है। यही सम्यग्दर्शन का विषय है; अर्थात्, उसी के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन का दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ १४४)

-'आत्मा को प्राप्त करने के लिये (गुरुगम से) शास्त्रों का अभ्यास करना, विचान-मनन करके तत्त्व का निर्णय करना, और शरीरादि से तथा राग से भेदज्ञान करने का अभ्यास करना। रागादि से भिन्नता का अभ्यास करते-करते आत्मा का अनुभव होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत संख्या १२६, पृष्ठ ८२)

-'आत्मा तो आश्चर्यकारी चैतन्यमूर्ति! प्रथम उसे चारों ओर से पहचान कर; पश्चात् नय-प्रमाणादि के पक्ष छोड़कर अन्तर में स्थिर हो जाना। तब अन्तर से ही मुक्तस्वरूप प्रगट होगा।'

(पू० बहनश्री का वचनामृत संख्या २३०, जिणसासणं सव्वं, पृष्ठ ९२)

-'पर से भिन्न ज्ञायक स्वभाव का निर्णय करके, बारम्बार भेदज्ञान का अभ्यास करते-करते मति-श्रुत के विकल्प टूट जाते हैं; उपयोग गहरायी में चला जाता है; और भोंयरे में भगवान के दर्शन प्राप्त हो तदनुसार गहरायी में आत्मभगवान दर्शन देते हैं। इस प्रकार स्वानुभूति की कला हाथ में आनेपर किस प्रकार पूर्णता प्राप्त हो- वह सब कला हाथ में आ जाती है। केवलज्ञान

के साथ केलि प्रारम्भ होती है।'

(पू० बहिनश्री के वचनामृत संख्या ४०४, पृष्ठ १७८)

-'ज्ञायक स्वभाव आत्मा का निर्णय करके मति-श्रुतज्ञान का उपयोग, जो बाह्य में जाता है, उसे अन्तर में समेट लेना; बाहर जाते हुए उपयोग को ज्ञायक के अवलम्बन द्वारा बारम्बार अन्तर में स्थित करते रहना; वही शिवपुरी (मोक्ष) पहुँचने का राजमार्ग है। ज्ञायक आत्मा की अनुभूति- वही शिवपुरी की सड़क है; वही मोक्ष का मार्ग है। दूसरे सब उस मार्ग का वर्णन करने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। जितने वर्णन के प्रकार हैं, उतने मार्ग नहीं हैं। मार्ग तो एक ही है।'

(पू० बहनश्री के वचनामृत संख्या ३८३, पृष्ठ १६४)

-'पर्याय जो दृश्य है, उसको अदृश्य करके और गुण भेद जो दृश्य है, उसको अदृश्य करके और द्रव्य को दृश्य करके; पूर्व में अनन्तों तीर्थङ्करों ने सम्यग्दर्शन पाया है। यह एक ही मार्ग है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, वचनामृत संख्या ७२२, पृष्ठ १६७)

प्रश्न २- क्या क्षयोपशम ज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण हो सकता है?

उत्तर- नहीं, क्षयोपशम ज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है।

-'ग्यारह **अङ्गों**[1] का ज्ञान हो जाये- इतनी राग की मन्दता अभव्य को होती (हो सकती) है। ग्यारह अङ्ग के ज्ञान का क्षयोपशम बगैर पढ़े ही (भी) हो जाता है; विभङ्गज्ञान भी हो जाता है और सात द्वीप समुद्र को प्रत्यक्ष देखता है। तो भी यह सब ज्ञान होना सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या २२६, पृष्ठ ९०)

प्रश्न ३- सम्यग्दर्शन के लिये सर्वाधिक आवश्यक क्या है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये आत्मस्वभाव की रुचि सर्वाधिक आवश्यक है।

-'जिसको आत्मा की यथार्थ रुचि होती है; उसका ज्ञान अल्प हो, तो भी रुचि के बल पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के लिये ज्ञान के क्षयोपशम की आवश्यकता नहीं, लेकिन आत्मरुचि की ही आवश्यकता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या २२७, पृष्ठ ९१)

---

१. पूरा श्रुतज्ञान (जिनागम) १२ अङ्गों में निविद्ध है। मिथ्यादृष्टि जीव को ११ अङ्गों तक का ज्ञान हो सकता है। १२वें अङ्ग का ज्ञान केवल सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है। १२ अङ्ग के नाम इस प्रकार है-
(१) आचाराङ्ग, (२) सूत्रकृताङ्ग, (३) स्थानाङ्ग, (४) समवायाङ्ग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) नाथधर्मकथा, (७) उपासकाध्ययन, (८) अन्तःकृद्दशाङ्ग, (९) अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, (१०) प्रश्नव्याकरणाङ्ग, (११) विपाकसूत्राङ्ग, और (१२) दृष्टिवादाङ्ग।

(श्रीधवला, पुस्तक १, पृष्ठ १००, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या २०, पृष्ठ ७)

प्रश्न ४- सम्यग्दृष्टि जीव की क्या पहचान है?

उत्तर- 'उसके (सम्यग्दृष्टि के) हृदय में आत्मा का स्वरूप दैदीप्यमान प्रगटरूप से प्रतिभासता है। वह ज्ञानज्योति को लिये आनन्दरस से परिपूर्ण है। वह अपने को साक्षात् पुरुषाकार अमूर्तिक, चैतन्यधातु का पिण्ड, अनन्त अक्षय गुणों से युक्त चैतन्यदेव ही जानता है। उसके अतिशय से ही वह परद्रव्य के प्रति रञ्चमात्र भी रागी नहीं होता।

(समाधिमरणस्वरूप, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, परिशिष्ठ १, पृष्ठ ३४०)

-'जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं। दूसरे (जो अशुद्धनय का सर्वथा आश्रय लेते हैं, वे) सम्यग्दृष्टि नहीं है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ११ की टीका, पृष्ठ २३)

-'**स्वारथके साचे परमारथके साचे चित्त, साचे साचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं।**
काहूके विरुद्धि नाहि परजाय-बुद्धि नाहि, आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं।।
सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमैं प्रगट सदा, अंतरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवन्तके उदास रहैं जगतसौं, सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।। ७।।'

अर्थ- जिन्हें निज आत्मा का सच्चा ज्ञान है और मोक्ष पदार्थ से सच्चा प्रेम है; जो हृदय के सच्चे हैं और सत्य वचन बोलते हैं तथा सच्चे **जैनी**[1] हैं, किसी से भी जिनका **विरोध**[2] नहीं है, शरीर में जिनको अहंबुद्धि नहीं है, आत्मस्वरूप के खोजक हैं, **न अणुव्रती हैं, न महाव्रती हैं**[3]; जिन्हें सदैव अपने ही हृदय में आत्महित की सिद्धि, आत्मशक्ति की ऋद्धि, और आत्मगुणों की वृद्धि प्रगट दिखती है; जो अन्तरङ्ग लक्ष्मी से अजाची लक्षपति अर्थात् सम्पन्न हैं; जो जिनराज के सेवक हैं, संसार से उदासीन रहते हैं; जो आत्मीय सुख से सदा आनन्दरूप रहते हैं- ऐसे गुणो के धारक सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, मङ्गलाचरण, दोहा ७ व अर्थ, पृष्ठ ७)

-'**कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।**
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।। ७५।।'

गाथार्थ- जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को नहीं करता किन्तु जानता है- वह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) है।

(श्रीसमयसार, गाथा ७५ व गाथार्थ, पृष्ठ १३१-१३२)

---

१. **जैनी**- जिनराज के वचनों पर जिनका अटल विश्वास है।
२. समस्त नयों के ज्ञाता होने से इनके ज्ञान में किसी भी सम्यक् विवक्षा का विरोध नहीं भासता।
३. यह कथन अव्रति सम्यग्दृष्टि की मुख्यता से है।

(श्रीसमयसारनाटक, मङ्गलाचरण, दोहा ७, पृष्ठ ७ की पादटिप्पणी)

-'जो कोई आत्मा जड़कर्म की अवस्था को तथा शरीरादि की अवस्था को करता नहीं है; उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता; तन्मयबुद्धि से परिणमता नहीं है, परन्तु मात्र जानता है; अर्थात्, तटस्थ रहता हुआ साक्षीरूप से जानता है- वह आत्मा ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत संख्या २२२, पृष्ठ १३४)

-'सम्यग्दृष्टि को आत्मा के बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता; जगत की कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती। जिसे चैतन्य की महिमा एवं रस लगा है; उसको बाह्य विषयों का रस टूट गया है। कोई पदार्थ सुन्दर या अच्छा नहीं लगता। अनादि अभ्यास के कारण, अस्थिरता के कारण, अन्दर स्वरूप में नहीं रहा जा सकता; इसलिये उपयोग बाहर आता है। परन्तु इस के बिना-सब निःसार, छिलकों के समान, रस-कस शून्य हो- ऐसे भाव से बाहर खड़े हैं।'

(पू० बहिनश्री के वचनामृत संख्या ३२, पृष्ठ १३)

-'सम्यग्दृष्टि को ऐसा निःशङ्क गुण होता है कि चौदह ब्रह्माण्ड उलट जायें, तथापि अनुभव में शङ्का नहीं होती।'

(पू० बहिनश्री के वचनामृत संख्या १०१, पृष्ठ ३९)

प्रश्न ५- छद्मस्थ और केवली सिद्धभगवान के सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है?

उत्तर- 'जैसे छद्मस्थ के श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति पायी जाती है, उसी प्रकार केवली-सिद्धभगवान के केवलज्ञान के अनुसार प्रतीति पायी जाती है। जो सप्त तत्त्वों का स्वरूप पहले (छद्मस्थ अवस्था में) ठीक किया था, वही केवलज्ञान द्वारा जाना; वहाँ प्रतीति का परमावगाढ़पना हुआ। इसी से (केवलज्ञानी के सम्यक्त्व को) परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा। जो पहले (छद्मस्थ अवस्था में) श्रद्धान किया था, उसको झूठ जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती। सो तो जैसा सप्त तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ के हुआ था, वैसा ही केवली सिद्धभगवान के पाया जाता है; इसलिये ज्ञानादिक की हीनता-अधिकता होनेपर भी तिर्यञ्चादिक व केवली सिद्धभगवान के सम्यक्त्वगुण समान ही कहा है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२१-३२२)

प्रश्न ६- क्या सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सद्भाव हो सकता है?

उत्तर- नहीं! सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन के साथ ही अविनाभावीरूप से होते हैं। सम्यग्दर्शन से ही धर्म का आरम्भ होता है।

-'मोक्षमहलकी परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।'

भावार्थ- यह सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते; अर्थात्, सम्यग्दर्शन के अभाव में ११ अङ्ग तक का ज्ञान मिथ्याज्ञान और घोर तपरूप चारित्र मिथ्याचारित्र ही कहलाता है; सम्यक्ज्ञान अथवा सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १७ का पूर्वार्द्ध व भावार्थ, पृष्ठ ८३-८४)

-'तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।। २१।।'

अन्वयार्थ- इन तीनों में (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में) प्रथम समस्त प्रकार सावधानीपूर्वक यत्न से सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अङ्गीकार करना चाहिए, क्योंकि उसके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २५)

-'एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स।। २१।।'

अर्थ- ऐसा जिनेश्वर देव का कहा हुआ दर्शन (सम्यग्दर्शन) है। सो गुणो में और दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन रत्नों में सार है, उत्तम है, और मोक्षमन्दिर में चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी है; इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवों! तुम इसको अन्तरङ्ग भाव से धारण करो। बाह्य क्रियादिक से धारण करना तो परमार्थ नहीं है; अन्तरङ्ग की रुचि से धारण करना मोक्ष का कारण है।

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा २१ व अर्थ, पृष्ठ २५)

-'अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम्।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते।। ५५।।'

अर्थ- यह सम्यग्दर्शन चारित्र-ज्ञान के न होनेपर भी प्रशंसनीय कहलाता है और इसके बिना संयम (चारित्र) और ज्ञान मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित होते हैं; अर्थात्, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र कुचारित्र कहलाता है।

(श्रीज्ञानार्णवः, सर्ग ६, गाथा ५५ व अर्थ, पृष्ठ ९५)

प्रश्न ७- सम्यग्दृष्टि रागी क्यों नहीं होता?

उत्तर- 'वह (सम्यग्दृष्टि) अपने निजस्वरूप को ज्ञाता-दृष्टा, परद्रव्यों से भिन्न, शाश्वत, और अविनाशी जानता है और परद्रव्य को तथा रागादिक को क्षणभगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भलीभाँति भिन्न जानता है;' इसलिये सम्यग्दृष्टि रागी नहीं होता।

(समाधिमरणस्वरूप, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, परिशिष्ठ १, पृष्ठ ३४०)

प्रश्न ८- क्या सम्यग्दृष्टि जीव घर में रहते हुए भी निर्मोह रह सकता है?

उत्तर- हाँ! निजस्वभाव में रुचि और परपदार्थों में अरुचि के कारण सम्यग्दृष्टि जीव घर में रहते हुए भी निर्मोह रह सकता है।

-'गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों, जलतैं भिन्न कमल है;
नगरनारिकौ प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है।। १५।।'

भावार्थ- जिस प्रकार पानी में रहते हुए भी कमल पानी से अलिप्त रहता है, **वैश्या को प्रेम**[1] पैसे से होता है मनुष्य से नहीं, और सोना कीचड़ में पड़े रहनेपर भी निर्मल रहता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थपने में लिप्त नहीं होता, उदासीन (निर्मोह) ही रहता है। सम्यग्दृष्टि को प्रेम सम्यक्त्व से होता है, गृहस्थपने से नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता; उसे त्याज्य ही मानता है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १५ का उत्तरार्द्ध व भावार्थ, पृष्ठ ८०-८१)

-'गृहिव्यापारप्रतिष्ठिताः हेयाहेयं जानन्ति।
अनुदिनं ध्यायन्ति देवं जिनं लघु निर्वाणं लभन्ते।। १८।।'

अर्थ- जो (सम्यग्दृष्टि जीव) गृहस्थी के धन्धे में रहते हुए भी हेयाहेय (हेय और उपादेय) को समझते हैं और जिनवर भगवान् का निरन्तर ध्यान करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं।

(आचार्य योगीन्दुदेव विरचित योगसार, दोहा १८ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६३)

प्रश्न ९- सम्यग्दृष्टि जीव को पुनः निर्विकल्पदशा आने की अधिकतम समय-सीमा क्या है?

उत्तर- सम्यग्दृष्टि जीव को पुनः निर्विकल्पदशा आने की अधिकतम समय-सीमा के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों मे तो कोई उल्लेख शास्त्रों में उपलब्ध नहीं है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि आगे के गुणस्थानों में अपेक्षाकृत निर्विकल्पदशा शीघ्र-शीघ्र आती है।

-'(निर्विकल्प अनुभव) चौथे (गुणस्थान) ही से होता है, परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में शीघ्र-शीघ्र होता है'

(आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४७)

-'जो सम्यग्दृष्टि चतुर्थ (गुणस्थान) का है, उसके तो स्वानुभव का काल लघु अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। (फिर) वह (स्वानुभव) दीर्घकाल पश्चात् होता है। उससे (अविरत सम्यग्दृष्टि के काल से) देशव्रती का स्वानुभव रहने का काल अधिक है और वह स्वानुभव अल्पकाल पश्चात् होता है। सर्वविरति का स्वानुभव दीर्घ अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। ध्यान से भी होता है तथा अति अल्प-अल्पकाल

---

१. यहाँ वैश्या के प्रेम से सम्यग्दृष्टि की संसार भोगों के प्रति मात्र अलिप्तता दर्शायी गयी है।
(छहढाला, तीसरी ढाल, पृष्ठ ८१ की पादटिप्पणी)

के पश्चात् स्वानुभव सातवें गुणस्थान में बारम्बार होता ही रहता है।'

(पण्डित दीपचन्दजी शाह कासलीवाल, श्रीअनुभव प्रकाश, पृष्ठ ५३)

-'सम्यग्दृष्टि को चतुर्थ गुणस्थान में अधिक से अधिक कितने काल के अन्तर से स्वानुभव होता है- इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम जानने में नहीं आया। छठवें-सातवें गुणस्थान के लिये तो नियम है कि अन्तर्मुहूर्त में निर्विकल्प उपयोग होता ही है; यदि न हो तो मुनिदशा ही न टिके।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, अध्यात्म सन्देश, पृष्ठ ९७)

-'ये तो (निर्विकल्पदशा) जीव के पुरुषार्थ की योग्यता के प्रमाण में होती है। छठें-सातवें गुणस्थान में क्षण-क्षण में निर्विकल्पदशा होती है। इस प्रकार चौथे गुणस्थानवाले को नहीं होती। चौथे गुणस्थान की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान में विशेष झड़प (तीव्रता; शीघ्रता) होती है। चौथे गुणस्थान में उसके योग्य जितनी ही झड़प होती है। छठें-सातवें गुणस्थान में क्षण-क्षण में -अन्तर्मुहूर्त में होती है, ऐसी झड़प चौथे गुणस्थान में नहीं होती। शेष तो उसके पुरुषार्थ की जैसी गति (स्थित) हो, उसके प्रमाण में होती है; उसका (निर्विकल्पदशा का) नियमित काल नहीं होता।'

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्नोत्तर संख्या १९४, पृष्ठ १२८)

[**विशेष**- (१) अनेक विद्वानों का मत है कि सम्यग्दृष्टि जीव को उसके गुणस्थान के अनुसार निर्विकल्प स्वानुभव की अधिकतम समय-सीमा है। इस निर्धारित समय-सीमा में निर्विकल्पदशा न आने की दशा में जीव अपने गुणस्थान से गिर जाता है। यह समय-सीमा सम्यग्दृष्टि जीव के निरन्तर पुरुषार्थ को भी बताती है। इन विद्वानों के अनुसार शास्त्रों में 'कषायों के वासनाकाल' के रूप मे यह समय-सीमा उल्लेखित है-

-**'अंतोमुहुत्त पक्खं, छम्मासं संखऽसंखणंतभवं।**
संजलणमादियाणं, वासणकालो दु णियमेण।। ४६।।'

टीका- उदय का अभाव होत संतै भी जो कषायनि का संस्कार जितनैं काल रहै, ताका नाम वासनाकाल है। सो संज्वलन-कषायनि का वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त है। प्रत्याख्यान कषायनि का एक पक्ष है। अप्रत्याख्यान कषायनि का छह महिना है। अनन्तानुबन्धी कषायनि का संख्यातभव, असंख्यातभव, अनन्तभव पर्यन्त वासनाकाल है।

(श्रीगोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ४६ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषा टीका, द्वितीय खण्ड पूर्वार्द्ध, पृष्ठ १०१)

-'इन कषायों का वासनाकाल इस प्रकार है- संज्वलन कषाय का अन्तर्मुहूर्त; प्रत्याख्यान कषाय का एक पक्ष अर्थात् १५ दिन; अप्रत्याख्यान कषाय का छह महीना, और अनन्तानुबन्धी का संख्यात, असंख्यात और अनन्त भव। वासनाकाल का अभिप्राय यह है कि इतने

काल तक इनका संस्कार आत्मा में बैठा रहता है; जैसे, संज्वलन कषाय के संस्कार केवल एक अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकते हैं। प्रत्याख्यान कषाय के संस्कार एक बार के बैठे हुए १५ दिन तक रह सकते हैं। उसी प्रकार औरों का संस्कारकाल समझना चाहिए। इन सभी में अनन्तानुबन्धी का संस्कारकाल सबसे अधिक है। उसके संस्कार अनन्तभव तक रह सकते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनीटीका, दूसरा अध्याय, गाथा १०५७ से १०५९ का भावार्थ, पृष्ठ २८६)

-'इस अनन्तानुबन्धी का वासना काल संख्यात, असंख्यात, अनन्तभव पर्यन्त चला जाय है।' तथा,

-'याका (अप्रत्याख्यान कषाय का) वासना काल उत्कृष्ट छह मास पर्यन्त है। पीछे उपशान्त ही होय है।'

(श्री भावदीपिका, चौथा अधिकार, पृष्ठ ६२-६३)

(२) इस विचारधारा को 'धर्म के दशलक्षण' में ज्यादा स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है-

-'अप्रत्याख्यान कषाय छः माह से अधिक नहीं रहती। यदि अधिक रहे तो समझना चाहिए कि वह अनन्तानुबन्धी है। अनन्तानुबन्धी कषाय अनन्त संसार का कारण है।'

(धर्म के दशलक्षण, अध्याय १२, क्षमावाणी, पृष्ठ १७४)

(३) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी से मुमुक्षुओं ने सोनगढ़ में प्रतिदिन रात्रि में होनेवाली प्रश्नोत्तर-सभा मे इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण चाहा था। प्रश्न था कि- 'यदि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को छः माह में निर्विकल्पदशा आने का नियम हो, तो स्वर्ग में मनुष्य पर्याय में आनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव को माता के गर्भ में नौ माह रहने की अवधि में भी निर्विकल्पदशा आती होगी?' यह प्रश्नोत्तर आत्मधर्म, जुलाई १९७६ के अङ्क में प्रकाशित हुआ था।

'प्रश्न- सम्यग्दृष्टि स्वर्ग से आता है, तब माता के पेट में नौ महीने में निर्विकल्प उपयोग आता होगा या नहीं?

उत्तर- यह बात ख्याल में है, लेकिन शास्त्राधार कोई मिलता नहीं। विचार तो अनेक आते हैं, लेकिन शास्त्राधार तो मिलना चाहिए न।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मधर्म, जुलाई १९७६, पृष्ठ २२, आधार-ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या २५५, पृष्ठ १००)

(४) आचार्य अमृतचन्द्राचार्यदेव सहित अनेक महापुरुषों ने अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को भी सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक अभ्यास से छः माह में आत्मानुभव होने की बात की है-

-'विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥ ३४॥'

श्लोकार्थ- हे भव्य! तुझे अन्य व्यर्थ ही कोलाहल करने से क्या लाभ है? तू कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वय निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश, पुद्‌गल से भिन्न है -ऐसे उस आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है या होती है?

भावार्थ- यहाँ छ: मास अभ्यास की बात कही है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा। उसकी (स्वानुभव की) प्राप्ति तो अन्तर्मुहूर्तमात्र में ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन मालूम होता हो, तो उसका निषेध किया है। यदि समझने में अधिक काल लगे, तो छ: मास से अधिक नही लगेगा।

(श्रीसमयसार, कलश ३४, श्लोकार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ८६–८७)

-'भैया जगवासी तू उदासी व्हैकैं जगतसौं, एक छ महीना उपदेश मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलपके विकार तजि, बैठिकैं एकंत मन एक ठौरु आनु रे।।
तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है, सही ह्वै है प्रापति सरूप यौंही जानु रे।।३।।'

अर्थ- हे भाई संसारी जीव! तू ससार से विरक्त होकर एक छ: महीने के लिये मेरी सीख मान और एकान्त स्थान में बैठ कर राग-द्वेष की तरङ्गें छोड़ के चित्त को एकाग्र कर। तेरे हृदयरूप सरोवर में तू ही कमल बन, और तू ही भौंरा बनकर अपने स्वभाव की सुगन्ध ले। जो तू यह सोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा, सो नियम से स्वरूप की प्राप्ति होगी- आत्मसिद्धि का यही उपाय है।

(श्रीसमयसार-नाटक, अजीवद्वार, छन्द ३ व अर्थ, पृष्ठ ५६–५७)

-'ज्ञायक...........ज्ञायक.............ज्ञायक की लगन लगनी चाहिए। ज्ञायक की धुन लगे, तो छ: मास में कार्य हो जाये और उत्कृष्ट लगन लगे, तो अन्तर्मुहूर्त में हो जाये।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मधर्म, दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २६, आधार-ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ९९, पृष्ठ ४५)

(५) उपर्युक्त (क्रम संख्या १ से ४) में वर्णित शास्त्राधारो से ऐसा उचित लगता है कि-

(क) पूज्य गुरुदेवश्री सहित किसी भी आत्मज्ञानी ने अप्रत्याख्यान कषाय का उत्कृष्ट वासनाकाल छ: माह अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को छ: माह मे निर्विकल्पदशा आने का खण्डन नहीं किया है। हाँ- स्पष्ट शास्त्राधार के बिना इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट स्वीकृति भी नहीं की है।

(ख) ज्ञानी का पुरुषार्थ ही वास्तव में सम्यक् पुरुषार्थ होता है और ज्ञानी को निरन्तर पुरुषार्थ वर्तता ही है- यह शास्त्र का वचन है। जब अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक् रुचि और लगन के सद्भाव में छ: मास में स्वानुभव हो सकता है, तब आत्मानुभवी ज्ञानी जीव (चतुर्थ

गुणस्थानवर्ती) को अधिकतम छः माह में निर्विकल्पदशा आने का विधान ठीक ही लगता है।

(६) जिज्ञासुओं से इस सम्बन्ध में अन्य शास्त्रों और ज्ञानियों के वचनानुसार स्वयं निर्णय लेने की प्रार्थना है।]

प्रश्न १०- सम्यग्दर्शन का माहात्म्य (महिमा) शास्त्रों में क्या बताया है?

उत्तर- जो विवेकी पच्चीस दोषरहित तथा आठ गुणसहित सम्यग्दर्शन धारण करते हैं-

१. उनकी देव पूजा[1] करते हैं-

-'दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजैं हैं;
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।'

अन्वयार्थ- जो बुद्धिमान पुरुष पच्चीस दोषरहित तथा निःशङ्कादि आठ गुणसहित सम्यग्दर्शन से भूषित हैं, उन्हें अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश किञ्चित् भी संयम नहीं है; तथापि देवों के स्वामी इन्द्र उनकी पूजा करते हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १५ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ७९-८०)

---

१. **पूजा-** इस प्रकरण मे पूजा का अर्थ 'आदर' से है। **'तथापि इन्द्रादि उनकी पूजा (आदर) करते हैं।'**

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १५ का भावार्थ, पृष्ठ ८०)

-'सम्यग्दर्शन विषय हुआ। वहाँ भले लेश भी संयम न हो, तो भी इन्द्रगण उनका "आदर" करते हैं।'

(बहनश्री के वचनामृत २०९ पर पू० गुरुदेवश्री का प्रवचन, आधार-आत्मधर्म, फरवरी ९६, पृष्ठ २६)

-शास्त्रों मे पूजा शब्द का प्रयोग बहुत व्यापकरूप से हुआ है। केवल अष्टद्रव्य से पूजा ही पूजा नहीं है बल्कि 'अष्टद्रव्य अर्पित करना, आदर में खड़े होना, प्रणाम करना, प्रदक्षिणा करना, अञ्जुलि मस्तक चढ़ाना आदि, और वचन से गुणों का स्तवन सभी पूजा के भेद हैं।'

(आधार-श्रीभगवती आराधना, गाथा ४६ का अर्थ, पृष्ठ २२)

-यहाँ पूजा का अर्थ अष्टद्रव्यों से पूजा नहीं है क्योंकि शास्त्र में असंयत सम्यग्दृष्टि की पूजा का निषेध है।

-'अस्संजदं ण वन्दे वच्छविहीणोवि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। २६।।'

अर्थ- असयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए। भावसयम नहीं हो और बाह्य में वस्त्ररहित हो, वह भी वन्दने योग्य नहीं है क्योंकि यह दोनों ही सयमरहित समान है। इनमें एक भी संयमी नही है।

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा २६ व अर्थ, पृष्ठ २७)

-'श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता है और श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र विशेष पूज्य है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ १५६)

-'अन्तर में चैतन्यतत्त्व नमस्कार करने योग्य है। वही मङ्गल है, वही सर्व पदार्थों में उत्तम है, भव्य जीवों को वह आत्मतत्त्व ही एक शरण है। बाह्य में पञ्च परमेष्ठी-अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु-नमस्कार करने योग्य हैं क्योंकि उन्होंने आत्मा की साधना की है; वे मङ्गलरूप हैं; वे लोक में उत्तम हैं; वे भव्य जीवों के शरण हैं।'

(पू० बहिनश्री वचनामृत संख्या ६४, पृष्ठ २५-२६)

-'शुद्धातम अरु पंच गुरु, जग में सरनौ दोय।
मोह उदय जियके वृथा, आन कल्पना होय।।'

(पं० जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारहभावना, छन्द २)

-'कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए।। ३३।।'

अर्थ- जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परासहित पाते हैं; इसलिये सम्यग्दर्शन रत्न है। वह (सम्यग्दर्शन) इस सुरअसुरों से भरे हुए लोक में पूज्य है।

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा ३३ व अर्थ, पृष्ठ ३१)

२. उनका नीच गति, जाति आदि में गमन नहीं होता-

-'सम्यग्दृष्टिजीवस्य दुर्गतिगमनं न भवति।
यदि याति अपि तर्हि (ततः?) दोषः नैव पूर्वकृतं क्षपयति।। ८८।।'

अर्थ- सम्यग्दृष्टि जीव कुगतियों में नहीं जाता है। यदि कदाचित् वह जाता भी है, तो इसमें सम्यक्त्व का दोष नहीं। इससे वह पूर्वकृत कर्म का ही क्षय करता है।

(आचार्य योगीन्दुदेव विरचित योगसार, दोहा ८८ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३७९)

-'प्रथम नरक बिन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी;
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी।'

अन्वयार्थ- सम्यग्दृष्टि जीव पहले नरक के अतिरिक्त शेष छः नरकों में, ज्योतिषी देवों में, व्यन्तर देवों में, भवनवासी देवों में, स्त्रियों में, **नपुंसकों में**,[१] पाँच स्थावरों में, दो-तीन-चार इन्द्रिय जीवों में, तथा कर्मभूमि के पशुओं में उत्पन्न नहीं होते।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १६ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८१-८२)

-'अर सम्यक्त्व सहित मरै, तिर्यञ्च मनुष्य, सो तहाँ (नरकादि में) उपजै नाहीं। बहुरि सम्यक्त्व तैं भ्रष्ट होइ जो जीव मिथ्यादृष्टि वा सासादन होइ, तो तिनिका यथासम्भव तहां नरकादि विषै उपजने का विरोध है नाहीं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १२८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ २७६)

-'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।। ३५।।'

अर्थ- जो जीव सम्यग्दर्शनकरि शुद्ध हैं ते व्रतरहित हू नारकीपणा, तिर्यञ्चपणा, नपुंसकपणा, स्त्रीपणा कूं नाहीं प्राप्त होय हैं। अर नीचकुल में जन्म अर विकृत कहिये आंधा, काणा, बहरा, टूंटा, लूला, गूंगा, कूबड़ा, वावन्या, हीनअङ्ग, अधिकअङ्ग, मांजरा विटरूप नहीं होय, तथा अल्पआयु का

---

१. सम्यग्दृष्टि जीव का सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व बँधी आयु के कारण पहले नरक जाने की दशा में नपुंसकों में होना अपवाद है। इसमें राजा श्रेणिक का दृष्टान्त आता है, जिन्हें सम्यक्त्व होने से पूर्व सातवे नरक और ३३ सागर की आयु का बन्ध हुआ था; जो बाद में सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर पूर्वबद्ध आयु संक्रमण होकर पहले नरक और ८४ हजार वर्ष की रह गयी।
(आधार-छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १६, पृष्ठ ८२ की पादटिप्पणी)

धारक अर दरिद्रपनाकूं नाहीं प्राप्त होय है।.........और जो सम्यक्त्व ग्रहण नाहीं हुआ तदि मिथ्यात्व अवस्था में बन्ध करी जे प्रकृति सम्यक्त्व के प्रभाव तैं नष्ट हो जाय हैं परन्तु आयु बन्ध किया सो नाहीं छूटैं तो हू सम्यक्त्व का ऐसा प्रभाव है जो पूर्वे सप्तमनरक की आयु बांधी होय अर पाछै सम्यक्त्व हो जाये तो प्रथम नरक ही जाय, द्वितीयादिकनि में नाहीं जाय और जो तिर्यञ्च में निगोद की एकेन्द्रिय की आयु बाँधी होय तो सम्यक्त्व का प्रभावतैं उत्तम भोगभूमि को तिर्यञ्च ही होय, एकेन्द्रियादिक कर्मभूमि को जीव नाहीं होय। और जो पूर्वे लब्धिअपर्याप्त मनुष्य की आयु बांधी होय तो सम्यक्त्व के प्रभावतैं भोगभूमि को मनुष्य होय है अर व्यन्तिरादिकनिमें नीचदेव का आयु बन्ध किया होय तो कल्पवासी महर्द्धिक देव ही होय है, अन्य भवनत्रिक देवनिमें तथा चार देवनिकी स्त्रीनिमें समस्त मनुष्यणी तिर्यञ्चणीनिमें नाहीं उपजै है; ऐसा सम्यक्त्व का प्रभाव है। नीचकुलमें, दरिद्रीनिमे, अल्पायु का धारक नाहीं होय है।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ३५ व अर्थ, पृष्ठ ६५-६६)

-'जिन जीवों को सम्यग्दर्शन के ग्रहण होने से पहले आयुष्य का बन्ध न हुआ हो उनको व्रत न हो, तो भी निंद्य नर-नारक आदि स्थान में जन्म नहीं होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ २०३)

३. वे अप्रमाणप्रभाव के धारक मनुष्य होते हैं-

-'ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः।। ३६।।

अर्थ- सम्यग्दर्शनकरि पवित्र पुरुष हैं ते मनुष्यनिका तिलक कहिये समस्त मनुष्यनिका मण्डन करनेवाला वा समस्त मनुष्यनि के मस्तक ऊपरि धारण करने योग्य ऐसा मनुष्यनि का तिलक होय है। कैसेक होय हैं? ओजः कहिये पराक्रम; अर तेजः कहिये प्रताप; अर विद्या कहिये समस्त लोक में अतिशयरूप ज्ञान; अर अतिशयरूप वीर्य कहिये शक्ति; अर उज्जवल यश और वृद्धि कहिये दिनदिन प्रति गुणनिकी अर सुख की वृद्धि; विजय कहिये समस्त प्रकारकरि जीतनेरूप अर अतिशयकारी विभव; ऐसैं ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, विजय, विभव इन समस्त गुणनिका स्वामी होय है। बहुरि महानकुल का स्वामी होय है अर महानधर्म, महाअर्थ, महाकाम, महामोक्षरूप चार पुरुषार्थका स्वामी होय है। सम्यग्दर्शन के धारणतैं ऐसैं अप्रमाणप्रभाव के धारक मनुष्य होय हैं।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ३६ व अर्थ, पृष्ठ ६६)

-'जो दर्शन से पवित्र हैं वे उत्साह, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय, और वैभवसहित उत्तम कुलयुक्त, प्रचुर धनवान, और मनुष्यों में शिरोमणि होते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ २०४)

४. वे उत्कृष्ट जाति के देव होते हैं-

-'अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे।। ३७।।'

अर्थ- जिनेन्द्र के भक्त ऐसे सम्यग्दृष्टि जे हैं ते देवनिमें अप्सरानिकी सभाविषैं चिरकाल पर्यन्त रमैं हैं। कैसे भये संते रमै हैं? अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्वादि जो अष्टगुण तिनकी पुष्टता जो अन्य असख्यात देवनिमें नाही पाइये ऐसी अधिकता करि संतोषित भये तथा सर्व देवनितैं उत्कृष्ट ऐसी कांति तेज यश तिनकर युक्त ऐसे हुए स्वर्ग लोकमें तिष्ठै हैं।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ३७ व अर्थ, पृष्ठ)

- 'देवगति में प्रकीर्णकदेव, वाहन देव, किल्विष देव और तीनो नीच देवो (व्यन्तर-भवनवासी -ज्योतिषी) के अतिरिक्त महाऋद्धि- धारक देवो में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ २०४)

५. वे चक्रवर्ती होते हैं-

-'नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः।। ३८।।'

अर्थ- जिनके उज्जवल सम्यग्दर्शन है ते स्वर्गलोकमें आयु पूर्ण करकै यहाँ मनुष्यलोकमे आय अर नवनिधि चौदहरत्ननिका स्वामी समस्त भरतक्षेत्रके बत्तीस हजार देशनिका पति अर बत्तीस हजार मुकुटबन्ध राजानिकै मस्तक ऊपरी मुकुटरूप है चरण जिनका ऐसा चक्र कू प्रवर्तन करनेकू समर्थ चक्रवर्ती होय हैं।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ३८ व अर्थ, पृष्ठ ६७)

६. वे तीर्थङ्कर होते हैं-

-'अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः।। ३९।।'

अर्थ- जे पुरुष सम्यग्दर्शनकरि सम्यक् निर्णय किये हैं पदार्थ जिनने ते अमरपति, असुरपति, नरपति, अर संयमीनिका पति गणधर तिनकरि वन्दनीक हैं चरणकमल जिनका अर लोकनिके शरणमें उत्कृष्ट ऐसे धर्मचक्र के धारक तीर्थङ्कर उपजै हैं।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ३९ व अर्थ, पृष्ठ ६७)

प्रश्न ११- सम्यग्दर्शन से क्या लाभ है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन से आत्मगुणों की प्राप्ति और सांसारिक दोषों का अभाव हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध को प्राप्त नहीं होता और वह शीघ्र ही सादिअनन्त परमानन्द; अर्थात्, मोक्षपद को प्राप्त करता है।

-'संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं।
दुक्खक्खयं करंते जे सम्मत्तेणणुसरंति॥ ५५॥
लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति।
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा॥ ५६॥'

अर्थ- जे जीव सम्यग्दर्शन का अनुसरण करे हैं, ते संख्यात वा असंख्यात भव संसारपरिभ्रमण करिकै बहुरि दु:ख को क्षय करत हैं। बहुरि जे पुरुष अन्तर्मुहूर्तकालमात्र भी सम्यक्त्वनै प्राप्त होय बहुरि सम्यक्त्वतै पड़त हैं (गिर जाते हैं; पुन: मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं), तिनिकैहू अनन्तानन्त संसार बसने का काल नहीं होत है; अर्थात्, वे भी अल्पकाल में ही संसार का अभाव करतै हैं।

(श्रीभगवतीआराधना, गाथा ५५-५६ व अर्थ, पृष्ठ २४)

प्रश्न १२- क्या सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद मोक्ष जाना आवश्यक है?

उत्तर- हाँ! सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के अधिक से अधिक १५ भवों में, और पुन: मिथ्यादृष्टि हो जाने की दशा में अधिक से अधिक अर्ध पुद्‌गल-परावर्तन जितने काल में, जीव को मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है।

श्रीमद् राजचन्द्र जी लिखित 'सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा' में सम्यक्त्व प्रतिज्ञापूर्वक कहता है; 'मुझे ग्रहण करने से, ग्रहण करनेवाले की इच्छा न होनेपर भी मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पड़ता है; इसलिये मुझे ग्रहण करने के बाद यदि वह (सम्यक्त्व धारण करनेवाला) विचार करे कि मोक्ष जाने की इच्छा को बदल देंगे, तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण करने के बाद मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिए।

कदाचित् मुझे ग्रहण करनेवाला शिथिल हो जाये; तो भी यदि हो सका तो उसी भव में, अन्यथा अधिक से अधिक पन्द्रह भव में, मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिए।

कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे अथवा प्रबल से प्रबल मोह को धारण करे, तो भी **अर्ध पुद्‌गलपरावर्तन**[1] के अन्दर मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिए, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।

(श्रीमद् राजचंदजी, सम्यक्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ९-१०)

प्रश्न १३- सम्यग्दर्शन धर्म का मूल किस प्रकार है?

---

१. **अर्ध पुद्‌गलपरावर्तन-** कैसा है अर्धपुद्‌गल परिवर्तन काल? जामैं अनन्त अवसर्पिणी व्यतीत हो जाये हैं।

(श्रीभगवतीआराधना, गाथा ५४ का अर्थ, पृष्ठ २४)

पुद्‌गल परावर्तन- (१) द्रव्य परिवर्तन कौं पुद्‌गल परिवर्तन भी कहिए है।

(२) **'सर्वेऽपि पुद्‌गला:, खल्वेकेनात्तोज्झिताश्च जीवेन।**
ह्यसकृत्त्वनंतकृत्व:, पुद्‌गलपरिवर्तसंसारे॥

अर्थ- एकै जीव पुद्‌गल परिवर्तनरूप संसार विषै यथायोग्य सर्व पुद्‌गल बारम्बार अनन्तबार गृहि छांडै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा ५६० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ६५० व ६५२)

उत्तर- सम्यग्दर्शन से ही जीव को धर्म का प्रारम्भ होकर पूर्णता की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन के बिना सभी क्रियाएँ (शारीरिक क्रियाएँ व शुभभाव) दु:खदायक हैं। सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान मिथ्याज्ञान व चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है; इसलिये सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है।

-'तीनलोक तिहुँकाल माँहि नहिं दर्शन सो सुखकारी;
सकल धर्मको मूल यहीं, इस बिन करनी दुखकारी।। १६।।'

अन्वयार्थ- तीनलोक, तीनकाल में सम्यग्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कुछ नहीं है। यह सम्यग्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है। इस सम्यग्दर्शन के बिना समस्त क्रियाऍं दु:खदायक हैं।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १६ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८१-८२)

-'मोक्षमहलकी परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।'

अन्वयार्थ- यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है; सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सच्चाई प्राप्त नही करते; इसलिये हे भव्य जीवो! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १७ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८३)

-'एवं जिनपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स।। २१।।'

अर्थ- जिनेश्वर देव का कहा हुआ दर्शन (सम्यग्दर्शन) है सो गुणों में और दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन रत्नों में सार; अर्थात्, उत्तम है और मोक्षमन्दिर में चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी है।

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा २१ व अर्थ, पृष्ठ २५)

प्रश्न १४- सम्यग्दर्शन से आत्मगुणों की प्राप्ति और सासारिक दोषो का अभाव कैसे हो जाता है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद संसार परिभ्रमण का न्यूनतमकाल अन्तर्मुहूर्त और अधिकतम अर्द्ध पुद्गलपरावर्तनमात्र है। सम्यक्त्व की प्राप्ति से सम्यग्दृष्टि जीव के सासारिक दोषों का क्रमशः अभाव और आत्मगुणों की क्रमशः प्राप्ति; अर्थात्, शुद्धि का क्रम शुरु हो जाता है।

-'जाही समै जाकौं जब समकित होइ सोई,
तबहीसौं गुन गहै, दोस दहै इतके।। २४।।'

अर्थ- जिस समय जीव को सम्यक्त्व प्रगट होता है, तभी से आत्मगुण प्रगट होने लगते हैं और सांसारिक दोष नष्ट हो जाते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा २४ की अंतिम पंक्ति व अर्थ, पृष्ठ ३७४)

प्रश्न १५- सम्यग्दर्शन से जीव को बन्ध का अभाव कैसे हो जाता है?

उत्तर- सम्यग्दृष्टि जीव एकमात्र ज्ञानरूप परिणमित होने के कारण बन्ध को प्राप्त नहीं

होता है।

-'लोक: कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बंधं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्।। १६५।।'

श्लोकार्थ- इसलिये वह बहु कर्मों से भरा हुआ लोक है, सो भले रहो; वह मन-वचन-काय का चलनस्वरूप कर्म है, सो भी भले रहो; वे करण भी भले रहें; और वह चेतन-अचेतन का घात भी उसके भले हो; परन्तु अहो! यह सम्यग्दृष्टि आत्मा, रागादि को उपयोगभूमि में न लाता हुआ, केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ, किसी भी कारण से निश्चयत: बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

(श्रीसमयसार, कलश १६५ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ३६०)

-'इदमेवात्र तात्पर्यं हेय: शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बंध एव हि।। १२२।।'

श्लोकार्थ- यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से बन्ध ही होता है।

(श्रीसमयसार कलश १२२ एवं श्लोकार्थ, पृष्ठ २६९)

-'मन्ये मुक्त: स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनं।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम्।। ५७।।'

अर्थ- आचार्य महाराज कहते हैं कि जिसको निर्मल अतिचाररहित सम्यग्दर्शन है, वही पुण्यात्मा वा महाभाग्य मुक्त है; अर्थात्, बन्धरहित है- ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मुख्य अङ्ग कहा गया है। मोक्षमार्ग के प्रकरण में सम्यग्दर्शन ही मुख्य कहा गया है।

(श्रीज्ञानार्णव:, सर्ग ६, गाथा ५७ व अर्थ, पृष्ठ ९५)

-'आत्मा का निश्चय सो सम्यग्दर्शन, आत्मा का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान, और आत्मा में निश्चलस्थिति सो सम्यक्चारित्र- ऐसा रत्नत्रय वह मोक्षमार्ग है और वह आत्मा का स्वभाव ही है। उससे बन्धन नहीं होता। बन्धन तो राग से होता है। रत्नत्रय तो रागरहित है; उनसे कर्मबन्ध नहीं होता। वे तो मोक्ष के ही कारण हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत संख्या १८, पृष्ठ ११)

-'सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दृष्टि अन्तर के ज्ञानानन्दस्वभाव पर है; क्षणिक रागादि पर नहीं। उसकी दृष्टि में रागादि का अभाव होने से उसे (दृष्टि अपेक्षा से) संसार कहाँ रहा? रागरहित ज्ञानानन्द स्वभाव पर दृष्टि होने से वह मुक्त ही है; उसकी दृष्टि में मुक्ति ही है। मुक्तस्वभाव के ऊपर

की दृष्टि में बन्धन का अभाव है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत संख्या २०१, पृष्ठ १२३)

प्रश्न १६- सम्यग्दर्शन से जीव परमानन्द अर्थात् मोक्षपद को कैसे प्राप्त करता है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। सम्यग्दर्शन को मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक् नाम नहीं पाते और सम्यक्चारित्र अर्थात् सकल संयम के अभाव में मोक्षप्राप्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता; अत: यह जीव सम्यग्दर्शन से ही परमानन्द; अर्थात्, अजर-अमर, सादि अनन्त, परिपूर्ण सुखरूप मोक्षपद को प्राप्त करता है।

-'सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम्।। ५३।।'

अर्थ- यह सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त लोक का आभूषण है और मोक्ष होने पर्यन्त आत्मा को कल्याण देनेवालों में चतुर है।

(श्रीज्ञानार्णव:, सर्ग ६, गाथा ५३ व अर्थ, पृष्ठ ९५)

-'णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
चोण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो।। ३२।।'

भावार्थ- पहले जो सिद्ध हुए हैं वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और तप- इन चारो के संयोग से ही हुए हैं। यह जिनवचन है; इसमें सदेह नहीं है।

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा ३२ व भावार्थ, पृष्ठ ३१)

-'जे सिद्धा जे सिज्झहिहिँ जे सिज्झिहिँ जिण-उत्तु।
अप्पा-दंसणिँ ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु।। १०७।।'

अर्थ- जो सिद्ध हो चुके हैं, भविष्य मे होंगे, और वर्तमान में हो रहे हैं; वे सब निश्चय से आत्मदर्शन (सम्यग्दर्शन) से ही सिद्ध हुए हैं- यह भ्रान्तिरहित समझो।

(आचार्य योगीन्दु विरचित योगसार, दोहा १०७ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३८४)

-'निज में स्थित निज आत्म कर, कर मन विषयातीत।
पाता निजबल आत्म वह, परमानन्द पुनीत।। ३२।।'

(श्रीसमाधितन्त्र, दोहा ३२)

-'दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं।। ३९।।'

अर्थ- जो पुरुष दर्शन से शुद्ध है, वह ही शुद्ध है, क्योंकि जिसका दर्शन शुद्ध है, वही निर्वाण को पाता है और जो पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है, वह पुरुष ईप्सित लाभ; अर्थात्, मोक्ष को

प्राप्त नहीं कर सकता है।

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ३९ व अर्थ, पृष्ठ २५३)

– **'किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।**
सिज्झिहहि जे वि भविया तंजाणइ सम्ममाहप्पं।। ८८।।'

अर्थ- आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या साध्य है। जो नरप्रधान अतीतकाल में सिद्ध हुए हैं और आगामीकाल में सिद्ध होंगे, वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ८८ व अर्थ, पृष्ठ २८१)

– **'शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।**
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः।। ४०।।'

अर्थ- जिनके सम्यग्दर्शन ही शरण है ते पुरुष शिव जो निराकुलता लक्षण मोक्ष ताहिं अनुभवै हैं। कैसाक है शिव? जामें जरा नाहीं, अनन्तानन्तकालहूमें आत्मा जहां जीर्ण नाहीं होय है, अर अरुज कहिये जामें रोग पीड़ा नाहीं है, अर अक्षय कहिये जामें अनन्त चतुष्टय स्वरूप का नाश नाही है। अर जहा कोऊ प्रकार बाधा नाहीं है अर नष्ट हुआ है शोक भय शङ्का जातैं ऐसा शोकभयशङ्कारहित है। बहुरि परम हद्दकूं प्राप्त भया है सुखका अर ज्ञानका विभव जामें ऐसा है अर द्रव्यकर्म तो ज्ञानावरणादिक अर भावकर्म रागद्वेषादिक अर नोकर्म शरीरादिक इस प्रकार कर्ममल का अभावतैं विमल है- ऐसा अद्वितीय स्वरूप मोक्षकूं सम्यग्दृष्टि ही अनुभवै हैं।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, गाथा ४० व अर्थ, पृष्ठ ६८)

– 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होनेपर तो मोक्ष होता ही होता है; और उनके न होनेपर सर्वथा मोक्ष नहीं होता।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१४)

– 'आत्मानुभव (सम्यग्दर्शन) का ऐसा माहात्म्य है कि परिषह आनेपर भी न डिगे और दो घड़ी स्वरूप में लीन हो, तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करे।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ १०१)

– 'एकमात्र सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जीव अनन्तकाल में सब कुछ कर चुका है, लेकिन सम्यग्दर्शन कभी एक क्षणमात्र भी प्रगट नहीं किया। यदि एक क्षणमात्र भी सम्यग्दर्शन प्रगट करे, तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ १९०)

– 'यदि तुझे अपना परिभ्रमण मिटाना हो, तो अपने द्रव्य को तीक्ष्ण बुद्धि से पहचान ले। यदि द्रव्य तेरे हाथ में आ गया, तो तुझे मुक्ति की पर्याय सहज ही प्राप्त हो जायेगी।'

(पू० बहिनश्री के वचनामृत, बोल संख्या २३८, पृष्ठ ९५)

–'शुद्धता की प्रथम सीढ़ी शुद्धात्मा की प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बाद पुरुषार्थ के द्वारा क्रमशः स्थिरता को बढ़ाकर अन्त मे पूर्ण स्थिरता के द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट करके मुक्त हो जाता है और सिद्धदशा में अक्षय अनन्त आत्मसुख का अनुभव करता है। मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का ही यह फल है।'

(सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ २१८)

प्रश्न १७– यह सब जानकर जीव को क्या करना चाहिए?

उत्तर– जीव को अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेकर सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही सर्व दुःखों को हरने और पूर्ण अविनाशी सुख को प्राप्त करानेवाली परम औषधि है। सम्यग्दर्शन से ही मनुष्यभव का सार्थकपना है।

–'जो प्राणी कषाय के आताप से तप्त हैं, इन्द्रियविषयरूपी रोग से मूर्छित हैं, और इष्टवियोग तथा अनिष्टसंयोग से खेदखिन्न हैं– उन सबके लिये सम्यक्त्व परम हितकारी औषधि है।'

(सारसमुच्चय ३८, आधार–सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ २३९)

–'सम्यग्दर्शनसहित जीव का नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शनरहित जीव का स्वर्ग में रहना भी शोभा नहीं देता, क्योंकि आत्मभान बिना स्वर्ग में भी वह दुःखी है। जहाँ आत्मज्ञान है, वहीं सच्चा सुख है।'

(सारसमुच्चय ३९, आधार–सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ २४८)

–'अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम्।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम्।। ५९।।'

अर्थ– आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य जीवों! तुम सम्यग्दर्शन नामक अमृत का पान करो, क्योंकि यह सम्यग्दर्शन अतुल्य सुख का निधान (खजाना) है, समस्त कल्याणों का बीज अर्थात् कारण है, संसाररूपी समुद्र के तारने के लिए जहाज है, तथा इसको धारण करनेवाले एकमात्र पात्र भव्य जीव ही हैं। अभव्य जीव इसके पात्र कदापि नहीं हो सकते; और यह सम्यग्दर्शन पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये कुठार (कुल्हाड़े) के समान है तथा पवित्र तीर्थों में यही प्रधान है अर्थात् मुख्य है। और जीत लिया है अपने विपक्ष; अर्थात्, मिथ्यात्वरूपी शत्रु को जिसने, ऐसा यह सम्यग्दर्शन है; अतः भव्यजीवों को सबसे पहले इसे ही अङ्गीकार करना चाहिए।

(श्रीज्ञानार्णवः, सर्ग ६, गाथा ५९ व अर्थ, पृष्ठ ९६)

–' "दौल" समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।।'

भावार्थ– पण्डित दौलतरामजी स्वयं को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे विवेकी आत्मा! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को विचारकर, और ज्ञानी पुरूषों से सुनकर प्राप्त करने में सावधान हो। अपने

अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा। इसी जन्म में ही यदि सम्यक्त्व प्राप्त न किया, तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १७ का उत्तरार्द्ध व भावार्थ, पृष्ठ ८३-८४)

-**'यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;**
इह विध गये न मिले सुमणि ज्यौं उदधि समानी।।'

भावार्थ- जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता, उसी प्रकार मनुष्यशरीर, उत्तम श्रावककुल, और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग भी बीत जाने के बाद पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ६ का उत्तरार्द्ध व भावार्थ, पृष्ठ १०० व १०२)

-'सर्व धर्म का मूलकारण सम्यग्दर्शन, और उसका कारण तत्त्वनिर्णय, तथा उसका भी मूलकारण शास्त्राभ्यास है। वह अवश्य करना चाहिए।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ११)

-'तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो बालक, वृद्ध, रोगी, नीरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री, तथा कुक्षेत्री आदि सभी अवस्था में प्राप्त होने योग्य है; इसलिये जो पुरुष अपना हित चाहता है, उसे सबसे पहले यह तत्त्वनिर्णयरूप कार्य ही करना योग्य है।'

(सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ १०)

-'इसका (जीवका) तो कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१२)

-'इसलिये अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है। ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है; इसलिये श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। उसमें भव्यजीवों को प्रवृत्ति करना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१३)

-'आत्मार्थी को स्वाध्याय करना चाहिए; विचान-मनन करना चाहिए- यही आत्मार्थी की खुराक है।'

(पू० बहिनश्री के वचनामृत, संख्या २४, पृष्ठ १०)

-'भीतर आत्मदेव विराजमान है; उसकी सँभाल कर। अब अन्तर में जा और तृप्त हो। अनन्तगुण स्वरूप आत्मा को देख; उसकी सँभाल कर। वीतरागी आनन्द से भरपूर स्वभाव में क्रीड़ा कर, उस आनन्दरूप सरोवर में केलि कर, उसमें रमण कर।'

(पू० बहिनश्री के वचनामृत, संख्या २६, पृष्ठ १०)

प्रश्न १८- सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अधिकारी कौन जीव होता है?

उत्तर- तत्त्वविचारवाला जीव ही सम्यक्त्व प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

-'देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रो का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे- उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं, और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६०)

-'तत्त्वविचार के अभ्यास से जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। जिसे तत्त्व का विचार नहीं है; वह देव-शास्त्र-गुरु तथा धर्म की प्रतीति करता है, अनेक शास्त्रो का अभ्यास करता है, व्रत-तपादि करता है; तथापि सम्यक्त्व के सन्मुख नही है- सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं है। और तत्त्वविचारवाला उसके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। सम्यग्दर्शन के लिये मूल तो तत्त्वविचार का उद्यम ही है; इसलिये तत्त्वविचार की मुख्यता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत संख्या १५७, पृष्ठ ९८)

प्रश्न १९- जो अवसर मिलने पर भी आत्मकल्याण के मार्ग मे नहीं लगते, उनके लिये जिनागम में क्या कहा है?

उत्तर- मनुष्यभव, जैनकुल, और सच्चे गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव अपने आत्मकल्याण के मार्ग मे नही लगते, उन्हे आचार्यों ने धीठ और दुष्टचित्त कहा है।

-'साहीणे गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभयविहुणा।।'

अर्थ- स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्मवचनो को नही सुनते, वे धीठ हैं और उनका दुष्टचित्त है। अथवा, जिस संसारभय से तीर्थङ्करादि डरे, उस ससारभय से रहित हैं- वे बड़े सुभट हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पहला अधिकार, पृष्ठ २०)

भगवान मैं ही हूँ!

मैं ज्ञायक हूँ..........ज्ञायक हूँ..........ज्ञायक हूँ- इस प्रकार अन्तर में घोटते रहना, ज्ञायक के सन्मुख झुकना, ज्ञायक के सन्मुख एकाग्रता करना। अहाहा! पर्याय को ज्ञायकोन्मुख करना बहुत कठिन है; उसमें अत्यन्त पुरुषार्थ चाहिए। ज्ञायकतल में पर्याय पहुँची, अहाहा! उसकी क्या बात! ऐसा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु उसकी प्रतीति में, उसके विश्वास में- भरोसे में आना चाहिए कि अहो! एक समय की पर्याय के पीछे इतना महान भगवान वह मैं ही हूँ!!

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या ८९, पृष्ठ ६३)

प्रकरण - ६

कुल पृष्ठ संख्या १२८

सम्यग्ज्ञान : परिभाषा एवं भेद

प्रश्न १- सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को यथार्थ जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है।

-**'ससंयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।**
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु॥ ४२॥'

गाथार्थ- आत्मा और परपदार्थों के स्वरूप को संशय, विमोह, और **विभ्रमरहित**[1] जानना, वह सम्यक्ज्ञान है। वह **साकार**[2] और अनेक भेदोंवाला है।

टीका- संशय, विमोह, और विभ्रम से रहित सहज शुद्ध केवलज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मस्वरूप का ग्रहण-परिच्छेदन-परिच्छित्ति, और परद्रव्य का स्वरूप; अर्थात्, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म का स्वरूप, पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों का स्वरूप, तथा अन्य जीव का स्वरूप जानना, वह सम्यक्ज्ञान है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ २०५-२०६)

-**'सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,**
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान॥ १॥'

भावार्थ- सम्यग्दर्शनसहित सम्यग्ज्ञान को दृढ़ करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् दर्शाता है, उसी प्रकार जो अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपने को; अर्थात्, निज आत्मा को तथा परपदार्थों को ज्यों का त्यों बतलाता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १ व भावार्थ, पृष्ठ ९३)

-**'सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः'**

---

१. संशय, विमोह, विभ्रम नामक सम्यक्ज्ञान के दोषों के लिये 'प्रकरण-६:२ : संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय', पृष्ठ ६६५ पर देखें।

२. **साकार**- पदार्थों के स्वरूप को; अर्थात्, आकार को ज्ञान अलग-अलग जानता है। इस कारण उसे (ज्ञान को) साकार कहते हैं।

-'यह घर है, यह वस्त्र है, इत्यादि जानने के व्यापाररूप से साकार है; सविकल्प-व्यवसायात्मक-निश्चयात्मक ऐसा (साकार का) अर्थ है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०६)

अर्थ- जिस ज्ञान में स्व = अपना स्वरूप; अर्थ = विषय; व्यवसाय = यथार्थ निश्चय- ये तीन बातें पूरी हों, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं; अर्थात्, जिस ज्ञान में विषय प्रतिबोध के साथ-साथ स्वस्वरूप प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो, तो उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसार, पूर्वार्द्ध गाथा १८, पृष्ठ १४, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

-'जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणे त्ति णं बेंति।। २९९।।'

टीका- त्रिकाल-सम्बन्धी हुए, होंहै, होहिंगे अैसै जीवादि द्रव्य वा ज्ञानादि गुण वा स्थावरादि पर्याय नाना प्रकार हैं।...............तिनकौं प्रत्यक्ष वा परोक्ष जीव नामा पदार्थ, इस करि जानैं है, तातैं याकौं ज्ञान कहिए।..............बहुरि यहु सम्यग्ज्ञान है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २९९ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४३६)

-**'नौकागमन के संस्कार की भाँति**[1] मिथ्यादर्शन के उदय के कारण जो **स्वरूपविपर्ययपूर्वक**[2] **अध्यवसित**[3] होते हैं- ऐसे उन "भावों" का ही (नवपदार्थों का ही) मिथ्यादर्शन के उदय की निवृत्ति होनेपर, जो **सम्यक्अध्यवसाय**[4] होना, वह सम्यग्ज्ञान है जो कि कुछ अंश में ज्ञानचेतनाप्रधान आत्मतत्त्व की उपलब्धि; अर्थात्, अनुभूति का बीज है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०७ की टीका, पृष्ठ १६४-१६५)

-'तत्त्वार्थश्रद्धान के सद्भाव में अङ्गपूर्वगत पदार्थों का अवबोधन (जानना), सो ज्ञान है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १६० की टीका, पृष्ठ २३३)

-'जं जह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जो जि।
अप्पहं केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सो जि।। २९।।'

अन्वयार्थ- हे जीव! ये सब द्रव्य जिस तरह अनादिकाल के तिष्ठे हुए हैं, जैसा इनका

---

१. 'जिस प्रकार नाव में **बैठे** हुए किसी मनुष्य को **नाव की गति के संस्कारवश**, पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ आते हैं (अर्थात् स्वयं गतिमान होनेपर भी स्थिर और वृक्ष, पर्वत आदि स्थिर होनेपर भी गतिमान समझ में आते हैं), उसी प्रकार जीव को मिथ्यादर्शन के उदयवश नवपदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०७, पृष्ठ १६४ की पादटिप्पणी)

२. **स्वरूपविपर्यय-** 'जिसे जानता है उसके मूलवस्तुरूप स्वरूप को नहीं पहचानता, अन्यथा स्वरूप मानता है, यह स्वरूपविपर्यय है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८५-८६)

३. **अध्यवसित-** अर्थात्, विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं- भासित होते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०७ की टीका, पृष्ठ १६४)

४. **सम्यक्अध्यवसाय-** सत्यसमझ; यथार्थ अवभास; सच्चा अवबोध।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १०७ की टीका, पृष्ठ १६५)

स्वरूप है; उनको वैसा ही संशयादिरहित जो जानता है, वही आत्मा का निजस्वरूप सम्यग्ज्ञान है -ऐसा तू मान।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा २९ व अर्थ, पृष्ठ १४८)

-'व्यवहारनयकर विकल्पसहित अवस्था में तत्त्व के विचार के समय आप और पर का जानपना ज्ञान कहा है; और निश्चयनयकर वीतराग निर्विकल्प समाधिसमय पदार्थों का जानपना मुख्य नहीं लिया। केवल स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञान है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा २९ का भावार्थ, पृष्ठ १४९)

-'**जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण।**
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं॥ ४१॥'

अर्थ- जो योगी मुनि जीव-अजीव पदार्थ के भेद जिनवर के मत से जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है- ऐसा सर्वदर्शी सर्वज्ञदेव ने कहा है; अत: वह ही सत्यार्थ है। अन्य छद्मस्थ का कहा हुआ सत्यार्थ नहीं है; असत्यार्थ है। सर्वज्ञ का कहा हुआ ही सत्यार्थ है।

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ४१ व अर्थ, पृष्ठ २५४)

-'**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्।**'

(श्रीप्रमेयरत्नमाला, प्रश्न उत्तर, सूत्र १, आधार-छहढाला, चौथी ढाल, पृष्ठ ९३ की पादटिप्पणी)

-'**कर्त्तव्योऽध्यवसाय: सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।**
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥ ३५॥'

अन्वयार्थ- प्रशस्त अनेकान्तात्मक; अर्थात्, अनेक स्वभाववाले तत्त्वों अथवा पदार्थों में निर्णय करने योग्य है और वह सम्यग्ज्ञान संशय, विपर्यय, और विमोहरहित आत्मा का निजस्वरूप है। (पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है।)

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४१)

-'**अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।**
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन:॥ ४२॥'

अर्थ- आगम के जाननेवाले श्रीगणधरदेव तथा श्रुतकेवली हैं ते ताकूं ज्ञान कहै हैं जो वस्तु का स्वरूप कूँ परिपूर्ण जानै, न्यून नाहीं जानै, अर वस्तु का स्वरूप जैसा है तातैं अधिक नाहीं जानै, अर जैसा वस्तु का सत्यार्थस्वरूप है तैसा ही जानै अर विपरीतपनाकरिरहित जानै अर संशयरहित जानै ताहि भगवान ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) कहै हैं।

(श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रथम अधिकार, गाथा ४२ व अर्थ, पृष्ठ ७१)

-'शुद्धात्मा को उपाधिरहित, स्वसंवेदनलक्षण भेदज्ञान से मिथ्यात्वरागादि परभावों से

भिन्न जानना, वह सम्यग्ज्ञान है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५२ की टीका, पृष्ठ २४७)

प्रश्न २- सम्यग्ज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- सम्यग्ज्ञान के **दो भेद हैं**[१]- (१) परोक्ष, और (२) प्रत्यक्ष।

-**'तास भेद दो हैं, परोक्ष परतछि तिन मांही;'**

अन्वयार्थ- उस सम्यग्ज्ञान के परोक्ष और प्रत्यक्ष दो भेद हैं।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ३ की प्रथम पंक्ति व अर्थ, पृष्ठ ९६)

-'प्रमाण सम्यग्ज्ञान को कहते हैं। वह प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, सम्यग्ज्ञान अधिकार, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

-'बहुरि यहु सम्यग्ज्ञान है; सोई प्रत्यक्ष वा परोक्षरूप प्रमाण है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २९९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४३६)

-'प्रमाण के दो भेद हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ ४५)

-'तथा प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद हैं, सो प्रमाण सम्यक्ज्ञान है।'

(आचार्यकल्प पं० टोडरमल जी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४४)

[**विशेष- (१)** परोक्ष को परोक्षप्रमाण और प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षप्रमाण ज्ञान भी कहते हैं; **(२) श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्ग अधिकार, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०९-२१०** पर विकल्परूप व्यवहारज्ञान

---

१. शास्त्रों में इन्हीं दो भेदों **(परोक्ष व प्रत्यक्ष)** को पाँच भेदो मे विभाजित करके सम्यग्ज्ञान के पाँच भेदों का भी कथन है- (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन.पर्ययज्ञान, और (५) केवलज्ञान।

-**'मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम्।। ९।।'**

अर्थ- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, और केवलज्ञान- ये पाँच ज्ञान हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ९ व अर्थ, पृष्ठ ४४)

-**'पंचेव होंति णाणा, मदि-सुद-ओही-मणं च केवलयं।**
खयउवसमिया चउरो, केवलणाणं हवे खइयं।। ३००।।'

टीका- मति, श्रुति, अवधि, मन·पर्यय, केवल ए सम्यग्ज्ञान पञ्च ही हैं; हीन अधिक नाहीं। यद्यपि संग्रहनयरूप द्रव्यार्थिक नय करि सामान्यपनैं ज्ञान एक ही है। तथापि पर्यायार्थिक नय करि विशेष कीए पञ्च भेद ही हैं। तिनि विषैं मति, श्रुति, अवधि, मन:पर्यय ए च्यारि ज्ञान क्षायोपशमिक हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०० एवं टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४३७)

-'सम्यग्ज्ञान के भेद कहते हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान- इन भेदों से सम्यग्ज्ञान के पाँच प्रकार है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०७)

[**विशेष-** दोनों कथनों (दो भेद अथवा पाँच भेद) में कोई अन्तर नहीं है। उक्त पाँच भेद (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, और केवलज्ञान) प्रत्यक्ष और परोक्ष के ही भेद-प्रभेद हैं। इसका विस्तार आगे किया गया है।]

और निर्विकल्प स्वसवेदनरूप निश्चयज्ञान का उल्लेख है। उसका वर्णन इसी अध्याय में आगे किया गया है।]

प्रश्न ३- परोक्षज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जिनके उपयोग के समय इन्द्रिय या मन निमित्त होते हैं, पर-अपेक्षा के कारण उन्हें (उस ज्ञान को) परोक्ष कहा है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ ४६)

-'जो अपने विषय कौं अस्पष्ट-अविशद जानैं, ताकौं परोक्ष कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २९९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४३६)

-'एकोदेशपनैं भी विशदता, स्पष्टता इनिके जानने विषैं नाहीं। तातैं इनिकौ परोक्ष प्रमाण कहे;'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४९)

-'बहुरि उपात्त वा अनुपात्तरूप पर द्रव्य की सापेक्षा कौं लीए जो होइ, सो परोक्ष कहिये। याका लक्षण अविशद्-अस्पष्ट जानना। मन, नेत्र अनुपात्त है; अन्य चारि इंद्री उपात्त हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२१)

-'जो (ज्ञान अपने विषय को) स्पष्ट भली-भाँति न जाने सो परोक्ष। वहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के विषय तो बहुत हैं, परन्तु एक भी ज्ञेय को सम्पूर्ण नहीं जान सकता; इसलिये परोक्ष कहे।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

-'जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को अस्पष्ट जानता है, उसे परोक्षज्ञान कहते हैं।'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ३, पृष्ठ ९६ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ४- परोक्षज्ञान कौनसे हैं?

उत्तर- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष (परोक्षप्रमाण) ज्ञान हैं।

-**'आद्ये परोक्षम्'- अर्थ**- प्रारम्भ के दो; अर्थात्, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ११ व अर्थ, पृष्ठ ४६)

-'मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्षप्रमाण हैं'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४४)

-**'मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतैं उपजाहीं।'**

अन्वयार्थ- उनमें (सम्यग्ज्ञान के भेदों में) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान यह दोनों परोक्षज्ञान हैं,

क्योंकि वे इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ३, पंक्ति २ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९६)

प्रश्न ५- प्रत्यक्षज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रत्यक्ष; अर्थात्, प्रति + अक्ष। "अक्ष" का अर्थ आत्मा है। आत्मा के प्रति जिसका नियम हो; अर्थात्, जो परनिमित्त-इन्द्रिय, मन, आलोक (प्रकाश), उपदेश आदि से रहित, आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हो, जिसमें दूसरा कोई निमित्त न हो- ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १२ की टीका, पृष्ठ ५०)

-'जो ज्ञान अपने विषय कौं स्पष्ट विशद जानैं, ताकौं प्रत्यक्ष कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २९९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४३६)

-'पूर्वै आचार्यनि करि प्रत्यक्ष का लक्षण विशद वा स्पष्ट ही कह्या है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४९)

-'जो ज्ञान अपने विषय को निर्मलतारूप स्पष्टतया भली-भाँति जाने, सो प्रत्यक्ष।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

प्रश्न ६- प्रत्यक्षज्ञान कौनसे हैं?

उत्तर- अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान प्रत्यक्ष (प्रत्यक्षप्रमाण) ज्ञान हैं।

-**'प्रत्यक्षमन्यत्॥ १२॥'**

अर्थ- शेष तीन; अर्थात्, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १२ व अर्थ, पृष्ठ ५०)

-'अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हैं।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४४)

प्रश्न ७- कौनसे ज्ञान **प्रमाण**[१] हैं?

---

१. **प्रमाण**- सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

-**'णाणं होदि पमाणं'** **(श्रीतिलोयपण्णत्ति, अधिकार अध्याय १, गाथा ८३)**✪

-**'सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्।'**- **अर्थ**- सम्यक् अनेकान्त प्रमाण है। **(श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ६)**✪

-'सम्यग्दर्शन सहित जो सम्यग्ज्ञान है, वह प्रमाण है।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर पू० गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ ७८)

-'प्रमाण सम्यग्ज्ञान को कहते हैं।' **(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)**

-'प्रमाण सम्यग्ज्ञान है'- **(आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४४)**

-'सच्चेज्ञान-निर्दोषज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अनन्त गुणों या धर्म का समुदायरूप अपना तथा परवस्तु का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को (सर्व पहलुओं को) ग्रहण करता है, जानता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ २४)

[✪आधार- परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ २३ व ३१]

उत्तर- पाँचों ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान) ही प्रमाण सम्यग्ज्ञान हैं।

-'**तत्प्रमाणे॥ १०॥**'

अर्थ- उपर्युक्त पाँचों प्रकार के (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल) ज्ञान ही प्रमाण हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १० व अर्थ, पृष्ठ ४५)

-'ये पाँचों ज्ञान ही प्रमाण हैं; अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं है। इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों और पदार्थों के सम्बन्ध (सन्निकर्ष)- ये कोई प्रमाण नहीं हैं; अर्थात्, न तो इन्द्रियों से ज्ञान होता है और न इन्द्रियों और पदार्थों के सम्बन्ध से ज्ञान होता है, किन्तु उपर्युक्त मति आदि (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान) स्व से होते हैं; इसलिये (ये) ज्ञान प्रमाण हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ ४५)

प्रश्न ८- इन्द्रियो के द्वारा ज्ञान होता है; अतः इन्द्रियाँ भी प्रमाण हुई?

उत्तर- इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं और ज्ञान तो चेतन की पर्याय है; वह जड़ नहीं है; इसलिये आत्मा के द्वारा ही ज्ञान होता है।

(श्रीजयधवला, पुस्तक भाग १, पृष्ठ ५४-५५, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ ४५)

प्रश्न ९- परोक्ष प्रमाणज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- परोक्ष प्रमाणज्ञान के पाँच भेद हैं- (१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान, और (५) आगम।

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

-'ये स्मृति आदि पाँचों प्रकार परोक्षज्ञान के हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ८१)

[**विशेष**- उक्त पाँच भेदों में प्रथम चार; अर्थात्, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, और अनुमान तो मतिज्ञान के विषय **अनिसृत**[1] के भेद हैं और पाँचवाँ आगम श्रुतज्ञान का प्रकार है।

-'**पण्डित गोपालदासजी बरैया कृत जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, प्रश्न संख्या ८८, पृष्ठ १८ और श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २६९, पृष्ठ ७३** मे मतिज्ञान (परोक्षमतिज्ञान) के केवल चार भेदों का उल्लेख है।'

-'पूज्य गुरुदेवश्री ने भी आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर प्रवचन करते हुए पहले चार भेदों को मतिज्ञान और पाँचवें "आगम" को श्रुतज्ञान का प्रकार बताया है।'

-अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ८१।

---

१. **अनिसृत**- एक भाग के ज्ञान से सर्वभाग का ज्ञान होना; जैसे, पानी से बाहर निकली हुई सूंड को देखकर पानी में डूबे हुए हाथी का ज्ञान होना; अर्थात्, एक भाग के अव्यक्त रहने पर भी ज्ञानगोचर होना।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १६ की टीका, पृष्ठ ५७)

– 'श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १३, पृष्ठ ५० पर मतिज्ञान के नामान्तरों (अन्य नामों) का कथन है– 'मति:स्मृति:संज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्॥१३॥' –अर्थ– मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं है; अर्थात्, वे मतिज्ञान के नामान्तर हैं।

(इसमें– मति अर्थात् मतिज्ञान; सज्ञा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान; चिन्ता अर्थात् तर्क और अभिनिबोध अर्थात् अनुमान जानना चाहिए। –श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १३ की टीका, पृष्ठ ५१)

– 'या प्रकार अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ए च्यारों परोक्ष प्रमाण अनिसृत है विषय जाका, अैसा मतिज्ञान के भेद जानने। पाँचवाँ आगम नामा परोक्ष प्रमाण श्रुतज्ञान का भेद जानना।' –श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४९]

प्रश्न १०– परोक्ष प्रमाणज्ञान के पाँचो भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर–(१) स्मृति– 'वहाँ जो पूर्व काल में जो वस्तु जानी थी, उसे याद करके जानना– उसे स्मृति कहते हैं।' तथा,

– 'अथवा आगम–अनुमानादिक द्वारा जो वस्तु जानने मे आयी, उसी को याद रखकर उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिये स्मृति कही जाती है।'

(आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृ०३४५ व ३४६)

– 'भूतकाल में जाने, देखे, सुने, या अनुभव किये हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण हो; वह स्मृति है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला,' प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २६९, पृष्ठ ७३)

– 'स्मृति; अर्थात्, पूर्व में देखी हुई वस्तु को स्मरणपूर्वक वर्तमान में जानना; जैसे, "सीमन्धर भगवान ऐसे थे, उनकी वाणी ऐसी थी"– इत्यादि पूर्व मे देखी हुई वस्तु को वर्तमान में याद करके जाने– ऐसी मतिज्ञान की ताकत है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ८०)

– 'पूर्व में जिस पदार्थ को जाना था, उसे ही याद करके कालान्तर में जान लेने को स्मृति कहते है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१–३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

– 'बहुरि किसी स्त्री का मुख देखा, सो मुख का ग्रहण समय विषै चन्द्रमा का स्मरण भया; आगैं चन्द्रमा देख्या था, स्त्री के मुख की अर चन्द्रमा की सदृशता है, सो स्त्री का मुख देखितैं ही चन्द्रमा यादि आया, सो चन्द्रमा, तिस काल विषै प्रकट न था, ताकां ज्ञान भया, सो यहु स्मृति प्रमाण है।................अैसैं ही वन विषैं गवय नामा तिर्यञ्च को देख्या; तहां अैसा यादि आया कि गऊ के सदृश गवय हो है; तातैं यहु स्मृति प्रमाण है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४८–४४९)

(२) प्रत्यभिज्ञान- दृष्टान्त द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाये, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

-'वर्तमान में किसी पदार्थ को देखने से- "यह वही पदार्थ है जिसे पहले मैंने देखा था"- इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २६९, पृष्ठ ७३)

-'प्रत्यभिज्ञान; अर्थात्, पूर्व मे देखी हुई वस्तु के साथ वर्तमान वस्तु का मिलान करना; जैसे, पूर्व मे जिन सीमन्धर भगवान को देखा था, उनके जैसी ही इस प्रतिमा की मुद्रा है। अथवा पूर्व में भगवान के पास मैंने जिस आत्मा को देखा था, वह यही आत्मा है- ऐसा मतिज्ञान जान सकता है। देहादिक सभी संयोग बहुत बदल गये होनेपर भी मतिज्ञान की निर्मलता की कोई ऐसी ताकत है कि "पूर्व में देखा हुआ आत्मा यही है"- ऐसा वह निःशङ्क जान लेता है। जगत को ज्ञानी के ज्ञान की पहचान होना कठिन है, परन्तु ऐसी ताकतवाले जीव अभी भी यहाँ विद्यमान हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ८०)

-'जैसे पहले किसी पुरुष को देखा था; फिर बाद में याद किया कि यह तो वही पुरुष है जिसे मैंने पहले देखा था। जो पहले की बात याद करके प्रत्यक्ष पदार्थ का निश्चय करने में आये, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

-'चन्द्रमा समान स्त्री का मुख है; सो स्त्री का मुख देखतैं चन्द्रमा का ज्ञान भया। तातैं याकौं प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी कहिये।...........अथवा गऊ समान गवय हो है। सो गऊ का ज्ञान गवय कौं देखते ही भया; तातै याकौं प्रत्यभिज्ञान भी कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४८-४४९)

-'दृष्टान्त द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाये, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

(३) तर्क- 'कोई चिह्न देखकर "यहाँ इस चिह्नवाला अवश्य होना चाहिए"- ऐसा विचार वह तर्क है। इस ज्ञान को उह अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २६९, पृष्ठ ७३)

-'हेतु के विचार युक्त ज्ञान उसे तर्क कहते हैं।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

-'तर्क अथवा ज्ञान में साधन-साध्य का सम्बन्ध जान लेना; जैसे, जहाँ धूम (धुआँ) हो, वहाँ अग्नि होती है; जहाँ अग्नि न हो, वहाँ धूम नहीं होता। जहाँ समवशरण हो, वहाँ तीर्थङ्कर भगवान होते हैं; जहाँ तीर्थङ्कर भगवान न हों, वहाँ समवशरण नहीं होता। अथवा जिस जीव को वस्त्रग्रहण है, उसे छठा गुणस्थान नहीं होता; जिसे छठा गुणस्थान हो, उसे वस्त्रग्रहण नहीं होता- इस प्रकार हेतु

के विचार से ज्ञान करना, वह तर्क है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ८१)

-'व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते है। "इसके बिना यह नहीं"- इसे व्याप्ति कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि के बिना धुआँ नही होता; आत्मा के बिना चेतना नहीं होती। इस व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

-'जैसैं रसोई विषैं अग्नि होते संतै धूवा हो है, अर द्रह विषैं अग्नि नाहीं; तातैं धूवां भी नाहीं। तातैं सर्व देश काल विषैं अग्नि अर धूवां कैं अन्यथा अनुपपत्ति भाव है। अन्यथा कहिए अग्नि न होई तौ अनुपपत्ति कहिए धूवा भी न होइ; सो अैसा अन्यथा अनुपपत्ति का ज्ञान, सो तर्क नामा प्रमाण भी मतिज्ञान है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४९)

(४) अनुमान- 'सन्मुख चिह्नादि देखकर उस चिह्नवाले पदार्थ का निर्णय करना, उसे अनुमान (अभिनिबोध) कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न सख्या २६९, पृष्ठ ७३)

-'हेतु से साध्य वस्तु का जो ज्ञान उसे अनुमान कहते हैं।' तथा,

-'अथवा "मैं आत्मा ही हूँ, क्योकि मुझमे ज्ञान है; जहॉ-जहॉ ज्ञान है वहाँ-वहाँ आत्मा है, जैसे सिद्धादिक हैं; तथा जहाँ आत्मा नही है, वहाँ ज्ञान भी नहीं है, जैसे मृतक कलेवरादिक है"। इस प्रकार अनुमान द्वारा वस्तु का निश्चय करके उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिये अनुमान परोक्ष प्रमाण कहा जाता है।'

(पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५ व ३४६)

-'अनुमान अर्थात् हेतु से जो जाना; इसके अनुसार साध्यवस्तु का ज्ञान करना; अर्थात्, साध्य-साधन का तर्क लगाकर साध्यवस्तु को पहचान लेना, इसको अनुमान कहते हैं; जैसे, यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम दिखता है। यहाँ तीर्थङ्कर भगवान विराज रहे हैं, क्योंकि समवशरण दिखता है। इस जीव का छठा गुणस्थान या मुनिदशा नहीं है, क्योंकि इसके वस्त्र (परिग्रह) ग्रहण है। इस प्रकार मतिज्ञान से अनुमान हो जाता है। यह अनुमान कुछ संशयवाला नहीं होता, परन्तु स्पष्ट ज्ञानरूप होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ८१)

-'लक्षण के द्वारा पदार्थ का निश्चय किया जाये, उसे अनुमान कहते हैं; जैसे, किसी पर्वत में से धुऑ निकलता देखकर निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

– 'पुष्कर कहिए जल तैं बाहिर प्रगट दीसती अैसी जल विषैं डूब्या हूवा हस्ती (हाथी) की सूंडि, ताकौं जानने तैं अैसी प्रतीति हो है कि इस जल विषैं हस्ती मगन है; जातैं हस्ती बिना सूंडि न हो है। जिस बिना जो न होई, ताकौ तिसका साधन कहिए; जैसैं अग्नि बिना धूम नाहीं, तातैं अग्नि साध्य है, धूम साधन है। सो साधन तैं साध्य का जानना, सो अनुमान प्रमाण है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४९)

(५) आगम– 'आगम अनुसार जो ज्ञान हो, उसे आगमज्ञान कहते हैं। यह श्रुतज्ञान का प्रकार है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ८१)

– 'आगम से जो ज्ञान हो, उसे आगम कहते हैं।' तथा,

– 'जैनागम मं जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, उसे वैसा जानकर उसमें परिणामों को मग्न करता है; इसलिये आगम परोक्ष प्रमाण कहते हैं।'

(पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५ व ३४६)

– 'आप्त के वचन के निमित्त से पदार्थ के जानने को आगम कहते हैं; जैसे, शास्त्र से लोक का स्वरूप जानना।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३९)

– 'पाँचवाँ आगम नामा परोक्ष प्रमाण श्रुतज्ञान का भेद जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४९)

प्रश्न ११– श्रीतत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, और अनुमान को मतिज्ञान का नामान्तर क्यों बताया है?

उत्तर– यद्यपि इन सबमें अर्थभेद है, तथापि प्रसिद्ध रूढ़ि के बल से वे मति (मतिज्ञान) के नामान्तर कहलाते हैं। उन सबके प्रगट होने में मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम निमित्तमात्र है। यह लक्ष्य में रखकर उसे (स्मृति आदि को) मतिज्ञान के नामान्तर कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १३ की टीका, पृष्ठ ५१)

प्रश्न १२– यह सूत्र[१] (श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १३) क्या सिद्ध करता है?

उत्तर– यह सूत्र सिद्ध करता है कि जिसने आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं किया हो, वह आत्मा का स्मरण नहीं कर सकता, क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत पदार्थ की ही होती है; इसलिये अज्ञानी को प्रभुस्मरण (आत्मस्मरण) नहीं होता, किन्तु 'राग मेरा है'– ऐसी पकड़ का स्मरण होता

---

१. – 'मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्॥ १३॥'

अर्थ– मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं हैं; अर्थात्, वे मतिज्ञान के नामान्तर हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १३ व अर्थ, पृष्ठ ५०)

है, क्योंकि उसे (अज्ञानी को) उसका अनुभव है। इस प्रकार अज्ञानी जीव धर्म के नाम पर चाहे जो कार्य करे; तथापि उसका ज्ञान मिथ्या होने से उसे धर्म का स्मरण नही होता, किन्तु राग की पकड़ का स्मरण होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १३ की टीका, पृष्ठ ५१)

प्रश्न १३- प्रत्यक्ष प्रमाणज्ञान के कितने भेद है?

उत्तर- प्रत्यक्ष प्रमाणज्ञान के दो भेद है- (१) पारमार्थिक प्रत्यक्ष, और (२) साव्यवहारिक प्रत्यक्ष।

(१) पारमार्थिक प्रत्यक्ष- जो ज्ञान केवल आत्मा के ही अधीन होकर अपने विषयप्रमाण विशदता से स्पष्ट जाने, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

-'वहाँ अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान तो स्पष्ट प्रतिभासरूप है ही; इसलिये पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

(२) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष- जो नेत्रादि इन्द्रियो द्वारा वर्णादिक को साक्षात् ग्रहण करे अर्थात् जाने, उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

-'तथा नेत्रादिक से वर्णादिक को जानते है। वहाँ व्यवहार से ऐसा कहते है- "इसने वर्णादिक प्रत्यक्ष जाने"। एकदेश निर्मलता भी पायी जाती है; इसलिये इनको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। परन्तु यदि एक वस्तु में अनेक मिश्र वर्ण है; वे नेत्र द्वारा भलीभाँति नहीं ग्रहण किये जाते हैं; इसलिये इसको परमार्थ-प्रत्यक्ष नही कहा जाता है।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

-'जो इन्द्रिय और मन के निमित्त के सम्बन्ध से पदार्थ को एकदेश (भाग) स्पष्ट जाने, उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न २६८, पृष्ठ ७३)

-'यद्यपि मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है, तथापि व्यवहार में "मैंने यह वस्तु साक्षात् देखी, मैंने इस मनुष्य को साक्षात् देखा"- इत्यादि प्रकार कहने मे आता है; अतः इस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ८०)

-'इनके (अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, और आगम) बिना जो पाँच इन्द्रियनि करि बहु, बहुविध आदि जानिए है, ते साव्यवहारिक प्रत्यक्ष जानने; तातैं इनिके जानने में एकोदेश

विशदता, निर्मलता, स्पष्टता पाइए है। व्यवहार विषैं भी असैं कहिए है जो मैं नेत्रनि स्यौं प्रत्यक्ष देख्या।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४९)

[**विशेष**- परमार्थ से यह जानना परोक्ष ही है; कारण कि स्पष्ट जानपना नहीं है। उसका उदाहरण; जैसे, आँख से किसी वस्तु को सफेद जाना। उसमे मलिनता का भी मिश्रण है। अमुक अंश श्वेत है और अमुक मलिन है- ऐसा इसे स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होता; अत: यह व्यवहारमात्र प्रत्यक्ष है, परन्तु आचार्य इसे परोक्ष ही कहते हैं। मति-श्रुतज्ञान से जो भी जानना होता है, वह सभी परोक्ष है। **-श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८**]

प्रश्न १४- पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद हैं- (१) सकलप्रत्यक्ष, और (२) देशप्रत्यक्ष (विकल, एकदेश प्रत्यक्ष)।

(१) सकलप्रत्यक्ष- 'केवलज्ञान सर्व ज्ञेय को आप स्पष्ट जानता है; इसलिये सर्वप्रत्यक्ष है।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

-'सकल द्रव्यके गुन अनंत, परजाय अनंता;

जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।'

अन्वयार्थ- जिस ज्ञान से केवलज्ञानी भगवान छहों द्रव्यो के अपरिमित गुणों को और अनन्त पर्यायों को एकसाथ स्पष्ट जानते हैं, उस ज्ञान को सकलप्रत्यक्ष अथवा केवलज्ञान कहते हैं।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९८)

-'केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

-'केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १२ की टीका, पृष्ठ ५०)

(२) देशप्रत्यक्ष- 'अवधि-मन:पर्ययज्ञान के विषय थोड़े हैं, तथापि अपने विषय को स्पष्ट भलीभाँति जानता है; इसलिये एकदेश प्रत्यक्ष है।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४५)

-'अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छा;

द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जानै जिय स्वच्छा।'

अन्वयार्थ- अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान- यह दोनों ज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं, क्योंकि इन ज्ञानों से जीव, द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा लेकर स्पष्ट जानता है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ३ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९६)

सारणी २१ (क) : सम्यग्ज्ञान के भेद

सम्यग्ज्ञान (प्रमाणज्ञान)

- परोक्ष
  - मतिज्ञान
    - स्मृति
    - प्रत्यभिज्ञान
    - तर्क
    - अनुमान
  - श्रुतज्ञान
    - आगम
- प्रत्यक्ष
  - पारमार्थिक प्रत्यक्ष
    - सकलप्रत्यक्ष
      - केवलज्ञान
    - एकदेशप्रत्यक्ष
      - अवधिज्ञान
      - मन:पर्ययज्ञान
  - सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

अथवा

सारणी २१ (ख) : सम्यग्ज्ञान के भेद

सम्यग्ज्ञान

- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान — परोक्ष
- अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान — एकदेशप्रत्यक्ष
- केवलज्ञान — सकलप्रत्यक्ष
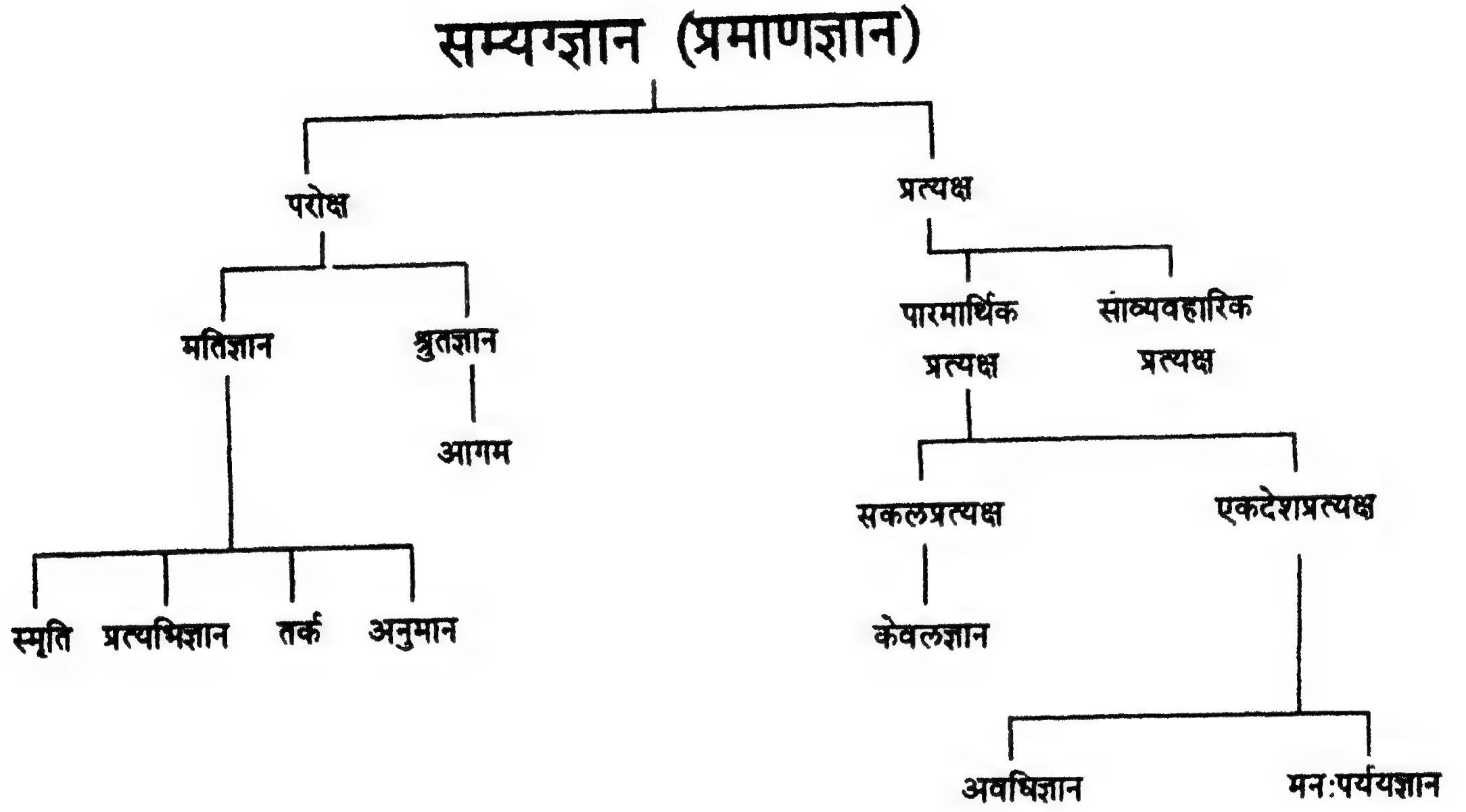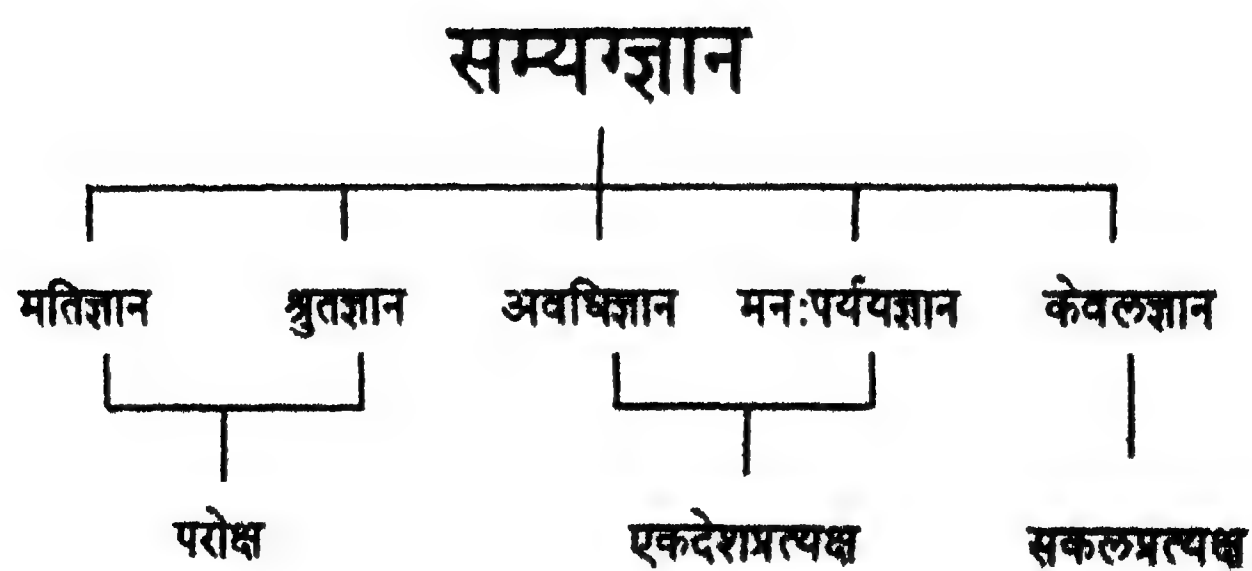
-'अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १२ की टीका, पृष्ठ ५०)

-'अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान तो एकदेश प्रत्यक्ष हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

-'जो ज्ञान रूपीवस्तु को द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है, उसे देशप्रत्यक्ष कहते हैं।'

(श्रीछहढाला, चौथी ढाल, पृष्ठ ९६ की पादटिप्पणी)

प्रश्न १५- विकल्परूप व्यवहारज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- छह द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल); पाँच अस्तिकाय (जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशद्रव्यास्तिकाय); सात तत्त्व (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष); और नौ पदार्थों (सात तत्त्व एवं पुण्य, पाप) के ज्ञान को विकल्परूप व्यवहारज्ञान कहते हैं।

(आधार-श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०९)

प्रश्न १६- विकल्परूप व्यवहारज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- विकल्परूप व्यवहारज्ञान के दो भेद हैं- (१) हेय, और (२) उपादेय।

-'संक्षेप में हेय-उपादेय के भेद से व्यवहारज्ञान दो प्रकार का है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०९)

प्रश्न १७- विकल्परूप व्यवहारज्ञान मे कौनसा ज्ञान उपादेय और कौनसा हेय है?

उत्तर- छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, और नौ पदार्थों से अपना शुद्धात्मद्रव्य, स्वशुद्धजीवास्तिकाय, निज शुद्धात्मतत्त्व और निजशुद्धात्म पदार्थ उपादेय है और शेष हेय हैं।

-**'षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु निश्चयनयेन स्वकीय शुद्धात्मद्रव्यं, स्वशुद्धजीवास्तिकायो निजशुद्धात्मतत्त्वं निजशुद्धात्मपदार्थ उपादेय:। शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेय भेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति।'**

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की संस्कृत टीका, पृष्ठ २०९)

प्रश्न १८- निश्चयज्ञान किसे कहते है?

उत्तर- तीन शल्य (**मायाशल्य**[1], **मिथ्याशल्य**[2] और **निदानशल्य**[3]), विभावपरिणाम आदि

---

१. **मायाशल्य**- 'राग से पर स्त्री आदि की वाञ्छारूप और द्वेष से दूसरे को मारने, बाँधने, छेदने आदि की वाञ्छारूप मेरा दुर्ध्यान है, उसे कोई भी नहीं जानता है- इस प्रकार विचारकर स्वशुद्धात्मभावना से उत्पन्न सदानन्द (नित्यआनन्द) जिसका एक लक्षण है, ऐसे सुखामृतरसरूप निर्मल जल से (अपने) चित्त की शुद्धि न करता हुआ यह जीव बाह्य में बगुले- जैसा वेष धारण करके लोगों का रञ्जन करता है, वह मायाशल्य कहलाती है।'

२. **मिथ्याशल्य**- '"निज निरञ्जन निर्दोष परमात्मा ही उपादेय है", ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व से विलक्षण मिथ्याशल्य कहलाती है।'

............क्रमशः

सारणी २२ (ग) : सम्यग्ज्ञान के भेद

सम्यग्ज्ञान

- व्यवहारज्ञान (विकल्परूप)
  - (आश्रय की अपेक्षा)
    - उपादेय
      - (१) अपना शुद्धात्मद्रव्य;
      - (२) स्व शुद्धजीवास्तिकाय;
      - (३) निज शुद्धात्मतत्त्व; और
      - (४) निज शुद्धात्मपदार्थ
    - हेय
      - (१) छह द्रव्य;
      - (२) पाँच अस्तिकाय;
      - (३) सात तत्त्व; और
      - (४) नौ पदार्थों में उपादेय (निज शुद्धात्मद्रव्य) के अतिरिक्त शेष सभी
- निश्चयज्ञान (सम्यक् निर्विकल्परूप स्वसंवेदन ज्ञान)
  - रहित[1]
    - तीन शल्य
      - मायाशल्य
      - मिथ्याशल्य
      - निदानशल्य
    - विभावपरिणाम
      - संकल्प
      - विकल्प
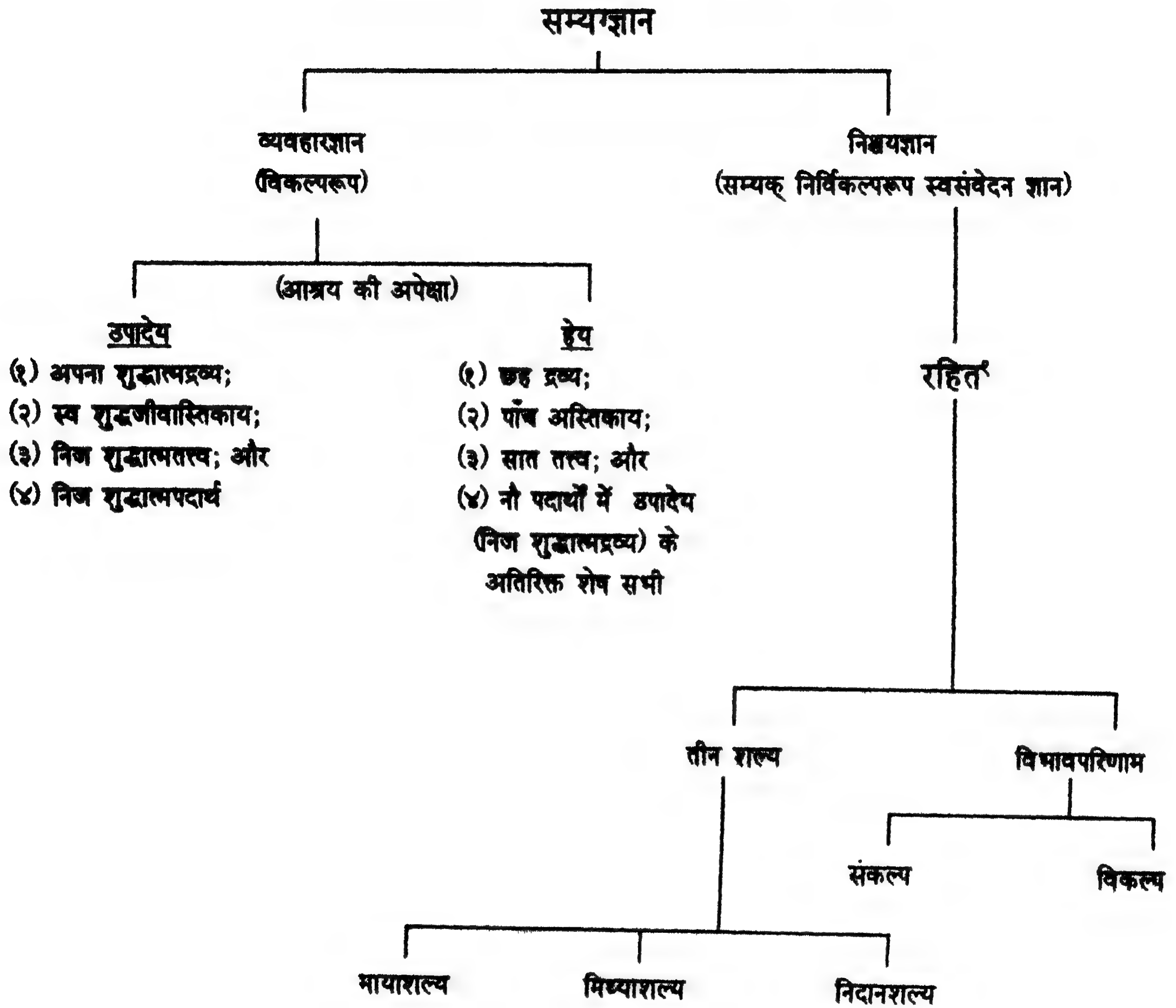
१. रहित-सम्यक् निर्विकल्प स्वसवेदन निश्चयज्ञान तीन शल्य और विभावपरिणाम आदि समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्परहित होता है।

आधार-श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०९-२१०

समस्त शुभाशुभ **सङ्कल्प**[1]-**विकल्प**[2] रहित, परम स्वास्थ्य के संवेदन से उत्पन्न हुआ तात्त्विक परमानन्द; जिसका एक लक्षण है, ऐसे सुखामृत से तृप्त अपने आत्मा द्वारा अपना सम्यक् निर्विकल्परूप से वेदन-परिज्ञान-अनुभवन- ऐसा जो निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान, वही निश्चयज्ञान कहलाता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २१०)

प्रश्न १९- ज्ञान सविकल्प है अथवा निर्विकल्प?

उत्तर- 'जैनसिद्धान्त में ज्ञान को कथञ्चित् सविकल्प और कथञ्चित् निर्विकल्प माना जाता है। वह इस प्रकार है- जिस प्रकार विषयानन्दरूप जो संवेदन है, वह राग संवेदन के विकल्परूप होने से सविकल्प है, तो भी शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होनेपर भी उनका मुख्यपना नहीं है; इस कारण निर्विकल्प भी कहलाता है। उसी प्रकार स्वशुद्धात्मा के संवेदनरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान भी स्वसंवेदन के एक आकाररूप विकल्पमय होने से सविकल्प है, तो भी बाह्यविषयों के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होनेपर भी उनका मुख्यपना न होने से निर्विकल्प भी कहलाता है। यहाँ अपूर्व स्वसंवेदन के आकाररूप अन्तर्मुख प्रतिभास होनेपर भी बाह्यविषयों के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी हैं; इसी कारण ज्ञान स्वपरप्रकाशक भी सिद्ध होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २१०-२११)

प्रश्न २०- सम्यग्ज्ञान का विषय कौनसा अनुयोग है?

उत्तर- सम्यग्ज्ञान चारों ही अनुयोगों- (१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, और (४) द्रव्यानुयोग- को सम्यक् प्रकार जानता है।

(आधार-श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ४३ से ४६ व अर्थ, पृष्ठ ७१ से ७३)

प्रश्न २१- ज्ञान का क्या कार्य है?

उत्तर- जाने हुए पदार्थ का (सम्यक्) श्रद्धान करना ज्ञान का कार्य है।

(श्रीधवला पुस्तक ५, पृष्ठ २२४, आधार-धवलासार, पृष्ठ ६९)

---

३. **निदानशल्य**- 'निर्विकार परमचैतन्य की भावना से उत्पन्न परमाह्लाद जिसका एकरूप है, ऐसे सुखामृतरस का स्वाद न लेते हुए यह जीव देखे हुए, सुने हुए, और अनुभव किये गये भोगों में जो निरन्तर चित्त को रोकता है- उसे निदानशल्य कहते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०९-२१०)

[सर्व प्रकार की शुद्धि निज निरञ्जन निर्दोष परमात्मा के ही आश्रय से होती है; अन्य प्रकार से नहीं। ऐसा ज्ञान कराने के लिये उसी को उपादेय कहा जाता है। **-श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ २०९ की पादटिप्पणी**]

१. **सङ्कल्प**- द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना, सो सङ्कल्प है।

२. **विकल्प**- ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना, सो विकल्प है।

(श्रीसमयसार, कलश १० के श्लोकार्थ से, पृष्ठ ३५)

मतिज्ञान

प्रश्न १- मतिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा (अपनी शक्ति के अनुसार) जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

-'अहिमुह-णियमिय-बोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं।'

टीका- स्थूल, वर्तमान जिस क्षेत्र विषैं इन्द्रिय-मन की प्रवृत्ति होइ, तहां तिष्ठता अैसा जो इन्द्रिय-मन के ग्रहण योग्य पदार्थ, सो अभिमुख कहिए। बहुरि इस इन्द्रिय का यहु ही विषय है, अैसा नियमरूप जो पदार्थ, सो नियमित कहिए, अैसैं पदार्थ का जो जानना, सो अभिनिबोध कहिए। ....अैसा **अभिनिबोध**[1], सोई अभिनिबोधक है। सो यह अभिनिबोधक मतिज्ञान का नाम जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०६ की पहली पंक्ति व टीका, स० च०, पृष्ठ ४४२)

-**'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।। १४।।'** -**अर्थ**- इन्द्रियाँ और मन मतिज्ञान के निमित्त हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १४ व अर्थ, पृष्ठ ५२)

-'मन अथवा इन्द्रियो से वर्तमानकालवर्ती पदार्थ को अवग्रहादिरूप साक्षात् जानना सो मति है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १३ की टीका, पृष्ठ ५१)

-'वहाँ प्रथम तो मतिज्ञान है; वह शरीर के अङ्गभूत जो जीभ, नासिका, नयन, कान, स्पर्शन-ये द्रव्यइन्द्रियाँ और हृदयस्थान में आठ पँखुरियों के फूले कमल के आकार का द्रव्यमन-इनकी सहायता से ही जानता है।' तथा,

-'यह मतिज्ञान पराधीनतासहित इन्द्रिय-मन द्वार से प्रवर्तता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३३ व ३४)

---

१. **अभिनिबोध**- **'अभि'** कहिए अभिमुख, अर **'नि'** कहिए नियमित जो अर्थ, ताका **'निबोध'** कहिए जानना।

(श्रीगोम्मटसार, गाथा ३०६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४२)

-'**प्रथम**' तो आत्मा वास्तव में निश्चयनय से सकलविमल, अखण्ड एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय केवलज्ञानरूप है। वह व्यवहार से अनादिकर्मबन्ध से आच्छादित होता हुआ, मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा बहिरङ्ग पञ्चेन्द्रिय और मन के अवलम्बन से मूर्त और अमूर्त वस्तुओं को, एकदेश, विकल्पाकार से, परोक्षरूप से, अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूप से जो जानता है; वह क्षायोपशमिक मतिज्ञान है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १८)

प्रश्न २- मतिज्ञान के एकार्थवाची नाम और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर- संज्ञा, स्मृति, मति, और चिन्ता मतिज्ञान के एकार्थवाची नाम हैं। जिसके द्वारा भले प्रकार जानते है, वह संज्ञा है। स्मरण करना स्मृति है। मनन करना मति है। चिन्तन करना चिन्ता है।

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४४, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १६०)

प्रश्न ३- मतिज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- चार भेद हैं- (१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय, और (४) धारणा। इन्हें (इन भेदों को) मतिज्ञान के क्रम के भेद भी कहा जाता है।

-'**अवग्रहेहावायधारणाः।। १५।।**' -**अर्थ**- अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा ये चार भेद हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १५ व अर्थ, पृष्ठ ५५)

-'**एक्कचउक्कं चउवीसट्ठावीसं च तिप्पडिं किच्चा।**
इगिछव्वारसगुणिदे, मदिणाणे होंति ठाणाणि।। ३१४।।'

टीका- मतिज्ञान सामान्य अपेक्षा करि तो एक है, अर अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, की अपेक्षा-च्यारि है।..................तीन सै छत्तीस (३३६) सर्व विषय भेदनि की अपेक्षा मतिज्ञान के भेद भयें।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१४ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४९-४५०)

-'**अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं।।**'

टीका- मतिज्ञान उपजने के कारण इन्द्रिय अरु मन हैं। कारण के भेद तैं कार्य विषैं भी भेद कहिए, तातैं मतिज्ञान छह प्रकार है। तहां एक-एक के च्यारि-च्यारि भेद हैं- अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। सो मन तैं वा स्पर्शन तैं वा रसना तैं वा घ्राण तैं वा चक्षु तैं वा श्रोत्र तैं ए अवग्रहादि

---

१. यहाँ '**प्रथम**' जो कहा है, वह काल-अपेक्षा से नहीं है; परन्तु भाव-अपेक्षा से है। निश्चयनय का विषय सदा आश्रय करने योग्य होने से वह भाव-अपेक्षा से 'तावत्' (प्रथम) है; मुख्य है; उपादेय है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४, पृष्ठ १५ की पादटिप्पणी)

च्यारि-च्यारि उत्पन्न होंई, तातैं चौबीस भेद भएं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०६, दूसरी पंक्ति व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४२)

[**विशेष- (१) श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका** में पाँच इन्द्रिय और छठे मन; प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा- ये चार भेद; इस प्रकार ६x४ = २४ भेदों का तथा गाथा ३१० व गाथा ३१४ में विशेष विस्तार कर ३३६ भेदों का वर्णन है। विस्तार जानने के जिज्ञासुओं को गाथा ३०६ से गाथा ३१४, पृष्ठ ४४१ से ४५०तक का अध्ययन करना चाहिए। इन ३३६ भेदों का संक्षिप्त विवरण इसी प्रकरण के प्रश्न सख्या २४, पृष्ठ ६१४ पर दिया गया है।

(२) **श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १३ की टीका, पृष्ठ ५१** पर टीकाकार ने स्वसवेदन बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा इत्यादि भी मतिज्ञान के भेद बताये हैं।]

प्रश्न ४- अवग्रह किसे कहते हैं?

उत्तर- इन्द्रिय और पदार्थ के योग्य स्थान मे रहने से सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन के पश्चात् अवान्तरसत्तासहित विशेष वस्तु के ज्ञान को अवग्रह कहते हैं; जैसे, यह मनुष्य है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २७०, पृष्ठ ७३)

-'अवग्रह (PERCEPTION)- चेतना में जो थोड़ा विशेषाकार भासित होने लगता है, उस ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयी (विषय करनेवाले) के योग्य स्थान में आ जाने के बाद होनेवाला आद्यग्रहण अवग्रह है। स्व और पर दोनों का (जिस समय जो विषय हो उसका) पहले अवग्रह होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १५ की टीका, पृष्ठ ५५-५६)

-'जिसके द्वारा घटादि पदार्थ **"अवगृह्यते"** अर्थात् जाने जाते हैं, वह अवग्रह है।'

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४२, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १५८)

-'विषय जो शब्दादिक पदार्थ अर विषयी जो कर्णादिक इन्द्रियाँ, इनिका जो संयोग कहिये योग्य क्षेत्र विषैं तिष्ठनेरूप सम्बन्ध, ताकौं होतैं सतैं ताके अनन्तर ही वस्तु का सत्तामात्र निर्विकल्प ग्रहण जो यहु है, इतना प्रकाशरूप, सो दर्शन नियमकरि हो है। ताके अनन्तर पीछै ही देख्या जो पदार्थ ताके वर्ण संस्थानादि विशेष ग्रहणरूप अवग्रह नामा ज्ञान हो है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४४-४४५)

प्रश्न ५- अवग्रह मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर- अवधान, सान, अवलम्बना, और मेधा- ये अवग्रह के पर्यायवाची नाम हैं। जिसके द्वारा **'अवधीयते खण्ड्यते'**; अर्थात्, अन्य पदार्थों से अलग करके विवक्षित अर्थ जाना जाता है, वह अवग्रह का अन्य नाम अवधान है। जो अनध्यवसाय को **'स्यति छिनत्ति हन्ति विनाशयति'**; अर्थात्, छेदता है, नष्ट करता है, वह अवग्रह का तीसरा नाम सान है। जो अपनी उत्पत्ति के लिये इन्द्रियादिक

का अवलम्बन लेता है, वह अवग्रह का चौथा नाम अवलम्बना है। जिसके द्वारा पदार्थ **'मेध्यति'**; अर्थात्, जाना जाता है, वह अवग्रह का पाँचवाँ नाम मेधा है।

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४२, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १५८-१५९)

प्रश्न ६- अवग्रह के कितने भेद हैं?

उत्तर- अवग्रह के दो भेद हैं- (१) व्यञ्जनावग्रह, और (२) अर्थावग्रह।

(१) व्यञ्जनावग्रह- अव्यक्त-अप्रगट पदार्थ के अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं; उदाहरण, पुस्तक का शरीर की चमड़ी से स्पर्श हुआ। तब (उस वस्तु का ज्ञान प्रारम्भ होनेपर भी) कुछ समय तक वह ज्ञान अपने को प्रगटरूप नहीं होता; इसलिये जीव को उस पुस्तक का ज्ञान अव्यक्त-अप्रगट होनेसे यह ज्ञान व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है।

(२) अर्थावग्रह- व्यक्त-प्रगट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं अथवा व्यञ्जनावग्रह के बाद प्रगटरूप होनेवाले ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं; उदाहरण, पुस्तक का शरीर की चमड़ी से स्पर्श हुआ। तब पुस्तक पर दृष्टि पड़ने पर पहले जो ज्ञान प्रगटरूप हुआ, वह अर्थावग्रह कहा जाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ६५)

प्रश्न ७- व्यञ्जनावग्रहज्ञान में कौनसी इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं?

उत्तर- व्यञ्जनावग्रह केवल स्पर्शन, कर्ण, घ्राण, और श्रोत्र इन्द्रियों के द्वारा (के निमित्त से) होता है; चक्षु और मन से नहीं होता।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ६५)

-**'न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्॥ ९॥'** -**अर्थ**- व्यञ्जनावग्रह नेत्र और मन से नहीं होता।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १९ व अर्थ, पृष्ठ ६९)

- 'सो व्यंजनावग्रह के च्यारि इन्द्रियनि करि च्यारि भेद भए'।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४६)

प्रश्न ८- अर्थावग्रहज्ञान में कौनसी इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं?

उत्तर- चक्षु और मन के द्वारा अर्थावग्रह होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र,अध्याय १,सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ६५)

प्रश्न ९- ईहा किसे कहते हैं?

उत्तर- अवग्रहज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय में उत्पन्न हुए संशय को दूर करनेवाले ऐसे अभिलाषस्वरूप ज्ञान को ईहा कहते हैं; जैसे, वे ठाकुरदास जी हैं।

[यह ज्ञान इतना निर्बल है कि किसी भी पदार्थ की ईहा होकर छूट जाये, तो कालान्तर में

तत्सम्बन्धी संशय और विस्मरण हो जाता है।]

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २७०, पृष्ठ ७४)

-'ईहा (CONCEPTION)- अवग्रह के द्वारा जाने गये पदार्थ को विशेषरूप से जानने की चेष्टा (आकाँक्षा) को ईहा कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १५ की टीका, पृष्ठ ५६)

-'अवग्रह से ग्रहण किये गये अर्थ को विशेष जानने की आकाँक्षा "ईहा" है; जैसे, किसी पुरुष को देखकर "यह भव्य है या अभव्य?"- इस प्रकार की विशेष परीक्षा करना, सो ईहाज्ञान है। ईहाज्ञान सन्देहरूप नही होता, क्योंकि ईहात्मक विचारबुद्धि से सन्देह का विनाश हो जाता है। सन्देह से ऊपर और अवाय से नीचे तथा मध्य में प्रवृत्त होनेवाली विचारबुद्धि का नाम ईहा है।'

(श्रीधवला, पुस्तक ६, पृष्ठ १७, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ ४७)

-'जो यहु श्वेत वस्तु है, बहुरि श्वेत तौ बुगलनि की पंक्ति भी हो है, ध्वजारूप भी हो है; परि बुगलेनि की पंक्तिरूप विषय कौं अवलम्बि यहु बुगलेनि की पंक्ति ही होसी वा ध्वजारूप विषय कौं अबलम्बि यहु ध्वजा होसी अैसा विशेष वांछारूप जो ज्ञान, ताकौं ईहा कहिए।.......... जो वस्तु है, ताका यथार्थरूप अैसा ज्ञान करना कि यहु अमुक ही वस्तु होसी; अैसैं होसीरूप जो प्रतीति, ताका नाम ईहा है। अवग्रह तैं ईहा विषै विशेष ग्रहण भया; तातैं याके वाके विषैं मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम का तारतम्य करि भेद जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४५)

-'जिस बुद्धि के द्वारा उत्पन्न हुए संशय का नाश करने के लिये **"ईहते"** अर्थात् चेष्टा करते हैं, वह ईहा है।'

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४२-२४३, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १५९)

प्रश्न १०- ईहा के पर्यायवाची नाम और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर- ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा, और मीमांसा-ये ईहा के पर्यायवाची नाम हैं।...... जिसके अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ के नहीं जाने गये विशेष की **'उह्यते'**; अर्थात्, तर्कणा करते हैं, वह ऊहा है। जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प का **'अपोह्यते'**; अर्थात्, निराकरण किया जाता है, वह अपोहा है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये अर्थ के विशेष का जिसके द्वारा **'मार्गेण'**; अर्थात्, अन्वेषण किया जाता है, वह मार्गणा है। जिसके द्वारा गवेषणा की जाती है, वह गवेषणा है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किया गया अर्थ विशेषरूप से जिसके द्वारा मीमांसित किया जाता है; अर्थात्, विचारा जाता है, वह मीमांसा है।

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २३२-२४३, आधार-धवलासार, पृष्ठ १५९)

प्रश्न ११- क्या ईहाज्ञान संशयरूप है?

उत्तर- नहीं। ईहाज्ञान संशय अथवा विपर्ययरूप नहीं है, क्योंकि संशय आदि तो मिथ्याज्ञान हैं और ईहा सम्यग्ज्ञान के भेद मतिज्ञान का भेद है।

-'बहुरि बुगलनि की यहु पंक्ति ही होसी कि ध्वजा होसी अैसा संशयरूप ज्ञान का नाम ईहा नाहीं है। वा बगुलनि की पंक्ति विषैं यहु ध्वजा होसी अैसा विपर्यय ज्ञान का नाम ईहा नाहीं है; जातैं इहां सम्यग्ज्ञान का अधिकार है। सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। अर संशय, विपर्यय है, सो मिथ्याज्ञान है। तातैं संशय विपर्यय का नाम ईहा नाहीं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४५)

प्रश्न १२- क्या ईहाज्ञान सत्यज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है?

उत्तर- "अर्थावग्रह" के बाद ईहा होता है। अर्थावग्रह में किसी पदार्थ की जितनी विशेषता भासित हो चुकी है; उससे अधिक जानने की इच्छा हो, तो वह ज्ञान सत्य की ओर अधिक झुकता है, इसे ईहाज्ञान कहा जाता है। वह (ईहाज्ञान) सुदृढ़ नहीं होता। ईहा में प्राप्त हुए सत्य विषय का यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं होता, तथापि ज्ञान का अधिकांश वहाँ होता है। वह (ज्ञान के अधिकांश) विषय के सत्यार्थग्रही होते हैं; इसलिये ईहा को सत्यज्ञानों में गिना गया है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ६६)

प्रश्न १३- ईहाज्ञान सत्य क्यों माना जाता है?

उत्तर- जिस ज्ञान में दो विषय ऐसे आ जायें जिनमें एक सत्य हो और दूसरा मिथ्या; तो (ऐसे समय) जिस अंश पर ज्ञान करने का अधिक ध्यान हो तद्नुसार उस ज्ञान को सत्य या मिथ्या मान लेना चाहिए; जैसे, एक चन्द्रमा को देखने पर यदि दो चन्द्रमा का ज्ञान हो और वहाँ देखनेवाले का लक्ष्य केवल चन्द्रमा को समझ लेने की ओर हो (संख्या निश्चित करने की ओर लक्ष्य न हों), तो उस ज्ञान को सत्य मानना चाहिए और यदि देखनेवाले का लक्ष्य एक या दो ऐसी संख्या निश्चित् करने की ओर हो, तो उस ज्ञान को असत्य (मिथ्या) मानना चाहिए।

इस नियम के अनुसार ईहा में ज्ञान का अधिकांश विषय का सत्यांशग्राही ही होता है। इसलिये ईहाज्ञान को सत्यज्ञान में माना गया है।

(श्रीतत्त्वार्थसार, सूत्र २१, २२, २३ की पादटिप्पणी, पृष्ठ १९-२०, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ६७)

प्रश्न १४- अवाय किसे कहते हैं?

उत्तर- ईहा से जाने हुए पदार्थ में 'यह वही है, दूसरा नहीं'- ऐसे दृढ़ ज्ञान को अवाय कहते हैं; जैसे, वे ठाकुरदास जी ही हैं; दूसरा कोई नहीं।

[अवाय से जाने हुए पदार्थ में संशय तो नहीं होता किन्तु विस्मरण हो जाता है।]

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २७०, पृष्ठ ७४)

– 'अवाय (JUDGEMENT); विशेष चिह्न देखने से उसका निश्चय हो जाये, सो अवाय है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १५ की टीका, पृष्ठ ५६)

– 'ईहाज्ञान से जाने गये पदार्थ विषयक सन्देह का दूर हो जाना, सो अवाय (निर्णय) है। पहले ईहाज्ञान से "यह भव्य है या अभव्य"?– इस प्रकार सन्देहरूप बुद्धि के द्वारा विषय किया गया जीव "अभव्य नहीं, भव्य ही हैं, क्योंकि उसमें भव्यत्व के अविनाभावी सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण प्रगट हुए हैं"– इस प्रकार उत्पन्न हुये "चय" (निश्चय) ज्ञान का नाम "अवाय" है।'

(श्रीधवला, पुस्तक ६, पृष्ठ १७, आधार–श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ ४७)

– 'ईहा के करने करि ताके पीछैं जिस वस्तु की ईहा भई थी, ताका भले प्रकार निर्णय रूप ज्ञान, ताकौं अवाय कहिए। जैसे पांखनि की हलावना आदि चिह्न करि यहु निश्चय कीया जो बुगलनि की पंक्ति ही है, निश्चयकरि और किछू नाहीं; अैसा निर्णय का नाम अवाय है। तु शब्द करि पूर्वैं जो ईहा विषैं वांछित वस्तु था, ताही का भले प्रकार निर्णय, सो अवाय है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४६)

– 'जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ **"अवेयते"** अर्थात् निश्चित किया जाता है, वह अवाय है।'

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४३, आधार–श्रीधवलासार, पृष्ठ १५९)

– 'अवाय का अर्थ निश्चय अथवा निर्णय होता है। ईहा के बादकाल तक ईहा के विषय पर लक्ष्य रहे, तो ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है; उसे अवाय कहते हैं। ज्ञान के अवग्रह, ईहा, और अवाय –इन तीनों भेदों में अवाय उत्कृष्ट अर्थात् सर्वाधिक विशेषज्ञान है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ६७)

प्रश्न १५– अवायज्ञान के पर्यायवाची नाम और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर– व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा, और प्रत्यामुण्डा– ये अवाय के पर्यायवाची नाम हैं।............जिसके द्वारा अन्वेषित अर्थ **'व्यवसीयते'**; अर्थात्, निश्चित किया जाता है, वह व्यवसाय है। जिसके द्वारा ऊहित अर्थ **'बुद्ध्यते'**; अर्थात्, जाना जाता है, वह बुद्धि है। जिसके द्वारा तर्कसङ्गत अर्थ विशेषरूप से जाना जाता है, वह विज्ञप्ति है। जिसके द्वारा वितर्कित अर्थ **'आमुंड्यते'**; अर्थात्, सङ्कोचित किया जाता है, वह आमुण्डा है। जिसके द्वारा मीमासित अर्थ अलग–अलग **'अमुंड्यते'**; अर्थात्, सङ्कोचित किया जाता है, वह प्रत्यामुण्डा है।

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४३, आधार–श्रीधवलासार, पृष्ठ १५९)

प्रश्न १६- विषय (वस्तु) का गलत निर्णय भी क्या अवाय कहा जा सकता है?

उत्तर- नहीं, वस्तु का भली प्रकार ठीक निर्णय ही अवाय है। सन्देहसहित अथवा विपरीत निर्णय का नाम अवाय नहीं है।

-'बहुरि जो वस्तु किछू और है; अर और ही वस्तु का निश्चय करि लीया है, तो वाका नाम अवाय नाहीं, वह मिथ्याज्ञान है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४६)

प्रश्न १७- धारणा किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस ज्ञान से जाने हुए पदार्थ का कालान्तर में संशय तथा विस्मरण न हो, उस ज्ञान को धारणा कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २७०, पृष्ठ ७४)

-'धारणा (RETENTION)- अवाय से निर्णीत पदार्थ को कालान्तर में न भूलना, सो धारणा है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १५ की टीका, पृष्ठ ५६)

-'बहुरि तहां पीछैं बार-बार निश्चयरूप अभ्यास तैं उपज्या जो संस्कार, तींहि स्वरूप होइ, केते इक काल कौं व्यतीत भएं भी यादि आवने कौं कारणभूत जो ज्ञान सो धारणा नाम चौथा ज्ञान का भेद हो है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४६)

-'जिसके द्वारा निर्णीत अर्थ धारण किया जाता है, वह धारणा है।'

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४३, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १५९)

प्रश्न १८- धारणाज्ञान के पर्यायवाची नाम और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर- धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा- ये पर्यायवाची नाम हैं। धरणी के समान बुद्धि का नाम धरणी है। जिस प्रकार धरणी (पृथ्वी) गिरि, नदी, सागर, वृक्ष, झाड़ी, और पत्थर आदि को धारण करती है; उसी प्रकार जो बुद्धि निर्णीत अर्थ को धारण करती है, वह धरणी है। जिसके द्वारा निर्णीत अर्थ को धारण किया जाता है, वह धारणा है। जिसके द्वारा निर्णीतरूप से अर्थ स्थापित किया जाता है, वह स्थापना है। कोष्ठा के समान बुद्धि का नाम कोष्ठा है। कोष्ठा कुस्थली को कहते हैं। उसके समान जो निर्णीत अर्थ को धारण करती है, वह बुद्धि कोष्ठा कही जाती है। जिसमें विनाश के बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं वह बुद्धि प्रतिष्ठा है।

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४३, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १५९-१६०)

प्रश्न १९- धारणाज्ञान की क्या विशेषता है?

उत्तर- 'धारणा अवाय के बाद होती है, किन्तु इसमें (धारणा में) कुछ अधिक दृढ़ता उत्पन्न

होने के अतिरिक्त अन्य विशेषता नहीं है। धारणा की सुदृढ़ता के कारण एक ऐसा संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके कारण पूर्व के अनुभव का स्मरण हो सकता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ६७)

प्रश्न २०- अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा का स्वरूप जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- जीव को अनादिकाल से अपने स्वरूप की भ्रमणा है; इसलिये प्रथम आत्मज्ञानी पुरुष से आत्मा का स्वरूप सुनकर युक्ति द्वारा 'आत्मा ज्ञानस्वभावी है'- ऐसा निर्णय करना चाहिए। फिर परपदार्थों की प्रसिद्धि के कारणरूप जो इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तित बुद्धि, उसे मर्यादा में लाकर; अर्थात्, परपदार्थों की ओर से लक्ष्य हटाकर, आत्मा जब स्वयं स्वसन्मुख लक्ष्य करता है; तब प्रथम सामान्य स्थूलरूप से जो आत्मा-सम्बन्धी ज्ञान हुआ, वह **'अवग्रह'** है। पश्चात् विचार करके निर्णय की ओर ढला ज्ञान वह **'ईहा'** है। 'आत्मा का स्वरूप ऐसा ही है, अन्यथा नहीं'— ऐसा स्पष्ट निर्णय वह **'अवाय'**, और निर्णय किये हुए आत्मा के बोध को दृढ़तारूप से धारण रखना, सो **'धारणा'** है।

यहाँ तक तो परोक्ष ऐसे मतिज्ञान में धारणा तक का अन्तिम भेद हुआ। फिर यह आत्मा अनन्त ज्ञानानन्द, शान्तिस्वरूप है- ऐसा मति से आगे बढ़ता हुआ तार्किकज्ञान, वह 'श्रुतज्ञान' है। भीतर स्वलक्ष्य में मन-इन्द्रियाँ नहीं हैं। जीव उनसे अंशत: पृथक् हो, तब स्वतन्त्र तत्त्व का ज्ञान करके उसमे स्थिर हो सकता है; अर्थात्, सम्यग्ज्ञानी हो सकता है। यही अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा का स्वरूप जानने का लाभ है।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १५ की टीका, पृष्ठ ५६)

प्रश्न २१- मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थों के कितने भेद हैं?

उत्तर- मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थों के दो भेद हैं- (क) व्यक्त अर्थात् अर्थरूप, और (ख) अव्यक्त अर्थात् व्यञ्जनरूप। इनके (व्यक्त और अव्यक्त के) १२ भेद हैं- (१) बहु, (२) बहुविध, (३) क्षिप्र, (४) अनिसृत, (५) अनुक्त, (६) ध्रुव, (७) एक, (८) एकविध, (९) अक्षिप्र, (१०) निसृत, (११) उक्त, और (१२) अध्रुव।

-'बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां।। १६।।'

अर्थ- बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त, ध्रुव; और इनके उल्टे भेदों से युक्त; अर्थात्, एक, एकविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त, और अध्रुव- इस प्रकार बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह, इहादिरूप ज्ञान होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १६ व अर्थ, पृष्ठ ५७)

-'बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च।'

टीका- अर्थरूप वा व्यञ्जनरूप जो मतिज्ञान का विषय ताके बारह भेद हैं- बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, ए छह। बहुरि इतर जे छहौं इनके प्रतिपक्षी एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त, अध्रुव ए छह; ऐसैं बारह भेद जानने।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१० की प्रथम पंक्ति व टीका, स० च०, पृष्ठ ४४६)

प्रश्न २२- इन बारह भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर-१. बहु- अर्थात् बहुत। एक ही साथ बहुत से पदार्थों का अथवा बहुत से समूहों का अवग्रहादि होना; जैसे, लोगों के झुण्ड अथवा गेहूँ के ढेर का (बहुत से पदार्थों का) ज्ञानगोचर होना।

२. **एक**-अल्प अथवा एक पदार्थ का ज्ञान होना; जैसे, एक मनुष्य अथवा पानी के प्याले का (थोड़े पदार्थों का) ज्ञानगोचर होना।

३. **बहुविध-** अर्थात् बहुत प्रकार। कई प्रकार के पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान होना; जैसे, कुत्ते के साथ मनुष्य अथवा गेहूँ, चना, चावल आदि अनेक प्रकार के पदार्थों का युगपत् ज्ञानगोचर होना।

४. **एकविध-** एक प्रकार के पदार्थ का ज्ञान होना; जैसे, गेहूँ का (एक प्रकार के पदार्थ का) ज्ञानगोचर होना।

५. **क्षिप्र-** अर्थात् जल्दी। शीघ्रता से पदार्थ का ज्ञान होना।

६. **अक्षिप्र-** अर्थात् चिरग्रहण। किसी पदार्थ को धीरे-धीरे बहुत समय में जानना।

७. **अनि:सृत-** एक भाग के ज्ञान से सर्व भाग का ज्ञान होना; अर्थात्, एक भाग के अव्यक्त रहनेपर भी ज्ञानगोचर होना; जैसे, पानी के बाहर निकली हुई सूँड को देखकर पानी में डूबे हुए पूरे हाथी का ज्ञान होना।

८. **नि:सृत-** बाहर निकले हुए प्रगट पदार्थ का ज्ञान होना; अर्थात्, पूर्ण व्यक्त पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

९. **अनुक्त-** अर्थात् अकथित। जिस वस्तु का वर्णन नहीं किया उसे जानना; अर्थात्, जिसका वर्णन नहीं सुना है फिर भी उस पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

१०. **उक्त-** अर्थात् कथित। वर्णन सुनने के बाद पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

११. **ध्रुव-** बहुत समय तक ज्ञान जैसा का तैसा बना रहना, अर्थात् दृढ़तावाला ज्ञान।

१२. **अध्रुव-** प्रतिक्षण हीनाधिक होनेवाला ज्ञान, अर्थात् अस्थिरज्ञान।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १६ की टीका, पृष्ठ ५७-५८)

-'बहुवत्तिजादिगहणे, बहुबहुविहमियरमियरगहणम्हि।
सगणामादो सिद्धा, खिप्पादी सेदरा य तहा।। ३११।।'

टीका- जहाँ बहुत व्यक्ति का ग्रहणरूप मतिज्ञान होइ, ताके विषय कौं 'बहु' कहिए। बहुरि जहां बहुजाति का ग्रहणरूप मतिज्ञान होइ, ताके विषय कौं 'बहुविध' कहिए। बहुरि अैसैं ही इतर का ग्रहण विषैं जहां एक व्यक्ति का ग्रहणरूप मतिज्ञान होइ, ताकै विषय कौं 'एक' कहिए। बहुरि जहां एकजाति का ग्रहणरूप मतिज्ञान होइ, ताके विषय कौं 'एकविध' कहिए।

इहां उदाहरण दिखाइए हैं- जैसैं, खांडी गऊ, सांवली गऊ, मूंडी गऊ इत्यादिक अनेक गऊनि की व्यक्ति कौं 'बहु' कहिए। बहुरि गऊ, भैंस, घोड़े इत्यादि अनेक जाति कौं 'बहुविध' कहिए। बहुरि एक खांडी, गऊ अैसी गऊ की एक व्यक्ति कौं 'एक' कहिए। बहुरि खांडी, मूंडी, सांवली गऊ है; अैसी एक जाति कौं 'एकविध' कहिए। एक जाति विषैं अनेक व्यक्ति पाइए हैं। अैसैं बारह भेदनि विषैं च्यारि तौ कहे।

बहुरि अवशेष क्षिप्रादिक च्यारि अर इनिके प्रतिपक्षी च्यारि, ते अपने नाम ही तैं प्रसिद्ध हैं। सोही कहिए हैं- 'क्षिप्र' शीघ्र कौं कहिए; जैसैं, शीघ्र पड़ती जलधारा वा जलप्रवाह। बहुरि 'अनिसृत', गूढ़ कौं कहिए; जैसे, जल विषैं मगन हूवा हाथी। बहुरि 'अनुक्त' बिना कहे कौं कहिए; जैसैं, बिना ही कहे किछू अभिप्राय ही तैं जानने में आवै। बहुरि 'ध्रुव' अचल कौं वा बहुत काल स्थायी कौं कहिए; जैसैं, पर्वतादिक। बहुरि 'अक्षिप्र' ढीले कौं कहिए; जैसैं, मंद चालता घोटकादिक। बहुरि 'निसृत' प्रगट कौं कहिए; जैसैं, जल तैं निकस्या हूवा हाथी। बहुरि 'उक्त' कहे कौं कहिए; जैसैं, काहूनैं कह्या यहु घट है। बहुरि 'अध्रुव' चञ्चल वा विनाशीक कौं कहिए; जैसैं, क्षणस्थायी बिजुरी आदि। अैसैं बारह प्रकार मतिज्ञान के विषय हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३११ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४७)

प्रश्न २३- अनिसृत नामक विषय के कितने भेद हैं?

उत्तर- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, और अनुमान- चारों मतिज्ञान के विषय अनिसृत के भेद हैं।

-'या प्रकार अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ए च्यारि परोक्ष प्रमाण अनिसृत है विषय जाका, अैसा मतिज्ञान के भेद जानने।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१३ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४४७)

प्रश्न २४- श्रीगोम्मटसार ग्रन्थराज (जीवकाण्ड, गाथा ३१० व ३१४) में मतिज्ञान के ३३६ भेद-प्रभेदों का उल्लेख है। वह किस प्रकार है?

उत्तर- इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थराज श्रीगोम्मटसार की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका में विस्तृतरूप से दिया गया है। तथापि, संक्षिप्त विवरण निम्नप्रकार है-

-अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा = ४; -पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन = ६; -प्रत्येक इन्द्रिय और मन के अवग्रह आदि चार-चार भेद करने पर ६ x ४ = २४; -मतिज्ञान के बहु, एक,

बहुविध, एकविध आदि १२ विषय। इस तरह २४ x १२ = २८८ ये २८८ भेद तो अर्थ अर्थात् व्यक्त के हुए।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १६ की टीका, पृष्ठ ६४)

– अब व्यञ्जनावग्रह; अर्थात्, अव्यक्त का ज्ञान नेत्र और मन से नहीं होता; अर्थात्, शेष चार इन्द्रियों से ही होता है।

(**'न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्॥ १९॥'- अर्थ-** व्यञ्जनावग्रह नेत्र और मन से नहीं होता। **-श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १९ व अर्थ, पृष्ठ ६९)**

-इस प्रकार- ४ इन्द्रियों को बहु, बहुविध आदि १२ भेदों से गुणा करने पर व्यञ्जनावग्रह के- ४८ भेद

कुल- २८८ + ४८ = ३३६

'इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ प्रभेद होते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १९ की टीका, पृष्ठ ६९)

[विस्तार के लिये **श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१० व ३१४, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका व श्रीमोक्षशास्त्र के सूत्र १६ व १९ का टीकासहित** अध्ययन करें।]

प्रश्न २५- क्या आत्मा (जीवद्रव्य) मतिज्ञान से ज्ञेय (परपदार्थों) को जानता है?

उत्तर- नहीं! 'आत्मा (मतिज्ञान से) परज्ञेय को जानता है' -यह व्यवहार कथन है। 'आत्मा अपने को जानता है'- इस कथन में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है; 'ज्ञायक-ज्ञायक ही है' -यह निश्चय है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३५६ से ३६५ की टीका, पृष्ठ ४८८)

-'जिसे सम्यक्ज्ञान हो जाता है, वह जानता है कि आत्मा वास्तव में अपने ज्ञान की पर्यायों को जानता है; पर तो उसके ज्ञान का निमित्तमात्र है। "पर को जानता है"- ऐसा कहना सो व्यवहार है। यदि परमार्थदृष्टि से कहा जाये कि "आत्मा पर को जानता है"- सो मिथ्या है, क्योंकि ऐसा होनेपर आत्मा और पर (ज्ञान और ज्ञेय) दोनों एक हो जायेंगे, क्योंकि **"जिसका जो होता है, वह वही होता है"**[1]- इस सिद्धान्त के अनुसार यदि यह कहा जाये कि "पुद्गल का ज्ञान", तो ज्ञान पुद्गलरूप-ज्ञेयरूप हो जायेगा; इसलिये यह समझना चाहिए कि आत्मा (जीव) निमित्त-सम्बन्धी अपने ज्ञान की पर्याय को जानता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १६ की टीका, पृष्ठ ५८)

---

१. '**जिसका जो होता है, वह वही होता है**; जैसे, आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ३५६ से ३६५ की टीका, पृष्ठ ४८८)

सारणी २३ : मतिज्ञान के भेद

मतिज्ञान

अवग्रह ईहा अवाय धारणा

व्यञ्जनावग्रह अर्थावग्रह

केवल चार इन्द्रियों से होता है

(पाँच इन्द्रियाँ और मन से होता है)

घ्राण कर्ण रसना स्पर्शन

घ्राण कर्ण रसना स्पर्शन चक्षु मन

१२ विषय

१ बहु, २ बहुविध, ३ क्षिप्र, ४ अनि:सृत, ५ अनुक्त, ६ ध्रुव, ७ एक, ८ एकविध, ९ अक्षिप्र, १० नि:सृत, ११ उक्त, १२ अध्रुव
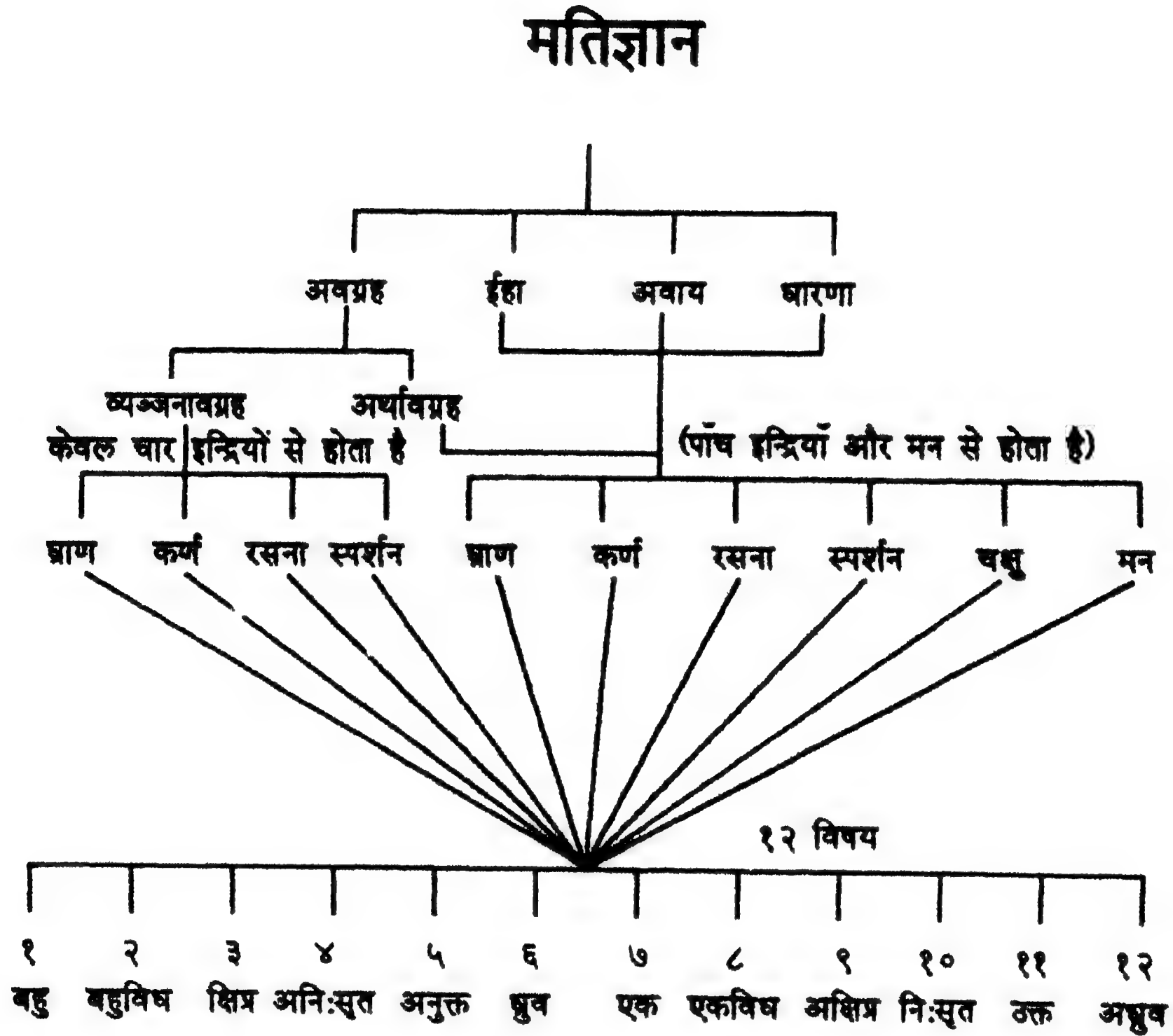
(क) व्यञ्जनावग्रह- १ x ४ इन्द्रिय (घ्राण, कर्ण, रसना और स्पर्शन) x १२ विषय = ४८

(ख) अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा- ४ x ६ (पाँच इन्द्रिय, एक मन) x १२ विषय = २८८

कुल योग = ४८ + २८८ = ३३६

आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१० व ३१४ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका, पृष्ठ ४४६, ४४९ व ४५०

प्रश्न २६- मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन को निमित्त कारण बताया है, किन्तु अर्थ (वस्तु; ज्ञेय) और आलोक (प्रकाश) को निमित्तकारण भी नहीं बताया- ऐसा क्यों?

उत्तर- अर्थ (वस्तु) और आलोक (प्रकाश) दोनों सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण नहीं है, किन्तु वे केवल परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं; जैसे, अन्धकार ज्ञेय है, वैसे ही वे भी ज्ञेय हैं।

-'नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्।'

(द्वितीय समुद्देश अधिकार, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १४ की टीका, पृष्ठ ५३)

-'ऐसा कोई नियम नहीं है कि जब अर्थ और आलोक हो, तब ज्ञान उत्पन्न होता ही है और जब वे न हों, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसके लिये निम्न दृष्टान्त दिये गये हैं-

(१) एक मनुष्य के सिर पर मच्छरों का समूह उड़ रहा था, किन्तु दूसरे ने उसे बालों का गुच्छा समझा। इस प्रकार यहाँ अर्थ (वस्तु) ज्ञान का कारण (निमित्त) नहीं हुआ;

(२) अन्धकार में बिल्ली इत्यादि रात्रिचर प्राणी, वस्तुओं को देख सकते हैं; इसलिये ज्ञान होने में आलोक (प्रकाश) कारण (निमित्त) नहीं हुआ।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १४ की टीका, पृष्ठ ५३)

प्रश्न २७- मतिज्ञान का सच्चा कारण क्या है?

उत्तर- क्षायोपशमिक ज्ञान की योग्यता के अनुसार ज्ञान होता है; ज्ञान होने का यही (सच्चा) कारण है। ज्ञान के उस क्षयोपशम के अनुसार यह (मतिज्ञान) होता है; वस्तु के अनुसार नहीं; इसलिये यह निश्चित समझना चाहिए कि बाह्य वस्तु ज्ञान होने में निमित्तकारण नहीं है।

-'जैसे दीपक, घट इत्यादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता; तथापि वह अर्थ (घट आदि पदार्थों) का प्रकाशक है।', तथा,

-'जिस ज्ञान की क्षयोपशम लक्षण योग्यता है, वही विषय (वस्तु) के प्रति नियमरूप (सच्चा) ज्ञान होने का कारण है- ऐसा समझना चाहिए।'

(श्रीप्रमेयरत्नमाला, सूत्र ८ व ९, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १४ की टीका, पृष्ठ ५३-५४)

कोरा शास्त्र ज्ञान संसार नहीं जला सकता

कागज पर चित्रित दीपक-तिनकों (घास) को जलाता नहीं; उसी प्रकार केवल शास्त्रज्ञान संसार को नहीं जला सकता।

(पूज्य गुरुदेवश्री, परमागमसार, बोल संख्या २०५, पृष्ठ ४९)

श्रुतज्ञान

प्रश्न १- श्रुतज्ञान किसे कहते है?

उत्तर- मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेषरूप से जानना, सो श्रुतज्ञान है।

-'मतिज्ञान के ग्रहण किये गये पदार्थ से, उससे भिन्न पदार्थ ग्रहण करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है; जैसे- (१) सद्गुरु का उपदेश सुनकर आत्मा का यथार्थ ज्ञान होना। इसमें उपदेश सुनना मतिज्ञान है और फिर विचार करके आत्मा का भान प्रकट करना श्रुतज्ञान है; (२) शब्द से घटादि पदार्थों को जानना। इसमें घट शब्द का सुनना मतिज्ञान है, और उससे घट पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है; (३) धुएँ से अग्नि का ग्रहण करना। इसमें धुएँ को आँख से देखकर जो ज्ञान हुआ, सो मतिज्ञान है और धुएँ से अग्नि का अनुमान करना, सो श्रुतज्ञान है; और (४) एक मनुष्य ने "जहाज" शब्द सुना सो मतिज्ञान है। पहले जहाज के गुण सुने अथवा पढ़े थे; तत्सम्बन्धी ('जहाज' शब्द सुनकर) जो विचार करता है, सो श्रुतज्ञान है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ६९)

-'मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ से सम्बन्ध लिये हुए किसी दूसरे पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं; जैसे, "घट" शब्द सुनने के अनन्तर उत्पन्न हुआ कुंबग्रीवादिरूप घट का ज्ञान।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न १००, पृष्ठ २१)

-'मतिज्ञान द्वारा जिस अर्थ को जाना हो, उसके सम्बन्ध से अन्य अर्थ को जिसके द्वारा जाना जाये; सो श्रुतज्ञान है;............जैसे, "घट", यह दो अक्षर सुने या देखे, वह तो मतिज्ञान हुआ; उनके सम्बन्ध से "घटपदार्थ" का जानना हुआ, सो श्रुतज्ञान है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३४)

-**'श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्॥ २०॥'**

अर्थ- श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है; अर्थात्, मतिज्ञान के बाद होता है; वह श्रुतज्ञान दो, अनेक, और बारह भेदवाला है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २० व अर्थ, पृष्ठ ६९)

-'अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं, णियमेणिह सद्दजं पमुहं।। ३१५।।'

टीका- मतिज्ञान करि निश्चय कीया जो पदार्थ, तिसकौं अवलम्बि करि, तिसही पदार्थ के सम्बन्ध कौं लीएं, अन्य कोई पदार्थ, ताकौं जो जानैं, सो श्रुतज्ञान है। सो श्रुतज्ञानावरण, वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम तैं उपजै है; अैसैं मुनीश्वर कहै हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५०)

-'श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से; मन के अवलम्बन से; तथा प्रकाश, उपाध्यायादि बहिरङ्ग सहकारीकारणों से मूर्त-अमूर्त वस्तु को लोक-अलोक को व्याप्ति ज्ञानरूप से जो अस्पष्ट जानता है, वह परोक्ष श्रुतज्ञान कहलाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १९)

प्रश्न २- श्रुतज्ञान के पर्यायवाची नाम क्या हैं?

उत्तर- प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनिसन्निकर्ष, नयाविधि, न्यान्तरविधि, भङ्गविधि, भङ्गविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय्य, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयावाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्रय, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व, और पूर्वातिपूर्व- ये श्रुतज्ञान के ४१ पर्यायवाची नाम हैं।

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २८०, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १६३)

प्रश्न ३- श्रुतज्ञान का अर्थ (तात्पर्य) क्या है?

उत्तर- 'श्रुत का अर्थ होता है- सुना हुआ विषय अथवा शब्द। यद्यपि श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद होता है, तथापि उसमें वर्णनीय तथा शिक्षायोग्य सभी विषय आते हैं और वह सुनकर जाना जा सकता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान में श्रुत (शब्द) का सम्बन्ध मुख्यता से है; इसलिये श्रुतज्ञान को शास्त्रज्ञान (भाव) भी कहा जाता है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष का उपदेश सुनने से पात्रजीवों को आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इस अपेक्षा से उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

(शब्दों को सुनकर होनेवाले श्रुतज्ञान के अतिरिक्त दूसरे तरह का भी श्रुतज्ञान होता है।)

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१-७२)

प्रश्न ४- श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- श्रुतज्ञान के दो भेद हैं- (१) अक्षरात्मक, और (२) अनक्षरात्मक।

-'वह (श्रुतज्ञान) दो प्रकार है- (१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३४)

–'तींहिं श्रुतज्ञान के दोय भेद हैं– एक अक्षरात्मक, एक अनक्षरात्मक।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५१)

–'वह श्रुतज्ञान दो, अनेक और बारह भेदवाला है।'[१]

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २० का अर्थ, पृष्ठ ६९)

प्रश्न ५– अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर– जिस ज्ञान में अक्षर (शब्द) निमित्त न हो, वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।

–'जैसे स्पर्श द्वारा शीत का जानना हुआ, वह तो मतिज्ञान है; उसके सम्बन्ध से "यह हितकारी नहीं है; इसलिये भाग जाना"– इत्यादिरूप ज्ञान हुआ, सो श्रुतज्ञान है। इस प्रकार अन्य भी जानना। यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३४)

–'स्पर्श द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान होना, सो मतिज्ञान है और उसके सम्बन्ध से ऐसा ज्ञान होना कि "यह हितकारी नहीं है या है"– सो श्रुतज्ञान है। वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१)

–'इहां कार्य विषैं कारण का उपचार किया है। परमार्थ तैं ज्ञान कोई अक्षररूप है नाहीं। बहुरि जैसैं शीतल पवन का स्पर्श भया, तहां शीतल पवन का जानना, तौ मतिज्ञान है। बहुरि तिस ज्ञान करि वायु की प्रकृति वाले को यहु शीतल पवन अनिष्ट है; ऐसा जानना, सो श्रुतज्ञान है। सो यहु अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षर के निमित्त तैं भया नाहीं। ऐसैं ही सर्व अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५१)

प्रश्न ६– अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान किस जीव को होता है?

उत्तर– असैनी (असंज्ञी) जीवों को तो एकमात्र अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों को अनक्षरात्मक, अक्षरात्मक दोनों श्रुतज्ञान होते हैं।

–'वहाँ एकेन्द्रियादिक असंज्ञी जीवों को तो अनक्षरात्मक ही श्रुतज्ञान है और संज्ञी पञ्चेन्द्रियों के दोनों हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३५)

–'बहुरि लिङ्ग जो चिह्न, तातैं उत्पन्न भया, ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान सो एकेन्द्रिय तैं

---

१. **श्रीमोक्षशास्त्र अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१–७२** पर श्रुतज्ञान के भेदों का विवरण है। इसमें श्रुतज्ञान को भावश्रुत (भावागम), और द्रव्यश्रुत (द्रव्यागम) के रूप में विभाजित किया गया है। (भावश्रुत अर्थात् निज शुद्धात्मा के आश्रय से प्रगट शुद्धपर्याय)। भावश्रुत में द्रव्यश्रुत (द्रव्यागम) निमित्त होता है। दो, बारह, और अनेक भेद इसी द्रव्यागम के हैं। **दो**– अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक; **बारह**– द्वादशाङ्ग (अङ्गप्रविष्ट) अर्थात् १२ अङ्ग; **अनेक**– इनके (अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य के) भेद-प्रभेद।

लगाइ पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सर्व जीवनि कैं है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५१)

-'एकेन्द्रियादि असैनी जीवों के अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवों के दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१)

सारणी २४ : श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान
- भावश्रुतज्ञान
- द्रव्यश्रुतज्ञान
  - अक्षरात्मक
  - अनक्षरात्मक
    - पर्यायज्ञान
    - पर्यायसमास
      - जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात लोकप्रमाण भेद
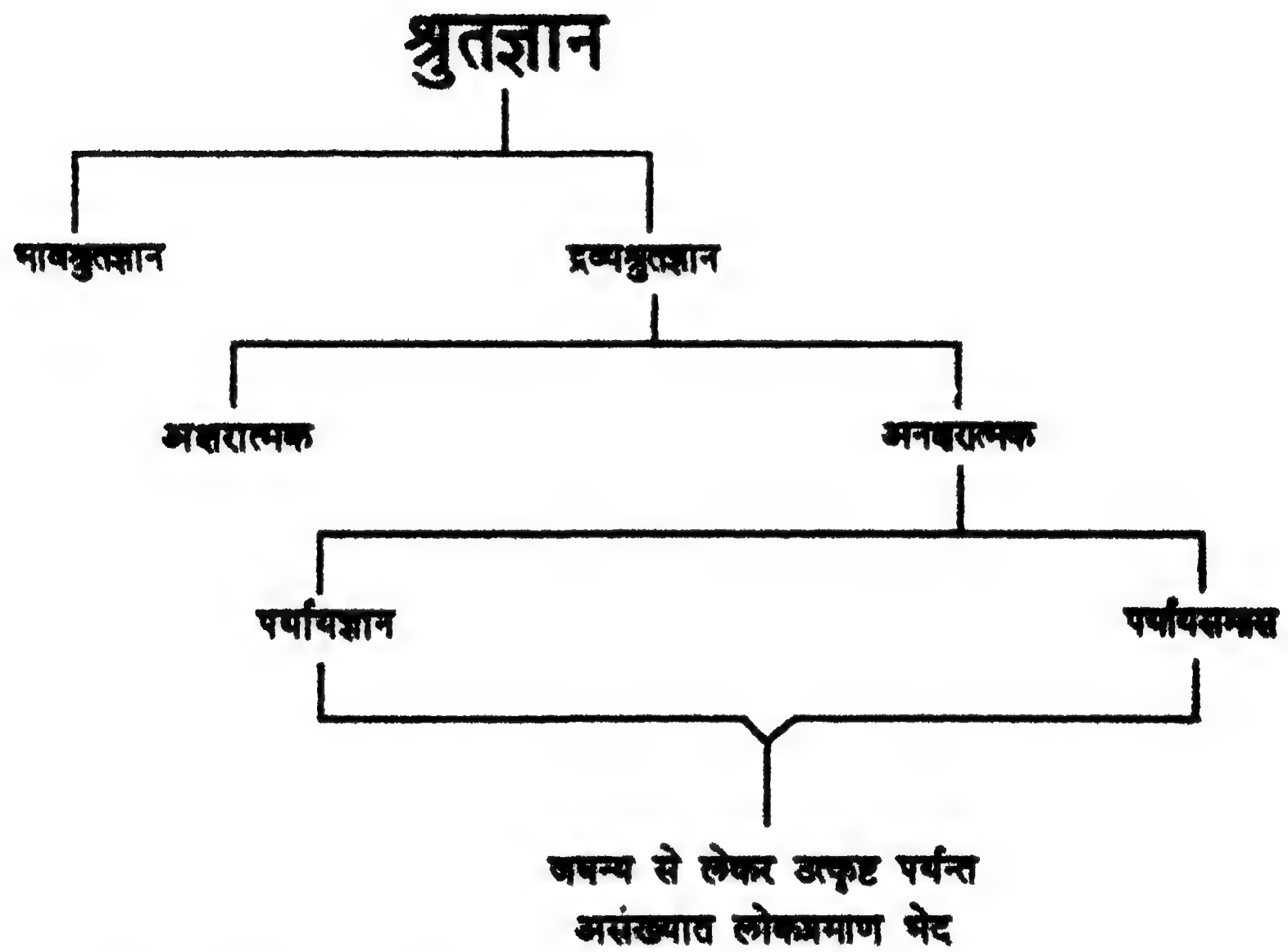
आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ व ३१६, पृष्ठ ४५० से ४५२; एवं श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१।

प्रश्न ७- अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के दो भेद हैं- (१) पर्यायज्ञान, और (२) पर्यायसमास।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१)

-'अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद पर्याय (पर्यायज्ञान) अर पर्याय समास, तीहिं विषैं जघन्य सौं लगाइ उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात लोकप्रमाण ज्ञान के भेद हो हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५२)

(१) पर्यायज्ञान- सूक्ष्म निगोदिया जीव के उत्पन्न होते समय जो पहले समय में सर्व जघन्य

श्रुतज्ञान होता है, सो पर्यायज्ञान है।

(२) पर्यायसमास- सर्व जघन्यज्ञान से अधिक ज्ञान को पर्यायसमास कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१)

[**विशेष**- निगोदिया जीव के सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता; इसलिये उक्त दो भेद सम्यक् अथवा मिथ्या श्रुतज्ञान की अपेक्षा न होकर, सामान्य श्रुतज्ञान की अपेक्षा कहे हैं- ऐसा समझना चाहिए। **-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१**]

प्रश्न ८- पर्यायज्ञान और पर्यायसमास के कितने भेद हैं?

उत्तर- उनके (पर्यायज्ञान और पर्यायसमास के) असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१)

-'अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद पर्याय अर पर्यायसमास, तींहि विषैं जघन्य सौं लगाइ उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात लोक प्रमाण ज्ञान के भेद हो हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५२)

[अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद-प्रभेदों की विस्तृत जानकारी के लिये **श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१६ से ३३२, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका, पृष्ठ ४५२ से ४७९** तक का अध्ययन करें।]

प्रश्न ९- अक्षरात्मक श्रुतज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- मतिज्ञानपूर्वक शब्द (के निमित्त) से जाने हुए विषय का विशेषज्ञान, सो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।

-'जैसे "घट"- ये दो अक्षर सुने या देखे, वह तो मतिज्ञान हुआ; उनके सम्बन्ध से घट पदार्थ का जानना हुआ, सो श्रुतज्ञान है। इस प्रकार अन्य भी जानना। यह तो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३५)

-'सो इहां **"जीव: अस्ति"** ऐसैं शब्द का जानना सो मतिज्ञान है। अर उसके निमित्त तैं जीव नामा पदार्थ का अस्तित्व जानना, सो श्रुतज्ञान है। ऐसैं ही सर्व अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप जानना। अक्षरात्मक जो शब्द, तातैं उत्पन्न भया जो ज्ञान, ताकौं भी अक्षरात्मक कह्या।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५१)

प्रश्न १०- अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान में कौनसा ज्ञान मुख्य है?

उत्तर- अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान में अक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही मुख्य है।

-'इनि विषैं **शब्दजं** कहिए अक्षर, पद, छंदादिरूप शब्द तैं उत्पन्न भया, जो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, सो प्रमुख कहिए मुख्य-प्रधान है; जातैं देना, लेना, शास्त्र पढ़ना इत्यादिक सर्व व्यवहारनि का मूल अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। बहुरि लिङ्ग जो चिह्न, तातैं उत्पन्न भया, ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान

सो एकेन्द्रिय तैं लगाइ पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सर्व जीवनि कैं है। तथापि यातै किछू व्यवहार प्रवृत्ति नाहीं; तातैं प्रधान नाहीं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५१)

प्रश्न ११- अक्षरात्मक श्रुतज्ञान किस जीव को होता है?

उत्तर- अक्षरात्मक श्रुतज्ञान केवल संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव को होता है।

प्रश्न १२- अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) अङ्गप्रविष्ट (द्वादशाङ्ग), और (२) अङ्गबाह्य।

-'श्रुतज्ञान की अपेक्षा से द्वादशाङ्ग और अङ्गबाह्य- इस भाँति दो प्रकार हैं।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०७)

-'द्रव्यागम (श्रुत) के दो भेद हैं- (१) अङ्गप्रविष्ट, और (२) अङ्गबाह्य।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७१)

प्रश्न १३- अङ्गप्रविष्ट के कितने भेद हैं?

उत्तर- अङ्गप्रविष्ट के १२ भेद हैं। इन बारह भेदों के कारण ही इसे द्वादशाङ्ग (बारह अङ्ग) कहते हैं- (१) आचाराङ्ग, (२) सूत्रकृताङ्ग, (३) स्थानाङ्ग, (४) समवायाङ्ग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्तिअङ्ग, (६) ज्ञातृकथाङ्ग, (७) उपासकाध्ययनाङ्ग, (८) अंतकृतदशाङ्ग, (९) अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, (१०) प्रश्नव्याकरणाङ्ग, (११) विपाकसूत्राङ्ग, और (१२) दृष्टिवाद।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०७; एवं श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७२)

प्रश्न १४- अङ्गप्रविष्ट के बारहवें अङ्ग दृष्टिवाद के कितने भेद हैं?

उत्तर- दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग के पाँच भेद (अधिकार) हैं- (१) परिकर्म, (२) सूत्र, (३) प्रथमानुयोग, (४) पूर्वगत, और (५) चूलिका।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०७; एवं श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५०६)

प्रश्न १५- दृष्टिवाद अङ्ग के प्रथम भेद 'परिकर्म' के कितने प्रकार हैं?

उत्तर- परिकर्म के पाँच प्रकार (भेद) हैं- (१) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (२) सूर्यप्रज्ञप्ति, (३) जंबूदीपप्रज्ञप्ति, (४) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, और (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०७; एवं श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५०६)

प्रश्न १६- परिकर्म के उक्त पाँचों प्रकारों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- परिकर्म के चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पाँचों प्रकारों में उनके नाम के अनुसार ही विषय का

सारणी २५ : अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान

- अङ्गप्रविष्ट (१२ भेद) (द्वादशाङ्ग)
  - आचाराङ्ग
  - सूत्रकृताङ्ग
  - स्थानाङ्ग
  - समवायाङ्ग
  - व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग
  - ज्ञातृकथाङ्ग
  - उपासकाध्ययनाङ्ग
  - अंतकृतदशाङ्ग
  - अनुत्तरोपपादिक-दशाङ्ग
  - प्रश्न-व्याकरणाङ्ग
  - विपाक-सूत्राङ्ग
  - दृष्टिवाद (५ भेद)
    - परिकर्म (५ भेद)
      - चन्द्रप्रज्ञप्ति
      - सूर्यप्रज्ञप्ति
      - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
      - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
      - व्याख्याप्रज्ञप्ति
    - सूत्र
    - प्रथमानुयोग
    - पूर्वगत (१४ भेद)
      - उत्पादपूर्व
      - अग्रायणी-पूर्व
      - वीर्यानुप्रवाद-पूर्व
      - अस्ति-नास्ति-प्रवादपूर्व
      - ज्ञानप्रवाद-पूर्व
      - सत्यप्रवाद-पूर्व
      - आत्मप्रवाद-पूर्व
      - कर्मप्रवाद-पूर्व
      - प्रत्याख्यान-पूर्व
      - विद्यानुवाद-पूर्व
      - कल्याण-पूर्व
      - प्राणानुवाद-पूर्व
      - क्रियाविशाल-पूर्व
      - लोकबिन्दुसार-पूर्व
    - चूलिका (५ भेद)
      - जलगता
      - स्थलगता
      - मायागता
      - रूपगता
      - आकाशगता
- अङ्गबाह्य (१४ भेद)
  - सामायिक
  - चतुर्विंशतिस्तव
  - वन्दना
  - प्रतिक्रमण
  - वैनयिक
  - कृतिकर्म
  - दशवैकालिक
  - उत्तराध्ययन
  - कल्पव्यवहार
  - कल्पाकल्प
  - महाकल्प
  - पुण्डरीक
  - महापुण्डरीक
  - अशीतिक

आधार-श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०७/२०८; एवं श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३३३ से गाथा ३६८, पृष्ठ ४७९ से ५२०

वर्णन है। श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६१ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका के पृष्ठ ५०६ पर इसका संक्षिप्त निरूपण है। उसके अनुसार-

१. **चन्द्रप्रज्ञप्ति**- चन्द्रमा का विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमनविशेष, वृद्धि, हानि, सारा (पूर्ण), आधा, चौथाई ग्रहण इत्यादि प्ररूपै हैं।

२. **सूर्यप्रज्ञप्ति**- सूर्य का आयु मण्डल, परिवार, ऋद्धि, गमन का प्रमाण, ग्रहण इत्यादि प्ररूपै हैं।

३. **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति**- जम्बूद्वीपसम्बन्धी मेरूगिरि, कुलाचल, द्रह, क्षेत्र, वेदी, वनखण्ड, व्यंतरनि के मन्दिर, नदी इत्यादि प्ररूपै है।

४. **द्वीपसागरप्रज्ञप्ति**- असख्यात द्वीप समूह सम्बन्धी स्वरूप वा तहाँ तिष्ठते ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासीनि के आवास तहा अकृत्रिम जिन मन्दिर, तिनकौं प्ररूपै है।

५. **व्याख्याप्रज्ञप्ति**- रूपी, अरूपी, जीव, अजीव आदि पदार्थनि का वा भव्य-अभव्य आदि प्रमाण करि निरूपण करै है।

प्रश्न १७- दृष्टिवादअङ्ग का दूसरा भेद 'सूत्र' क्या है और उसमें किस विषय का वर्णन है?

उत्तर- 'बहुरि **सूत्रयति** कहिये मिथ्यादर्शन के भेदनि कौं सूचै, बतावै, ताकौं सूत्र कहिये। तिस विषैं जीव अबंधक ही है; अकर्त्ता है; निर्गुण है; अभोक्ता है; स्वप्रकाशक ही है; परप्रकाशक ही है; अस्तिरूप ही है; नास्तिरूप ही है इत्यादि क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद, तिनके तीन सै तरेसठि (३६३) भेद, तिनिका पूर्व पक्षपने करि वर्णन किया है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५०७)

प्रश्न १८- दृष्टिवादअङ्ग का तीसरा भेद 'प्रथमानुयोग' क्या है और उसमें क्या वर्णन है?

उत्तर- 'बहुरि प्रथम कहिए मिथ्यादृष्टि अव्रती, विशेष ज्ञानरहित, ताकौं उपदेश देने निमित्त जो प्रवृत्त भया अधिकार-अनुयोग; कहिए सो प्रथमानुयोग कहिए। तिहि विषैं चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ति, नव बलभद्र, नव नारायण, नव प्रतिनारायण इनि तरेसठि (६३) शलाका पुरुषनि का पुराण वर्णन कीया है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५०७)

प्रश्न १९- दृष्टिवादअङ्ग के चौथे भेद 'पूर्वगत' के कितने भेद हैं?

उत्तर- पूर्वगत के चौदह भेद हैं- (१) उत्पादपूर्व, (२) अग्रायणीपूर्व, (३) वीर्यानुप्रवादपूर्व, (४) अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व, (५) ज्ञानप्रवादपूर्व, (६) सत्यप्रवादपूर्व, (७) आत्मप्रवादपूर्व, (८) कर्मप्रवादपूर्व, (९) प्रत्याख्यानपूर्व, (१०) विद्यानुवादपूर्व, (११) कल्याणपूर्व, (१२) प्राणानुवादपूर्व, (१३) क्रियाविशालपूर्व

और (१४) लोकबिन्दुसारपूर्व।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०७/२०८)

-'उप्पाय-पुव्वगाणिय-विरियपवादत्थिणत्थियपवादे।
णाणासच्चपवादे, आदाकम्मप्पवादे य।। ३४५।।
पच्चाक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य।
किरियाविसालपुव्वे, कमसोथ तिलोयबिंदुसारे य।। ३४६।।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३४५-३४६, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४८७)

प्रश्न २०- 'पूर्वगत' के चौदह भेदों का सक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड की गाथा ३६५ व ३६६ मे १४ पूर्वो का सक्षिप्त स्वरूप और उनमे से प्रत्येक के पदों की संख्या का वर्णन है। इस ग्रन्थ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका मे पूर्वगत के १४ भेदों का सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार कहा गया है-

१. तहा वस्तु का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि अनेक धर्म, तिसका पूरक, सो **उत्पादनामा प्रथम पूर्व** है।

२. बहुरि अग्र कहिये, द्वादशाङ्ग विषैं प्रधानभूत जो वस्तु, ताका **अयन** कहिये ज्ञान, सो ही है प्रयोजन जाका, ऐसा **अग्रायणीय नामा दूसरा पूर्व** है। इस विषै सात सै सुनय और दुर्नय, तिनिका अर सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, षट्द्रव्य इत्यादि का वर्णन है।

३. बहुरि **वीर्य** कहिये जीवादिक वस्तु की शक्ति-समर्थता, ताका है अनुप्रवाद कहिये वर्णन, जिस विषैं ऐसा **वीर्यानुवाद नामा तीसरा पूर्व** है।

४. बहुरि **अस्ति-नास्ति** आदि जे धर्म तिनिका है प्रवाद कहिये प्ररूपण इस विषै ऐसा **अस्ति-नास्ति प्रवाद नामा चौथा पूर्व** है।

५. बहुरि ज्ञाननि का है प्रवाद कहिये प्ररूपण, जिस विषैं ऐसा **ज्ञानप्रवाद नामा पांचमां पूर्व** है।

६. बहुरि सत्य का है प्रवाद कहिए प्ररूपण इस विषैं ऐसा **सत्यप्रवाद नामा छठा पूर्व** है।

७. बहुरि आत्मा का प्रवाद कहिए प्ररूपण है, इस विषैं ऐसा **आत्मप्रवाद नामा सातमां पूर्व** है।

८. बहुरि कर्म का है प्रवाद कहिए प्ररूपण, इस विषै ऐसा **कर्मप्रवाद नामा आठमां पूर्व** है।

९. बहुरि **प्रत्याख्यायते** कहिए निषेधिए है पाप जाकरि, ऐसा **प्रत्याख्यान नामा नवमां पूर्व** है।

१०. बहुरि विद्यानि का है अनुवाद कहिए अनुक्रम तैं वर्णन इस विषैं ऐसा **विद्यानुवाद नामा दशमां पूर्व** है।

११. बहुरि कल्याणनि का है वाद कहिए प्ररूपण जाविषैं ऐसा **कल्याणवाद नामा ग्यारह्वां पूर्व** है।

१२. बहुरि प्राणनि का है आवाद कहिए प्ररूपण इसविषैं ऐसा **प्राणावाद नामा बारह्वां पूर्व** है।

१३. बहुरि क्रिया करि विशाल कहिए विस्तीर्ण, शोभायमान ऐसा **क्रियाविशाल नामा तेरह्वां पूर्व** है।

१४. बहुरि त्रिलोकनि का बिंदु कहिए अवयव अर सार सो प्ररूपिए है, या विषैं ऐसा **त्रिलोकबिन्दुसार नामा चौदह्वां पूर्व** है।

[उपर्युक्त चौदह पूर्वों की विस्तृत जानकारी के लिये **श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६५ व ३६६ पर सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका, पृष्ठ ५०९ से ५१६** तक का अध्ययन करे।]

प्रश्न २१- दृष्टिवादअङ्ग के पाँचवे भेद 'चूलिका' के कितने भेद हैं?

उत्तर- चूलिका के पाँच भेद हैं- (१) जलगता, (२) स्थलगता, (३) मायागता, (४) रूपगता, और (५) आकाशगता।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५०७, एवं श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०८)

प्रश्न २२- 'चूलिका' के पाँच भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६२ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका मे 'चूलिका' के पाँचों भेदों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार उल्लिखित है-

१. जलगता चूलिका- तो जल का स्तंभन करना, जल विषैं गमन करना, अग्नि का स्तंभन करना, अग्नि का भक्षण करना, अग्नि विषैं प्रवेश करना इत्यादि क्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादि प्ररूपै है।

२. स्थलगता चूलिका- मेरूपर्वत, भूमि इत्यादि विषैं प्रवेश करना, शीघ्र गमन करना इत्यादिक क्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र तपश्चरणादि प्ररूपै है।

३. मायागता चूलिका- मायामई इन्द्रजाल विक्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादि प्ररूपै है।

४. रूपगता चूलिका- सिंह, हाथी, घोड़ा, वृषभ, हरिण इत्यादि नाना प्रकार रूप पलटि करि धरना; ताके कारण मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादि प्ररूपै है। वा चित्राम, काठ, लेपादिक का लक्षण प्ररूपै है। वा धातु रसायन कौं प्ररूपै है।

५. आकाशगता चूलिका- आकाश विषैं गमन आदि कौं कारणभूत मंत्र, तंत्रादि प्ररूपै है।

(श्रीसम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, भाषाटीका, पृष्ठ ५०७)

प्रश्न २३- अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान के कितने भेद (प्रकीर्णक) हैं?

उत्तर- जो अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान है, वह चौदह प्रकार का प्रकीर्णक जानना- (१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दना, (४) प्रतिक्रमण, (५) वैनयिक, (६) कृतिकर्म, (७) दशवैकालिक, (८) उत्तराध्ययन, (९) कल्पव्यवहार, (१०) कल्पाकल्प, (११) महाकल्प, (१२) पुण्डरीक, (१३) महापुण्डरीक, और (१४) अशीतिक।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०८)

-'**सामाइय चउवीसत्थयं, तदो वंदणा पडिक्कमणं।**
वेणइयं किदियम्मं, दसवेयालं च उत्तरज्झयणं।। ३६७।।
कप्पववहार-कप्पाकप्पिय-महकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं।। ३६८।।'

(बहुरि प्रकीर्णक नामा अङ्गबाह्य द्रव्यश्रुत, सो चौदह प्रकार है।)

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६७ व ३६८, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५१६)

[**विशेष- (१)** श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, भाषाटीका, पृष्ठ ५१७ पर चौदह प्रकीर्णकों के नाम श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, के अनुसार ही दिये हैं। मात्र चौदहवे प्रकीर्णक का नाम **"अशीतिक"** के स्थान पर **"निषिद्धिका"** दिया है। पृष्ठ ५१७ से ५२० तक उक्त प्रकीर्णकों का स्वरूप वर्णित है।

(२) श्रुतज्ञान, उसके भेदों -अनक्षरात्मक व अक्षरात्मक- तथा उनके भी भेद-प्रभेदो की विस्तृत जानकारी के लिये **श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ से ३६८, श्रीसम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका, पृष्ठ ४५० से ५२०** तक का अध्ययन करें।]

प्रश्न २४- अनुयोगों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- अनुयोगों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान को चार भागों में बाँटा जा सकता है- (१) प्रथमानुयोग, (२) चरणानुयोग, (३) करणानुयोग, और (४) द्रव्यानुयोग।

-'चार अनुयोगरूप से चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०८)

प्रश्न २५- चारों अनुयोगों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- 'श्रीऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थङ्कर, भरतादि बारह चक्रवर्ती, विजय आदि नव बलदेव, त्रिपृष्ठ आदि नव नारायण, और सुग्रीव आदि नव प्रतिनारायण-सम्बन्धी त्रेसठ (६३) शलाका पुरुषों के पुराणभेद से भेदवाले **प्रथमानुयोग** कहलाता है। उपासकाध्ययनादि में श्रावकधर्मका और आचार आराधना आदि में यतिधर्म का जहाँ मुख्यरूप से कथन किया जाता है, वह **चरणानुयोग**

कहलाता है। त्रिलोकसार में तीर्थङ्करों का अन्तरकाल और लोकविभाग आदि का व्याख्यान है- ऐसे ग्रन्थ **करणानुयोग** के जानना। प्राभृत और तत्त्वार्थसिद्धान्तादि में जहाँ मुख्यरूप से शुद्ध-अशुद्ध जीवादि छह द्रव्य आदि का व्याख्यान किया जाता है, वह **द्रव्यानुयोग** कहलाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०८)

प्रश्न २६- सकल श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण कितना है?

उत्तर- एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोड़ाकोड़ी चवालीस लाख सात हजार तीन सौ सत्तर करोड़, **'पञ्चानवे लाख तीन सौ सत्तर करोड़'**, पञ्चानवे लाख इक्कावन हजार छह सौ पन्द्रह सकल श्रुतज्ञान के अक्षर हैं। १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५।

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ २५४, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १६२)

[श्रीधवलासार पुस्तक में शब्दों में दी गयी संख्या **'पञ्चानवे लाख तीन सौ सत्तर करोड़'** शब्दों की पुनरावृत्ति हो गयी प्रतीत होती है।]

प्रश्न २७- श्रुतकेवली किसे कहते हैं?

उत्तर- जो शास्त्रज्ञान (श्रुतज्ञान) से अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है; यह तो परमार्थ (निश्चयकथन) है और जो सर्व शास्त्रज्ञान (श्रुतज्ञान) को जानता है, वह श्रुतकेवली है; यह व्यवहारकथन है।

-**'इस आत्मको श्रुतसे नियत, जो शुद्ध केवल जानते।**
ऋषिगण प्रकाशक लोकके, श्रुतकेवली उसको कहें॥ ९॥
श्रुतज्ञान सब जानें जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहे।
सब ज्ञान सो आत्मा हि है, श्रुतकेवली उससे बने॥ १०॥'

(श्रीसमयसार, गाथा ९ व १० का हिन्दी रूपान्तर, पृष्ठ २०)

प्रश्न २८- जो सर्व शास्त्रज्ञान को जानता है उसे श्रुतकेवली क्यों कहा?

उत्तर- 'जो सर्व शास्त्रज्ञान को जानता है, उसने भी ज्ञान को जानने से आत्मा को ही जाना है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान-ज्ञानी के भेद को कहनेवाला जो व्यवहार उसने भी परमार्थ (निश्चय) ही कहा है; अन्य कुछ नहीं कहा।'

(श्रीसमयसार, गाथा ९-१० का भावार्थ, पृष्ठ २२)

-'और "जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं"। इस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से "जो सर्व श्रुतज्ञान को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं"- ऐसा व्यवहार परमार्थ के प्रतिपादकत्व से अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ९ व १० की टीका, पृष्ठ २१)

मति-श्रुतज्ञान के मिलजुले प्रश्नोत्तर

प्रश्न १- प्रमाण; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान का भेद होनेपर भी मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष क्यों कहा गया है?

उत्तर- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। उनके उपयोग के समय इन्द्रिय या मन निमित्त होते हैं; इसलिये पर-अपेक्षा के कारण उन्हें परोक्ष कहा गया है। स्व-अपेक्षा से पाँचों प्रकार के ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ ४६)

-'मति-श्रुतज्ञान स्वसन्मुख होकर आत्मा को साधते हैं, परन्तु उस ज्ञान मे केवलज्ञान की तरह आत्मप्रदेश साक्षात् प्रत्यक्ष जानने में नही आते; इसलिये उनको परोक्ष कहा है। मति-श्रुतज्ञान पर को भी अवधि, मन:पर्ययज्ञान के बराबर स्पष्ट नहीं जानते; अस्पष्ट जानते हैं; इसलिये वे परोक्ष हैं।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ७८)

प्रश्न २- मति-श्रुतज्ञान के परोक्ष होनेपर भी ग्रन्थों मे आत्मानुभव को प्रत्यक्ष किस प्रकार कहा है?

उत्तर- 'अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है। कुछ आत्मा के प्रदेश आकार तो भासित होते नहीं हैं, परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने से जो स्वानुभव हुआ, वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। स्वानुभव का स्वाद कुछ आगम-अनुमानादिक (मति-श्रुतज्ञान के भेद) परोक्ष प्रमाण द्वारा नहीं जानता है। आप ही अनुभव के रस स्वाद को वेदता है; जैसे, कोई अन्ध-पुरुष मिश्री को आस्वादता है। वहाँ मिश्री के आकारादि तो परोक्ष हैं। जो जिह्वा से स्वाद लिया है, वह स्वाद प्रत्यक्ष है। वैसे स्वानुभव में आत्मा परोक्ष है। जो परिणाम से स्वाद आया, वह स्वाद प्रत्यक्ष है- ऐसा जानना।

अथवा जो प्रत्यक्ष की भाँति हो, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं; जैसे, लोक में कहते है कि "हमने स्वप्न में अथवा ध्यान में अमुक पुरुष को प्रत्यक्ष देखा"। वहाँ कुछ प्रत्यक्ष देखा नहीं है, परन्तु प्रत्यक्ष की ही भाँति प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा; इसलिये उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। उसी प्रकार अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है; इसलिये इस न्याय से आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना होता

है- ऐसा कहें तो दोष नहीं है।'

(पण्डित टोडरमल जी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४६-३४७)

-'मन के अवलम्बन की अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है, परन्तु मन का अवलम्बन हो, तब आत्मा को जान ही न सकें- ऐसा नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान में (मति-श्रुतज्ञान में) स्वानुभव के समय बुद्धिपूर्वक मन का अवलम्बन छूट गया है। इतने अंश मे इसमें प्रत्यक्षपना है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसन्देश, पृष्ठ ९५)

-'जो शब्दात्मक श्रुतज्ञान है, वह तो परोक्ष ही है। (परन्तु) स्वर्ग, मोक्षादि बाह्य वस्तुओं का बोध करानेवाला विकल्परूप जो ज्ञान है, वह भी परोक्ष है और जो अभ्यन्तर में "सुख-दु:ख के विकल्परूप मैं हूँ" "अनन्तज्ञानादिरूप मै हूँ"- ऐसा ज्ञान वह इषत् (किञ्चित्) परोक्ष है और जो निश्चय-भावश्रुतज्ञान है, वह शुद्धात्माभिमुख होने से सुख के संवेदनस्वरूप है, वह स्वसंवेदन के आकाररूप होने से सविकल्प होनेपर भी इन्द्रिय-मनजनित रागादि विकल्पजाल से रहित होने से निर्विकल्प है। अभेदनय से जो "आत्मा" शब्द से कहा जाता है; ऐसा वही (निश्चयभावश्रुतज्ञान) जो वीतराग सम्यक्चारित्र के साथ अविनाभावी है, वह-केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष होनेपर भी संसारी जीवों को क्षायिकज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होनेपर भी प्रत्यक्ष कहलाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ १९-२०)

प्रश्न ३- श्रीतत्त्वार्थसूत्र **(अध्याय १, सूत्र ११)**[१] मे मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है लेकिन शास्त्रो मे मति-श्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष भी निरूपित किया गया है, सो कैसे?

उत्तर- 'इस सूत्र में जो मति-श्रुत को परोक्ष कहा है, सो वह सामान्य कथन है और जहाँ भावश्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है, सो विशेष कथन है। प्रत्यक्ष का कथन जहाँ भी हो, वह विशेष की अपेक्षा से है- ऐसा समझना चाहिए।

प्रत्यक्ष-परोक्ष की अपेक्षा श्रुतज्ञान के तीन प्रकार हो जाते हैं- (१) परोक्ष, (२) आंशिक परोक्ष, और (३) प्रत्यक्ष।

(१) परोक्ष- शब्दरूप जो श्रुतज्ञान है, सो परोक्ष ही है तथा दूरभूत स्वर्ग-नरकादि बाह्य विषयों का ज्ञान करानेवाला विकल्परूप ज्ञान भी परोक्ष ही है;

(२) आंशिक परोक्ष- अभ्यन्तर में सुख-दु:ख के विकल्परूप जो ज्ञान होता है वह अथवा 'मैं अनन्त ज्ञानादिरूप हूँ'- ऐसा ज्ञान ईषत् किञ्चित् परोक्ष है; और

---

१. -'**आद्ये परोक्षम्॥ ११॥**' -**अर्थ**- प्रारम्भ के दो; अर्थात्, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ११ व अर्थ, पृष्ठ ४६)

(३) प्रत्यक्ष- निश्चयभाव-श्रुतज्ञान शुद्धात्मा के सन्मुख होने से सुख संवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है। यद्यपि वह केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है; तथापि छद्मस्थों के क्षायिकज्ञान की प्राप्ति न होने से, क्षायोपशमिक होनेपर भी, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।

यदि मति और श्रुत दोनों मात्र परोक्ष ही होते, तो सुख-दु:खादिक का जो संवेदन (ज्ञान) होता है, वह भी परोक्ष ही होता किन्तु वह संवेदन प्रत्यक्ष है- ऐसा सभी जानते हैं।'

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ११ की टीका, पृष्ठ ४९-५०)

प्रश्न ४- क्या मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान हो सकता है?

उत्तर- नहीं, श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है- ऐसा नियम है।

-'अभिनिबोधक जो मतिज्ञान, सो है पहिलैं जाके, पहिलैं मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम तैं मतिज्ञान होइ, पीछैं मतिज्ञान करि जो पदार्थ जान्या, ताका अवलम्बन करि अन्य कोई पदार्थ का जानना होइ; सोई श्रुतज्ञान है। अैसा नियम जानना। पहिलैं मतिज्ञान भए बिना, सर्वथा श्रुतज्ञान न होइ।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३१५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ४५०-४५१)

प्रश्न ५- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय क्या है?

उत्तर- 'मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी रूपी-अरूपी द्रव्यों को जानते हैं, किन्तु उनकी सभी पर्यायों को नहीं जानते। उनका (मति-श्रुतज्ञान का) विषय-सम्बन्ध सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायों के साथ होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २६ की टीका, पृष्ठ ८१)

-**'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु॥ २६॥'**

अर्थ- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय-सम्बन्ध कुछ पर्यायों से युक्त जीव पुद्गलादि सर्व द्रव्यों में है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २६ व अर्थ, पृष्ठ ८१)

प्रश्न ६- श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में क्या अन्तर है?

उत्तर- श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में केवल परोक्ष और प्रत्यक्ष का अन्तर है। जानपनै की अपेक्षा दोनों समान हैं।

-**'सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।**
सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं॥ ३६९॥'

टीका- श्रुतज्ञान अर केवलज्ञान दोउ समस्त वस्तुनि के द्रव्य, गुण, पर्याय जानने की अपेक्षा समान हैं। इतना विशेष श्रुतज्ञान परोक्ष है; केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६९ एवं टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२०)

-'श्री देवागमस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र ने भी कहा है-

-**'स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने।**

भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।'

अर्थ- स्याद्वाद तो श्रुतज्ञान अर केवलज्ञान ए दोऊ सर्व तत्त्व के प्रकाशी हैं, परन्तु प्रत्यक्ष परोक्ष भेद तैं भेद पाइए है। इन दोऊ प्रमाणनि विषैं अन्य तम जो एक, अवस्तु है। एक का अभाव मानैं दोऊनि का अभाव-विनाश जानना।'

(आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६९ का भावार्थ, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२१)

-'तथा एकदेश सर्वदेश का अन्तर तो इतना ही है कि मति-श्रुतज्ञानवाला अमूर्तिक वस्तु को अप्रत्यक्ष और मूर्तिक वस्तु को भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, किञ्चित् अनुक्रम से जानता है तथा सर्वथा सर्व वस्तु को केवलज्ञान युगपत् जानता है। वह (मति-श्रुतज्ञान) परोक्ष जानता है; यह (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष जानता है- इतना ही विशेष (अन्तर) है।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४८)

पात्र शिष्य (जीव) का लक्षण

पात्र शिष्य हो तो उसे अन्तर से आत्मा की ही लगनी लगी होती है कि मुझे एक चैतन्य ही चाहिए; दूसरा कुछ भी नहीं चाहिए। उसे प्रत्येक कार्य में आत्मा का ही प्रयोजन होता है; दूसरे सभी प्रयोजन उसे गौण हो जाते हैं। एकमात्र आत्मा को ही मुख्य रखकर उसका प्रत्येक कार्य होता है। शुभभाव के कार्यों में भी उसे एक आत्मा का ही प्रयोजन होता है; दूसरा बाह्य कोई प्रयोजन उसे नहीं होता। शुभभाव में देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना किस प्रकार हो- ऐसा भाव आता है, उसमें भी आत्मा का प्रयोजन साथ होता है; दूसरा कोई प्रयोजन नहीं होता। लौकिक प्रयोजन से अत्यन्त भिन्न होता है। उसे तो एक आत्मा की ही लगनी लगी है; लौकिक का, बाह्य बड़प्पन का कोई प्रयोजन नहीं होता। "मुझे किस प्रकार आत्मलाभ हो"- बस एक यही प्रयोजन आत्मार्थी को होता है। श्रीजिनेन्द्रदेव, जिन्होंने साधना प्रगट करी है- ऐसे उपकारी गुरु, और शास्त्र उनकी प्रभावना कैसे हो, उसकी उसे प्रीति होती है। जिन्होंने आत्मा का मार्ग बताया, उस मार्ग की प्राप्ति के लिये मार्गदर्शन प्रदान किया, और जिनका परम उपकार है उनकी प्रभावना किस प्रकार हो?- ऐसा उद्देश्य पात्र शिष्य का होता है; दूसरा कोई उद्देश्य होता नहीं। यह पात्र जीव का लक्षण है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्नोत्तर संख्या २४३, पृष्ठ १४७-१४८)

अवधिज्ञान

प्रश्न १- अवधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये जो रूपीपदार्थो को स्पष्ट जाने- उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न सख्या ५८२, पृष्ठ १६०)

-'अपनी मर्यादा के अनुसार क्षेत्र-काल का प्रमाण लेकर रूपीपदार्थों को स्पष्टरूप से जिसके द्वारा जाना जाये, वह अवधिज्ञान है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३५)

-**'अवहीयदि त्ति ओही, सीमाणाणे त्ति वण्णियं समये।'**

टीका- **अवधीयते** कहिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव करि परिमाण जाका कीजिए, सो अवधिज्ञान जानना। तथा

-'सीमा जो द्रव्य क्षेत्रादि की मर्यादा, ताकौं लीए है विषय जाका, अैसा जो ज्ञान, सो अवधिज्ञान है; अैसैं सर्वज्ञदेव सिद्धान्त विषै कहे है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७० की प्रथम पंक्ति व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२१-५२२)

-'जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की मर्यादासहित इन्द्रिय या मन के निमित्त के बिना रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है; उसे अवधिज्ञान कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ४४ की टीका, पृष्ठ ४४)

-'वही आत्मा अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु को विकल्पसहित (साकाररूप से) जो एकदेश प्रत्यक्ष जानता है, वह अवधिज्ञान है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ २०)

प्रश्न २- अवधिज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- अवधिज्ञान के दो भेद हैं- (१) भव**प्रत्यय**[1], और (२) गुणप्रत्यय।

---

१. **प्रत्यय**- अर्थात, कारण; निमित्त। 'प्रत्यय, कारण, और निमित्त तीनो एकार्थवाचक शब्द हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ की टीका, पृष्ठ ७४)

-**'भवगुणपच्चयविहियं, जमोहिणाणो त्ति णं बेंति।।'**

टीका- सो अवधिज्ञान दोय प्रकार कह्या है। एक भवप्रत्यय, एक गुणप्रत्यय।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७०, द्वितीय पंक्ति व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२१-५२२)

-'अवधिज्ञान के दो भेद हैं- (१) भवप्रत्यय, (२) गुणप्रत्यय।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ की टीका, पृष्ठ ७४)

प्रश्न ३- भवप्रत्यय अवधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- देव और नारक पर्याय धारण करने पर जीव को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह भवप्रत्यय कहलाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७४)

-'तहां भव जो नारकादिक पर्याय, ताकै निमित्त तैं होइ; सो भवप्रत्यय कहिए, जो नारकादि पर्याय धारै ताके अवधिज्ञान होइ ही होइ; तातैं इस अवधिज्ञान को भवप्रत्यय कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२२)

प्रश्न ४- भवप्रत्यय अवधिज्ञान किन जीवो को होता है?

उत्तर- भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी, तथा तीर्थङ्करों के (गृहस्थदशा में) होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ की टीका, पृष्ठ ७४)

-'तहा भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवनि कैं, नारकीनि कै अर चरमशरीरी तीर्थङ्कर देवनि के पाइए है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२२)

-**'भवप्रत्ययोऽवधिदेवनारकाणाम्।। २१।।'**

अर्थ- भवप्रत्यय नामक अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २१ व अर्थ, पृष्ठ ७४)

प्रश्न ५- भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहाँ और कैसे उत्पन्न होता है?

उत्तर- भवप्रत्यय अवधिज्ञान आत्मा के सर्व प्रदेशों से उत्पन्न होता है। इसका अन्तरङ्ग निमित्त अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ की टीका, पृष्ठ ७४)

-'सो यहु भवप्रत्यय अवधिज्ञान **"सर्वांगोत्थं"** कहिए सर्व आत्मा के प्रदेशनि विषैं तिष्ठता अवधिज्ञानावरण अर वीर्यांतराय कर्म ताके क्षयोपशम तैं उत्पन्न हो है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२२)

प्रश्न ६- भवप्रत्यय अवधिज्ञान के कितने भेद हैं?

सारणी २६ : अवधिज्ञान के भेद

- **अवधिज्ञान**
  - भवप्रत्यय
    - देशावधि
  - गुणप्रत्यय (क्षयोपशमिकनिमित्तिक)
    - देशावधि
      - जघन्य
      - मध्यम
      - उत्कृष्ट
    - परमावधि
      - जघन्य
      - मध्यम
      - उत्कृष्ट
    - सर्वावधि
      - भेदरहित, हानि-वृद्धिरहित, अवस्थित सर्वोत्कृष्ट
    - (देशावधि के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद)
      - अनुगामी
        - क्षेत्रानुगामी
        - भवानुगामी
        - उभयानुगामी
      - अननुगामी
        - क्षेत्राननुगामी
        - भवाननुगामी
        - उभयाननुगामी
      - अवस्थित
      - अनवस्थित
      - वर्धमान
      - हीयमान
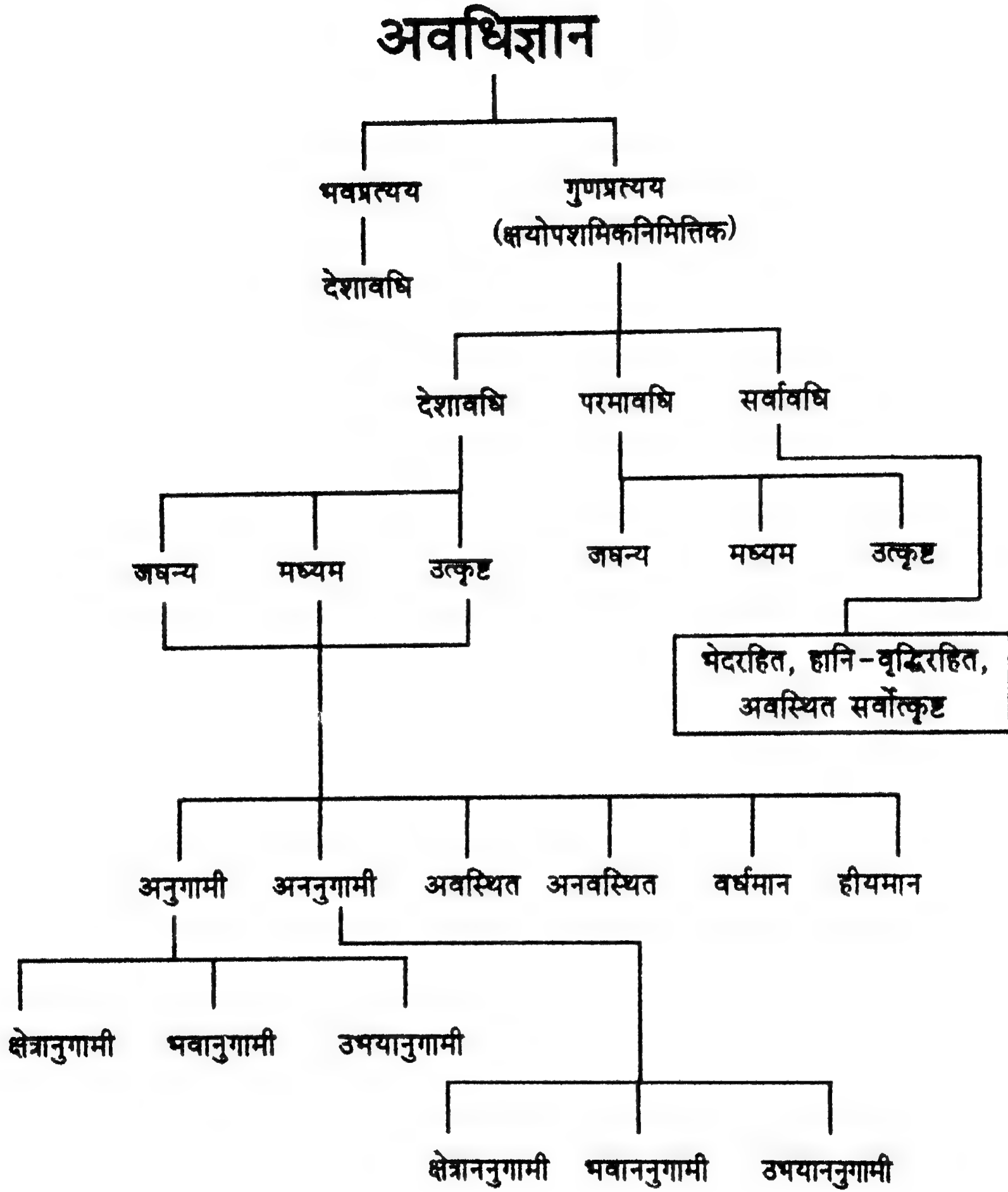
आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७० से ३७६ की टीका, श्री सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२१ से ५२६; एवं श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१-२२ का अर्थ व टीका, पृष्ठ ७४ से ७६।

[**विशेष**- श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७६ पर- (१) देशावधि के भेदों में प्रतिपाति और अप्रतिपाति को शामिल कर आठ भेदों का उल्लेख है। (२) परमावधि के (अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान और अप्रतिपाति) छः भेदों का उल्लेख है]

उत्तर- भवप्रत्यय अवधिज्ञान के सम्यग्दर्शन के सद्भाव और अभाव की अपेक्षा तो भेद कहे जा सकते हैं, किन्तु यह देशावधि ही होता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान परमावधि अथवा सर्वावधिरूप होता ही नहीं।

-'वह (भवप्रत्यय) नियम से देशावधि होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ की टीका, पृष्ठ ७४)

-'**भवपच्चइगो ओही, देसोही होदि परमसव्वोही।**'

टीका- भवप्रत्यय अवधि तो देशावधि ही है, जातैं देव, नारकी, गृहस्थतीर्थङ्कर इनके परमावधि सर्वावधि होइ नाहीं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७३ की प्रथम पंक्ति व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२४)

[**विशेष**- (१) 'भवप्रत्यय अवधिज्ञान विषैं भी सम्यग्दर्शनादि गुण का सद्भाव है, तथापि उन गुणों की अपेक्षा नाही करने तैं भवप्रत्यय (भव के निमित्त से) कह्या' -**श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२३।**

(२) यहाँ सम्यग्ज्ञान का विषय है। फिर भी सम्यक् या मिथ्या का भेद किये बिना सामान्य अवधिज्ञान के लिये 'भवप्रत्यय' शब्द दिया गया है। -**श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ की टीका, पृष्ठ ७४ की टिप्पणी।**]

प्रश्न ७- गुणप्रत्यय अवधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- किसी विशेष पर्याय (भव) की अपेक्षा न करके जीव के पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक कहलाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ की टीका, पृष्ठ ७४)

-'बहुरि गुणप्रत्यय कहिए सम्यग्दर्शनादि रूप, सो है निमित्तजाका; सो गुणप्रत्यय कहिए। मनुष्य, तिर्यञ्च सर्व ही कैं अवधिज्ञान नहीं; जाकैं सम्यकग्दर्शनादिक की विशुद्धता होइ, ताकैं अवधिज्ञान होइ; तातैं इस अवधिज्ञान कौं गुणप्रत्यय कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२२)

प्रश्न ८- गुणप्रत्यय अवधिज्ञान किन जीवों को होता है?

उत्तर- गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि मनुष्य और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च को ही हो सकता है, लेकिन प्रत्येक सम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा तिर्यञ्च को हो, ऐसा नियम नहीं है।

-'मनुष्य, तिर्यञ्च सर्व ही कैं अवधिज्ञान नाहीं; जाकैं सम्यग्दर्शनादिक की विशुद्धता होई, ताकैं अवधिज्ञान होइ; तातैं इस अवधिज्ञान को गुणप्रत्यय (गुण के निमित्त से) कहिए।' तथा,

–'बहुरि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है, सो पर्याप्त मनुष्य अर सैनी पञ्चेन्द्री पर्याप्त तिर्यञ्च, इनिके संभवै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७० व ३७१ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२२)

–'गुणप्रत्यय सुअवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवों के ही हो सकता है, किन्तु वह सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के नहीं होता।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७७)

प्रश्न ९– गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सभी सम्यग्दृष्टि जीवों को क्यो नही होता?

उत्तर– गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, देशव्रत अथवा महाव्रत के निमित्त से होता है। तथापि वह सभी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, या महाव्रती जीवों के नही होता, क्योंकि असंख्यात लोकप्रमाण सम्यक्त्व, संयमासंयम, और सयमरूप परिणामो मे अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के कारणभूत परिणाम बहुत थोड़े होते हैं।

(श्रीजयधवला १, पृष्ठ १७, आधार–श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७७)

प्रश्न १०– गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहॉ और कैसे उत्पन्न होता है?

उत्तर– गुणप्रत्यय अवधिज्ञान शरीर मे नाभि के ऊपर शङ्ख, पद्म, वज्र, स्वास्तिक, कलश, मछली आदि शुभ चिह्न होनेपर उस स्थान–सम्बन्धी आत्मा के प्रदेशों मे होता है और इसके उत्पन्न होने में अन्तरङ्ग निमित्त अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है।

–'वह (गुणप्रत्यय अवधिज्ञान)' नाभि के ऊपर शङ्ख, पद्म, वज्र, स्वास्तिक, कलश, मछली आदि शुभ चिह्नो के द्वारा होता है। प्रत्येक प्रकार के अवधिज्ञान का अन्तरङ्गनिमित्त तो अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

(आधार–श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ व २२ की टीका, पृष्ठ ७४–७५)

–**'गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिह्णभवो।।'**

टीका– यह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान **'शंखादिचिह्नभवम्'** कहिए नाभि के ऊपरि शङ्ख, कमल, वज्र, सांथिया, माछला, कलस इत्यादिक का आकाररूप जहॉ शरीर विषै भले लक्षण होइ; तहां सबंधी जे आत्मा के प्रदेश, तिनि विषैं तिष्ठता जो अवधिज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतराय कर्म, तिनिके क्षयोपशम तैं उत्पन्न हो है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७१ का उत्तरार्द्ध व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२२–५२३)

प्रश्न ११– गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर– गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के **सामान्यरूप से**[१] तीन भेद हैं– (१) देशावधि, (२)

१. **सामान्यरूप से** अर्थात् मोटेरूप से; स्थूलरूप से। सूक्ष्मरूप से अवधिज्ञान के लोकप्रमाण भेद हैं।

..........क्रमशः

परमावधि, और (३) सर्वावधि।

-'बहुरि तैसैं ही सामान्यपनैं अवधिज्ञान तीन प्रकार हैं- देशावधि, परमावधि, सर्वावधि ए तीन भेद हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२४)

-'अवधि के तीन भेद हैं- १. देशावधि, २.परमावधि, ३. सर्वावधि।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३५)

प्रश्न १२- देशावधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- इनमें थोड़े क्षेत्र-काल की मर्यादा लेकर किञ्चित्मात्र रूपीपदार्थों को जाननेवाला देशावधि है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३५)

प्रश्न १३- गुणप्रत्यय देशावधिज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- गुणप्रत्यय देशावधिज्ञान के छह भेद हैं- (१) अनुगामी, (२) अवस्थित, (३) वर्धमान, (४) अननुगामी, (५) अनवस्थित, और (६) हीयमान।

-'जो गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है, सो छह प्रकार है- अनुगामी, अवस्थित, वर्धमान, अर इतर कहिए अननुगामी, अनवस्थित, हीयमान ऐसैं छह प्रकार है।............तहाँ गुणप्रत्यय देशावधि ही छह प्रकार जानना।

(श्रीगोम्मटसार,जीवकाण्ड, गाथा ३७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचद्रिका, पृष्ठ ५२३-५२४)

-'**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्॥ २२॥**'

अर्थ- क्षयोपशमनैमित्तक अवधिज्ञान (गुणप्रत्यय अवधिज्ञान) अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, और अनवस्थित- ऐसे छह भेदवाला है और वह मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २२ व अर्थ, पृष्ठ ७५)

[**श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७६** पर उक्त वर्णित छह भेदो में प्रतिपाति और अप्रतिपाति शामिल कर देशावधिज्ञान के आठ भेदों का कथन है।]

प्रश्न १४- अनुगामी देशावधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की भाँति जीव के साथ ही साथ जाता है, उसे अनुगामी कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

-'अवधिज्ञान जघन्यभेद तैं लगाइ उत्कृष्ट भेद पर्यन्त असंख्यात लोक प्रमाण भेद धरै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२६)

–'तहाँ जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथि ही गमन करें; ताकौं अनुगामी कहिए। ताके तीन भेद– क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी, उभयानुगामी।

१. क्षेत्रानुगामी– तहां जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र विषैं उपज्या था, तिस क्षेत्र कौं छोड़ि, जीव और क्षेत्र विषैं बिहार कीया, तहां भी अवधिज्ञान साथ ही रह्या, विनष्ट न हुवा और पर्याय धरि विनष्ट होइ, सो क्षेत्रानुगामी कहिए।

२. भवानुगामी– बहुरि जो अवधिज्ञान जिस पर्याय विषै उपज्या था, तिस पर्याय कौं छोड़ि, जीव और पर्याय कौं धर्‍या तहां भी वह अवधिज्ञान साथ ही रह्या, सो भवानुगामी कहिए।

३. उभयानुगामी– बहुरि जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र वा पर्याय विषैं उपज्या था, तातैं जीव अन्य भरतादि क्षेत्र विषैं गमन कीया वा अन्य देवादि पर्याय धर्‍या, तहा साथि ही रहै, सो उभयानुगामी कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२३)

प्रश्न १५– अननुगामी देशावधिज्ञान किसे कहते है?

उत्तर– जो अवधिज्ञान जीव के साथ नही जाता, उसे अननुगामी कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

–'बहुरि जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव की साथि गमन न करै, सो अननुगामी कहिए। याके तीन भेद क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी, उभयाननुगामी।

१. क्षेत्राननुगामी– तहा जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र विषै उपज्या होइ, तिस क्षेत्र विषैं तौ जीव और पर्याय धरौ वा मति धरौ वह अवधिज्ञान साथ ही रहै है। अर उस क्षेत्र तैं जीव और कोई भरत, ऐरावत, विदेहादि क्षेत्रनि विषै गमन करै, तो वह ज्ञान अपने उपजने का क्षेत्र ही विषैं विनष्ट होइ, सो क्षेत्राननुगामी कहिए।

२. भवाननुगामी– बहुरि जो अवधिज्ञान जिस पर्याय विषै उपज्या होइ, तिस पर्याय विषैं तौं जीव और क्षेत्र विषैं गमन करौ वा मति करौ वह अवधिज्ञान साथि रहे अर उस पर्याय तैं अन्य कोई देव, मनुष्य आदि पर्याय धरै तौ अपने उपजने का पर्याय विषै विनष्ट होइ, सो भवाननुगामी कहिए।

३. उभयाननुगामी– बहुरि जो अवधिज्ञान और क्षेत्र विषैं वा और पर्याय विषैं जीव कौं प्राप्त होते साथि न रहै; अपने उपजने का क्षेत्र वा पर्याय विषैं ही विनष्ट होइ; सो उभयाननुगामी कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२३–५२४)

प्रश्न १६– अवस्थित देशावधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर– जो अवधिज्ञान एकसा रहे; न घटे न बढ़े, उसे अवस्थित कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

–'बहुरि जो अवधिज्ञान सूर्यमण्डल की ज्यों घटै बधै नाहीं, एक प्रकार ही रहे; सो अवस्थित कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२४)

प्रश्न १७- अनवस्थित देशावधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पानी की तरङ्गो की भाँति घटता-बढ़ता रहे; एकसा न रहे, उसे अनवस्थित कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

–'बहुरि जो अवधिज्ञान कदाचित् बधै, कदाचित् घटै, कदाचित् अवस्थित रहै; सो अनवस्थित कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२४)

प्रश्न १८- वर्धमान देशावधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो अवधिज्ञान शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला की भाँति बढ़ता रहे, उसे वर्धमान कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

–'बहुरि जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्ष के चन्द्रमण्डल की ज्यौं बधता-बधता अपने उत्कृष्ट पर्यन्त बधै; सो वर्धमान कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२४)

प्रश्न १९- हीयमान देशावधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो अवधिज्ञान कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कला की तरह घटता रहे, उसे हीयमान कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

–'बहुरि जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्ष के चन्द्रमण्डल की ज्यौं घटता-घटता अपने नाश पर्यन्त घटै; सो हीयमान कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२४)

प्रश्न २०- सर्वावधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- भेदरहित, हानिवृद्धिरहित, अवधिज्ञानावरण कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न सर्वोत्कृष्ट अवधिज्ञान को सर्वावधिज्ञान कहते हैं।

–'बहुरि सर्वावधिज्ञान है, सो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद रहित, हानि-वृद्धि रहित, अवस्थित सर्वोत्कृष्टता कौ प्राप्त है, जातैं अवधिज्ञानावरण का उत्कृष्ट क्षयोपशम तहां ही संभवै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२६)

प्रश्न २१- देशावधि, परमावधि, और सर्वावधिज्ञान मे मुख्य अन्तर क्या हैं?

उत्तर- देशावधि, परमावधि, और सर्वावधिज्ञान मे अनेक अन्तर हैं। मुख्य निम्न हैं-

१. देशावधिज्ञान **प्रतिपाती**[१] और **अप्रतिपाती**[२] दोनो होते है; जबकि परमावधि, और सर्वावधिज्ञान अप्रतिपाती ही होते हैं।

-'जातैं देशावधि तौ प्रतिपाती भी है; अप्रतिपाती भी है। परमावधि, सर्वावधि अप्रतिपाती ही हैं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२६)

२. देशावधि व परमावधिज्ञान के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद भी हैं; लेकिन सर्वावधिज्ञान सर्व भेदरहित है।

-'बहुरि सर्वावधिज्ञान है, सो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदरहित, हानि-वृद्धि रहित, अवस्थित सर्वोत्कृष्टता कौ प्राप्त है, जातैं अवधिज्ञानावरण का उत्कृष्ट क्षयोपशम तहां ही संभवै है। तातैं देशावधि, परमावधि के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद सभवै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२६)

३. जघन्य देशावधिज्ञान संयमी, असयमी मनुष्यो, और तिर्यञ्चो को, और उत्कृष्ट देशावधिज्ञान संयमी भावमुनियों को होता है; लेकिन परमावधि व सर्वावधिज्ञान **चरमशरीरी**[३] महाव्रती मुनियों को ही होता है।

-'देसावहिस्स य अवरं, णरतिरिये होदि संजदह्मि वरं।
परमोही सव्वोही, चरमसरीरस्स विरदस्स।। ३७४।।'

टीका- देशावधि का जघन्य भेद संयमी वा असंयमी मनुष्य, तिर्यञ्च विषैं ही हो है; देव,

---

१. **प्रतिपाती**- 'जो गिर जाता है'। -**श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२, पृष्ठ ७५ की पादटिप्पणी।**

'प्रतिपात कहिए सम्यक् चारित्र सौं भ्रष्ट होइ, मिथ्यात्व असयम कौ प्राप्त होना, तीहि सयुक्त जो होई; सो प्रतिपाती कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२५)

२. **अप्रतिपाती**- 'जो नहीं गिरता' -**श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२, पृष्ठ ७५ की पादटिप्पणी।**

-'जो प्रतिपाती न होइ, सो अप्रतिपाती कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२५)

३. **चरमशरीरी**- 'चरम कहिए ससार का अंत विषैं भया, तिस ही भवतैं मोक्ष होने का कारण, ऐसा **वज्रवृषभनाराच**[४] शरीर जिसका होइ, सो चरमशरीरी कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७४ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२५)

४. **वज्रवृषभनाराच**- वज्रवृषभनाराच सहनन नामक कर्म के उदय से प्राप्त होनेवाले वज्र के हाड़, वज्र के बेठन और वज्र की ही कीलियोंवाले शरीर को वज्रवृषभनाराच शरीर कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १८४, पृष्ठ ४१)

नारकी विषैं न हो है[१]। बहुरि देशावधि का उत्कृष्ट भेद संयमी महाव्रती मनुष्य विषैं ही हो है; जातै और तीन गति (देव, नारकी और तिर्यञ्च) विषैं महाव्रत संभवै नाहीं।

बहुरि परमावधि अर सर्वावधि जघन्य वा उत्कृष्ट (वा) चरमशरीरी महाव्रती मनुष्य विषैं संभवै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७४ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२५)

-'जघन्य देशावधि संयत तथा असंयत मनुष्यो और तिर्यञ्चों के होता है। उत्कृष्ट देशावधि संयत भावमुनि के ही होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७५)

४. देशावधि व परमावधिज्ञान के भेद (अनुगामी, अवस्थित, वर्धमान आदि) होते हैं, लेकिन सर्वावधिज्ञान सर्वभेद और हानि-वृद्धिरहित है।

-'तहा गुणप्रत्यय देशावधि ही छह प्रकार जानना' तथा,

-'बहुरि सर्वावधिज्ञान है, सो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद रहित, हानि-वृद्धि रहित, अवस्थित सर्वोत्कृष्टता कौ प्राप्त है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७२ व ३७६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२४ व ५२६)

-'देशावधि छह प्रकार, तथा प्रतिपाती और अप्रतिपाती- ऐसे आठ प्रकार का होता है और **परमावधि**[२]-अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, और अप्रतिपाती होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २२ की टीका, पृष्ठ ७६)

५. देशावधि व परमावधिज्ञान विकल्पसहित है लेकिन सर्वावधिज्ञान निर्विकल्प है।

-'सो यह ज्ञान (सर्वावधिज्ञान) निर्विकल्प है। यामें जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद नाहीं।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४१५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७४)

६. देशावधि व परमावधिज्ञान का विषय मर्यादित है; सर्वावधिज्ञान का विषय अमर्यादित है। देशावधिज्ञान एक खण्ड प्रमाण पुद्गलपरमाणु के स्कन्ध को और परमावधिज्ञान अति सूक्ष्म स्कन्ध को जानता है, लेकिन सर्वावधिज्ञान एक परमाणुमात्र को भी जानता है।

-'तहां एक खण्ड प्रमाण पुद्गल परमाणूनि का स्कंध नेत्रादिक इन्द्रियनि के गोचर नाहीं।

---

१. यहाँ गुणप्रत्यय अवधिज्ञान का प्रकरण है। देव और नारकियो (और गृहस्थ तीर्थङ्कर) को भवप्रत्यय देशावधिज्ञान होता है, गुणप्रत्यय देशावधिज्ञान नहीं होता है।

-'भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी, तथा तीर्थङ्करों के (गृहस्थदशा मे) होता है, वह नियम से देशावधि होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २१ की टीका, पृष्ठ ७४)

२. **परमावधिज्ञान-** प्रतिपाती; अर्थात्, जो गिर जाता है और हीयमान; अर्थात्, जो घटता जाता है, नहीं होता।

ताकौ जघन्य देशावधिज्ञान प्रत्यक्ष जाने है।' तथा,

-'उत्कृष्ट देशावधिज्ञान का विषयभूत जो द्रव्य कह्या, ताकौ एक बार **ध्रुवहार**[१] की भाग दीएं, जो प्रमाण होइ तितना परमाणूनि का स्कंधरूप जघन्य परमावधि ज्ञान का विषयभूत द्रव्य नियम करि जिनदेव ने कह्या है', तथा,

-'सूक्ष्म ध्रुवहार का जो परिमाण तितने परमाणूनि का स्कध कौं उत्कृष्ट परमावधिज्ञान जानै है।' तथा,

-'सर्वावधि ज्ञान पुद्गल परमाणु कौ जानै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७७, ४१३, ४१४ व ४१५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२७, ५४६ व ५४७)

प्रश्न २२- अवधिज्ञान का विषय क्या है?

उत्तर- अवधिज्ञान केवल रूपीपदार्थो को जानता है।

-'**रूपिष्ववधेः॥ २७॥**' -**अर्थ**- अवधिज्ञान का विषय-सम्बन्ध रूपीद्रव्यो मे है; अर्थात्, अवधिज्ञान रूपीपदार्थो को जानती है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २७ व अर्थ, पृष्ठ ८२)

प्रश्न २३- अवधि व मनःपर्ययज्ञान का विषय सूत्र में रूपीपदार्थों को ही कहा है, लेकिन उक्त सूत्र (श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २७) की टीका में जीव के औदयिक, औपशमिक, और क्षायोपशमिकभावों को भी अवधिज्ञान का विषय बताया है, सो कैसे?

उत्तर- परमार्थतः ये तीन भाव (औदयिक, औपशमिक, और क्षायोपशमिक) रूपी है; अर्थात्, वे अरूपी आत्मा का स्वरूप नहीं है, क्योंकि आत्मा से ये भाव दूर हो सकते हैं और जो आत्मा से दूर हो सकते हैं, वे परमार्थतः आत्मा के नही हो सकते। इस अपेक्षा से इन तीन भावों को रूपी कहा है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २७-२८ का सिद्धान्त, पृष्ठ ८३)

-'शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ये तीनो भाव (किसी भी जीव में) नहीं है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४७ एवं श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय २, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ १८१)

-'पर निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार, यद्यपि चैतन्य-जैसे दिखायी देते हैं; तथापि चैतन्य की सर्व अवस्थाओ में व्यापक न होने से चैतन्यशून्य हैं, जड़ हैं और आगम में भी

---

१. **ध्रुवहार**- 'मनोवर्गणा के जितने भेद हैं, तिनिकौं अनन्त का भाग दीजिए, एक भाग का जितना प्रमाण होई, सो ध्रुवहार का प्रमाण जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३८६ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५३२)

उन्हें अचेतन कहा है।' तथा,

-'वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते है; इसलिये वे निश्चय से पुद्गल ही हैं, क्योंकि कारण-जैसा ही कार्य होता है।'

(श्रीसमयसार, गाथा ६८ का भावार्थ, पृष्ठ ११५)

[अवधिज्ञान के भेद-प्रभेदो तथा उनके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-सम्बन्धी विषयों की विस्तृत जानकारी के लिये- **(१) श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३७० से ४३८ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५२१ से ५६० तक; (२) श्रीधवला, पुस्तक १, पृष्ठ ९३-९४; और (३) श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २१, २२ व टीका, पृष्ठ ७४ से ७७** तक का अध्ययन करे।]

एकबार मिथ्यात्व को छोड़ने का जी तोड़ प्रयत्न कर

ऐसा उत्तम योग फिर कब मिलेगा? निगोद से निकलकर त्रसपना प्राप्त करना, वह चिन्तामणि तुल्य दुर्लभ है। तो फिर मनुष्यपना प्राप्त करना; जैनधर्म का मिलना तो महादुर्लभ है। धन-सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त होना, वह दुर्लभ नहीं है। ऐसा जो उत्तम योग मिला है, वह अधिक काल तक नहीं रहेगा; इसलिये बिजली की चमक में मोती पिरोलेने जैसा है। ऐसा सुयोग फिर कब मिलेगा? इसलिये तू दुनिया के मान-सम्मान एवं धन-सम्पत्ति की महिमा छोड़कर, दुनिया क्या कहेगी उसका लक्ष्य छोड़कर- एकबार मिथ्यात्व को छोड़ने का जी तोड़ प्रयत्न कर।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या १५१, पृष्ठ ९४)

जिनवर और जीव में अन्तर नहीं

निश्चयदृष्टि से प्रत्येक जीव परमात्वस्वरूप ही है। जिनवर और जीव में अन्तर नहीं है। भले ही वह एकेन्द्रिय का जीव हो या स्वर्ग का जीव हो। वह सब तो पर्याय में है। आत्मवस्तु स्वरूप से तो परमात्मा ही है। पर्याय के ऊपर से हटकर जिसकी दृष्टि स्वरूप के ऊपर गयी है, वह तो अपने को परमात्मस्वरूप ही देखता है और प्रत्येक जीव को भी परमात्मस्वरूप देखता है। सम्यग्दृष्टि सर्व जीवों को जिनवर जानता है और जिनवर को जीव जानता है। अहा! कितनी विशाल दृष्टि। अरे, यह बात बैठ जाये तो कल्याण हो जाये, परन्तु ऐसी स्वीकृति को रोकनेवाले मिथ्यामान्यतारूपी गढ़ों को पार नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि बारह अङ्गों का सार यह है कि आत्मा को जिनवर-समान दृष्टि में लेना, क्योंकि आत्मा का स्वरूप परमात्मा-जैसा ही है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या २, पृष्ठ १-२)

मन:पर्ययज्ञान

प्रश्न १- मन:पर्ययज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की मर्यादासहित इन्द्रिय या मन की सहायता के बिना ही दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपीपदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

-'द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए जो दूसरे के मन में तिष्ठते हुए रूपी-पदार्थ को स्पष्ट जाने, वो मन:पर्ययज्ञान है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५८३, पृष्ठ १६०)

-'दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ को मन भी कहते है। उनकी पर्यायो (विशेषों) को मन:पर्यय कहते हैं। उसे जो ज्ञान जानता है, सो मन:पर्ययज्ञान है।' तथा,

-'दूसरे के मनोगत मूर्तिकद्रव्यो को मन के साथ जो प्रत्यक्ष जानता है, सो मन:पर्यय-ज्ञान है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७८)

-**'चिंतियमचिंतियं वा, अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।**
मणपज्जवं ति उच्चइ, जं जाणइ तं खु णरलोए।। ४३८।।'

टीका- **'चिंतितं'** कहिए अतीत काल में जिसका चिंतवन कीया अर **'अचिंतितं'** कहिए जाकौ अनागत काल विषै चितवेगा अर **'अर्धचिंतितं'** कहिए जो सम्पूर्ण चिंतया नाहीं। अैसा जो अनेक भेद लीए, अन्य जीव का मन विषैं प्राप्त हुआ अर्थ ताकौं जो जानैं सो मन:पर्यय कहिए। तथा

-'पराया मन विषैं तिष्ठता जो अर्थ सो मन कहिए। ताकौं पर्येति, कहिए जानैं, सो मन:पर्यय जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४३८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६०-५६१)

-'परकीय मनोगत अर्थ, मन कहलाता है। "पर्यय" में "परि" शब्द का अर्थ सब ओर और "अय" शब्द का अर्थ विशेष है। मन का पर्यय अर्थात् मन:पर्यय और मन:पर्यय का ज्ञान मन:पर्ययज्ञान है।'

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ ३२८, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १६४)

–'जो मन:पर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपने मन के अवलम्बन द्वारा अन्य के मन में रहे हुए मूर्तपदार्थ को विकल्पसहित (साकाररूप से) एकदेशप्रत्यक्ष जानता है, वह ईहामतिज्ञानपूर्वक मन:पर्ययज्ञान है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ २०)

प्रश्न २- मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति का सच्चा कारण क्या है?

उत्तर- मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति का सच्चा कारण आत्मा की शुद्धि है। इसके उत्पन्न होने में मन निमित्तकारण है।

–'इस ज्ञान (मन:पर्ययज्ञान) के होने में मन अपेक्षामात्र (निमित्तमात्र) कारण है; वह उत्पत्ति का कारण नही। इस ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा की शुद्धि से होती है।'

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ४४८-४५१-४५२, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७८)

प्रश्न ३- मन:पर्ययज्ञान कहाँ उत्पन्न होता है?

उत्तर- मन:पर्ययज्ञान द्रव्यमन-सम्बन्धी आत्मा के प्रदेशों में ही उत्पन्न होता है।

–**'मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा।'**

टीका- (तैसै) मन:पर्ययज्ञान **द्रव्यमन**[1] तैं उपजै है। नियम तैं और अङ्गनि के प्रदेशनि विषैं नाहीं उपजै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४२ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६३)

प्रश्न ४- मन:पर्ययज्ञान किस जीव को होता है?

उत्तर- मन:पर्ययज्ञान ऋद्धिधारी भावलिङ्गी महामुनियों को ही होता है, अन्य को नहीं।

–**'मणपज्जवं च णाणं, सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं।**
एगादिजुदेसु हवे, वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु।। ४४५।।'

टीका- प्रमत्त आदि सात गुणस्थान विषैं १. बुद्धि, २. तप, ३. वैक्रियिक, ४. औषध, ५. रस, ६. बल, ७. अक्षीण इनि सात रिद्धिनि विषैं एक, दोय आदि रिद्धिनि कर संयुक्त, बहुरि **वर्धमान**[3]

---

१. **द्रव्यमन**- **'हिदि होदि हु दव्वमणं, वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।**
अंगोवंगुदयादो, मणवग्गणखंधदो णियमा।। ४४३।।'

टीका- सो द्रव्यमन हृदयस्थान विषैं प्रफुल्लित आठ पांखुड़ी का कमल के आकार अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय तैं तेईस जाति की पुद्गल वर्गणानि विषैं **मनोवर्गणा**[2] हैं। तिनि स्कंधनि करि निपजै है, ऐसा नियम है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६३)

२. **मनोवर्गणा**- जो पुद्गल स्कन्ध द्रव्यमनरूप परिणमे, उन्हे मनोवर्गणा कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या २७, पृष्ठ ६)

३. **वर्धमान**- जो निरन्तर बढ़ता हुआ उत्कृष्टता को प्राप्त करे, सो वर्धमान है।

विशेष रूप चारित्र के धारी जे महामुनि, तिनिकै मनःपर्ययज्ञान हो है; अन्यत्र नाही।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६४)

-'मनःपर्ययज्ञान विशिष्ठ संयमधारी के होता है।'

(श्रीधवला, पुस्तक ६, पृष्ठ २८-२९, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७९)

-'परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय- ये ज्ञान मोक्षमार्ग मे प्रगट होते हैं;'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३५)

प्रश्न ५- मनःपर्ययज्ञान का विषय क्या है?

उत्तर- मनःपर्ययज्ञान दूसरे के मन में स्थित पदार्थ और उसकी पर्यायों को जानता है। मनःपर्ययज्ञान का विषय सर्वावधिज्ञान के अनन्तवें भाग तक है।

-**'तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य॥ २८॥'** -**अर्थ**- सर्वावधिज्ञान के विषयभूत रूपीद्रव्य के अनन्तवें भाग में मनःपर्ययज्ञान का विषय-सम्बन्ध है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २८ व अर्थ, पृष्ठ ८२)

-'यह जानपना द्रव्य-क्षेत्र-काल, और भाव की अपेक्षा से इस प्रकार है-

१. द्रव्यापेक्षा से[1]- जघन्यरूप से एक समय में होनेवाले औदारिक शरीर के निर्जरारूप द्रव्य तक जान सकता है; उत्कृष्टरूप से आठ कर्मों के समय में बँधे हुए **समयप्रबद्धरूप**[2] द्रव्य के अनन्त भागों में से एक भाग तक जान सकता है।

२. क्षेत्रापेक्षा से- जघन्यरूप से दो तीन कोस तक के क्षेत्र को जानता है; और उत्कृष्टरूप से मनुष्यक्षेत्र के भीतर जान सकता है।

३. कालापेक्षा मे- जघन्यरूप से दो तीन भवों का ग्रहण करता है; उत्कृष्टरूप से असंख्यात भवों का ग्रहण करता है।

४. भावापेक्षा से- द्रव्यप्रमाण मे कहे गये द्रव्यों की शक्ति को (भाव को) जानता है।

(श्रीधवला, पुस्तक १, पृष्ठ ९४, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७८)

प्रश्न ६- मनःपर्ययज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं- (१) ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान, और (२) विपुलमति मनःपर्ययज्ञान।

---

१. **श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४५१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६६।**

२. **समयप्रबद्ध**- एक समय मे जितने कर्म परमाणु और नोकर्म परमाणु बंधते हैं, उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।
(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३, पृष्ठ ७८ की पादटिप्पणी)

–'**ऋजुविपुलमती मन:पर्यय:।। २३।।**'

अर्थ- मन:पर्ययज्ञान, ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकार का है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २३ व अर्थ, पृष्ठ ७८)

–'सो यहु मन:पर्ययज्ञान सामान्यपनैं एक प्रकार है, तथापि भैद तैं दोय प्रकार है- ऋजुमति मन:पर्यय, विपुलमति मन:पर्यय।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४३९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६१)

प्रश्न ७- ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- 'ऋजु' अर्थात् सरल। जो ज्ञान मन में सरलरूप से चिन्तित पदार्थ को जाने, उसे ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

–'(ऋजुमति) मन में चिन्तित पदार्थ को जानता है; अचिन्तित पदार्थ को नहीं और वह भी सरलरूप से चिन्तित पदार्थ को जानता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७९)

–'तहां सरलपनैं मन, वचन, काय करि कीया जो अर्थ जीव का मन विषैं चिन्तवनरूप प्राप्त भया ताके जानने तैं निष्पन्न भई, ऐसी **ऋज्वी** कहिए सरल है मति जाकी, सो ऋजुमति कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४३९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६१)

प्रश्न ८- ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान के तीन भेद हैं- (१) सरल मन से चिंतित विषय को जाननेवाला, (२) सरल वचन के विषय को जाननेवाला, और (३) सरल काय के विषय को जाननेवाला।

–'**उजुमणवयणे काए, गदत्थविसया त्ति णियमेण।।**'

टीका- तहां ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान नियम करि तीन प्रकार है। **ऋजु**[1] मन विषैं प्राप्त भया **अर्थ**[2] का जानन हारा बहुरि ऋजु वचन विषैं प्राप्त भया अर्थ का जानन हारा, बहुरि ऋजुकाय विषैं प्राप्त भया अर्थ का जानन हारा ऐसैं ए तीन भैद हैं।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४३९ की द्वितीय पंक्ति व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६१)

प्रश्न ९- ऋजुमति के इन तीन भेदों का क्या तात्पर्य है?

---

१. **ऋजु**- (क) सरल; '**ऋज्वी कहिए सरल**'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४३९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६१)

(ख) यथार्थ, सरल, सीधे मन, वचन, और काय का व्यापार ऋजु कहलाता है।

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ ३२८, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १६५)

२. **अर्थ**- विषय; '**अर्था: कहिए विषय**'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६२)

सारणी २७ : मन:पर्ययज्ञान के भेद व विषय

मन:पर्ययज्ञान

- ऋजुमति
  - ऋजुमन का विषय
  - ऋजुवचन का विषय
  - ऋजुकाय का विषय
- विपुलमति
  - ऋजु[1] मन[2] का विषय
  - ऋजुवचन[3] का विषय
  - ऋजुकाय[4] का विषय
  - वक्रमन[5] का विषय
  - वक्रवचन का विषय
  - वक्रकाय का विषय
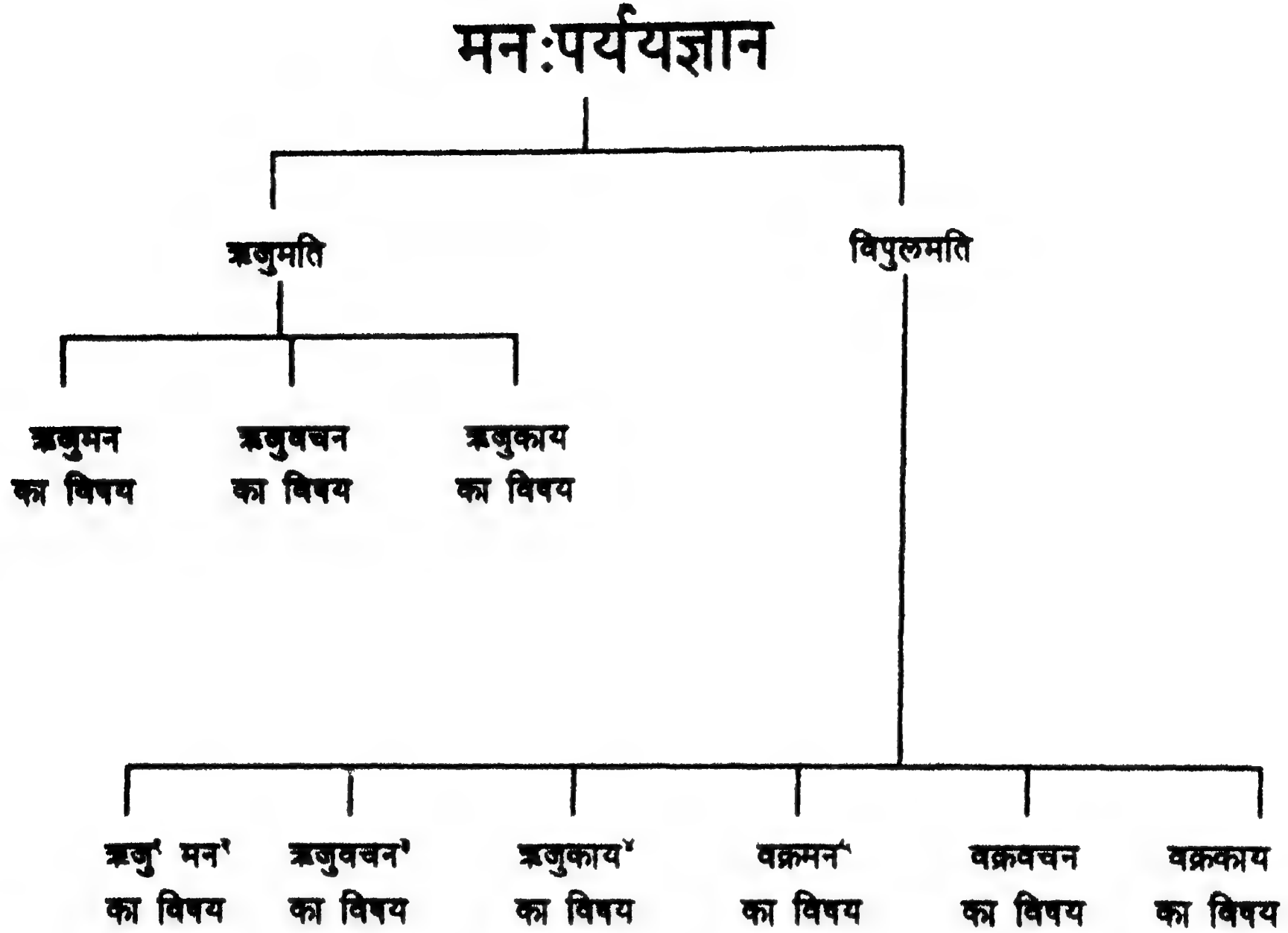
आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४३८ से ४४० एवं टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६० से ५६२; एवं श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ व टीका, पृष्ठ ७८ से ८०।

उत्तर- 'कोई भी सरल मन करि निष्पन्न होत संता त्रिकाल सम्बन्धी पदार्थनि कौं चिंतवन भया, वा सरल वचन करि निष्पन्न करि निष्पन्न होत संता, तिनकौं कहत भया, वा सरल काय करि निष्पन्न होत संता, तिनकौं करत भया, पीछैं भूलि करि कालांतर विषैं यादि करने कौं समर्थ न हूवा अर आय करि ऋजुमति मन:पर्ययज्ञानी कौ पूछत भया वा यादि करने का अभिप्राय कौं धारि मौन ही तैं खडा रहया, तौ तहां ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान स्वयमेव सर्व कौं जानै है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ. ५६२)

---

१. **ऋजु-** सरल। २. **मन-** मन से चिन्तित विषय को जाननेवाला।

३. **वचन-** वचन के विषय को जाननेवाला। ४. **काय-** काय के विषय को जाननेवाला।

५. **वक्र-** कुटिल; विपुल।

प्रश्न १०- विपुलमति मनःपर्ययज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- **'विपुल'**[1] अर्थात् कुटिल। जो ज्ञान मन में सरल अथवा वक्र (कुटिल) रूप से चिन्तित अथवा अचिन्तित पदार्थ (विषय) को जाने, उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

-'(विपुलमति) चिन्तित और अचिन्तित पदार्थ को तथा वक्रचिन्तित और अवक्रचिन्तित पदार्थ को भी जानता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७९)

-'विपुलमतिज्ञान में ऋजु और वक्र (सरल और पेचीदा)- सर्व प्रकार के रूपीपदार्थों का ज्ञान होता है। अपने तथा दूसरों के जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ इत्यादि का भी ज्ञान होता है।'

(श्रीधवला, पुस्तक १३, पृष्ठ ३२८ से ३४४, सूत्र ६० से ७८, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७९)

-'विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी व्यक्त अथवा अव्यक्त, मन से चिन्तित या अचिन्तित अथवा आगे जाकर चिन्तवन किये जानेवाले सर्व प्रकार के पदार्थ को जानता है।'

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ४४८-४५१-४५२, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७९)

-'बहुरि सरल वा वक्र मन, वचन, काय करि कीया जो अर्थ अन्य जीव का मन विषैं चितवनरूप प्राप्त भया, ताके जानने तैं निष्पन्न भई वा नाही नाई निष्पन्न भई अैसी **"विपुला"** कहिए कुटिल है मति जाकी, सो विपुलमति कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४३९ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६१)

-'जो ऋजु मन, वचन, कायगत को तथा **अनृजु**[2] मन, वचन, कायगत को जानता है, उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ ३४०, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १६५)

प्रश्न ११- विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के छः भेद हैं- (१) सरल मन के विषय को जाननेवाला, (२) सरल वचन के विषय को जाननेवाला, (३) सरल काय के विषय को जाननेवाला, (४) कुटिल मन के विषय को जाननेवाला, (५) कुटिल वचन के विषय को जाननेवाला, और (६) कुटिल काय के विषय को जाननेवाला।

---

१. **'विपुल'** का अर्थ विस्तीर्ण-विशाल-गम्भीर होता है। [इसमें कुटिल, असरल, विषम, सरल इत्यादि गर्भित हैं।]
 -श्रीधवला, पुस्तक १३, पृष्ठ ३२८ से ३४४, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृष्ठ ७९।

२. **अनृजु**- संशय, विपर्यय, और अनध्यवसायरूप मन, वचन, और काय का व्यापार अनृजु कहलाता है।
 (श्रीधवला पुस्तक १३, पृष्ठ ३२८, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १६५)

–'विपुलमति ज्ञान भी छह प्रकार है– १. ऋजुमन कौ प्राप्त भया अर्थ का जानन हारा, २. ऋजुवचन कौं प्राप्त भया अर्थ का जानन हारा, ३. ऋजुकाय कौ पाप्त भया अर्थ का जानन हारा, ४. बहुरि वक्र मन कौं प्राप्त भया अर्थ का जानन हारा, ५. बहुरि वक्र वचन कौं प्राप्त भया अर्थ का जानन हारा, ६. बहुरि वक्र काय कौं प्राप्त भया अर्थ का जानन हारा। ए छह भेद हैं, जातैं सरल वा वक्र मन, वचन, काय कौं प्राप्त भया पदार्थ कौ जानैं है।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६२)

प्रश्न १२– विपुलमति के इन छह भेदो का क्या तात्पर्य है?

उत्तर– 'तैसैं ही सरल वा वक्र मन, वचन, काय करि निष्पन्न होत संता त्रिकाल सम्बन्धी पदार्थनि कौं चिंतवन भया वा कहत भया वा करत भया। बहुरि भूलि करि केतेक काल पीछै यादि करने कौं समर्थ न हूवा, आय करि विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी के निकटि पूछत भया वा मौन तै खडा रह्या, तहां विपुलमति मनःपर्ययज्ञान सर्व कौं जानैं, ऐसैं इनिका स्वरूप जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४० की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६२)

प्रश्न १३– ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में मुख्य अन्तर क्या हैं?

उत्तर– ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में मुख्य अन्तर परिणामों की विशुद्धिसहित अनेक हैं–

१. ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में परिणामों की विशुद्धि अधिक है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान प्रतिपाती और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अप्रतिपाती है;

–'विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।। २४।।'

अर्थ– परिणामों की विशुद्धि और अप्रतिपात; अर्थात्, केवलज्ञान होने से पूर्व न छूटना– इन दो बातों से ऋजुमति और विपुलमतिज्ञान में विशेषता (अन्तर) है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २४ व अर्थ, पृष्ठ ८०)

–'पडिवादी पुण पढमा, अप्पडिवादी हु होदि बिदिया हू।
सुद्धो पढमो बोहो, सुद्धतरो विदियबोहो दु।। ४४७।।'

टीका– पहिला ऋजुमति मनःपर्यय है, सो प्रतिपाती है। बहुरि दूसरा विपुलमति मनःपर्यय है, सो अप्रतिपाती है। जाकैं विशुद्ध परिणामनि की घटवारी होइ, सो प्रतिपाती कहिए। जाकैं विशुद्ध परिणामनि की घटवारी न होइ, सो अप्रतिपाती कहिए। बहुरि ऋजुमति मनःपर्यय तौ विशुद्ध है; जातैं प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम तैं निर्मल भया है। बहुरि विपुलमति मनःपर्यय विशुद्धतर है; जातैं अतिशय करि निर्मल भया है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४७ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६४)

–'विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नहीं छूट सकता, किन्तु केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है। संयम परिणाम का घटना– उसकी हानि होना–प्रतिपात है जो कि किसी ऋजुमतिवाले के होता है। यह भेद (अन्तर) चारित्र की तीव्रता के भेद के कारण होते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २४ की टीका, पृष्ठ ८०)

२. ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान के होने में इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय और योग निमित्त है, लेकिन विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में इनकी (इन्द्रिय, मन आदि की) अपेक्षा नहीं है;

–'इंदियणोइंदियजोगादिं, पेक्खित्तु उजुमदी होदि।
णिरवेक्खिय विउलमदी, ओहिं वा होदि णियमेण।। ४४६।।'

टीका– ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है; सो अपने वा अन्य जीव के स्पर्शनादिक इंद्री अर नोइंद्रिय मन अर मन, वचन, काय योग तिनिकी सापेक्ष तैं उपजे है। बहुरि विपुलमति मनःपर्यय है; सो अवधिज्ञान की सी नाई, तिनकी अपेक्षा बिना ही नियम करि उपजै है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४४६ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६४)

३. विपुलमति मनःपर्ययज्ञान का विषय ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा अनन्तगुणा सूक्ष्म है;

–'सर्वावधि का विषय है; उसका अनन्तवाँ भाग ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान का विषय है; और उसका अनन्तवाँ भाग विपुलमति मनःपर्ययज्ञान का विषय है।'

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ४७३, आधार–श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २८ की टीका, पृ० ८२)

४. क्षेत्र अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान से विपुलमति मनःपर्ययज्ञान को अधिक क्षेत्र का ज्ञान है; और

–'गाउयपुधत्तमवरं, उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं।
विउलमदिस्स य अवरं, तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं।। ४५५।।'

टीका– ऋजुमति का विषयभूत जघन्य क्षेत्र पृथक्त्व कोश प्रमाण है, सो दोय, तीन कोश प्रमाण जानना। बहुरि उत्कृष्ट क्षेत्र पृथक्त्व योजन प्रमाण है, सो सात वा आठ योजन प्रमाण जानना। बहुरि विपुलमति का विषयभूत जघन्य क्षेत्र पृथक्त्व योजन प्रमाण है, सो आठ वा नव योजन प्रमाण जानना। बहुरि उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४५५ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६७)

–'यह ज्ञान (ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान) जघन्यरूप से तीन से ऊपर और नौ से नीचे कोस; तथा उत्कृष्टरूप से तीन से ऊपर और नौ से नीचे योजन के भीतर जानता है। उससे बाहर नहीं जानता

है। विपुलमति मन:पर्ययज्ञान जघन्यरूप से तीन से ऊपर और नौ से नीचे योजन प्रमाण जानता है और उत्कृष्टरूप से मानुषोत्तर पर्वत के भीतर तक जानता है; उससे बाहर नहीं।'

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ४५४, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ की टीका, पृ० ७९)

५. काल अपेक्षा भी ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान से विपुलमति मन:पर्ययज्ञान को अधिक काल का ज्ञान है।

-'दुग-तिग-भवा हु अवरं, सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं।
अड-णवभवा हू अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं।। ४५७।।'

टीका- काल करि ऋजुमति का विषय, जघन्यपनै अतीत-अनागत रूप दोय, तीन भव है; **उत्कृष्टतैं** सात, आठ भव है। बहुरि विपुलमति का विषय जघन्य आठ-नव भव है; उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भाग मात्र है। ऐसैं अतीत, अनागत अपेक्षा काल प्रति जघन्य उत्कृष्ट भेद कहे।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४५७ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६८)

-'ऋजुमति जघन्यरूप से भूत-भविष्यत के अपने और दूसरे के दो-तीन भव जानता है और उत्कृष्टरूप से उसी प्रकार सात-आठ भव जानता है। विपुलमति जघन्यरूप से अगले पिछले सात-आठ भव जानता है और उत्कृष्टरूप से अगले पिछले असंख्यात भव जानता है।'

(श्रीसर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ४५४, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३ टीका, पृष्ठ ७९)

प्रश्न १४- अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में क्या अन्तर है?

उत्तर- अवधि और मन:पर्ययज्ञान में विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी, और विषय की अपेक्षा विशेषता होती है।

-'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन:पर्यययो:।। २५।।'

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २५ का अर्थ व सूत्र, पृष्ठ ८०)

-'मन:पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव-मुनियों के ही होता है और अवधिज्ञान चारों गतियों के सैनी जीवों के होता है- यह स्वामी की अपेक्षा से भेद है। उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात लोकप्रमाण तक है और मन:पयर्यज्ञान का ढायी द्वीप मनुष्यक्षेत्र है- यह क्षेत्रापेक्षा भेद है। स्वामी तथा विषय के भेद से विशुद्धि मे अन्तर जाना जा सकता है। अवधिज्ञान का विषय परमाणु पर्यन्त रूपीपदार्थ हैं और मन:पर्यय का विषय मनोगत विकल्प हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २५ की टीका, पृष्ठ ८०)

[मन:पर्ययज्ञान, उसके भेद-प्रभेद एवं विषय की विस्तृत जानकारी के लिये- **(१) श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४३८ से ४५९, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका, पृष्ठ ५६० से ५६९ तक, और (२) श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २३, २४, २५ एवं २८ व उनकी टीका, पृष्ठ ७८ से ८३** तक का अध्ययन करें।]

केवलज्ञान

प्रश्न १- केवलज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् (एकसाथ) स्पष्ट जाने, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५८५, पृष्ठ १६१)

-'संपुण्णं तु समग्गं, केवलमसवत्तसव्वभावगयं।

लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं।। ४६०।।'

टीका- जीवद्रव्य के शक्तिरूप जे सर्व ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद थे, ते सर्व व्यक्त रूप भए, तातैं सपूर्ण हैं। बहुरि ज्ञानावरणीय अर वीर्यांतराय नामा कर्म के सर्वथा नाशतैं जिसकी शक्ति रुकै नाहीं है वा निश्चल है, तातैं समग्र है। बहुरि इन्द्रियनि का सहाय करि रहित है, तातैं केवल है। बहुरि प्रतिपक्षी च्यारि घाति कर्म के नाश तैं अनुक्रम रहित सकल पदार्थनि विषैं प्राप्त भया है, तातैं असंपत्न है। बहुरि लोकालोक विषैं अज्ञान अंधकार रहित प्रकाशमान है। ऐसा अभेदरूप केवलज्ञान जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४६० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५६९)

-'ज्ञान (केवलज्ञान) जानने के क्रम से रहित है। एक ही समय में समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानता है; आगे-पीछे नहीं जानता। सब क्षेत्र, सब काल, सब भाव को निरन्तर प्रत्यक्ष जानता है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १९६ का भावार्थ, पृष्ठ ३०१)

-'जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।

अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं।। ४७।।'

अन्वयार्थ- जो एक ही साथ सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशों से) तात्कालिक या अतात्कालिक विचित्र (अनेक प्रकार के) और विषम (मूर्त, अमूर्त आदि असमान जाति के) समस्त पदार्थों को जानता है, उस ज्ञान को क्षायिक (केवलज्ञान) कहा है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ४७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ८१-८२)

-'सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञान को

केवलज्ञान कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

-'निज शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जिसका लक्षण है, ऐसे एकाग्रध्यान द्वारा **केवलज्ञानावरणादि** चार घातिकर्मों का नाश होनेपर जो उत्पन्न होता है; वह एक समय में समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव को ग्रहण करनेवाला सर्वप्रकार से **उपादेयभूत**[1] केवलज्ञान है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ २१)

प्रश्न २- केवलज्ञान क्या है?

उत्तर- केवलज्ञान अर्थात् क्षायिकज्ञान; पूर्णज्ञान। केवल का अर्थ 'पर से भिन्न निज स्वभाव' है। केवलज्ञान ज्ञानगुण की पूर्ण शुद्धदशा अर्थात् पर्याय है और आत्मा का स्वभाव है।

-'केवलज्ञान ही आत्मा का निजस्वभाव है और केवली को ही परमात्मा कहते हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा १९७ की टीका, पृष्ठ ३०१)

-'केवलज्ञान मोक्षरूप है; इसलिये इस अनादि ससार-अवस्था मे इसका सद्भाव ही नहीं है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३५)

-' "जो परभाव से भिन्न निःकेवल आप ही"- उसका नाम केवल है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २००)

प्रश्न ३- केवलज्ञान कैसा है?

उत्तर- 'केवलज्ञान असहाय ज्ञान है; अर्थात्, यह ज्ञान इन्द्रिय, मन या आलोक (प्रकाश) की अपेक्षा से रहित है। वह त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानता है। वह असंकुचित, प्रतिपक्षीरहित, और अमर्यादित है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ८३)

-'वह केवलज्ञान सकल है, सम्पूर्ण है, और असपत्न है।'

(श्रीषट्खण्डागम-धवलाटीका, पुस्तक १३, सूत्र ८१, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ट ५, पृष्ठ १६६)

प्रश्न ४- केवलज्ञानी के दूसरे नाम क्या हैं?

उत्तर- केवलज्ञानी के परमात्मा, ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, बुद्ध, आदि एक हजार आठ नाम हैं।

---

१. **उपादेय**- ग्राह्य; ग्रहण करने योग्य। उपादेयपना मुख्यरूप से दो प्रकार कहा जाता है- (क) जब निज ध्रुव शुद्धात्मा-ज्ञायकस्वभाव आत्मा-उपादेय कहा जाता है, तब वह 'आश्रय करने योग्य' रूप से उपादेय समझना। (ख) जब केवलज्ञान, सिद्धत्व आदि पर्यायें उपादेय कही जाती है, तब वे पर्यायें 'प्रगट करने योग्य' रूप से उपादेय समझना।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५, पृष्ठ २१ की पादटिप्पणी)

-'णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं॥ १५१॥'

अर्थ- (केवलज्ञानी) ज्ञानी है, शिव है, परमेष्ठी है, सर्वज्ञ है, विष्णु है, चतुर्मुखब्रह्मा है, बुद्ध है, आत्मा है, परमात्मा है और कर्मरहित है- यह स्पष्ट जानो।

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा १५१ व अर्थ, पृष्ठ २२१-२२२)

-'सकलविमल केवलज्ञान द्वारा समस्त लोकालोक को जानता है- व्याप्त होता है, अत: **"विष्णु"** कहलाता है। परमब्रह्म नामक निजशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत द्वारा तृप्त होने से उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा आदि देवकन्याओ द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित नहीं होता, वह **"परमब्रह्म"** कहलाता है। केवलज्ञानादि गुणरूप ऐश्वर्यसहित होने के कारण देवेन्द्रादि भी उस पद की अभिलाषा करते हुए जिनकी आज्ञा मानते हैं, उन्हें **"ईश्वर"** नाम होता है। केवलज्ञान शब्द से वाच्य **"सु"** अर्थात् उत्तम, **"गत"** अर्थात् ज्ञान जिसको है, वह **"सुगत"** है; अथवा जिसने शोभायमान अविनश्वर मुक्तिपद को प्राप्त किया है, वह **"सुगत"** है। **"शिव परमकल्याण निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिव: परिकीर्त्तित:"** शिव; अर्थात्, परमकल्याण, निर्वाण, और अक्षयज्ञानरूप मुक्तिपद को जिसने प्राप्त किया है, वह **"शिव"** कहलाता है। इस श्लोक में कथित लक्षणयुक्त **"शिव"** है। काम-क्रोधादि दोष का जय करने से अनन्ताज्ञानादि गुणसहित वह **"जिन"** है- इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार और आठ नामों से वाच्य परमात्मा (केवलज्ञानी) जानना।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४ की टीका, पृष्ठ ५५-५६)

प्रश्न ५- केवलज्ञान होनेपर क्या होता है?

उत्तर- केवलज्ञान होनेपर अनन्तचतुष्टयरूप जीव का निजस्वभाव प्रकट होता है।

-'(केवलज्ञान होनेपर) सर्व लोकालोक प्रत्यक्ष ज्ञायक-दर्शक हुआ; सर्वज्ञ सर्वदर्शी हुआ; लोकालोक प्रतिबिम्बित हुआ; अतीत, अनागत, वर्तमान की अनन्त अनन्त पर्यायें सर्व प्रत्यक्षरूप से एक ही साथ उत्कीर्ण (आलेखित) हुई। ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण स्वरूपरूप हुए। ज्ञान, दर्शन, वीर्यादि गुण मोक्षरूप उत्पन्न हुए। अप्रमत्त अवस्था (सातवें गुणस्थान) से चारित्रादि गुणों की शक्तियों का मोक्षरूप होने का मार्ग प्रधानता से आरम्भ हुआ था, वह मार्ग यहाँ परिपूर्ण होकर उत्पन्न हुआ। चारित्रादि गुण मोक्षरूप निष्पन्न हुए, तब गुणमोक्ष सम्पूर्ण हुआ।'

(आत्मावलोकन, मोक्षमार्ग अधिकार, पृष्ठ ८८)

प्रश्न ६- अनन्तचतुष्टयरूप निजस्वभाव प्रगट होने से क्या होता है?

उत्तर- चार घातिया कर्मों का नाश होनेपर अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, और बल (वीर्य)- ये चार गुण प्रगट होते हैं। जब जीव के इन गुणों की पूर्ण निर्मलदशा प्रकट होती है, तब लोकालोक

को प्रकाशित करता है; अर्थात्, जानता है।

–'बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति।

णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि।। १५०।।'

भावार्थ– घातिया कर्मों का नाश होनेपर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्य –ये 'अनन्तचतुष्टय' प्रकट होते हैं। अनन्त दर्शनज्ञान से छह द्रव्यो से भरे हुए इस लोक में अनन्तानन्त जीवों को; इनसे भी अनन्तानन्तगुणे पुद्गलों को; तथा धर्म–अधर्म–आकाश ये तीन द्रव्य और असख्यात कालाणु इन सब द्रव्यो की अतीत, अनागत, और वर्तमानकाल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों को; भिन्न–भिन्न एक समय में स्पष्ट देखता है और जानता है। अनन्तसुख से अत्यन्त तृप्तिरूप है और अनन्त शक्ति द्वारा अब किसी भी निमित्त से अवस्था पलटती (बदलती) नहीं है– ऐसे अनन्त चतुष्टयरूप जीव का निज स्वभाव प्रकट होता है।

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा १५०, अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ २२१)

प्रश्न ७– केवलज्ञान का विषय क्या है?

उत्तर– केवलज्ञान का विषय विश्व के सभी द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायि है। केवलज्ञान समस्त द्रव्यों को उनकी भूत, वर्तमान, और भविष्य–सम्बन्धी सर्व पर्यायो को भिन्न–भिन्न युगपत प्रत्यक्ष जानता है।

–'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।। २९।।'

अर्थ– केवलज्ञान का विषय–सम्बन्ध सर्वद्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें हैं; अर्थात्, केवलज्ञान एक ही साथ सभी द्रव्यों को और उनकी सभी पर्यायों को जानता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २९ व अर्थ, पृष्ठ ८३)

–'तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।

वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।। ३७।।'

टीका– (जीवादिक) समस्त द्रव्यजातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा तीनोकाल की मर्यादा जितनी होने से उनकी क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूप–सम्पदावाली, विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्यायें है, वे सब तात्कालिक पर्यायों की भाँति, अत्यन्त मिश्रित **होनेपर भी**[1] सब पर्यायों के लक्षण स्पष्ट ज्ञात हों, इस प्रकार एक क्षण में ही, ज्ञानमन्दिर में (केवलज्ञान में) स्थिति

---

१. 'ज्ञान में समस्त द्रव्यों की तीनों काल की पर्यायि एक ही साथ ज्ञात **होनेपर भी** प्रत्येक पर्याय का विशिष्ठ स्वरूप, प्रदेश, काल, आकार इत्यादि विशेषताएँ– स्पष्ट ज्ञात होती है, **सङ्कर**[2]–**व्यतिकर**[3] नहीं होते।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३७ की श्रीजयसेनाचार्य की संस्कृत टीका, आधार–श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ ८४ एवं श्रीप्रवचनसार, पृष्ठ ६६ की पादटिप्पणी)

२. **सङ्करदोष**– **'सर्वेषाम् युगपत्प्राप्तिः सङ्करः'**– जो अनेक द्रव्यो के एकरूपता की प्राप्ति है, सो सङ्करदोष है।

..............क्रमशः

को प्राप्त होती हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३७ व टीका, पृष्ठ ६६)

-'केवली भगवान त्रिकालावच्छित लोक-अलोकसम्बन्धी सम्पूर्ण गुण-पर्यायों से समन्वित अनन्त द्रव्यों को जानते हैं।'

(श्रीमहाबन्ध, प्रथम भाग, प्रकृतिबन्धाधिकार, पृष्ठ २७-२८, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ट ५, पृष्ठ १७४)

प्रश्न ८- क्या केवलज्ञान की मर्यादा विश्व के सभी द्रव्यो, उनके गुणों, और त्रिकालवर्ती पर्यायों के जानने तक ही सीमित है?

उत्तर- नहीं, केवलज्ञान की कोई सीमा नहीं है। केवलज्ञान अमर्यादित है।

-'जगत के जितने पदार्थ हैं, उतनी ही केवलज्ञान की शक्ति या मर्यादा नहीं है; केवलज्ञान अनन्त है। यदि लोक अनन्त गुणित भी होता, तो केवलज्ञान सिन्धु में वह बिन्दु तुल्य समा जाता।'

(श्रीमहाबन्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ २७ व श्रीधवला, पुस्तक १३, पृष्ठ ३४६ से ३५३, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ट ५, पृष्ठ १७५)

प्रश्न ९- क्या लोक-अलोक को जानने के कारण आत्मा को सर्वगत (सर्वव्यापक) कहा जा सकता है?

उत्तर- सर्व (लोक-अलोक) को केवलज्ञान द्वारा जानने की अपेक्षा से आत्मा को व्यवहार से सर्वव्यापक कहा जा सकता है।

-'यह आत्मा व्यवहारनय से केवलज्ञानकर लोक-अलोक को जानता है, और शरीर में रहने पर भी निश्चयनय से अपने स्वरूप को जानता है। इस कारण ज्ञान की अपेक्षा तो व्यवहारनय से सर्वगत है; प्रदेशों की अपेक्षा नहीं है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ५२ का भावार्थ, पृष्ठ ५०)

प्रश्न १०- केवलज्ञान लोकालोक को व्यवहारनय से जानता है- ऐसा मानने पर क्या केवलज्ञानी का सर्वज्ञपना भी व्यवहार से कहलायेगा?

उत्तर- ऐसा ही प्रश्न श्रीपरमात्मप्रकाश ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य ब्रह्मदेव ने दोहा ५२ की संस्कृत टीका में उठाकर स्वयं उत्तर दिया है।

---

१. **व्यतिकरदोष**- **'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः'**- एक का विषय दूसरे में चले जाना व्यतिकर दोष है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ५, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ३६३)

[**सङ्कर**, व्यतिकर, अधिकरण आदि ९ (नौ) दोषों के विस्तृत अध्ययन के लिये **श्रीमोक्षशास्त्र ग्रन्थ, अध्याय ५, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ३६३ से ३६५ तक** का अध्ययन करें।]

–'यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जो (केवलज्ञानी) व्यवहारनय से लोकालोक को जानता है और निश्चयनय से नहीं, तो व्यवहारनय से सर्वज्ञपना हुआ; निश्चयनयकर न हुआ?

उसका समाधान करते हैं– जैसे अपनी आत्मा को तन्मयी होकर जानता है, उस तरह परद्रव्य को तन्मयीपने से नहीं जानता; भिन्नस्वरूप जानता है। इस कारण व्यवहारनय से कहा; कुछ ज्ञान के अभाव से नहीं कहा। ज्ञानकर जानपना तो निज और पर का समान है। जैसे अपने को सन्देहरहित जानता है, वैसा ही पर को भी जानता है। इसमें सन्देह नहीं समझना, लेकिन निजस्वरूप से तो तन्मयी है और पर से तन्मयी नहीं। और जिस तरह निज को तन्मयी होकर निश्चय से जानता है; उसी तरह यदि पर को भी तन्मय होकर जाने तो पर के सुख, दुःख, राग, द्वेष के ज्ञान होनेपर सुखी, दुःखी, रागी, द्वेषी होवे, यह बड़ा दूषण है। सो इस प्रकार कभी नही हो सकता।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ५२, भावार्थ, पृष्ठ ५०-५१)

प्रश्न ११– केवलज्ञान नष्ट (भूत) और अनुत्पन्न (भविष्य की) पर्यायों को वर्तमानकाल में कैसे जान सकता है?

उत्तर– 'जगत में भी देखा जाता है कि अल्पज्ञ (**छद्मस्थ**[1]) जीव का ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं का चिन्तवन कर सकता है; अनुमान के द्वारा जान सकता है; तदाकार हो सकता है। तब फिर पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायों को क्यों न जान सकेगा? ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि चित्रपट की भाँति अतीत और अनागत पर्यायों को भी जान सकती है और **आलेख्यत्व**[2] शक्ति की भाँति द्रव्यों की ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) शक्ति ऐसी है कि उनकी अतीत और अनागत पर्यायें भी ज्ञान में ज्ञेयरूप होती है, ज्ञात होती है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३७ का भावार्थ, पृष्ठ ६७)

–'जो (पर्यायें) अभी तक उत्पन्न नहीं हुई और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गयी हैं, वे (पर्यायें) वास्तव में अविद्यमान होनेपर भी ज्ञान के प्रति नियत होने से (ज्ञान में निश्चित-स्थिर-लगी हुई होने से; ज्ञान में सीधी ज्ञात होने से) ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई; पाषाण स्तम्भ में उत्कीर्ण, भूत और भावी देवों (तीर्थङ्करदेवों) की भाँति अपने स्वरूप को अकम्पतया (ज्ञान को) अर्पित करती हुई; (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३८ की टीका, पृष्ठ ६८-६९)

–'केवलज्ञान निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षा (निमित्त) के बिना ही नष्ट और

---

१. **छद्मस्थ**– 'छद्म' शब्द से ज्ञानावरण और दर्शनावरण– ये दो कहे जाते हैं। उस छद्म मे जो रहता है, वह **छद्मस्थ** है।
(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ की टीका, पृष्ठ २१५)

२. **आलेख्य**– आलेखन योग्य, चित्रित करने योग्य।
(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३७ की टीका, पृष्ठ ६७ की पादटिप्पणी)

अनुत्पन्न पदार्थों को जाने, तो इसमें कोई विरोध नहीं आता। केवलज्ञान को विपर्ययज्ञानत्व का भी प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि वह यथार्थ स्वरूप से पदार्थों को जानता है। यद्यपि नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं का वर्तमान में सद्भाव नहीं है, तथापि उनका अत्यन्ताभाव भी नहीं है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ८३)

प्रश्न १२- केवलज्ञान एक ही समय में तीनोंकाल (भूत, भविष्य, वर्तमान) कैसे जान सकता है?

उत्तर- केवलज्ञान अपनी दिव्यता और अमर्यादित स्वभाव के कारण एक ही समय में विश्व के समस्त पदार्थों को उनकी भूत, भविष्य, और वर्तमान पर्यायोंसहित एक साथ, युगपत, प्रत्यक्ष जानता है।

-'जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।। ३९।।'

भावार्थ- अनन्त महिमावान केवलज्ञान की यह दिव्यता है कि वह अनन्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को (अतीत और अनागत पर्यायों को भी) सम्पूर्णतया एक ही समय प्रत्यक्ष जानता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ३९ व भावार्थ, पृष्ठ ६९-७०)

-'जिसका अनिवार (अर्थात्, रोका न जा सके ऐसा अमर्यादित) फैलाव है; ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) अवश्यमेव सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को जानता है।' तथा,

-'क्रमपूर्वक जानना, नियत आत्मप्रदेशों से ही जानना, अमुक को ही जानना-इत्यादि मर्यादाएँ मति-श्रुतादि क्षायोपशमिक ज्ञान में ही सम्भव हैं। क्षायिकज्ञान के अमर्यादित होने से एक ही साथ सर्व आत्मप्रदेशों से, तीनों काल की पर्यायों के साथ सर्व पदार्थों को- उन पदार्थों के अनेक प्रकार के और विरुद्ध जाति के होनेपर भी-जानता है; अर्थात्, केवलज्ञान एक ही समय में सर्व आत्मप्रदेशों से समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ४७ की टीका व भावार्थ, पृष्ठ ८३)

-'एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूहवाले; अगाधस्वभाव और गम्भीर; ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों- इस प्रकार एक क्षण में ही जो प्रत्यक्ष करता है,............।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २०० की टीका, पृष्ठ ३८५-३८६)

प्रश्न १३- क्या केवलज्ञान सब ज्ञेयों को क्रमपूर्वक जानता है?

उत्तर- नहीं, केवलज्ञान सभी ज्ञेयों को युगपत् जानता है। क्रमपूर्वक; अर्थात्, एक-एक करके जाने, तो विश्व के सभी पदार्थों को कभी भी नहीं जाना जा सकता।

-'यदि क्रमपूर्वक केवलीभगवान अनन्तानन्त पदार्थों को जानते, तो सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार न हो पाता।'

(श्रीमहाबन्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ २७ तथा श्रीधवला, पुस्तक १३, पृष्ठ ३४६ से ३५४, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ठ ५, पृष्ठ १७५)

-'इसलिये उनके (केवलीभगवान के) समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का अक्रमिक ग्रहण होने से समक्ष सम्वेदन की (प्रत्यक्ष ज्ञान की) आलम्बनभूत द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २१ की टीका, पृष्ठ ३८)

-'केवलज्ञान सर्वद्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को अक्रम से एक ही काल में जानता है; वह ज्ञान सहज जानता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ८४)

प्रश्न १४- केवलज्ञान के एक समय में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को जान लेने से वह (केवलज्ञान) अगले समय कार्यहीन नहीं हो जायेगा?

उत्तर- 'यह आशङ्का युक्त (उचित) नहीं है। कारण-कालद्रव्य के निमित्त से तथा अगुरुलघु गुण के कारण समस्त वस्तुओं में (विश्व के प्रत्येक पदार्थ में) क्षण-क्षण में परिणमन-परिवर्तन होता है। जो कल भविष्यत् था, वह आज वर्तमान बनकर आगे अतीत का रूप धारण करता है। इस प्रकार परिवर्तन का चक्र सदा चलने के कारण ज्ञेय के परिणमन के अनुसार ज्ञान में भी परिणमन होता है।'

(श्रीमहाबन्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ २७, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ठ ५, पृष्ठ १७५)

प्रश्न १५- केवलज्ञान की उत्पत्ति किस ध्यान में होती है?

उत्तर- 'निज शुद्धात्मद्रव्य में; अथवा विकाररहित आत्मसुख के अनुभवरूप पर्याय में; अथवा उपाधिरहित स्वसम्वेदन गुण में; इन तीनों में से एक में (द्रव्य, गुण, अथवा पर्याय में) प्रवृत्त हो, उसमें ही वितर्क नामक स्वसम्वेदन लक्षणयुक्त भावश्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचाररूप होता है; अर्थात्, द्रव्य, गुण अथवा पर्याय में परावर्तन नहीं करता है, वह क्षीणकषाय गुणस्थान में सम्भव "एकत्ववितर्कअवीचार" नामक दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है। इस दूसरे शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४८ की टीका, पृष्ठ २३०-२३१)

प्रश्न १६-क्या केवलज्ञान भी अवग्रह-ईहा-अवायपूर्वक जानता है?

उत्तर- नहीं! केवलज्ञान में अवग्रह-ईहा-अवाय, आदि नहीं होते। अवग्रहादि तो परोक्षज्ञान में होते हैं। केवलज्ञान तो ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जानता है।

-'परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं।। २१।।'

अन्वयार्थ- वास्तव मे ज्ञानरूप से (केवलज्ञानरूप से) परिणमित होते हुए केवलीभगवान के सर्व द्रव्य-पर्याये प्रत्यक्ष हैं; वे उन्हें अवग्रहादि क्रियाओं से नहीं जानते।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३७-३८)

-'वे केवलज्ञानी भगवान क्षायोपशमिक ज्ञानवाले जीवों की भाँति अवग्रह-ईहा-अवाय और धारणारूप क्रम से नहीं जानते; किन्तु सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को युगपत जानते हैं। इस प्रकार उनके सब कुछ प्रत्यक्ष होता है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २१ का भावार्थ, पृष्ठ ३८-३९)

प्रश्न १७- क्या केवलीभगवान के एक साथ पाँचों ज्ञान होते हैं?

उत्तर- 'पाँचों ज्ञानों का एक ही साथ रहना नहीं माना जा सकता, क्योंकि मतिज्ञानादि आवरणीय ज्ञान है। केवलज्ञानी भगवान क्षीण आवरणीय हैं; इसलिये भगवान के आवरणीय ज्ञान का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि आवरण के निमित्त से होनेवाले ज्ञानों का (आवरणों का अभाव होने के बाद) रहना हो सकता है- ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है।'

(श्रीधवला, पुस्तक ६, पृष्ठ २९-३०, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २९ की टीका, पृष्ठ ८४)

प्रश्न १८- केवलज्ञान होनेपर रत्नत्रय की पूर्णता के बावजूद उसी क्षण मोक्ष क्यों नहीं होता?

उत्तर- 'यथाख्यातचारित्र तो हुआ परन्तु परम यथाख्यातचारित्र नहीं है। यहाँ दृष्टान्त है; जैसे, कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है, तो भी उसे चोर के संसर्ग का (साथ रहने का) दोष लगता है; उसी प्रकार सयोग केवलियों के चारित्र का नाश करनेवाले चारित्रमोह के उदय का अभाव होनेपर भी निष्क्रिय शुद्धात्म-आचरण से विलक्षण तीन योग का व्यापार चारित्र में दोष उत्पन्न करता है; तथा तीन योग का जिसको अभाव है, उस अयोगी जिन को चरम समय के अतिरिक्त शेष चार अघातिकर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दोष उत्पन्न करता है। चरम समय में मन्द उदय होनेपर, चारित्र में दोष का अभाव होनेसे वह मोक्ष को प्राप्त करता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ४४)

प्रश्न १९- क्या केवलज्ञानी को भी छद्मस्थ जीवों की भाँति दर्शनपूर्वक ज्ञान (क्रम से) होता है?

उत्तर- नहीं! केवलीभगवान को दर्शन और ज्ञान युगपत् होता है; छद्मस्थों की भाँति

आगे-पीछे नहीं।

-'दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।

जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि॥ ४४॥'

गाथार्थ- छद्मस्थ जीवों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छद्मस्थों को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं। केवलीभगवान को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ व गाथार्थ, पृष्ठ २१३)

प्रश्न २०- केवलज्ञान को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर- केवलज्ञान के धारक केवलीभगवान को जानकर उनके समान ही अपने त्रिकाली शुद्धस्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव करने से, सम्यग्दर्शन और अनुक्रम से स्वयं केवलज्ञानी हो जाता है। यह केवलज्ञान को जानने का वास्तविक लाभ है।

-'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥ ८०॥'

अन्वयार्थ- जो अरहन्त को (केवलज्ञानी को) द्रव्यपनें, गुणपनें, और पर्यायपनें जानता है; वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४१)

[केवलज्ञान के बारे में अधिक विस्तार जानने के लिये **श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, परिशिष्ठ ५ के पृष्ठ १६६ से १७७** का अध्ययन करें।]

मोक्ष का उपाय

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।

समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और॥

अर्थ- आत्मा को एकरूप श्रद्धान करना वा एकरूप ही जानना चाहिए तथा एक में ही विश्राम लेना चाहिए; निर्मल, समल का विकल्प न करना चाहिए। इसी में सर्वसिद्धि है; दूसरा उपाय नहीं है।

भावार्थ- आत्मा को निर्मल, समल के विकल्परहित एकरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है; एकरूप जानना सम्यक्ज्ञान है; और एकरूप में ही स्थिर होना सम्यक्चारित्र है- यही मोक्ष का उपाय है।

(श्रीसमयसार-नाटक, जीवद्वार, दोहा २०, पृष्ठ ४०)

संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय

प्रश्न १- प्रमाणाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- दोषसहित ज्ञान; अर्थात्, मिथ्याज्ञान को प्रमाणाभास कहते हैं।

प्रश्न २- प्रमाणाभास के कितने भेद हैं?

उत्तर- तीन भेद हैं- (१) संशय, (२) विपर्यय, और (३) अनध्यवसाय।

प्रश्न ३- संशय किसे कहते हैं?

उत्तर- ' "ऐसे है कि ऐसे है?"- इस प्रकार परस्पर विरुद्धतासहित दोरूप ज्ञान का नाम संशय है; जैसे, "मैं आत्मा हूँ कि शरीर हूँ?"- ऐसा जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८५)

-'शुद्ध आत्मतत्त्वादि का प्रतिपादक शास्त्रज्ञान, क्या वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सत्य होगा या अन्यमतियों द्वारा कथित सत्य होगा?- यह संशय है। उसका दृष्टान्त- वृक्ष का ठूठ है या मनुष्य है?'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०६)

-'(सीप के टुकड़े को देखकर) कुछ सुध नहीं पड़ती कि यह सीप है या चाँदी है? मेरी दृष्टि में इसका निर्धारण नहीं होता।'- ऐसा निर्धाररहित ज्ञान संशय है।

(परमार्थवचनिका, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५३)

-**'विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः'**

अर्थ- 'ऐसा है कि ऐसा है' इस प्रकार जो परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान है, सो संशय है; जैसे, आत्मा अपने कार्य को कर सकता होगा कि जड़ के कार्य को कर सकता होगा? -ऐसा जानना सो संशय है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४२, पृष्ठ १३९ की पादटिप्पणी)

-'विरुद्ध अनेक कोटी स्पर्श करनेवाले ज्ञान को संशय कहते हैं; जैसे, वह सीप है या चाँदी?'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६४२, पृष्ठ १७३)

–' "इस प्रकार है अथवा इस प्रकार"?– ऐसा जो परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान, उसे संशय कहते हैं।'

(छहढाला, चौथी ढाल, पद ६, पृष्ठ १०२ की पादटिप्पणी)

–'विरुद्ध दो तरफा ज्ञान को संशयज्ञान कहते हैं; जैसे, रात में किसी को देखकर सन्देह हुआ कि यह पदार्थ मनुष्य-जैसा भी प्रतिभासित होता है और व्यन्तर-जैसा भी प्रतिभासित होता है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३५ का भावार्थ, पृष्ठ ४२)

प्रश्न ४– संशय के कुछ उदाहरण दें?

उत्तर– संशयदोष के कुछ उदाहरण शास्त्रों में उपलब्ध हैं, यथा (१) धर्म या अधर्म कुछ है या नहीं?, (२) सर्वज्ञ है या नहीं?, (३) परलोक है या नहीं? –**(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ९१)**, (४) आत्मा अपने कार्य को कर सकता होगा कि जड़ के कार्य को कर सकता होगा? –**(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४२, पृष्ठ १३९ की पादटिप्पणी)**, (५) देह की आत्मा होगी अथवा देह से भिन्न आत्मा होगा?, (६) आत्मा देह की क्रिया का कर्ता होगा या अकर्ता?, (७) पुण्य-पाप से धर्म होता होगा या नहीं? –**(परमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, पृष्ठ ६५)**, और (८) यह वृक्ष का ठूठ है या मनुष्य है? –**(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०६)**

प्रश्न ५– विपर्यय किसे कहते हैं?

उत्तर– ' "ऐसा ही है"– इस प्रकार वस्तुस्वरूप से विरुद्धतासहित एकरूप ज्ञान का नाम विपर्यय है; जैसे, मैं शरीर हूँ– ऐसा जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८५)

–'विपर्यय अर्थात् विपरीतता। अपनी इच्छानुसार कल्पनाएँ;'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ८८)

–'अनेकान्तात्मक वस्तु को "यह नित्य ही है" "यह क्षणिक ही है"– ऐसा एकान्तरूप जानना, वह विभ्रम (विपर्यय) है। उसका दृष्टान्त– "सीप में चाँदी का ज्ञान।" '

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०६)

–'सीप के टुकड़े को देखकर उसे प्रत्यक्ष प्रमाण चाँदी ही मानना विभ्रम है।'

(परमार्थवचनिका, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५४)

–'**विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः**'

अर्थ– वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'ऐसा ही है'– इस प्रकार जो एकरूप ज्ञान है, सो विपर्यय है; जैसे, शरीर को आत्मा जानना सो विपर्यय है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४२, पृष्ठ १३९ की पादटिप्पणी)

–'विपरीत एक कोटि के निश्चय करनेवाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं; जैसे, सीप को

चाँदी जानना।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६४३, पृष्ठ १७४)

-'अन्यथा (विपरीत) रूप एक तरफा ज्ञान को विपर्ययज्ञान कहते हैं; जैसे, मनुष्य में व्यन्तर प्रतीति कर लेना।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३५ का भावार्थ, पृष्ठ ४२)

प्रश्न ६- विपर्यय के कुछ उदाहरण दें?

उत्तर- विपर्ययदोष के कुछ उदाहरण शास्त्रों में उपलब्ध हैं, यथा-

(१) जगत में चलनेवाली सभी धार्मिक मान्यताओं को एक (समान) मान लेना, (२) मन्दकषाय अर्थात् शुभभाव से धर्म मानना, (३) ईश्वर को जगत का कर्ता अथवा नियामक मानना; **-(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ९१)**, (४) शरीर को आत्मा जानना; **-(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४२, पृष्ठ १३९ की पादटिप्पणी)**, और (५) शुभराग को मोक्ष का साधन मानना, **-(परमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, पृष्ठ ६६)**।

प्रश्न ७- विपर्यय के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- विपरीतता, विभ्रम, आदि विपर्यय के पर्यायवाची हैं।

प्रश्न ८- विपर्यय कितने प्रकार का है?

उत्तर- दो प्रकार का है- (१) सहज, और (२) आहार्य।

(१) सहजविपर्यय- स्वत: अपनी भूल से; अर्थात्, परोपदेश के बिना उत्पन्न विपरीतता।

(२) आहार्यविपर्यय- दूसरे के उपदेश से ग्रहण की गयी विपरीतता।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ९०)

प्रश्न ९- विपर्यय के कितने भेद हैं?

उत्तर- तीन भेद हैं- (१) कारणविपर्यय, (२) स्वरूपविपर्यय, और (३) भेदाभेदविपर्यय।

(१) कारणविपर्यय- 'मूलकारण को न पहचानकर और अन्यथा कारण को मानना कारण-विपरीतता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ८८)

-'जिसे जानता है, उसके मूलकारण को नहीं पहचानता; अन्यथा कारण मानता है -वह तो कारणविपर्यय है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८५)

(२) स्वरूपविपर्यय- जिसे जानता है, उसके मूलवस्तुत्वरूप स्वरूप को नहीं पहचानता और अन्यथास्वरूप को मानता है- वह स्वरूपविपर्यय है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८५)

(३) भेदाभेदविपर्यय- 'जिसे जानता है उसे यह इनसे भिन्न है, इनसे अभिन्न है- ऐसा नहीं पहचानता; अन्यथा भिन्न-अभिन्नपना मानता है- सो भेदाभेदविपर्यय है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८६ एवं मोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ८८)

प्रश्न १०- कारणविपर्यय (विपरीतता) दूर करने का क्या उपाय है?

उत्तर- एक द्रव्य, गुण, या पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय का कारण नहीं हो सकते और वे स्वयं दूसरे द्रव्य, गुण, या पर्याय का कार्य भी नहीं हो सकते- ऐसी अकारणकार्यत्वशक्ति प्रत्येक द्रव्य में है। इस अकारणकार्यत्वशक्ति को समझ लेनेपर कारणविपरीतता दूर हो जाती है।

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ८९)

प्रश्न ११- स्वरूपविपर्यय (विपरीतता) दूर करने का क्या उपाय है?

उत्तर- छहों द्रव्यों की स्वतन्त्रता स्वीकारते हुए उनके स्वरूप की सच्ची समझ से स्वरूपविपरीतता दूर हो जाती है।

-'जीवद्रव्य चेतनागुण स्वरूप है; और पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण स्वरूप है। जीव व पुद्गल की शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाएँ होती हैं। शेष चार द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और कालद्रव्य की कभी अशुद्ध अवस्था नहीं होती। जब तक जीव की यह मान्यता रहती है कि "मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, अथवा पर मेरा कुछ कर सकता है, या शुभ विकल्प से लाभ होता है", तब तक उसकी अज्ञानपर्याय बनी रहती है। जब जीव यथार्थ समझपूर्वक वस्तुस्वरूप को यथावत् समझ लेता है, तो उसे स्वरूपविपरीतता दूर होकर सच्चा ज्ञान प्रकट हो जाता है।'

(आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ८९)

प्रश्न १२- भेदाभेदविपर्यय (विपरीतता) दूर करने का क्या उपाय है?

उत्तर- 'प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की दूसरे द्रव्यों में नास्ति है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य दूसरे द्रव्यों से चारों प्रकार से भिन्न है। साथ ही प्रत्येक द्रव्य अपने गुणों से अभिन्न है, क्योंकि गुण द्रव्य से कभी अलग नहीं हो सकते। इस प्रकार समझ लेने से भेदाभेदविपरीतता दूर हो जाती है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ८९-९०)

प्रश्न १३- अनध्यवसाय किसे कहते हैं?

उत्तर- ' "कुछ है"- ऐसा निर्धाररहित विचार उसका नाम अनध्यवसाय है; जैसे, "मैं कोई हूँ"- ऐसा जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८५)

–'परस्पर **सापेक्ष**[1] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के प्रमाण से द्रव्य-गुण-पर्यायादिक के ज्ञान का अभाव विमोह है। वहाँ दृष्टान्त-गमन करनेवाले पुरुष को पैर में तृण आदि का स्पर्श होनेपर स्पष्ट ज्ञान न हो कि किसका स्पर्श हुआ।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०६)

–'सीप के टुकड़े को देखकर कुछ समझ न आना कि "क्या सीप और क्या चाँदी"? अथवा चुप रहना, बोलना नहीं गहलरूप से, विमोह है।'

(परमार्थवचनिका, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५३-३५४)

–'**किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसाय:**'

अर्थ- 'कुछ है'- ऐसे निर्धाररहित विचार का नाम अनध्यवसाय है; जैसे, 'मैं कोई हूँ'- ऐसा जानना सो अनध्यवसाय है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४२, पृष्ठ १३९ की पादटिप्पणी)

–' "यह क्या है?"- ऐसे प्रतिभास को अनध्यवसाय कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६४४, पृष्ठ १७४)

–' "कुछ है" इतना ही जानना हो; विशेष विचार न करे- उसे अनध्यवसाय (विमोह) कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३५ का भावार्थ, पृष्ठ ४२)

प्रश्न १४- अनध्यवसाय के कुछ उदाहरण दें?

उत्तर- अनध्यवसायदोष के कुछ उदाहरण शास्त्रों में उपलब्ध हैं; यथा-

(१) तर्कशास्त्र हेतुवादरूप है; इसलिये उससे कुछ निर्णय नहीं हो सकता, (२) आगम हैं -सो वे भिन्न-भिन्न प्रकार से वस्तुस्वरूप बतलाते हैं। कोई कुछ कहता है और कोई कुछ; इसलिये उनकी बात परस्पर नहीं मिलती, (३) कोई सर्वज्ञ ज्ञाता, ज्ञानी या मुनि (सच्चा) प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता जिसके वचनों को प्रमाण मान सकें; और धर्म का स्वरूप अतिसूक्ष्म है; इसलिये कैसे निर्णय हो सकता है; इसलिये **"महाजनो येन गत: स पन्था:"** अर्थात्, बड़े आदमी जिस मार्ग से जाते हैं, उसी मार्ग पर हमें चलना चाहिए। **(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३२ की टीका, पृष्ठ ९१)** (४) 'मैं कोई हूँ' -ऐसा जानना, -**(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ १३९ की पादटिप्पणी)** (५) गमन करनेवाले पुरुष को पैर में तृण आदि का स्पर्श होनेपर स्पष्ट ज्ञान न होना कि किसका स्पर्श हुआ?, (६) दिशा भूल जाना, -**(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०६)** (७) स्वभाव क्या, परभाव क्या?, (८)

---

१. **सापेक्ष**- अपेक्षासहित; निरपेक्ष नहीं होना।

–'द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय एक दूसरे की अपेक्षासहित होते हैं, निरपेक्ष नहीं होते।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२, पृष्ठ २०६ की पादटिप्पणी)

बन्धमार्ग क्या, मोक्षमार्ग क्या?, (९) मोक्षमार्ग है अथवा शुभराग भी मोक्षमार्ग है, (१०) शुभराग छोड़ने योग्य है अथवा रखने योग्य, आदि अनिर्णय की स्थिति। -(परमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, पृष्ठ ६५-६६)

प्रश्न १५- अनध्यवसाय के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- अनिर्णय, विमोह, आदि अनध्यवसाय के पर्यायवाची हैं।

प्रश्न १६- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में कौनसे दोष पाये जाते हैं?

उत्तर- मिथ्यादृष्टि के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय तीनों दोष पाये जाते हैं। सुमति तथा सुश्रुतज्ञान तीनों दोषों से रहित होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३१ की टीका, पृष्ठ ८६)

प्रश्न १७- अवधिज्ञान में कौनसे दोष पाये जाते हैं?

उत्तर- अवधिज्ञान में संशय नहीं होता। शेष दो दोषों (विपर्यय और अनध्यवसाय) सहित अवधिज्ञान को कुअवधि अथवा विभङ्गज्ञान कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३१ की टीका, पृष्ठ ८६)

प्रश्न १८- संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय से रहित जीव को क्या कहते हैं?

उत्तर- संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय- तीनों दोषों से रहित ज्ञान के धारी जीव को सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

-'सम्यग्दृष्टि कौन है सो सुनो- संशय, विमोह, विभ्रम- ये तीन भाव जिसमें नहीं सो सम्यग्दृष्टि।'

(परमार्थवचनिका, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५३)

आत्मा की पहचान करके उसमें स्थिर हो जा

पैसा रहना या नहीं रहना- वह अपने हाथ की बात नहीं है। जब पुण्य पलटता है, तब दुकान जल जाती है, बीमा कम्पनी टूट जाती है, पुत्री विधवा हो जाती है, गढ़ा हुआ धन कोयला हो जाता है, आदि सब सुविधाएँ एक साथ पलट जाती हैं। कोई कहे कि ऐसा तो कभी-कभी होता है न? अरे! पुण्य पलटे तो सर्व प्रसङ्ग पलटने में देर नहीं लगती। परद्रव्य को कैसे रहना- वह तेरे हाथ की बात नहीं है न; इसलिये सदा स्थायी सुखनिधान निज आत्मा की पहचान करके उसमें स्थिर हो जा।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या २३, पृष्ठ १४)

प्रमाण और नय

प्रश्न १- प्रमाण किसे कहते हैं?

उत्तर- 'सच्चेज्ञान-निर्दोषज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अनन्त गुणों या धर्म का समुदायरूप अपना तथा परवस्तु का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को ग्रहण करता है, जानता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ २४)

-'प्रमाण सम्यग्ज्ञान को कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३८)

-'प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद हैं, सो प्रमाण सम्यग्ज्ञान है।'

(रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४४)

-'सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ५७३, पृष्ठ १५८)

-'स्व और परपदार्थ का निर्णय करनेवाले ज्ञान को प्रमाण; अर्थात्, सच्चा ज्ञान कहते हैं।'

(श्रीपरीक्षामुख, परिशिष्ठ १, सूत्र १, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ३६, पृष्ठ ३)

-'निर्बाध ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को प्रमाण कहते हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक ९, पृष्ठ १४१, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ १११)

-'सम्यग्दर्शनसहित जो सम्यग्ज्ञान है, वह प्रमाण है।'

(रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ ७८)

-**'णाणं होदि प्रमाणं;'- अर्थ**- ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) प्रमाण होता है।

(श्रीतिलोयपण्णत्ति, अधिकार १, गाथा ८३, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ २३)

-**'सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्।'- अर्थ**- सम्यक् अनेकान्त प्रमाण हैं।

(श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ६, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३१)

–'धर्मधर्मिसमूहस्य प्रधान्यार्पणया विदः।
प्रमाणत्वेन निर्णीतिः प्रमाणादपरो नयः।। ९।।'

अर्थ- धर्म तथा धर्मी के समूहरूप वस्तु के धर्मों और धर्मी दोनों को प्रधानरूप से जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ९ व अर्थ, आधार–परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ३०–३१)

–'विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम्।। ६६५।।'

अर्थ- विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है और प्रतिषेधपूर्वक विधि होती है। किन्तु विधि और प्रतिषेध इन दोनों की जो मैत्री है, वही प्रमाण है। अथवा स्व और पर को जाननेवाला जो ज्ञान है, वह प्रमाण है। तथा,

–'अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयसादुमयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः।। ६६६।।'

अर्थ- आशय यह है कि अर्थ विकल्प का नाम ज्ञान है। यह ज्ञान का स्वतःसिद्ध लक्षण है। वह (ज्ञान) जब एक विकल्परूप होता है, तब नय ज्ञान कहलाता है और जब उभय विकल्परूप होता है, तब प्रमाण ज्ञान कहलाता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६६५–६६६ व अर्थ, पृष्ठ १२८–१२९)

प्रश्न २- प्रमाण कितने प्रकार का है[1]?

उत्तर- प्रमाण के दो प्रकार हैं- (१) स्वार्थप्रमाण, और (२) परार्थप्रमाण। स्वार्थप्रमाण ज्ञानस्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। श्रुत (ज्ञान) के अतिरिक्त चार ज्ञान (मति, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान) स्वार्थप्रमाण हैं। श्रुतप्रमाण स्वार्थ–परार्थ दोनोंरूप है; इसलिये वह ज्ञानरूप और वचनरूप है। श्रुत उपादान है और वचन उसका निमित्त है। (विकल्प का समावेश वचन में हो जाता है।)

(श्रीपञ्चाध्यायी–पं० देवकीनन्दनजी कृत, भाग १, पृष्ठ ३४४; जैनसिद्धान्तदर्पण, पृष्ठ २२; राजवार्तिक, पृष्ठ १५३; सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र ६, पृष्ठ ५६; आधार–श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ७९)

प्रश्न ३- कौनसा ज्ञान प्रमाण है?

उत्तर- पाँचों ही ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान) प्रमाण (सच्चे ज्ञान) हैं।

---

१. प्रमाण के प्रत्यक्ष व परोक्ष भेद–प्रभेदों के लिये 'प्रकरण–६.१ : सम्यग्ज्ञान : परिभाषा एवं भेद', पृष्ठ ५८७–६०३ देखें।

-'तत्प्रमाणे॥ १०॥'- **अर्थ**- पाँचों प्रकार के ज्ञान ही प्रमाण (सच्चे ज्ञान) हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १० व अर्थ, पृष्ठ ४५)

प्रश्न ४- इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है; अतः क्या इन्द्रियाँ भी प्रमाण हैं?

उत्तर- 'इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं और ज्ञान तो चेतन की पर्याय है; वह जड़ नहीं है; इसलिये आत्मा के द्वारा ही ज्ञान होता है।'

(श्रीजयधवला पुस्तक भाग १, पृष्ठ ५४-५५, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १० की टीका, पृष्ठ ४५)

प्रश्न ५- प्रमाण का विषय क्या है?

उत्तर- सामान्य अथवा धर्मी तथा विशेष अथवा धर्म दोनों अंशों का समूहरूप वस्तु प्रमाण का विषय है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६३५, पृष्ठ १७२)

-'धर्म तथा धर्मी के समूहरूप वस्तु के धर्मों तथा धर्मी दोनों को प्रधानरूप से जाननेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है।'

(श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ९ का अर्थ, आधार-परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ३१)

-'अनन्त गुणों या धर्मों का समुदायरूप अपना तथा परवस्तु का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को (सर्व पहलुओं को) ग्रहण करता है, जानता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ २४)

प्रश्न ६- नय किसे कहते हैं?

उत्तर- वस्तु के एकदेश (भाग) को जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६४५, पृष्ठ १७४)

-'श्रुतज्ञानप्रमाण के अंश को नय कहते हैं। प्रमाण से जो पदार्थ जाना था, उसके एक धर्म को मुख्यता से अनुभव कराये, उसे नय कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा ३१-३२ का भावार्थ, पृष्ठ ३९)

-'प्रमाण द्वारा निश्चित हुई वस्तु के एकदेश को जो ज्ञान ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं। जो प्रमाण द्वारा निश्चित हुए अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक-एक अङ्ग का ज्ञान मुख्यता से कराता है, सो नय है।................श्रुतप्रमाण के विकल्प, भेद या अंश को नय कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ २४)

-'प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने का नाम नय है अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प नय है अथवा ज्ञाता का अभिप्राय नय है अथवा नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक्

करके जो एकस्वभाव में वस्तु को स्थापित करता है, वह नय है।'

(श्रीआलापपद्धति, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ २३)

-'**णाणं होदि प्रमाणं णओ वि णादुस्स हिदियभावत्थो।**'

अर्थ- सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है।

(श्रीतिलोयपण्णत्ति, अधिकार अ० १, गाथा ८३, आधार-परमभावप्रकाशनयचक्र, पृष्ठ २३)

-'कहीं-कहीं वक्ता के अभिप्राय को भी नय कहा गया है।'

(श्रीस्याद्वादमंजरी, श्लोक २८ की टीका, आधार-परमभावप्रकाशनयचक्र, पृष्ठ २३)

-'**अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।**'

अर्थ- प्रतिपक्षी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के अंश को ग्रहण करनेवाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है।

(श्रीप्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ६७६, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ २४)

-'**सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते।**'

अर्थ- सम्यगेकान्त (सम्यक्-एकान्त) नय कहलाता है।

(श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ६, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३१)

-'वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक की मुख्यता करके अन्य धर्मों का विरोध किये बिना उन्हें गौण करके साध्य को जानना, सो नय है।' तथा,

-'हेतु और विषय की सामर्थ्य की अपेक्षा से प्रमाण से निरूपण किये गये अर्थ के एकदेश को कहना, सो नय है। उसे सम्यक् एकान्त भी कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १२)

-'**इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे।**
तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः॥ ५०४॥'

अर्थ- तत्त्व विरुद्ध दो धर्मस्वरूप है[1]- ऐसा उसका लक्षण पहले कहा जा चुका है। उनमें से (विरुद्ध दो धर्मों में से) किसी एक धर्म का वाचक नय होता है।

-'**यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोऽप्यपरमार्थः।**
न यतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किन्तु तद्योगात्॥ ५०६॥'

अर्थ- अथवा ज्ञानविकल्प का नाम ही नय है। किन्तु वह विकल्प परमार्थभूत नहीं होता, क्योंकि न तो शुद्ध ज्ञानगुण को ही नय कह सकते हैं और न शुद्ध ज्ञेय को ही नय कह सकते हैं। किन्तु इन दोनों (ज्ञान और ज्ञेय) के सम्बन्ध से जो विकल्प होता है, वह नय कहलाता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५०४-५०६ व अर्थ, पृष्ठ ९८-९९)

---

१. 'तत्त्व' परस्पर विरुद्ध दो धर्मस्वरूप होता है।

-'अनेक गुण और उनकी अनेक पर्यायोंसहित अथवा उनके द्वारा एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, और एक काल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभावरूप से रहनेवाले द्रव्य को जो ले जाता है; अर्थात्, उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक १, पृष्ठ ७१, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ ६)

प्रश्न ७- नय के कितने भेद हैं?

उत्तर- नय के मुख्यरूप से दो भेद हैं- (१) द्रव्यार्थिकनय, और (२) पर्यायार्थिकनय; अथवा (१) निश्चयनय, और (२) व्यवहारनय।

लेकिन विस्तार से जैनागम में नयों के सात, सैतालीस, संख्यात, असंख्यात, और अनन्त भेदों का भी कथन है।

-'उसके (नय के) दो भेद हैं- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३१)

-'एक: सर्वोऽपि नयो भवति विकल्पाविशेषतोऽपि नयात्।
अपि च द्विविध: स यथा स्वविषयभेदे विकल्पद्वैविध्यात्॥ ५१६॥
एको द्रव्यार्थिक इति पर्यायार्थिक इति द्वितीय: स्यात्।
सर्वेषां च नयानां मूलमिवेदं नयद्वयं यावत्॥ ५१७॥'

अर्थ- विकल्प सामान्य की अपेक्षा सभी नय एक हैं तथा विषयभेद विकल्प दो प्रकार का होता है; अत: नय के भी दो भेद हो जाते हैं॥ ५१६॥ एक द्रव्यार्थिक नय है और दूसरा पर्यायार्थिक नय है। सम्पूर्ण नयों के ये दो नय मूलभूत हैं॥ ५१७॥

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५१६ एवं ५१७ व अर्थ, पृष्ठ १०१)

-'दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा॥ १८३॥'

अर्थ- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही मूलनय कहे हैं; अन्य असंख्यात-संख्या को लिये इनके ही भेद जानना चाहिए।

(श्रीद्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, गाथा १८३ व अर्थ, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३४)

-'नय के दो प्रकार हैं- (१) निश्चयनय, और (२) व्यवहारनय।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ५४, पृष्ठ ८)

-'नय के दो भेद हैं। एक निश्चयनय, दूसरा व्यवहारनय अथवा उपनय।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६४६, पृष्ठ १७४)

-'नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं। उसमें निश्चयनय तो

द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है- ऐसा समझना चाहिए।'

(आचार्य शिवसागर स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ ५६१, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३४)

-'नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतानयाः।। ३३।।'

अर्थ- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत- ये सात नय हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३३ व अर्थ, पृष्ठ ९२)

[**विशेष**- (१) इनमें पहले तीन भेद द्रव्यार्थिकनय के हैं। बाद के चार भेद पर्यायार्थिकनय के हैं।

-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३;

(२) श्रीप्रवचनसार परमागम के परिशिष्ठ, पृष्ठ ५२१ से ५३० तक ४७ नयों का उल्लेख है।]

-'**जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।**

जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।।'

अर्थ- जितने **वचनपन्थ**[1] हैं, उतने वास्तव में **नयवाद**[2] हैं और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय (पर मत) हैं।

(श्रीप्रवचनसार, परिशिष्ठ, पृष्ठ ५३०-५३१)

-'नय सामान्य से एक; विशेष में संक्षेप में दो; विस्तार से सात; और अति विस्तार से संख्यात भेदवाले हैं।'

(श्रीश्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक १७ से १९ का अर्थ, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३३)

-'**एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः, अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येयाः।**'

अर्थ- इस तरह संक्षेप में नय सात प्रकार के हैं और अवान्तर भेदों से असख्यात प्रकार के समझना चाहिए।

(श्रीधवला, पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र १, पृष्ठ ९१, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३३)

-'नय अनन्त भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनन्त हैं; अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनन्त-विकल्परूप हो जाते हैं।'

(श्रीसवार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १०२, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३३)

-'वस्तुओं में अनन्त धर्म हैं; इसलिये उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं और

---

१ **वचनपन्थ**- वचन के प्रकार। (जितने वचन के प्रकार हैं, उतने नय हैं।)

(श्रीप्रवचनसार परिशिष्ठ, पृष्ठ ५३१ की पादटिप्पणी)

२. **नयवाद**- नय के भेद।

इसलिये अवयव के ज्ञानरूप नय भी अनन्त तक हो सकते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ २४)

-'सत्यं यावदनन्ता: सन्ति गुणा वस्तुतो विशेषाख्या:।
तावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाख्या:।। ५८९।।'

अर्थ- परमार्थ से विशेष संज्ञावाले जितने भी अनन्त गुण हैं, वचन और विकल्परूप उतने ही नयवाद हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५८९ व अर्थ, पृष्ठ ११५)

-'नय के **ज्ञाननय**[1], **शब्दनय**[2], और **अर्थनय**[3] (धर्मनय)- ऐसे भी तीन प्रकार होते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९४)

प्रश्न ८- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय तथा निश्चय और व्यवहारनय क्या पर्यायवाची हैं?

उत्तर- नहीं, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय तथा निश्चय और व्यवहारनय पर्यायवाची नहीं हैं। द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय **आगम**[4] भाषा के तथा निश्चयनय और व्यवहारनय **अध्यात्म**[5] भाषा के नय हैं। आगम को अध्यात्म का हेतु होने के कारण द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय को निश्चय

---

१. **ज्ञाननय-** वास्तविक प्रमाणज्ञान है और जब वह एकदेशग्राही होता है, तब उसे नय कहते हैं; इसलिये ज्ञान का नाम नय है और उसे ज्ञाननय कहा जाता है।

२. **शब्दनय-** ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ का प्रतिपादन शब्द के द्वारा होता है; इसलिये उस शब्द को शब्दनय कहते हैं।

३. **अर्थनय-** ज्ञान का विषय पदार्थ है; इसलिये नय से प्रतिपादित किये जानेवाले पदार्थ को भी नय कहते हैं। यह अर्थनय है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६४-२६५, आधार-श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९४)

४. **आगम-** 'वस्तु का जो स्वभाव उसको आगम कहते हैं।' तथा,

-'उसमें विशेष इतना कि.... ....आगम का स्वरूप अनन्तानन्तरूप है; यथापना-प्रमाण से..........आगम अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्याश्रित है।'

(श्रीपरमार्थवचनिका, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५२)

-'यहाँ आगमपद्धति कही गयी है। उसमें आगम का अर्थ सिद्धान्तरूप शास्त्र मत समझना, किन्तु आगमपद्धति का अर्थ अनादि से चली आयी परम्परा समझना।'

(श्रीपरमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, पृष्ठ ३९)

५. **अध्यात्म-** 'आत्मा का जो अधिकार उसे अध्यात्म कहते हैं।' तथा,

-'उसमें विशेष इतना कि अध्यात्म का स्वरूप अनन्त........यथापना-प्रमाण से अध्यात्म एक द्रव्याश्रित है।'

(श्रीपरमार्थवचनिका, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५२)

-'तथा जीव में जो नवीन अपूर्व अध्यात्मदशा अथवा शुद्धपर्याय प्रकट होती है, वह अध्यात्मपद्धति है।'

(श्रीपरमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, पृष्ठ ३९)

-'मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान उसे "अध्यात्म" कहते हैं।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५७ की टीका, पृष्ठ २६८)

-'अधि + आत्म = अध्यात्म। अधि = जानना; आत्म = आत्मा को। आत्मा को जानना ही अध्यात्म है।'

(परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ८३)

और व्यवहार का हेतु भी कहा गया है।

– **'पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च।'**

अर्थ- फिर भी अध्यात्मभाषा के द्वारा नयों का कथन करते हैं। मूलनय दो हैं-निश्चय और व्यवहार।

(श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ २२८, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३६)

– 'श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, पृष्ठ ९, प्रश्न संख्या ६० में द्रव्यार्थिकनय के भेदों का कथन "आगम-अपेक्षा से" उल्लेखित है।'

– 'निश्चयनय और व्यवहारनय के भेदों का वर्णन शुरू करते हुए श्री ब्रह्मदेवजी ने लिखा है- **"अथ अध्यात्मभाषया नयलक्षणं कथ्यते।"** अर्थात्, अब अध्यात्मभाषा से नयों के लक्षण कहते हैं।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

– **'णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।**

णिच्छयसाहणहेऊ पज्जयदव्वत्थियं मुणह।। १८२।।'

अर्थ- सर्व नयों के मूल निश्चय और व्यवहार- ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक- ये दोनों निश्चय- व्यवहार के हेतु हैं।

(श्रीद्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, गाथा १८२ व अर्थ, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३४)

प्रश्न ९- क्या किसी अपेक्षा से निश्चयनय को द्रव्यार्थिकनय का और व्यवहारनय को पर्यायार्थिकनय का पर्यायवाची कहा जा सकता है?

उत्तर- निश्चयनय को द्रव्याश्रित और व्यवहारनय को पर्यायाश्रित होने की अपेक्षा से उन्हें एक-दूसरे का (निश्चयनय को द्रव्यार्थिकनय का और व्यवहारनय को पर्यायार्थिकनय का) पर्यायवाची कहा जा सकता है।

– 'निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है।'

(आचार्य शिवसागर स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ ५६१, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३४)

– **'पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।**

एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात्।। ५२१।।'

अर्थ- पर्यायार्थिकनय कहो या व्यवहारनय- इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचारमात्र है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२१ व अर्थ, पृष्ठ १०२)

-'यहाँ अभेददृष्टि परक विवेचन द्रव्यार्थिकनय का और भेददृष्टिपरक विवेचन पर्यायार्थिकनय का विषय माना गया है। यहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय शब्दों का उपयोग भी इसी अर्थ में किया गया है। इसी से निश्चयनय को द्रव्यार्थिकनय का और व्यवहारनय को पर्यायार्थिकनय का पर्यायवाची बतलाया गया है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२० से ५२४ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०२-१०३)

प्रश्न १०- द्रव्यार्थिकनय किसे कहते हैं?

उत्तर- जो द्रव्य को मुख्य करके अनुभव (ज्ञान) कराये, वह द्रव्यार्थिकनय है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

-'द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक है।'

(श्रीनियमसार, गाथा १९ की टीका, पृष्ठ ४६)

-'द्रव्यं सन्मुखतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य।
भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः।। ५१८।।'

अर्थ- केवल द्रव्य की ही मुख्यता से जिस नय का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिकनय है। यह इसका अपनी धातु के अनुसार अन्वर्थ नाम है और यह एक है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५१८ व अर्थ, पृष्ठ १०१)

-'जो द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यरूप से अनुभव कराये; अर्थात्, सामान्य को ग्रहण करे, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न ५८, पृष्ठ ८)

प्रश्न ११- द्रव्यार्थिकनय को किन-किन नामों से कहा जाता है?

उत्तर- द्रव्यार्थिकनय को सामान्य, उत्सर्ग, अथवा अनुवृत्ति नाम से भी कहा जाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३)

-'द्रव्यार्थिकनय को **निश्चय**[1], शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलम्बी, स्वाश्रित, स्वतन्त्र, स्वाभाविक, त्रैकालिक, ध्रुव, अभेद, और स्वलक्षी नय कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ २९)

प्रश्न १२- द्रव्यार्थिकनय के कितने भेद हैं?

उत्तर- द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं- (१) नैगमनय, (२) संग्रहनय, और (३) व्यवहारनय।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२, की टीका, पृष्ठ ३९; श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३; श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६०; पृष्ठ ९; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६५२, पृष्ठ १७५)

---

१. **निश्चय-** 'निज वस्तु से जो भाव का व्याप्य-व्यापक (एकमेक) सम्बन्ध सो निश्चय जानना।'
(आत्मावलोकन, निश्चयलक्षण, पृष्ठ २५)

प्रश्न १३- नैगमनय किसे कहते हैं?

उत्तर- सङ्कल्पमात्र से पदार्थ के ग्रहण करने-जानने को नैगम कहते हैं; जैसे, कोई व्यक्ति कठौती (लकड़ी का कोई पदार्थ) बनाने के लिये लकड़ी लेने जा रहा था। उससे किसी ने पूछा "तुम कहाँ जाते हो"? उसने उत्तर दिया- "मैं कठौती लेने जाता हूँ।" यद्यपि वह लकड़ी लेने जा रहा है, लेकिन उसके विचार में है कि मैं लकड़ी लाकर कठौती बनाऊँगा। (अत: उसका उत्तर नैगमनय से कहलायेगा।)

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

-'जो भूतकाल की पर्याय मे वर्तमानवत् सङ्कल्प करे तथा वर्तमान पर्याय में कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) हैं और कुछ निष्पन्न नहीं हैं उनका निष्पन्नरूप सङ्कल्प करे, उस ज्ञान को तथा वचन को नैगमनय कहते हैं। [FIGURATIVE]'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९२)

-'दो पदार्थों में से एक को गौण और दूसरे को प्रधान करके भेद अथवा अभेद को विषय करनेवाला ज्ञान नैगमनय है तथा पदार्थ के सङ्कल्प को ग्रहण करनेवाला ज्ञान नैगमनय है; जैसे, कोई आदमी रसोई में चावल लेकर चुनता था। किसी ने उससे पूछा कि क्या कर रहे हो? तब उसने कहा कि भात बना रहा हूँ। यहाँ चावल और भात में अभेद विविक्षा है अथवा चावलो में भात का सङ्कल्प है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६५३, पृष्ठ १७५)

-'जो नय अनिष्पन्न अर्थ के सङ्कल्पमात्र को ग्रहण करे, वह नैगमनय है; जैसे, लकड़ी, पानी आदि सामग्री एकत्रित करनेवाले पुरुष से कोई पूछे कि -"आप यह क्या कर रहे हैं?"- उसके उत्तर में वह कहे कि -"मैं रोटी बना रहा हूँ।"- चूँकि उस समय वह रोटी नहीं बना रहा था, तथापि नैगमनय उसके इस उत्तर को सत्यार्थ मानता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र-हिन्दी, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, अनुवादक पं० पन्नालालजी, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६१)

प्रश्न १४- नैगमनय के कितने भेद हैं?

उत्तर- तीन भेद हैं- (१) भूतनैगमनय, (२) भाविनैगमनय, और (३) वर्तमाननैगमनय।

(१) भूतनैगमनय- भूतकाल की बात को वर्तमान में आरोहण (आरोपित) करके कहना, सो भूतनैगमनय है; जैसे, दीपावली के दिन कहना कि आज भगवान महावीर मोक्ष पधारे।

(श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ ६५-६६, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६२, पृष्ठ १०)

-'जो भूतकाल की पर्याय में वर्तमानवत् सङ्कल्प करे..............उस ज्ञान को तथा

वचन को (भूत) नैगमनय कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९२)

(२) भाविनैगमनय- भविष्यतकाल में होनेवाली बात को भूतकालवत् हुई कहना, सो भाविनैगमनय है; जैसे, अरिहन्त भगवान को सिद्ध भगवान कहना।

(श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ ६५-६६, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६२, पृष्ठ ११)

-'भविष्यत् की पर्याय में वर्तमानवत् सङ्कल्प करे................उस ज्ञान को तथा वचन को (भावी) नैगमनय' कहते हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९२)

(३) वर्तमाननैगमनय- कोई कार्य प्रारम्भ तो कर दिया हो, परन्तु वह कुछ हुआ और कुछ न हुआ हो; तथापि उसे पूर्ण हुए समान कहना, सो वर्तमाननैगमनय है; जैसे, भात पकाने का कार्य तो आरम्भ कर दिया, परन्तु अभी वह पका नहीं है; तथापि ऐसा कहना कि- भात पक रहा है।

(श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ ६५-६६, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६२, पृष्ठ ११)

-'तथा वर्तमान पर्याय में कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) है और कुछ निष्पन्न नहीं है, उसका निष्पन्नरूप सङ्कल्प करे; उस ज्ञान को तथा वचन को (वर्तमान) नैगमनय कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९२)

प्रश्न १५- संग्रहनय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'सामान्यरूप से पदार्थों के ग्रहण को संग्रहनय कहते हैं; जैसे, छह जाति के समस्त द्रव्य सत्ता लक्षण संयुक्त हैं। इन छह द्रव्यों के समूह को द्रव्य संज्ञा द्वारा जानना इस नय का प्रयोजन है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

-'जो समस्त द्रव्यों को तथा समस्त पर्यायों को संग्रहरूप करके जानता है तथा कहता है, सो संग्रहनय है; जैसे, सत्, द्रव्य इत्यादि। [GENERAL; COMMON]' तथा,

-'सत् के अन्तर्भेदों में भेद न मानना सो संग्रहनय है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९२-९३ व ९४)

-'अपनी जाति का विरोध नहीं करके अनेक विषयों का एकपने से जो ग्रहण करे, उसको संग्रहनय कहते हैं; जैसे, जीव के कहने से चारों गति के सब जीवों का ग्रहण होता है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६५४, पृष्ठ १७६)

प्रश्न १६- व्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'सामान्यरूप से जाने हुए द्रव्य के विशेष (भेद) करने को व्यवहारनय कहते हैं; जैसे, द्रव्य के छह भेद करना।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

-'अनेक प्रकार के भेद करके व्यवहार करे या भेदे, सो व्यवहारनय है। जो संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ को विधिपूर्वक भेद करे, सो व्यवहार है; जैसे, सत् के दो प्रकार हैं -द्रव्य और गुण। द्रव्य के छह भेद हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। गुण के दो भेद हैं- सामान्य और विशेष। इस प्रकार जहाँ तक भेद हो सकते हैं, वहाँ तक यह नय प्रवृत्त होता है। [DISTRIBUTIVE]' तथा,

-'सत् में अन्तर्भेदों का मानना, सो व्यवहारनय है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३ व ९४)

-'जो संग्रहनय से ग्रहण किये हुए पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करे, सो व्यवहारनय है; जैसे, जीव के भेद त्रस और स्थावर करना।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६५५, पृष्ठ १७६)

प्रश्न १७- पर्यायार्थिकनय किसे कहते हैं?

उत्तर- जो मुख्यरूप से विशेष को (गुण अथवा पर्याय को) विषय बनाये, उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ५९, पृष्ठ ८)

-'पर्याय ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिक है।'

(श्रीनियमसार, गाथा १९ की टीका, पृष्ठ ४६)

-**'अंशा: पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंश: स:।**
अर्थो यस्येति मत: पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च॥ ५१९॥'

अर्थ- अंश नाम पर्यायों का है। इनमें से जो विवक्षित अंश है, वह जिस नय का विषय है -वह पर्यायार्थिकनय है। इनके अनेक भेद हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५१९ व अर्थ, पृष्ठ १०१)

-'जो विशेष को (गुण अथवा पर्याय को) विषय करे, वह पर्यायार्थिकनय है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६५१, पृष्ठ १७५)

प्रश्न १८- पर्यायार्थिकनय को किस-किस नाम से कहते है?

उत्तर- 'पर्यायार्थिकनय को विशेष, अपवाद, अथवा व्यावृत्ति नाम से कहते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३)

सारणी २८ : नय के भेद

नय
- द्रव्यार्थिकनय
  - नैगमनय
    - भूतनैगमनय
    - भाविनैगमनय
    - वर्तमाननैगमनय
  - संग्रहनय
  - व्यवहारनय
- पर्यायार्थिकनय
  - ऋजुसूत्रनय
  - शब्दनय
  - समभिरूढ़नय
  - एवंभूतनय
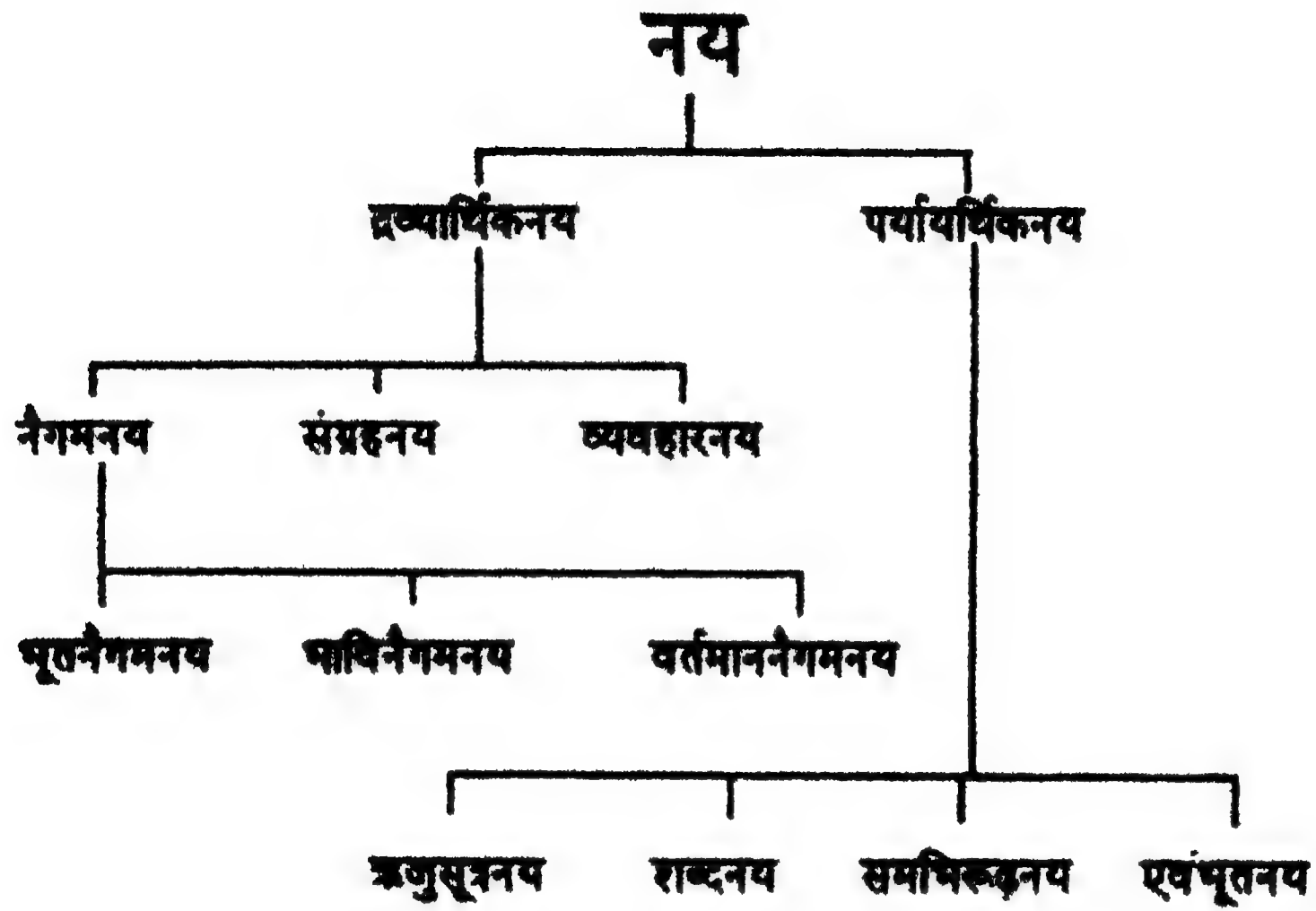
आधार-श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-१, सूत्र ३३ व टीका, पृष्ठ ९२ से ९४; श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत टीका, पृष्ठ ३९; एवं श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ५८ से ६९, पृष्ठ ८ से १२।

-'पर्यायार्थिकनय को **व्यवहार**[1], अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी, पराश्रित, परतन्त्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वंसी, भेद, और परलक्षीनय कहा जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ २९)

प्रश्न १९- पर्यायार्थिकनय के कितने भेद है?

उत्तर- पर्यायार्थिकनय के चार भेद हैं (१) ऋजुसूत्रनय, (२) शब्दनय, (३) समभिरूढ़नय, और (४) एवंभूतनय।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९; श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३; श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६५; पृष्ठ १२; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६५६, पृष्ठ १७६)

१. **व्यवहार-** 'जिस भाव का वस्तु से अव्यापकरूप सम्बन्ध है, व्याप्य-व्यापक (एकमेक) सम्बन्ध नहीं है; वह व्यवहार संज्ञा को प्राप्त होता है।'

(श्रीआत्मावलोकन, व्यवहारवर्णन, पृष्ठ २०)

प्रश्न २०- ऋजुसूत्रनय किसे कहते है?

उत्तर- 'जो वर्तमान पर्यायमात्र को जानता है, उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

-'ऋजु अर्थात् वर्तमान; उपस्थित; सरल। जो ज्ञान का अंश वर्तमान पर्यायमात्र को ग्रहण करे, सो ऋजुसूत्रनय है। (PRESENT CONDITION)'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३)

-'भूत-भविष्यकाल-सम्बन्धी पर्याय की अपेक्षा न करके वर्तमानकाल-सम्बन्धी पर्याय को ही जो विषय बनाये, उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६६; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६५७, पृष्ठ १७७)

प्रश्न २१- शब्दनय किसे कहते है?

उत्तर- 'व्याकरणादि के अनुसार शब्द की अशुद्धता को दूर करना शब्दनय है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

-'जो नय लिङ्ग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है, सो शब्दनय है। यह नय लिङ्गादि के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है; जैसे, दार (पु०), भार्या (स्त्री), कलत्र (नपु०)। ये दार, भार्या, और कलत्र तीनों शब्द भिन्न लिङ्गवाले होने से यद्यपि एक ही (स्त्री) पदार्थ के वाचक हैं; तथापि यह नय स्त्री पदार्थ को लिङ्ग के भेद से तीन भेदरूप जानता है। [DESCRIPTIVE]'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३; श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६७, पृष्ठ १२; एवं श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६५८, पृष्ठ १७७)

प्रश्न २२- समभिरूढ़नय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'पदार्थ में मुख्यता से एक अर्थ के आरूढ़ करने को समभिरूढ़नय कहते हैं; जैसे, **"गच्छतीति गौः"** के अनुसार "जो चले वही गौ" होती है; परन्तु यहाँ बैठी हुई को भी गौ कह देते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

-'(१) जो भिन्न-भिन्न अर्थों का उल्लङ्घन करके एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करे; जैसे, गाय[1]। (२) जो पर्याय के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करे; जैसे, इन्द्र, शुक्र, पुरन्दर- ये तीनों शब्द

---

१. गाय- 'गौ' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; जैसे, वाणी, पृथ्वी, गमन, आदि, किन्तु प्रचलित रूढ़ि से उसका अर्थ गाय होता है। (श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६८, पृष्ठ १२)

इन्द्र के नाम हैं, किन्तु यह नय तीनों का भिन्न-भिन्न अर्थ करता है। [SPECIFIC]'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३; एवं श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६८, पृष्ठ १२)

-'लिङ्गादि का भेद न होनेपर भी पर्याय शब्द के भेद से जो पदार्थ को भेदरूप से ग्रहण करे; जैसे, इन्द्र, शुक्र, पुरन्दर- ये तीनों एक ही लिङ्ग के पर्यायशब्द देवराज के वाचक हैं। सो यह नय देवराज को तीन भेदरूप ग्रहण करता है।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, बरैया जी, प्रश्न संख्या ६५९, पृष्ठ १७७)

प्रश्न २३- एवंभूतनय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जो वर्त्तमान क्रिया जैसी हो, उसी के अनुसार वैसा ही कहना एवंभूतनय है; जैसे, चलती हुई को ही 'गौ' कहना; सोती हुई या बैठी हुई को गौ न कहना।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

-'जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है; उस क्रियारूप परिणमित होनेवाले पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है, उसे एवंभूतनय कहते हैं; जैसे, पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना। [ACTIVE]'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९३; श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ६९; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६६०, पृष्ठ १७८)

प्रश्न २४- उक्त सात नयों में कौनसे नय अर्थनय हैं और कौनसे शब्दनय?

उत्तर- नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, और ऋजुसूत्रनय अर्थनय है तथा शब्दनय, समभिरूढ़नय, और एवंभूतनय शब्दनय है।

-'पहिले चार नय अर्थनय हैं और बाद के तीन नय शब्दनय हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ ९४)

-'इनमें शब्दनय, समभिरूढ़नय तथा एवंभूतनय को शब्दनय कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३१-३२ की टीका, पृष्ठ ३९)

प्रश्न २५- नैगमनय आदि सात नयों का आध्यात्मिक रहस्य क्या है जिसे जानने-मानने से सुख की प्राप्ति, वृद्धि, और पूर्णता हो?

उत्तर-(१) 'मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ'- ऐसा सङ्कल्प यह सङ्कल्पग्राही नैगमनय है; (२) 'मैं अनन्तगुणों का पिण्ड हूँ'- यह अभेदग्राही संग्रहनय है; (३) 'मैं दर्शन-ज्ञान-चारित्रवाला हूँ'- यह भेदग्राही व्यवहारनय है; (४) 'मैं पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत करता हूँ'- यह ऋजुसूत्रनय का विषय है; (५) 'जैसा विकल्प उठा वैसा परिणमन होना'- शब्दनय का विषय है'; (६) 'उसमें कचास (कमी)

न रह जाये'- आठवें से बारहवें गुणस्थान तक समभिरूढ़नय का विषय है; और (७) 'शुद्धि आगे बढ़ती रहे'- ऐसा तेरहवाँ-चौदहवाँ गुणस्थान एवंभूतनय का विषय है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, पञ्चम भाग, प्रश्न संख्या १८९, पृष्ठ ३०२)

प्रश्न २६- निश्चयनय किसे कहते हैं?

उत्तर- वस्तु के असली (मूल) अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को निश्चयनय कहते हैं; जैसे, मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ५५, पृष्ठ ८; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६४७, पृष्ठ १७४)

-'अभेद और अनुपचाररूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चयनय है।'

(श्रीआलापपद्धति, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३९)

-'निश्चय की प्राप्ति के लिये कर्ता, कर्म, कारण आदि कारकों को जीव आदि वस्तु से अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है।'

(श्रीअनागारधर्मामृत, अध्याय १, श्लोक १०२ का अर्थ, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३९)

-'लक्षणमेकस्य सतो यथाकथाञ्चिद्यथा द्विधाकरणम्।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः।। ६१४।।'

अर्थ- जिस प्रकार एक पदार्थ का जिस किसी प्रकार विभाग करना, यह व्यवहारनय का लक्षण है। उसी प्रकार इससे उल्टा निश्चयनय का लक्षण है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१४ व अर्थ, पृष्ठ ११९)

-'अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः।'

अर्थ- जिसका अभिन्न कर्ता, कर्म आदि विषय हैं, वह निश्चयनय है।

(श्रीतत्त्वानुशासन, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ४०)

-**'आत्माश्रितो निश्चयनयः'**,-आत्माश्रित अर्थात् स्व-आश्रित निश्चयनय है।

(श्रीसमयसार, गाथा २७२ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ ३८७)

-'शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति।'

अर्थ- शुद्ध[1]नय (निश्चयनय) एक ही **भूतार्थ[2]** होने से विद्यमान, सत्य, **भूत अर्थ को प्रगट**

---

१. **शुद्ध**- 'यहाँ स्वभाव से अभिन्न, परभाव से भिन्न- ऐसा "शुद्ध" शब्द का अर्थ जानना।'
(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४९)

२. **भूतार्थ**- भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है। 'भूत' अर्थात् जो पदार्थ में पाया जाये और 'अर्थ' अर्थात् 'भाव'। **उनको जो प्रकाशित करे** तथा अन्य किसी प्रकार की कल्पना न करे, उसे भूतार्थ कहते हैं।
(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ५ का भावार्थ, पृष्ठ ८२)

करता है।

(श्रीसमयसार, गाथा ११ की संस्कृत टीका का अर्थ, पृष्ठ २२)

- **'इह निश्चयं भूतार्थं'**,- आचार्य इन दोनों नयों में (निश्चयनय और व्यवहारनय में) निश्चयनय को भूतार्थ कहते हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ५ की टीका, पृष्ठ ८)

- 'यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध है और दोनो मिले हुए- जैसे दिखायी पड़ते हैं, तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ५ का भावार्थ, पृष्ठ ८)

- 'यथार्थ का नाम निश्चय है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ १९३)

- 'सच्चा निरुपण सो निश्चय।' तथा,

- 'एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना, सो निश्चयनय है;........ जैसे, मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा निरूपित किया जाये सो निश्चय।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४९)

- 'जिस द्रव्य की परिणति हो उसको उसी की प्ररूपित करे, सो निश्चयनय।' तथा,

- 'निश्चयनय उन्हीं को (स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारणकार्यादिक को) यथावत् निरूपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५० व २५१)

प्रश्न २७- निश्चयनय के कितने भेद हैं?

उत्तर- निश्चयनय के दो भेद हैं- (१) शुद्धनिश्चयनय, और (२) अशुद्धनिश्चयनय।

- **'तत्र निश्चयो द्विविधः, शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च।'**

अर्थ- निश्चयनय दो प्रकार का है- शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय।

(श्रीआलापपद्धति, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ७९)

- 'आकुलतारहित पारमार्थिक वीतराग सुख से पराङ्मुख जो संसार के सुख-दुःख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयकर जीव-सम्बन्धी हैं; तो भी शुद्ध निश्चयद्रव्यनयकर जीव ने उपजाये नहीं हैं; इसलिये जीव के नहीं हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ६४ का भावार्थ, पृष्ठ ६५)

[**विशेष**- श्री पञ्चाध्यायी में निश्चयनय के किसी भेद प्रभेद को स्वीकार नहीं किया गया है। वहाँ आशय यह है कि शुद्ध और अशुद्ध निश्चयनय के रूप में निश्चयनय का कथनमात्र है, क्योंकि शुद्ध

निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय व्यवहारनय है। वास्तव में निश्चयनय अभेद ही है।

-'**नैवं यतोऽस्त्यनेको नैक: प्रथमोऽप्यनन्तधर्मत्वात्।**
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेक:।। ६५७।।'

अर्थ- अनन्त धर्म होने से व्यवहारनय अनेक हैं, एक नहीं। किन्तु निश्चयनय का लक्षण 'न तथा' है; इसलिये वह एक ही है, अनेक नहीं। तथा,

-'**शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेक: शुद्धनिश्चयो नाम।**
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम।। ६६०।।
इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते।
स हि मिथ्यादृष्टि: स्यात् सर्वज्ञावमानितो नियमात्।। ६६१।।'

अर्थ- एक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है; उसी का नाम शुद्ध निश्चयनय है। दूसरा अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है; उसका नाम अशुद्ध निश्चयनय है। इत्यादिरूप से जिनके मत में निश्चयनय के बहुत से भेद माने गये हैं, वह सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला होने से नियम से मिथ्यादृष्टि है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम भाग, गाथा ६५७, ६६०, ६६१ व उनका अर्थ, पृष्ठ १२७-१२८)

-'अशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।' **-श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४८ की टीका, पृष्ठ २३३]**

प्रश्न २८- शुद्धनिश्चयनय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध-एक स्वभाववाले हैं- यह शुद्धनिश्चयनय का लक्षण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

[शुद्धनिश्चयनय को शास्त्रों में कहीं कहीं साक्षात् शुद्धनिश्चयनय भी कहा है।]

प्रश्न २९- शुद्धनिश्चयनय की विषयवस्तु क्या है?

उत्तर- जीव शुद्धनिश्चयनय से अनन्तज्ञान सुखादि शुद्धभावों को कर्ता है।

-' **"सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं"**- शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध, अखण्ड केवलज्ञान और केवलदर्शन- ये दोनों जीव के लक्षण हैं।' (अर्थात्, शुद्धनिश्चयनय से जीव केवलज्ञान, केवलदर्शन का कर्ता है।)

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ की टीका, पृष्ठ २२)

-'**शुद्धनिश्चयेन केवलज्ञानादिशुद्धभावा: स्वभावा भण्यन्ते।'**

अर्थ- शुद्धनिश्चयनय से केवलज्ञानादि शुद्धभाव जीव के स्वभाव कहे जाते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा ६१ की आचार्य जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीका, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ८५)

-'शुद्धनिश्चयनय से निरुपाधि स्फटिकमणि के समान आत्मा समस्त रागादि विकल्प की उपाधि से रहित है।'

(श्रीप्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका का परिशिष्ठ, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ८५)

-'तत्र निरुपाधिकगुणगुयभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।'

अर्थ- निरुपाधिक गुण-गुणी को अभेदरूप विषय करनेवाला शुद्धनिश्चयनय है; जैसे, जीव को शुद्ध केवलज्ञानादिरूप कहना।

(श्रीआलापपद्धति, अन्तिम पृष्ठ, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ८५)

प्रश्न ३०- शुद्धनिश्चयनय के कितने भेद हैं?

उत्तर- शुद्धनिश्चयनय तो सामान्यरूप से एक ही है; लेकिन अपेक्षाकृत उसी को कहीं परम शुद्धनिश्चयनय, कहीं शुद्धनिश्चयनय, और कहीं एकदेश शुद्धनिश्चयनय के रूप में उल्लेख किया गया है। (१) जहाँ आश्रय करनेयोग्य परमपारिणामिक, त्रिकाली, अखण्ड, जीवन-मरणरहित, बन्ध मोक्षरहित शुद्ध जीव का कथन है, वहाँ उसे परम शुद्धनिश्चयनय कहा गया है; (२) जहाँ केवलज्ञानादि शुद्धपर्याय को जीव का कहा गया है, वहाँ उसे शुद्धनिश्चयनय अथवा साक्षात् शुद्धनिश्चयनय कहा गया है; और (३) जहाँ जीव के रागादि विकारी भावों को कर्मजनित कहा है, वहाँ उसे एकदेश शुद्धनिश्चयनय कहा गया है।

-'अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भावकर्म के बन्ध को तथा दोनो नयों से द्रव्यकर्म भावकर्म की मुक्ति को यद्यपि जीव करता है; तो भी शुद्धपारिणामिक परमभाव के ग्रहण करनेवाले शुद्धनिश्चयनय से नहीं करता है; बन्ध और मोक्ष से रहित है ऐसा भगवान ने कहा है। यहाँ जो शुद्ध निश्चयनयकर (परम-शुद्धनिश्चयनय) बन्ध और मोक्ष का कर्ता नहीं, वही शुद्धात्मा आराधने योग्य है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, गाथा ६५ का भावार्थ, पृष्ठ ६५-६६)

-'परमशुद्धनिश्चयनय से तो "हे योगी, परमार्थ से यह जीव उत्पन्न नहीं होता है, मरता नहीं है, बन्ध और मोक्ष करता नहीं है- इस प्रकार जिनेन्द्र कहते हैं।"'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २७ की टीका, पृष्ठ ९६)

-'नय की विवक्षा के अनुसार, विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से राग-द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं और अशुद्धनिश्चयनय से जीव जनित कहलाते हैं।' तथा

-'साक्षात शुद्धनिश्चय से, स्त्री और पुरुष के संयोगरहित पुत्र की भाँति, चूना और हल्दी के संयोगरहित रङ्ग विशेष की भाँति, उनकी (राग-द्वेषादि की) उत्पत्ति ही नहीं है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४८ की टीका, पृष्ठ २३३)

प्रश्न ३१- शुद्धनिश्चयनय और एकदेश शुद्धनिश्चयनय में क्या अन्तर है?

उत्तर- 'जब जीव, शुभ-अशुभरूप तीन योग (मन-वचन-काया) के व्यापार से रहित, शुद्ध-बुद्ध ऐसे एक स्वभावरूप से परिणमन करता है; तब अनन्त ज्ञान-सुखादि शुद्धभावों का छद्मस्थ अवस्था में भावनारूप से, विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से कर्ता है और मुक्त अवस्था में शुद्धनय (शुद्धनिश्चयनय) से अनन्त ज्ञान-सुखादि शुद्धभावों का कर्ता है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २३३)

प्रश्न ३२- अशुद्धनिश्चयनय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'रागादि ही जीव हैं'- यह अशुद्धनिश्चयनय का लक्षण है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

-'कर्मोपाधि से उत्पन्न हुआ होने से अशुद्ध कहलाता है और इस समय तपे हुए लोहखण्ड के गोले के समान तन्मय होने से निश्चय कहलाता है। इस प्रकार अशुद्ध और निश्चय इन दोनों का मिलाप करके अशुद्धनिश्चय कहा जाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २६)

-'सोपाधिक गुण-गुणी में अभेद दर्शानेवाला अशुद्धनिश्चयनय है; जैसे, मतिज्ञानादि को जीव कहना।'

(श्रीआलापपद्धति, अन्तिम पृष्ठ, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ८६)

प्रश्न ३३- अशुद्धनिश्चयनय की विषयवस्तु क्या है?

उत्तर- 'रागादि विकल्परूप उपाधिरहित, निष्क्रिय परम चैतन्य की भावना से रहित होने से जीव ने रागादि को उत्पन्न करनेवाला जो कर्म उपार्जित किया है; उसका उदय होनेपर निष्क्रिय, निर्मल स्वसंवित्ति को नहीं प्राप्त करता हुआ जीव, 'भावकर्म' शब्द से वाच्य रागादि विकल्परूप चेतनकर्मों का अशुद्धनिश्चयनय से कर्ता होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २६)

-'आकुलतारहित पारमार्थिक वीतराग सुख से पराङ्मुख (जो) संसार के सुख-दुःख (यद्यपि) अशुद्धनिश्चयनयकर जीव-सम्बन्धी है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ६४ का भावार्थ, पृष्ठ ६५)

-**'आत्मा हि अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च;'**

अर्थ- आत्मा ही अशुद्धनिश्चयनय से समस्त मोहरागद्वेषादि भावकर्म का कर्ता और भोक्ता है।

(श्रीनियमसार, गाथा १८ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ ४३)

-'मिथ्यादृष्टि जीव को..............जीवभाव पर्यायरूप आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप पदार्थों का कर्तृत्व अशुद्धनिश्चयनय से है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा २७ की टीका, पृष्ठ ९६)

प्रश्न ३४- व्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'किसी निमित्त के कारण से एक पदार्थ को दूसरे पदार्थरूप जाननेवाले ज्ञान को व्यवहारनय कहते हैं: जैसे, मिट्टी के घड़े को घी रहने के निमित्त से घी का घड़ा कहना।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ५६, पृष्ठ ८; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६४८, पृष्ठ १७५)

-**'भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहार:।'**

अर्थ- भेद तथा उपचाररूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहारनय हैं।

(श्रीआलापपद्धति, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३९)

-'एक पदार्थ का जिस किसी प्रकार विभाग करना, यह व्यवहारनय का लक्षण है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ६१४ की टीका, पृष्ठ ११९)

-**'व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचर:।।'**

अर्थ- जिसका विषय भिन्न कर्ता-कर्म आदि हैं, वह व्यवहारनय है।

(श्रीतत्त्वानुशासान, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ४०)

-**'पराश्रितो व्यवहारनय:।'**- पराश्रित अर्थात् पर के आश्रित व्यवहारनय है।

(श्रीसमयसार, गाथा २७२ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ ३८७)

-**'व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति;'**-

अर्थ- व्यवहारनय सब ही **अभूतार्थ**[1] है; इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है।

(श्रीसमयसार, गाथा ११ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ २२)

-**'व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति;'**- आचार्य इन दोनों नयों में (निश्चय और अनिश्चय में) ....व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं। तथा,

-'यद्यपि जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न हैं, प्रदेश भिन्न हैं; तथापि एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का छल पाकर (व्यवहारनय) आत्मद्रव्य को, शरीरादिक परद्रव्य से एकत्वरूप कहता है। मुक्तदशा में प्रकट भिन्नता होती है, तब व्यवहारनय स्वयं ही भिन्न-भिन्न प्रकाशित करने को तैयार होता है; अत: व्यवहारनय असत्यार्थ है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ५ की टीका व भावार्थ, पृष्ठ ८)

-'उपचार का नाम व्यवहार है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ १९३)

---

१. **अभूतार्थ-** अभूतार्थ नाम असत्यार्थ का है। 'अभूत'; अर्थात्, जो पदार्थ में न पाया जाये और, 'अर्थ' अर्थात् 'भाव'। उनको जो अनेक प्रकार की कल्पना करके प्रकाशित करे उसे अभूतार्थ कहते हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ५ का भावार्थ, पृष्ठ ८)

–'उपचार निरूपण सो व्यवहार;' तथा,

–'उपचार से उस द्रव्य के (एक द्रव्य के) भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है; जैसे, मिट्टी के घड़े को घृतसंयोग के उपचार से घृत का घड़ा कहा जाये सो व्यवहार।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४९)

–'(जिस द्रव्य की परिणति हो) उसही को अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे सो व्यवहारनय।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५०)

–'व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारणकार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१)

प्रश्न ३५- व्यवहारनय के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) सद्भूत व्यवहारनय, और (२) असद्भूत व्यवहारनय।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७०, पृष्ठ १३)

–'**व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूत:।**'

अर्थ- व्यवहारनय के दो भेद हैं- सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२५ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १०३)

–'**व्यवहारो द्विविध: सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च।**'

अर्थ- व्यवहारनय के दो भेद हैं- सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार।

(श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ २२८, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ १११)

प्रश्न ३६- सद्भूत व्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'एक अखण्डद्रव्य को भेदरूप विषय करनेवाले ज्ञान को सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं; जैसे, जीव के केवलज्ञानादिक व मतिज्ञानादिक गुण हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६६२, पृष्ठ १७८)

–'जो एक पदार्थ में गुण-गुणी को भेदरूप से ग्रहण करे, उसे सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तदर्पण, पृष्ठ ३४, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न ७१)

–'गुण और गुणी अभेद होनेपर भी भेद का उपचार करना, यह सद्भूतव्यवहार का लक्षण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

–'**सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात्।।**'

अर्थ- जिस वस्तु का जो गुण है, उसकी सद्भूत संज्ञा है और उन गुणों की प्रवृत्तिमात्र का नाम व्यवहार है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२५ का उत्तरार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १०३)

-'जो नय गुण और गुणी में अभेद रहते हुए भी भेद करता है, वह सद्भूत व्यवहारनय है।'

(श्रीअनगारधर्मामृत, अध्याय १, श्लोक १०४, आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२५ से ५२८ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०३)

-'जो नय गुण और गुणी में संज्ञा आदि के भेद से भेद करता है, वह सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है।'

(श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ १३१, आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२५ से ५२८ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०३)

-'एक ही वस्तु में भेद व्यवहार करनेवाला सद्भूत व्यवहारनय है।'

(श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ २२८, आधार-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ १११)

प्रश्न ३७- सद्भूत व्यवहारनय के कितने भेद हैं?

उत्तर- सद्भूत व्यवहारनय के दो भेद हैं- (१) अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय, और (२) उपचरित सद्भूतव्यवहारनय।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७२, पृष्ठ १३)

-**'सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोऽस्ति च तथोपचरितश्च।'**

अर्थ- सद्भूतव्यवहारनय अनुपचरित और उपचरित के भेद से दो प्रकार का है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५३४ का पूर्वार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १०५)

[**विशेष**- 'श्री अनगारधर्मामृत और आलापपद्धति में सद्भूत व्यवहारनय के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये हैं। श्री अनगारधर्मामृत में शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय को अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय और अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय को उपचरित सद्भूतव्यवहारनय भी कहा है।' -**श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५३५ से ५३९ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०५**]

प्रश्न ३८- अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जो निरूपाधिक गुण और गुणी को भेदरूप ग्रहण करे, उसे अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे, जीव के केवलज्ञानादि गुण।'

(श्रीजैनसिद्धान्तदर्पण, श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७४, पृष्ठ १३)

-' "जीव के केवलज्ञानादि गुण हैं"- यह अनुपचरित शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय का

लक्षण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

–'स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम्।। ५३५।।'

अर्थ- जिस पदार्थ की जो आत्मभूत शक्ति है, उसको जो नय अवान्तरभेद किये बिना सामान्यरूप से उसी पदार्थ को बतलाता है- वह अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५३५ व अर्थ, पृष्ठ १०५)

–'जिस वस्तु का जो शुद्ध गुण है, उसको उसी का बतलाना- यह शुद्ध (अनुपचरित) सद्भूतव्यवहारनय है।'

(श्रीआलापपद्धति, आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५३५ से ५३९ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०६)

–'केवलज्ञान आदि को जीव का कहना शुद्ध (अनुपचरित) सद्भूतव्यवहारनय है।'

(श्रीअनगारधर्मामृत, आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५३५ से ५३९ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०६)

–'*निरूपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः।*'

अर्थ- जो नय उपाधिरहित गुण-गुणी के भेद को विषय करे, उसे अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे, जीव के केवलज्ञानादि गुण; (परमाणु के स्पर्शादि गुण)।

(पण्डित हजारीलाल जी द्वारा सम्पादित श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ १३६ से १३९, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, पृष्ठ ३५)

प्रश्न ३९- उपचरित सद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर- जो उपाधिसहित गुण-गुणी को भेदरूप से ग्रहण करे, उसे उपचरित सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे, जीव के मतिज्ञानादि गुण।

(श्रीजैनसिद्धान्तदर्पण, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७३)

–' "जीव के मतिज्ञानादि विभावगुण हैं"- यह उपचरित अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

–'उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यतः स्वगुणः।। ५४०।।

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा।

अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम्॥ ५४१॥'

अर्थ- यतः हेतुवश स्वगुण का पररूप से अविरोधपूर्वक उपचार करना उपचरित सद्भूतव्यवहारनय है॥ ५४०॥ जैसे अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण है; सो यह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है। यहाँ पर स्व-पर समुदाय का नाम अर्थ है और ज्ञान का उसरूप होना यही विकल्प है॥ ५४१॥

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५४०-५४१ व अर्थ, पृष्ठ १०६)

-' "मतिज्ञान आदि जीव के हैं"- यह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है।'

(श्रीअनगारधर्मामृत, अध्याय १, श्लोक १०६, आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५४० से ५४५ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०७)

-'जो नय कर्मोपाधिसहित अखण्ड द्रव्य में अशुद्ध गुण अथवा अशुद्ध गुणी तथा अशुद्ध पर्याय और अशुद्ध पर्यायवान की भेद कल्पना करे, उसे उपचरित सद्भूतव्यवहारनय (अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय) कहते हैं; जैसे, संसारी जीव के अशुद्ध मतिज्ञानादिक गुण अथवा अशुद्ध नर-नारकादि पर्यायें।'

(श्रीआलापपद्धति, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७३)

प्रश्न ४०- असद्भूत व्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर- जो मिश्रित भिन्न पदार्थों का **अभेदरूप**[१] से कथन करे, उसे असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं; जैसे, यह शरीर मेरा है अथवा मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७५, पृष्ठ १४; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६६३, पृष्ठ १७८)

-'भेद होनेपर भी अभेद का उपचार करना, यह असद्भूत व्यवहार का लक्षण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

-'अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा।

अन्यद्रव्यस्य गुणाः संयोज्यन्ते बालादन्यत्र॥ ५२९॥'

अर्थ- अन्य द्रव्य के गुणों की बलपूर्वक अन्य द्रव्य में संयोजना करना, यह असद्भूत व्यवहारनय है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२९ व अर्थ, पृष्ठ १०४)

---

१. भिन्न पदार्थ वास्तविकरूप में अभेद नहीं होते; इसलिये यह नय असद्भूत कहलाता है और वह पर के साथ के सम्बन्ध का कथन करता है; इसलिये व्यवहारनय कहलाता है।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७५, पृष्ठ १४ की टिप्पणी)

–'भेद में अभेद का उपचार करना असद्भूत व्यवहारनय है।'

(श्रीअनगारधर्मामृत, अध्याय १, श्लोक १०४, आधार–श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२७ से ५३३ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०४)

–'अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहार:।'

अर्थ– अन्यत्र के प्रसिद्ध धर्म का अन्य मे आरोप करना असद्भूत व्यवहारनय है।

(श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ २२७, आधार–परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ११२; एवं श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२७ से ५३३ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०४)

–'क्रोध आदि कर्म के निमित्त से होते हैं; इसलिये मूर्त है तथा उन्हें जीव का कहना असद्भूत व्यवहारनय है। यहाँ अन्य द्रव्य के गुण–धर्म का अन्य में आरोप किया गया है; इसलिये तो यह असद्भूत है और इस कथन में गुण–गुणी के भेद की प्रमुखता है; इसलिये यह व्यवहार है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५२७ से ५३३ का विशेषार्थ, पृष्ठ १०४)

प्रश्न ४१– असद्भूत व्यवहारनय के कितने भेद हैं?

उत्तर– असद्भूत व्यवहारनय के दो भेद हैं (१) अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय, और (२) उपचरित असद्भूतव्यवहारनय।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७६, पृष्ठ १४)

–'असद्भूतव्यवहारो, द्विविध: उपचरितानुपचरितभेदात्।'

(पं० हजारीलालजी द्वारा सम्पादित श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ १३६ से १३९, आधार–श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, पृष्ठ ३५)

–'अपि चासद्भूत: सोऽनुपचरितोऽस्ति च तथोपचरितश्च।।'

अर्थ– असद्भूत व्यवहारनय भी अनुपचरित और उपचरित के भेद से दो प्रकार का है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम भाग, गाथा ५३४ का उत्तरार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १०५)

प्रश्न ४२– अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय किसे कहते है?

उत्तर– जो नय सयोग–सम्बन्ध से युक्त दो पदार्थों के सम्बन्ध को विषय बनाये, उसे अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे, जीव के कर्म, जीव का शरीर, आदि।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७८, पृष्ठ १४)

– **'संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरमिति।'**

(पण्डित हजारीमलजी द्वारा सम्पादित श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ १३६ से १३९, आधार–श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ९२, पृष्ठ ३६)

–'अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नय: स भवति यथा।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवा:।। ५४६।।'

अर्थ- जब अबुद्धिपूर्वक होनेवाले; अर्थात्, बुद्धि में न आनेवाले क्रोधादिक भाव जीव के विवक्षित होते हैं, तब अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय प्रवृत्त होता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५४६ व अर्थ, पृष्ठ १०७)

-'संश्लेषसम्बन्धवाले पदार्थ "शरीरादि मेरे हैं"- यह अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

-'मन-वचन-काय व्यापारक्रियारहित निज शुद्धात्मतत्त्व की भावना से शून्य होकर अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियक, और आहारक- इन तीन शरीरों का, आहारादि छह पर्याप्तियोग्य पुद्गलपिण्डरूप नोकर्मों का.......भी कर्त्ता (यह जीव) होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २५-२६)

-'आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्म का कर्त्ता और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता है;.................अनुपचरित असद्भूतव्यवहार से (देहादि) नोकर्म का कर्त्ता है।'

(श्रीनियमसार, जीव अधिकार, गाथा १८ की टीका, पृष्ठ ४३)

-' **"अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहादभिन्नं"**,- अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से इस जीव के परवस्तु का सम्बन्ध अनादिकाल का मिथ्यारूप होनेसे व्यवहारनयकर देहमयी है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा १४ की संस्कृत टीका व अर्थ, पृष्ठ २१-२२)

-'अनादिकाल की सम्बन्धवाली अयथार्थस्वरूप अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म बन्ध और अशुद्ध निश्चय से रागादि भावकर्म के बन्ध को तथा दोनों नयों से द्रव्यकर्म, भावकर्म की मुक्ति को (यद्यपि) जीव करता है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ६५ का भावार्थ, पृष्ठ ६५)

-'१. जीव, द्रव्यकर्म, और पुद्गल शरीर- इन तीनों का आकाश अपेक्षा से एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध है; इसलिये उसे अनुपचरित कहा जाता है और

२. जीव के कर्म और जीव का शरीर कहना- वह असद्भूत है। असद्भूत का अर्थ मिथ्या; असत्य; अयथार्थ है।'

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७८, पृष्ठ १४-१५)

[विशेष- सभी ग्रन्थों में जीव के साथ संश्लेष सम्बन्धवाले कर्मों व शरीरादि को विषय बनानेवाले नय को अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय बताया है; लेकिन श्रीपञ्चाध्यायीकार ने जीव के साथ अबुद्धिपूर्वक होनेवाले विकार को विषय बनानेवाले नय को अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय बताया

है। श्रीपञ्चाध्यायीकार को जीव का द्रव्यकर्म अथवा शरीरादि से किसी भी प्रकार का किसी भी अपेक्षा (किसी भी नय से) कोई सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं है।]

प्रश्न ४३- उपचरित असद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर- अत्यन्त भिन्न पदार्थों को जो अभेदरूप से ग्रहण करे, उसे उपचरित असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे, हाथी, घोड़ा, महल, मकान, वस्त्र, आभरणादि को जीव का कहना।

(श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७७, पृष्ठ १४; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६६४, पृष्ठ १७९)

-'तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा देवदत्तस्य धनमिति।'

अर्थ- जो पृथक् वस्तुओं का (एकरूप) सम्बन्धरूप विषय करे, वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है; जैसे, देवदत्त का धन।

(पण्डित हजारीलालजी द्वारा सम्पादित श्रीआलापपद्धति, पृष्ठ १३६ से १३९, आधार-श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, पृष्ठ ३६)

-'उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा। क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः।। ५४९।।'

अर्थ- जब जीव के क्रोधादिक औदयिकभाव बुद्धिपूर्वक विवक्षित होते हैं, तब वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय कहलाता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, गाथा ५४९ व, अर्थ, पृष्ठ १०८)

-'जहाँ संश्लेषसम्बन्ध नहीं है, वहाँ "पुत्रादि मेरे हैं"- वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १४)

-'उपचरित असद्भूतव्यवहार से घटपटादि बहिर्विषयों का भी कर्त्ता (यह जीव) होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की टीका, पृष्ठ २६)

-'आत्मा............उपचरित असद्भूतव्यवहार से घट-पट-शकटादि का (घड़ा, वस्त्र, छकड़ा इत्यादि का) कर्त्ता है।'

(श्रीनियमसार, जीव अधिकार, गाथा १८ की टीका, पृष्ठ ४३)

-'आत्मा ही निज शुद्धात्म संवित्ति से उत्पन्न पारमार्थिक सुखसुधारस के भोजन को नहीं प्राप्त करता हुआ, उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से, इष्ट अनिष्ट पञ्चेन्द्रिय विषयजनित सुख-दुःख को भोगता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ९ की टीका, पृष्ठ २८)

[**विशेष-** अत्यन्त भिन्न पदार्थों; जैसे, घर, वस्त्र, मोटर आदि को जीव का कहना उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का कथन श्रीपञ्चाध्यायीकार को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थकारों को स्वीकार्य है; लेकिन श्रीपञ्चाध्यायीकार को अत्यन्त भिन्न परपदार्थों अथवा जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही द्रव्यकर्मों व शरीरादि नोकर्म के साथ किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध किसी भी अपेक्षा (किसी भी नय से) स्वीकार नहीं है। श्रीपञ्चाध्यायी में जीव के बुद्धिपूर्वक होनेवाले विकार को उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताया है।]

प्रश्न ४४- (१) उपचरित, (२) अनुपचरित, (३) सद्भूत, (४) असद्भूत, (५) व्यवहार, और (६) नय-इनका पृथक्-पृथक् क्या अर्थ है?

उत्तर- (१) जहाँ पर का उपचार आये, उसे उपचरित; (२) जहाँ पर का उपचार न आये, उसे अनुपचरित; (३) अपने में पाया जाये, उसे सद्भूत; (४) अपने में न पाया जाये, उसे असद्भूत; (५) जिसमें भेद पड़े, उसे व्यवहार; और (६) जो श्रुतज्ञान का अंश हो, उसे नय कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या २६-२७, पृष्ठ १९)

प्रश्न ४५- नयों को अध्यात्म की दृष्टि से मुनिदशा पर लगाकर समझाइए?

उत्तर-(१) बुद्धिपूर्वक होनेवाले राग को आत्मा का कहना उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है; जैसे, मुनिदशा में २८ मूलगुणों के राग को मुनि के कहना;

(२) अबुद्धिपूर्वक होनेवाले राग को आत्मा का कहना अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय है; जैसे, मुनिदशा में २८ मूलगुणों के साथ होनेवाले अबुद्धिपूर्वक के राग को मुनि के कहना;

(३) बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक (दोनों प्रकार) के राग के ज्ञान को अपना (आत्मा का) कहना उपचरित सद्भूतव्यवहारनय है; जैसे, मुनिदशा में होनेवाले बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक राग के ज्ञान को मुनि के कहना; और

(४) आत्मा के गुणों को आत्मा का कहना; अर्थात्, ज्ञान सो आत्मा, दर्शन सो आत्मा, कहना अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है; जैसे, मुनिदशा के ज्ञान को ज्ञान (आत्मा) का कहना।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, प्रथम भाग, प्रश्न संख्या ५२, पृष्ठ संख्या २४, आधार- श्रीपञ्चाध्यायी, गाथा ५२५ से ५५१, एवं श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ७८, पृष्ठ १५-१६)

प्रश्न ४६- श्रावकदशा (पाँचवें गुणस्थान) पर उपचरित असद्भूतव्यवहारनय (अध्यात्म) लगाकर बताइए?

उत्तर-(१) बारह अणुव्रतादि के (बुद्धिपूर्वक होनेवाले) राग पर परका उपचार आता है; इसलिये उपचरित कहा;

(२) बारह अणुव्रतादि का राग श्रावक के स्वभाव मे नहीं है; इसलिये असद्भूत कहा;

(३) 'श्रावकदशा मेरे में है'- यह भेद पड़ा; इसलिये व्यवहार कहा; और

(४) भाव श्रुतज्ञान का अंश है; इसलिये नय कहा।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, प्रथम भाग, प्रश्न ५०, पृष्ठ २३-२४, आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, गाथा ५२५ से ५५१ तक)

प्रश्न ४७- निश्चयनय और व्यवहारनय का श्रद्धान किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर- 'निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५०)

- 'जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है; उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही है"- ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है; उसे "ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है"- ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण (श्रद्धान) है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१)

प्रश्न ४८- दोनों नयों (निश्चयनय और व्यवहारनय) का श्रद्धान किस प्रकार नहीं करना चाहिए?

उत्तर- 'दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर "ऐसे भी है, ऐसे भी है"- इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१)

प्रश्न ४९- निश्चयनय और व्यवहारनय के सम्बन्ध में भगवान का क्या आदेश है?

उत्तर- 'निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१)

- 'सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम्॥ १७३॥'

श्लोकार्थ- (आचार्यदेव कहते हैं कि) सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं, वे सब (अध्यवसान) जिनेन्द्र भगवान ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं; इसलिये हम यह मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है, ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।' तब फिर, यह सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अङ्गीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में (आत्मस्वरूप में) स्थिरता

क्यों धारण नहीं करते?

(श्रीसमयसार, कलश १७३ एवम् श्लोकार्थ, पृष्ठ ३८७)

–'जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे।। ३१।।'

अर्थ– जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है।

(श्रीअष्टपाहुड, श्रीमोक्षपाहुड, गाथा ३१ व अर्थ, पृष्ठ २४९)

प्रश्न ५०– व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों योग्य है?

उत्तर– 'व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारणकार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिये उसका त्याग करना तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिये उसका श्रद्धान करना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१)

प्रश्न ५१– यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिये दिया है?

उत्तर– 'ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है–

–"जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।। ८।।"

अर्थ– जिस प्रकार अनार्य; अर्थात्, मलेच्छ को मलेच्छभाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिये व्यवहार का उपदेश है।

तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि, **"व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य।"**

इसका अर्थ है– इस निश्चय को अङ्गीकार कराने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं; परन्तु व्यवहारनय है, सो अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१-२५२)

प्रश्न ५२– व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता?

उत्तर– 'निश्चय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध वस्तु है। उसे जो नहीं पहचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें, तब तो वह समझ नहीं पायें। इसलिये उनको व्यवहारनय से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष किये, तब मनुष्य जीव है; नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहचान हुई।

अथवा अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है; देखनेवाला जीव है- इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहचान हुई।

तथा निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है। उसे जो नहीं पहचानते, उनको ऐसे ही कहते रहें, तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको व्यवहारनय से तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये; तब उन्हें वीतरागभाव की पहचान हुई।

इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का न होना जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५२)

प्रश्न ५३- व्यवहारनय कैसे अङ्गीकार नहीं करना?

उत्तर- 'तथा यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा; सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है। उसही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा; सो कथनमात्र ही है। परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नही- ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये; सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उसही को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे, सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं- ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा; सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना, क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो, तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाये। परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के अधीन है नहीं; इसलिये आत्मा अपने भाव रागादिक हैं। उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिये निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है; इसलिये व्रतादि को मोक्षमार्ग कहे; सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है- ऐसा ही श्रद्धान करना।

इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय का अङ्गीकार नहीं करना- ऐसा जान लेना।'

(श्रीमाक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५२-२५३)

प्रश्न ५४- प्रमाण और नयों के ज्ञान से क्या लाभ है?

उत्तर- प्रमाण और नयों के ज्ञान से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है।

-'प्रमाणनयैरधिगमः।। ६।।'

अर्थ- सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ६ व अर्थ, पृष्ठ २४)

जीवन में यही करने योग्य है

अहो! इस अशरण संसार में जन्म के साथ मरण लगा हुआ है। आत्मा की सिद्धि न सधे तब तक जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहेगा। ऐसे अशरण संसार में देव-गुरु-धर्म का ही शरण है। पूज्य गुरुदेव के बताये हुए चैतन्य शरण को लक्षगत करके उसके दृढ़ संस्कार आत्मा में जम जायें- यही जीवन में करने योग्य है।

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या ५, पृष्ठ ३)

श्रीगुरु की पारमार्थिक शिक्षा

भैया जगवासी तू उदासी व्हैकैं जगतसौं,
एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलपके विकार तजि,
बैठिकैं एकंत मन एक ठौर आनु रे॥
तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ,
तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौंही जानु रे॥

अर्थ- हे भाई संसारी जीव! तू संसार से विरक्त होकर एक छह महीने के लिये मेरी सीख मान, और एकान्त स्थान में बैठकर राग-द्वेष की तरङ्गें छोड़ के चित्त को एकाग्र कर; तेरे हृदयरूप सरोवर में तू ही कमल बन और तू ही भौंरा बनकर अपने स्वभाव की सुगन्ध ले। जो तू यह सोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा, सो नियम से स्वरूप की प्राप्ति होगी; आत्मसिद्धि का यही उपाय है।

(श्रीसमयसार-नाटक, अजीवद्वार, सवैया ३, पृष्ठ ५६-५७)

सारणी २९ (क) : नय के भेद—प्रभेद

- नय
  - निश्चयनय
    - शुद्धनिश्चयनय
      - परमशुद्धनिश्चयनय
      - साक्षातशुद्धनिश्चयनय
      - एकदेशशुद्धनिश्चयनय
    - अशुद्धनिश्चयनय
  - व्यवहारनय
    - सद्भूतव्यवहारनय
      - अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय
      - उपचरित सद्भूतव्यवहारनय
    - असद्भूतव्यवहारनय
      - अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय
      - उपचरित असद्भूतव्यवहारनय
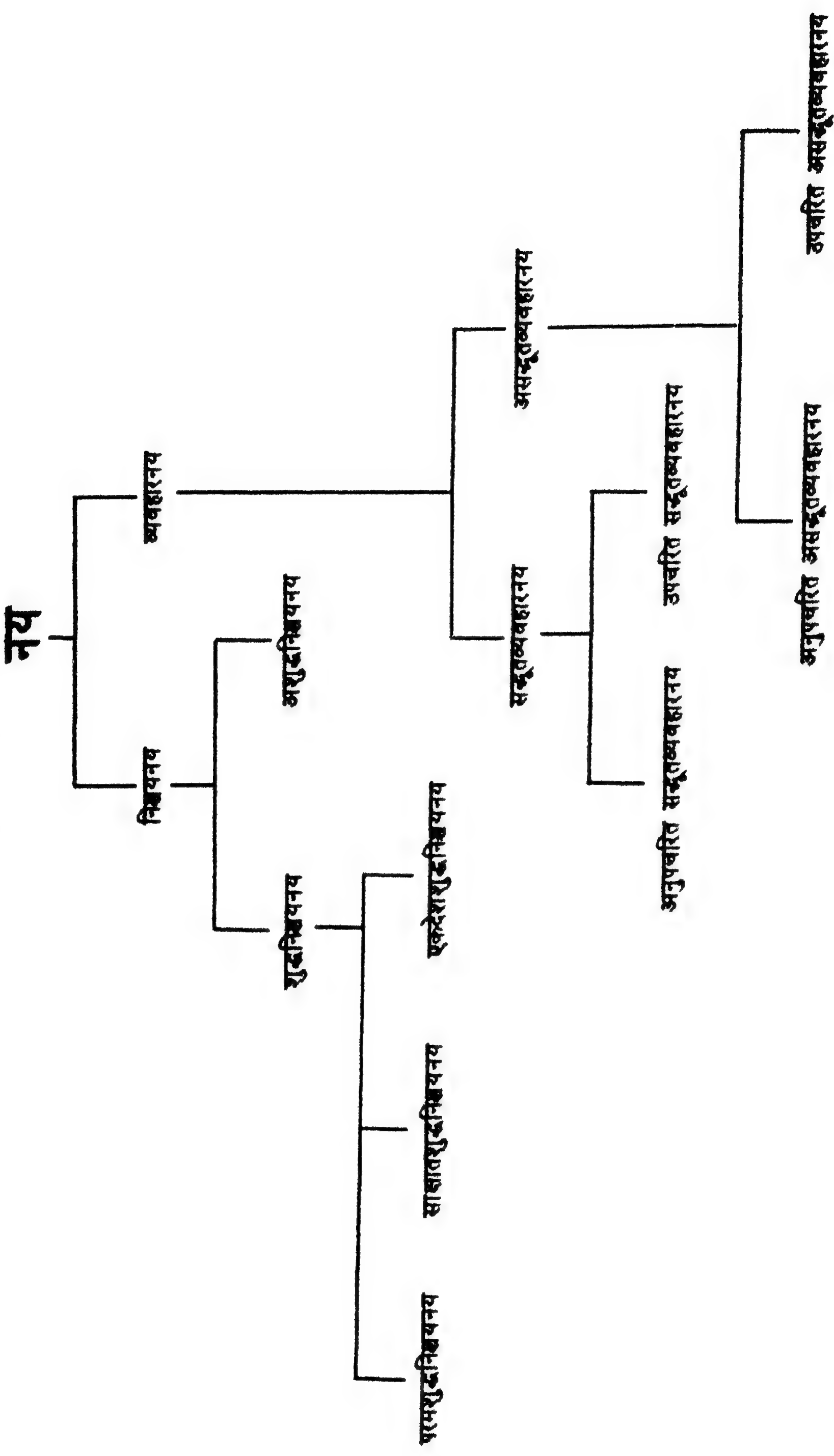
आधार-श्रीवृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ १९; एवं परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ ३३ से १२७।

अथवा

सारणी ३० (ख) : नय के भेद—प्रभेद

- नय
  - निश्चयनय
    - द्रव्यार्थिकनय
      - नैगमनय
        - भूतनैगमनय
        - भाविनैगमनय
        - वर्तमाननैगमनय
      - संग्रहनय
      - व्यवहारनय
    - पर्यायार्थिकनय
      - ऋजुसूत्रनय
      - शब्दनय
      - समभिरूढ़नय
      - एवंभूतनय
  - व्यवहारनय
    - सद्भूतव्यवहारनय
      - अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय
      - उपचरित सद्भूतव्यवहारनय
    - असद्भूतव्यवहारनय
      - अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय
      - उपचरित असद्भूतव्यवहारनय
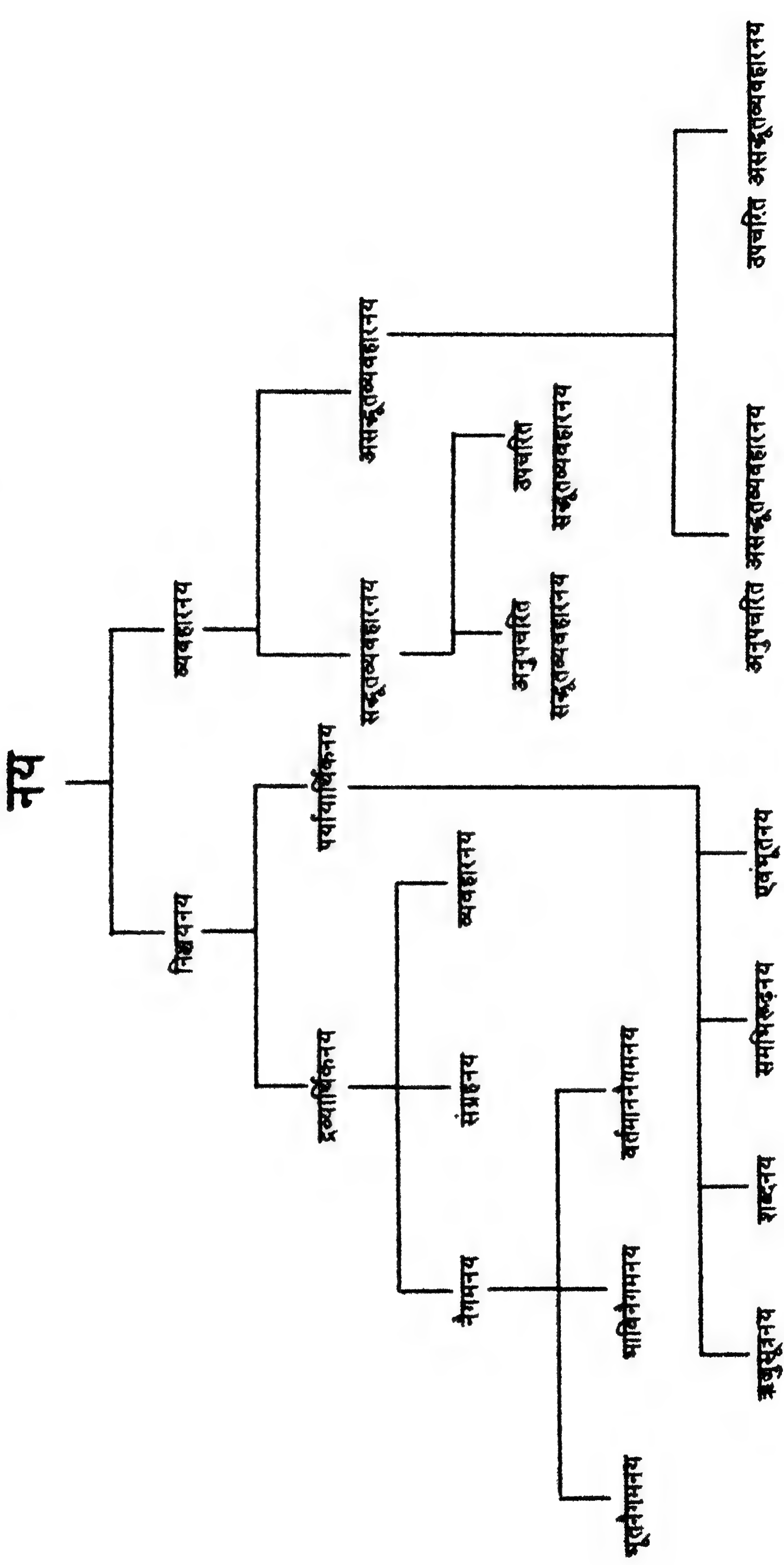
आधार–श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, तृतीय भाग, प्रश्न संख्या ५३ से ८०, पृष्ठ ७ से १७; एवं जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ६४५ से ६६४, पृष्ठ १७४ से १७९।

सम्यग्ज्ञान : उपाय और लाभ

प्रश्न १- ज्ञान सम्यग्ज्ञान कब कहलाता है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन होने के बाद ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्दर्शन के बिना कितना भी (क्षयोपशमरूप) ज्ञान हो, मिथ्याज्ञान ही नाम पाता है; अतः सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।

-'सम्यक्त्व के होनेपर ज्ञान प्रगटरूप से सम्यक् हो जाता है। कैसा सम्यक् हो जाता है? चलायमान संशयज्ञान संशय से; गमन करते हुए तृणस्पर्श होनेपर "किसका स्पर्श हुआ" उसके अनिश्चयरूप विभ्रम से; और "सीप के टुकड़े मे चाँदी का ज्ञान हो" ऐसे विमोह से- इन तीन दोषो से रहित ज्ञान सम्यक् हो जाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १८८)

-'सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

-'सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।। ३३।।'

अन्वयार्थ- जिनेन्द्रदेव सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं; इसलिये सम्यक्त्व के बाद तुरन्त ही ज्ञान की आराधना योग्य है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४०)

-'मिथ्या और सम्यक्- ऐसी संज्ञा ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है; जैसे, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थों को जानते तो समान हैं, (परन्तु) वही जानना मिथ्यादृष्टि के मिथ्याज्ञान नाम पाता है और सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसी प्रकार सर्व मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन कारण जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८७)

-'सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ;
लक्षण श्रद्धा जान, दुहूमें भेद अबाधौ।

सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई;
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई।। २।।'

अन्वयार्थ- सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान होता है; तथापि उन दोनों को भिन्न समझना चाहिए, क्योंकि उन दोनों के लक्षण क्रमशः श्रद्धा करना और जानना है तथा सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। यह भी दोनों में अन्तर निर्बाध है। जिस प्रकार एकसाथ होनेपर भी उजाला दीपक की ज्योति से होता है, उसी प्रकार।

(श्रीछहढाला, चौथी ढाल, छन्द २ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९४)

-' "सम्यग्दर्शन होनेपर ज्ञान सम्यक् होता है"- इस प्रकार जो कहा है उसका विवरण करते हैं। पाँच-पाँच सौ ब्राह्मणों को पढ़ानेवाले गौतम, अग्निभूत, और वायुभूति नामक ब्राह्मण चार वेद; ज्योतिष, व्याकरण आदि छह अङ्ग; मनुस्मृति आदि अठारह स्मृतिशास्त्र; महाभारतादि अठारह पुराण; मीमांसा, न्याय-विस्तार आदि समस्त लौकिक शास्त्र जानते थे; तो भी उनका ज्ञान सम्यक्त्व बिना मिथ्याज्ञान ही था। जब प्रसिद्ध कथा के अनुसार श्री महावीर वर्द्धमान तीर्थङ्कर परमदेव के समवशरण मे मानस्तम्भ को देखनेमात्र से ही आगमभाषा अपेक्षा से दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम-क्षय नामक और अध्यात्मभाषा की अपेक्षा से निज शुद्धात्माभिमुख परिणाम नामक कालादि-लब्धि विशेष से मिथ्यात्व नष्ट हुआ, तब वही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ।...........परन्तु अभव्यसेन ग्यारह अङ्ग का पाठी होनेपर भी सम्यक्त्व बिना मिथ्याज्ञानी रहा।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ १८९-१९०)

प्रश्न २- सम्यग्दर्शन और ज्ञान एकसाथ ही होते हैं; फिर उनमें कारण-कार्यपना कैसे सम्भव है?

उत्तर- ' "वह हो तो वह हो"- इस अपेक्षा से कारणकार्यपना होता है; जैसे, दीपक और प्रकाश युगपत् होते हैं; तथापि दीपक हो तो प्रकाश हो; इसलिये दीपक कारण है और प्रकाश कार्य हैं। उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धान के है। अथवा मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान के व सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के कारण-कार्यपना जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८८)

-'**सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई,**
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई।। २।।'

अन्वयार्थ- सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। यह भी दोनों में अन्तर निर्बाध है। जिस प्रकार एक साथ होनेपर भी उजाला दीपक की ज्योति से होता है, उसी प्रकार।

(श्रीछहढाला, चौथीढाल, छन्द २ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९४)

–'कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्।। ३४।।'

अन्वयार्थ– निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक समय में उत्पन्न होनेपर भी दीपक और प्रकाश की तरह कारण और कार्य की विधि भले प्रकार घटित होती है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४०-४१)

प्रश्न ३– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में क्या अन्तर है?

उत्तर– 'पदार्थ के ग्रहण मे जाननेरूप क्षयोपशम विशेष "ज्ञान" कहलाता है और उस ज्ञान में ही भेदनय से वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित शुद्धात्म आदि तत्त्वों मे "यही है; इस प्रकार ही है" –ऐसा निश्चय वह सम्यक्त्व है। निर्विकल्प अभेदनय से तो जो सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्दर्शन है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ की टीका, पृष्ठ २१८)

प्रश्न ४– क्या सम्यग्ज्ञानरहित चारित्र कार्यकारी है?

उत्तर– सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र कदापि कार्यकारी नहीं है। सम्यक् श्रद्धान-ज्ञानरहित चारित्र कायक्लेश और मिथ्याचारित्र की ही सज्ञा पाता है।

–'वहाँ कितने ही जीव तो ऐसे हैं जो तत्त्वादिक के भली-भाँति नाम भी नही जानते; केवल व्रतादिक में ही प्रवर्तते हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान का अयथार्थ साधन करके व्रतादि में प्रवर्तते हैं। यद्यपि वे व्रतादिक का यथार्थ आचरण करते हैं, तथापि यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान बिना सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४२)

–'क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः

क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।

साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं

ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि।। १४२।।'

श्लोकार्थ– कोई जीव तो दुष्करतर और मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों के द्वारा स्वयमेव (जिनाज्ञा के बिना) क्लेश पाते हैं, तो पाओ; और अन्य कोई जीव महाव्रत और तप के भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें, तो करो। (किन्तु) जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय पद है और स्वयं संवेद्यमान है– ऐसे ज्ञान को ज्ञानगुण (सम्यक्ज्ञान) के बिना किसी भी प्रकार से वे प्राप्त नहीं कर सकते।'

(श्रीसमयसार, कलश १४२ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ३०९)

–'ज्ञान है, वह साक्षात् मोक्ष है। वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकाण्ड

से उसकी प्राप्ति नहीं होती।'

(श्रीसमयसार, कलश १४२ का भावार्थ, पृष्ठ ३०९)

-'मुनिव्रत धार अनन्तबार, ग्रीवक उपजायो;

पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।। ५।।'

अन्वयार्थ- यह जीव मुनियों के महाव्रतों को धारण करके अनन्तबार नववें ग्रैवयेक तक उत्पन्न हुआ, परन्तु अपने आत्मा के ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) बिना किञ्चित्मात्र सुख प्राप्त न कर सका।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ५ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९९-१००)

प्रश्न ५- सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का क्या उपाय है?

उत्तर- जीवादि सात तत्त्वो की विपरीताभिनिवेशरहित सच्ची श्रद्धा; अर्थात्, सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है।

-'प्रथम सच्चा तत्त्वज्ञान हो; वहाँ फिर पुण्य-पाप के फल को संसार जाने; शुद्धोपयोग से मोक्ष माने; गुणस्थानादिरूप जीव का व्यवहारनिरूपण जाने इत्यादि ज्यों का त्यों श्रद्धान करता हुआ इनका अभ्यास करे, तो सम्यग्ज्ञान हो।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३७)

-'जिनागम के अनुसार सत्यार्थ ज्ञानियों का विनय करके ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) का साधन करना।'

(श्रीअष्टपाहुड, बोधपाहुड, गाथा २३ का भावार्थ, पृष्ठ १००)

-'तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;

कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।। ७।।'

अन्वयार्थ- उस सम्यग्ज्ञान का कारण आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान कहा है। इसलिये हे भव्य जीवो! करोड़ों उपाय करके उस भेदविज्ञान को हृदय में धारण करो।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ७ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०३)

प्रश्न ६- सतशास्त्रों का अभ्यास करने पर भी सम्यग्ज्ञान क्यों नहीं होता?

उत्तर- 'सो तत्त्वज्ञान के कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं और कितने जीव उन शास्त्रों का भी अभ्यास करते हैं; परन्तु वहाँ जैसा लिखा है, वैसा निर्णय स्वयं करके आपको आपरूप, पर को पररूप, और आस्रवादि का आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते। मुख से तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करें, जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जायें[1]; परन्तु जैसे कोई लड़का

१. मिथ्यादृष्टि जीव का उपदेश कभी भी किसी जीव को सम्यग्दर्शन का कारण(निमित्त) नहीं हो सकता- ऐसा शास्त्रों का कथन है। यदि किसी जीव ने पूर्व में किसी ज्ञानी के मुख से सुना हो, तब ही उसे सम्यक्त्व हो सकता है। यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिए।

............क्रमशः

स्त्री का स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाये जिसे सुनकर अन्य पुरुष-स्त्री कामरूप हो जायें। परन्तु वह तो जैसा सीखा वैसा कहता है; उसे कुछ भाव भासित नहीं होता; इसलिये स्वयं कामासक्त नहीं होता। उसी प्रकार यह जैसा लिखा है, वैसा उपदेश देता है। परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता। यदि स्वयं को श्रद्धान हुआ होता, तो अन्य तत्त्व का अंश अन्य तत्त्व में न मिलाता। परन्तु इसका ठिकाना नहीं है; इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं होता।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३७)

प्रश्न ७- एक जीव को एकसाथ कितने ज्ञान हो सकते हैं?

उत्तर- एक जीव को एकसाथ कम से कम एक और अधिक से अधिक चार ज्ञान हो सकते हैं।

-'एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।। ३०।।'

अर्थ- एक जीव में एकसाथ एक से लेकर चार ज्ञान तक विभक्त करने योग्य हैं; अर्थात्, हो सकते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३० व अर्थ, पृष्ठ ८४)

-'यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है; दो हों तो मति और श्रुत होते हैं; तीन हों तो मति-श्रुत, और अवधि अथवा मति-श्रुत, और मनःपर्ययज्ञान होते हैं; चार हों तो मति-श्रुत -अवधि, और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। एकसाथ पाँच ज्ञान किसी जीव के नहीं होते।.............केवली के अतिरिक्त सभी संसारी जीवों के कम से कम दो; अर्थात्, मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ८५)

प्रश्न ८- क्या दो, तीन, अथवा चार ज्ञान एक समय में हो सकते हैं?

उत्तर- 'क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है; एक काल में एक ही प्रवर्तित होता है। किन्तु यहाँ जो चार ज्ञान (दो, तीन, अथवा चार तक) एक ही साथ कहे हैं, सो चार का विकास एक ही समय होने से चार ज्ञानो की जाननेरूप लब्धि एककाल में होती है- यही कहने का तात्पर्य है। उपयोग तो

-'यहाँ यह बात सिद्ध करते हैं कि मिथ्यादृष्टि ने शास्त्राभ्यास करके इतनी धारणा की होती है कि दूसरे जीव ने स्वय पूर्वकाल मे सम्यग्ज्ञानी के निकट सुना हो, तो उसे याद करके (पूर्व की देशनालब्धिवाला वह जीव) सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब वह निमित्त है। इतनी बड़ी शास्त्रो की धारणा उसके होती है, तथापि वह मिथ्यादृष्टि रहता है। मिथ्यादृष्टि के भी निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है- ऐसा नहीं कहते।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, भाग दूसरा, पृष्ठ २७४)

-'ससारसन्ताप को यदि कोई दूर कर सकता है तो वह सद्गुरु (सम्यग्ज्ञानी) का वचन ही दूर कर सकता है (अर्थात्, सम्यग्ज्ञानी गुरु का उपदेश ही सन्ताप के अभाव मे निमित्त हो सकता है, मिथ्याज्ञानी का नहीं।)'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, अधिकार १, गाथा १६२ का अर्थ, पृष्ठ ६५)

एककाल में एक ही स्वरूप होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ८५)

- 'ज्ञानगुण एक है और उसकी पर्याय के पाँच भेद हैं। इसमें जब एक प्रकार उपयोगरूप होता है, तब दूसरा प्रकार उपयोगरूप नहीं होता; इसलिये इन पाँचों में से एक समय में एक ही ज्ञान का प्रकार उपयोगरूप होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ४४)

प्रश्न ९- एक ज्ञान का उपयोग अधिक से अधिक कितने समय तक रहता है?

उत्तर- 'केवलज्ञान के प्रगट होनेपर वह सदा के लिये बना रहता है। दूसरे ज्ञानों का उपयोग अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त होता है; उससे अधिक नहीं होता, उसके बाद ज्ञान के उपयोग का विषय बदल ही जाता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३० की टीका, पृष्ठ ८५)

प्रश्न १०- सम्यग्ज्ञान के कितने अङ्ग हैं अथवा सम्यग्ज्ञान किस प्रकार अङ्गीकार करना चाहिए?

उत्तर- सम्यग्ज्ञान के आठ अङ्ग हैं- (१) व्यञ्जनाचार, (२) अर्थाचार, (३) उभयाचार, (४) कालाचार, (५) विनयाचार, (६) उपधानाचार, (७) बहुमानाचार, और (८) अनिह्नवाचार।

- '**ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।**
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं।। ३६।।'

अन्वयार्थ- ग्रन्थरूप (शब्दरूप), अर्थरूप, और उभय; अर्थात्, शब्द-अर्थरूप शुद्धता से परिपूर्णकाल में; अर्थात्, अध्ययनकाल में आराधन करने योग्य मन-वचन-काय की शुद्धतारूप विनय और धारणायुक्त अत्यन्त सन्मान से; अर्थात्, देव-गुरु-शास्त्र के वन्दन, नमस्कारादिसहित तथा विद्यागुरु को छिपाये बिना ज्ञान की आराधना करना योग्य है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४२)

प्रश्न ११- सम्यग्ज्ञान के आठ अङ्गों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय ग्रन्थ में सम्यग्ज्ञान के आठों अङ्गों का संक्षिप्त स्वरूप वर्णित है। यथा-

१. व्यञ्जनाचार- जहाँ मात्र शब्द के पाठ का ही जानपना हो, उसे व्यञ्जनाचारअङ्ग कहते हैं।

२. अर्थाचार- जहाँ केवल अर्थमात्र के प्रयोजनसहित जानपना हो, उसे अर्थाचारअङ्ग कहते हैं।

३. उभयाचार- जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में सम्पूर्ण जानपना हो, उसे शब्दार्थ उभयपूर्णअङ्ग कहते हैं।

४. कालाचार- निर्धारितकाल में ही ज्ञान का विचार (शास्त्र स्वाध्याय आदि) करना चाहिए। [**विशेष**- सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न, और मध्यरात्रि- इनके पहले और पीछे का मुहूर्त सन्ध्याकाल है। इस काल को छोड़कर शेष के चार उत्तम कालों मे पठन-पाठनादिरूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं। चारों सन्ध्याकाल की प्रथम तथा अन्तिम दो घड़ी मे; तथा दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के काल में सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन वर्जित है। हाँ! स्तोत्र-आराधना, धर्मकथादिक के ग्रन्थ पढ़ सकते हैं।]

-'बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र का ग्रहण, अकालवृद्धि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आच्छादित दिशाएँ, दिशादाह, धूमिकापात (कोहरा), सन्यास, महोपवास, नन्दीश्वरमहिमा, और जिनमहिमा इत्यादि के अभाव को कालशुद्धि कहते हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक ९, पृष्ठ २५३, आधार-श्रीधवलासार, पृष्ठ ११४)

५. विनयाचार- किस रीति से ज्ञानाराधन करना? **विनयेन** अर्थात् नम्रतायुक्त होकर ज्ञानाराधना करनी चाहिए। उद्धत नहीं होना चाहिए।

६. उपधानाचार- ज्ञानाराधना कैसी करनी चाहिए? **सोपधानं** अर्थात् धारणासहित करनी चाहिए। ज्ञान को भूलना नहीं चाहिए। उपाधानसहित ज्ञान का आराधन करना छठा अङ्ग है।

७. बहुमानाचार- **'बहुमानेन समन्वितम्'** अर्थात् ज्ञान की पुस्तक-शास्त्र का अथवा पढ़ाने-वाले का बहुत आदर करना चाहिए। इस सहित (बहुमानसहित) ज्ञान का आराधन करना सप्तम अङ्ग है।

-'बाजू और काँख आदि अपने अङ्ग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करके पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड़ दे।'

(श्रीधवला पुस्तक ९, पृष्ठ २५७, गाथा १०४, आधार-श्रीधवलसार, पृष्ठ ११५)

८. अनिह्नवाचार- **'अनिह्नवं'** अर्थात् जिस शास्त्र अथवा गुरु से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसे छिपाना नही चाहिए।

ये (सम्यग्ज्ञान के) आठ अङ्ग हैं। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान अङ्गीकार करना।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३६ का भावार्थ, पृष्ठ ४३)

प्रश्न १२- सम्यग्ज्ञान की महिमा और लाभ क्या है?

उत्तर- जिनागम में सम्यग्ज्ञान की सर्वाधिक महिमा बतायी गयी है। सम्यग्ज्ञान कर्मों को नष्ट करनेवाला, पञ्चेन्द्रिय के विषयों की आग को शान्त करनेवाला, और सादिअनन्त मोक्षसुख को

देनेवाला है।

-'कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;
ज्ञानी के छिनमें, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।'

अन्वयार्थ- अज्ञानी जीव को सम्यग्ज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों तक तप करने से जितने कर्म नाश होते हैं; उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के मन, वचन, काय की ओर की प्रवृत्ति को रोकने से; अर्थात्, निर्विकल्प शुद्ध स्वभाव से क्षणमात्र में सरलता से नष्ट हो जाते हैं।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ५ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९९-१००)

-'जे पूरब शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं।
विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै।। ८।।'

अन्वयार्थ- पूर्वकाल में जो जीव मोक्ष में गये हैं, वर्तमान मे जा रहे हैं, और भविष्य में जायेंगे- वह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है- ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी भयङ्कर दावानल संसारी जीवोंरूपी अरण्य-पुराने वन को जला रहा है। उसकी शान्ति का उपाय दूसरा नहीं है; मात्र ज्ञानरूपी वर्षा का समूह शान्त करता है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०४-१०५)

-'व्यवहारसम्यग्ज्ञान तो परम्पराय मोक्ष का कारण है, और निश्चयसम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा २९ का भावार्थ, पृष्ठ १४९)

-'णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
चोण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो।। ३२।।'

भावार्थ- पहले जो सिद्ध हुए हैं वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और तप- इन चारों के संयोग से ही हुए हैं। यह जिनवचन है; इसमें संदेह नहीं है।

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा ३२ व भावार्थ, पृष्ठ ३१)

प्रश्न १३- यह सब जानकर पात्र जीव को क्या करना चाहिए?

उत्तर- मनुष्यभव की दुर्लभता को जानकर पात्र जीव को तत्त्वज्ञान के अभ्यास और निज-शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए।

-'तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
संशय, विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।

यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;

इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यौं उदधि समानी।। ६।।'

अन्वयार्थ- इसलिये जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए परमार्थ तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए और संशय, विपर्यय, तथा अनध्यवसाय को छोड़कर अपने आत्मा को लक्ष्य में लेना चाहिए; अर्थात्, जानना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया तो यह मनुष्यभव, उत्तम कुल, और जिनवाणी का सुनना -ऐसा सुयोग बीत जाने पर, समुद्र में समा गये सच्चे रत्न की भाँति, पुनः मिलना कठिन है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १००-१०२)

卐

वस्तु-स्वरूप

जं जस्स जम्मिदेसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।

णादं जिणेण णियंद, जम्मं वा अहव मरणं वा।।

तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।

को सक्कदिवारेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा।।

अर्थ- जो जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जन्म तथा मरण उपलक्षण से, दुःख-सुख, रोग-दारिद्र्य, आदि सर्वज्ञदेव के द्वारा जाना गया है वह वैसे ही नियम से होगा। वह ही उस प्राणी के, उस ही देश में, उस ही काल में, उस ही विधान से नियम से होता है। उसका इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थङ्कर देव- कोई भी निवारण नहीं कर सकते।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, धर्मानुप्रेक्षा, गाथा ३३१-३२२ व अर्थ, पृष्ठ १४५)

-बहुरि जिस जीवके, जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानकरिके जन्म वा मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग होना जिनेन्द्र भगवान केवलज्ञानकरि निश्चित जान्या है- देख्या है; तिस जीवके, तिस देशमें, तिस कालमें, तिस विधानकरिके तैसेही होयगा। इसकूं अन्यथा करनेकूं, चलायमान करनेकूं इन्द्र वा अहमिन्द्र वा जिनेन्द्र समर्थ नहीं हैं। ऐसे जो निश्चयनयतै समस्तद्रव्यनिके समस्तपर्यायगुणनिके परिणमनकूं जाने है, सो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। अर जो इसमें शङ्का करे सो मिथ्यादृष्टि है।

(श्रीभगवती-आराधना, गाथा २०८७:२ का अर्थ, पृष्ठ ७२६)

प्रकरण – ७

कुल पृष्ठ संख्या १०२

सम्यक्चारित्र

जिनागम में 'चारित्र' के रूप में शुद्धि के साथ भूमिकानुसार वर्तनेवाले शुभभावरूप व्यवहारचारित्र का ही मुख्यता से वर्णन है। उसमें भी पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक को होनेवाले अणुव्रतादिरूप देशव्यवहारचारित्र का संक्षिप्त, और भावलिङ्गी मुनिराज को होनेवाले महाव्रतादिरूप सकलव्यवहारचारित्र का प्रधानता से कथन है। चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव/क्षयोपशमपूर्वक उत्पन्न 'स्वरूपाचरणचारित्र' का उल्लेख ग्रन्थों में यदा-कदा ही मिलने से चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्चारित्र का सर्वथा अभाव ही नहीं मान लेना चाहिए। शास्त्रों में जहाँ भी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को चारित्र (संयम) न होने का कथन आयें, वहाँ उस कथन का अभिप्राय सम्यग्दृष्टि (अवृत्ति) के व्रतरहित होने की विवक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आचार्यों और ज्ञानियों के गम्भीर कथनों का मात्र शब्दों के आधार पर विपरीत आशय नहीं ग्रहण करना चाहिए।

वास्तव में सम्यक्चारित्र का प्रारम्भ निजस्वरूप में चरण (रमन) रूप स्वरूपाचरणचारित्र से चतुर्थ गुणस्थान में प्रथम निर्विकल्पदशा से होता है और यही (स्वरूपाचरणचारित्र) क्रमश: बढ़ती हुई शुद्धि के साथ-साथ 'देशचारित्र', 'सकलचारित्र' नाम पाता हुआ बारहवें गुणस्थान में पूर्णता को प्राप्त होता है और इसी स्वरूपाचरणचारित्र के साथ; अर्थात्, शुद्धि के साथ-साथ होनेवाले भूमिकानुसार शुभभाव (देवगुरुशास्त्र की श्रद्धा, तत्त्वार्थश्रद्धान, अणुव्रत, महाव्रत का विकल्प, आदि) उपचार से व्यवहारचारित्र नाम पाते हैं। यहाँ इतना जानना आवश्यक है कि निश्चय; अर्थात्, शुद्धि का सहचारी होने से व्यवहार; अर्थात्, शुभभाव 'चारित्र' नाम पाता है। शुद्धि के अभाव; अर्थात्, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानरहित ऊँची से ऊँची बाह्य क्रियाओं व ऊँचे से ऊँचे शुभभाव को 'चारित्र' संज्ञा नहीं दी जा सकती।

अभिप्राय यह है कि सभी ग्रन्थों में मुख्यरूप से व्यवहारचारित्र का और उसमें भी महाव्रत, गुप्ति, समितिरूप व्यवहारसकलचारित्र का ही वर्णन है। व्यवहारचारित्र का मुख्यता से वर्णन करने का उद्देश्य निश्चयचारित्र के साथ भूमिकानुसार होनेवाले यथायोग्य शुभपयोग को बताना है। इसी कारण निश्चय के साथ वर्तनेवाले इस शुभोपयोग को कहीं-कहीं शुद्धोपयोग का कारण भी बताया है। जिन-जिन ग्रन्थें में निश्चयचारित्र का वर्णन है, वहाँ भी भावलिङ्गी मुनिराज को होनेवाले

सकलचारित्ररूप शुद्धोपयोग का ही मुख्यता से निरूपण है।

ग्रन्थों में निश्चयचारित्र के संक्षिप्त और उसमें भी प्रथम दो कषायों के क्षयोपशमरूप होनेवाले श्रावक के शुद्धोपयोग और चतुर्थ गुणस्थान में प्रारम्भ होनेवाले 'स्वरूपाचरणचारित्र' का अति संक्षिप्त निरूपण पाकर मुमुक्षुओं को शास्त्रों में विभिन्न अपेक्षाओं से किये गये इन कथनों से आपस में विरोध का आशय न लेकर यह आशय ग्रहण करना चाहिए कि इसमें मात्र विवक्षाभेद है, विरोध नहीं है।

सम्पादक

सम्यग्दृष्टि का स्वभाव

कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेस पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुदगल-छबि छारसी।।
जालसौ जग-विलास भालसौ भुवन-वास,
कालसौ कुटुंब-काज लोक-लाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ वखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी।।

अर्थ- जो कञ्चन को कीचड़ के समान, राज्यपद को नितान्त तुच्छ, लोगों की मित्रता को मृत्यु के समान, प्रशंसा को गाली के समान, योग की क्रियाओं जहर के समान, मंत्रादि करामात को दुःख के समान, लौकिक उन्नति को अनर्थ के समान, शरीर की कान्ति को राख के समान, संसार की माया को जञ्जाल के समान, घर के निवास को बाण की नोंक के समान, कुटुम्ब के कार्य को काल के समान, लोकलाज को लार के समान, सुयश को नाक के मैल के समान, और भाग्योदय को विष्टा के समान जानता है (वह उत्तम पुरुष है), उसे पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

(श्रीसमयसार-नाटक, बन्ध द्वार, सवैया १९, पृष्ठ १८४-१८५)

परिभाषा एवं भेद

प्रश्न १- सम्यक्चारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- बाह्य[1] और **आभ्यन्तरक्रिया**[2] के निरोध से प्रादुर्भूत आत्मा की शुद्धिविशेष को चारित्र कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १०७, पृष्ठ २२)

-'**बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।**

णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।। ४६।।'

गाथार्थ- संसार के कारणों का नाश करने के लिये ज्ञानी को जो बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओ का निरोध है, श्रीजिनेन्द्र द्वारा कथित वह परम सम्यक्चारित्र है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४६ व गाथार्थ, पृष्ठ २२३)

-'सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मा में स्थिरता का होना सम्यक्चारित्र है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय १, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५)

-'**आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यग्चारित सोइ;**'

अन्वयार्थ- परद्रव्यों से भिन्न ऐसे आत्मस्वरूप में स्थिरतापूर्वक लीन होना, सो निश्चय सम्यक्चारित्र है।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द २ की तीसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५६)

-'सकल कषायरहित जो उदासीनभाव, उसी का नाम चारित्र है।' तथा,

---

१. **बाह्यक्रिया-** शुभ और अशुभरूप वचन और काया की क्रिया को बाह्यक्रिया कहते हैं।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४६, पृष्ठ १४७ की पादटिप्पणी)

-'हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, मैथुन करना, और परिग्रह सञ्चय करना आदि को बाह्यक्रिया कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १०८, पृष्ठ २३)

२. **आभ्यन्तरक्रिया-** शुभ और अशुभ मन के विकल्परूपक्रिया के व्यापार को आभ्यन्तरक्रिया कहते हैं।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४६, पृष्ठ १४७ की पादटिप्पणी)

-'योग और कषाय को आभ्यन्तरक्रिया कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या १०९, पृष्ठ २३)

–'निश्चय से निःकषायभाव, वही सच्चा चारित्र है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२९–२३०)

–**'जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ।**

सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ॥ ३०॥'

अर्थ– सम्यग्ज्ञान से आपको और पर को जानकर और सम्यग्दर्शन से आप और पर की प्रतीति करके जो परभाव को छोड़ता है, वह आत्मा का निज शुद्धभाव ज्ञानी पुरुषों के चारित्र होता है।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ३० व अर्थ, पृष्ठ १४९)

–'निज और परद्रव्य को जानकर रागादिरूप, जो परद्रव्य में सङ्कल्प विकल्प हैं, उनके त्याग से जो निजस्वरूप मे निश्चलता होती है; वही ज्ञानी जीवों के सम्यक्चारित्र है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश के दोहा ३० की उत्थानिका, पृष्ठ १४९)

–**'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।**

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ ७॥'

अन्वयार्थ– चारित्र वास्तव मे धर्म है। जो धर्म है, वह साम्य है; ऐसा (शास्त्रों में) कहा है। साम्य मोहक्षोभरहित ऐसा आत्मा का परिणाम (भाव) है।

टीका– स्वरूप में चरण करना (रमना) सो चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना– ऐसा इसका अर्थ है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ७ व अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ११)

–**'यद्विशुद्धेः परं धामः यद्योगिजनजीवितम्।**

तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम्॥ १॥'

अर्थ– जो विशुद्धता का उत्कृष्ट धाम है तथा योगीश्वरों का जीवन है और समस्त प्रकार की पापरूप प्रवृत्तियो से दूर रहने का लक्षण है, उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

(श्रीज्ञानार्णवः, अष्टमः सर्गः, गाथा १ व अर्थ, पृष्ठ १०२)

–**'चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।**

सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥ ३९॥'

अन्वयार्थ– (कारण कि वह) चारित्र समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के योग के त्याग से सम्पूर्ण कषायरहित निर्मल परपदार्थों से विरक्ततारूप और आत्मस्वरूप होता है।

(श्रीपुरूषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४५)

–'रागद्वेष का अभावतैं हिंसादिक पञ्च पापनि की निवृत्ति कहिये अभाव परिपूर्ण होय

है। पञ्च पापनिका अभाव सो ही चारित्र है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, तृतीय अधिकार, गाथा ४८ का अर्थ, पृष्ठ ७४)

-'आत्मा में आचरण करके रागद्वेषरूप न परिणमना सम्यक्चारित्र है।'

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा ३१ का अर्थ, पृष्ठ १४५)

-**'जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं।**
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएहिं।। ४२।।'

अर्थ- योगी ध्यानी मुनि उस पूर्वोक्त जीवाजीव के भेदरूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान को जानकर पुण्य तथा पाप इन दोनों का परिहार करता है, त्याग करता है; वह चारित्र है। जो निर्विकल्प है; अर्थात्, प्रवृत्तिरूप क्रिया के विकल्पों से रहित है; वह चारित्र घातिकर्म से रहित- ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ४२ व अर्थ, पृष्ठ २५६)

-**'जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।**
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं।। १५४।।'

अन्वयार्थ- जीव का स्वभाव ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन है जो कि (जीव से) अनन्यमय हैं। उन ज्ञानदर्शन में नियत अस्तित्व, जो कि अनिन्दित है, उसे (जिनेन्द्रों ने) चारित्र कहा है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १५४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २२२-२२३)

-'शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही संयम (चारित्र) है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा १११४ का अर्थ, पृष्ठ ३३२)

-'आत्मा में स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहा जाता है।'

(श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिः, एकत्वसप्तति अधिकार, श्लोक १४ का अर्थ, पृष्ठ ११५)

प्रश्न २- सम्यक्चारित्र के पर्यायवाची क्या हैं?

उत्तर- मोह और क्षोभरहित परिणाम, साम्य, धर्म, और चारित्र- ये सब (सम्यक्चारित्र के) पर्यायवाची हैं।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ७ की टीका, पृष्ठ १२)

प्रश्न ३- चारित्र (सम्यक्चारित्र) के कितने भेद हैं?

उत्तर- चारित्र के दो भेद हैं- (१) निश्चयचारित्र (वीतरागचारित्र), और (२) व्यवहारचारित्र (सरागचारित्र)।

-'चारित्र निश्चय-व्यवहार के भेद से दो भेदरूप है।'

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ४२ का भावार्थ, पृष्ठ २५६)

-**'ववहारणिच्छएण दु तह्मा चरणं पवक्खामि।।'**

अन्वयार्थ- इसलिये मैं व्यवहार और निश्चय से चारित्र कहूँगा।

(श्रीनियमसार, गाथा ५४ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०७-१०८)

-'जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।

विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि।। ५।।'

अर्थ- प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरणस्वरूप चारित्र है; वह जिनदेव के ज्ञानदर्शन श्रद्धान से किया हुआ शुद्ध है। दूसरा संयम का आचरणस्वरूप चारित्र है; वह भी जिनदेव के ज्ञान से दिखाया हुआ शुद्ध है।

भावार्थ- चारित्र को दो प्रकार का कहा है। प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा। वह जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ का स्वरूप कहा, उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके शङ्कादि अतिचार मलदोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके निःशङ्कितादि गुणो का प्रगट होना -वह 'सम्यक्त्वचरण चारित्र' है; और जो महाव्रतादि अङ्गीकार करके सर्वज्ञ के आगम में कहा, वैसे संयम का आचरण करना और उसके अतिचार आदि दोषों को दूर करना- 'संयमचरण चारित्र' है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ५, अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ ६२-६३)

-'संसारियों मे चारित्र वास्तव मे दो प्रकार का है- (१) स्वचारित्र, और (२) परचारित्र।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १५४ की टीका, पृष्ठ २२३)

[**विशेष- (१)** श्रीचारित्रपाहुड गाथा ५ में चारित्र के दो भेद (१) सम्यक्त्वचरण चारित्र, और (२) संयमचरण चारित्र कहे। सो यहाँ सम्यक्त्वचरण चारित्र से अभिप्राय निश्चयचारित्र और संयमचरण चारित्र से अभिप्राय व्यवहारचारित्र से है। ये दोनों ही चारित्र सर्वज्ञ कथित आगम में वर्णित होने से 'सम्यक्' हैं।

(२) श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह की गाथा १५४ में चारित्र के दो भेद (१) स्वचारित्र, और (२) परचारित्र कहे। वहाँ भी स्वचारित्र का निश्चयचारित्र और परचारित्र का व्यवहारचारित्र ही अभिप्राय है।

(३) परमागम श्रीनियमसार, श्रीअष्टपाहुड, और श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह तीनों ही ग्रन्थ भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित हैं। तीनों के भिन्न-भिन्न शब्दों में कहे गये कथन को मात्र विवक्षाभेद समझना चाहिए।]

द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप पहचाने तो धर्म हो।

आत्मा आनन्दस्वरूप महाप्रभु है। उसे द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप से पहचाने, तो राग से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्रता हो और धर्म हो।

(पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मधर्म, जनवरी, १९८०, पृष्ठ २७)

निश्चयचारित्र

प्रश्न १- निश्चयचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- निज ज्ञायक भगवान आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित स्थिरतापूर्वक प्रगट शुद्धि को निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं।

-'**बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।**
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।। ४६।।'

गाथार्थ- संसार के कारणों का नाश करने के लिये ज्ञानी को जो बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं का निरोध है, श्रीजिनेन्द्र द्वारा कथित वह **परम सम्यक्चारित्र**[1] (निश्चयचारित्र) है।

टीका- वह परम उपेक्षालक्षणयुक्त, निर्विकार स्वसंवेदनरूप शुद्धोपयोग का अविनाभूत, परम सम्यक्चारित्र जानना। वह क्या? निष्क्रिय, नित्यनिरञ्जन, विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मा से प्रतिपक्षभूत क्रियाव्यापार का जो बाह्य में वचन और काया के शुभाशुभ व्यापाररूप है और अन्तरङ्ग में मन के शुभाशुभ विकल्परूप है- उसका निरोध अर्थात् त्याग वह परम सम्यक्चारित्र है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४६, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ २२३)

-'शुद्धात्मा में रागादिविकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुखास्वाद से निश्चलचित्त होना, वह वीतरागचारित्र (निश्चयचारित्र) है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ५२ की टीका, पृष्ठ २४७)

-'स्वरूप में चरण करना (रमना) सो चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना (अपने आत्मस्वभाव में प्रवृत्ति करना)- ऐसा इसका अर्थ है। यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ७ की टीका, पृष्ठ ११)

-'निश्चयचारित्र तो बहिरङ्ग समस्त प्रवृत्ति तैं छूटे परमवीतरागता के प्रभाव तैं परम साम्यभाव कूं प्राप्त होय, अपना ज्ञायकस्वभाव में चर्या सो **स्वरूपाचरण**[2] नामा सम्यक्चारित्र है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, तृतीय अधिकार, गाथा ४९ का भावार्थ, पृष्ठ ७४)

---

१. **परम सम्यक्चारित्र**- निश्चयचारित्र कहो या परम सम्यक्चारित्र कहो, दोनों एक ही हैं।
(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४६ का भावार्थ, पृष्ठ १४७)

२. **स्वरूपाचरणचारित्र**- निर्विकल्पदशारूप निजात्मा में रमणता को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। इसका प्रारम्भ चौथे गुणस्थान में,

-'सब कर्मों से रहित अपने आत्मस्वभाव में लीन होना- वह निश्चयचारित्र है। इसका फल कर्म का नाश ही है। यह पुण्य-पाप के परिहाररूप निर्विकल्प है।'

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ४२ का भावार्थ, पृष्ठ २५६)

-**'णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो।।'**

अन्वयार्थ- निश्चयनय के चारित्र में निश्चय से तपश्चरण होता है।

(श्रीनियमसार, गाथा ५५ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०७-१०८)

-**'बादरसंजलणुदये, सुहुमुदये समखये य मोहस्स।**
संजमभावो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। ४६६।।'

टीका- बादर संज्वलन का उदय होत संतैं, बहुरि सूक्ष्म लोभ का उदय होत सतैं, बहुरि मोहनीय का उपशम होत संतै वा मोहनीय का क्षय होत सतैं निश्चय करि **संयम**[1] भाव हो है। ऐसैं जिनदेव ने कह्या हैं।[2]

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४६६ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७२)

-'स्वभाव में अवस्थित अस्तित्वस्वरूप (चारित्र)- वह स्वचारित्र है', तथा,

-'(जीव) जब अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति करना छोड़कर अत्यन्त शुद्ध उपयोगवाला होता है, तब भाव का एकरूपपना ग्रहण किया होने के कारण उसे जो नियत (निश्चित; एकरूप) गुणपर्यायपना होता है- वह स्वसमय; अर्थात्, स्वचारित्र है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १५४ व १५५ की टीका, पृष्ठ २२४ व २२५)

-**'जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण।**
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो।। १५८।।'

अन्वयार्थ- जो सर्वसङ्गमुक्त और अनन्यमनवाला वर्तता हुआ आत्मा को (ज्ञानदर्शनरूप) स्वभाव द्वारा नियतरूप से (स्थिरतापूर्वक) जानता-देखता है, वह जीव स्वचारित्र आचरता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १५८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ २२८)

प्रश्न २- निश्चयचारित्र के कितने भेद हैं?

उत्तर- निश्चयचारित्र के दो भेद हैं- (१) निश्चय देशचारित्र, और (२) निश्चय सकलचारित्र।

उच्चता मुनिदशा में और पूर्णता बारहवें गुणस्थान में होती है।

[स्वरूपाचरणचारित्र विस्तार के लिये 'प्रकरण ७:२(क)(१) : स्वरूपाचरणचारित्र', पृष्ठ ७३० पर देखें।]

१. **संयम-'सं'**-कहिए सम्यक् प्रकार, जो **'यम'** कहिए नियम, सो सयम है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४६५ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७२)

२. यह कथन सकलचारित्र के धारी भावलिङ्गी मुनियों की प्रमुखता से है।

-**'सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजै;**
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।।'

अन्वयार्थ- सम्यग्ज्ञानी होकर फिर दृढ़ सम्यक्चारित्र पालन करना चाहिए। उसके एकदेश और सर्वदेश (सकल) ऐसे दो भेद कहे गये हैं।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १० का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०८-१०९)

प्रश्न ३- निश्चय देशचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- मिथ्यात्व तथा प्रथम दो कषायों (अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान) के क्षयोपशमरूप शुद्धि को निश्चय देशचारित्र कहते हैं।

-'देशचारित्र पाँचवें गुणस्थान में अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व तथा प्रथम दो कषायों के अभावरूप होता है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२१ की पादटिप्पणी)

-'शुद्धोपयोग स्वरूप में लगा हुआ उपासक; अर्थात्, श्रावक एकदेशविरति होता है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४१ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ४७)

प्रश्न ४- निश्चय सकलचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- मिथ्यात्व तथा प्रथम तीन कषायों (अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, और प्रत्याख्यान) के क्षयोपशमरूप शुद्धि को निश्चय सकलचारित्र कहते हैं।

-'छट्ठे-गुणस्थान में अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व का त्याग तथा प्रथम के तीन कषायों का अभाव होता है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२२ की पादटिप्पणी)

-'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा समाहित हुआ आत्मा ही जीवस्वभाव में नियत चारित्ररूप होने के कारण निश्चय से मोक्षमार्ग है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १६१ की टीका, पृष्ठ २३५)

-'सर्वथा-सर्वदेश त्याग (सकलचारित्र) में लीन, यह मुनि शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करनेवाला होता है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४१ का अन्वयार्थ, पृष्ठ ४७)

प्रश्न ५- निश्चय सकलचारित्र के कितने भेद हैं?

उत्तर- निश्चय सकलचारित्र के पाँच भेद हैं- (१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसांपराय, और (५) यथाख्यात।

-**'सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम्।**
ऋषभादिजिनैः पूर्वं चारित्रं सप्रपञ्चकम्।। २।।'

सारणी ३१ : सम्यक्चारित्र के भेद-प्रभेद

सम्यक्चारित्र
- निश्चयचारित्र (शुद्धोपयोगरूप)
  - निश्चय देशचारित्र
  - निश्चय सकलचारित्र
    - सामायिक
    - छेदोपस्थापना
    - परिहारविशुद्धि
    - सूक्ष्मसांपराय
    - यथाख्यात
- व्यवहारचारित्र (शुभोपयोगरूप)
  - व्यवहार देशचारित्र
  - व्यवहार सकलचारित्र

(निश्चय देशचारित्र, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात) → स्वरूपाचरणचारित्र
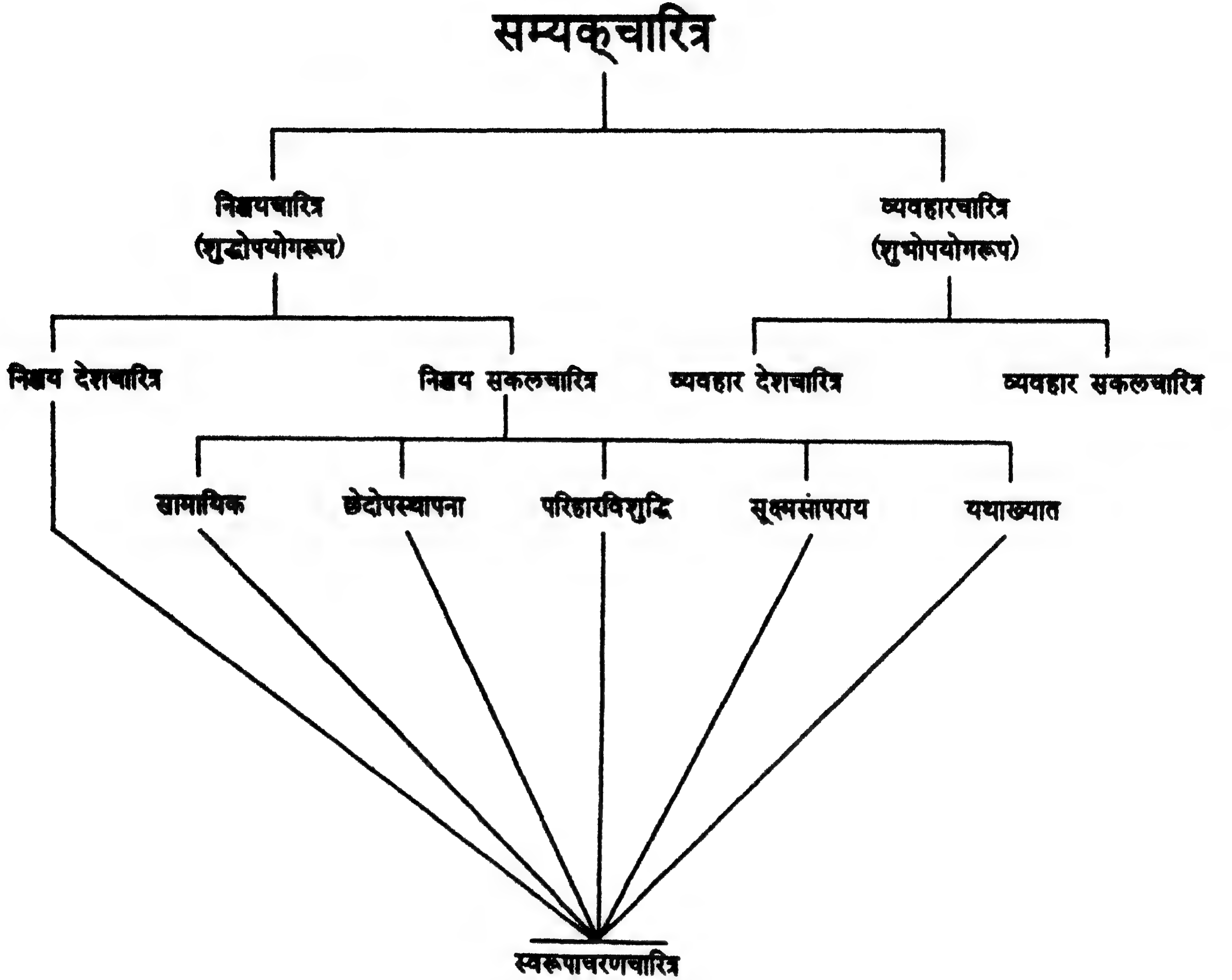
आधार- श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १८ व टीका, पृष्ठ ५८१-५८२; श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७० से ४७५, पृष्ठ ५७४ से ५७७; श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ५, पृष्ठ ६२-६३; एवं छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ७, पृष्ठ १६४ से १६७।

अर्थ- यह चारित्र[1] पूर्वकाल में श्रीऋषभदेव तीर्थङ्कर महाराज से लेकर समस्त तीर्थङ्करों ने सामायिक-१, छेदोपस्थापना-२, परिहारविशुद्धि-३, सूक्ष्मसांपराय-४, और यथाख्यातचारित्र-५, -ऐसे पाँच प्रकार का कहा है।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टमः सर्गः, गाथा २ व अर्थ, पृष्ठ १०२)

-'चारित्र के पाँच भेद हैं- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ३६ का भावार्थ, पृष्ठ १५७)

-'**सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसापंरायययथाख्यातमिति चारित्रम्॥ १८॥**'

अर्थ- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, और यथाख्यात इस प्रकार चारित्र के पाँच भेद है।'

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १८ व अर्थ, पृष्ठ ५८१)

प्रश्न ६- सामायिकचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- 'निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान की एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्ययोग का त्याग करके शुद्धात्मस्वरूप में अभेद होनेपर शुभाशुभभावों का त्याग होना, सो सामायिकचारित्र है। यह चारित्र छट्ठे से नववें गुणस्थान तक होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८१)

-'**संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।**
जीवों समुव्वहंतो, सामाइयसंजमो होदि॥ ४७०॥'

टीका- समस्त ही व्रतधारणादिक पञ्च प्रकार संयम कौं संग्रह करि '**एकयमं**' कहिए मैं सर्व सावद्य का त्यागी हौं; ऐसा **एकयमं** कहिए सकल सावद्य का त्यागरूप अभेद संयम; सोई सामायिक जानना। कैसा है सामायिक? '**अनुत्तरं**' कहिए जाके समान और नाहीं, सम्पूर्ण है। बहुरि '**दुरवगम्यं**' कहिए दुर्लभपनैं पाइए है, सो ऐसैं सामायिक कौं पालता जीव सामायिक संयमी हो है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७० व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७४)

-'सर्व जीव केवलज्ञानमय हैं- ऐसी भावना से जो समतारूप परिणाम, वह सामायिक है; अथवा परमस्वास्थ्य के बल से युगपत् समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्पों के त्यागरूप समाधि जिसका लक्षण है, वह सामायिक है; अथवा निर्विकार स्वसंवेदन के बल से रागद्वेष के परिहाररूप सामायिक है; अथवा निजशुद्धात्मा के अनुभव के बल से आर्त और रौद्रध्यान के परित्यागरूप

---

[1] **यह चारित्र-** जो चारित्र समस्त पापों से निवृत्तिस्वरूप है, वही दर्शन को शुद्ध करता है और मुनिजनों का वही एक जीवनसर्वस्व है। उसके बिना मुनिपदवी हो ही नहीं सकती है।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टमः सर्गः, गाथा १ का भावार्थ, पृष्ठ १०२)

सामायिक है; अथवा समस्त सुख-दुःखादि में मध्यस्थभावरूप सामायिक है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६७)

प्रश्न ७- छेदोपस्थापनाचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- 'कोई जीव सामायिक चारित्ररूप हुआ हो और उससे हटकर सावद्य व्यापाररूप हो जाये; पश्चात् प्रायश्चित द्वारा उस सावद्य व्यापार से उत्पन्न हुए दोषों को छेदकर आत्मा को संयम में स्थिर करे- सो छेदोपस्थापनाचारित्र है। यह चारित्र छठे से नववें गुणस्थान तक होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८१-५८२)

-'छेत्तूण य परियायं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो, छेदोवट्ठावगो जीवो।। ४७१ ।।'

टीका- सामायिक चारित्र कौं धारि, बहुरि प्रमाद तैं स्खलित होइ, सावद्य क्रिया कौं प्राप्त हूवा अैसा जो जीव, पहिले भया जो सावद्यरूप पर्याय ताका प्रायश्चित विधि तैं छेदन करि अपने आत्मा कौं व्रतधारणादि पञ्च प्रकार संयमरूप धर्म विषैं स्थापन करैं; सोई छेदोपस्थापन संयमी जानना।

'छेद' कहिए प्रायश्चित तींहिकर 'उपस्थापन' कहिये धर्म विषैं आत्मा कौं स्थापना; सो जाकैं होइ, अथवा 'छेद' कहिए अपने दोष दूर करने के निमित्त पूर्वे कीया था तप, तिसका उस दोष के अनुसारि विच्छेद करना, तिसकरि 'उपस्थापन' कहिए निर्दोष संयम विषैं आत्मा कौं स्थापना; सो जाकैं होइ, सो छेदोपस्थापन संयमी है। अपना तप का 'छेद' हो हैं, 'उपस्थापन' जाकैं, सो छेदोपस्थापन है, जैसी निरुक्ति जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७१ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७४-५७५)

-'जब एक साथ समस्त विकल्पों के त्यागरूप परम सामायिक में स्थित होने में यह जीव अशक्त होता है, तब "समस्त हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, और परिग्रह से विरति यह व्रत है" -इस प्रकार पाँच प्रकार के विकल्पभेद द्वारा, व्रतरूप छेद द्वारा, रागादि विकल्परूप सावद्यों से अपने को निवृत्त करके निजशुद्धात्मा में स्वयं को स्थापित करता है- वह छेदोपस्थापन है; अथवा "छेद"; अर्थात्, व्रत का भङ्ग होनेपर निर्विकार स्वसंवेदनरूप निश्चयप्रायश्चित से; अथवा उसके साधक बहिरङ्ग व्यवहार प्रायश्चित से अपने आत्मा में स्थित होना- वह छेदोपस्थापन है।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६७-१६८)

प्रश्न ८- परिहारविशुद्धिचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जो जीव जन्म से ३० वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करे और श्री तीर्थङ्कर भगवान के पाद्मूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नववें पूर्व का अध्ययन करे; उसके यह संयम होता है। जो जीवों की उत्पत्ति-मरण के स्थान, काल की मर्यादा, जन्म-योनि के भेद, द्रव्य-क्षेत्र का

स्वभाव, विधान, तथा विधि इन सभी का जाननेवाला हो और प्रमादरहित महावीर्यवान हो; उसके शुद्धता के बल से कर्म की बहुत (प्रचुर) निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करनेवाले मुनियों के यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है, उनके शरीर से जीवों की विराधना नहीं होती। यह चारित्र ऊपर वर्णित साधु के छट्ठे और सातवें गुणस्थान में होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८२)

-'पंच-समिदो ति-गुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं।

पंचेक्कजमो पुरिसो, परिहारयसंजदो सो हु।। ४७२।।'

टीका- पञ्च समिति, तीन गुप्ति करि संयुक्त जो जीव, सदा काल हिंसारूप सावद्य का परिहार करै; सो पुरुष पञ्च संयमनि विषैं परिहारविशुद्धि नामा संयम का धारी प्रकट जानना। तथा,

-'तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।

पंचक्खाणं पढिदो, संझूणदुगाउयविहारो।। ४७३।।'

टीका- जो जन्म तैं तीस वर्ष का भया होइ। बहुरि सर्वदा खानपानादि से सुखी होइ; अैसा पुरुष दीक्षा को अङ्गीकार करि पृथक्त्व वर्ष (आठ वर्ष) पर्यन्त तीर्थङ्कर के पादमूल प्रत्याख्यान नामा नवमा पूर्व का पाठी होइ; सो परिहारविशुद्धि संयम कौं अङ्गीकार करि, तीनूँ संध्या काल बिना सर्व काल विषैं दोय कोस विहार करैं। अर रात्री विषैं विहार न करै। वर्षा काल विषैं किछू नियम नाहीं, गमन करै वा न करै; अैसा परिहारविशुद्धि संयमी हो है।

'परिहार' कहिए प्राणीनि की हिंसा का त्याग, ताकरि विशेषरूप जो **'शुद्धिः'** कहिए शुद्धता, जाविषैं होइ; सो परिहारविशुद्धि संयम जानना।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७२, ४७३ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७५-५७६)

-'मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पमलों के प्रत्याख्यान से -"परिहार से"- अपने आत्मा की जो विशेषरूप से "शुद्धि"; अर्थात्, निर्मलता है, वह परिहारविशुद्धिचारित्र है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६८)

प्रश्न ९- सूक्ष्मसांपरायचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जब अतिसूक्ष्म लोभकषाय का उदय हो, तब जो चारित्र होता है वह सूक्ष्मसांपराय है। यह चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८२)

-'अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।

सो सुहुमसंपराओ, जहखादेणूणओ किंचि।। ४७४।।'

टीका- सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त भया लोभ कषाय का अनुभाग, ताके उदय कौं भोगवता उपशमी

वा क्षायिकी जीव, सो सूक्ष्म है 'सांपराय' कहिए कषाय जाकैं, ऐसा सूक्ष्मसांपराय संयमी जानना। सो यहु यथाख्यात संयमी जे महामुनि, तिनितैं किछू एक घाटि जानना, स्तोक सा ही अंतर है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७४ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७६-५७७)

-'सूक्ष्म अतीन्द्रिय निजशुद्धात्मसंवेदन के बल से सूक्ष्मलोभ नामक सांपराय का -कषाय का जहाँ पूर्णरूप से उपशम अथवा क्षय होता है, वह सूक्ष्मसांपरायचारित्र है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६८)

प्रश्न १०- यथाख्यातचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्धस्वरूप में स्थिर होना, सो यथाख्यातचारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८२)

-'**उवसंते खीणे वा, असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।**
छदुमट्ठो वा जिणो वा, जहखादो संजदो सो दु॥ ४७५॥'

टीका- अशुभरूप मोहनीय नामा कर्म, सो उपशम होतैं वा क्षयरूप होतैं उपशांत कषाय गुणस्थानवर्ती वा क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ होइ अथवा सयोगी अयोगी जिन होइ; सोई यथाख्यात संयमी जानना। मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम तै वा नाशतैं जो यथावस्थित आत्मस्वभाव की अवस्था; सोई है लक्षण जाका, ऐसा यथाख्यात चारित्र कहिए है। तथा,

-'**जहखादसंजमो पुण, उवसमदो होदि मोहणीयस्स।**
खयदो वि य सो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिदिट्ठं॥ ४६८॥'

टीका- बहुरि यथाख्यात संयम है; सो निश्चय करि मोहनीयकर्म के सर्वथा उपशम तैं वा क्षय तैं हो है; ऐसैं जिनदेवनि करि कह्या है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७५, ४६८ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७७, ५७३-५७४)

-' "यथा"; अर्थात्, जैसा- सहज शुद्धस्वभावपने के कारण, निष्कम्पपने के कारण, निष्कषाय (कषायरहित) आत्मा का स्वभाव है; वैसा ही "आख्यात" अर्थात् कहा गया है- वह यथाख्यातचारित्र है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६८)

-'कषायों के सर्वथा अभाव से प्रादुर्भूत आत्मा की शुद्धि विशेष को यथाख्यातचारित्र कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ११६, पृष्ठ २४)

प्रश्न ११- पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र में कौनसा चारित्र है?

उत्तर- 'इस समय (पञ्चमकाल में) इस क्षेत्र में (भरतक्षेत्र में) सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो ही चारित्र होते हैं, अन्य नहीं; इसलिये इनको ही आचरो।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ३६ का भावार्थ, पृष्ठ १५७)

प्रश्न १२- निश्चयचारित्र किसलिये अङ्गीकार किया जाता है?

उत्तर- निश्चयचारित्र का अङ्गीकार संसार के विनाश और अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्षसुख की प्राप्ति के लिये किया जाता है।

-'(वह परम सम्यक्चारित्र) पाँच प्रकार के (पञ्च परावर्तनरूप) संसार से रहित, निर्दोष परमात्मा से विलक्षण जो संसार उस संसार के व्यापार के कारणभूत जो शुभाशुभ कर्म-आस्रव उनके विनाश के लिये होता है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४६ की टीका, पृष्ठ २२३-२२४)

प्रश्न १३- निश्चयचारित्र किसको होता है?

उत्तर- 'ऐसा बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं के निरोधरूप (निश्चय सम्यक्) चारित्र निश्चयरत्नत्रयस्वरूप अभेदज्ञानी को होता है।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४६ की टीका, पृष्ठ २२४)

पुण्य-पाप की समानता

जैसें काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयौ बांमनकै एक घर राख्यौ है।
बांमन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है।।
तैसें एक वेदनी करमके जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहू मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है।।

अर्थ- जैसे किसी चाण्डालनी के दो पुत्र हुए। उनमें से उसने एक पुत्र ब्राह्मण को दिया और एक अपने घर में रखा। जो ब्राह्मण को दिया वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य-माँस का त्यागी हुआ; लेकिन जो घर में रहा वह चाण्डाल कहलाया और मद्य-माँसभक्षी हुआ। उसी प्रकार एक वेदनीय कर्म के पाप और पुण्य भिन्न-भिन्न नामवाले दो पुत्र हैं, सो दोनों में संसार की भटकना है और दोनों बन्धपरम्परा को बढ़ाते हैं। इससे ज्ञानी लोग दोनों ही की अभिलाषा नहीं करते।

(श्रीसमयसार-नाटक, पुण्य-पाप एकत्वद्वार, सवैया ३, पृष्ठ १६)

स्वरूपाचरणचारित्र

प्रश्न १- निश्चयसम्यक्चारित्र के सभी भेदों का एक नाम क्या है?

उत्तर- निश्चयसम्यक्चारित्र के सभी भेदों का एक नाम 'स्वरूपाचरणचारित्र' है। 'स्वरूपाचरणचारित्र' ही वास्तव में निश्चयसम्यक्चारित्र है। स्वरूपाचरणचारित्र का प्रारम्भ निश्चयसम्यक्दर्शन प्रगट होने के साथ ही चतुर्थ गुणस्थान में होता है और यही क्रमशः विशेष शुद्धि को प्राप्त होता हुआ निश्चय देशचारित्र, निश्चय सकलचारित्र, और अन्त में यथाख्यात्चारित्र नाम पाता है।

जिनागम में स्वरूपाचरणचारित्र को कहीं सकलचारित्र; अर्थात्, तीन कषायों के अभावरूप मुनिदशा, तो कहीं यथाख्यात्चारित्र के रूप में उल्लेखित किया है, लेकिन प्रत्येक स्थान पर उसे निश्चयचारित्र ही निरूपित किया गया है।

–'जिसके प्रगट होने से आत्मा की अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ के ओर की सर्वप्रकार की प्रवृत्ति दूर होती है –वह स्वरूपाचरणचारित्र है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ७ का भावार्थ, पृष्ठ १६७)

–'यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर मुनिदशा में अधिक उच्च होता है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का सारांश, पृष्ठ १८०)

–'स्वरूपाचरणरूप परिणाम ही साधक अवस्था में मोक्षमार्ग और सिद्ध अवस्था में मोक्षरूप है।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ २४)

–'राग-द्वेष के अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप "स्वरूपाचरण" ही निश्चयचारित्र है। वह इस समय पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र में नहीं है।'[१]

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ३६ का भावार्थ, पृष्ठ १५७)

---

१. यहाँ अभिप्राय यह है कि 'स्वरूपाचरणचारित्र' का यथाख्यातस्वरूप इस समय (पञ्चमकाल में) भरतक्षेत्र में नहीं है। इसका अभिप्राय ऐसा नहीं लेना कि 'स्वरूपाचरणचारित्र' ही इस समय (पञ्चमकाल में) भरतक्षेत्र में नहीं है। सम्यग्दर्शन के साथ अविनाभावी 'स्वरूपाचरणचारित्र' का भरतक्षेत्र में पञ्चमकाल के अन्त तक सर्वथा लोप कदापि नहीं होगा; 'स्वरूपाचरणचारित्र'

............क्रमशः

प्रश्न २- स्वरूपाचरणचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- शुद्धात्मानुभवन से अविनाभावी चारित्र विशेष को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ११३, पृष्ठ २४)

-'सर्वप्रकार के विकल्पों से रहित निर्विकल्प आत्मस्थिरता को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।'

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १० का भावार्थ, पृष्ठ १७१)

-'आत्मस्वरूप में एकाग्रतापूर्वक रमणता-लीनता स्वरूपाचरणचारित्र है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ १८६)

-'जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ का स्वरूप कहा, उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके (सम्यक्त्व के) शङ्कादि अतिचार मल दोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके (सम्यक्त्व के) नि:शङ्कितादि गुणों का प्रगट होना- वह सम्यक्त्वचरण (स्वरूपाचरण) चारित्र है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ५ का भावार्थ, पृष्ठ ६३)

-'**कर्मादानक्रियारोध: स्वरूपाचरणं च यत्।**
धर्म: शुद्धोपयोग: स्यात् सैष चारित्रसंज्ञक:।। ७६३।।'

अर्थ- कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है, और वही चारित्र है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७६३ व अर्थ, पृष्ठ २७३)

-'तो स्वरूपाचरणचारित्र कैसा है? जिस प्रकार पन्ना (स्वर्णपत्र) पकाने से सुवर्ण में की कालिमा जाती है, सुवर्ण शुद्ध होता है; उसी प्रकार जीवद्रव्य के अनादि से अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणमन था, वह जाता है; शुद्ध स्वरूपमात्र शुद्धचेतनारूप जीवद्रव्य परिणमता है। उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र कहा जाता है।'

(श्रीसमयसार-कलश, कलश १०६ का अर्थ, पृष्ठ ८८)

के धारक जीवों की संख्या बहुत अल्प अवश्य रह जायेगी।

श्रीअष्टपाहुड के श्रीमोक्षपाहुड में कहा है-

-'**भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।**
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।। ७६।।'

अर्थ- इस भरतक्षेत्र में दु:षमकाल अर्थात् पञ्चमकाल में साधु मुनि के धर्मध्यान होता है। यह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित है, उस मुनि के होता है। जो यह नहीं मानता है, वह अज्ञानी है; उसको धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नहीं है।

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ७६ व अर्थ, पृष्ठ २७४)

-'इस लोक में कलिकाल के प्रभाव से बड़ी कठिनाई में एक-आध ही साधु होता है।'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशति:, धर्मोपदेशामृतम्, गाथा ३६ का अर्थ, पृष्ठ ११)

-'निश्चयज्ञान-परिणति से स्वरूप में आचरण करना, सो स्वरूपाचरण है।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ ४२)

प्रश्न ३- अज्ञानी स्वरूपाचरणचारित्र किसे मानता है?

उत्तर- अज्ञानी आत्मचिन्तन आदि शुभभावों को स्वरूपाचरणचारित्र मानता है।

-'कोई जानेगा कि स्वरूपाचरणचारित्र ऐसा कहा जाता है जो आत्मा के शुद्धस्वरूप को विचारे अथवा चिन्तवे अथवा एकाग्ररूप से मग्न होकर अनुभवे। सो ऐसा तो नहीं; उसके (शुभभाव के) करने पर बन्ध होता है, क्योंकि ऐसा तो स्वरूपाचरणचारित्र नहीं है।'

(श्रीसमयसार-कलश, कलश १०६ का अर्थ, पृष्ठ ८८)

प्रश्न ४- स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होनेपर क्या होता है?

उत्तर- 'जिस चारित्र के (स्वरूपाचरणचारित्र के) होने से समस्त परपदार्थों से वृत्ति हट जाती है; वर्णादि तथा रागादि से चैतन्यभाव को पृथक् कर लिया जाता है; अपने आत्मा में, आत्मा के लिये, आत्मा द्वारा, अपने आत्मा का ही अनुभव होने लगता है; वहाँ नय, प्रमाण, निक्षेप, गुण-गुणी, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय, कर्ता-कर्म और क्रिया, आदि भेदों का किञ्चित् विकल्प नहीं रहता; शुद्ध उपयोगरूप अभेद रत्नत्रय द्वारा शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव होने लगता है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का सारांश, पृष्ठ १८०)

-'जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब॥ ७॥
जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;
वरणादि अरु रागादितैं निज भावको न्यारा किया।
निजमाँहि निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो;
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो॥ ८॥
जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प, वच भेद न जहाँ;
चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोगकी निश्चल दशा;
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ये, तीनधा एकै लसा॥ ९॥
परमाण नय निक्षेपकौ न उद्योत अनुभवमें दिखै;
दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं;
चित् पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितैं॥ १०॥
यो चिन्त्य निजमें थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो;
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्रकैं नाहीं कह्यो।'

अन्वयार्थ- स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने से अपने आत्मा की ज्ञानादिक सम्पत्ति प्रगट होती है तथा परवस्तुओं की ओर की प्रवृत्ति मिट जाती है।। ७।। जो वीतरागी मुनिराज अत्यन्त तीक्ष्ण सम्यग्ज्ञान; अर्थात्, भेदविज्ञानरूपी छैनी पटककर अन्तरङ्ग में भेद करके आत्मा के वास्तविक स्वरूप को वर्ण, रस, गन्ध, तथा स्पर्शरूप द्रव्यकर्म से और राग-द्वेषादिरूप भावकर्म से भिन्न करके अपने आत्मा में, अपने लिये, अपने द्वारा, आत्मा को स्वयं अपने से ग्रहण करते हैं; तब गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञान का विषय, और ज्ञान में- आत्मा में किञ्चित्मात्र भेद नहीं रहता।। ८।। स्वरूपाचरणचारित्र में ध्यान, ध्याता, और ध्येय का भेद नहीं होता तथा जहाँ वचन का विकल्प नहीं होता, वहाँ तो आत्मा का स्वभाव ही कर्म, आत्मा ही कर्ता, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही क्रिया होता है; अर्थात्, कर्ता, कर्म, और क्रिया- यह तीनों भेदरहित एक, अखण्ड हो जाते हैं और शुद्धोपयोग की निश्चल पर्याय प्रगट होती है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र- ये तीनों एकरूप, अभेदरूप से शोभायमान होते हैं।। ९।। स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनियों के आत्मानुभव में प्रमाण, नय, और निक्षेप का विकल्प प्रगट दिखायी नहीं देता, परन्तु ऐसा विचार होता है कि मैं सदा अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञान -अनन्तसुख, और अनन्तवीर्यमय हूँ। मेरे स्वरूप में अन्य राग-द्वेषादि भाव नहीं हैं; मैं साध्य, साधक, तथा कर्म और उसके फलों के विकल्परहित ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप निर्मल तथा ऐश्वर्यवान अखण्ड सुगुणों का भण्डार और अशुद्धता से रहित हूँ।। १०।। इस प्रकार चिन्तवन करके आत्मस्वरूप में लीन होने पर उन मुनियों को जो कहा न जा सके ऐसा-वचन से पार-आनन्द होता है। वह आनन्द इन्द्र को, नागेन्द्र को, चक्रवर्ती को, या अहमिन्द्र को भी कहने में नहीं आया होता।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ७ की अंतिम पंक्ति, छन्द ८-९-१०, छन्द ११ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १६४ से १७२)[1]

प्रश्न ५- स्वरूपाचरणचारित्र अङ्गीकार करने से क्या लाभ है?

उत्तर- स्वरूपाचरणचारित्र अङ्गीकार करनेवाला जीव निज शुद्धात्मा में स्थिरतापूर्वक निरन्तर शुद्धि की वृद्धि करते हुए नियम से अल्प समय में क्रमशः अरहन्त और सिद्धदशा को प्राप्त करके, अक्षय सादिअनन्त मोक्षसुख को भोगता है।

-'तब ही शुकल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो;
सब लख्यो केवलज्ञानकरि, भविलोकको शिवमग कह्यो।। ११।।
पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमाँहि अष्टम भू वसैं;
वसु कर्म विनसैं सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं।
संसार खार अपार पारावार तरि तीरहिं गये;
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये।। १२।।'

---
१. छहढाला का यह कथन अप्रमत्तदशा में विराजते मुनिराज की अपेक्षा से है।

अन्वयार्थ- स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात् जब शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा चार घातिकर्मोंरूपी वन जल जाता है और केवलज्ञान से तीनकाल और तीनलोक में होनेवाले समस्त पदार्थों के सर्वगुण तथा पर्यायों को प्रत्यक्ष जान लेते हैं, तब भव्यजीवों को मोक्षमार्ग बतलाते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् शेष चार अघातिया कर्मों का नाश करके कुछ ही समय में आठवीं पृथ्वी-ईषत् प्राग्भार-मोक्ष-क्षेत्र में निवास करते हैं; उनको आठ कर्मों का नाश हो जाने से सम्यक्त्वादि समस्त आठ मुख्य गुण शोभायमान होते हैं। ऐसे सिद्ध होनेवाले मुक्तात्मा संसाररूपी खारे तथा अगाध समुद्र को पार करके किनारे पर पहुँच जाते हैं और विकाररहित, शरीररहित, रूपरहित, शुद्ध-निर्दोष दर्शन-ज्ञान-चेतनास्वरूप तथा नित्य-स्थायी होते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ११ का उत्तरार्ध, छन्द १२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १७२ से १७४)

-'सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं।। ९।।'

अर्थ- जो ज्ञानी होते हुए अमूढ़दृष्टि होकर सम्यक्त्वचरण (स्वरूपाचरण) चारित्र से शुद्ध होता है और जो संयमचरण (सकल व्यवहारचारित्र) से सम्यक् प्रकार शुद्ध हो, तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ९ व अर्थ, पृष्ठ ६६)

प्रश्न ६- स्वरूपाचरणचारित्र सर्वप्रथम क्या मुनिदशा में प्रगट होता है?

उत्तर- नहीं, स्वरूपाचरणचारित्र चतुर्थ गुणस्थान में प्रथम निर्विकल्पदशा के साथ ही प्रगट हो जाता है; जो श्रावक और मुनिदशा में क्रमशः वृद्धि (उच्चदशा) को प्राप्त होता है।

-'दर्शनमोहनीय का अभाव होनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होनेपर उतने अंश में स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २१२ से २१४ का भावार्थ, पृष्ठ १८४)

-'यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर मुनिदशा में अधिक उच्च होता है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का सारांश, पृष्ठ १८०)

-'गृहस्थदशा में लीनता उग्र नहीं रहती; बाद में लीनता उग्र हो जाये तो मुनिदशा आ जाती है। पुरुषार्थ कम होता है तो लीनता भी कम होती है; लेकिन ज्ञायक की धारा तो चालू ही है। सम्यग्दर्शन होते ही स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ, और अनन्तानुबन्धी कषाय छूट गया। स्वरूपाचरणचारित्र हुआ तो आंशिक शान्ति, ज्ञाताधारा, और मुक्ति का मार्ग प्रगट हो गया।'

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्नोत्तर संख्या ७१, पृष्ठ ६५)

व्यवहारचारित्र

प्रश्न १- व्यवहारचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- निज ज्ञायक भगवान आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित स्थिरतापूर्वक शुद्धि के साथ-साथ भूमिकानुसार यथायोग्य होनेवाले (देव-गुरु-शास्त्र की विनय, पूजा, अणुव्रत, महाव्रत, आदि) शुभभावों को व्यवहारचारित्र कहते हैं। शुभभावरूप व्यवहारचारित्र बन्ध का ही कारण है।

-'**असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।**
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम्।। ४५।।'

गाथार्थ- अशुभकार्य की निवृत्ति और शुभकार्य में प्रवृत्ति- उसे (व्यवहार) चारित्र जानो। व्रत-समिति-गुप्तिरूप ऐसा वह (चारित्र) व्यवहारनय से जिनेन्द्रदेव ने कहा है।[1]

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ व गाथार्थ, पृष्ठ २१९-२२०)

-'पञ्चपापनितै विरक्त होय अन्तरङ्ग बहिरङ्ग प्रवृत्ति की उज्वलतास्वरूप व्यवहारचारित्र (होता है)।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, तृतीय अधिकार, गाथा ४९ का भावार्थ, पृष्ठ ७४)

-'महाव्रत-समिति-गुप्ति के भेद से कहा है कि वह व्यवहार (चारित्र) है। इसमें प्रवृत्तिरूप क्रिया शुभकर्मरूप बन्ध करती है।'

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ४२ का भावार्थ, पृष्ठ २५६)

-'आचारादि सूत्रों द्वारा कहे गये अनेकविध मुनि-आचारों के समस्त समुदायरूप तप में चेष्टा (प्रवर्तन) सो (व्यवहार) चारित्र;'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १६० की टीका, पृष्ठ २३३)

-'वीतराग सर्वज्ञप्रणीत जीवादि पदार्थों सम्बन्धी सम्यक् श्रद्धान तथा ज्ञान दोनों गृहस्थ (श्रावक) को और तपोधन (मुनि) को समान होते हैं; चारित्र, तपोधनों (मुनियों) को आचारादि चरणग्रन्थों में विहित किये हुए मार्गानुसार प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान योग्य पञ्चमहाव्रत-पञ्चसमिति-त्रिगुप्ति

---

१. यह गाथा छठवें गुणस्थान में भावलिङ्गी श्रमण का व्यवहारचारित्र कैसा होता है; अर्थात्, वहाँ शुभरागांश जो आस्रव-बन्धरूप शुभोपयोग है, वह कैसा होता है; यह समझाती है।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ का भावार्थ, पृष्ठ १४५)

-षडावश्यकादिरूप होता है; और गृहस्थों को उपासकाध्ययनग्रन्थ में विहित किए हुए मार्ग के अनुसार पञ्चम गुणस्थान योग्य दान-शील-पूजा-उपवासादिरूप अथवा दार्शनिक-व्रतादि ग्यारह स्थानरूप (ग्यारह प्रतिमारूप) होता है। इस प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग (व्यवहारचारित्र) का लक्षण है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १६० की श्री जयसेनाचार्यदेव कृत टीका,

आधार-श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, पृष्ठ २३३ की पादटिप्पणी)

-'चारित्रगुण की पर्याय की शुद्धि का नियम ऐसा है कि उस गुण की पर्याय चौथे गुणस्थान से क्रमशः शुद्ध होती है; इसलिये चौथे से दसवें गुणस्थान के अन्त तक उस चारित्र की एक पर्याय के दो अंश होते हैं। एक वीतरागी अंश जो संवर-निर्जरारूप है और दूसरा रागांश। (वीतरागी अंश के साथ होनेवाला रागांश ही व्यवहारचारित्र है।)'

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ का भावार्थ, पृष्ठ १४५)

-'ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।'

अन्वयार्थ- व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है।

(श्रीनियमसार, गाथा ५५ का पूर्वार्ष व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०७-१०८)

प्रश्न २- व्यवहारचारित्र के कितने भेद हैं?

उत्तर- व्यवहारचारित्र के भी दो भेद हैं- (१) व्यवहार देशचारित्र, और (२) व्यवहार सकलचारित्र।

-**'देशसर्वतोऽणुमहती॥ २॥'** -**अर्थ-** व्रत के दो भेद हैं- हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करना सो अणुव्रत (देशचारित्र); और सर्वदेश त्याग करना, सो महाव्रत (सकलचारित्र) है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र २ व अर्थ, पृष्ठ ४६२)

-**'अगार्यनगारश्च॥ १९॥'** -**अर्थ-** अगारी; अर्थात्, सागार (गृहस्थ) और अनागार (गृहत्यागी भावमुनि) इस प्रकार व्रती के दो भेद हैं।

[निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक महाव्रतों को पालनेवाले मुनि अनगारी कहलाते हैं और देशव्रत को पालनेवाले श्रावक सागारी कहलाते हैं।]

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र १९ व अर्थ, पृष्ठ ४८६)

-'दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं॥ २१॥'

अर्थ- संयमचरण चारित्र दो प्रकार का है, सागार और निरागार। सागार तो परिग्रहसहित श्रावक के होता है और निरागार परिग्रह से रहित मुनि के होता है- यह निश्चय है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा २१ व अर्थ, पृष्ठ ७३-७४)

-'संपूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्थाः द्वितीये गृहिणः स्थिताः।। ४।।'

अर्थ- वह धर्म सम्पूर्णधर्म और देशधर्म के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम भेद दिगम्बर मुनि और द्वितीय भेद में गृहस्थ स्थित होते हैं।

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, उपासकसंस्कारः, गाथा ४ व अर्थ, पृष्ठ १२८)

सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

अणुमात्र भी रागादिका, सद्भाव है जिस जीवको।
वो सर्वआगमधर भले ही, जानता नहिं आत्मको।।
नहिं जानता जँह आत्मको, अनात्म भी नहिं जानता।
वो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जीव अजीवको नहिं जानता?।।

गाथार्थ- वास्तव में जिस जीव के परमाणुमात्र-लेशमात्र भी रागादिक वर्तता है, वह जीव भले ही सर्वागम का धारी (अर्थात्, समस्त आगमों को पढ़ा हुआ) हो तथापि आत्मा को नहीं जानता; और आत्मा को न जानता हुआ वह अनात्मा (परद्रव्यों) को भी नहीं जानता। इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

(आचार्य कुन्दकुन्ददेव, श्रीसमयसार, गाथा २०१-२०२ व गाथार्थ)

सारे ब्रह्माण्ड का तत्त्व

द्रव्य-गुण-पर्याय में सारे ब्रह्माण्ड का तत्त्व आ जाता है। 'प्रत्येक द्रव्य अपने गुणों में रहकर स्वतन्त्ररूप से अपनी पर्यायरूप परिणमित होता है', 'पर्याय द्रव्य को पहुँचती है; द्रव्य पर्याय को पहुँचता है'- ऐसी-ऐसी सूक्ष्मता को यथार्थरूप से लक्ष्य में लेनेपर मोह कहाँ खड़ा रहेगा?

(पू० बहनश्री चम्पाबेन, वचनामृत संख्या ३०८, पृष्ठ १२०)

व्यवहार देशचारित्र

प्रश्न १- व्यवहार देशचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- मिथ्यात्व और प्रथम दो कषायों (अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान) के क्षयोपशम से प्रगट शुद्धि, अर्थात्, वीतराग अंश के साथ भूमिकानुसार यथायोग्य वर्तते हुए सहचारी रागांश (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत आदि के शुभभाव) को व्यवहार देशचारित्र कहते हैं। व्यवहार देशचारित्र में हिंसादि पापों का एकदेश (आंशिक) त्याग होता है। इसे सराग देशचारित्र भी कहते हैं।

-'हिंसादिक के एकदेश त्याग को देशचारित्र कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४० का भावार्थ, पृष्ठ ४६)

-'श्रावक के व्रतों को देशचारित्र कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ११४, पृष्ठ २४)

प्रश्न २- देशचारित्र का धारक कौन जीव होता है?

उत्तर- पाँच अणुव्रत, आदि बारह व्रतों का धारक, पञ्चम गुणस्थानवर्ती गृहस्थी श्रावक ही निश्चय अथवा व्यवहार देशचारित्र का धारक होता है।

-'**या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।। ४१।।**'

टीका- जो पाँच पाप के कथञ्चित् एकदेश त्याग में लगा हुआ जीव है, वह श्रावक है।

भावार्थ- देशचारित्र का स्वामी श्रावक है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४१ का उत्तरार्द्ध, टीका व भावार्थ, पृष्ठ ४७)

-'अर जे स्त्री, पुत्र, धनधान्यादिक परिग्रहसहित घर में तिष्ठैं ते जिन वचन के श्रद्धानी न्यायमार्गकूं नाहीं उलंघन करिकैं पापतैं भयभीत ऐसे ज्ञानी ग्रहस्थीनिकै विकल (एकदेश) चारित्र है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, तृतीय अधिकार, सूत्र ५० का अर्थ, पृष्ठ ७४-७५)

-'सागार (एकदेशचारित्र) तो परिग्रहसहित श्रावक के होता है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ७१ का अर्थ, पृष्ठ ७४)

प्रश्न ३- व्यवहार देशचारित्र के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्रतरहित दार्शनिक, और (२) पञ्चम गुणस्थानवर्ती

श्रावक।

(आधार-श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२०)

प्रश्न ४- व्रतरहित दार्शनिक किसे कहते हैं?

उत्तर- चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती-सम्यग्दृष्टि को व्रतरहित दार्शनिक अथवा असंयत-सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इसे अनन्तानुबन्धी नामक प्रथम कषाय के क्षयोपशम से 'स्वरूपाचरण' नामक चारित्र प्रगट हुआ है, लेकिन व्रतरहित होने के कारण 'असंयत' नाम पाता है।

-'मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम, अथवा क्षय होनेपर अथवा अध्यात्मभाषा से निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम होनेपर शुद्धात्मभावना से उत्पन्न निर्विकार, वास्तविक सुखामृत को उपादेय करके, संसार-शरीर और भोगों में जो हेयबुद्धियुक्त, सम्यग्दर्शन से शुद्ध है; वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, व्रतरहित दार्शनिक कहलाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२०)

-'अर अनन्तानुबन्धी के अभावतैं स्वरूपाचरणचारित्र सम्यग्दृष्टि के प्रगट होय है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, गाथा ४१ का अर्थ, पृष्ठ ६८)

-'**जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।**'

अर्थ- प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरणस्वरूप चारित्र है। वह जिनदेव के ज्ञान-दर्शन श्रद्धान से किया हुआ शुद्ध है।

भावार्थ- चारित्र को दो प्रकार का कहा है। प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा। वह जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ का स्वरूप कहा। उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना, और उसके शङ्कादि अतिचार मल-दोष कहे; उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके नि:शङ्कितादि गुणों का प्रगट होना वह सम्यक्त्वचरण चारित्र है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ५, अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ ६२-६३)

प्रश्न ५- श्रावक किसे कहते हैं?

उत्तर- चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व के उपशम, क्षय, अथवा क्षयोपशम तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षयोपशम के बाद निज शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरतापूर्वक अप्रत्याख्यान नामक द्वितीय कषाय के क्षयोपशम से उत्पन्न शुद्धदशा के धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती व्रतसहित जीव को श्रावक कहते हैं।

-'जो, **अप्रत्याख्यानावरण**[1] नामक द्वितीय कषाय का क्षयोपशम होनेपर पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पतिरूप) पाँच स्थावरों के वध में प्रवृत्त होनेपर भी यथाशक्ति त्रस

---

१. **अप्रत्याख्यानावरण-**'अ' अर्थात् ईषत्; थोड़ा। 'प्रत्याख्यान' अर्थात् त्याग। आवरण अर्थात् आच्छादित करनेवाला। त्याग को एकदेश आच्छादित करने का नाम अप्रत्याख्यानावरण है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १२५ की टीका, पृष्ठ ९९ की पादटिप्पणी)

सारणी ३२ : श्रावक के व्रत (बारह अणुव्रत)

श्रावक के व्रत (१२)

- अणुव्रत (५)
  - अहिंसाणुव्रत
  - सत्याणुव्रत
  - अचौर्याणुव्रत
  - ब्रह्मचर्याणुव्रत
  - परिग्रह-परिमाणाणुव्रत
    - अंतरङ्गपरिग्रह (१४)
      - मिथ्यात्व
      - पुरुषवेद
      - स्त्रीवेद
      - नपुंसकवेद
      - हास्य
      - रति
      - अरति
      - शोक
      - भय
      - जुगुप्सा
      - क्रोध
      - मान
      - माया
      - लोभ
    - बाह्यपरिग्रह
      - अचित्त (सोना, चाँदी, मकान, वस्त्रादि)
      - सचित्त (पुत्र, दास, दासी, आदि)
- गुणव्रत (३)
  - दिग्व्रत
  - देशव्रत
  - अनर्थदण्डव्रत
    - अपध्यानत्यागव्रत
    - पापोपदेशत्यागव्रत
    - प्रमादचर्यात्यागव्रत
    - हिंसादानत्यागव्रत
    - दुःश्रुतित्यागव्रत
- शिक्षाव्रत (४)
  - सामायिक
  - प्रोषधोपवास
  - भोगोपभोग-परिमाणव्रत
  - अतिथि-संविभागव्रत
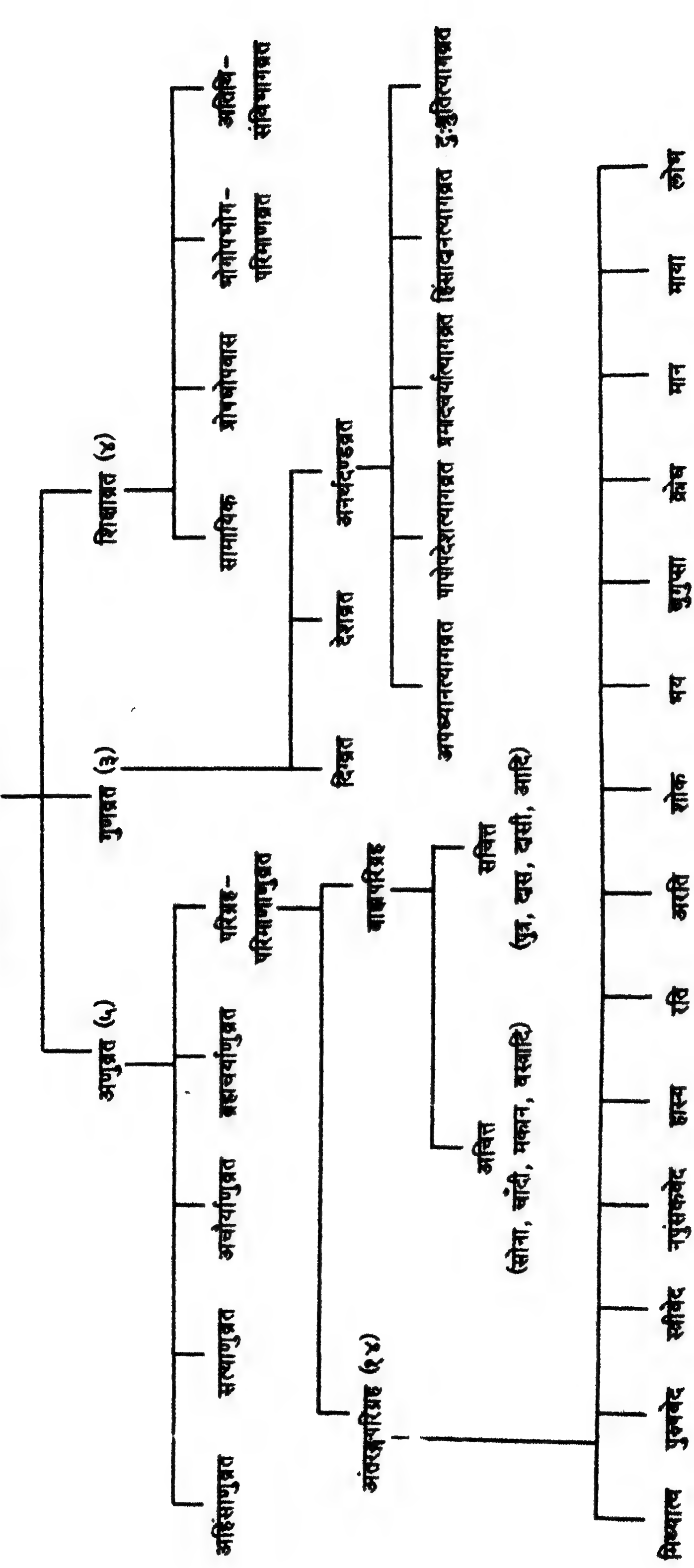
आधार-छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १० से १५, पृष्ठ १०८ से ११७; एवं श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४२ से १९६, पृष्ठ ४७ से १५६।

के वध से निवृत्त होता है, वह पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहलाता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२०)

-'तु एकदेशविरति: तस्यां निरत: उपासक: भवति;'

अर्थ- जो पाँच पाप के कथञ्चित् एकदेश त्याग में लगा हुआ जीव है, वह श्रावक है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ४७)

-'गृहस्थों को उपासकाध्ययनग्रन्थ में विहित किये हुए मार्ग के अनुसार पञ्चम गुणस्थानयोग्य दान-शील-पूजा-उपवासादिरूप अथवा दार्शनिक-व्रतादि ग्यारह स्थानरूप (ग्यारह प्रतिमारूप) होता है;'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १६०, पृष्ठ २३३ की पादटिप्पणी)

-'पंच-तिहिं-चउ-विहेहिं य, अणु-गुण-सिक्खा-वएहिं संजुत्ता।
उच्चांति देस-विरया सम्माइट्ठी झलिय-कम्मा।। ४७६।।'

टीका- **पाँच अणुव्रत**[1], **तीन गुणव्रत**[2], **च्यारि शिक्षाव्रत**[3], ऐसैं बारह व्रतनि करि संयुक्त जे सम्यग्दृष्टि, कर्म निर्जरा के धारक, ते देशविरति संयमासंयम के धारक परमागम विषैं कहिए है।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७६ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७७)

प्रश्न ६- श्रावक के कितने भेद हैं?

उत्तर- श्रावक के ग्यारह भेद हैं- (१) दार्शनिक, (२) व्रतिक, (३) सामायिक, (४) प्रोषधोपवास, (५) सचित्तविरत, (६) रात्रिभोजनविरत, (७) ब्रह्मचारी, (८) आरम्भविरत, (९) परिग्रहविरत, (१०) अनुमतिविरत, और (११) उद्दिष्टविरत।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७७ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७८)

-'उस श्रावक के ग्यारह भेद कहे जाते हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक मद्य, माँस, मधु, और पाँच **उदुम्बर फलों**[4] के त्यागरूप आठ **मूलगुणों** का पालन करता हुआ जो जीव युद्धादि में प्रवृत्त होनेपर भी पाप की वृद्धि करनेवाले शिकार, आदि के समान बिना प्रयोजन जीवघात से निवृत्त हुआ है; वह

---

१. **पाँच अणुव्रत-** (१) अहिंसाव्रत, (२) सत्याणुव्रत, (३) अचौर्याणुव्रत, (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत, और (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

२. **तीन गुणव्रत-** (१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत, और (३) अनर्थदण्डव्रत।

३. **चार शिक्षाव्रत-** (१) सामायिक, (२) प्रोषधोपवास, (३) भोगोपभोगपरिमाणव्रत, और (४) अतिथिसंविभागव्रत।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १० से १४ के आधार से)

४. **उदुम्बर फल-** **'उदुम्बरयुग्मं प्लक्ष न्यग्रोध पिप्पलफलानि त्रसजीवानां योनि:'**

टीका- उदुम्बर और कठूमर ये दो तथा पाकर (अञ्जीर), बड़ और पीपल के ये तीन- ये सभी त्रसजीवों की योनि हैं।
[बड़, पीपल, (गूलर के फल), पाकर, ऊमर (उदुम्बर), कठूमर (फणस)- ये पाँचों उदुम्बर फल कहलाते हैं।]

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ७२ की टीका, पृष्ठ ६६ एवं गाथा ६१, पृष्ठ ६० की पादटिप्पणी)

......................क्रमश:

प्रथम "दार्शनिक श्रावक" कहलाता है। वही दार्शनिक श्रावक जब त्रसजीवों की हिंसा से सर्वथा निवृत्त होकर पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रतसहित होता है; तब "व्रती" नामक दूसरा श्रावक होता है। वही जीव जब तीनोंकाल "सामायिक" करता है, तब तीसरी प्रतिमाधारक "प्रोषधउपवास" करता है, तब चौथी प्रतिमाधारक; "सचित्त के त्याग" से पाँचवीं प्रतिमाधारक; दिवस में "ब्रह्मचर्य" पालन करने से छट्ठी प्रतिमाधारक; "सर्वथा ब्रह्मचर्य" पालन करने से सातवीं प्रतिमाधारक; "आरम्भ आदि सम्पूर्ण व्यापार के त्याग" से आठवीं प्रतिमाधारक; पहनने-ओढ़ने के वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सर्व "परिग्रहों के त्याग" से नवमीं प्रतिमाधारक; घर-व्यापार आदि सम्बन्धी समस्त पापमय कार्यों में "सम्मति (सलाह) देने का त्याग" करने से दशवीं प्रतिमाधारक; और "उद्दिष्ट आहार के त्याग" से ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक होता है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२०-२२१)

-'दंसण-वय-सामाइय, पोसह-सच्चित्त-रायभत्ते य।
ब्रह्मारंभ-परिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठ-देसविरदेदे।। ४७७।।'

टीका- तहां पाँच उदुंबरादिक अर सप्तव्यसननि कौं त्यागै अर शुद्ध सम्यक्त्वी होइ; सो 'दार्शनिक' कहिए। पंच अणुव्रतादिक कौं धारै; सो 'व्रतिक' कहिए। नित्य सामायिक क्रिया जाकैं होइ; सो 'सामायिक' कहिए। अवश्य पर्वनि विषैं उपवास जाकैं होइ; सो 'प्रोषधोपवास' कहिए। जीव सहित वस्तु सेवन का त्यागी होइ; सो 'सचित्त विरत' कहिए। रात्रि विषैं भोजन न करैं; सो 'रात्रिभक्त विरत' कहिए। सदाकाल शील पालैं; सो 'ब्रह्मचारी' कहिए। पाप आरम्भ कौं त्यागैं; सो 'आरंभ विरत' कहिए। परिग्रह के कार्य कौं त्यागैं; सो 'परिग्रह विरत' कहिए। पाप की अनुमोदना कौं त्यागैं; सो 'अनुमति विरत' कहिए। अपने निमित्त भया आहारादिक कौं त्यागैं; सो 'उद्दिष्ट विरत' कहिए।

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७७ व टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७७-५७८)

[**विशेष-** श्रीगोम्मटसार और श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह में वर्णित श्रावक के भेदों में कुछ अन्तर प्रतीत होता है; जैसे, श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह में श्रावक के छठे भेद में उसे 'दिवस में ब्रह्मचर्य पालन करनेवाला', लेकिन श्रीगोम्मटसार में उसे 'रात्रिभोजन का त्यागी' बताया है। श्रीसमयसारनाटक में भी श्रावक के छठे भेद; अर्थात्, छठी प्रतिमा के स्वरूप-वर्णन में उसे 'दिन में ब्रह्मचर्य पालन करनेवाला' बताया है-

---

५. **आठ मूलगुण-** शास्त्रों में कहीं तो मद्य, माँस, मधु, और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को आठ मूलगुण बताया है, कहीं (१) पञ्चपरमेष्ठी में भक्ति, (२) जीवदया, (३) पानी छानकर काम में लाना, (४) मद्यत्याग, (५) माँसत्याग, (६) मधुत्याग, (७) रात्रिभोजनत्याग, और (८) उदुम्बरफलों का त्याग- ये आठ मूलगुण कहे हैं; और कहीं मद्य, माँस, मधु, और पाँच पाप के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, पृष्ठ ३८६ की पादटिप्पणी)

-'जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै। तिथि आये निसि दिवस संभालै॥
गहि नौ वाड़ि करै व्रत रख्या। सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या॥ ६५॥'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ६५, पृष्ठ ३८८)

-श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः के धर्मोपदेश नामक प्रथम अध्याय की गाथा १४ में भी ११ प्रतिमाओं का उल्लेख है। वहाँ छठी प्रतिमा में रात्रि भोजन के त्याग का ही उल्लेख है। लेकिन विशेषार्थ (पृष्ठ ७-८) में वहाँ दोनों मान्यताओं का उल्लेख है- 'रात्रि में भोजन का परित्याग करके दिन में ही भोजन करने का नियम करना, यह दिवामुक्ति प्रतिमा कही जाती है। किन्हीं आचार्यों के अभिप्रायानुसार दिन में मैथुन के परित्याग को दिवामुक्ति (षष्ठ प्रतिमा) कहा जाता है।'

इस सम्बन्ध में दूसरे आचारग्रन्थों का अध्ययन कर स्वयं निर्णय करें।]

प्रश्न ७- क्या श्रावकों में जघन्य, मध्यम, और उत्तम का कोई भेद है?

उत्तर- हाँ है। प्रथम छः प्रतिमाधारक श्रावकों को 'जघन्य', बीच के तीन (सातवीं, आठवीं, और नववीं) प्रतिमाधारक श्रावकों को 'मध्यम', और दसवीं व ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावकों को 'उत्तम' श्रावक माना गया है।

-'इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों में पहली छह प्रतिमाधारक तारतम्यरूप से जघन्य श्रावक हैं; उसके पश्चात् की तीन प्रतिमाधारक मध्यम श्रावक, और अन्तिम दो प्रतिमाधारक उत्तम श्रावक हैं।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२१)

-'षट प्रतिमा तांई जघन, मध्यम नौ परजंत।
उत्तम दसमी ग्यारमी, इति प्रतिमा विरतंत॥ ७३॥'

अर्थ- छठवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक; नववीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक; और दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करनेवालों को उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ७३ व अर्थ, पृष्ठ ३९०)

प्रश्न ८- श्रावक में क्या विशेषताएँ (गुण) होनी चाहिए?

उत्तर- श्रावक मन्दकषायी, श्रद्धालु, सहनशील, अग्रसोची, कृतज्ञ, रसज्ञ, विशेषज्ञ, नम्र, दीनता और अभिमानरहित, आदि २१ गुणोंसहित होना चाहिए।

-'लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवंत, परदोषकौ ढकैया पर-उपगारी है।
सौमदृष्टि गुनग्राही गरिष्ट सबकौं इष्ट, शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है॥
विशेषग्य, रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य, न दीन न अभिमानी मध्य विवहारी है।
सहज विनीत पापक्रियासौं अतीत ऐसौ, श्रावक पुनीत इकवीस गुनधारी है॥ ५४॥'

सारणी ३३ : व्यवहार देशचारित्र के धारक

व्यवहार देशचारित्र (शुभोपयोग)
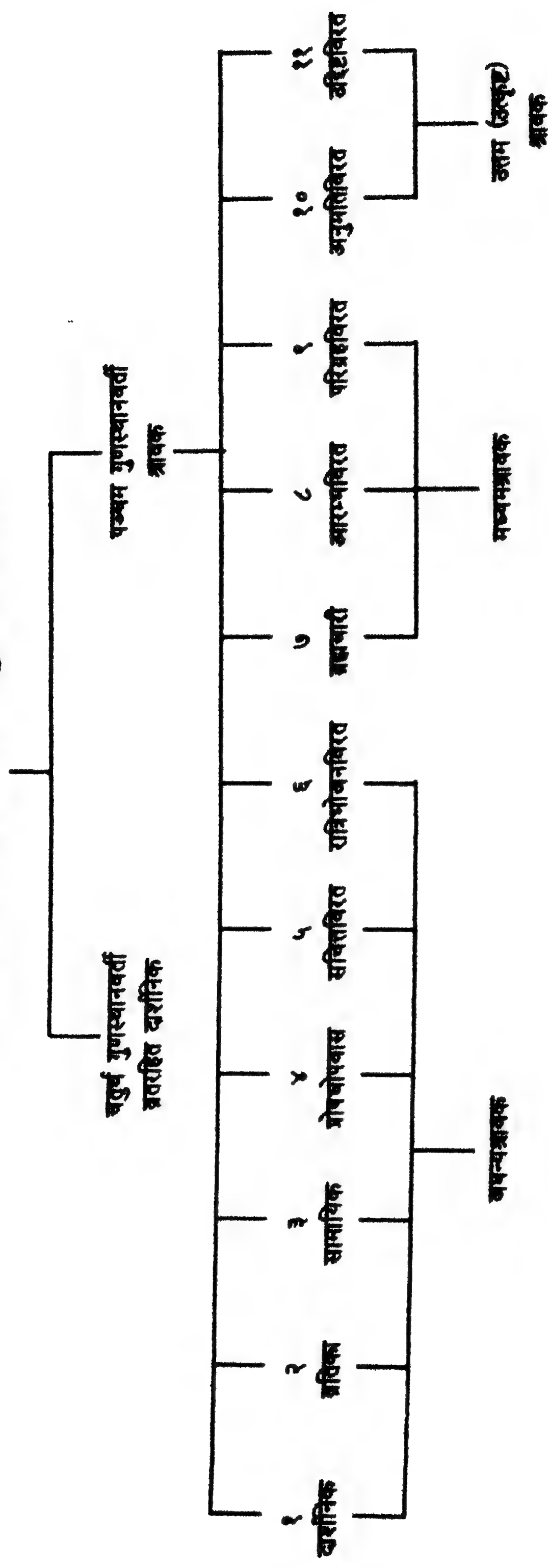
[श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड में श्रावक छठे भेद में उसे रात्रिभोजन का त्यागी बताया है; जबकि श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह और श्रीसमयसारनाटक में उसे दिवस में (दिन में) ब्रह्मचर्य पालन करनेवाला बताया है।]

आधार-श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७७ की टीका, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृष्ठ ५७७-५७८;
श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२०-२२१; एवं
श्रीसमयसार-नाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ५४ से ७३, पृष्ठ ३८३ से ३९०।

अर्थ- लज्जा, दया, मन्दकषाय, श्रद्धा, दूसरों के दोष ढाँकना, परोपकार, सौम्यदृष्टि, गुणग्राहकता, सहनशीलता, सर्वप्रियता, सत्यपक्ष, मिष्टवचन, अग्रसोची, विशेषज्ञानी, शास्त्रज्ञान की मर्मज्ञता, कृतज्ञता, तत्त्वज्ञानी, धर्मात्मा, न दीन न अभिमानी-मध्यम व्यवहारी, स्वाभाविक विनयवान, पापाचरण से रहित- ऐसे इक्कीस पवित्र गुण श्रावकों को ग्रहण करना चाहिए।

(श्रीसमवसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ५४ व अर्थ, पृष्ठ ३८३-३८४)

प्रश्न ९- श्रावक के पाँच अणुव्रत कौनसे हैं?

उत्तर- (१) अहिंसाणुव्रत, (२) सत्याणुव्रत, (३) अचौर्याणुव्रत, (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत, और (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत- ये पाँच श्रावक के अणुव्रत हैं।

प्रश्न १०- अहिंसाणुव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- त्रस जीवों की **सङ्कल्पीहिंसा**[1] का सर्वथा त्याग करके निष्प्रयोजन स्थावर जीवों का घात न करना, सो अहिंसाणुव्रत है।

-'त्रसहिंसाको त्याग, वृथा थावर न सँहारै;'

अन्वयार्थ- त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना और बिना कारण स्थावर जीवों का घात न करना, यह अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १० की तृतीय पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०९)

-'धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्युक्तम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु।। ७६।।'

अन्वयार्थ- जो जीव अहिंसारूप धर्म को भले प्रकार सुनकर भी स्थावर जीवों की हिंसा छोड़ने में असमर्थ हैं, वे जीव भी त्रस जीवों की हिंसा त्याग दें।

भावार्थ- हिंसा का त्याग दो प्रकार से है। एक तो सर्वथा त्याग है; वह मुनिधर्म में होता है। उसे अङ्गीकार करना चाहिए। किन्तु यदि कषायवश सर्वथा त्याग न बन सके, तो त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करके श्रावकधर्म अङ्गीकार करना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ७६, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ६८)

-'स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्।। ७७।।'

अन्वयार्थ- इन्द्रिय विषयों को न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले गृहस्थों (श्रावकों) को अल्प एकेन्द्रिय के घात के अतिरिक्त बाकी के स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों के मारने का त्याग भी करने

---

१. **सङ्कल्पीहिंसा-** 'यह जीव घात करने योग्य है, मैं इसे मारूँ'- अहिंसाणुव्रत धारण करनेवाला जीव इस प्रकार सङ्कल्पसहित किसी त्रसजीव की हिंसा नहीं करता।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १०, पृष्ठ १०९ की पादटिप्पणी)

योग्य है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ७७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ६९)

प्रश्न ११- हिंसा किसे कहते हैं?

उत्तर- 'कषायरूप से परिणमित मन, वचन, काय के योग से जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण करना-घात करना, वह निश्चय से भली-भाँति निश्चित की गयी हिंसा है।'

-'**यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।**
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।। ४३।।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४३ का अन्वयार्थ व गाथा, पृष्ठ ४८)

-'सावद्य शब्द का अर्थ प्राणों का छेद करना है और वही हिंसा कही गयी है।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७४९ का अर्थ, पृष्ठ२७१)

प्रश्न १२- सत्याणुव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- दूसरे के प्राणों को घातक, कठोर, तथा निंद्यनीय वचन न बोलना तथा दूसरों से न बुलवाना, न अनुमोदना- सो सत्याणुव्रत है।

-'**पर-वधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै।।**'

अन्वयार्थ- दूसरों को दुःखदायक, कठोर, और निंद्यनीय वचन न बोलना, वह सत्य-अणुव्रत कहलाता है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १० की अन्तिम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०८-१०९)

-'**भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।**
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु।। १०१।।'

अन्वयार्थ- जो जीव भोग-उपभोग के साधन मात्र **सावद्यवचन**[1] छोड़ने में असमर्थ हैं, वे भी बाकी के सभी असत्य भाषण का निरन्तर त्याग करें।

भावार्थ- झूठ का त्याग दो प्रकार का है। एक सर्वथा त्याग; दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही बनता है तथा एकदेश त्याग श्रावकधर्म में होता है। जो सर्वथा त्याग बन सके, तब तो बहुत ही उत्तम है। यदि कदाचित् कषाय के उदय से सर्वथा त्याग न बन सके, तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए। कारण कि श्रावकअवस्था में झूठ के अन्य सर्वभेदों का तो त्याग होता है, परन्तु सावद्य झूठ का त्याग नहीं हो सकता; किन्तु वहाँ भी अपने भोग-उपभोग के निमित्त

---

१. **सावद्यवचन**- जिस (वचन) से पाप की प्रवृत्ति हो, उसे सावद्य (वचन) कहते हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९७ का भावार्थ, पृष्ठ ८१)

ही झूठवचन-सावद्यवचन हो, परन्तु बिना प्रयोजन न बोले।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १०१, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ८३)

प्रश्न १३- असत्य किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जो कुछ प्रमाद कषाय के योग से यह स्व-पर को हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन कहने में आता है, उसे निश्चय से असत्य जानना चाहिए। उसके **(असत्य के) चार भेद**[1] हैं।'

-'यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदा: सन्ति चत्वार:।। ९१।।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९१ का अन्वयार्थ व गाथा, पृष्ठ ७८)

प्रश्न १४- अचौर्याणुव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- 'पानी और मिट्टी के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु बिना दिये नहीं लेना, उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं।'

-'जल-मृतिका बिन और नाहिं कछु गहै अदत्ता;'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ११ की प्रथम पंक्ति का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ १११)

-'असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्।। १०६।।'

अन्वयार्थ- जो जीव दूसरे के कुआँ, बाबड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि ग्रहण करने के त्याग करने में असमर्थ हैं; उन्हें भी अन्य सर्व बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का हमेशा त्याग करना योग्य है।

भावार्थ- चोरी का त्याग भी दो प्रकार से है। एक सर्वथा त्याग, और दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही होता है; अत: वह बन सके, तो अवश्य करना। यदि कदाचित् न बने, तो एकदेश त्याग तो अवश्य करना चाहिए। श्रावक कुआँ-नदी का पानी, खान की मिट्टी इत्यादि किसी के बिना पूछे (दिये) ग्रहण करले, तो उसका नाम चोरी नहीं है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १०६, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ८७)

प्रश्न १५- चोरी किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जो प्रमादकषाय के योग से बिना दिये स्वर्ण, वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण करना है; उसे चोरी जानना चाहिए और वही (चोरी ही) वध का कारण होने से हिंसा है।'

---

१. **असत्य के चार भेद हैं**- (१) विद्यमान वस्तु का निषेध, (२) अविद्यमान को विद्यमान बताना, (३) विद्यमान पदार्थ को दूसरे पदार्थरूप कहना; जैसे, बैल को घोड़ा कहना, और (४) निन्दा, हिंसक और अप्रिय- ऐसे तीन प्रकार के वचन बोलना।
(आधार-श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९२ से ९५ की टीका, पृष्ठ ७८ से ८०)

-'अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥ १०२॥'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १०२ का अन्वयार्थ व गाथा, पृष्ठ ८४)

प्रश्न १६- ब्रह्मचर्याणुव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- अपनी विवाहिता स्त्री के सिवा अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना, सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। यही नियम स्त्रियों पर भी लागू होता है; अर्थात्, पुरुष को चाहिए कि अन्य स्त्रियों को माता, बहन, और पुत्री समान माने तथा स्त्री को चाहिए कि अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता, भाई, तथा पुत्र समान समझे।

-'निज वनिता विन सकल नारिसों रहै विरक्ता।'

अन्वयार्थ- अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना, वह ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ११ की द्वितीय पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १११)

-'ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥ ११०॥'

अन्वयार्थ- जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहिता स्त्री को ही छोड़ने में निश्चय समर्थ नहीं हैं, उन्हें बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन तो कदापि नहीं करना चाहिए।

टीका- जो जीव अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय के उदय से अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें भी संसार की अन्य समस्त स्त्रियों के साथ कामसेवन नहीं करना चाहिए और अपनी विवाहिता स्त्री में ही सन्तोष रखना चाहिए। यह एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ११०, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ८९)

-'अपनी पत्नी को छोड़ शेष सभी स्त्रियों को यथायोग्य माता, बहन, और पुत्री के समान मान कर उनमें रागपूर्ण व्यवहार न करना; उसे ब्रह्मचर्याणुव्रत अथवा स्वदारासन्तोष भी कहा जाता है।'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिः, गाथा २ का भावार्थ, पृष्ठ १९३)

प्रश्न १७- ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं?

उत्तर- 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा और 'चर्य' अर्थात् चरण करना। समस्त परपदार्थों में अत्यन्त उदासीनवृत्तिसहित निज आत्मा में चरना (रमना) ही ब्रह्मचर्य है। यही निश्चय ब्रह्मचर्य है और निश्चय ब्रह्मचर्यसहित; अर्थात्, अपनी आत्मा में स्थिरतापूर्वक स्त्रीमात्र के प्रति रागभाव का उत्पन्न न होना व्यवहार ब्रह्मचर्य है।

-'आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं
स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः।
एवं सत्यबलाः स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते
वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत्॥ २॥'

अर्थ- ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है, उसी के वह ब्रह्मचर्य होता है। ऐसा होनेपर यदि इन्द्रियविजयी होकर वृद्धा आदि स्त्रियों को क्रम से अपनी माता, बहन, और पुत्री के समान समझता है; तो वह ब्रह्मचारी होता है।

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिः, गाथा २ व अर्थ, पृष्ठ १९३)

-'बगेयलात्मगे ब्रम्हवेसरुंटु तन्नाप्त। गगनदोळगे तन्न मनवा॥
मिगे चरियिसलदु बलु ब्रम्हचरिय मु। क्तिगे बीजवदुनृपगुंटु॥ १०८॥
हेंगळ तोरेवुदु व्यवहार ब्रम्हच। यांग चित्तव नात्म नोळगे॥
हिंगदंतिरिसलु निश्चय ब्रम्हच। यांगवेंदवनरिदिहनु॥ १०९॥'

अर्थ- वस्तुतः विचार करने पर आत्मा का ही नाम ब्रह्म है। अपने आत्मरूपी आकाश में अपने मन का संचार कराना ही ब्रह्मचर्य है और यही मुक्ति का बीज है। स्त्रियों का त्याग करना, यह व्यवहार ब्रह्मचर्य है और अपने चित्त को आत्मानुरत करना निश्चयात्मक ब्रह्मचर्य है।

(भरतेशवैभव, प्रथम भाग, भोग विजय, दोहा १०८-१०९ व अर्थ, पृष्ठ २६७)

प्रश्न १८- अब्रह्मचर्य (कुशील) किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जो वेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद) के रागरूप योग से स्त्री-पुरुषों का सहवास कहा जाता है, वह अब्रह्म है और उस सहवास में प्राणीवध का सर्व स्थान में सद्भाव होने से हिंसा होती है।'

-'यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥ १०७॥'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १०७ का अन्वयार्थ व गाथा, पृष्ठ ८७)

प्रश्न १९- परिग्रहपरिमाणाणुव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- 'अपनी शक्ति का विचार करके परिग्रह मर्यादित रखना, सो परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है।'

-'अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै;'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ११ की तृतीय पंक्ति का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ १११)

-'योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं॥ १२८॥'

अन्वयार्थ- और जो धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि **परिग्रह**[1] सर्वथा छोड़ना शक्य न हो; तो उसे भी न्यून कर देना चाहिए। कारण कि त्यागरूप ही वस्तु का स्वरूप है।

भावार्थ- यदि सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग न कर सके, तो अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके ही परिग्रह रखना और शेष का त्याग करना। (यही परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है।)

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १२८, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ १००-१०१)

प्रश्न २०- परिग्रह किसे कहते हैं?

उत्तर- 'यह जो मूर्च्छा है, इसे ही निश्चय से परिग्रह जानना चाहिए और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्वरूप परिणाम ही मूर्छा है।'

-'या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः।। १११।।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १११ का अन्वयार्थ व गाथा, पृष्ठ ८९)

प्रश्न २१- हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, और परिग्रह- इन पाँच पापों का एक नाम क्या है?

उत्तर- इन पाँचों पापों का एक नाम हिंसा है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक किसी न किसीरूप में हिंसा का कारण है।

-'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।। ४२।।'

अन्वयार्थ- आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के कारण यह सब हिंसा ही हैं। असत्य वचनादिक के भेद केवल शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरणरूप कहे गये हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४७)

प्रश्न २२- सच्चे अणुव्रत किसे होते हैं?

उत्तर- निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक प्रथम दो कषायों (अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान) का अभाव हुआ हो, उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसके (अर्थात् निगोद से लेकर द्रव्यलिङ्गी तक के मिथ्यादृष्टि जीव के) व्रतों को सर्वज्ञ ने बालव्रत (अज्ञानव्रत)

---

१. **परिग्रह**- परिग्रह के दो भेद हैं- (१) अन्तरङ्ग (आभ्यन्तर) परिग्रह, और (२) बहिरङ्ग (बाह्य) परिग्रह।

-अन्तरङ्ग परिग्रह के १४ भेद हैं- (१) मिथ्यात्व, (२) पुरुषवेद, (३) स्त्रीवेद, (४) नपुंसकवेद, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा, (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया, और (१४) लोभ।

- बहिरङ्ग परिग्रह के दो भेद हैं- (क) अचित्त, और (ख) सचित्त।

(क)- **अचित्त**- सोना, चाँदी, मकान, वस्त्रादि चेतनारहित पदार्थ अचित्त हैं।

(ख)- **सचित्त**- पुत्र, कलत्र, दासी, दासादि चेतनासहित पदार्थ सचित्त है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ११५ से ११७ व टीका, पृष्ठ ९२-९३ के आधार से)

कहा है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ११, पृष्ठ १११ की पादटिप्पणी)

प्रश्न २३- गृहस्थों को अणुव्रत धारण करने का क्या लाभ होता है?

उत्तर- 'अतिचारनिकरि रहित ये पूर्वोक्त पञ्च अणुव्रतरूप निधि हैं सो देवलोकरूप फलकूँ फलै हैं; जिस देवलोक में अवधिज्ञान अर अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व वशित्व ये अष्ट महागुण हैं, अर धातु उपधातुरहित दिव्यशरीर पाइये है।'

-'पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥ ६३॥'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, गाथा ६३ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ ९३-९४)

प्रश्न २४- श्रावक के तीन गुणव्रत कौनसे हैं?

उत्तर- (१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत, और (३) अनर्थदण्डव्रत- ये श्रावक के तीन गुणव्रत हैं।

प्रश्न २५- दिग्व्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- दस दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा रखकर उस सीमा का उल्लंघन न करना, सो दिग्व्रत है।

-'दश दिश गमन प्रमाण ठान, तसु सीम न नाखै।'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ११ की अन्तिम पंक्ति का अन्वयार्थ व दोहा, पृष्ठ १११)

-'प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता॥ १३७॥'

अन्वयार्थ- भले प्रकार प्रसिद्ध ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणों से सभी दिशाओं में मर्यादा करके पूर्वादि दिशाओं में गमन न करने की प्रतिज्ञा करना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १३७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०७)

प्रश्न २६- देशव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- फिर उसमें (दिग्व्रत में) किन्हीं प्रसिद्ध-प्रसिद्ध गाँव, गली, मकान, उद्यान, तथा बाजार तक आने-जाने का माप रखकर अन्य सबका त्याग करना; उसे देशव्रत अथवा देशावगाशिकव्रत कहते हैं।

-'ताहूमें फिर ग्राम गली, गृह बाग बजारा;
गमनागमन प्रमाण ठान अन, सकल निवारा॥ १२॥'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १२ के पूर्वार्द्ध का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ ११२)

-'तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्॥ १३९॥'

अन्वयार्थ- और उस दिग्व्रत में भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का परिमाण करके मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर अपने निश्चित किये हुए समय तक जाने का त्याग करना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १३९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १०८)

प्रश्न २७- अनर्थदण्डत्यागव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- 'बिना प्रयोजन पाप के उत्पन्न करने के त्याग को अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १४१ की उत्थानिका, पृष्ठ १०९)

प्रश्न २८- अनर्थदण्डत्यागव्रत के कितने भेद हैं?

उत्तर- अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच भेद हैं- (१) अपध्यानत्यागव्रत, (२) पापोपदेशत्यागव्रत, (३) प्रमादचर्यात्यागव्रत, (४) हिंसादानत्यागव्रत, और (५) दुःश्रुतित्यागव्रत।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १४१ की उत्थानिका, पृष्ठ १०९)

प्रश्न २९- अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँचों भेदों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- (१) किसी के धन के नाश का, किसी की विजय का अथवा हार का ध्यान न करना अपध्यानत्यागव्रत है; (२) व्यापार और खेती से पाप होता है; इसलिये उसका उपदेश न देना पापोपदेशत्यागव्रत है; (३) प्रमाद से जलकायिक, पृथ्वीकायिक, वनस्पतिकायिक, अग्निकायिक, और वायुकायिक जीवों का घात न करना प्रमादचर्यात्यागव्रत कहलाता है; (४) तलवार, धनुष, हल, आदि हिंसा में कारणभूत होनेवाले पदार्थों को देकर यश न लेना हिंसादानत्यागव्रत कहलाता है; और (५) राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली कथाएँ (विकथा) कभी नहीं सुनना, सो दुःश्रुतित्यागव्रत कहा जाता है।

-'काहूकी धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै;
देय न सो उपदेश, होय अघ बनज कृषी तैं॥ १२॥
कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै;
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै।
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै;
और हु अनरथ दंड, हेतु अघ तिन्हैं न कीजै॥ १३॥'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १२ का उत्तरार्द्ध और छन्द १३ का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ ११३)

[अनर्थदण्डत्यागव्रत के भेदों के विस्तार के लिये **श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १४१ से १४७, पृष्ठ १०९ से ११३** का अध्ययन करें।]

प्रश्न ३०- श्रावक के चार शिक्षाव्रत कौनसे हैं?

उत्तर- (१) **सामायिक**[१], (२) **प्रोषधोपवास**[२], (३) भोगोपभोगपरिमाणव्रत, और (४) अतिथी-

---

१. **सामायिक-** 'सम्' अर्थात् एकरूप और 'अय' अर्थात् आत्मा के स्वरूप में गमन; वह समय हुआ। ऐसा 'समय' जिसका प्रयोजन

..............क्रमशः

संविभागव्रत- ये चार श्रावक के शिक्षाव्रत हैं।

प्रश्न ३१- सामायिक शिक्षाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- मन में निर्विकल्पता; अर्थात्, शल्य के अभाव को धारण करके हमेशा सामायिक करना, सो सामायिक शिक्षाव्रत है।

-'धर उर समताभाव, सदा सामायिक करिये;'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १४ की प्रथम पंक्ति का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ ११५)

-'रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यवलम्ब्य।

तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्।। १४८।।'

अन्वयार्थ- राग-द्वेष के त्याग से सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में साम्यभाव को अङ्गीकार करके आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूलकारण ऐसा सामायिक बहुत बार करना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १४८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११३)

प्रश्न ३२- प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- चार पर्व के दिनों में पापकार्यों को छोड़कर प्रोषधोपवास करना, सो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है।

-'परव चतुष्टयमाहि, पाप तज प्रोषध धरिये;'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १४ की दूसरी पंक्ति का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ ११६)

-'सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।

पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः।। १५१।।'

अन्वयार्थ- प्रतिदिन अङ्गीकार किये हुए सामायिकरूप संस्कार को स्थिर करने के लिये दोनों पक्ष के अर्द्धभाग में; अर्थात्, अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास करना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १५१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११५-११६)

प्रश्न ३३- भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- एक बार भोगा जा सके; ऐसी वस्तुओं का और बार-बार भोगा जा सके; ऐसी वस्तुओं का परिमाण करके-मर्यादा रखकर-मोह छोड़ना, सो भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत है।

है, उसे 'सामायिक' कहते है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १४८ का भावार्थ, पृष्ठ ११३)

२. **प्रोषधोपवास-** 'प्रोषध' अर्थात् पर्व और 'उपवास'; अर्थात्, निकटवास करना। पर्व में पाप से छूटकर धर्म में वास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १५१ का भावार्थ, पृष्ठ ११६)

–'भोग[१] और उपभोग[२], नियमकरि ममत निवारै;'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १४ की तृतीय पंक्ति का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ ११६)

–'भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।

अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥ १६१॥'

अन्वयार्थ- देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग के निमित्त से होनेवाली हिंसा होती है, अन्य प्रकार से नहीं होती; इसलिये वह दोनों; अर्थात्, भोग और उपभोग भी वस्तुस्वरूप और अपनी स्वशक्ति को जानकर; अर्थात्, अपनी शक्ति अनुसार छोड़ने योग्य है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १६१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १२२-१२३)

प्रश्न ३४- अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- वीतरागी मुनि को आहार देकर फिर स्वयं भोजन करे, उसे अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत कहते हैं।

–'मुनिको भोजन देय फेर, निज करहि अहारै॥'

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १४ की अन्तिम पंक्ति का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ ११६)

–'विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।

स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः॥ १६७॥'

अन्वयार्थ- दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ के द्वारा दिगम्बर मुनि को अपने और पर के अनुग्रह के लिये विशेष द्रव्य का; अर्थात्, देने योग्य वस्तु का भाग विधिपूर्वक अवश्य ही करना चाहिए।

भावार्थ- आये हुए योग्य अभ्यागत को प्रतिदिन भोजनादिक का दान करके पश्चात् स्वयं भोजन करे- ऐसा श्रावकों का नित्यकर्म है, उसे **अतिथि**[३]संविभाग कहते हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १६७ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १२८-१२९)

प्रश्न ३५- श्रावक को इन बारह व्रतों (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत) को निरतिचार पालन करने का क्या फल है?

उत्तर- जो जीव इन बारह व्रतों को निरतिचार (दोषरहित) पालन करता है और मृत्युकाल में

---

१. **भोग-** जो एकबार भोगने में आवे, उसे भोग कहते हैं; जैसे, दाल, भात, रोटी, दूध, पानी, मिठाई, पुष्पमाला, इत्यादि सभी भोग-पदार्थ हैं।

२. **उपभोग-** जो बार-बार भोगने में आवे, उसे उपभोग कहते हैं; जैसे, कपड़ा, बर्तन, घर, खेत, जेवर, गाय-बैल, सवारी इत्यादि सभी उपभोग-पदार्थ हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १६१ का भावार्थ, पृष्ठ १२३)

३. **अतिथि-** जिसके आगमन की तिथि (तारीख) का नियम न हो, उसे अतिथि कहते हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १६७, पृष्ठ १२८ की पादटिप्पणी)

समाधि धारण करके उन दोषों को दूर करता है, वह श्रावक के व्रतों का पालन करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है और वहाँ से मृत्यु प्राप्त करके मनुष्यपर्याय पाकर मुनि होकर मोक्ष जाता है।

-'बारह व्रतके अतीचार, पन-पन न लगावै;
मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावै।
यों श्रावक-व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै;
तहँतें चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै।। १५।।'

(छहढाल, चौथी ढाल, छन्द १५ का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ ११७)

-'इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्री:।। १८०।।'

अन्वयार्थ- जो इस प्रकार पञ्च अणुव्रतों की रक्षा के लिये समस्त शीलों को निरन्तर पालन करता है, उस पुरुष को मोक्षरूपी लक्ष्मी अतिशय उत्कण्ठित स्वयम्वर की कन्या की तरह स्वयं ही स्वीकार करती है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १८० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४४-१४५)

[व्यवहार देशचारित्र, उसके व्रतों, भेद-प्रभेदों, अतिचार, आदि के विस्तृत वर्णन करने के लिये श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४२ से १९६, पृष्ठ ४७ से १५६ तक का अध्ययन करें।]

सच्चे गुरु मिलते ही हैं।

जिसे भव की थकान लगी हो; जिसे आत्मा कैसा है वह समझने की सच्ची जिज्ञासा अन्तर में जागृत हुई हो, उसे सच्चे गुरु मिलते ही हैं।

(पूज्य गुरुदेवश्री, वचनामृत संख्या ९२, पृष्ठ ६६)

अनुभव की महिमा

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख सरूप।।'

अर्थ- अनुभव चिन्तामणि रत्न है, शान्तिरस का कुँआ है, मुक्ति का मार्ग है, और मुक्तिस्वरूप है।

(श्रीसमयसार-नाटक, उत्थानिका, दोहा १८, पृष्ठ १३)

व्यवहार सकलचारित्र

प्रश्न १- व्यवहार सकलचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- मिथ्यात्व और प्रथम तीन कषायों (अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, और प्रत्याख्यान) के क्षयोपशम से प्रगट हुई शुद्धि; अर्थात्, वीतराग अंश के साथ भूमिकानुसार यथायोग्य वर्तते हुए सहचारी रागांश (पञ्च महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि के शुभभाव) को व्यवहार सकलचारित्र कहते हैं। व्यवहार सकलचारित्र में हिंसादि पापों का सर्वदेश (सम्पूर्ण) त्याग होता है। इसे सराग सकलचारित्र भी कहते हैं। मुनिदशा में होनेवाला शुभभावरूप व्यवहार सकलचारित्र भी बन्ध का ही कारण है, मोक्ष का नहीं।

-'हिंसादिक के सर्वथा त्याग को सकलचारित्र कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४० का भावार्थ, पृष्ठ ४६)

-'मुनियों के व्रतों को सकलचारित्र कहते हैं।'

(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, श्री बरैयाजी, प्रश्न संख्या ११५, पृष्ठ २४)

-' **"चारित्रान्तर्भावात् तप: अपि आगमे मोक्षाङ्गम् गदितम् अत: एव अनिगूहितनिजवीर्यै: समहितस्वान्तै: तदपि निषेव्यं।" अर्थ**- सम्यक्चारित्र में समाविष्ट हो जाने के कारण तप को भी जैनसिद्धान्त में मोक्ष का कारण कहा गया है; अत: अपनी शक्ति छुपाये बिना मन को वशीभूत करके उस तप का भी आचरण करना चाहिए।'

भावार्थ- तप एक प्रकार का व्यवहारचारित्र है। व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र की, जो कि सम्यक्चारित्र है, उसकी प्राप्ति होती है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १९७ की टीका व भावार्थ, पृष्ठ १५७)

-'छठवें गुणस्थान के समय उन्हें (मुनिराज को) पञ्च महाव्रत, नग्नता, समिति आदि अट्ठाईस मूलगुणों के शुभभाव होते हैं (मुनिदशा के योग्य शुभभाव ही व्यवहार सकलचारित्र हैं)। किन्तु उसे वे (मुनिराज) धर्म नहीं मानते तथा उस काल में भी (शुभभावों के समय भी) उन्हें तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्ध परिणति निरन्तर वर्तती ही है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १ का भावार्थ, पृष्ठ १५१)

-'पञ्चमहाव्रतमूलं समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम्।
गुप्तिफलभारनम्रं सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम्॥ ३॥'

अर्थ- तथा वही चारित्र (व्यवहार सकलचारित्र) श्रीवर्द्धमान स्वामी तीर्थङ्कर भगवान ने तेरह प्रकार का कहा है। पाँच महाव्रत हैं मूल जिसका, तथा पाँच समिति हैं प्रसर (फैलाव) जिसका, और अत्यन्त निर्दोष तीन गुप्तिरूप फल के भार से नम्रीभूत- ऐसा चारित्ररूपी वृक्ष है।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टमः सर्गः, गाथा ३ व अर्थ, पृष्ठ १०२)

-'जो महाव्रत आदि अङ्गीकार करके सर्वज्ञ के आगम में कहा, वैसे संयम का आचरण करना और उसके अतिचार आदि दोषों को दूर करना संयमचरण चारित्र (व्यवहार सकलचारित्र) है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ५ का भावार्थ, पृष्ठ ६३)

-'छहकाय के लक्ष्य से महाव्रतों का पालन करना व्यवहारचारित्र है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ २२६)

-'चारित्र (व्यवहार सकलचारित्र), तपोधनों को (मुनियों को) आचारादि चरणग्रन्थों में विहित किए हुए मार्गानुसार प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान योग्य पञ्चमहाव्रत-पञ्चसमिति-त्रिगुप्ति -षडावश्यकादिरूप होता है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १६०, पृष्ठ २३३ की पादटिप्पणी)

प्रश्न २- सकलचारित्र का धारक कौन जीव होता है?

उत्तर- पञ्च महाव्रत आदि २८ मूलगुणों का धारक, प्रमत्त-अप्रमत्त, गुणस्थानवर्ती, निर्ग्रन्थ भावलिङ्गी मुनि ही निश्चय अथवा व्यवहार सकलचारित्र का धारक होता है।

-'निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।'

टीका- (जिसके अन्तरङ्ग में तो तीन कषायरहित शुद्धि का बल है तथा बाह्य में) पाँच पाप के सर्वथा सर्वदेश त्याग में जो जीव लगा है, वह मुनि है।

भावार्थ- सकलचारित्र का स्वामी तो मुनि है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४१ का पूर्वार्द्ध, टीका व भावार्थ, पृष्ठ ४७)

-'और निरागार (सकल) परिग्रह से रहित मुनि के होता है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा २१ का अर्थ, पृष्ठ ७४)

-'सो चारित्र समस्त अन्तरङ्ग परिग्रहतैं विरक्त जे अनगार कहिये गृह मठादि नियत स्थानरहित वनखण्डादिक में परम दयालु हुआ निरालम्ब विचरै ऐसे ज्ञानी मुनीश्वरनिकै सकल चारित्र है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, तृतीय अधिकार, सूत्र ५० का अर्थ, पृष्ठ ७४)

–'पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो।। २४०।।'

अन्वयार्थ- पाँच समितियुक्त, पाँच इन्द्रियों का संवरवाला, तीन गुप्तिसहित, कषायों को जीतनेवाला, दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण- ऐसा जो श्रमण वह संयत (सकलचारित्रधारी) कहा गया है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २४० व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४६९)

प्रश्न ३- श्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर- श्रमण; अर्थात्, प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती भावलिङ्गी मुनि। जो शत्रु और मित्र में, सुख और दुःख में, निन्दा और प्रशंसा में, सुवर्ण और पाषाण में, तथा जीवन और मरण में, समभाव रखता है- वही श्रमण है।

(चरणानुयोग-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या १५६, पृष्ठ २२)

–'समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पंससणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।। २४१।।'

अन्वयार्थ- जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, सुख और दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, जिसे लोष्ट (लोहा) और सुवर्ण समान है, तथा जीवन-मरण के प्रति जिसको समता है- वह श्रमण है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २४२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४७१-४७२)

–'मुनि किसे कहते हैं? इसकी लोगों को खबर नहीं है। मुनि तो परमेश्वर हैं जिनके तीनों कषायों का अभाव हुआ है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ ३१)

–'सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे।।'

अर्थ- यतिधर्म (मुनिधर्म) कैसा है? शुद्ध है, निर्दोष है, जिसमे पापाचरण का लेश नहीं है, निकल; अर्थात्, कला से निःक्रान्त है, सम्पूर्ण है, श्रावकधर्म की तरह एकदेश नहीं है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा २७ का उत्तरार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ ७७-७८)

–'निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वरूप में निरन्तर एकाग्रतापूर्वक रमण करना ही मुनिपना है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १ का भावार्थ, पृष्ठ १५१)

प्रश्न ४- श्रमण अर्थात् निर्ग्रन्थ साधु के कितने भेद हैं?

उत्तर- पाँच भेद है- (१) पुलाक, (२) बकुश, (३) कुशील, (४) निर्ग्रन्थ, और (५) स्नातक।

–'पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः निर्ग्रंथाः।। ४६।।'

अर्थ- पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक- ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र ४६ व अर्थ, पृष्ठ ६१२)

प्रश्न ५- इन पाँचों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर-(१) पुलाक- जो उत्तरगुणों की भावना से रहित हो और किसी क्षेत्र या काल में किसी मूलगुण में भी अतिचार लगावे तथा जिसके अल्प विशुद्धता हो, उसे पुलाक कहते हैं।

(२) बकुश- जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है किन्तु धर्मानुराग के कारण शरीर तथा उपकरणों की शोभा के लिये कुछ इच्छा रखता है, उसे बकुश कहते हैं।

(३) कुशील- इसके दो भेद हैं- **(क)** प्रतिसेवनाकुशील, और **(ख)** कषायकुशील। जिसके शरीरादि तथा उपकरणादि से पूर्ण विरक्तता न हो और मूलगुणों तथा उत्तरगुणों की परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुणों में क्वचित् कदाचित् विराधना होती हो, उसे प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं; और जिसने संज्वलन के सिवाय अन्य कषायों को जीत लिया हो, उसे कषायकुशील कहते हैं।

(४) निर्ग्रन्थ- जिनके मोहकर्म क्षीण हो गया है तथा जिनके मोहकर्म के उदय का अभाव है, ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि को निर्ग्रन्थ कहते हैं।

(५) स्नातक- समस्त घातिया कर्मों के नाश करनेवाले केवली भगवान को स्नातक कहते हैं। इसमें तेरहवाँ तथा चौदहवाँ दोनों गुणस्थान समझना।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र ४६ की टीका, पृष्ठ ६१३)

प्रश्न ६- पुलाक मुनि के किसी समय एक व्रत भङ्ग होनेपर भी उसे निर्ग्रन्थ कहा, तो क्या श्रावक को भी निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है?

उत्तर- 'पुलाक मुनि सम्यग्दृष्टि है और परवश से या जबरदस्ती से व्रत में क्षणिक दोष हो जाता है, किन्तु यथाजातरूप है; इसीलिये नैगमनय से वह निर्ग्रन्थ है। श्रावक के यथाजातरूप नग्नता नहीं है; इसीलिये उसके निर्ग्रन्थत्व नहीं कहलाता। यहाँ विशेष कि जो मुनि (नामधारी) उद्देशिक और अधःकर्म के आहार-जल को जानते हुए भी लेते हैं, उनकी गणना पुलकादि किसी भेद में नहीं है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र ४६ की टीका, पृष्ठ ६१४)

प्रश्न ७- यदि पुलाक मुनि को निर्ग्रन्थ संज्ञा उसके यथाजातरूप के कारण है, तो अनेक नग्न रहनेवाले मिथ्यादृष्टियों को भी निर्ग्रन्थ मानना होगा?

उत्तर- 'उनके (मिथ्यादृष्टि-नग्न जीवों के) सम्यग्दर्शन नहीं है। मात्र नग्नत्व तो पागल के, बालक के, तथा तिर्यञ्चों के भी होता है; परन्तु सम्यग्दर्शनरहित होने के कारण वे निर्ग्रन्थ नाम नहीं पाते। किन्तु जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक संसार, देह, और भोगों से विरक्त होकर नग्नत्व धारण करता है; चारित्रमोह की तीन जाति के कषायों का अभाव किये है, उसे निर्ग्रन्थ कहा जाता है; दूसरे

को नहीं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र ४६ की टीका, पृष्ठ ६१४)

प्रश्न ८- मुनियों (श्रमणों; साधुओं) के दो भेद क्या हैं?

उत्तर- शास्त्रों में सङ्घ में रहने और अकेले रहने की अपेक्षा से साधुओं (श्रमणों) के दो भेद कहे हैं- (१) स्थविरकल्पी, और (२) जिनकल्पी।

-'नाना विधि संकट-दसा, सहि साधै सिवपंथ।
थविरकल्पि जिनकल्पि धर, दोउ सम निगरंथ।। ९०।।
जो मुनि संगतिमैं रहै, थविरकल्पि सो जान।
एकाकी जाकी दसा, सो जिनकल्पि बखान।। ९१।।'

अर्थ- स्थविरकल्पि और जिनकल्पि दोनों प्रकार के साधु एकसे निर्ग्रन्थ होते हैं और अनेक प्रकार की परीषह जीतकर मोक्षमार्ग साधते हैं।। ९०।। जो साधु सङ्घ में रहते हैं, वे स्थविरकल्पि हैं और जो एकलविहारी हैं, वे जिनकल्पधारी हैं।। ९१।।

(श्रीसमवसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ९०-९१ व अर्थ, पृष्ठ ३९७)

प्रश्न ९- श्रमण के पर्यायवाची नाम क्या हैं?

उत्तर- इसके (श्रमण के) मुनि, यति, अनगार, श्रमण, आदि अनेक नाम हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७४३ से ७४५ का विशेषार्थ, पृष्ठ २७१)

प्रश्न १०- श्रमण के मूलगुण कितने हैं?

उत्तर- श्रमण; अर्थात्, जैनसाधु (मुनि) के २८ मूलगुण होते हैं- (१) पाँच महाव्रत, (२) पाँच समिति, (३) पाँच इन्द्रियविजय, (४) छः आवश्यक, और (५) सात शेषगुण। (५महाव्रत + ५ इन्द्रियविजय + छः आवश्यक + सात शेषगुण = २८ मूलगुण)। इनके अर्थात् मूलगुणों के उत्तरगुण चौरासी लाख कहे गये हैं।

-'यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन।। ७४३।।'

अर्थ- यति के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। वे ऐसे हैं जैसे कि वृक्ष का मूल होता है। कभी भी इनमें से न तो कोई कम होता है और न ही अधिक होता है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७४३ व अर्थ, पृष्ठ २७०)

-'वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।'

अर्थ- पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध करना, केशलोच, छः आवश्यक,

सारणी ३४: व्यवहार सकलचारित्र के २८ मूलगुण

व्यवहार सकलचारित्र (शुभोपयोग) २८ मूलगुण

- पांच महाव्रत
  - अहिंसा
  - सत्य
  - अचौर्य
  - ब्रह्मचर्य
  - अपरिग्रह
- पांच समिति
  - ईर्या
  - भाषा
  - ऐषणा
  - आदाननिक्षेपण
  - प्रतिष्ठापना
- पांच इन्द्रियविजय
  - स्पर्शन
  - रसना
  - घ्राण
  - चक्षु
  - कर्ण
- छः आवश्यक
  - सामायिक
  - वन्दना
  - स्तुति
  - प्रतिक्रमण
  - स्वाध्याय (प्रत्याख्यान)
  - ध्यान (कायोत्सर्ग)
- सात शेषगुण
  - नग्नत्व
  - केशलुंचन
  - भूमिशयन
  - दंतधावनत्याग
  - खड़े-खड़े आहार लेना
  - स्नानत्याग
  - दिन में एक बार आहार लेना

आधार–श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, प्रस्तावना, पृष्ठ २८–२९।
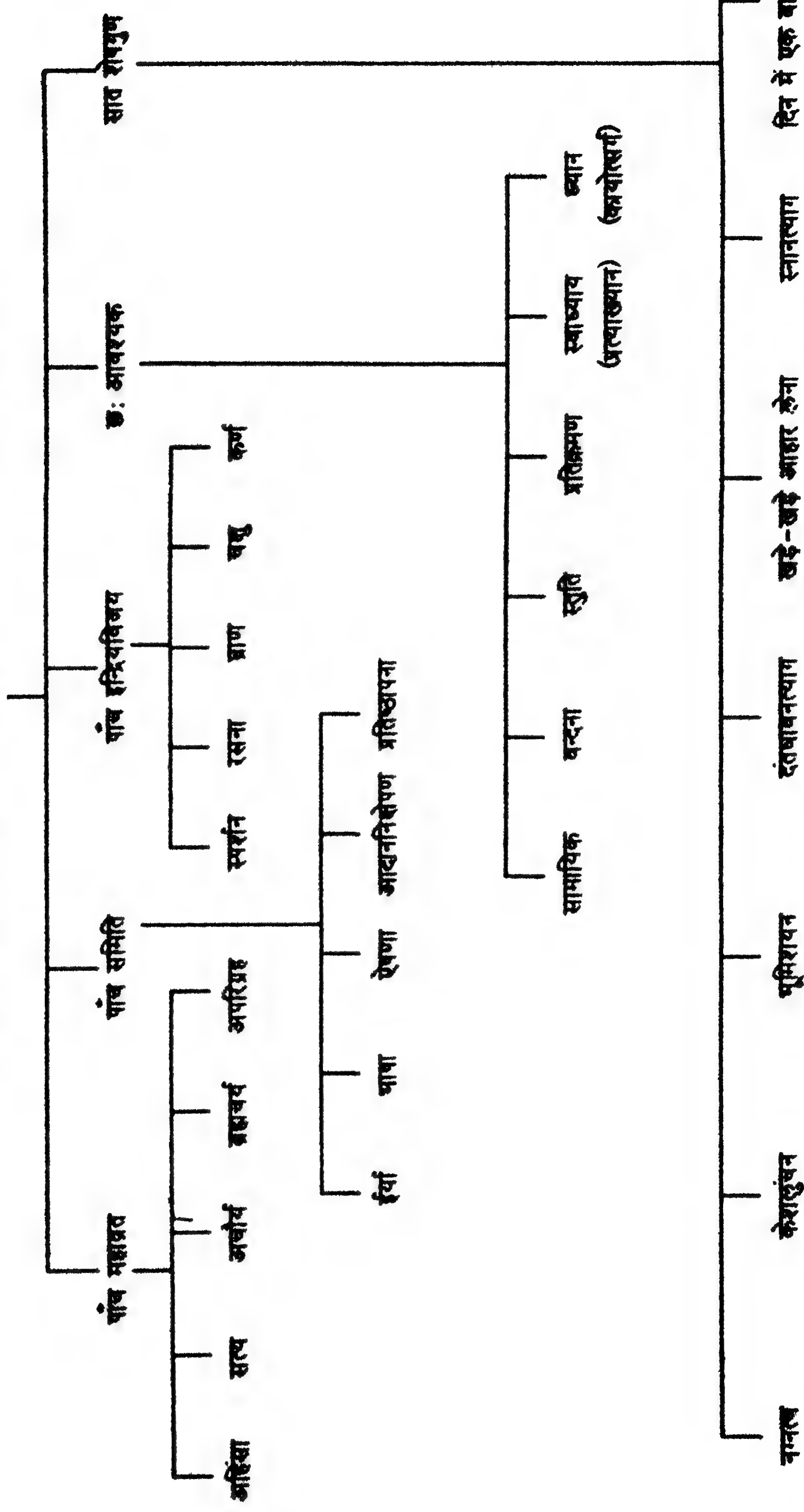
नग्न रहना, स्नान नहीं करना, जमीन पर सोना, दन्तधावन नही करना, खड़े होकर आहार लेना, और एकबार भोजन करना- ये अट्ठाईस मूलगुण हैं।

(आधार-श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७४४ का उद्धरण, पृष्ठ २७०)

-'**एते मूलगुणा: प्रोक्ता: यतीनां जैनशासने।**
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञका:।। ७४५।।'

अर्थ- जैनशासन में यतियों के ये मूलगुण कहे हैं; उनके उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा ७४५ व अर्थ, पृष्ठ २७०)

-'**पंच महाव्रत पालै पंच समिति संभालै, पंच इंद्री जीति भयौ भोगी चित चैनकौ।**
षट आवश्यक क्रिया दर्वित भावित साधै, प्रासुक धरामैं एक आसन है सैनकौ।।
मंजन न करै केश लुंचै तन वस्त्र मुंचै, त्यागै दंतवन पै सुगंध स्वास वैनकौ।
ठाड़ौ करसे आहार लघुभुंजी एक बार, अट्ठाइस मूलगुनधारी जती जैनकौ।।८०।।'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दशगुणस्थानाधिकार, दोहा ८०, पृष्ठ ३९२)

पञ्च महाव्रत

प्रश्न ११- महाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- निश्चयरत्नत्रयपूर्वक तीनों योग (मन-वचन-काय) तथा करने-कराने-अनुमोदने के भेदसहित हिंसादि पाँच पापों के सर्वथा त्याग का नाम महाव्रत है।

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-सग्रह, पृष्ठ १८५)

-'पाँच पापों का सर्वथा त्याग जिनमें होता है, वे पॉच महाव्रत कहलाते हैं।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३० का भावार्थ, पृष्ठ ७९)

-'**हिंसायामनृते स्तेये मैथुने च परिग्रहे।**
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकै:।। ६।।'

अर्थ- हिंसा, अनृत (असत्य), चोरी, मैथुन, और परिग्रह- इन (पाँच) पापों में विरति कहिए त्यागभाव होना ही व्रत (महाव्रत) है। समस्त जीवों पर दयालु मुनियों ने ऐसा ही कहा है।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टम: सर्ग:, गाथा ६ व अर्थ, पृष्ठ १०३)

-'निश्चय से विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावी निजात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी सुधा के आस्वाद के बल से समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्पों की निवृत्ति, वह व्रत है। व्यवहार से निश्चयव्रत के साधक (निमित्त) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, और परिग्रह के आजीवन त्याग लक्षणरूप पाँच प्रकार के व्रत हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ ११५)

प्रश्न १२- महाव्रत कितने हैं?

उत्तर- महाव्रत पाँच हैं; इसलिये इनको पञ्चमहाव्रत कहते हैं- (१) अहिंसामहाव्रत, (२) सत्यमहाव्रत, (३) अचौर्यमहाव्रत (अस्तेयमहाव्रत), (४) ब्रह्मचर्यमहाव्रत, और (५) अपरिग्रहमहाव्रत।

-'हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य।। ३०।।'

अर्थ- प्रथम तो हिंसा से विरति अहिंसा है, दूसरा असत्यविरति है, तीसरा अदत्तविरति है, चौथा अब्रह्मविरति है, और पाँचवाँ परिग्रहविरति है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३० व अर्थ, पृष्ठ ७९)

-'हिंसा मृषा अदत्त धन, मैथुन परिगह साज।
किंचित त्यागी अनुव्रती, सब त्यागी मुनिराज।। ८१।।'

अर्थ- हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, और परिग्रह- इन पाँचों पापों के किञ्चित् त्यागी अणुव्रती श्रावक और सर्वथा त्यागी महाव्रती साधु होते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ८१ व अर्थ, पृष्ठ ३९३)

प्रश्न १३- पाँचों महाव्रतों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- छः काय के जीवों की रक्षा करना और राग-द्वेष-मोह को मन से हटाना अहिंसामहाव्रत है। कभी थोड़ा भी झूठ न बोलना सत्यमहाव्रत है। बिना दिया जल, मिट्टी, और तृण भी नहीं लेना अचौर्यमहाव्रत है। शील के अट्ठारह हजार भेदों का पालन करते हुए स्त्रीमात्र का त्याग करना और सदा अपने आत्मा में ही लीन रहना ब्रह्मचर्यमहाव्रत है। चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग और बारह प्रकार के बाह्य परिग्रह से सर्वथारहित होना परिग्रहत्यागमहाव्रत है।

(चरणानुयोग-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या १६३, पृष्ठ २३)

प्रश्न १४- अहिंसामहाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- द्रव्य और भावहिंसा के सर्वथा त्याग को अहिंसामहाव्रत कहते हैं।

-'षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी;
रागादि भाव निवारतै, हिंसा न भावित अवतरी।'

अन्वयार्थ- छह काय के जीवों को घात न करने के भाव से सर्वप्रकार की **द्रव्यहिंसा**[1] दूर हो जाती है और राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों को दूर करने से **भावहिंसा**[2]

---

१. **द्रव्यहिंसा**- छहकाय (पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरकाय और एक त्रसकाय) के जीवो का घात करनां द्रव्यहिंसा है।

२. **भावहिंसा**- राग-द्वेष, क्रोध, काम, मान, माया, लोभ आदि भावों की उत्पत्ति होना सो भावहिंसा है।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १ का भावार्थ, पृष्ठ १५३)

भी नहीं होती।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५१)

-'वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते।

चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम्॥ ८॥'

अर्थ- जिसमें मनवचनकाय से त्रस और स्थावर जीवों का घात स्वप्न में भी न हो, उसे आद्यव्रत (प्रथम महाव्रत-अहिंसा) कहते हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टमः सर्गः, गाथा ८ व अर्थ, पृष्ठ १०३)

प्रश्न १५- बन्ध का कारण द्रव्यहिंसा है अथवा भावहिंसा?

उत्तर- वास्तव में बन्ध का कारण एकमात्र भावहिंसा है। यदि द्रव्यहिंसा भी बन्ध का कारण हो, तो प्रमादरहित और ईर्यासमिति के पालनसहित गमन करते हुए भावलिङ्गी मुनिवरों के पाँव के नीचे अकस्मात आकर मर जानेवाले जीव के घात से उन मुनिवरो को भी बन्ध (पापबन्ध) होगा। लेकिन ऐसा नहीं है; अतः बन्ध का कारण भावहिंसा है, द्रव्यहिंसा नही।

-'मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम्।

बन्ध एव न बन्धः स्याद्धिंसायाः संवृतात्मनाम्॥ ९॥'

अर्थ- जीवों के मरते वा जीते प्रमादी पुरुषों को तो निरन्तर ही हिंसा का पापबन्ध होता ही रहता है और संवरसहित अप्रमादी हैं, उनको जीवों की हिंसा होते हुए भी हिंसारूप पाप का बन्ध नहीं होता।

भावार्थ- कर्मबन्ध होने में प्रधान कारण आत्मा के परिणाम हैं। इस कारण जो प्रमादसहित बिना यत्न के प्रवर्तते हैं, उनको तो जीव मरे या न मरे किन्तु कर्मबन्ध होता ही है और जो प्रमादरहित यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, उनके (यदि) दैवयोग से जीव मरे तो भी कर्मबन्ध नहीं होता।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टमः सर्गः, गाथा ९, अर्थ व भावार्थ, पृष्ठ १०३)

-'सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात भी बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो जो समिति में तत्पर हैं, उनके (अर्थात्, जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, ऐसे साधुओं के) भी (सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं के घात से) बन्ध का प्रसङ्ग आ जायेगा। इसलिये न्यायबल से ही यह फलित हुआ कि उपयोग में रागादिकरण (अर्थात् उपयोग में रागादिक का करना) बन्ध का कारण है।'[१]

(श्रीसमयसार, गाथा २३७ से २४१ की टीका, पृष्ठ ३५६)

---

१. 'यहाँ समितिरूप से मुनियों का नाम तो लिया लेकिन देशविरत व अविरत सम्यक्दृष्टियों का नाम नहीं लिया। उसका कारण यह है कि अविरत और देशविरत को बाह्य समितिरूप प्रवृत्ति नहीं है; इस कारण चारित्रमोह-सम्बन्धी राग से किञ्चित् बन्ध होता है; अतः सर्वथा बन्ध के अभाव की अपेक्षा में उनको नहीं लिया। बाकी, अन्तरङ्ग स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से तो उन्हें आंशिक निर्बन्ध मानना ही चाहिए।'

(श्रीसमयसार, गाथा २३७ से २४२ पर पू० गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ २३)

[अहिंसामहाव्रत के विस्तृत वर्णन और भेद-प्रभेदों के लिये -**श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४२ से ९०, पृष्ठ ४७ से ७७; और श्रीज्ञानार्णव, अष्टमः सर्गः, गाथा ७ से ५९, पृष्ठ १०३ से ११२** व दूसरे चरणानुयोग के ग्रन्थों का अध्ययन करें।]

प्रश्न १६- सत्यमहाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- **स्थूल**[1] व **सूक्ष्म**[2] झूठ के सर्वथा त्याग को सत्यमहाव्रत कहते हैं।

-**'जिनके न लेश मृषा'**- उन मुनियों (सत्यमहाव्रत के धारी मुनियों) के किञ्चित् झूठ नहीं होता।'

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १ की तीसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५१)

-**'सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमानाकुलम्।**

अग्राम्यं गौरवाश्लिष्ट वचः शास्त्रे प्रशस्यते॥ ५॥'

अर्थ- जो वचन सत्य हो, करुणा से व्याप्त हो, विरुद्ध न हो, आकुलतारहित हो, छोटे ग्राम का-सा गँवारीवचन न हो, और गौरवसहित हो; अर्थात्, जिसमें हल्कापन नहीं हो, वह वचन शास्त्रों में प्रशसित किया गया है।

(श्रीज्ञानार्णव, नवमः सर्गः, गाथा ५ व अर्थ, पृष्ठ ११३)

[सत्यमहाव्रत के विस्तृत वर्णन व भेद-प्रभेदों के लिये- **श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९१ से १०१, पृष्ठ ७८ से ८३; और श्रीज्ञानार्णव, नवमः सर्गः, गाथा १ से ४२, पृष्ठ ११३ से ११९** व दूसरे चरणानुयोग के ग्रन्थों का अध्ययन करें।]

प्रश्न १७- अचौर्यमहाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- मिट्टी-पानीसहित किसी भी वस्तु को बिना दिये ग्रहण न करना, अचौर्यमहाव्रत है। इसे अस्तेयमहाव्रत भी कहते हैं।

-**'न जल, मृण हू बिना दीयो गहैं;**- (महाव्रतों के धारी मुनि) पानी और मिट्टी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते।'

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १ की तीसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५१)

-**'यः समीप्सति जन्माब्धेः पारमाक्रमितुं सुधीः।**

स विशुद्धयातिनिःशङ्को नादत्ते कुरुते मतिम्॥ २॥'

अर्थ- जो पुरुष संसार समुद्र से पार होने की इच्छा रखता है, वह सुबुद्धि निःशङ्क (निःशल्य)

---

१. **स्थूल झूठ**- छेदन, भेदन, मारण, शोषण, चोरी, अदि के वचन स्थूल झूठ है। इन्हें सावद्य असत्य भी कहते हैं।

२. **सूक्ष्म झूठ**- अप्रिय वचन सूक्ष्म झूठ है। इसे अप्रिय असत्य भी कहते हैं।

(आधार-श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ९७ व ९८ टीका, पृष्ठ ८१)

होकर मनवचनकाय से अदत्त[1] वस्तु के ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता।

(श्रीज्ञानार्णव, दशमः सर्गः, गाथा २ व अर्थ, पृष्ठ १२०)

[अचौर्यमहाव्रत के विस्तृत वर्णन व भेद-प्रभेदों के लिए- **श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १०२ से १०६, पृष्ठ ८४ से ८७ और श्रीज्ञानार्णव, दशमः सर्गः, अस्तेय-महाव्रत, गाथा १ से २०, पृष्ठ १२० से १२३** व दूसरे चरणानुयोग के ग्रन्थों का अध्ययन करें।]

प्रश्न १८- ब्रह्मचर्यमहाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- ब्रह्मचर्य का अर्थ निजात्मा में चरना (रमना) है। व्यवहाररूप से शील; अर्थात्, ब्रह्मचर्य के १८ हजार भेदों का पालन करना, और निश्चय से चैतन्यरूप निज आत्मस्वरूप में लीन रहना ही ब्रह्मचर्यमहाव्रत कहलाता है।

-**'अठदशसहस विध शील धर, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं।'**

अन्वयार्थ- (ब्रह्मचर्यमहाव्रत के धारी मुनि) अट्ठारह हजार प्रकार के शील को- ब्रह्मचर्य को -धारण करके सदा चैतन्यस्वरूप आत्मा मे लीन रहते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १ की अन्तिम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५१)

-**'विदन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः।**
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम्।। १।।'

अर्थ- जिस व्रत का आलम्बन करके योगीगण परमब्रह्म परमात्मा को जानते हैं; अर्थात्, उसे अनुभवते हैं और जिसको धीर वीर पुरुष ही धारण कर सकते हैं; लेकिन सामान्य मनुष्य धारण नहीं कर सकते, वह ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत है।

(श्रीज्ञानार्णव, एकादशः सर्गः, गाथा १ व अर्थ, पृष्ठ १२४)

-'ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है, उसी के वह (निश्चय) ब्रह्मचर्य होता है।' तथा,

-'शेष स्त्रियो के समान अपनी पत्नी के भी विषय में भी अनुरागबुद्धि न रखना, यह (व्यवहार) ब्रह्मचर्यमहाव्रत कहलाता है जो मुनि के होता है।'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिः, गाथा २ का अर्थ व विशेषार्थ, पृष्ठ १९३)

प्रश्न १९- ब्रह्मचर्य अर्थात् शील के अठारह हजार भेद कौनसे हैं?

---

१. **अदत्त-** अर्थात् बिना दी हुई। अदत्तवस्तु का ग्रहण करना चोरी है; लेकिन यह ग्रहण प्रमादसहित हो तभी चोरी कहलाता है। इसलिये प्रमाद न होनेपर मुनिराज नदी तथा झरने आदि का प्रासुक हुआ जल, भस्म (राख) तथा अपने आप गिरे हुए सेमल के फल और तुम्बीफल ग्रहण कर सकते हैं।

(श्रीश्लोकवार्तिकालङ्कार, पृष्ठ ४६३, आधार-छहढाला, छठवीं ढाल, पृष्ठ १५३ की पादटिप्पणी)

उत्तर- ब्रह्मचर्य के १८ हजार भेदों का पालन करने का तात्पर्य मैथुनकर्म के दोषरूप १८ हजार भेदों का त्याग करना है। मैथुन कर्म को दो भागों में बाँटा गया है- (१) अचेतन स्त्री, और (२) चेतन स्त्री।

अचेतन स्त्री के साथ मैथुन कर्म के ७२० दोष हैं; और चेतन स्त्री के साथ मैथुन कर्म के १७ हजार २८० दोष हैं।

१. अचेतन स्त्री- तीन प्रकार की (कठोर स्पर्श, कोमल स्पर्श, और चित्रपट); उनके साथ तीन करण (करना, कराना, और अनुमोदन करना) से; दो योग (मनयोग और वचनयोग) द्वारा; पाँच इन्द्रियों (कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना, और स्पर्श) से; चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह) सहित द्रव्य से और भाव से (दो) सेवन- इस प्रकार ७२० भेद हुए। (३x३x२x५x४x२=७२०)

२. चेतन स्त्री- तीन प्रकार की (देवी, मनुष्यणी और तिर्यञ्चणी); उनके साथ तीन करण (करना, कराना, और अनुमोदन करना) से; तीन योग (मनयोग, वचनयोग, और काययोग) द्वारा; पाँच इन्द्रियों (कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना, और स्पर्शन) से; चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह) सहित; द्रव्य से और भाव से (दो); चार क्रोध (अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय, और सज्वलन); चार मान; चार माया; और चार लोभ से सेवन इस प्रकार १७ हजार २८० भेद हुए।

(३x३x३x५x४x२x१६=१७२८०)

कुल मिलाकर ७२०+१७२८०=१८००० भेद मैथुन कर्म के दोषरूप भेद हैं; उनका अभाव सो शील है। इन दोषरहित शील अर्थात् ब्रह्मचर्य को निर्मलस्वभाव कहते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल का भेद-संग्रह, पृष्ठ १८३)

[**विशेष**- **(१)** श्रीज्ञानार्णव में मैथुन (कामसेवन) दस प्रकार का बताया है-

-'आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते।। ७।।
योषिद्विषसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्त्तितम्।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम्।। ८।।
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम्।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम्।। ९।।'

अर्थ- (१) शरीर का संस्कार (श्रृङ्गारादि) करना, (२) पुष्टरस का सेवन करना, (३) तौर्यत्रिक कहिये गीतनृत्यवादित्र का देखना-सुनना, (४) स्त्री का संसर्ग करना, (५) स्त्री में किसी प्रकार का सङ्कल्प या विचार करना, (६) स्त्री के अङ्ग देखना, (७) उस देखने का संस्कार (हृदय में अङ्कित) रहना, (८) पूर्व में किये हुए भोग-सम्भोग का स्मरण करना, (९) आगामी भोगने की चिन्ता करनी,

और (१०) शुक्र का क्षरण। इस प्रकार मैथुन के दश भेद हैं। इन्हें ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्यमहाव्रत के धारी) को सर्वथा त्यागना चाहिए। **-श्रीज्ञानार्णव, एकादशः सर्गः, ब्रह्मचर्य महाव्रत, गाथा ७, ८, ९ व अर्थ, पृष्ठ १२५;**

(२) ब्रह्मचर्यमहाव्रत के विस्तृत वर्णन व भेद-प्रभेदों के लिये **-श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १०७ से ११०, पृष्ठ ८७ से ८९ और श्रीज्ञानार्णव**, एकादशः सर्गः, **ब्रह्मचर्य महाव्रत से लेकर पञ्चदशः सर्गः, -वृद्धसेवा की प्रशंसा, पृष्ठ १२४ से १६४** तक व दूसरे चरणानुयोग के ग्रन्थों का अध्ययन करें।]

प्रश्न २०- अपरिग्रहमहाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर- चौदह प्रकार के **अन्तरङ्ग**[1] और दस प्रकार के **बाह्य परिग्रह**[2] के सर्वथा त्याग को अपरिग्रहमहाव्रत अथवा परिग्रहत्यागमहाव्रत कहते हैं।

-'अंतर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दसधा तैं टलैं;'

अन्वयार्थ- (परिग्रहत्यागमहाव्रत के धारी वीतरागी दिगम्बर जैनमुनि) चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग और दस प्रकार के बहिरङ्ग परिग्रह से रहित होते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द २ की प्रथम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५४)

-'दश ग्रन्था मता बाह्या अन्तरङ्गाश्चतुर्दश।
तान्मुक्त्वा भव निःसंगो भावशुद्ध्या भृशं मुने।। ३।।'

अर्थ- बाहर के परिग्रह तो दश हैं, और अन्तरङ्ग के परिग्रह चौदह हैं। सो हे मुने! इन दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर अत्यन्त निःसङ्ग (निष्परिग्रहरूप) हो, यह उपदेश है।

(श्रीज्ञानार्णव, षोडशः सर्गः, गाथा ३ व अर्थ, पृष्ठ १६५)

---

१. **चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह- 'मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव।**
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः।।'

अर्थ- मिथ्यात्व, तीन वेदराग (स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद), छः हास्यादिक (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, और जुगुप्सा) और चार कषाय (क्रोध, मान, माया, और लोभ)- इस प्रकार अन्तरङ्ग के चौदह परिग्रह हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, षोडशः सर्गः, गाथा ६ का अर्थ, पृष्ठ १६६)

-'मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, और लोभ- ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ४९ का भावार्थ, पृष्ठ १७०)

२. **दस बाह्य परिग्रह- 'वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः।**
शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डममी दश।। ४।।'

अर्थ- वास्तु (घर), क्षेत्र (खेत), धन, धान्य, द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (पशु, हाथी, घोड़े), शयनासन, यान, कुप्य और भांड- ये बाहर के दश परिग्रह हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, षोडशः सर्गः, गाथा ४ व अर्थ, पृष्ठ १६५)

-'क्षेत्र, वास्तु (घर), हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांडरूप दस बाह्य परिग्रह हैं।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ४९ का भावार्थ, पृष्ठ १७०)

[अपरिग्रहमहाव्रत के विस्तृत वर्णन व भेद-प्रभेदों के लिये **श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १११ से १२८ तक, पृष्ठ ८९ से १०१ तक, और श्रीज्ञानार्णव, षोडशः सर्गः, परिग्रहत्याग महाव्रत, गाथा १ से ४२, पृष्ठ १६५ से १७१ तक** व दूसरे चरणानुयोग ग्रन्थों का अध्ययन करें।]

प्रश्न २१- पाँच महाव्रतों की शुद्धता (दृढ़ता; निर्मलता) के लिये जिनागम में क्या उपाय बताया है?

उत्तर- जिनागम में प्रत्येक महाव्रत की पाँच **भावनाओं**[1]; अर्थात्, कुल २५ (पच्चीस) भावनाओं का उल्लेख है जिनके मानने (अभ्यास करने) से पञ्च महाव्रतों में शुद्धता अर्थात् दृढ़ता होती है।

-'महाव्रतविशुद्धयर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः।
परमासाद्य निर्वेदपदवीं भव्य भावय॥ २॥'

अर्थ- आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य! ये पाँच महाव्रत कहे। उनकी शुद्धता (निर्मलता) के लिये पच्चीस भावना कही हैं। उन्हें अङ्गीकार करके वैराग्य पदवी की भावना कर।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा २ व अर्थ, पृष्ठ १७६)

-'तत्स्थैयार्थं भावनाः पंच पंच॥ ३॥'

अर्थ- उन व्रतों की स्थिरता के लिये प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र ३ व अर्थ, पृष्ठ ४६४)

प्रश्न २२- अहिंसामहाव्रत की पाँच भावना कौनसी हैं?

उत्तर- 'वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ऐसे दो तो गुप्तियाँ; ईर्यासमिति; भले प्रकार कमण्डल आदि का ग्रहण निक्षेप, यह आदाननिक्षेपणासमिति; और अच्छी तरह देखकर विधिपूर्वक शुद्ध भोजन करना, यह एषणासमिति; इस प्रकार ये पाँच अहिंसामहाव्रत की भावना हैं।'

-'वयगुत्ती मणगुत्ती इरयासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोय भोयणाए अहिंसए भावणा होंति॥ ३२॥'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३२ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ ७९-८०)

-'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच॥ ४॥'

अर्थ- वचनगुप्ति-वचन को रोकना; मनगुप्ति-मन की प्रवृत्ति को रोकना; ईर्यासमिति-चार हाथ जमीन देखकर चलना; आदाननिक्षेपणसमिति-जीवरहित भूमि देखकर सावधानी से किसी वस्तु को उठाना धरना; और आलोकितपानभोजन-देखकर-शोधकर भोजन-पानी ग्रहण करना- ये पाँच

---

१. **भावना-** भावना नाम बारम्बार उस ही के अभ्यास करने का है। इनके निरन्तर अभ्यास से महाव्रत दृढ़ रहते हैं, इसी आशय से इनको भावना कहते हैं।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३२ का भावार्थ, पृष्ठ ८०)

अहिंसाव्रत की भावनाएँ हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र ४ व अर्थ, पृष्ठ ४६५)

प्रश्न २३- सत्यमहाव्रत की पाँच भावना कौनसी हैं?

उत्तर- 'क्रोध, भय, हास्य, लोभ, और मोह इनसे विपरीत इनका अभाव- ये द्वितीय व्रत सत्यमहाव्रत की भावना हैं।'

-**'कोहभयहासलोहा मोहाविपरीयभावणा चेव।**
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति॥ ३३॥'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३३ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ ८०)

-**'क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच॥ ५॥'**

अर्थ- क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान, और शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना- ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र ५ व अर्थ, पृष्ठ ४६६)

[**विशेष**- श्रीचारित्रपाहुड में सत्यमहाव्रत की पञ्चम भावना 'मोह त्याग' बताया है, और श्रीतत्त्वार्थसूत्र में (अनुवीचीभाषण) शास्त्र के आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना बताया है। सो जीव मोह के सद्भाव में (निमित्त से) सूत्रविरुद्ध बोलता है और मोह का अभाव होनेपर सूत्र विरुद्ध नहीं बोलता; अर्थात्, शास्त्र की आज्ञानुसार ही बोलता है। दोनों ग्रन्थों के शब्दों में भेद हैं, अर्थभेद नहीं हैं। **-आधार -श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३३ का भावार्थ, पृष्ठ ८०**]

प्रश्न २४- अचौर्यमहाव्रत की पाँच भावना कौनसी हैं?

उत्तर- 'शून्यागार; अर्थात्, गिरि, गुफा, तरु, कोटरादि में निवास करना; विमोचितावास; अर्थात्, जिसको लोगों ने किसी कारण से छोड़ दिया हो, इस प्रकार के गृह, ग्रामादिक में निवास करना; परोपरोध; अर्थात्, जहाँ दूसरे की रुकावट न हो, वस्तिकादिक को अपनाकर दूसरे के रोकने का कार्य नहीं करना; एषणाशुद्धि; अर्थात्, आहार शुद्ध लेना और साधर्मियों से विसंवाद नहीं करना -ये पाँच भावना तृतीय महाव्रत (अचौर्यमहाव्रत) की हैं।'

-**'सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं परोधं च।**
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो॥ ३४॥'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३४ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ ८०-८१)

-**'शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच॥ ६॥'**

अर्थ- शून्यागारवास- पर्वतों की गुफा, वृक्ष की पोल इत्यादि निर्जन स्थानों में रहना; विमोचितावास- दूसरों के द्वारा छोड़े गये स्थान में निवास करना; किसी स्थान पर रहते हुये दूसरों को

न हटाना तथा यदि कोई अपने स्थान में आवे, तो उसे न रोकना; शास्त्रानुसार भिक्षा (आहार) की शुद्धि रखना, और साधर्मियों के साथ यह मेरा है- यह तेरा है, ऐसा क्लेश न करना- ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र ६ व अर्थ, पृष्ठ ४६७)

प्रश्न २५- साधर्मियों के विसंवाद से अग्राह्य का ग्रहण; अर्थात्, चोरी का दोष कैसे लगता है?

उत्तर- 'समान धर्म के धारक जैनसाधु-श्रावकों को परस्पर में विसंवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि विसंवाद से ये मेरा- यह तेरा- ऐसा पक्ष ग्रहण होता है और इसी से अग्राह्य के ग्रहण करने की सम्भावना हो जाती है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ७, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ ४६७)

प्रश्न २६- ब्रह्मचर्यमहाव्रत की पाँच भावना कौनसी हैं?

उत्तर- 'स्त्रियों का अवलोकन; अर्थात्, रागभावसहित देखना; पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना; स्त्रियों से संसक्त वस्तिका में रहना; स्त्रियों की कथा करना; पौष्टिक रसों का सेवन करना- इन पाँचों से विकार उत्पन्न होता है; इसलिये इनसे विरक्त रहना ब्रह्मचर्यमहाव्रत की भावना है।'

-'महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकाहाहिं।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि।। ३५।।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३५ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ ८१)

-'स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीर-
संस्कारत्यागाः पंच।। ७।।'

अर्थ- स्त्रियों में राग बढ़ानेवाली कथा सुनने का त्याग; उनके मनोहर अङ्गों को निरखकर (रागसहित) देखने का त्याग; अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग; कामवर्धक गरिष्ठ रसों का त्याग; और अपने शरीर के संस्कारों (स्नान, आदि) का त्याग- ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र ७ व अर्थ, पृष्ठ ४६७-४६८)

प्रश्न २७- परिग्रहत्यागमहाव्रत की पाँच भावना कौनसी हैं?

उत्तर- 'शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध- ये पाँच इन्द्रियों के विषय समनोज्ञ; अर्थात्, मन को अच्छे लगनेवाले और अमनोज्ञ; अर्थात्, मन को बुरे लगनेवाले हों, तो इन दोनों में ही राग-द्वेष आदि न करना परिग्रहत्यागव्रत की ये पाँच भावना हैं।'

-'अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति॥ ३६॥'
(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३६ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ ८२)
-'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच॥ ८॥'

अर्थ- स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति राग-द्वेष का त्याग करना, सो पाँच परिग्रहत्यागव्रत की भावनाएँ हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र ८ व अर्थ, पृष्ठ ४६८)

प्रश्न २८- पाँच पापों में हिंसा और पाँच महाव्रतों में अहिंसामहाव्रत को मुख्य क्यों कहा है?

उत्तर- प्रमादसहित चर्या (आचरण) का नाम पाप है। पाँचों ही पाप आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात; अर्थात्, हिंसा का कारण हैं। अत: पाँचों पाप वास्तव में हिंसा ही हैं और अहिंसामहाव्रत के पालन से पाँचों महाव्रतों का पालन हो जाता है। इस कारण पापों में हिंसा को और महाव्रतों में अहिंसामहाव्रत को प्रधान कहा गया है।

-'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥ ४२॥'

अन्वयार्थ- आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के कारण यह सब हिंसा ही है। असत्य वचनादिक के भेद केवल शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरणरूप कहे गये हैं।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४७)

-'सत्याद्युत्तरनि:शेषयमजातनिबन्धनम्।
शीलैश्वर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम्॥ ७॥'

अर्थ- अहिंसा नामा महाव्रत सत्यादिक अगले चार महाव्रतों का तो कारण है, क्योंकि सत्य, अचौर्यादि बिना अहिसा के नहीं हो सकते और शीलादिसहित उत्तरगुणों की चर्या का स्थान भी यह अहिंसा ही है; अर्थात्, समस्त उत्तरगुण भी इस अहिंसामहाव्रत के आश्रय हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टम: सर्ग:, गाथा ७ व अर्थ, पृष्ठ १०३)

-'यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि।
एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरै:॥ ४०॥'

अर्थ- जिनेन्द्रदेव ने मुनियों और श्रावकों के सब ही व्रत एकमात्र अहिंसा धर्म की ही सिद्धि के लिये बतलाये हैं।

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशति:, उपासकसंस्कार:, गाथा ४० व अर्थ, पृष्ठ १३४)

प्रश्न २९- अहिंसा आदि पाँच व्रतों को महाव्रत नाम क्यों दिया गया है?

उत्तर- आचार्य, उपाध्याय, व साधुओं- जैसे महान पुरुषों द्वारा अङ्गीकार किये जाने और सर्व पापरहित; अर्थात्, निर्दोष होने के कारण अहिंसादि व्रत महाव्रत कहलाते हैं।

-'साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइं।। ३१।।'

अर्थ- महल्ला; अर्थात्, महन्त पुरुष जिनको साधते हैं, आचरण करते हैं और पहले भी जिनका महन्त पुरुषों ने आचरण किया है तथा ये व्रत आप ही महान् हैं, क्योंकि इनमें पाप का लेश भी नहीं है- इस प्रकार ये पाँच महाव्रत हैं।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३१ व अर्थ, पृष्ठ ७९)

-'महत्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि।। १।।'

अर्थ- प्रथम तो ये महाव्रत महत्ता के कारण हैं; इस कारण इनका गुणी पुरुषों ने आश्रय किया है; अर्थात्, धारण करते हैं। दूसरे- ये स्वयं महान् हैं; इस कारण देवताओं ने भी इन्हें नमस्कार किया है। तीसरे- महान् अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान के कारण हैं; इस कारण ही सत्पुरुषों ने इनको महाव्रत माना है।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा १ व अर्थ, पृष्ठ १७६)

-'आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि।।'

अर्थ- इन पाँच महाव्रतों को महापुरुषों ने आचरण किया है तथा ये महान पदार्थ कहिये मोक्ष को साधते हैं तथा स्वयं भी बड़े हैं; अर्थात्, निर्दोष हैं। इस कारण इनका महाव्रत ऐसा नाम कहा गया है।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा १ का अर्थ, पृष्ठ १७६)

पाँच समितियाँ

प्रश्न ३०- समिति किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रमादरहित और यत्नाचारसहित सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ १८६)

-'मुनि पञ्च महाव्रतरूप संयम का साधन करते हैं। उस संयम की शुद्धता के लिए पाँच समितिरूप प्रवर्तते है- इसी से इसका नाम सार्थक है। "स"; अर्थात्, सम्यक्प्रकार, "इति";

अर्थात्, प्रवृत्ति जिसमें हो, सो समिति है।'

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३७ का भावार्थ, पृष्ठ ८२)

-'अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्मा के प्रति सम्यक् "इति" (गति); अर्थात्, परिणति वह समिति है; अथवा निज परमतत्त्व में लीन सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों की संहति (मिलन; सङ्गठन), वह समिति है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ६१ की टीका, पृष्ठ ११९)

-' "प्राणियों को पीड़ा न पहुँचे"- इस भावना से देख-भाल कर प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं।'

(चरणानुयोग-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या १६४, पृष्ठ २३)

-'मुनियों के किञ्चित् राग होनेपर गमनादिक्रिया होती है। वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्तता के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती तथा अन्य जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते; इसलिये स्वयमेव ही दया पलती है। इस प्रकार सच्ची समिति है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२८)

-'निश्चय से अनन्त ज्ञानादिस्वभाव के धारक निजात्मा में "सम"; अर्थात्, सम्यक् प्रकार से समस्त रागादि विभावों के परित्याग द्वारा, निजात्मा में लीनता-चिन्तन-तन्मयता से "अयन"-गमन-परिणमन करना, वह "समिति" है। व्यवहार से उसके **बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत**[1], आचारादि चरणानुयोग के ग्रन्थों में कथित् ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, और उत्सर्ग नामक पाँच समितियाँ हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ ११५)

प्रश्न ३१- समितियाँ कितनी हैं?

उत्तर- समितियाँ पाँच हैं- (१) ईर्यासमिति, (२) भाषासमिति, (३) एषणासमिति, (४) आदाननिक्षेपणसमिति, और (५) उत्सर्गसमिति (प्रतिष्ठापनासमिति)।

-'**ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः॥ ५॥**'

अर्थ- सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदाननिक्षेप, और सम्यक् उत्सर्ग- ये पाँच समिति हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र ५ व अर्थ, पृष्ठ ५५०)

-'**ईर्या भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः।**

सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः॥ ३॥'

---

१. **बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत**- अर्थात्, बहिरङ्ग निमित्तभूत। बहिरङ्ग साधन वह यथार्थ साधन नहीं है, मात्र उपचरित साधन हैं।
(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५, पृष्ठ ११५ की पादटिप्पणी)

अर्थ- संयमसहित है आत्मा जिनका; ऐसे सत्पुरुषों ने ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, और उत्सर्ग- ये हैं नाम जिनके, ऐसी पाँच समितियाँ कहीं हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा ३ व अर्थ, पृष्ठ १७६)

-'इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ।। ३७।।'

अर्थ- ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, और प्रतिष्ठापना- ये पाँच समितियाँ संयम की शुद्धता के लिये कारण हैं। इस प्रकार जिनदेव कहते हैं।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३७ व अर्थ, पृष्ठ ८२)

-'ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान; प्रतिष्ठापना जुतक्रिया, पाँचों समिति विधान।'

(आधार-छहढाला, छठवीं ढाल, पृष्ठ १५५ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ३२- पाँचों समितियों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- 'सावधानी से देख-भालकर गमन और आगमन (ईर्यासमिति); उत्तम हितमितरूप वचन (भाषासमिति); योग्य आहार का ग्रहण (एषणासमिति); पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण करना (आदाननिक्षेपणसमिति); और प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रादि का त्याग करना (उत्सर्ग अथवा प्रतिष्ठापनासमिति)- इस प्रकार ये पाँच समिति हैं।'

-'सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः।। २०३।।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०३ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ १६४)

-'चलै निरखि भाखै उचित, भखै अदोष अहार।
लेइ निरखि डारै निरखि, समिति पंच परकार।। ८२।।'

अर्थ- जीवजन्तु की रक्षा के लिये देखकर चलना ईर्यासमिति है; हितमित प्रिय वचन बोलना भाषासमिति है; अन्तरायरहित निर्दोष आहार लेना एषणासमिति है; शरीर, पुस्तक, पींछी, कमण्डलु आदि को देख शोधकर उठाना-रखना आदाननिक्षेपणसमिति है; त्रसजीवरहित प्रासुक भूमि पर मल-मूत्रादिक छोड़ना प्रतिष्ठापनासमिति है- ऐसी ये पाँच समिति हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ८२ का अर्थ, पृष्ठ ३९३)

प्रश्न ३३- ईर्यासमिति किसे कहते हैं?

उत्तर- भावलिङ्गी मुनि का दिन में सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प ईर्यासमिति है।

-'पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स।। ६१।।'

अन्वयार्थ- जो श्रमण **प्रासुक मार्ग**[1] पर दिन में धुरा प्रमाण आगे देखकर चलता है, उसे ईर्यासमिति होती है।

(श्रीनियमसार, गाथा ६१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ११८-११९)

-'परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं।'

अन्वयार्थ- मुनिराज प्रमाद-असावधानी छोड़कर चार हाथ जमीन देखकर ईर्यासमिति से चलते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द २ की दूसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५३-१५४)

-'मुनिराज दिन के समय में ही सूर्योदय के दो घड़ी बाद, जब सूर्य की किरणें स्पष्ट हो जावें और मार्ग प्रासुक हो जाये, तब यत्नाचारपूर्वक चार हाथ प्रमाण भूमि स्थूल दृष्टि से देखकर गमनागमन करें तथा पैरों को देख-देखकर रखें- यह ईर्यासमिति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०३ का अर्थ, पृष्ठ १६४)

-'सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनबिम्बानि वन्दितुम्।
गुर्वाचार्यतपोवृद्धान्सेवितुं व्रजतोऽथवा।। ५।।
दिवा सूर्यकरैः स्पष्टं मार्गं लोकातिवाहितम्।
दयार्द्रस्याङ्गिरक्षार्थं शनैः संश्रयतो मुनेः।। ६।।
प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्राहितेऽक्षिणः।
प्रमादरहितस्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता:।। ७।।'

अर्थ- जो मुनि प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्रों को तथा जिनप्रतिमाओं को वन्दने के लिये तथा गुरु आचार्य वा जो तप से बड़े हों, उनकी सेवा करने के लिये गमन करता हो उसके।। ५।। तथा दिन में सूर्य की किरणों से स्पष्ट दीखनेवाले, बहुत लोग जिसमें गमन करते हों, ऐसे मार्ग में दया से आर्द्रचित्त होकर जीवों की रक्षा करता हुआ धीरे-धीरे गमन करें उस मुनि के।। ६।। तथा चलने से पहले ही जिसने युग (जुड़े) परिमाण (चार हाथ) मार्ग को भले प्रकार देख लिया हो और प्रमादरहित हो ऐसे मुनि के ईर्यासमिति कही गयी है।। ७।।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा ५-६-७ व अर्थ, पृष्ठ १७७)

प्रश्न ३४- भाषासमिति किसे कहते हैं?

उत्तर- भावलिङ्गी मुनि का सर्व अहित का नाश करनेवाले, जगत का हित करनेवाले, सुनने में सुखकर, सर्वप्रकार की शङ्काओं को दूर करनेवाले, और मिथ्यात्व (विपरीतता या सन्देह) रूपी रोग का नाश करनेवाले, अमृतवचन बोलने का विकल्प भाषासमिति है।

---

१. **प्रासुक मार्ग**- जब मार्ग पर घोड़ा, गाड़ी, पथिक आदि चलने लगते हैं; तब वह सहज ही प्रासुक हो जाता है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०३ का अर्थ, पृष्ठ १६४)

–'जग–सुहितकर सब अहितकर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं;
भ्रमरोग–हर जिनके वचन–मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं।। २।।'

अन्वयार्थ– मुनिराजों के मुखरूपी चन्द्र से जगत का सच्चा हित करनेवाला तथा सर्व अहित का नाश करनेवाला, सुनने में प्रिय, समस्त संशयों का नाशक, और मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला वचनरूपी अमृत का झरना भाषासमिति है।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द २ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५३–१५४)

–'हितमित और असन्देहरूप वचन बोलना कि जिससे सुननेवाले कोई भी प्राणी को दु:ख न हो, भाषासमिति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०३ का अर्थ, पृष्ठ १६४)

–'पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स।। ६२।।'

अन्वयार्थ– पैशुन्य (चुगली), हास्य, कर्कश भाषा, परनिन्दा, और आत्मप्रशंसारूप वचन परित्यागी को, जो स्वपरहितरूप वचन बोलता है, उसे भाषासमिति होती है।

(श्रीनियमसार, गाथा ६२ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १२१)

–'धूर्तकामुकक्रव्यादचौरचार्वाकसेविता।
शङ्कासङ्केतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभि:।। ८।।
दशदोषविनिर्मुक्तां सूत्रोक्तां साधुसम्मताम्।
गदतोऽस्य मुनेर्भाषां स्याद्भाषासमिति: परा।। ९।।'

अर्थ– धूर्त (मायावी), कामी, माँसभक्षी, चोर, नास्तिकमती, चार्वाकादि से व्यवहार में लायी हुई भाषा, तथा सन्देह उपजानेवाली वा पापसंयुक्त हो ऐसी भाषा, बुद्धिमानों को त्यागनी चाहिए।। ८।। तथा **वचनों के दस दोष**[1] रहित सूत्रानुसार साधुपुरुषों को मान्य हो, ऐसी भाषा को कहनेवाले मुनि के

---

१. **भाषा के दस दोष**– दोषसहित वचन को दुर्भाषा कहते हैं। दुर्भाषा के दस प्रकार हैं– (१) कर्कशभाषा; जैसे, तू मूर्ख है; तू बैल है; (२) मर्म को छेदनेवाली भाषा; (३) कटुभाषा; जैसे, तू अधर्मी है; जातिहीन है; (४) निष्ठुरभाषा; जैसे, तेरा सिर काट डालूँगा आदि; (५) परकोपनीभाषा; जैसे, तू निर्लज्ज है; (६) छेदङ्कुराभाषा– झूठा दोष लगाना, (७) अतिमानिनीभाषा– अपना बड़प्पन बघारना और दूसरों की निन्दा करना; (८) द्वेष उत्पन्न करानेवाली भाषा; (९) प्राणियो की हिंसा करानेवाली भाषा; और (१०) अत्यन्तगर्हितभाषा।

(चरणानुयोग–प्रवेशिका, प्रश्न संख्या १६८, पृष्ठ २३–२४)

–'कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी। छेद्यांकुरा मध्यकृशाऽतिमानिनी भयंकरी।।
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत्। हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितिर्मुनि:।।'

अर्थ– कर्कश, परुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्यांकुरा, मध्याकृशा, अतिमानिनी, भयङ्करी, और जीवों की हिंसा करानेवाली –ये दश दुर्भाषा हैं। इनको छोड़े तथा हितकारी मर्यादासहित, असन्दिग्ध वचन बोले उसी मुनि के भाषासमिति होती है।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टादश: सर्ग:, गाथा ८ व ९ का अर्थ, पृष्ठ १७७–१७८)

उत्कृष्ट भाषासमिति होती है।। ९।।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा ८-९ व अर्थ, पृष्ठ १७७)

प्रश्न ३५- एषणासमिति किसे कहते हैं?

उत्तर- भावलिङ्गी मुनि का उत्तम कुलवाले श्रावक के घर, आहार के छियालीस **(४६) दोषों**[1] को टालकर तथा अमुक रसों का त्याग करके; अर्थात्, स्वाद का राग न करके, शरीर को पुष्ट रखने का अभिप्राय न रखकर, मात्र तप की वृद्धि के लिये आहार ग्रहण करना एषणासमिति है।

-'कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।

दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एषणासमिदी।। ६३।।'

अन्वयार्थ- पर द्वारा दिया गया, कृत-कारित-अनुमोदनरहित प्रासुक और **प्रशस्त**[2] भोजन करनेरूप जो सम्यक् आहारग्रहण, वह एषणासमिति है।

(श्रीनियमसार, गाथा ६३ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १२३)

-'छ्यालीस दोष विना सुकुल, श्रावकतनैं घर अशनको;

लैं तप बढ़ावन हेतु, नहीं तन-पोषते तजि रसनको।'

अन्वयार्थ- वीतरागी मुनियों का उत्तम कुलवाले श्रावक के घर और छहों रसों अथवा एक-दो रसों को छोड़कर, शरीर को पुष्ट न करते हुए, मात्र तप की वृद्धि करने हेतु से छियालीस दोषों को दूर करके भोजन ग्रहण करना एषणासमिति है।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ३ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५६)

-'छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर उत्तम कुलीन श्रावक के घर आचारसहित विधिपूर्वक शुद्ध प्रासुक आहार दिन में एकबार लेना एषणासमिति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०३ का अर्थ, पृष्ठ १६५)

-'उद्गमोत्पादसंज्ञैस्तैर्धूमाङ्गारादिगैस्तथा।

दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्तं विघ्नशङ्कादिवर्जितम्।। १०।।

शुद्धं काले परैर्दत्तमनुद्दिष्टमयाचितम्।

अदतोऽन्नं मुनेर्ज्ञेया एषणासमितिः परा।। ११।।'

अर्थ- जो १६ उद्गमदोष, १६ उत्पादनदोष, १० एषणादोष, धुआँ, अङ्गार, प्रमाण, संयोजन मिलाकर ४६ दोषरहित; तथा माँसादिक १४ मलदोष; और अन्तराय शङ्कादिरहित, शुद्धकाल में पर

---

१. मुनि के आहार के ४६ दोष, १४ मलदोष, और ३२ अन्तराय आदि के स्वरूप के लिये -आचारवृत्ति; अनगार धर्मामृत; मूलाचार, भगवतीआराधना आदि ग्रन्थों का अध्ययन करें।

२. प्रशस्त- अच्छा; शास्त्र में प्रशंसित; जो व्यवहार से प्रमादादि का या रोगादिक का निमित्त न हो, ऐसा।

(श्रीनियमसार, गाथा ६३, पृष्ठ १२३ की पादटिप्पणी)

के द्वारा दिया हुआ, बिना उद्देशा हुआ और याचनारहित आहार करे- उस मुनि के उत्तम एषणासमिति कही गयी है।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा १०, ११ व अर्थ, पृष्ठ १७८)

प्रश्न ३६- आदाननिक्षेपणसमिति किसे कहते हैं?

उत्तर- भावलिङ्गी मुनि का पवित्रता, ज्ञान, और संयम के उपकरणों कमण्डल, शास्त्र, व पींछी को प्रमादरहित होकर जीवों की विराधना बचाने हेतु देखभालकर ग्रहण करना और रखना आदाननिक्षेपणसमिति कहलाता है।

-'पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा।। ६४।।'

अन्वयार्थ- पुस्तक, कमण्डल, आदि लेने-रखने-सम्बन्धी प्रयत्नपरिणाम, वह आदाननिक्षेपण-समिति है- ऐसा कहा है।

(श्रीनियमसार, गाथा ६४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १२६)

-'शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;'

अन्वयार्थ- पवित्रता के साधन कमण्डल को, ज्ञान के साधन शास्त्र को, तथा संयम के साधन पींछी को देखकर ग्रहण करना और देखकर रखना आदाननिक्षेपणसमिति है।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ३ की तीसरी पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५७)

-'यत्नाचारपूर्वक देखकर सँभालकर पुस्तक, पींछी, कमण्डलादि उठाना तथा रखना आदाननिक्षेपणसमिति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०३ का अर्थ, पृष्ठ १६५)

-'शय्यासनोपधानानि शास्त्रोपकरणानि च।
पूर्वं सम्यक्समालोच्य प्रतिलिख्य पुनः पुनः।। १२।।
गृह्णतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले।
भवत्यविकला साधोरादानसमितिः स्फुटं।। १३।।'

अर्थ- जो मुनि शय्या, आसन, उपधान, शास्त्र, और उपकरण आदि को पहले भले प्रकार देखकर फिर उठावे तथा रक्खें उसके; तथा बड़े यत्न से ग्रहण करते हुए के; तथा पृथ्वी पर धरते हुए साधु के अविकल (पूर्ण) आदाननिक्षेपणसमिति स्पष्टतया पलती है।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा १२-१३ व अर्थ, पृष्ठ १७८)

प्रश्न ३७- उत्सर्गसमिति किसे कहते हैं?

उत्तर- जीवरहित एकान्तस्थान देखकर मल-मूत्र आदि त्यागना उत्सर्गसमिति कहलाता है।

इसे प्रतिष्ठापनासमिति भी कहते हैं।

-'पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।

उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स।। ६५।।'

अन्वयार्थ- जिसे पर के उपरोधरहित (दूसरे से रोका न जाये ऐसे), गूढ़ और प्रासुक भूमिप्रदेश में मलादि का त्याग हो, उसे प्रतिष्ठापनसमिति होती है।

(श्रीनियमसार, गाथा ६५ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १२८)

-'निर्जन्तु थान विलोकि तन मल मूत्र श्लेष्म परिहरैं।।'

अन्वयार्थ- वीतरागी मुनिराज का मूत्र, श्लेष्म, शरीर का मैल जीवरहित स्थान देखकर त्यागना उत्सर्गसमिति है।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ३ की अन्तिम पंक्ति व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५७)

-'यत्नपूर्वक दृष्टि से देखकर और पींछी से पोंछकर मल-मूत्र-कफ इत्यादि नवद्वार के मल प्रासुक (निर्जीव) भूमि पर त्याग करना; जल में, गीली भूमि में, हरी घास में मलत्याग नहीं करना; तथा लोगों के आने-जाने के मार्ग से दूर जाकर निर्दोष भूमि में मलक्षेपण करना; उत्सर्ग अथवा प्रतिष्ठापनासमिति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०३ का अर्थ, पृष्ठ १६५)

-'विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम्।

क्षिपतोऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत्।। १४।।'

अर्थ- जीवरहित पृथ्वी पर मल, मूत्र, श्लेष्मादिक को बड़े यत्न से (प्रमादरहितता से) क्षेपण करनेवाले मुनि के उत्सर्गसमिति होती है।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टदशः सर्गः, गाथा १४ व अर्थ, पृष्ठ १७८)

प्रश्न ३८- समिति सम्यक् कब कहलाती है?

उत्तर- शुद्धपरिणति; अर्थात्, आत्मस्थिरतापूर्वक शुद्धि के साथ जीवों की रक्षा आदि के लिये शास्त्रोक्त विधि से गमनादि की क्रिया सम्यक् व्यवहारसमिति है; लेकिन शुद्धि के अभाव में कोई भी शुभभाव अथवा शारीरिकक्रिया 'समिति' नाम नहीं पाती।

-'परमसंयमी मुनि (मुनियोग्य शुद्धपरिणतिवाले मुनि) को शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो हठरहित ईर्या-सम्बन्धी शुभोपयोग, वह व्यवहार ईर्यासमिति है। शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहार समिति भी नहीं कहलाता। (इस ईर्यासमिति की भाँति अन्य समितियों का भी समझ लेना।)'

(श्रीनियमसार, गाथा ६१, पृष्ठ ११९ की पादटिप्पणी)

तीन गुप्तियाँ

प्रश्न ३९- गुप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर- 'मन-वचन-काया और उपयोग की प्रवृत्ति को भलीभाँति आत्मभानपूर्वक रोकना; अर्थात्, आत्मा में ही लीनता होना सो गुप्ति है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ १८४)

-'**सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः॥ ४॥**' -**अर्थ**- भलेप्रकार योग का निग्रह करना, सो गुप्ति है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र ४ व अर्थ, पृष्ठ ५४९)

-'गुप्ति का अर्थ गोपना अथवा छिपाना है; जैसे, मन की क्रिया रोकना; अर्थात्, मन की चञ्चलता रोककर एकाग्रता कर लेना मनगुप्ति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०२ का भावार्थ, पृष्ठ १६४)

-'**वाङ्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकं।**

त्रियोगरोधनं वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम्॥ ४॥'

अर्थ- मन-वचन-काय से उत्पन्न अनेक पापसहित प्रवृत्तियों का प्रतिषेध करनेवाला प्रवर्तन अथवा तीनों योग (मनवचनकाय की क्रिया) को रोकना- ये तीन गुप्तियाँ कही गयी हैं।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टदशः सर्गः, गाथा ४ व अर्थ, पृष्ठ १७७)

-'वीतरागभाव होनेपर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा न हो, वही सच्ची गुप्ति है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२८)

-'निश्चय से सहज शुद्धात्मा की भावनारूप लक्षणयुक्त गुप्तस्थान में संसार के कारणरूप रागादि भयों से अपने आत्मा का छिपाना, ढकना, झम्पना, प्रवेश कराना, अथवा रक्षा करना- वह गुप्ति है। व्यवहार से बहिरङ्गसाधन के लिये मन, वचन, और काया के व्यापार को रोकना- वह गुप्ति है।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ ११५-११६)

प्रश्न ४०- गुप्तियाँ कितनी हैं?

उत्तर- गुप्तियाँ तीन हैं- (१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति, और (३) कायगुप्ति।

प्रश्न ४१- तीनों गुप्तियों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- भावलिङ्गी मुनिराज, जब उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर निर्विकल्परूप स्वरूप में गुप्त होते हैं, वह निश्चयगुप्ति है। उस समय मन-वचन-काय की क्रिया स्वयं रुक जाती

है, वह निश्चय के साथ सहचारी व्यवहारगुप्ति है।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ४ के पूर्वार्द्ध का भावार्थ, पृष्ठ १५९)

– **'सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।**
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्॥ २०२॥'

अन्वयार्थ– शरीर को भले प्रकार शास्त्रोक्त विधि से वश करना, तथा वचन का भले प्रकार अवरोधन करना, और मन का सम्यक्रूप से निरोध करना, इस प्रकार तीन गुप्तियों को जानना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०२ व अर्थ, पृष्ठ १६३-१६४)

– 'जीव के उपयोग का मन के साथ युक्त होना, सो मनोयोग है; वचन के साथ युक्त होना, सो वचनयोग है, और काय के साथ युक्त होना, सो काययोग है तथा उसका अभाव होना (उपयोग का मन-वचन-काय के साथ युक्त न होना) अनुक्रम से मनगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति है। इस तरह निमित्त के अभाव की अपेक्षा से गुप्ति के तीन भेद हैं।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र ४ की टीका, पृष्ठ ५४९)

प्रश्न ४२– मनोगुप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर– 'मन की क्रिया रोकना; अर्थात्, मन की चञ्चलता रोककर आत्मस्वरूप में एकाग्रता का नाम मनोगुप्ति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०२ का भावार्थ, पृष्ठ १६४)

– 'मन की ओर उपयोग न जाकर आत्मा में ही लीनता का नाम मनोगुप्ति है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ १८५)

– **'विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्।**
स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्॥ १५॥
सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः॥ १६॥'

अर्थ– रागद्वेष से अवलम्बित समस्त सङ्कल्पों को छोड़कर जो मुनि अपने मन को स्वाधीन करता है, और समताभावों में स्थिर करता है, तथा सिद्धान्त के सूत्र की रचना में निरन्तर प्रेरणारूप करता है, उस बुद्धिमान मुनि के सम्पूर्ण मनोगुप्ति होती है।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टदशः सर्गः, गाथा १५, १६ व अर्थ, पृष्ठ १७८)

– 'सकल मोहरागद्वेष के अभाव के कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक्रूप से अवस्थित रहना ही निश्चयमनोगुप्ति है। हे शिष्य! तू उसे वास्तव में अचलित मनोगुप्ति जान।'

(श्रीनियमसार, गाथा ६९ की टीका, पृष्ठ १३५)

प्रश्न ४३– वचनगुप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर- 'आत्मस्वरूप में एकाग्रतापूर्वक वचन का न बोलना; अर्थात्, मौन धारण करना वचनगुप्ति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०२ का भावार्थ, पृष्ठ १६४)

-'बोलने की इच्छा को रोकना; अर्थात्, आत्मा में लीनता वचनगुप्ति है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ १८६)

-**'साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः।**
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः।। १७।।'

अर्थ- भलेप्रकार संवररूप (वश) की है वचनों की प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनि के, तथा समस्यादिक का त्याग कर मौनारूढ़ होनेवाले महामुनि के, वचनगुप्ति होती है।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टदशः सर्गः, गाथा १७ व अर्थ, पृष्ठ १७८-१७९)

-'समस्त असत्यभाषा का परिहार अथवा मौनव्रत, सो वचनगुप्ति है। मूर्तद्रव्य को चेतना का अभाव होने के कारण और अमूर्तद्रव्य को इन्द्रियज्ञान से अगोचर होने के कारण दोनों के प्रति वचनप्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार निश्चयवचनगुप्ति का स्वरूप है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ६९ की टीका, पृष्ठ १२५)

प्रश्न ४४- कायगुप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर- 'आत्मस्वरूप में एकाग्रतापूर्वक शरीर की क्रिया रोकना; निश्चल हो जाना काय-गुप्ति है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०२ का भावार्थ, पृष्ठ १६४)

-'काया की ओर उपयोग न जाकर आत्मा में ही लीनता का नाम कायगुप्ति है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ १८४)

-**'स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कसंस्थितस्य वा।**
परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः।। १८।।'

अर्थ- स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परीषह आ जाये तो भी अपने पर्यङ्कासन से ही स्थिर रहे, किन्तु डिगे नहीं; उस मुनि के ही कायगुप्ति मानी गयी है।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टदशः सर्गः, गाथा १८ व अर्थ, पृष्ठ १७९)

-'सर्वजनों को काय-सम्बन्धी बहु क्रियाएँ होती हैं। उनकी निवृत्ति, सो कायोत्सर्ग है; वही गुप्ति (कायगुप्ति) है। तथा पाँच स्थावरों की त्रसों की हिंसानिवृत्ति, सो कायगुप्ति है। जो परमसंयमधर परमजिनयोगीश्वर अपने (चैतन्यरूप) शरीर में अपने (चैतन्यरूप) शरीर से प्रविष्ट हो गये, उनकी अपरिस्पन्दमूर्ति ही (अकम्पदशा ही) निश्चय कायगुप्ति है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ७० की टीका, पृष्ठ १३६)

प्रश्न ४५- तीनों गुप्तियों के धारी वीतरागी मुनिराज की दशा कैसी होती है?

उत्तर- 'वीतरागी मुनि मन-वचन-काय का सम्यक्‌प्रकार-भलीभाँति निरोध करके जब अपने आत्मा का ध्यान करते हैं; तब उन मुनियों की सुस्थिर-शान्त मुद्रा देखकर, उन्हें पत्थर समझकर, हिरण अथवा चौपाये प्राणियों के समूह उनके शरीर पर रगड़कर अपनी खाज (खुजली) खुजाते हैं। (तथापि वे मुनि अपने ध्यान में निश्चल ही रहते हैं।)'

-'सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय, आतम ध्यावते;
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।'

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ४ के पूर्वार्द्ध का अन्वयार्थ व छन्द, पृष्ठ १५८)

प्रश्न ४६- अज्ञानी जीव (द्रव्यलिङ्गी मुनि) गुप्ति किसे मानता है?

उत्तर- '(अज्ञानी जीव) बाह्य मन-वचन-काय की चेष्टा मिटाये, पाप-चिन्तवन न करे, मौन धारण करे- उसे वह गुप्ति मानता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२८)

प्रश्न ४७- मन-वचन-कायरूप बाह्यक्रियामात्र के निरोध को गुप्ति मानने में क्या दोष है?

उत्तर- 'सो यहाँ तो मन में भक्ति आदिरूप प्रशस्तराग से नाना विकल्प होते हैं; वचन-काय की चेष्टा स्वयं ने रोक रखी है; वहाँ शुभप्रवृत्ति है और प्रवृत्ति में गुप्तिपना बनता नहीं है'- यह दोष है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२८)

प्रश्न ४८- पाँच समिति और तीन गुप्ति पालने से क्या लाभ होता है?

उत्तर- 'पाँच समिति और तीन गुप्ति ये आठों संयमी पुरुषों की रक्षा करनेवाली माता हैं तथा रत्नत्रय की विशुद्धता देनेवाली हैं। इनसे रक्षा किया हुआ मुनियों का समूह दोषों से लिप्त नहीं होता।'

-'जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदाः।
एताभी रक्षितं दोषैर्मुनिवृन्दं न लिप्यते।। १९।।'

(श्रीज्ञानाणर्व, अथाष्टदशः सर्गः, गाथा १९ का अर्थ व गाथा, पृष्ठ १७९)

प्रश्न ४९- पाँच महाव्रत, पाँच समिति, और तीन गुप्ति का एक नाम क्या है?

उत्तर- पाँच महाव्रत, पाँच समिति, और तीन गुप्ति को मिलाकर सकलचारित्र भी कहते हैं क्योंकि इन १३ के बिना चारित्र की पूर्णता नहीं होती।

-'पञ्चव्रतं समित्पंच गुप्तित्रयपवित्रितम्।
श्रीवीरवदनोद्‌गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम्।। ५।।'

अर्थ- पाँच महाव्रत, पाँच समिति, और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार का चारित्र, जो श्रीवीर

तीर्थङ्कर भगवान के मुख से प्रकट हुआ है, वह चन्द्रमा के समान निर्मल है।

(श्रीज्ञानार्णव, अष्टमः सर्गः, गाथा ५ व अर्थ, पृष्ठ १०२)

इन्द्रियविजय

प्रश्न ५०- इन्द्रियविजय किसे कहते हैं और इन्द्रियविजय का क्या लाभ है?

उत्तर- आत्मस्वरूप में एकाग्रतापूर्वक पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेषरहित होना; अर्थात्, समभाव रखना इन्द्रियविजय है। पाँच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से जितेन्द्रिय पद की प्राप्ति होती है।

-'रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने;
तिनमें न राग विरोध पंचेन्द्रिय-जयन पद पावने।। ४।।'

अन्वयार्थ- पाँच इन्द्रियों-सम्बन्धी प्रिय और अप्रिय पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, और शब्द (सात प्रकार की आवाजें)- उन सबमें राग-द्वेष न होना पञ्चेन्द्रियविजय है। मुनि पाँच इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष न होने से पाँच इन्द्रियों को जीतनेवाला; अर्थात्, जितेन्द्रिय पद प्राप्त करते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ४ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १५९)

-'पंच इंद्री जीति भयौ भोगी चित चैनकौ।'

अर्थ- (मुनिराज) पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर प्रसन्न होते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ८० की दूसरी पंक्ति व अर्थ, पृष्ठ ३९२)

षट् आवश्यक

प्रश्न ५१- आवश्यक किसे कहते हैं?

उत्तर- 'मुनियों को अवश्य करने योग्य स्ववश शुद्ध आचरण को आवश्यक कहते हैं।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ १८४)

-'रोगादि से ग्रस्त होनेपर भी, जो कर्म प्रतिदिन किया जाता है; मुनि के उस कर्तव्यकर्म को आवश्यक कहते हैं।'

(चरणानुयोग-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या १७२, पृष्ठ २४)

-'मुनि तथा श्रावकों दोनों को इनका पालन प्रतिदिन अवश्य ही करना चाहिए; इसीलिये इन्हें आवश्यक कहा गया है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०१ का भावार्थ, पृष्ठ १६३)

प्रश्न ५२- आवश्यक कर्म कितने हैं?

उत्तर- आवश्यक कर्म छः हैं- (१) सामायिक, (२) स्तुति, (३) वन्दना, (४) स्वाध्याय, (५) प्रतिक्रमण, और (६) कायोत्सर्ग।

-'समता वंदन थुति करन, पड़कौना सज्झाव।
काउसग्ग मुद्रा धरन, षडावसिक ये भाव।। ८३।।'

अर्थ- सामायिक, वन्दना, स्तवन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, और कायोत्सर्ग- ये साधु के छह आवश्यक कर्म हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ८३ व अर्थ, पृष्ठ ३९३-३९४)

-'इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्।। २०१।।'

अन्वयार्थ- समता (सामायिक), स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग -इस प्रकार यह छह आवश्यक करना चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०१ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १६२)

[**विशेष**- छहढाला और श्रीसमयसारनाटक के छः आवश्यक के नामों में समानता है लेकिन श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय में 'स्वाध्याय' के स्थान पर 'प्रत्याख्यान' दिया है। चरणानुयोग-प्रवेशिका में प्रश्न १७३, पृष्ठ २४ पर भी छः आवश्यकों में 'स्वाध्याय' के स्थान पर 'प्रत्याख्यान' ही दिया है।]

प्रश्न ५३- छः आवश्यकों का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर- वीतरागी मुनि सदा (१) सामायिक, (२) सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की स्तुति, (३) जिनेन्द्र भगवान् की वन्दना, (४) स्वाध्याय, (५) प्रतिक्रमण, और (६) कायोत्सर्ग, अर्थात्, शरीर के प्रति ममता का त्याग करते हैं।

-'समता सम्हारैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।'

अन्वयार्थ- वीतरागी मुनि सदा सामायिक सँभालकर करते हैं; स्तुति बोलते हैं; जिनेन्द्र भगवान की वन्दना करते हैं; स्वाध्याय में प्रेम करते हैं; प्रतिक्रमण करते हैं; शरीर की ममता छोड़ते हैं।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ५ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १६१)

-'समता; अर्थात्, सामायिक करना। वन्दन; अर्थात्, चौबीस तीर्थङ्करों वा गुरु आदि की वन्दना करना। स्तवन; अर्थात्, अर्हन्त तीर्थङ्कर व गुरु का कीर्तन, स्तुति। पड़िकौना; प्रतिक्रमण; अर्थात्, लगे हुए दोषों पर पश्चाताप करना। स्वाध्याय; अर्थात्, शास्त्र अध्ययन आदि। कायोत्सर्ग;

अर्थात्, खड्गासन होकर ध्यान करना।'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ८३ का शब्दार्थ, पृष्ठ ३९४)

प्रश्न ५४- समता (सामायिक) किसे कहते हैं?

उत्तर- समता का अर्थ है समस्त जीवों पर समताभाव रखना; अर्थात्, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण में हर्ष-विषाद न करना; अथवा, सामायिक करना।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०१ की टीका, पृष्ठ १६३)

-'सव्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेई।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेई।। ९९।।'

अर्थ- समस्त जीव ज्ञानमय हैं; इस प्रकार जो समभाव है, उसे निश्चय से सामायिक समझो -ऐसा जिनभगवान ने कहा है।

(श्रीमद्‌योगीन्दुदेव-विरचितः योगसार, दोहा ९९ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३८२)

-'सर्व जीव केवलज्ञानमय हैं। ऐसी भावना से जो समतारूप परिणाम, यह सामायिक है; अथवा परम स्वास्थ्य के बल से युगपत् समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्पों के त्यागरूप समाधि जिसका लक्षण है, वह सामायिक है; अथवा निर्विकार स्वसंवेदन के बल से रागद्वेष के परिहाररूप सामायिक है; अथवा समस्त सुख-दुःखादि में मध्यस्थभावरूप सामायिक है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६७)

-'मोक्ष की कारणभूत सामायिक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान की भवनमात्र है, एकाग्रतालक्षणयुक्त है, और समयसारस्वरूप है।'

(श्रीसमयसार, गाथा १५४ की टीका, पृष्ठ २३४)

[श्रीनियमसार, गाथा १२५ से १३३ तक निश्चय सामायिक के स्वरूप का विस्तार से वर्णन है।]

प्रश्न ५५- स्तव (स्तवन) किसे कहते हैं?

उत्तर- श्रीभगवान अर्हन्तदेव-तीर्थङ्कर भगवान के गुणों का कीर्तन; अर्थात्, स्तुति करना स्तव अथवा स्तवन कहलाता है। यह स्तव व्यवहारस्तव और निश्चयस्तव के भेद से दो प्रकार का है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०१ की टीका, पृष्ठ १६३)

[**विशेष- (१)** 'द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों, तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों-तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभवन'- वास्तव में (जघन्य) निश्चय स्तुति है। **-आधार-श्रीसमयसार, गाथा ३१ की टीका, पृष्ठ ६४;**

(२) 'श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोह का उदय अनुभव में न रहे और जो अपने बल से उपशमादि करके आत्मानुभव करना'- (मध्यम) निश्चयस्तुति है। **-श्रीसमयसार, गाथा ३२ का भावार्थ, पृष्ठ ६६;**

(३) 'अपनी महा सामर्थ्य से मोह को सत्ता में से नष्ट करके ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होना'- (उत्तम) निश्चय स्तुति है। -**श्रीसमयसार, गाथा ३३ का भावार्थ, पृष्ठ ६८**; और

(४) शुद्धि; अर्थात्, निश्चयस्तुति के साथ वर्तते हुए यथायोग्य भूमिकानुसार शुभभाव; अर्थात्, अरहन्तदेव आदि की स्तुति के शुभभाव को व्यवहारस्तव कहते हैं।]

प्रश्न ५६- वन्दना किसे कहते हैं?

उत्तर- अरहन्त भगवान तीर्थङ्करदेव तथा गुरुओं को प्रणाम और सिद्धक्षेत्र की भावसहित यात्रा, आदि को वन्दना कहते हैं।

-'पञ्चपरमेष्ठी को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साष्टाङ्ग नमस्कार को वन्दना कहते हैं।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०१ की टीका, पृष्ठ १६३)

-'शुद्धभावों से किसी एक की नमस्कार आदिरूप विनय करने को वन्दना कहते हैं।'

(चरणानुयोग-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या १९०, पृष्ठ २६)

प्रश्न ५७- प्रतिक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर- अपने किये दोषों का पश्चाताप करना; अर्थात्, अपने से कोई भूल हो जानेपर उसे गुरु के समक्ष प्रगट करके भूल को स्वीकार कर लेना- यही प्रतिक्रमण है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०१ की टीका, पृष्ठ १६३)

-'केवल शुद्धस्वरूप में जिसका चित्त लगा हुआ है; ऐसा निर्विकल्प परमात्मतत्त्व की भावना के बल से देखे, सुने, और अनुभव किये भोगों की वाञ्छारूप जो भूतकाल के रागादि दोष दूर करना; वह निश्चयप्रतिक्रमण है;...........पहले किये हुए अशुभकर्मों की निवृत्ति, वह व्यवहार-प्रतिक्रमण है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ६४ का भावार्थ, पृष्ठ १८६)

-'**कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।**
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।। ३८३।।'

गाथार्थ- पूर्वकृत जो अनेक प्रकार के विस्तारवाला शुभाशुभ कर्म है उससे जो आत्मा अपने को दूर रखता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण करता है।

टीका- जो आत्मा पुद्गलकर्म के विपाक (उदय) से हुए भावों से अपने को छुड़ाता है (दूर रखता है), वह आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकाल के कर्मों को) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं प्रतिक्रमण है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३८३, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५१३-५१४-५१५)

-'**मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।**
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं।। ९१।।'

अन्वयार्थ- मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र को निरवशेषरूप से छोड़कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को जो (जीव) भाता है; वह (जीव) प्रतिक्रमण है।

टीका- यहाँ (इस गाथा में) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का निरवशेष (सम्पूर्ण) स्वीकार करने से और मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र का निरवशेष त्याग करने से परम मुमुक्षु को निश्चयप्रतिक्रमण होता है, ऐसा कहा है।

(श्रीनियमसार, गाथा ९१, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १७२-१७३)

प्रश्न ५८- प्रत्याख्यान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) में विघ्न उत्पन्न करनेवाले हैं; उन्हें मन, वचन, और काय से रोकना और उनका त्याग करना, प्रत्याख्यान कहलाता है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०१ की टीका, पृष्ठ १६३)

- 'वीतराग चिदानन्द शुद्धात्मा की अनुभूति की भावना के बल से होनेवाले (भविष्यकाल में) भोगों की वाञ्छारूप रागादिक का त्याग, वह निश्चयप्रत्याख्यान;............अशुभपरिणाम होनेवाले हैं; उनका रोकना, वह व्यवहारप्रत्याख्यान है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ६४ का भावार्थ, पृष्ठ १८६)

-'सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।

तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।। ३४।।'

गाथार्थ- जिससे 'अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थों को पर हैं'- ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है, उससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियम से जानना। अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

भावार्थ- आत्मा को परभाव के त्याग का कर्त्तत्व है, वह नाममात्र है। वह स्वयं तो ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना और फिर परभाव का ग्रहण न करना (पुनः अपना नहीं मानना), वही त्याग है। इस प्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है; ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव (प्रत्याख्यान) नहीं है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३४, गाथार्थ व भावार्थ, पृष्ठ ६९-७०)

-'कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।

तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।। ३८४।।'

गाथार्थ- भविष्यकाल का जो शुभ-अशुभकर्म जिस भाव में बँधता है; उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होता है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है।

टीका- वही आत्मा (जो आत्मा) उन भावों के (पुद्गलकर्म के विपाक-उदय से हुए भावों

के) कार्यभूत उत्तरकर्मों को (भविष्यकाल के कर्मों को) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ (निवृत्त होता हुआ, त्यागरूप होता हुआ) प्रत्याख्यान है।

(श्रीसमयसार, गाथा ३८४, गाथार्थ व टीका, पृष्ठ ५१३-५१४-५१५)

-'मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स।। ९५।।'

अन्वयार्थ- समस्त जल्प को (वचन विस्तार को) छोड़कर और अनागत (भावीकाल के) शुभ-अशुभ का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे प्रत्याख्यान हैं।

टीका- यहाँ ऐसा कहा है कि व्यवहारनय के कथन से मुनि दिन-दिन में भोजन करके, फिर योग्यकाल पर्यन्त अन्न, पान, खाद्य, और लेह्य की रुचि छोड़ते हैं, यह व्यवहारप्रत्याख्यान का स्वरूप है। निश्चयनय से, प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त वचनरचना के प्रपञ्च (विस्तार) के परिहार द्वारा शुद्धज्ञानभावना की सेवा के प्रसाद द्वारा जो नवीन शुभाशुभ द्रव्यकर्मों का तथा भावकर्मों का संवर होना, सो प्रत्याख्यान है। जो सदा अन्तर्मुख परिणमन से परम कला के आधाररूप अति अपूर्व आत्मा को ध्याता है, उसे नित्य प्रत्याख्यान है।

(श्रीनियमसार, गाथा ९३, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ १८१-१८२)

प्रश्न ५९- कायोत्सर्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- शरीर का ममत्व छोड़कर विशेष प्रकार के आसनपूर्वक ध्यान करना, वह कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग) नाम का आवश्यक है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०१ की टीका, पृष्ठ १६३)

-'उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम्।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्येत।।'

श्लोकार्थ- कायक्रियाओं को तथा भव के कारणभूत (विकारी) भाव को छोड़कर अव्यग्ररूपसे निज आत्मा में स्थित रहना, वह कायोत्सर्ग कहलाता है।

(श्रीतत्त्वानुशासन, आधार-श्रीनियमसार, गाथा ७० की टीका, पृष्ठ १३६-१३७)

-'अहङ्कार और ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग है।'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, धर्मोपदेशामृतम्, गाथा ९८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३९-४०)

-'शरीर के प्रति ममता के त्याग को कायोत्सर्ग कहते हैं।'

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ५ का भावार्थ, पृष्ठ १६१)

-'कायोत्सर्ग; अर्थात्, खड्गासन होकर ध्यान करना।'

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ८३ का शब्दार्थ, पृष्ठ ३९४)

-'दोनो चरणों के बीच में चार अंगुल का अन्तर रखते हुए, दोनों हाथों को नीचे

लटकाकर निश्चल खड़े होना, और शरीर से ममत्व न करना कायोत्सर्ग है।'

(चरणानुयोग-प्रवेशिका, प्रश्न संख्या २१४, पृष्ठ २८)

प्रश्न ६०- स्वाध्याय किसे कहते हैं?

उत्तर- ज्ञानभावना में प्रमाद न करना निश्चय से स्वाध्याय है। व्यवहार से प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, तथा द्रव्यानुयोग- इन चारों प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन, सीखना, सिखाना, विचारना, मनन करना आदि स्वाध्याय कहलाता है।

(आधार-श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १९९ की टीका, पृष्ठ १६०)

-'आलस्य को छोड़कर ज्ञान का अभ्यास करना स्वाध्याय है। वह वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, और धर्मोपदेश के भेद से पाँच प्रकार का है- (१) निर्दोष ग्रन्थ, अर्थ और दोनों को ही प्रदान करना- वाचना कहा जाता है; (२) संशय को दूर करने के लिये दूसरे अधिक विद्वानों से पूछने को पृच्छना कहते हैं; (३) जाने हुए पदार्थ का मन से विचार करने का नाम अनुप्रेक्षा है; (४) शुद्ध उच्चारण के साथ पाठ का परिशीलन करने का नाम आम्नाय है; और (५) धर्मकथा आदि के अनुष्ठान को धर्मोपदेश कहा जाता है।'

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, धर्मोपदेशामृतम्, गाथा ९८ का विशेषार्थ, पृष्ठ ३९)

शेष सातगुण

प्रश्न ६१- श्रमण (मुनि) के शेष सात गुण कौनसे हैं?

उत्तर- (१) केशलोंच, (२) नग्नता, (३) स्नान न करना, (४) भूमि पर शयन, (५) दाँतोन नहीं करना, (६) खड़े होकर भोजन करना, और (७) दिन में एक बार भोजन करना- ये मुनि के शेष सात गुण हैं।

-'जिनके न न्हौन, न दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
भूमांहि पिछली रयनिमें कछु शयन एकासन करन॥ ५॥
इक बार दिनमें लें अहार, खड़े अलप निज-पान में;
कचलोंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यानमें।'

अन्वयार्थ- वीतरागी मुनियों को स्नान और दाँतों को स्वच्छ करना नहीं होता; शरीर ढँकने के लिये वस्त्र किञ्चित् भी नहीं होता; रात्रि के पिछले भाग में धरती पर एक करवट कुछ समय तक शयन करते हैं; दिन में एक बार खड़े रहकर और अपने हाथ में रखकर थोड़ा-सा आहार लेते हैं; केशलोंच करते हैं; और अपने आत्मा के ध्यान में तत्पर होकर बाईस प्रकार के परीषहों से नहीं डरते।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ५ का उत्तरार्द्ध, छन्द ६ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १९१)

परीषहजय

प्रश्न ६२- तेरह प्रकार के चारित्र और मूलगुणों के अतिरिक्त श्रमण (वीतरागी मुनि) के लिये क्या आवश्यक है?

उत्तर- मूलगुणों और चारित्र के साथ-साथ श्रमण को परीषहजयी होना आवश्यक है।

प्रश्न ६३- श्रमण का परीषहजयी होना क्यों आवश्यक है?

उत्तर- शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता और कर्मों की निर्जरा के लिये श्रमण का परीषहजयी होना आवश्यक है।

-**'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः।। ८।।'**

अर्थ- संवर के मार्ग (मोक्षमार्ग; आत्मस्वरूप में दृढ़ता) से च्युत न होने और कर्मों की निर्जरा के लिये बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र ८ व अर्थ, पृष्ठ ५६१)

प्रश्न ६४- परीषह कितने प्रकार के हैं?

उत्तर- परीषह २२ प्रकार के हैं।

- 'क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नग्नपना, अरति, स्त्री, गमन, आसन, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन -ये बाईस परीषह जानना।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६६)

-**'क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभ-रोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि।। ९।।'**

अर्थ- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन-ये बाईस परीषह हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र ९ व अर्थ, पृष्ठ ५६४)

[श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह में वर्णित 'गमन' व 'आसन' परीषह का नाम श्रीतत्त्वार्थसूत्र में 'चर्या' और 'निषद्या' दिया है, लेकिन दोनों का भाव एक ही है।]

प्रश्न ६५- परीषहजयी किसे कहते हैं?

उत्तर- जो वर्णित २२ प्रकार के परीषहों को जीतकर अपने आत्मस्वभाव में स्थित रहते हैं, उन्हें परीषहजयी कहते हैं। भावलिङ्गी निर्ग्रन्थ मुनिराज परीषहजयी होते हैं।

प्रश्न ६६- परीषहजय (२२) का संक्षिप्त स्वरूप क्या है?

उत्तर-(१) क्षुधापरीषहजय- योग्य समय निर्दोष भोजन का योग न बने, तो आहार का विकल्प तोड़कर पुरुषार्थपूर्वक निर्विकल्पदशा में लीन हो जाना- 'क्षुधापरीषहजय' है;

(२) तृषापरीषहजय- प्यास को धर्मरूपी जल से शान्त करना, सो 'तृषापरीषहजय' है;

(३) शीतपरीषहजय- ठण्ड को शान्तभाव; अर्थात्, वीतरागभाव से सहन करना, सो 'शीतपरीषहजय' है;

(४) उष्णपरीषहजय- गर्मी को शान्तभाव से सहन करना; अर्थात्, ज्ञान में ज्ञेयरूप करना, सो 'उष्णपरीषहजय' है;

(५) दंशमंशकपरीषहजय- डाँस, मच्छर, चींटी, बिच्छू इत्यादि के काटने पर शान्तभाव रखना, सो 'दंशमशकपरीषहजय' है;

(६) नाग्नयपरीषहजय- नग्न रहने पर भी स्वयं में किसी प्रकार का विकार न होने देना 'नाग्नयपरीषहजय' है;

(७) अरतिपरीषहजय- अरति का कारण उपस्थित होनेपर भी संयम में अरति न करना, सो 'अरतिपरीषहजय' है;

(८) स्त्रीपरीषहजय- स्त्रियों के हाव-भाव प्रदर्शन आदि चेष्टा को शान्तभाव से सहन करना; अर्थात्, उसे देखकर मोहित न होना 'स्त्रीपरीषहजय' है;

(९) चर्यापरीषहजय- गमन करते हुए खेद-खिन्न न होना, सो 'चर्यापरीषहजय' है। इसे 'गमनपरीषहजय' भी कहते हैं;

(१०) निषद्यापरीषहजय- नियमितकाल तक ध्यान के लिये आसन से च्युत न होना 'निषद्यापरीषहजय' है। इसे 'आसनपरीषहजय' भी कहते हैं;

(११) शय्यापरीषहजय- विषम, कठोर, कङ्करीले स्थानों में एक करवट निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आनेपर भी शरीर को चलायमान न करना, सो 'शय्यापरीषहजय' है;

(१२) आक्रोशपरीषहजय- दुष्टजीवों द्वारा कहे गये कठोर शब्दों को शान्तभाव से सह लेना, सो 'आक्रोशपरीषहजय' है;

(१३) वधपरीषहजय- तलवार आदि से शरीर पर प्रहार करनेवाले के प्रति भी क्रोध न करना, सो 'वधपरीषहजय' है;

(१४) याचनापरीषहजय- अपने प्राणों का वियोग होना भी सम्भव हो; तथापि आहारादि की याचना न करना, सो 'याचनापरीषहजय' है। (याचना करने का नाम 'याचनापरीषहजय' नहीं है, किन्तु याचना न करने का नाम 'याचनापरीषहजय' है।);

(१५) अलाभपरीषहजय- आहारादि प्राप्त न होनेपर भी अपने ज्ञानानन्द के अनुभव द्वारा विशेष सन्तोष धारण करना, सो 'अलाभपरीषहजय' है;

(१६) रोगपरीषहजय- शरीर में अनेक रोग होनेपर भी शान्तभाव से उन्हें सहन कर लेना, सो 'रोगपरीषहजय' है;

(१७) तृणस्पर्शपरीषहजय- चलते समय पैर में तिनका, काँटा, कङ्कड़ आदि लगने या स्पर्श होनेपर आकुलता न करना, सो 'तृणस्पर्शपरीषहजय' है;

(१८) मलपरीषहजय- मलिन शरीर देखकर ग्लानि न करना, सो 'मलपरीषहजय' है;

(१९) सत्कारपुरस्कारपरीषहजय- गुणों की अधिकता होनेपर भी यदि कोई सत्कार -पुरस्कार न करे, तो चित्त में कलुषता न करना, सो 'सत्कारपुरस्कारपरीषहजय' है;

(२०) प्रज्ञापरीषहजय- ज्ञान की अधिकता होनेपर भी मान न करना, सो 'प्रज्ञापरीषहजय' है;

(२१) अज्ञानपरीषहजय- ज्ञानादिक की हीनता होनेपर लोगों द्वारा किये गये तिरस्कार को शान्तभाव से सहन कर लेना और स्वय भी अपने ज्ञान की न्यूनता का खेद न करना, सो 'अज्ञानपरीषहजय' है; और

(२२) अदर्शनपरीषहजय- 'अधिक समय तक कठोर तपश्चरण करने पर भी मुझे अवधिज्ञान तथा चारणऋद्धि आदि की प्राप्ति नहीं हुई; इसलिये तपश्चर्या आदि धारण करना व्यर्थ है' -ऐसा अश्रद्धा का भाव न होने देना, सो 'अदर्शनपरीषहजय' है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र ९ की टीका, पृष्ठ ५६५ से ५६८)

[२२ परीषहों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०६ से २०९, एवं टीका, पृष्ठ १७१ से १७९ का अध्ययन करे।]

प्रश्न ६७- ज्ञानावरणीयकर्म का उदय कितने परीषहों में निमित्त होता है?

उत्तर- मुनियों को होनेवाले परिषहों में ज्ञानावरणीयकर्म का उदय प्रज्ञा और अज्ञानपरीषह में निमित्त होता है।

-'**ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने॥ ३॥**' -**अर्थ**- ज्ञानावरणीय के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषहें होती हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १३ व अर्थ, पृष्ठ ५७८)

-'**अलप ग्यान लघता लखै, मति उतकरष विलोइ।**
ज्ञानावरन उदोत मुनि, सहै परीसह दोइ॥ ८७॥'

अर्थ- अल्पज्ञान होने से लोग छोटा गिनते हैं। इससे जो दुःख होता है, उसे साधु सहते हैं

-यह अज्ञानपरीषहजय है। ज्ञान की विशालता होनेपर गर्व नहीं करते हैं- यह प्रज्ञापरीषहजय है। ये दो परीषह ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से जैन साधु सहते हैं।

(श्रीसमयसारनाटक, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा ८७, व अर्थ, पृष्ठ ३९६)

प्रश्न ६८- दर्शनमोहनीय और अन्तरायकर्म कितने परीषहों में निमित्त होते हैं?

उत्तर- दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से अदर्शनपरीषह और अन्तराय के उदय से अलाभपरीषह होता है।

-'**दर्शनमोहांतराययोरदर्शनाऽलाभौ॥ १४॥**' -**अर्थ**- दर्शनमोह और अन्तराय कर्म के उदय से क्रमशः अदर्शन और अलाभपरीषह होती है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १४ व अर्थ, पृष्ठ ५७८)

प्रश्न ६९- चारित्रमोहनीयकर्म का उदय कितने परीषहों में निमित्त होता है?

उत्तर- चारित्रमोहनीयकर्म का उदय (१) नग्नता, (२) अरति, (३) स्त्री, (४) निषद्या, (५) आक्रोश, (६) याचना, और (७) सत्कारपुरस्कार नामक सप्त परीषहों में निमित्त होता है।

-'**चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः॥ १५॥**'

अर्थ- चारित्रमोहनीय के उदय से नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कारपुरस्कार- ये सात परीषह होते हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १५ व अर्थ, पृष्ठ ५७८)

प्रश्न ७०- वेदनीयकर्म का उदय कितने परीषहों में निमित्त होता है?

उत्तर- वेदनीयकर्म का उदय (१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंशमशक, (६) चर्या, (७) शय्या (८) वध, (९) रोग, (१०) तृणस्पर्श, और (११) मल- इन ग्यारह परीषहों में निमित्त होता है।

-'**वेदनीये शेषाः॥ १६॥**' -**अर्थ**- वेदनीयकर्म के उदय से शेष ग्यारह परीषह होती हैं।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९ सूत्र १६, व अर्थ, पृष्ठ ५७९)

प्रश्न ७१- एक जीव को एक साथ कितनी परीषह हो सकती हैं?

उत्तर- एक जीव को एक समय में अधिकतम १९ परीषह हो सकती हैं।

-'**एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः॥ १७॥**'

अर्थ- एक जीव के एक साथ एक से लेकर उन्नीस परीषह तक जानना चाहिए।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १७ व अर्थ, पृष्ठ ५७९)

[एक जीव के एक समय में अधिकतम १९ परीषह हो सकती हैं, क्योंकि शीत व उष्ण में से एक समय में एक; और शय्या, चर्या, तथा निषद्या इन तीन में से एक समय में एक ही होती है। इस

प्रकार कुल २२ परीषहों में तीन कम करने पर अधिकतम १९ परीषह एक साथ हो सकती हैं।]

प्रश्न ७२- सच्चा परीषहजय किसे कहते हैं?

उत्तर- दु:ख के कारण मिलने से दु:खी न हो, तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो; किन्तु ज्ञातारूप से ज्ञेय का जाननेवाला ही रहे- वही सच्चा परीषहजय है।

(छहढाला, छठवीं ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ १८५)

-'क्षुधादि वेदनाओं का तीव्र उदय होनेपर भी सुख-दु:ख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा आदि में समतारूप परम-सामायिक द्वारा- कि जो (परम सामायिक) नये शुभाशुभ कर्मों का संवर करने मे और पूर्व शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करने मे समर्थ है; उसके द्वारा, निज परमात्मभावना से उत्पन्न निर्विकार, नित्यानन्दलक्षण सुखामृत के अनुभव में से चलित न होना- वह परीषहजय है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६७)

-'दु:ख का कारण मिलने पर दु:खी न हो, और सुख का कारण मिलने पर सुखी न हो; ज्ञेयरूप से उनका (दु:ख-सुख का) जाननेवाला ही रहे- वही सच्चा परीषहसहन है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२९)

प्रश्न ७३- अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि-द्रव्यलिङ्गी मुनि) परीषहजय किसे मानता है?

उत्तर- '(अज्ञानी) क्षुधादिक होनेपर उनके नाश का उपाय नहीं करना- उसे परीषह सहना कहता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२९)

प्रश्न ७४- अज्ञानी की उक्त मान्यता में क्या दोष है?

उत्तर- 'सो (क्षुधादिक के नाश का) उपाय तो नहीं किया और अन्तरङ्ग में क्षुधादिक अनिष्ट सामग्री मिलने पर दु:खी हुआ; रति आदि का कारण मिलने पर सुखी हुआ; तो वे दु:ख-सुखरूप परिणाम हैं। वही आर्तध्यान-रौद्रध्यान हैं। ऐसे भावों से संवर; अर्थात्, शुद्धि कैसे हो?' अत: अज्ञानी की परीषहजय सम्बन्धी मान्यता झूठी है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२९)

'महिमा सम्यकज्ञानकी, अरु विरागबल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतैं, करम बंध नहि होइ।।'

अर्थ- सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से और वैराग्य के बल से शुभाशुभक्रिया करते और उसका फल भोगते हुए भी कर्मबन्ध नहीं होता है।

(श्रीसमयसार-नाटक, निर्जरा द्वार, दोहा ३)

सम्यक्चारित्र : उपाय और लाभ

प्रश्न १- सम्यक्चारित्र कैसे होता है?

उत्तर- सम्यग्दर्शन और ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र होता है।

-'जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।। ३।।'

अर्थ- जो जानता है, वह ज्ञान है; जो देखता है, वह दर्शन है- ऐसे कहा है। ज्ञान और दर्शन के समायोग से चारित्र होता है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ३ व अर्थ, पृष्ठ ६१)

प्रश्न २- सम्यग्ज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र क्यों कहा गया है?

उत्तर- सम्यग्ज्ञान (सम्यग्दर्शन-ज्ञान) रहित जीव का सभी आचरण मिथ्या कहलाता है; अर्थात्, सम्यक् नाम नहीं पाता; इसीलिये शास्त्रों में सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र का अङ्गीकार करना कहा गया है।

-'न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्।। ३८।।'

अन्वयार्थ- अज्ञानसहित चारित्र सम्यक् नाम प्राप्त नहीं करता; इसलिये सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही चारित्र का आराधन कहा गया है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ३८ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४४)

-'प्रथम तत्त्वज्ञान हो और पश्चात् चारित्र हो, सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है।' तथा

-'यथार्थ (सम्यक्) श्रद्धान-ज्ञान बिना सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है।' तथा

-'पहले तत्त्वज्ञान होनेपर ही आचरण कार्यकारी है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४२)

प्रश्न ३- शास्त्रों में एकमात्र वीतरागभाव को ही चारित्र कहा है और वीतरागभाव तो एक ही प्रकार का है; तो फिर चारित्र के भेद क्यों बतलाये?

उत्तर- वीतरागभाव एक प्रकार का ही है, परन्तु वह एकसाथ पूर्ण प्रगट नहीं होता; क्रम-क्रम

से प्रगट होता है; इसलिये उसमें भेद होते हैं। जितने अंश में वीतरागभाव प्रगट होता है, उतने ही अंश में चारित्र प्रगट होता है; इसलिये चारित्र के भेद कहे हैं।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८३)

प्रश्न ४- यदि ऐसा है, (एकमात्र वीतरागभाव ही चारित्र है,) तो छठे गुणस्थान में जो शुभभाव है, उसे चारित्र क्यों कहा जाता है?

उत्तर- वहाँ (छठे गुणस्थान में) शुभभाव को वास्तव में चारित्र नहीं कहा जाता किन्तु उस शुभभाव के समय जो अंश वीतरागभावरूप है, उस शुद्धि अंश को वास्तव में चारित्र कहा जाता है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८३)

प्रश्न ५- शास्त्रों में महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि के शुभभावों को भी चारित्र क्यो कहा है?

उत्तर- वहाँ (शास्त्रों में) शुभभावरूप समिति, आदि को व्यवहारचारित्र कहा है। व्यवहार का अर्थ उपचार है। छठे गुणस्थान में जो वीतरागचारित्र होता है, उसके साथ महाव्रतादि होते ही हैं, ऐसा सम्बन्ध जानकर यह उपचार किया है। वह निमित्त की अपेक्षा से; अर्थात्, विकल्प के भेद बताने के लिये कहा है, किन्तु यथार्थ रीति से तो निःकषायभाव ही चारित्र है; शुभराग चारित्र नहीं है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८३)

-'वह (महाव्रतादि को) व्यवहारचारित्र कहा है और व्यवहार नाम उपचार का है। सो महाव्रतादि होनेपर ही वीतरागचारित्र होता है- ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है; निश्चय से निःकषायभाव है; वही सच्चा चारित्र है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३०)

प्रश्न ६- छह निकाय को चारित्र क्यों कहा है?[1]

उत्तर- 'ये व्यवहारचारित्र के जो विकल्प हैं न! इनका आश्रय छह जीव निकाय हैं (व्यवहारचारित्र में छह काय- पाँच स्थावर और एक त्रसकाय- के जीवों की रक्षा का शुभविकल्प होता है); अतः इन परिणामों (पाँच महाव्रत के परिणामों) में जो छह निकाय निमित्त हैं, उन छह जीव निकाय को ही चारित्र कह दिया है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ २२५)

प्रश्न ७- क्या निश्चयचारित्र का कारण व्यवहारचारित्र है?

उत्तर- चारित्र तो वीतरागता ही है और वह निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है। परन्तु वहाँ उस समय (शुद्धिकाल में) व्यवहार आचरण कैसा होता है, उसे बताने के लिये उसे (व्यवहारचारित्र को) व्यवहारनय से (निश्चयचारित्र का) कारण कहा है। वास्तव में व्यवहारचारित्ररूप राग

---

१. **'छह जीव-निकाय चारित्र है'**- श्रीसमयसार, गाथा २७६-२७७ की टीका, पृष्ठ ३९२।

हैं, वह तो (मोक्षमार्ग में) बाधक ही है परन्तु उस भूमिका के योग्य राग उस गुणस्थान का नाशक नहीं है। इतना सम्बन्ध बताने के लिये उपचार-व्यवहार निरूपण की यह रीति है। राग करते-करते निश्चयचारित्र नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रथम से ही निःसंदेह प्रतीति करनी चाहिए।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा १९७ के भावार्थ की टिप्पणी, पृष्ठ १५७)

-'भूतनैगमनय की अपेक्षा से उस सविकल्परूप को मोक्षमार्ग कहा है; अर्थात्, भूतकाल में विकल्प (रागमिश्रित विचार; व्यवहारचारित्र) हुए थे। यद्यपि वे वर्तमान में नहीं हैं, तथापि "यह वर्तमान है"- ऐसा भूतनैगमनय की अपेक्षा से गिना जा सकता है- कहा जा सकता है।'

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ ५८४)

-'भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहार वह परम्पराय मोक्ष का मार्ग है।...........मोक्ष का मार्ग दो प्रकार का है- एक व्यवहार; दूसरा निश्चय। निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है, और व्यवहार परम्पराय है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, गाथा १४ की उत्थनिका और भावार्थ, पृष्ठ १२८-१२९)

-'महाव्रतादि (व्यवहारचारित्र) होनेपर ही वीतरागचारित्र होता है- ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादि मे (व्यवहारचारित्र में) चारित्र का (निश्चयचारित्र का) उपचार किया है। निश्चय से निःकषायभाव है, वही सच्चा (निश्चयसम्यक्) चारित्र है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३०)

-'साध्य-साधन (कार्य-कारण)-सम्बन्धी **सत्यार्थ निरूपण**[1] इस प्रकार है कि "छठवें गुणस्थान में वर्तती हुई आंशिक शुद्धि सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।" अब, छठवें गुणस्थान में कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है?- इस बात को भी साथ ही साथ समझाना हो, तो विस्तार से ऐसा निरूपण किया जाता है कि "जिस शुद्धि के सद्भाव में, उसके साथ-साथ महाव्रतादि के शुभविकल्प हठ बिना सहजरूप से प्रवर्तमान हों; वह छठवें गुणस्थानयोग्य शुद्धि सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।" ऐसे लम्बे कथन के बदले, ऐसा कहा जाये कि "छठवें गुणस्थान में प्रवर्तमान महाव्रतादि के शुभविकल्प सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्धपरिणति का साधन हैं", तो वह **उपचरित निरूपण**[2] है। ऐसे उपचरित निरूपण में से ऐसा अर्थ निकालना चाहिए कि "महाव्रतादि के शुभविकल्प नहीं, किन्तु उनके द्वारा जिस छठवें गुणस्थानयोग्य शुद्धि को बताना था; वह शुद्धि वास्तव में सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध

---

१. **सत्यार्थ निरूपण**- 'सच्चा निरूपण सो निश्चय;'

२. **उपचरित निरूपण**- 'उपचार निरूपण सो व्यवहार;' तथा,

-'निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४९ व २५०)

परिणति का साधन है।"'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १५६ की टीका, पृष्ठ २३१-२३२ की पादटिप्पणी)

-'शील और तप से परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियों के प्रति सावधानी से युक्त, अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र अभव्य भी करता है; तथापि वह निश्चारित्र (चारित्ररहित), अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि (वह) निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।'

(श्रीसमयसार, गाथा २७३ की टीका, पृष्ठ ३८८)

प्रश्न ८- सम्यक्चारित्र किस जीव को होता है?

उत्तर- निश्चयचारित्र कहो या परम सम्यक्चारित्र कहो, दोनों एक ही हैं। वे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक होते हैं; इसलिये ज्ञानियों के ही होते हैं- ऐसा समझना चाहिए।

(श्रीद्रव्यसंग्रह, गाथा ४६ का भावार्थ, पृष्ठ १४७)

-'सराग संयम; अर्थात्, शुभोपयोगरूप सयम (व्यवहारचारित्र) और वीतराग संयम; अर्थात्, शुद्धोपयोगरूप परमसयम (निश्चयचारित्र) वह शुद्धचेतनोपयोगियों के ही होता है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ६७ का भावार्थ, पृष्ठ १८८)

-'शास्त्र में ऐसा कहा है कि चारित्र में "सम्यक्" पद है। वह अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के अर्थ है; इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान हो, और पश्चात् चारित्र हो सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४२)

-'सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है कि किसी भी द्रव्य का दोष या गुण नहीं भासित हो; इसलिये किसी को बुरा-भला न जाने। स्व को स्व जाने, पर को पर जाने। पर से कुछ भी प्रयोजन मेरा नहीं है- ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे। सो ऐसी उदासीनता ज्ञानी के ही होती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४४)

प्रश्न ९- किस कषाय के सद्भाव में कौनसा चारित्र नहीं हो सकता?

उत्तर- अनन्तानुबन्धी कषाय के सद्भाव में स्वरूपाचरणचारित्र; अप्रत्याख्यानावरण के सद्भाव में देशचारित्र; प्रत्याख्यानावरण के सद्भाव में सकलचारित्र; और संज्वलन कषाय के सद्भाव में यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता।

-'जिनका उदय होनेपर आत्मा को सम्यक्त्व न हो; स्वरूपाचरणचारित्र न हो सके, वे अनन्तानुबन्धी कषाय हैं[1]। जिनका उदय होनेपर देशचारित्र नहीं होता; इसलिये किञ्चित् त्याग भी नहीं हो सकता, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय हैं। तथा जिनका उदय होनेपर सकलचारित्र नहीं होता; इसलिये सर्व का त्याग नहीं हो सकता, वे प्रत्याख्यानावरण कषाय हैं। तथा जिनका उदय होनेपर

---

१. यह पंक्ति मूलप्रति मे नहीं है। -श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३९ की पादटिप्पणी।

सकलचारित्र में दोष उत्पन्न होते रहते हैं; इसलिये यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता, वे संज्वलन कषाय हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३९-४०)

प्रश्न १०- क्या सम्यक्चारित्र भी बन्ध का कारण है?

उत्तर- नहीं! सम्यक्चारित्र कदापि बन्ध का कारण नहीं है। साधकदशा में जीव के चारित्रगुण की पर्याय में दो अंश हो जाते हैं- राग अंश तथा वीतराग अंश। जितना राग अंश है, वह शुभाशुभभावरूप होने से बन्ध का कारण है और जितना वीतराग अंश है, वह शुद्धभावरूप होने से संवर-निर्जरा का कारण है।

-'असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः।। २११।।'

अन्वयार्थ- अपूर्ण रत्नत्रय की भावना करनेवाले पुरुष के जो शुभकर्म का बन्ध होता है, वह बन्ध विपक्षकृत; अर्थात्, रागकृत है और निश्चयरत्नत्रय तो अवश्य ही मोक्ष का उपाय है; बन्ध का उपाय नहीं है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २११ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १८१)

-'येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।। २१४।।'

अन्वयार्थ- जितने अंश में इसके (ज्ञानी साधकजीव के) चारित्र है, उतने अंश में बन्ध नहीं है; परन्तु जितने अंश में राग है, उतने अंश में इसके बन्ध होता है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २१४ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १८१-१८२)

-'यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः।। ११०।।'

श्लोकार्थ- जब तक ज्ञान की कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है। उसके एकत्रित रहने में कोई क्षति या विरोध नहीं है। किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो एक परमज्ञान है, वह एक ही मोक्ष का कारण है- जो कि स्वतः विमुक्त है।

(श्रीसमयसार, कलश ११० व श्लोकार्थ, पृष्ठ २४४)

-'वह भाव (भावलिङ्गी मुनिराज को एक ही काल में होनेवाला भाव) मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है; कुछ सराग रहा है। जो अंश वीतराग हुए, उनसे संवर है और जो अंश सराग रहे, उनसे बन्ध है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२८)

-' **"ज्ञानं मोक्षस्य हेतु: भवन् स्वयं धावति"- अर्थ-** आत्मा का शुद्ध चेतनारूप परिणमन सकल कर्मक्षयलक्षण ऐसी अवस्था का कारण होता हुआ स्वयं दौड़ता है, ऐसा सहज है।'

(श्रीसमयसारकलश, कलश १०९ का अर्थ, पृष्ठ ९१)

-'एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धज्ञान भी है; क्रियारूप परिणाम भी है। तथापि क्रियारूप है जो परिणाम उससे अकेला बन्ध होता है; कर्म का क्षय एक अंशमात्र भी नहीं होता -ऐसा वस्तु का स्वरूप, सहारा किसका? उसी समय शुद्धस्वरूप अनुभव ज्ञान भी है। उसी समय ज्ञान से कर्मक्षय होता है; एक अंशमात्र भी बन्ध नहीं होता है- वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है' तथा

-'एक जीव में शुद्धपना अशुद्धपना एक ही काल होता है। परन्तु जितना अंश शुद्धपना है, उतना अंश कर्मक्षपण है; जितना अश अशुद्धपना है, उतना अंश कर्मबन्ध होता है। एक ही काल दोनों कार्य होते हैं। ऐसा ही है, सन्देह करना नहीं।'

(श्रीसमयसारकलश, कलश ११० का अर्थ, पृष्ठ ९२-९३)

-'जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा, तौलौं अंतरातमामैं धारा दोइ बरनी।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा, दुहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी।।
इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप, पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार, दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी।। १४।।'

अर्थ- जब तक आठो कर्म पूर्णरूप से नष्ट नहीं होते, तब तक सम्यग्दृष्टि में ज्ञानधारा और शुभाशुभ कर्मधारा दोनों वर्तती हैं। दोनों धाराओं का जुदा-जुदा स्वभाव और जुदी-जुदी सत्ता है। विशेष भेद इतना है कि कर्मधारा बन्धरूप है; आत्मशक्ति को पराधीन करती है; तथा अनेक प्रकार बन्ध बढ़ाती है और ज्ञानधारा मोक्षस्वरूप है; मोक्ष की दाता है; दोषों को हटाती है तथा संसार-सागर से तारने के लिये नौका के समान है।

(श्रीसमयसारनाटक, पुण्य-पाप एकत्वद्वार, दोहा १४ व अर्थ, पृष्ठ १०४-१०५)

प्रश्न ११- क्या पञ्चम गुणस्थानवर्ती प्रत्येक श्रावक को अणुव्रतादि नियम से होते हैं?

उत्तर- नहीं! पहली 'दार्शनिक' नामक प्रतिमाधारी श्रावक को पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत नहीं होते, लेकिन वह मद्य, माँस, मधु, और पाँच उदुम्बरफलों के त्यागरूप आठ मूलगुणों का नियम से पालन करता है और बिना प्रयोजन जीवघात से निवृत्त होता है। उसे प्रथम

दार्शनिक श्रावक कहते हैं।

(आधार-श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२०-२२१)

प्रश्न १२- क्या पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक युद्धादि क्रियाओं में प्रवृत्त हो सकता है?

उत्तर- हाँ! प्रथम दार्शनिक प्रतिमाधारी श्रावक आठ मूलगुणों का पालन करता हुआ युद्धादि में प्रवृत्त होनेपर भी पाप की वृद्धि करनेवाले शिकार आदि के समान बिना प्रयोजन जीवघात से निवृत्त होता है।

(आधार-श्रीवृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका, पृष्ठ २२०)

प्रश्न १३- शास्त्रों में सकलचारित्र; अर्थात्, मुनिधर्म अङ्गीकार करने का उपदेश क्यों है?

उत्तर- सकलचारित्र साक्षात् मोक्ष का प्रदान करनेवाला है; अत: जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक आत्मकल्याण के इच्छुक जीव को मुनिपद स्वीकार कर आत्मा का कल्याण करना चाहिए। यदि जीव सर्वदेशव्रत (सकलचारित्र) का पूर्णरूपेण पालन न कर सके, तो पहले अणुव्रत पालना चाहिए; पश्चात् महाव्रत धारण करना चाहिए।

-'**जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।**
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥ २००॥'

अन्वयार्थ- जिनेश्वर के सिद्धान्त में मुनीश्वर; अर्थात्, सकलव्रतधारियों का जो आचरण कहा है, यह भी गृहस्थों को अपने पद और शक्ति को भले प्रकार विचार करके सेवन करना योग्य है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १६१-१६२)

प्रश्न १४- शास्त्रों में देशचारित्र (एकदेशचारित्र) का उपदेश क्यों है?

उत्तर- देशचारित्र परम्परा से मोक्ष को प्रदान करनेवाला है; अत: यदि सकलचारित्र (मुनिधर्म) अङ्गीकार करना सम्भव न हो, तो गृहस्थों को एकदेशचारित्र; अर्थात्, श्रावकधर्म तो अवश्य ही अङ्गीकार करना चाहिए।

-'**इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।**
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता॥ २०९ ॥'

अन्वयार्थ- इस प्रकार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय एकदेश भी अविनाशी मुक्ति के चाहनेवाले गृहस्थ को निरन्तर हर समय सेवन करना चाहिए।

भावार्थ- मुनि का रत्नत्रय महाव्रत के योग से साक्षात् मोक्ष का कारण है और श्रावक का रत्नत्रय अणुव्रत के योग से परम्परा मोक्ष का कारण है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २०९, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ १७९-१८०)

प्रश्न १५- क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत-सम्यग्दृष्टि को भी चारित्र होता है?

उत्तर- अनादि के मिथ्यात्व के क्षय, क्षयोपशम, अथवा उपशम के परिणामस्वरूप अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षयोपशम का नाम ही 'स्वरूपाचरणचारित्र' है, जो सर्वप्रथम निर्विकल्प निज शुद्धात्मा के अनुभवन के साथ ही चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है।

-'यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर मुनिदशा में अधिक उच्च होता है।'

(छहढाला, छठवीं ढाल का सारांश, पृष्ठ १८०)

-'अर अनन्तानुबन्धी के अभावतैं स्वरूपाचरणचारित्र सम्यग्दृष्टि के प्रगट होय है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, सूत्र ४१ का अर्थ, पृष्ठ ६८)

-**'जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।'**

अर्थ- प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा; वह जो सर्वज्ञ के ज्ञान दर्शन श्रद्धान से किया हुआ शुद्ध है।

भावार्थ- प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा वह जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ स्वरूप कहा, उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके शङ्कादि अतिचार मलदोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके निःशङ्कितादि गुणों का प्रगट होना- वह सम्यक्त्वचरणचारित्र है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ५ का पूर्वार्द्ध, अन्वयार्थ, व भावार्थ, पृष्ठ ६२-६३)

-'चारित्र की पर्याय पाँचवें-छठे गुणस्थान से मुख्यतया मानी जाती है। चौथेवाले को (चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती को) स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ है।'

(पूज्य गुरूदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ३८९, पृष्ठ १४५)

-'तो स्वरूपाचरणचारित्र कैसा है? जिस प्रकार पन्ना (सुवर्णपत्र) पकाने से सुवर्ण में की कालिमा जाती है, सुवर्ण शुद्ध होता है; उसी प्रकार जीवद्रव्य के अनादि से अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणमन था, वह जाता है; शुद्ध स्वरूपमात्र शुद्ध चेतनारूप जीवद्रव्य परिणमता है- उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र कहा जाता है।'

(श्रीसमयसारकलश, कलश १०६ का अर्थ, पृष्ठ ८८)

प्रश्न १६- शास्त्रों में असंयत-सम्यग्दृष्टि को चारित्र न होने के कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तर- असंयत सम्यग्दृष्टि को श्रावक अथवा मुनिधर्म में होनेवाले एकदेश अथवा सकलचारित्र की अपेक्षा असंयत (असंयमी) कहा है। वास्तव में तो प्रथम एक चौकड़ी-अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षयोपशमरूप स्वरूपाचरणचारित्र उसे प्रगट हुआ है।

-'यद्यपि परमार्थ से कषाय का घटना चारित्र का अंश है; तथापि व्यवहार से जहाँ ऐसा कषायों का घटना हो जिससे श्रावकधर्म या मुनिधर्म का अङ्गीकार हो, वही चारित्र नाम पाता है। सो

असंयत में ऐसे कषाय घटती नहीं हैं; इसलिये यहाँ असंयम कहा है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३३७)

प्रश्न १७- मिथ्यादृष्टि चारित्र के सम्बन्ध में क्या भूल करता है?

उत्तर- मिथ्यादृष्टि को 'स्वरूप में चरना' रूप निश्चयचारित्र का तो ज्ञान नहीं है; वह शुभभाव और व्रत-तप आदि शरीर की क्रियाओं को ही सम्यक्चारित्र मान लेने की भूल करता है।

-'एक प्रशस्तराग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना, सो भ्रम है। मिश्रभाव में (साधकदशा में) भी यह सरागता है; यह वीतरागता है -ऐसी पहचान समयग्दृष्टि ही के होती है; इसलिये अवशेष सरागता को हेयरूप श्रद्धा करता है। मिथ्यादृष्टि के ऐसी पहचान नहीं है; इसलिये सरागभाव में संवर के भ्रम से प्रशस्तरागरूप कार्यों को उपादेयरूप श्रद्धा करता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२८)

प्रश्न १८- क्या सकलचारित्रका पालन करता हुआ द्रव्यलिङ्गी मुनि असंयत और एकदेशसंयत (चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थानवर्ती) से भी हीन है?

उत्तर- द्रव्यलिङ्गी मुनि महाव्रत, समिति, गुप्ति आदिरूप सकलचारित्र का पालन करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि होने से प्रथम गुणस्थानवर्ती और सकल कषायोंसहित है जबकि असंयत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावक क्रमशः चतुर्थ व पञ्चम गुणस्थानवर्ती तथा एक चौकड़ी (अनन्तानुबन्धी) व दो चौकड़ी (अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यान) कषायरहित होते हैं। अपनी भूल का ज्ञान होने और न होने की अपेक्षा द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनि को सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि से भी हीन कहा गया है।

-'जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ चारित्र नहीं होता; इसलिये यह द्रव्यलिङ्गी विषयसेवन छोड़कर तपश्चरणादि करता है, तथापि असंयमी ही है। सिद्धान्त में असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से भी इसे हीन कहा है, क्योंकि उनके चौथा-पाँचवाँ गुणस्थान है और इसके (द्रव्यलिङ्गी मुनि के) पहला ही गुणस्थान है।' तथा,

-'असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति तो है, परन्तु श्रद्धान में किसी भी कषाय करने का अभिप्राय नहीं है। तथा द्रव्यलिङ्गी के शुभकषाय करने का अभिप्राय पाया जाता है। श्रद्धान में उन्हें भला जानता है; इसलिये श्रद्धान की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि से भी उसके (द्रव्यलिङ्गी मुनि के) अधिक कषाय है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४७)

-'सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है कि जितने अपने रागादि दूर हुए हों; उसके अनुसार जिस पद में जो धर्मक्रिया सम्भव हो, वह सब अङ्गीकार करे। यदि अल्प रागादि मिटे हों, तो निचले पद में ही प्रवर्तन करे; परन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया न करे।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४०)

–'सम्यक्त्वसहित अविरत सम्यग्दृष्टि तो अच्छा है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुमार्ग की प्ररूपणा नहीं करता है। अपने को (चारित्रदोष से) चारित्रमोह का उदय प्रबल हो, तब तक विषय नहीं छूटते हैं; इसलिये अविरत है। परन्तु जो सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञान भी बड़ा हो, कुछ आचरण भी करे, विषय भी छोड़े, और कुमार्ग का प्ररूपण करे तो वह अच्छा नहीं है। उसका ज्ञान और विषय छोड़ना निरर्थक है- इस प्रकार जानना चाहिए।'

(श्रीअष्टपाहुड, शीलपाहुड, गाथा १३ का भावार्थ, पृष्ठ ३२१)

–'द्रव्यलिङ्गी की भूमिका की अपेक्षा सम्यक्त्व सन्मुख की भूमिका कुछ ठीक है क्या? हाँ! द्रव्यलिङ्गी तो सन्तोषित हो गया है और सम्यक्त्व सन्मुखतावाला तो प्रयत्न करता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७३, पृष्ठ ३७)

प्रश्न १९- ग्यारह अङ्गधारी द्रव्यलिङ्गी मुनि की क्या भूल रह जाती है?

उत्तर- 'वह स्वसन्मुख दृष्टि नही करता; अतीन्द्रिय प्रभु के सन्मुख दृष्टि नहीं करता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७१, पृष्ठ ३६-३७)

प्रश्न २०- क्या द्रव्यलिङ्गी स्वसन्मुखता का प्रयत्न करता ही नहीं है?

उत्तर- 'नहीं! उसकी धारणा में सब बातें आती हैं, किन्तु अन्तर्मुख प्रयत्न नहीं हो पाता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७२, पृष्ठ ३७)

प्रश्न २१- मुनि को आहार की वृत्ति उठने पर भी मुनिदशा रहती है, तो फिर वस्त्र रखने की वृत्ति उठे, तो उसमें क्या दोष है?

उत्तर- 'मुनि को संयम के हेतु शरीर के निभाव (निर्वाह) के लिये आहार की वृत्ति उठती है, लेकिन वस्त्र रखने का भाव तो शरीर से ममत्व का प्रतीक है; अत: वस्त्र रखने की वृत्ति रहते हुए मुनिदशा नहीं रहती।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७४, पृष्ठ ३७)

प्रश्न २२- क्या द्रव्यलिङ्गी शुद्धात्मा का चिन्तवन नहीं करता?

उत्तर- 'शुद्धात्मा का चिन्तवन तो करता है, परन्तु आत्ममय होकर नहीं करता- ऐसा जानना।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७४, पृष्ठ ३७)

प्रश्न २३- द्रव्यलिङ्गी इतनी कठोर क्रियाएँ करता है, शास्त्राध्ययन भी गम्भीर करता है; तथापि इन सबको स्थूल क्यों कहा?

उत्तर- द्रव्यलिङ्गी क्षयोपशम की धारणा से और बाह्यत्याग से यह सब कुछ करता है। बाह्य में उसके वैराग्य भी विशेष दिखलायी पड़ता है। हजारों रानियाँ और महान वैभव-राजपाट भी उसने छोड़ दिया है; फिर भी उसका वैराग्य सच्चा नहीं है। पुण्य-पाप के परिणाम से अन्तरङ्ग में विरक्ति

उसके हुई नहीं है। स्वभाव महाप्रभु है; अनन्तानन्त गुणों का समुद्र आनन्द से परिपूर्ण है। उसकी महिमा अभी तक उसके अन्दर से आयी नहीं है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७६, पृष्ठ ३७-३८)

प्रश्न २४- द्रव्यलिङ्गी को शुभ में ही रुचि है या अशुभ में भी?

उत्तर- 'द्रव्यलिङ्गी को शुभ में रुचि है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७७, पृष्ठ ३८)

प्रश्न २५- काया और कषाय में एकत्व है- उसका विचार उसको (द्रव्यलिङ्गी को) आता है या नहीं?

उत्तर- 'उसका विचार उसको नहीं आता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७८, पृष्ठ ३८)

प्रश्न २६- तो धारणाज्ञान भी उसको (द्रव्यलिङ्गी को) सच्चा नहीं हुआ?

उत्तर- 'तत्त्वों के जानपने का धारणा ज्ञान तो सच्चा है, परन्तु स्वयं कहाँ अटकता है; वह उसकी पकड़ में नहीं आता। कषाय की विशेष मन्दता है, उसी में स्वानुभव मानता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ७९, पृष्ठ ३८)

प्रश्न २७- निश्चयचारित्ररहित व्यवहारचारित्र का प्रयोजन क्या है?

उत्तर- निश्चय सम्यक्चारित्ररहित व्यवहारचारित्र; अर्थात्, शुभभाव एकमात्र बन्ध का कारण है। शास्त्रों में निश्चयरहित अकेले व्यवहारचारित्र को संसार परिभ्रमण का मूल बताया है।

-'क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि।। १४२।।'

श्लोकार्थ- कोई जीव तो दुष्करतर और मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों के द्वारा स्वयमेव क्लेश पाते हैं, तो पाओ और अन्य कोई जीव महाव्रत और तप के भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें, तो करो। (किन्तु) जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय पद है और स्वयं संवेद्यमान है- ऐसे इस ज्ञान को ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार से वे प्राप्त नहीं कर सकते।

(श्रीसमयसार, कलश १४२ व श्लोकार्थ, पृष्ठ ३०९)

-'वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।। २७३।।'

गाथार्थ- जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित व्रत, समिति, गुप्ति, शील, और तप करता हुआ भी

अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

(श्रीसमयसार, गाथा २७३ व गाथार्थ, पृष्ठ ३८८)

–'वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु।
पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मण-सुद्धि ण तासु।। ६६।।'

अन्वयार्थ– निःशङ्क वन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमणादि करो; लेकिन जिसके जब तक अशुद्ध परिणाम हैं, उसके नियम से संयम (चारित्र) नहीं हो सकता, क्योंकि उसके मन की शुद्धता नहीं है। जिसका मन शुद्ध नहीं, उसके सयम कहाँ से हो सकता है।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, गाथा ६६ व अर्थ, पृष्ठ १८७)

–'यह मुनि शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मास्वरूप ही है। मुनि तो (सकलचारित्र तो) शुद्धोपयोग स्वरूप ही होता है। जो शुभोपयोगरूप भाव हैं, वह भी इस मुनि की पदवी में कालिमा समान है।'

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ४१ की टीका, पृष्ठ ४७)

–'जो चारित्रमोह के देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह चारित्र का मल है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२९)

–'शास्त्र में ऐसा कहा है कि चारित्र में "सम्यक्" पद है, वह अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के अर्थ है; इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान हो, पश्चात् चारित्र हो तो सम्यक्चारित्र नाम पाता है' तथा

–'वहाँ कितने ही जीव तो ऐसे हैं जो तत्त्वादिक के भलीभाँति नाम भी नहीं जानते; केवल व्रतादिक में ही प्रवर्तते हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान का अयथार्थ साधन करके व्रतादि में प्रवर्तते हैं। यद्यपि वे व्रतादिक का यथार्थ आचरण करते हैं, तथापि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान बिना सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४२)

–'द्रव्यलिङ्गी मुनि राज्यादिक को छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है, उग्र से उग्र अनशनादि बहुत तप करता है, क्षुधादिक बाईस परीषह सहता है, शरीर के खण्ड-खण्ड होनेपर भी व्यग्र नहीं होता, व्रतभङ्ग के अनेक कारण मिलनेपर भी दृढ़ रहता है, किसी से क्रोध नहीं करता, ऐसे साधनों का मान नहीं करता, ऐसे साधनों में कोई कपट नहीं है, इन साधनों द्वारा इस लोक-परलोक के विषयसुख को नहीं चाहता- ऐसी उसकी दशा हुई है। यदि ऐसी दशा न हो, तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे? परन्तु उसे मिथ्यादृष्टि असंयमी ही शास्त्रों में कहा है। उसका कारण यह है कि उसके तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान सच्चा नहीं हुआ है;' तथा,

–'तत्त्वज्ञान के बिना उत्कृष्ट (उग्र) आचरण होनेपर (द्रव्यलिङ्गी मुनि) असंयम नाम ही

पाता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४५)

-'मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण है नहीं। सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होनेपर निकट शुद्धोपयोग प्राप्त हो- ऐसी मुख्यता से कहीं शुभोपयोग (व्यवहारचारित्र) को शुद्धोपयोग (निश्चयचारित्र) का कारण भी कहते हैं- ऐसा जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५६)

--'सम्यक्त्व बिना चारित्र भी मिथ्या ही है; चारित्र से निर्वाण होता है।'

(श्रीअष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा ३१ का अर्थ, पृष्ठ ३०)

-**'सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा।**

अण्णाणणाणमूढा तहवि ण पावंति णिव्वाणं।। १०।।'

अर्थ- जो पुरुष सम्यक्त्वचरणचारित्र (निश्चयचारित्र) से भ्रष्ट हैं और संयम (व्यवहारचारित्र) का आचरण करते हैं, तो भी वे अज्ञान से मूढ़दृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा १० व अर्थ, पृष्ठ ६७)

-'जिनलिङ्ग; अर्थात्, "निर्ग्रन्थ मुनिभेष" यद्यपि तपव्रतसहित निर्मल है; तो भी सम्यग्दर्शन के बिना शोभा नहीं पाता है। इसके (सम्यग्दर्शन के) होनेपर ही अत्यन्त शोभायमान होता है।'

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा १४६ का भावार्थ, पृष्ठ २१८)

-**'बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो**

सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू।। ६१।।'

अर्थ- जो जीव बाह्य लिङ्ग-भेषसहित है और अभ्यन्तर लिङ्ग, जो परद्रव्यों से सर्व रागादिक ममत्वभावरहित ऐसे आत्मानुभव से रहित है, तो वह स्वक-चारित्र (निश्चयचारित्र); अर्थात्, अपने आत्मस्वरूप के आचरण-चारित्र से भ्रष्ट है। परिकर्म (व्यवहारचारित्र); अर्थात्, बाह्य में नग्नता, ब्रह्मचर्यादि शरीरसंस्कार से परिवर्तनवान द्रव्यलिङ्गी होनेपर भी वह स्वचारित्र (निश्चयसम्यक्चारित्र) से भ्रष्ट होने से मोक्षमार्ग का विनाश करनेवाला है।

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ६१ व अर्थ, पृष्ठ २६७)

प्रश्न २८- तत्त्वज्ञानरहित चारित्र का क्या लाभ है?

उत्तर- तत्त्वज्ञानरहित चारित्र एकमात्र संसार परिभ्रमण के लाभ का कारण है। शास्त्रों में उसकी (तत्त्वज्ञानरहित मिथ्यादृष्टि की) व्रत-तप आदि की बाह्यक्रियाओं और शुभभावों को अकार्यकारी बताते हुए उसके मोक्षमार्ग में प्रवेश का ही निषेध कहा है।

-'जैसे कोई किसान बीज तो बोये नहीं और अन्य साधन करे, तो अन्न-प्राप्ति कैसे हो? घास-फूस ही होगा; उसी प्रकार अज्ञानी तत्त्वज्ञान का तो अभ्यास करे नहीं और अन्य साधन

(व्रत-तप आदि) करे, तो मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो? देवपद आदि ही होंगे।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४२)

-'आगमजनित ज्ञान से यदि वह श्रद्धानशून्य हो, तो सिद्धि नहीं होती।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा २३७ की टीका, पृष्ठ ४६३)

-'यहाँ, परचारित्रप्रवृत्ति (शुभोपयोग एवं बाह्यक्रियाकाण्ड) बन्धहेतुभूत होने से उसे मोक्षमार्गपने का निषेध किया गया है।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १५७ की टीका, पृष्ठ २२७)

-'सकल क्रियाकाण्ड के आडम्बर से पार उतरी हुई, दर्शनज्ञानचारित्र की ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतना को किञ्चित् भी उत्पन्न नहीं करते हुए, बहुत पुण्य के भार से मन्थर (जड़; सुस्त; मन्द) हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हुए, देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति की परम्परा द्वारा अत्यन्त दीर्घकाल तक संसार सागर में भ्रमण करते हैं।'

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १७२ की टीका, पृष्ठ २५७)

-'**चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा। चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति।** -अर्थात्, जो चरणपरिणामप्रधान हैं (एकमात्र व्यवहारचारित्र; अर्थात्, बाह्यक्रिया और शुभोपयोग में सन्तुष्ट हैं) और स्वसमयरूप परमार्थ में व्यापाररहित हैं (निश्चयचारित्र से रहित हैं), वे चरणपरिणाम का सार जो निश्चय शुद्ध (आत्मा) उसे नहीं जानते।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १७२ की टीका, पृष्ठ २५७)

प्रश्न २९- सम्यक्चारित्र से क्या लाभ हैं?

उत्तर- सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र ही एकमात्र मोक्ष-प्राप्ति का उपाय है। सम्यग्दर्शन -ज्ञानसहित वीतराग; अर्थात्, निश्चय सम्यक्चारित्र शुद्धोपयोगरूप होने से साक्षात् मोक्ष का देनेवाला है। सरागचारित्र शुभोपयोगरूप होने से वास्तव में बन्ध का कारण और हेय ही है; लेकिन साधकदशा में निश्चय सम्यक्चारित्र के साथ भूमिकानुसार यथायोग्य वर्तते हुए सरागचारित्र को कहीं-कहीं उपचार से परम्परा मोक्ष का कारण भी बताया गया है।

-'**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः॥ १॥**' -**अर्थ**- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है; अर्थात्, मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १ व अर्थ, पृष्ठ ५)

-'भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहार वह परम्पराय मोक्ष का मार्ग है।............**मोक्ष का मार्ग दो** प्रकार का है- एक व्यवहार; दूसरा निश्चय। निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है और व्यवहार परम्पराय है।'

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, गाथा १४ की उत्थानिका और भावार्थ, पृष्ठ १२८-१२९)

-'सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।

मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्॥ २२२॥'

अन्वयार्थ- इस प्रकार यह पूर्वकथित निश्चय और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र लक्षणवाला मोक्ष का मार्ग आत्मा को परमात्मा का पद प्राप्त करवाता है।

भावार्थ- निश्चयरत्नत्रय तो मुख्य है और व्यवहाररत्नत्रय उपचाररूप है। यह दोनों ही मोक्ष के मार्ग हैं और जीव को परमपद की प्राप्ति करवाते हैं; अर्थात्, निश्चयमोक्षमार्ग साक्षात् मोक्षमार्ग का साधक है तथा व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परा से मोक्षमार्ग का साधक है; अथवा व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का कारण (निमित्त) है।

(श्रीपुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा २२०, अन्वयार्थ व भावार्थ, पृष्ठ १९१-१९२)

-'सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।

ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥ ३९॥'

गाथार्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रमय निज आत्मा को निश्चय से मोक्ष का कारण जानो।

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३९ व गाथार्थ, पृष्ठ १८३-१८४)

-'निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है और उस **शुद्धरत्नत्रय का फल**[1] स्वात्मोपलब्धि (निज शुद्धात्मा की प्राप्ति) है।'

(श्रीनियमसार, गाथा २ की टीका, पृष्ठ ७)

-'ये याता यान्ति यास्यन्ति यमिनः पदमव्ययम्।

समाराध्यैव ते नूनं रत्नत्रयमखण्डितम्॥ २३॥'

अर्थ- निश्चय करके इस रत्नत्रय को अखण्डित (परिपूर्ण) आराधन करके ही संयमी मुनि आजतक पूर्वकाल में मोक्ष गये हैं, वर्तमान में जाते हैं, और भविष्य में जायेंगे। तथा,

-'साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि।

दृश्यते न हि केनापि मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम्॥ २४॥'

अर्थ- इस रत्नत्रय को प्राप्त न होकर करोड़ों जन्म धारण करने पर भी कोई मुक्तिरूपी लक्ष्मी के मुखरूपी कमल को साक्षात् नहीं देख सकता।

(श्रीज्ञानार्णव, अथाष्टादशः सर्गः, गाथा २३, २४ व अर्थ, पृष्ठ १७९-१८०)

---

१. शुद्धरत्नत्रय का फल शुद्ध आत्मा की पूर्ण प्राप्ति; अर्थात्, मोक्ष है।

(श्रीनियमसार, गाथा २, पृष्ठ ७ की पादटिप्पणी)

–'तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि॥ १७२॥'

अन्वयार्थ- इसलिये मोक्षभिलाषी जीव सर्वत्र किञ्चित् भी राग न करो- ऐसा करने से भव्य जीव वीतराग होकर भवसागर को तरता है।

टीका- साक्षात् मोक्षमार्ग में अग्रसर सचमुच वीतरागपना है; इसलिये वास्तव में **अर्हन्तादिगत राग**[1] को भी, चन्दनवृक्षसङ्गत अग्नि की भाँति, देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तर्दाह का कारण समझकर, साक्षात् मोक्ष का अभिलाषी महाजन सभी की ओर के राग को छोड़कर, अत्यन्त वीतराग होकर, उसमें उबलती हुई दुःखसुख की किल्लोलें उछलती हैं और जो कर्माग्नि द्वारा तप्त, खलबलाते हुए जलसमूह की अतिशयता से भयङ्कर है- ऐसे भवसागर को पार उतरकर, शुद्धस्वरूप परमामृतसमुद्र को अवगाहकर, शीघ्र निर्वाण को प्राप्त होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १७२, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ २५१)

–'सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं॥ ९॥'

अर्थ- जो ज्ञानी होते हुए अमूढ़दृष्टि होकर सम्यक्त्वचरणचारित्र से शुद्ध होता है और जो संयमचरणचारित्र से सम्यक् प्रकार शुद्ध हो, तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

(श्रीअष्टपाहुड, श्रीचारित्रपाहुड, गाथा ९ व अर्थ, पृष्ठ ६६)

–'दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं॥ ४०॥'

अर्थ- हे भव्य! तू दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों को परमश्रद्धा से जान, जिसको जानकर योगी मुनि थोड़े ही काल में निर्वाण को प्राप्त करता है।

(श्रीअष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, गाथा ४० व अर्थ, पृष्ठ ८४)

–'(जो) निश्चयरत्नत्रय के साधक व्यवहार-रत्नत्रयरूप शुभोपयोग के प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं, उन्हें पापास्रव के सवर (नाश) के कारण जानना और जो व्यवहार-रत्नत्रय से साध्य शुद्धोपयोग लक्षणवाले निश्चयरत्नत्रय का प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं, उन्हें पुण्य-पाप इन दोनों के संवर के कारण जानना।'

(श्रीबृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १६९-१७०)

---

१. **अर्हन्तादिगत राग**- अर्हन्तादि की ओर का राग; अर्हन्तादिविषयक राग; अर्हन्तादि का राग।

[जिस प्रकार चन्दनवृक्ष की अग्नि भी उग्ररूप से जलाती है, उसी प्रकार अर्हन्तादि का राग भी देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तरङ्ग जलन का कारण होता है।]

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १७२, पृष्ठ २५१ की पादटिप्पणी)

-'संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो।। ६।।'

अन्वयार्थ- जीव को दर्शनज्ञान प्रधान चारित्र से देवेन्द्र, असुरेन्द्र, और नरेन्द्र के वैभवों के साथ निर्वाण प्राप्त होता है।[1]

टीका- दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से यदि वह वीतराग हो, तो मोक्ष प्राप्त होता है और उससे ही (दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से ही) यदि वह सराग हो, तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभवक्लेशरूप बन्ध की प्राप्ति होती है; इसलिये मुमुक्षुओं को इष्टफलवाला होने से वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य (उपादेय) है और अनिष्ट फलवाला होने से सरागचारित्र त्यागने योग्य (हेय) है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ६, अन्वयार्थ व टीका, पृष्ठ ९-१०)

-'दृगवगमचरित्रालंकृत: सिद्धिपात्रं लघुरपि न गुरुः स्यादन्यथात्वे कदाचित्।
स्फुटमवगतमार्गो याति मन्दो ऽपि गच्छन्नभिमतपदमन्यो नैव तूर्णो ऽपि जन्तु:।।७४।।'

अर्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, एवं सम्यक्चारित्र से विभूषित पुरुष यदि तप आदि अन्य गुणों में मन्द भी हो, तो भी वह सिद्धि का पात्र है; अर्थात्, उसे सिद्धि की प्राप्ति होती है। किन्तु इसके विपरीत यदि रत्नत्रय से रहित पुरुष अन्य गुणों में महान भी हो, तो भी वह कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता है। ठीक ही है- स्पष्टतया मार्ग से परिचित व्यक्ति यदि चलने में मन्द भी हो, तो भी वह धीरे-धीरे चल कर अभीष्ट स्थान में पहुँच जाता है। किन्तु इसके विपरीत, जो अन्य व्यक्ति मार्ग से अपरिचित है; वह चलने में शीघ्रगामी हो कर भी अभीष्ट स्थान को नहीं प्राप्त हो सकता है।

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशति:, अध्याय १, गाथा ७४ व अर्थ, पृष्ठ ३२)

-'रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु।। ८३।।'

अर्थ- हे योगिन्! रत्नत्रययुक्त जीव ही उत्तम पवित्र तीर्थ है और वही मोक्ष का कारण है; अन्य कुछ मन्त्र-तन्त्र मोक्ष का कारण नहीं है।

(आचार्य योगीन्दुदेव कृत योगसार, दोहा ८३ व अर्थ, श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३७८)

-'चरन उलटैं प्रभु समल, सुलटै चरन सब निर्मल होति।
उलट चरन संसार है, सुलट परम की ज्योति।। ३।।'

अर्थ- चारित्र उल्टा (मिथ्या) होने से प्रभु (जीव) मलिन होता है; चारित्र सुल्टा (सम्यक्) होने से सब निर्मल हो जाते हैं। मिथ्याचारित्र संसार है और सम्यक्चारित्र परमज्योति; अर्थात्, मोक्ष है।

(आत्मावलोकन, आत्मावलोकन स्तोत्र, दोहा ३ व अर्थ, पृष्ठ १४७)

---

१. जीव को सराग चारित्र से देवेन्द्र इत्यादि के वैभवों की और वीतरागचारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।
(श्रीप्रवचनसार, गाथा ६ के अन्वयार्थ के साथ टिप्पणी, पृष्ठ १०)

-'मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं;

अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश-जल जग-मल हरैं।'

अन्वयार्थ- जो महापुरुषार्थी जीव इस प्रकार निश्चय और व्यवहार- ऐसे दो प्रकार के रत्नत्रय को धारण करते हैं और करेंगे, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं और उन जीवों का सुकीर्तिरूपी जल संसाररूपी मैल का नाश करता है।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १४ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १७७)

प्रश्न ३०- व्यवहार-रत्नत्रय को परम्परा-मोक्ष का कारण क्यों कहा है?

उत्तर- हाँ, ज्ञानी के व्यवहार-रत्नत्रय (शुभराग) को व्यवहार से मोक्ष का कारण कहा है किन्तु इसका अर्थ ही यह है कि शुभरागरूप व्यवहार-रत्नत्रय मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है। जिसको राग से भिन्न अपने ज्ञायकरूप भगवान आत्मा का अनुभव हुआ है, ऐसे समकिती धर्मीजीव को शुभ के काल में अशुभ टलता है और स्वाश्रय से शुभ टलकर शुद्धदशा प्रगट होगी- इस अपेक्षा से ज्ञानी के व्यवहार-रत्नत्रय को मोक्ष का परम्पराकारण व्यवहारनय से कहा जाता है।

यथार्थ सिद्धान्त तो यह एक ही है कि व्यवहार से निश्चय नहीं होता, क्योकि व्यवहार का शुभराग अचेतन है- पुद्गल के परिणामस्वरूप है; यह चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की निर्मल परिणति का कारण नहीं बन सकता। वह ज्ञान में निमित्त है तथा ज्ञान उसको जाननेवाला है- ऐसी ज्ञान की स्व-परप्रकाशक सहज सामर्थ्य है।

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३५-३५)

प्रश्न ३१- क्या सम्यक्चारित्र पञ्चमकाल में भी मोक्ष-प्राप्ति का कारण हो सकता है?

उत्तर- वास्तव में कोई भी काल और क्षेत्र धर्म की प्राप्ति के लिए विघ्नकारक नहीं है; अत: इस पञ्चमकाल और भरतक्षेत्र में भी आत्मसन्मुखता; अर्थात्, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपूर्वक भावलिङ्गी मुनि इन्द्रादि पद प्राप्त कर क्रम से मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

-'अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।

लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।। ७७।।'

अर्थ- अभी इस पञ्चमकाल में भी जो मुनि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता युक्त होते हैं, वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद अथवा लोकान्तिकदेवपद को प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

(श्रीअष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा ७७ व अर्थ, पृष्ठ २७५)

-'यह काल साक्षात् मोक्ष न होने की अपेक्षा निकृष्ट है। आत्मानुभवनादिक द्वारा सम्यक्त्वादिक होना, इस काल में मना नहीं है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९३)

-'कौन कहता है कि पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र से मुक्ति नहीं है? आज भी यदि कोई महाविदेहक्षेत्र में से ध्यानस्थ मुनि को उठाकर यहाँ भरतक्षेत्र में रख जाये, तो पञ्चमकाल और भरतक्षेत्र के होनेपर भी वह मुनि पुरुषार्थ के द्वारा क्षपकश्रेणी को लगाकर केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष किसी काल अथवा क्षेत्र के द्वारा नहीं रुकता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, अध्याय १५, पृष्ठ ५६)

[**विशेष- (१)** भगवान जम्बूस्वामी चतुर्थकाल में उत्पन्न हुए लेकिन पञ्चमकाल के प्रारम्भ में मथुरा-चौरासी से मोक्ष पधारे;

(२) 'पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र से उत्पन्न कोई जीव सीधे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है' -इस कथन का अभिप्राय यह है कि सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में ऐसा आया है कि पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र में जन्म लेनेवाला कोई जीव मोक्ष प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। इसमें काल और क्षेत्र को दोष देना व्यर्थ है।]

प्रश्न ३२- वर्तमान में मुमुक्षु जीव को क्या करना योग्य है?

उत्तर- मुमुक्षु भव्य जीवों को प्रमाद का त्यागकर, शास्त्राभ्यास एवं ज्ञानी गुरु की देशना प्राप्त कर, परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मस्वभाव का निर्णय कर, सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही एकदेशचारित्ररूप श्रावकदशा, सकलचारित्ररूप मुनिदशा की प्राप्ति होकर क्रम से यथाख्यातरूप पूर्णचारित्र की प्राप्ति होकर, नियम से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

-'इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ;
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौ झटिति निज हित करो।। १४।।'

अन्वयार्थ- (ऐसा जानकर) प्रमाद छोड़कर, पुरुषार्थ करके यह शिक्षा-उपदेश ग्रहण करो कि जब तक रोग या वृद्धावस्था न आये, तब तक शीघ्र आत्मा का हित कर लेना चाहिए।

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १४ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ १७७)

-'एक मनुष्य पर्याय में कोई अपना भला होने का उपाय करे, तो हो सकता है; जैसे, काने गन्ने की जड़ व उसका ऊपरी फीका भाग तो चूसने योग्य ही नहीं है और बीच की पोरें कानी होने से वे भी नहीं चूसी जातीं; कोई स्वाद का लोभी उन्हें बिगाड़े तो बिगाड़ो। परन्तु यदि उन्हें बो दे, तो उनसे बहुत से गन्ने हों और उनका स्वाद बहुत मीठा आये। उसी प्रकार मनुष्यपर्याय का बालक-वृद्धपना तो सुखयोग्य नहीं है और बीच की अवस्था रोगक्लेशादि से युक्त है; वहाँ सुख हो नहीं सकता। कोई विषयसुख का लोभी उसे बिगाड़े, तो बिगाड़ो; परन्तु यदि उसे धर्मसाधन में लगाये, तो बहुत उच्चपद को पाये। वहाँ सुख बहुत निराकुल पाया जाता है; इसलिये यहाँ अपना हित साधना, सुख होने के भ्रम से (मनुष्यभव) वृथा नहीं खोना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ६८)

——— इति: श्रीसद्गुरुदेवाय नमः ———

सम्यग्दर्शन तो वीरों का काम है।

पञ्चमकाल में भी क्षणभर में सम्यग्दर्शन हो सकता है। पञ्चमकाल सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने के लिये प्रतिकूल नहीं है। सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो वीरों का काम है; कायरों का नहीं। पञ्चमकाल में नहीं हो सकता- ऐसा मानना कायरता है। बाद में करेंगे, कल करेंगे- इस प्रकार वायदा करनेवालों का यह काम नहीं है। आज ही करेंगें, अभी करेंगे- ऐसे वीरों का यह काम है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके समक्ष देखने वालों को पञ्चमकाल क्या करेगा?

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या २४६, पृष्ठ ९७)

जानकारी का अहङ्कार नहीं करना

'मैं जानता हूँ'- ऐमी जानकारी का अहङ्कार नहीं करना। 'यह मुझे आता है, मैं समझता हूँ'- इसमें मत बह जाना। अज्ञानी को जरा-सा भी कुछ आ जाये; धारणा से याद रहे- वहाँ उसको अभिमान हो जाता है। कारण कि अज्ञानी को वस्तु के अगाध स्वरूप का ख्याल (अनुभव) नहीं है; इसलिये वह बुद्धि के क्षयोपशम आदि में सन्तोष मानकर अटक जाता है।

अज्ञानी इन्द्रियज्ञान में 'मुझे कुछ आता है, मैं भी कुछ जानता हूँ'- ऐसा मानकर रुक जाता है, और ज्ञानी को अपना रस होने से, वह इन्द्रियज्ञान में नहीं अटकता है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है, बोल ४३८, पृष्ठ २१४)

ज्ञान नहीं-अज्ञान है

जिस ज्ञान के साथ आनन्द न आये, वह ज्ञान नहीं- अज्ञान है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, परमागमसार, बोल ६३०, पृष्ठ १५५)

परिशिष्ट

कुल पृष्ठ संख्या ४७

वीतराग प्रश्नोत्तरी

जिनदर्शन निजदर्शन खातिर; निजदर्शन जिनदर्शन है।

प्रश्न १- तुम कौन हो?

उत्तर- मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड आत्मा हूँ।

प्रश्न २- तुम कौन नहीं हो?

उत्तर- अत्यन्त भिन्न परपदार्थ, शरीर, वाणी, आठ-कर्म, एवं शुभाशुभ विकारीभाव; अर्थात्, नोकर्म, द्रव्यकर्म, और भावकर्म मैं नहीं हूँ।

प्रश्न ३- मनुष्य किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कारण जो हेय-उपादेय आदि का विचार करते हैं, अथवा जो मन से गुण-दोषादिक का विचार करने में निपुण हैं, अथवा जो मन से उत्कृष्ट; अर्थात्, दूरदर्शन, सूक्ष्मविचार, चिरकाय धारण आदिरूप उपयोग से युक्त है अथवा, जो मनु की सन्तान है; इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं।

(श्रीधवला पुस्तक १, पृष्ठ २०४, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या ४६, पृष्ठ १३)

प्रश्न ४- तुम कब से हो?

उत्तर- मैं जन्म-मरणरहित अनादिअनन्त हूँ।

प्रश्न ५- जन्म-मरण होना क्या असत्य है?

उत्तर- शरीर का संयोग-वियोग होता है, आत्मा का नहीं। शरीर के संयोग-वियोग को ही व्यवहार से जन्म-मरण नाम दिया जाता है।

प्रश्न ६- आत्मा क्या कर सकता है?

उत्तर- आत्मा चैतन्यस्वरूप है। वह ज्ञाता-दृष्टा के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ७, पृष्ठ ४३, आधार-आत्मधर्म, मई ९६, पृष्ठ १२-१३)

प्रश्न ७- आत्मा ज्ञाता-दृष्टा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता, तो फिर संसार और मोक्ष की व्यवस्था का क्या मतलब है?

उत्तर- आत्मा ज्ञाता-दृष्टा ही है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा के उपयोग को जब परपदार्थ की ओर लक्ष्य रखकर परभाव में यह 'मैं' ऐसा दृढ़ कर लेता है, तब यही संसार कहलाता है और जब स्व की ओर लक्ष्य करके उपयोग को स्व में यह 'मैं' ऐसा दृढ़ कर लेता है, तब यही मोक्ष कहलाता है। 'स्व' की तरफ लक्ष्य रखकर स्व में दृढ़ता और पर की तरफ लक्ष्य रखकर पर में दृढ़ता। इसके अतिरिक्त अनादिकाल से और कुछ और कोई भी जीव कर ही नहीं सका है और अनन्तकाल तक और कुछ भी नहीं कर सकेगा।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ७, पृष्ठ ४३, आधार-आत्मधर्म, मई ९६, पृष्ठ १२-१३)

प्रश्न ८- आत्मा ज्ञाता-दृष्टा के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता तो फिर समस्त शास्त्रों से क्या लाभ है?

उत्तर- बारह अङ्ग के सब शास्त्रों का उपदेश मात्र यह ही है कि चैतन्य का उपयोग, जो पर की तरफ ढला हुआ है, उसे स्व की तरफ मोड़कर स्व में दृढ़ करना। चारों अनुयोगों में मात्र उपयोग को मोड़ करने की बात है। इसी बात को शास्त्रों में अनेक युक्तियों से समझाया है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ७, पृष्ठ ४४, आधार-आत्मधर्म, मई ९६, पृष्ठ १२-१३)

प्रश्न ९- संसारी और मुक्त जीवों की क्रिया में क्या अन्तर है?

उत्तर- चैतन्य का ज्ञानोपयोग- यही आत्मा की क्रिया है। निगोद से लगाकर सिद्ध भगवान तक के सभी जीव मात्र उपयोग ही कर सकते हैं। ज्ञाता-दृष्टा के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं कर सकते। भेद मात्र इतना ही है कि मिथ्यादृष्टि जीव अपने उपयोग को पर की तरफ लगाकर परभावों में एकाग्र रहते हैं और ज्ञानी अपने उपयोग को अपने शुद्धस्वभाव में ढालकर स्वभाव में एकाग्र रहते हैं। परन्तु कोई भी जीव ज्ञानोपयोग के सिवाय परपदार्थों में कोई भी परिवर्तन असर-मदद नहीं कर सकता। अज्ञानदशा में शुभ-अशुभरूप अशुद्धोपयोग कर सकता है। याद रखना, शुभ-अशुभ दोनों में पर का लक्ष्य होने से अशुद्धोपयोग कहलाता है और स्व की ओर का ज्ञानोपयोग शुद्धोपयोग कहलाता है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ७, पृष्ठ ४४, आधार-आत्मधर्म, मई ९६, पृष्ठ १२-१३)

प्रश्न १०- बन्ध-मुक्ति के सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है?

उत्तर- परलक्ष्य से बन्धन और स्वलक्ष्य से मुक्ति होती है। परलक्ष्य होनेपर शुभभाव भी अशुद्धोपयोग ही है; संसार का कारण है। जहाँ स्वलक्ष्य है; वहाँ शुद्धोपयोग है, मुक्ति का कारण है।

(जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला, भाग ७, पृष्ठ ४४, आधार-आत्मधर्म, मई ९६, पृष्ठ १२-१३)

प्रश्न ११- सुख क्या है?

उत्तर- आकुलतारहित, चिन्तारहित, क्लेशरहित, झंझटरहित, वस्तुस्वरूप की सच्ची समझ

को सुख कहते हैं।

– **'आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये;'**

(छहढाला, तीसरी ढाल, दोहा १ की प्रथम पंक्ति, पृष्ठ ५३)

– 'निराकुलता ही सुख का लक्षण है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ७५)

– 'दुःख का अभाव वही सुख है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७८)

प्रश्न १२– दुःख क्या है?

उत्तर– आकुलता, चिन्ता, क्लेश, झंझट, एवं वस्तुस्वरूप की उल्टी समझ ही दुःख है।

– 'दुःख का लक्षण आकुलता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ७०)

– 'तथा इच्छा है, सो आकुलतामय है और आकुलता है, वह दुःख है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ७१)

प्रश्न १३– दुःख का कारण क्या है?

उत्तर– वस्तुस्वरूप का उल्टा श्रद्धान-ज्ञान-आचरण; अर्थात्, मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान -मिथ्याचारित्र ही दुःख का मूल कारण है।

– 'वहाँ सब दुःखों का मूलकारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम है।' तथा,

– 'ये मिथ्यादर्शनादिक हैं, वे ही सर्व दुःखों का मूलकारण हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ४६)

– 'जैसा इसके श्रद्धान है, वैसा तो पदार्थ होता नहीं है; जैसा पदार्थ है, वैसा यह मानता नहीं है; इसलिये इसको आकुलता ही रहती है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५०)

– 'तथा जो विषयों की इच्छा होती है, कषाय होती है, बाह्य-सामग्री में इष्ट-अनिष्टपना मानता है, अन्यथा उपाय करता है, सच्चे उपाय की श्रद्धा नहीं करता, अन्यथा कल्पना करता है; सो इन सबका मूलकारण एक मिथ्यादर्शन है। उसका (मिथ्यादर्शन का) नाश होनेपर सबका नाश हो जाता है; इसीलिये सब दुःखों का मूल यह मिथ्यादर्शन है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५१)

– **'इस भव के सब दुःखनिके, कारण मिथ्याभाव।**
तिनिकी सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव॥' तथा,

- 'यहाँ संसार दु:खों के बीजभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७६)

- 'तथा दु:ख का कारण तो कर्मबन्धन है और उसका कारण मिथ्यात्वादिक आस्रव हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७८)

- 'प्रथम मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षी, जो मिथ्यादर्शनादिक, उनका स्वरूप बतलाया- उन्हें तो दु:खरूप, दु:ख का कारण जानकर, हेय मानकर उनका त्याग करना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०५)

- 'ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दु:ख जन्म-मर्ण;
तातै इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहुँ बखान।। १।।'

अन्वयार्थ- यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र के वश होकर (इस प्रकार) जन्म और मरण के दु:खों को भोगता हुआ चारों गतियों में भटकता फिरता है।

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द १ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३०)

प्रश्न १४- अज्ञानी जीव सुख और धर्म किसमें मानता है?

उत्तर- अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि जीव) पाप में सुख और पुण्य में धर्म मानता है। पाप में सुख; अर्थात्, इन्द्रिय के भोग, भोजन, व्यापार आदि पापक्रियाओं में सुख और पुण्य में धर्म; अर्थात्, व्रत-तप-पूजा आदि में धर्म मानता है।

- 'इसी प्रकार अनेक कार्यों की प्रवृत्ति (भोजन आदि) में इच्छा होती है। सो इस इच्छा का नाम पुण्य का उदय है। इसे जगत सुख मानता है, परन्तु यह सुख है नहीं; दु:ख ही है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ७०-७१)

- 'तेरे चरणों की पूजा से, इन्द्रिय-सुख की ही अभिलाषा।
अबतक न समझ ही पाया प्रभुवर! सच्चे सुख की मैं परिभाषा।।'

(श्री युगलजी कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन)

प्रश्न १५- क्या इन्द्रिय के भोग, भोजन, व्यापार आदि से सुख नहीं होता?

उत्तर- सुख का सच्चा लक्षण 'निराकुलता' है, और वह सुख इच्छा मिटने पर ही होता है। इन्द्रिय के भोग, भोजन, व्यापार आदि तो पापक्रियाएँ हैं। इनसे सुख मानना सर्वथा गलत है।

- 'इस प्रकार जो उपाय इसे भासित होते हैं, सो करता है किन्तु वे झूठे हैं।' तथा,

- 'इच्छा मिटे बिना सुख नहीं होता; इसलिये यह उपाय झूठा है।' तथा,

- 'यह संसारी जो उपाय करता है, वे भी झूठे होते हैं।' तथा,

- 'कषायों के प्रयोजन को साधकर दु:ख दूर करके सुखी होना चाहता है, सो यह उपाय

झूठा ही है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ४८, ४९, ५२ तथा ५७)

–'नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नासुखम्।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाशुभम्॥ २४४॥
इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम्।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः॥ २४५॥'

अर्थ- यह ऐहिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। सुख वह है जहाँ दुःख नहीं है, धर्म वह है जहाँ अधर्म नहीं है, और शुभ वह है जहाँ अशुभ नहीं है॥ २४४॥ यह सुख पराधीन है, बाधाओं से घिरा हुआ है, सान्त है, बन्ध का कारण है, और विषम है; इसलिये यह सुख वास्तव में दुःख ही है॥ २४५॥

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा २४४-२४५ व अर्थ, पृष्ठ १९१)

–'सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ ७६॥'

अन्वयार्थ- जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख पर-सम्बन्धयुक्त, बाधासहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण और विषम है; इस प्रकार वह दुःख ही है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ७६ व अन्वयार्थ, पृष्ठ १३४)

–'ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम्॥ २३८॥'

अर्थ- जो ऐहिक सुख है, वह सब वैषयिक माना गया है। वह सुख नहीं है किन्तु सुखाभास है। निश्चय से वह दुःख ही है।

(श्रीपञ्चाध्यायी, दूसरा अध्याय, गाथा २३८ व अर्थ, पृष्ठ १९०)

–'यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम्।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः॥ ५॥'

अर्थ- इन्द्रियों के विषयसेवन से जो सुख हुआ है, वह दुःख ही है, क्योंकि यह इन्द्रियजनित सुख अनन्त संसार की सन्तति के क्लेशों को सम्पादन करने का कारण है और विद्वानों ने दुःख तथा दुःख के कारण को एक ही कहा है।

(श्रीज्ञानार्णव, विंशः सर्गः, गाथा ५ व अर्थ, पृष्ठ १९९)

–'सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम्।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्त्ववित्॥ १५०॥'

अर्थ- जिन जीवों ने निरन्तर भोगों का अनुभव किया है, उनका उन भोगों से उत्पन्न हुआ सुख अवास्तविक है; किन्तु आत्मा से उत्पन्न सुख अपूर्व और समीचीन है। ऐसा जिसके हृदय में दृढ़ विश्वास हो गया है, वह तत्त्वज्ञ है।

(श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः, धर्मोपदेशामृतम्, गाथा १५० व अर्थ, पृष्ठ ६१)

प्रश्न १६- वास्तव में सुख और धर्म कहाँ हैं?

उत्तर- सुख और धर्म वास्तव में आत्मा का स्वभाव है और ये दोनों (सुख और धर्म) अविनाभावीरूप से (एकसाथ) आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं। सुख और धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन; अर्थात्, चौथे गुणस्थान से होकर पूर्णता मोक्ष (सिद्धदशा) में होती है।

-'मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।। ८३।।'

अर्थ- मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम वह 'धर्म' है।

(श्रीअष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा ८३ का उत्तरार्द्ध व अर्थ, पृष्ठ १७८)

-'जीव राग से भिन्न शुद्ध आत्मा का अनुभव करे, तब धर्म होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीप्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ ३१६)

-'आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये;
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये।'

अन्वयार्थ- आत्मा का हित सुख की प्राप्ति में है। वह सुख आकुलतारहित कहा जाता है। आकुलता मोक्ष में नहीं है; इसलिये मोक्षमार्ग में लगना चाहिए।

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १ का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ५३-५४)

-'धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। जो पर में आत्मबुद्धि छोड़ अपना ज्ञाता-दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव, तथा ज्ञायकस्वभाव में ही प्रर्वत्तनरूप जो आचरण- सो धर्म है।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, पञ्चम अधिकार, पृष्ठ २४६)

-'धर्म तो वस्तु का स्वभाव ही कू कहिये है, लोक में जितने पदार्थ हैं तितने अपने स्वभाव कूं कदाचित् नाहीं छांड़े हैं।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, सूत्र २ का भावार्थ, पृष्ठ २)

-**'वत्थुसहावो धम्मो' -अर्थ-** वस्तु का स्वभाव धर्म है।

(श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४७६ व अर्थ, पृष्ठ २२३)

प्रश्न १७- दुःख दूर करने और सुख-प्राप्ति का सच्चा उपाय क्या है?

उत्तर- दुःख का लक्षण आकुलता है और मोक्ष में आकुलता का अभाव है; अतः सुख-प्राप्ति के लिये मोक्षमार्ग में लगना चाहिए।

–'आकुलता शिव मांहि न तातै, शिवमग लाग्यो चहिए'

(छहढाला, तीसरी ढाल, दोहा १ की द्वितीय पंक्ति, पृष्ठ ५३)

–'जब इच्छा दूर हो जाये और सर्व विषयों का युगपत् ग्रहण बना रहे, तब यह दुःख मिटे। सो इच्छा तो मोह जानेपर मिटे और सबका युगपत् ग्रहण केवलज्ञान होनेपर हो। इनका उपाय सम्यग्दर्शनादिक है और वही सच्चा उपाय जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५०)

–'जिन जीवों को दुःख से छूटना हो, वे इच्छा दूर करने का उपाय करो तथा इच्छा दूर तब ही होती है जब मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम का अभाव हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो। इसलिये इसी कार्य का उद्यम करना योग्य है। ऐसा साधन करने पर जितनी-जितनी इच्छा मिटे, उतना-उतना दुःख दूर होता जाता है और जब मोह के सर्वथा अभाव से सर्व इच्छा का अभाव हो, तब सर्व दुःख मिटता है; सच्चा सुख प्रगट होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ७२)

–'ज्ञान समान न आन जगत में सुखकों कारन;
इहि परमामृत जन्मजरामृति रोग-निवारन।। ४।।'

अन्वयार्थ- इस जगत में सम्यग्ज्ञान जैसा दूसरा कोई पदार्थ सुख का कारण नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म, जरा, और मृत्युरूपी रोगों को दूर करने के लिए उत्कृष्ट अमृत समान है।

(छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ९८-९९)

–'इस प्रकार सम्यग्दर्शनादि साधन से सिद्धपद प्राप्त करने पर सर्व दुःख का अभाव होता है, सर्व सुख प्रगट होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ७५)

–'जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान हो जाये तो सर्व दुःख दूर हो जाये। जिस प्रकार कोई मोहित होकर मुर्दे को जीवित माने या जिलाना चाहे, तो आप ही दुःखी होता है। तथा उसे मुर्दा मानना और यह जिलाने से जियेगा नहीं, ऐसा मानना, सो ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा मानें; अन्यथा परिणमित करना चाहे, तो आप ही दुःखी होता है। तथा उन्हें यथार्थ मानना और परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे, ऐसा मानना सो ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दुःख का उपाय भ्रम दूर करना ही है। सो भ्रम दूर होने से सम्यकश्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ५२)

–'प्रथम तो दुःख दूर करने में आपापर का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।' तथा,

–'आपापर का ज्ञान होनेपर ही दुःख दूर होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ७८)

प्रश्न १८– मोक्षमार्ग क्या है?

उत्तर– सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, सो मोक्षमार्ग है।

–**'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः॥ १॥'**

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १, पृष्ठ ४)

–**'सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव, मग सो द्विविध विचारो;'**

(छहढाला, तीसरी ढाल, दोहा १ की तृतीय पंक्ति, पृष्ठ ५३)

प्रश्न १९– मुमुक्षु किसे कहते हैं?

उत्तर– निर्विषयी, निर्विकारी, उपशममूर्ती, शान्तमुद्रा, महात्मा को देखकर उसरूप जीवन बनाने का निष्कारण शौक (तीव्र इच्छा) जिसे हो, उसे मुमुक्षु कहते हैं। अथवा मोक्ष के इच्छुक को मुमुक्षु कहते हैं।

–'अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ, वह मोक्ष। यहाँ कहते हैं कि उस मोक्ष का अर्थी सो मोक्षार्थी; अर्थात्, जिसे इस आनन्द का वेदन हुआ है, आनन्द अनुभव में आया है– सो मोक्षार्थी है। फिर वह भले ही गृहस्थाश्रम में हो, (उसे अभी) रागादि हो, किन्तु अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का नाश हो गया है; उसके स्थान पर सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणरूप, स्थिरता का आनन्द आया है –उस जीव को मुमुक्षु कहते हैं, उस जीव को योगी कहते हैं। मोक्षार्थी की यह व्याख्या है! जिसे मोक्ष का; अर्थात्, पूर्ण आनन्द का प्रयोजन है उसे आनन्द का नमूना तो आया है। मुमुक्षु तो उसे कहते हैं कि जो मोक्ष का अर्थी है।'

(श्रीनियमसार, गाथा ५० पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, आत्मजागृति, जून १९९६, पृष्ठ ८)

प्रश्न २०– जैन किसे कहते है?

उत्तर– 'निज शुद्धात्म आत्मद्रव्य के आश्रय से मिथ्यात्व-राग-द्वेष को जीतनेवाली निर्मल –परिणति जिसने प्रगट की है, उसे जैन कहते है। मिथ्यात्व के नाशपूर्वक जितने अंश में जो रागादिक का नाश करता है, उतने अंश में वह जैन है। वास्तव में जैनत्व का प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शन से ही होता है।'

(लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका, प्रश्न संख्या ९०, पृष्ठ ३१)

–'अनादि के अगृहीत मिथ्यात्व के छूटने पर ही जिनेन्द्र भगवान का सच्चा भक्त होता है और सच्चा जैनपना प्रगट होता है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री, आत्मधर्म, मई १९८३, पृष्ठ २९, ज्ञानगोष्ठी, पृष्ठ २५)

–'अनन्त परद्रव्यों में मैं कुछ कर सकता हूँ –ऐसा जो मानता है, उसे वीतरागी भगवान जैन नहीं कहते। जैन अर्थात् जीतनेवाला। मैं शुद्ध चैतन्य स्वभाव हूँ। पुण्य मैं नहीं, विकार मेरा कर्तव्य नहीं– ऐसा भेदज्ञान करके विकार को जीते, वो जैन है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, श्रीप्रवचनसारप्रवचन, अध्याय ३, पृष्ठ ४६)

–'अभेद स्वभाव की ओर ढलने से विकल्प का क्षय हो जाता है और आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है। जब जीव को ऐसा अनुभव हुआ, तब वह सम्यग्दृष्टि हुआ, जैनधर्मी हुआ। इसके बिना वास्तव में जैनधर्मी नहीं कहलाता।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, सम्यग्दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ १७३)

प्रश्न २१– सच्चे जैन कितने प्रकार के हैं?

उत्तर– सच्चे जैन तीन प्रकार के हैं– (१) उत्तम, (२) मध्यम, और (३) जघन्य।

(१) **उत्तम जैन**– अरहन्त और सिद्ध;

(२) **मध्यम जैन**– सातवें गुणस्थान से १२वें गुणस्थान तक के जीव; और

(३) **जघन्य जैन**– चौथे गुणस्थानवाले अवृति सम्यग्दृष्टि, पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक, और छठे गुणस्थानवाले सविकल्प भावलिङ्गी मुनि सच्चे जैन हैं।

–'जिसे सम्पूर्ण राग–द्वेष को जीतनेवाले अपने वीतरागस्वरूप का भान है, किन्तु अभी पूर्ण राग–द्वेष को जीता नहीं है, वह छद्मस्थ जैन है और वीतरागस्वरूप के भानपूर्वक जिसने सम्पूर्ण राग–द्वेष को जीता है, वह पूर्ण जैन है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, भाग १, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १९)

[**विशेष**– छहढाला की तीसरी ढाल के चौथे व पाँचवें पद में साधक अन्तरात्मा के उत्तम, मध्यम व जघन्य तीन भेद किये हैं]

प्रश्न २२– हमें आज तक धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं हुई?

उत्तर– निज ज्ञायक भगवान आत्मा को शरीरादि परपदार्थों से सर्वथा भिन्न न जानने–मानने के कारण हमें आज तक धर्म की प्राप्ति नहीं हुई।

–'जिस काल किसी जीव के दर्शनमोह के उपशम–क्षय–क्षयोपशम से स्व–पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो, तब जीव सम्यकत्वी होता है।'

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४१)

–'ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।। ३।।'

अर्थ– मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा के स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा न करके, अज्ञानवश विपरीत मानकर, शरीर ही मैं हूँ; शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ; मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था

रख सकता हूँ- ऐसा मानकर शरीर को ही आत्मा मानता है। (इस कारण धर्म की प्राप्ति नहीं होती।)

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द ३ का उत्तरार्द्ध व भावार्थ, पृष्ठ ३२-३३)

प्रश्न २३- आत्मा को शरीर से भिन्न जानने का उपाय क्या है?

उत्तर- आत्मा और शरीर के लक्षणों द्वारा आत्मा को शरीर से भिन्न जाना जा सकता है। दोनों (आत्मा और शरीर) के मुख्य-मुख्य लक्षण निम्न हैं-

क्र०	आत्मा	शरीर
१.	अरूपी	रूपी
२.	चेतन	जड़
३.	असंयोगी	संयोगी
४.	अविनाशी	विनाशी
५.	जानने-देखनेवाला (ज्ञाता-दृष्टा)	अन्धा
६.	अतीन्द्रियग्राह्य	इन्द्रियग्राह्य
७.	अन्तरङ्ग स्व-तत्त्व	बाह्य परतत्त्व

प्रश्न २४- क्या संसार परिभ्रमण का कारण कर्म (आठ कर्म), इन्द्रियाँ, शरीर की क्रिया आदि हैं?

उत्तर- नहीं! संसार परिभ्रमण का कारण कर्म, इन्द्रियाँ, शरीर आदि की क्रिया नहीं हैं। परपदार्थों में इष्ट-अनिष्ट मान्यतारूप अपनी मूर्खता ही संसार परिभ्रमण का सच्चा कारण है।

-'इस जगत में-लोकाकाश में, यद्यपि कार्माण वर्गणाएँ ठसाठस भरी हैं, तथापि आत्मा उनसे नहीं बँधता; अन्यथा सिद्ध भगवान को भी बन्धन ठहरेगा। इसी प्रकार मन-वचन-काय की क्रिया से भी आत्मा नहीं बँधता; अन्यथा यथाख्यात संयम के धारक भगवान अरहन्त केवली को भी बन्ध का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि उनके उक्त तीनों की (वचन तथा काय की) क्रिया विद्यमान है। तथा पाँच इन्द्रियों की क्रिया भी बन्ध का कारण नहीं है; अन्यथा भगवान केवली को भी बन्ध होगा। इसी तरह चेतन-अचेतन का घात भी बन्ध का कारण नहीं है; अन्यथा समिति के धारक मुनिवरों को भी बन्ध का प्रसङ्ग आ जायेगा। इस प्रकार परवस्तु बन्ध (संसार परिभ्रमण) का कारण नही है।'

(श्रीसमयसार गाथा २६५ पर पू० गुरूदेवश्री के प्रवचन, श्रीप्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृ०१३५)

-'जीव को बन्ध के कारण न तो कार्माण वर्गणाएँ हैं, न मन-वचन-काय के योग हैं, न चेतन-अचेतन की हिंसा है, और न इन्द्रिय के विषय हैं; केवल राग आदि अशुद्ध उपयोग बन्ध का कारण है, क्योंकि कार्माण वर्गणाओं के रहते हुए भी सिद्ध भगवान अबन्ध रहते हैं, योग

होते हुए भी अरहन्त भगवान अबन्ध रहते हैं, हिंसा हो जाने पर भी मुनि महाराज अबन्ध हैं, और पञ्चेन्द्रियों के भोग भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव अबन्ध रहते हैं।'

(श्रीसमयसारनाटक, बन्ध द्वार, छन्द ४ का अर्थ, पृष्ठ १७४)

–'**कर्म विचारै कौन, भूल मेरी अधिकाई।**
अग्नि सहै घनघात, लौह की संगत पाई।।'

(आधार–श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, द्वितीय भाग, पृष्ठ २५)

–'**भद्राणामपि नश्यन्ति गुणाः येषां संसर्ग खलैः।**
वैश्वानरो लोहेन मिलितः तेन पिट्टयते घनैः।। ११०।।'

अर्थ– दुष्टों के साथ जिनका सम्बन्ध है, उन विवेकी जीवों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं; जैसे, आग लोहे से मिल जाती है, तभी घनों से कूटी–पीटी जाती है।

(श्रीपरमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ११० व अर्थ, पृष्ठ २२८)

–'**भल्लाण वि णासंति गुण जहि सहु संगु खलेहिं।**
वइसाणरु लोहहं मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं।। १४८।।'

अर्थ– दुष्टजन–खल के सङ्ग भले पुरुषों के गुण भी नष्ट हो जाते हैं; जैसे, लोहे का सङ्ग करने से वैश्वानर (अग्निदेव) भी बड़े–बड़े घनों से पीटे जाते हैं।

(मुनिवर रामसिंह रचित पाहुडदोहा, दोहा संख्या १४८ व अर्थ, पृष्ठ ३४–३५)

–'जगत में पुद्गल का सङ्ग तो सदैव रहता है। यदि उसकी बलजबरी से जीव को रागादि विकार हों, तो शुद्ध भावरूप होने का (संसार परिभ्रमण समाप्त होने का) कभी अवसर ही नहीं आ सकेगा; इसलिये ऐसा समझना चाहिए कि शुद्ध या अशुद्ध परिणमन करने में चेतन (जीव) स्वयं समर्थ है।'

(श्रीसमयसार–नाटक, सर्व विशुद्धिद्वार, दोहा ६१ से ६६, आधार–श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला, द्वितीय भाग, प्रश्न संख्या ३९२)

प्रश्न २५– मोक्ष–प्राप्ति का सच्चा उपाय क्या है?

उत्तर– 'मैं अनन्तगुणों का अभेद पिण्ड, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा हूँ; परपदार्थों से मेरा किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है'– ऐसा श्रद्धान–ज्ञान–आचरण ही मोक्षमार्ग और मोक्ष–प्राप्ति का सच्चा उपाय है।

–'**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।। १।।'**

अर्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र– तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है; अर्थात्, मोक्ष–प्राप्ति का उपाय है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १ व अर्थ, पृष्ठ ४)

-'**मिथ्याभाव अभावतैं, जो प्रगटै निजभाव।**
सो जयवंत रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव।।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २१)

-'**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।**
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।'

अन्वयार्थ- जो अरहन्त को द्रव्यपनें, गुणपनें और पर्यायपनें जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय (क्षय) को प्राप्त होता है।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८० व अन्वयार्थ, पृष्ठ १४१)

-'**एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।**
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।। १९९।।'

अन्वयार्थ- जिन, जिनेन्द्र, और श्रमण इस प्रकार से मार्ग में आरूढ़ होते हुए सिद्ध हुए। नमस्कार हो उन्हें और उस निर्वाण मार्ग को।

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १९९ व अन्वयार्थ, पृष्ठ ३८३)

-'निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है।'

(श्रीनियमसार, गाथा २ की टीका, पृष्ठ ७)

-'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों को धर्म के ईश्वर भगवान तीर्थङ्कर परमदेव धर्म कहैं हैं।'

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा ३ का अर्थ, पृष्ठ २)

-'**जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।**
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।। ७१।।'

गाथार्थ- जब यह जीव आत्मा और आस्रवों का अन्तर और भेद जानता है, तब उसे बन्ध नहीं होता।

(श्रीसमयसार, गाथा ७१ व गाथार्थ, पृष्ठ १२३)

-'जब मोह के सर्वथा अभाव से सर्व इच्छा का अभाव हो, तब सर्व दुःख मिटता है; सच्चा सुख प्रगट होता है।..............क्योंकि मोह चले जाने के बाद किसी भी काल में कोई इच्छा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं थे। मोह के होनेपर कारण थे; इसलिये कारण कहे हैं। उनका (अघाति कर्मों का) भी अभाव हुआ, तब जीव सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ७२)

–'क्षणभर निजरस को पी चेतन, मिथ्यामल को धो देता है।
काषायिक भाव विनष्ट किये, निज आनन्द अमृत पीता है।।
अनुपम सुख तब विलसित होता, केवल रवि जगमग करता है।
दर्शनबल पूर्ण प्रगट होता, यह ही अरहंत अवस्था है।।'

(श्री युगलजी कृत श्रीदेवशास्त्रगुरू पूजन)

प्रश्न २६- अपनी मूर्खता क्या है?

उत्तर- परपदार्थों में अपनेपने की मान्यता; अर्थात्, मिथ्यात्व ही अपनी मूर्खता है।

इसी प्रश्न का उत्तर पूज्य गुरूदेवश्री ने इस प्रकार दिया है।

–'जिसका करना अशक्य हो, उसे करने की बुद्धि होना मूर्खता है। देहादि का कार्य मैं कर सकता हूँ, हस्त-पादादि को मैं हिला-डुला सकता हूँ, परद्रव्य का कार्य मैं कर सकता हूँ-यह समस्त विचारश्रृङ्खला मूर्खतापूर्ण है। मैं परजीवों को सुखी अथवा दु:खी कर सकता हूँ, मार या बचा सकता हूँ, देश-कुटुम्बादि की सेवा कर सकता हूँ- ऐसी बुद्धि मूर्खतापूर्ण है। परद्रव्य की कोई भी क्रियापरिणति उसके अपने ही अधीन है; अन्य द्रव्य द्वारा उसका किया जाना अशक्य है, तथापि उसके कर्तृत्व की बुद्धि होना मिथ्यात्व भाव की मूर्खता है। तथा जो कार्य अपने द्वारा ही किया जा सकता है, ऐसे अपने स्वरूप की सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान, और सच्चा आचरण उसे यह जीव नहीं करता है। यह उसकी दूसरी बड़ी मूर्खता है।'

(पूज्य गुरूदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ५५७, पृष्ठ २११)

प्रश्न २७- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर- द्रव्यकर्म[1], **नोकर्म**[2] और **भावकर्म**[3] से भिन्न निज ज्ञायक भगवान आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, ज्ञान सम्यग्ज्ञान, और आत्मा में आचरण (लीन होना) सम्यग्चारित्र है।[4]

–'परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें, रुचि, सम्यक्त्व भला है;
आपरूप को जानपनों, सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यग्चारित सोई;

---

१. **द्रव्यकर्म**- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम व गोत्र- इन आठ कर्मों तथा इनकी १४८ प्रकृतियों को द्रव्यकर्म कहते हैं।

२. **नोकर्म**- साधारणत: शरीर-मन-वाणी को नोकर्म कहते हैं, लेकिन सूक्ष्मरूप से निज आत्मा के अतिरिक्त शेष अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्‌गल, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य सब नोकर्म में आते हैं।

३. **भावकर्म**- शुभाशुभभावों को; अर्थात्, परनिमित्त से होनेवाले विकारीभावों को भावकर्म कहते हैं।

४. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्‌चारित्र तीनों विषयों का अलग-अलग प्रकरणों में विस्तार से वर्णन किया गया है। इच्छुक अध्येता वहाँ देखें।

अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई।। २।।'

(छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द २, पृष्ठ ५६)

प्रश्न २८- अज्ञानी जीव ने आज तक क्या किया है?

उत्तर- परपदार्थों में अहङ्कार-ममकार अथवा इष्ट-अनिष्ट की झूठी मान्यता करके मात्र मोह-राग-द्वेष किया है।

– **'मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।। ३।।'**

अन्वयार्थ- मिथ्यादृष्टि जीव अनादिकाल से मोहरूपी महामदिरा पीकर अपने आत्मा को भूलकर व्यर्थ भटक रहा है।

(छहढाला, पहली ढाल, छन्द ३ का उत्तरार्द्ध व अन्वयार्थ, पृष्ठ ४)

प्रश्न २९- मोह किसे कहते हैं?

उत्तर- 'जीव का परद्रव्यों में अहङ्कार-ममकाररूप परिणाम होना मोह है। विपरीत मान्यता, तत्त्वों का अश्रद्धान, विपरीत अभिप्राय, परपदार्थों में एकत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्त्व एवं सुखबुद्धि; अर्थात्, शरीर को अपना स्वरूप मानना, पञ्चेन्द्रिय के विषयों में सुख मानना, अनुकूल संयोगों में इष्ट और प्रतिकूल सयोगों में अनिष्ट बुद्धि रखना, स्वय को पर का तथा पर को स्वयं का कर्ता-धर्ता मानना इत्यादि दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म के उदयकाल में निमित्त होनेवाले जीव के श्रद्धागुण के विकारी परिणामों को मोह कहते हैं।'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, दूसरा अध्याय, प्रश्न संख्या ४, पृष्ठ २६)

–'पदार्थों के यथार्थ स्वरूप से विपरीत मान्यता तथा तिर्यञ्चो और मनुष्यों के प्रति तन्मयता से करुणाभाव, वे दर्शनमोह के चिह्न हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८५ का भावार्थ, पृष्ठ १५१-१५२)

प्रश्न ३०- राग किसे कहते है?

उत्तर- 'जीव का किसी परपदार्थ को इष्ट जानकर उसके प्रति प्रीतिरूप परिणामों का होना राग है। "माया, लोभ, हास्य, रति, तीन वेद (पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद) रूप परिणाम, और परपदार्थों के प्रति आकर्षण, स्नेह, प्रेम, आसक्ति इत्यादि चारित्रमोहनीय कर्मोदय के समय निमित्त होनेवाले जीव के चारित्रगुण के विकारी परिणामों को राग कहते हैं।"'

(गुणस्थान-प्रवेशिका, दूसरा अध्याय, प्रश्न संख्या ५, पृष्ठ २६)

–'इष्ट विषयों में प्रीति राग का चिह्न है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८५ का भावार्थ, पृष्ठ १५२)

प्रश्न ३१- द्वेष किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव का किसी परपदार्थ को अनिष्ट जानकर उसके प्रति अप्रीतिरूप परिणामों का होना

द्वेष है। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, और परपदार्थों के प्रति घृणा, ईर्ष्या, जलन इत्यादि चारित्रमोहनीय कर्मोदय के समय निमित्त होनेवाले जीव के चारित्रगुण के कषायरूप विकारी परिणामों को द्वेष कहते हैं।

(गुणस्थान-प्रवेशिका, दूसरा अध्याय, प्रश्न संख्या ६, पृष्ठ २७)

-'अनिष्ट विषयों में अप्रीति द्वेष का चिह्न है।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा ८५ का भावार्थ, पृष्ठ १५२)

प्रश्न ३२- राग-द्वेष के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) प्रशस्त राग-द्वेष, और (२) अप्रशस्त राग-द्वेष।

(१) प्रशस्त राग-द्वेष- सत्य (वस्तुस्वरूप) की स्थापना का रागभाव और असत्य को उखाड़ने का द्वेषभाव, वह प्रशस्त राग-द्वेष है।

(२) अप्रशस्त राग-द्वेष- स्त्री आदि के प्रति रागभाव और रोग व शत्रु आदि के प्रति द्वेषभाव, वह अप्रशस्त राग-द्वेष है।

(श्रीनियमसारप्रवचन-गुजराती, तीसरा अध्याय, गाथा ३९, पृष्ठ ७४)

प्रश्न ३३- ये भेद क्या प्रत्येक जीव को लागू पड़ते हैं?

उत्तर- नहीं! वास्तव में तो राग-द्वेषरहित चैतन्य स्वभाव के अनुभव के बाद जो राग-द्वेष होता है, उसमें प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे दो भेद लागू पड़ते हैं।

(श्रीनियमसारप्रवचन-गुजराती, तीसरा अध्याय, गाथा ३९, पृष्ठ ७४)

प्रश्न ३४- अज्ञानी जीव को ये भेद क्यों लागू नहीं पड़ते?

उत्तर- जो राग-द्वेष को ही अपना स्वरूप मान रहा है, ऐसा जीव (अज्ञानी) तो शुभराग के समय भी मिथ्यात्वरूपी महापाप कर रहा है; उससे उसका शुभ राग-द्वेष भी अप्रशस्त ही है।

(श्रीनियमसारप्रवचन-गुजराती, तीसरा अध्याय, गाथा ३९, पृष्ठ ७४)

प्रश्न ३५- निज आत्मा की पहचान का उपाय क्या है?

उत्तर- मिथ्यादृष्टि की मर्यादा विकारीभावों तक है और ज्ञानी की मर्यादा शुद्धभावों तक है। लेकिन परपदार्थों में ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसा जानकर अपनी आत्मा का आश्रय ले, तो निज आत्मा की पहचान हो।

प्रश्न ३६- संसार और मोक्ष क्या है?

उत्तर- 'परद्रव्यों में ये मैं'-यह संसार है; अर्थात्, आत्मा का अपने ज्ञाता-दृष्टा उपयोग को परपदार्थों के लक्ष्य से 'यह मैं' दृढ़ कर लेना-संसार है। तथा 'परद्रव्यों से भिन्न ये मैं'-यह मोक्ष है; अर्थात्, आत्मा का अपने ज्ञाता-दृष्टा उपयोग को स्व के लक्ष्य से 'यह मैं' दृढ़ कर लेना मोक्ष है।

–'तत्त्व के आदर में सिद्धगति (मोक्ष) है और तत्त्व के अनादर में निगोदगति (संसार) है। सिद्धगति में जाते हुए बीच में एक-दो भव हों, उनकी गिनती नहीं है और निगोद में जाते हुए बीच में अमुक भव हो, उनकी गिनती नहीं है, क्योंकि त्रस का काल थोड़ा है और निगोद का काल अनन्त है। तत्त्व के निरादर का फल निगोदगति और आदर का फल सिद्धगति है।'

(पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत, संख्या १३२, पृष्ठ ८५)

–'मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, और योग– ये चार बन्ध अर्थात् संसार के कारण हैं और सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय, और अयोग– ये चार मोक्ष के कारण हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक ७, पृष्ठ ९, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या ३२९, [illegible] ८६)

–'निज परिणति मोक्ष, परपरिणति संसार है।'

(श्रीअनुभवप्रकाश, पृष्ठ २७)

प्रश्न ३७– मोक्षमार्ग का मूल सिद्धान्त संक्षेप में क्या है?

उत्तर– 'स्व के आश्रय से मुक्ति और पर के आश्रय से सं[illegible] –यह जैन शास्त्रों के बारह अङ्गों का संक्षिप्त सार है।

(पूज्य गुरुदेवश्री, ज्ञानगोष्ठी, प्रश्नोत्तर संख्या ६००, पृष्ठ २२९)

प्रश्न ३८– किसी वस्तु को जानने के लिये क्या जानना आवश्यक है?

उत्तर– उसका लक्षण जानना आवश्यक है।

प्रश्न ३९– लक्षण किसे कहते हैं?

उत्तर– अनेक पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को पृथक् करनेवाले हेतु (कारण) को लक्षण कहते हैं। यहाँ इतना विशेष है कि 'जो लक्ष्य में तो सर्वत्र पाया जाये और अलक्ष्य में कहीं न पाया जाये, वही सच्चा लक्षण है'; जैसे, जीव का लक्षण चैतन्य, पुद्गल का स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१५)

प्रश्न ४०– लक्ष्य किसे कहते हैं?

उत्तर– जिसको लक्षण से पहचानना (जानना) हो, उसका नाम लक्ष्य है; जैसे, ज्ञान जीव का लक्षण है। अतः जीव लक्ष्य और ज्ञान उसका लक्षण हुआ।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१४)

प्रश्न ४१– लक्षण के कितने दोष हैं?

उत्तर– तीन दोष हैं– (१) अव्याप्ति, (२) अतिव्याप्ति, और (३) असम्भवदोष।

प्रश्न ४२– अव्याप्तिदोष किसे कहते हैं?

उत्तर– जो किसी लक्ष्य में तो हो और किसी में न हो; अर्थात्, जो लक्ष्य के एकदेश में पाया जाये, उसे अव्याप्तिदोष कहते हैं; जैसे, (यदि) आत्मा का लक्षण 'केवलज्ञान' कहा जाये, तो

केवलज्ञान किसी आत्मा में तो पाया जाता है और किसी में नहीं पाया जाता है; इसलिये यह अव्याप्तिदोष है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१५)

प्रश्न ४३- अतिव्याप्तिदोष किसे कहते हैं?

उत्तर- जो लक्ष्य-अलक्ष्य दोनों में पाया जाये, उसे अतिव्याप्तिदोष कहते हैं; जैसे, (यदि) आत्मा का लक्षण अमूर्तत्त्व कहा जाये तो अमूर्तत्त्व लक्षण लक्ष्य जो आत्मा, उसके अतिरिक्त अलक्ष्य जो आकाशादिक, उनमें भी पाया जाता है; इसलिये यह अतिव्याप्तिदोष है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१४)

प्रश्न ४४- असम्भवदोष किसे कहते हैं?

उत्तर- जो लक्ष्य में पाया ही न जाये, उसे असम्भवदोष कहते हैं; जैसे, (यदि) आत्मा का लक्षण जड़पना कहा जाये, तो यह प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरुद्ध है; इसलिये यह असम्भवदोष है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१५)

प्रश्न ४५- लक्षणाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं; अर्थात्, जिसमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति अथवा असम्भव में से कोई भी दोष हो, वह लक्षणाभास है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१५)

प्रज्ञा-छैनी ही मुक्ति का साधन है

रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्मका।
जो बन्धमें हि विरक्त होवें, कर्म मोक्ष करें अहा।।
छेदन करो जीव बन्धका, तुम नियत निज निज चिह्नसे।
प्रज्ञा-छैनीसे छेदते दोनों, पृथक् हो जाय हैं।।

गाथार्थ- बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धों के प्रति जो विरक्त होता है, वह कर्मों से मुक्त होता है।। २९३।। जीव और बन्ध नियत स्वलक्षणों से छेदे जाते हैं; प्रज्ञारूपी छेनी के द्वारा छेदे जाने पर वे नानापन (भिन्नपनें) को प्राप्त होते हैं; अर्थात्, अलग हो जाते हैं।

(आचार्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव, श्रीसमयसार, गाथा २९३ व २९४ का हिन्दी रूपान्तर व गाथार्थ, पृष्ठ ४१०-४११)

सामान्य प्रश्नोत्तरी

प्रश्न १- कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों के निमित्त से स्वयं परिणमित कार्माणवर्गणा की विशिष्ट अवस्था को कर्म कहते हैं।

-'परमाणुरूप अनन्त पुद्‌गल द्रव्यो से किया हुआ कार्य सो कर्म है; इसलिये इसका नाम द्रव्यकर्म है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३०)

प्रश्न २- कार्माणवर्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्मरूप परिणमित होनेयोग्य वर्गणाओं को कार्माणवर्गणा कहते हैं।

प्रश्न ३- वर्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- समान अविभागी प्रतिच्छेदों से युक्त वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं।

-'वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। भिन्न-भिन्न वर्गसमूह की भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ होती हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा १०४१, पृष्ठ २७८ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ४- वर्ग किसे कहते हैं?

उत्तर- समान अविभागी-प्रतिच्छेदों के समूह को वर्ग कहते हैं। चूँकि प्रत्येक परमाणु में अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं; इसलिये प्रत्येक परमाणु एक वर्ग है।

-'समान अविभाग-प्रतिच्छेदों को धारण करनेवाले कर्म परमाणुओं को वर्ग कहते हैं।'

(श्रीपञ्चाध्यायी, सुबोधिनी टीका, दूसरा अध्याय, गाथा १०४१, पृष्ठ २७८ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ५- अविभाग-प्रतिच्छेद किसे कहते हैं?

उत्तर- शक्ति के अविभागी अंश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते हैं। अ=नहीं। विभाग=अंश; अर्थात्, जिसका दूसरा अंश न हो सके, वह अविभागी। प्रतिच्छेद=शक्ति का अंश।

-'किसी गुण में (गुण की पर्याय में) अंश-कल्पना करने पर, उसका जो छोटे से छोटा अंश (निरंश) होता है, उसे गुण का (गुण की पर्याय का) अविभाग-प्रतिच्छेद कहते हैं।'

(श्रीप्रवचनसार, गाथा १६४, पृष्ठ ३२८ की पादटिप्पणी)

प्रश्न ६- कर्म के कितने भेद हैं?

उत्तर- कर्म के आठ भेद हैं- (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय, (५) वेदनीय, (६) नाम, (७) आयु, और (८) गोत्र।

प्रश्न ७- घातिकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के ज्ञानादि गुणों के घात में निमित्त होनेवाले कर्मों को घातिकर्म कहते हैं।

-'जो जीव के स्वभाव के घात में निमित्त हों, उन्हें घातिकर्म (घातियाकर्म) कहते हैं।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २४)

प्रश्न ८- पाप किसे कहते हैं?

उत्तर- घातियाकर्मों को पाप कहते हैं तथा मिथ्यात्व, असंयम, और कषाय-सम्बन्धी क्रियाएँ पाप की क्रियाएँ हैं।

(श्रीधवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४०, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या २८१, पृष्ठ ७३)

प्रश्न ९- घातिकर्म के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) सर्वघाति और (२) देशघाति।

प्रश्न १०- सर्वघाति कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के ज्ञानादि गुणों (पर्यायों) के सर्वदेश (पूर्ण) घात में निमित्त होनेवाले कर्म को सर्वघाति कर्म कहते हैं।

प्रश्न ११- देशघाति कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के ज्ञानादि गुणों के एकदेश (अंशत:) घात में निमित्त होनेवाले कर्म को देशघाति कर्म कहते हैं।

प्रश्न १२- सर्वघाति कर्म की कितनी प्रकृतियाँ है?

उत्तर- सर्वघाति कर्म की २१ प्रकृतियाँ हैं- (१) केवलज्ञानावरण, (२) केवलदर्शनावरण, (३) स्त्यानगृद्धि, (४) निद्रा-निद्रा, (५) प्रचला-प्रचला, (६) निद्रा, (७) प्रचला, (८-११) अनन्तानुबन्धी चतुष्क, (१२-१५) अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, (१६-१९) प्रत्याख्यानावरण चतुष्क, (२०) मिथ्यात्व मोहनीय, और (२१) सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय।

प्रश्न १३- देशघाति कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं?

उत्तर- देशघातिकर्म की २६ प्रकृतियाँ हैं- (१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मन:पर्ययज्ञानावरण, (५) चक्षुदर्शनावरण, (६) अचक्षुदर्शनावरण, (७) अवधिदर्शनावरण, (८) सम्यक्प्रकृति, (९-१२) संज्वलन-चतुष्क, (१३-२१) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद-नौ कषाय, (२२) दानान्तराय, (२३)

लाभान्तराय, (२४) भोगान्तराय, (२५) उपभोगान्तराय, और (२६) वीर्यान्तराय।

प्रश्न १४- अघातिकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिनके निमित्त से आत्मा को बाह्य सामग्री का सम्बन्ध बनता है, उन्हें अघातिकर्म (अघातिया कर्म) कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २४)

प्रश्न १५- कौनसे कर्म घातिकर्म की श्रेणी में आते हैं?

उत्तर- आठ कर्मों में चार कर्म घातिकर्म की श्रेणी में आते हैं- (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय, और (४) अन्तराय।

प्रश्न १६- कौनसे कर्म अघातिकर्म की श्रेणी में आते हैं?

उत्तर- शेष चार कर्म अघातिकर्म की श्रेणी में आते हैं- (१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम, और (४) गोत्र।

प्रश्न १७- ज्ञानावरणकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से जीव का स्वभाव जो ज्ञान उसकी व्यक्तता नहीं होती, उस कर्म के क्षयोपशम अनुसार किञ्चित् ज्ञान की व्यक्तता रहती है, उसे ज्ञानावरणकर्म कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २४)

प्रश्न १८- दर्शनावरणकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से जीव का स्वभाव जो दर्शन (सामान्य अवलोकन) उसकी व्यक्तता नहीं होती; उस कर्म के क्षयोपशम के अनुसार किञ्चित् दर्शन की व्यक्तता रहती है, उसे दर्शनावरणकर्म कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २४)

प्रश्न १९- मोहनीयकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से जीव के स्वभाव नहीं है- ऐसे मिथ्यादर्शन व क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाय उनकी व्यक्तता होती है, उसे मोहनीयकर्म कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २४)

प्रश्न २०- अन्तरायकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से जीव का स्वभाव, दीक्षा लेने का सामर्थ्यरूप वीर्य उसकी व्यक्तता नहीं होती; उसके क्षयोपशम के अनुसार किञ्चित् शक्ति होती है, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २४)

प्रश्न २१- वेदनीयकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसके निमित्त से शरीर में शरीर से बाह्य नानाप्रकार दु:ख-सुख के कारण (निमित्त) परद्रव्यों का संयोग जुड़ता है, उसे वेदनीयकर्म कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २५)

प्रश्न २२- आयुकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के निमित्त से अपनी स्थितिपर्यन्त प्राप्त शरीर का सम्बन्ध न छूटे; अर्थात्, जो शरीर की आयु में निमित्त हो, उसे आयुकर्म कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २५)

प्रश्न २३- नामकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के निमित्त से गति, जाति, शरीरादिक उत्पन्न होते हैं, उसे नामकर्म कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २५)

प्रश्न २४- गोत्रकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के निमित्त से उच्च-नीचकुल की प्राप्ति होती है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २५)

प्रश्न २५- कर्मों की कितनी अवस्थाएँ होती हैं?

उत्तर- कर्मों की दस अवस्थाएँ होती हैं- (१) बन्ध, (२) सत्ता, (३) उदय, (४) उदीरणा, (५) उत्कर्षण, (६) अपकर्षण, (७) संक्रमण, (८) उपशम, (९) निधत्ति, और (१०) निकाचित।

प्रश्न २६- बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के मोह-राग-द्वेष परिणामों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणाओं का आत्मप्रदेशों के साथ होनेवाले विशिष्ट **संश्लेष-सम्बन्ध**[1] को बन्ध कहते हैं।

प्रश्न २७- बन्ध के कितने भेद हैं?

उत्तर- बन्ध के चार भेद हैं- (१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) स्थितिबन्ध, और (४) अनुभागबन्ध।

प्रश्न २८- प्रकृतिबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रकृति अर्थात् स्वभाव। कर्म की प्रकृति कर्म के स्वभाव को बताती है; जैसे, नीम का स्वभाव कडुवा, गुड़ का स्वभाव मीठा। उसी प्रकार कर्मों के अपने-अपने स्वभाव को कर्मों की प्रकृति

---

१. **संश्लेष-सम्बन्ध**- संश्लिष्ट अर्थात् निकटवर्ती सम्बन्ध। दो पदार्थों के बीच पाये जानेवाले सीधे सम्बन्ध को संश्लेष अथवा संश्लिष्ट सम्बन्ध कहते हैं; जैसे, जड़ कर्मों और आत्मा का सम्बन्ध संश्लेष-सम्बन्ध है।

असंश्लेष-सम्बन्ध- असंश्लिष्ट अर्थात् दूरवर्ती सम्बन्ध। जिनमें दो पदार्थ किसी तीसरे माध्यम से सम्बन्धित होते हैं, उसे असंश्लेष अथवा असंश्लिष्ट सम्बन्ध कहते हैं; जैसे, मकान, धन आदि और आत्मा का सम्बन्ध असंश्लेष-सम्बन्ध हैं।

(परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ १५०)

कहते हैं। कर्मरूप होने योग्य पुद्‌गलों का ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप तथा उसके भेद-उत्तर प्रकृतिरूप परिणमन होने का नाम प्रकृतिबन्ध है।

प्रश्न २९- प्रदेशबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के साथ प्रति समय जितने पुद्‌गल परमाणु कर्मरूप परिणमन करते हैं- उनके प्रमाण (संख्या) को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

प्रश्न ३०- स्थितिबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर- ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्‌गल स्कन्धो का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह स्थितिरूप कालावधि के बन्धन को स्थितिबन्ध कहते हैं।

प्रश्न ३१- अनुभागबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर- ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्‌गल स्कन्धो के रस विशेष; अर्थात्, फल प्रदान करने की शक्ति विशेष को अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रश्न ३२- सत्त्व अथवा सत्ता किसे कहते हैं?

उत्तर- अनेक समयों में बँधे हुए कर्मो का विवक्षितकाल में जीव के साथ अस्तित्व होने का नाम सत्त्व अथवा सत्ता है।

प्रश्न ३३- उदय किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्मस्थिति पूरी होनेपर, कर्मफल के देने को उदय कहते हैं।

प्रश्न ३४- उदीरणा किसे कहते हैं?

उत्तर- स्थिति पूरी हुए बिना ही कर्म के उदय मे आकर फल देने को उदीरणा कहते हैं। (उदयावली के बाहर के निषेकों का उदयावली के निषेकों मे आ मिलना; अर्थात्, जिस कर्म का उदयकाल नहीं आया, उस कर्म के उदयकाल मे आने को उदीरणा कहते हैं)।

प्रश्न ३५- उत्कर्षण किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म के स्थिति-अनुभाग बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं।

-'कर्म प्रदेशों की स्थिति-अनुभाग को बढ़ाना उत्कर्षण कहलाता है।'

(श्रीधवला पुस्तक १०, पृष्ठ ५२, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या ४५६, पृष्ठ ११९)

प्रश्न ३६- अपकर्षण किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म के स्थिति-अनुभाग घटने को अपकर्षण कहते हैं।

प्रश्न ३७- संक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर- विवक्षित कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का सजातीय अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होने को संक्रमण कहते हैं; जैसे, विशुद्ध परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध असातावेदनीय प्रकृति के कर्म परमाणुओं का सातावेदनीयरूप परिणमन होना संक्रमण कहलाता है।

(श्रीधवला पुस्तक १६, पृष्ठ ३४०, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या ८१५, पृष्ठ २०१)

[इसमें इतना विशेष है कि चारों आयुओं में आपस में तथा दर्शनमोहनीय कर्म का चारित्रमोहनीय में संक्रमण नहीं होता।]

प्रश्न ३८- उपशम किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के परिणामों की विशुद्धता से कर्मों की शक्ति का प्रगट न होना उपशम है। अथवा कर्मों का सत्ता में रहते हुए उदय में न आना उपशान्त कहलाता है।

-'उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थितिकाण्डकघात, और अनुभागकाण्डकघात के बिना ही कर्मों के सत्ता में रहने को उपशम कहते हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक १, पृष्ठ २१३, आधार-धवलासार शङ्का संख्या ५३, पृष्ठ १५)

-'बहुरि जे उदय अवस्था को न प्राप्त भए, ते सत्तारूप तिष्ठैं हैं, सोई उपशम जानना'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०० की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका, पृष्ठ ४३७)

प्रश्न ३९- उपशम के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) प्रशस्त उपशम, और (२) अप्रशस्त उपशम।

प्रश्न ४०- प्रशस्त उपशम किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रशस्त उपशम को अन्तरकरणरूप उपशम भी कहते हैं। इसकी दो परिभाषाएँ उपलब्ध हैं-

(१) अध:करणादि द्वारा उपशमविधान से (अनन्तानुबन्धी चतुष्क बिना) मोहनीयकर्म की उपशमना; अर्थात्, आगामीकाल में उदय आने योग्य कर्म परमाणुओं को जीव के परिणाम विशेष द्वारा आगे-पीछे उदय में आने योग्य होने को प्रशस्त उपशम अथवा अन्तकरणरूप उपशम कहते हैं।

(२) जो विवक्षित प्रकृति उदय योग्य भी न हो और उत्कषर्ण, अपकर्षण, तथा संक्रमण योग्य भी न हो- उसे प्रशस्त-उपशम कहते हैं।

प्रश्न ४१- अप्रशस्त उपशम किसे कहते हैं।

उत्तर- अप्रशस्त उपशम को सदवस्थारूप उपशम भी कहते हैं। वर्तमानकाल को छोड़कर आगामीकाल में उदय में आनेवाले कर्मों का सत्ता में रहने को अप्रशस्त अथवा सदवस्थारूप उपशम कहते हैं; अर्थात्, उदय का अभाव ही अप्रशस्त उपशम है। अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्त उपशम ही होता है; जैसे, सर्वघाती प्रकृतियों का क्षयोपशम दशा में होनेवाला सदवस्थारूप उपशम।

प्रश्न ४२- निधत्ति किसे कहते हैं?

उत्तर- संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य कर्म-प्रकृतियों को निधत्ति कहते हैं।

प्रश्न ४३- निकाचित किसे कहते हैं?

उत्तर- संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, और अपकर्षण के अयोग्य कर्म-प्रकृतियों को निकाचित कहते है।

प्रश्न ४४- उदयावली किसे कहते हैं?

उत्तर- वर्तमान समय से एक आवली पर्यन्तकाल में उदय आने योग्य निषेकों को उदयावली कहते हैं।

प्रश्न ४५- निषेक किसे कहते हैं?

उत्तर- एक समय में उदय आनेवाले कर्मपरमाणुओं को निषेक कहते हैं।

प्रश्न ४६- क्षय किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्मों के आत्मा से सर्वथा दूर होने; अर्थात्, कर्मो के कर्मरूप से नाश को (अकर्म दशा होने को) क्षय कहते हैं।

-'जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति के भेद से प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध अनेक प्रकार के हो जाते हैं; ऐसे आठ कर्मों का जीव से जो अत्यन्त विनाश हो जाता है, उसे क्षपण (क्षय) कहते हैं।'

(श्रीधवला पुस्तक १, पृष्ठ २१६, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या ५४, पृष्ठ १५)

प्रश्न ४७- क्षयोपशम किसे कहते हैं?

उत्तर- वर्तमानकालीन सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, भविष्यकालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम, और वर्तमानकालीन देशघाती स्पर्धको का उदय- इन तीनरूप कर्म की अवस्था को; अर्थात्, कर्मों के एकदेश क्षय-उपशम को क्षयोपशम कहते हैं।

-'उपशम वा क्षय करि उपजै, ताकौं क्षयोपशम कहिए अथवा क्षयोपशम है प्रयोजन जिनिका, ते क्षायोपशमिक कहिए।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३०० की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका, पृष्ठ ४३७)

प्रश्न ४८- उदयाभावीक्षय किसे कहते हैं?

उत्तर- आत्मगुणों (पर्यायों) की किञ्चित् भी अभिव्यक्ति न होने में निमित्त होनेवाले सर्वघाति स्पर्धकों के उदय के अभाव को उदयाभावी क्षय कहते हैं।

[उदयाभावीक्षय की अवस्था में सर्वघाति स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाति स्पर्धकों में परिणमित होकर उदय में आते हैं। उन सर्वघाति स्पर्धकों के अनन्तगुणहीनत्व को ही यहाँ क्षय संज्ञा है।]

प्रश्न ४९- मोहनीय कर्म के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) दर्शनमोहनीय, और (२) चारित्रमोहनीय।

प्रश्न ५०- दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से जीव को मिथ्यात्वभाव होता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं। इसके कारण (मिथ्यात्वभाव के कारण) यह जीव अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्वश्रद्धान करता है। जैसा है वैसा तो नहीं मानता और जैसा नहीं है वैसा मानता है।...........जहाँ (दर्शनमोहनीय का) तीव्र उदय होता है, वहाँ सत्य श्रद्धान से बहुत विपरीत श्रद्धान होता है। जब मन्द उदय होता है, तब सत्यश्रद्धान से थोड़ा विपरीत श्रद्धान होता है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३८)

प्रश्न ५१- दर्शनमोहनीय कर्म के कितने भेद हैं?

उत्तर- बन्ध की अपेक्षा दर्शनमोहनीय कर्म एक ही प्रकार का है, किन्तु सत्त्व (सत्ता) और उदय की अपेक्षा से इसके तीन भेद हैं- (१) मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय, (२) सम्यग्मिथ्यात्व अथवा मिश्र दर्शनमोहनीय, और (३) सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय।

प्रश्न ५२- मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख होकर तत्त्वार्थश्रद्धान में निरुत्सक, हित-अहित विचार करने में असमर्थ, और विपरीताभिनिवेषरूप मिथ्यात्व परिणाम में निमित्त होनेवाले कर्म को मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

प्रश्न ५३- सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रक्षालित क्षीणाक्षीण मन्द शक्तिवाले कोदों (धान) के समान मिश्रश्रद्धान में निमित्त होनेवाले कर्म को सम्यग्मिथ्यात्व अथवा मिश्र दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

प्रश्न ५४- सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के चल, मल, अगाढ़ दोषों में निमित्त होनेवाले कर्म को सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

प्रश्न ५५- चारित्रमोहनीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक राग-द्वेष की निवृत्तिमय आत्मस्थिरतारूप चारित्र की अप्रगटता में निमित्त होनेवाले कर्म को चारित्रमोहनीय कर्म कहते हैं।

-'चारित्रमोह के उदय से (चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से) इस जीव को कषायभाव होता है; तब यह देखते-जानते हुए भी पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर क्रोधादिक करता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ ३८)

प्रश्न ५६- चारित्रमोहनीय कर्म के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) कषायकर्म, और (२) नोकषायकर्म।

प्रश्न ५७- कषाय किसे कहते हैं?

उत्तर- अमर्याद-विस्तृत संसाररूपी कर्मक्षेत्र को जोतकर, आत्मस्वभाव से विपरीत लौकिक सुख और दु:ख आदि अनेक प्रकार के धान्य के उत्पादक, जीव के विकारी परिणामों को; अर्थात्, आत्मा को दु:खी करनेवाले, आकुलित करनेवाले, कसनेवाले परिणामों को कषाय कहते हैं।

प्रश्न ५८- कषायकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के कषाय परिणामों के समय स्वयं कर्मरूप परिणमित कार्माणवर्गणाओं को कषायकर्म कहते हैं।

प्रश्न ५९- नोकषायकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के संयम परिणामों के किञ्चित् (अल्प) घात मे निमित्त होनेवाले कर्म को नोकषायकर्म कहते हैं। नो=ईषत्; किञ्चित्; अल्प।

प्रश्न ६०- कषाय के कितने भेद हैं?

उत्तर- कषाय के १६ भेद हैं-

(१-४) अनन्तानुबन्धी- क्रोध, मान, माया, लोभ; (५-८) अप्रत्याख्यानावरण- क्रोध, मान, माया, लोभ; (९-१२) प्रत्याख्यानावरण- क्रोध, मान, माया, लोभ; और (१३-१६) संज्वलन- क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रश्न ६१- नोकषाय के कितने भेद हैं?

उत्तर- नोकषाय के ९ भेद हैं- (१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद, और (९) नपुसकवेद।

[**विशेष-(१)** नोकषाय भी अनन्तानुबन्धी आदि चार भेदरूप होती हैं।

(२) १६ कषाय और ९ नोकषाय को मिलाकर कषाय के २५ भेद भी कहे जाते हैं।]

प्रश्न ६२- स्पर्धक किसे कहते हैं?

उत्तर- एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद अधिक वर्गों के समूहरूप वर्गणा जहाँ तक उपलब्ध हो, उन समान वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं।

-अनेक प्रकार की अनुभाग शक्ति से युक्त कार्माणवर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं।

प्रश्न ६३- पूर्व-स्पर्धक किसे कहते हैं?

उत्तर- अनिवृत्तिकरण नामक नवें गुणस्थान के पूर्व पाये जानेवाले स्पर्धकों को पूर्व-स्पर्धक कहते हैं।

प्रश्न ६४- अपूर्व-स्पर्धक किसे कहते हैं?

उत्तर- अनिवृत्तिकरण के निमित्त के अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को अपूर्व-स्पर्धक कहते हैं।

प्रश्न ६५- कृष्टि किसे कहते हैं?

उत्तर- क्रम से हीन-हीन होने को कृष्टि अथवा अनुकृष्टि कहते हैं।

प्रश्न ६६- बादर-कृष्टि किसे कहते हैं?

उत्तर- अपूर्व-स्पर्धक से भी विशेष अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को बादर-कृष्टि कहते हैं; अर्थात्, संज्वलन-क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुभाग घटाना-स्थूल खण्ड करना, सो बादर-कृष्टि है।

प्रश्न ६७- सूक्ष्म-कृष्टि किसे कहते हैं?

उत्तर- बादर-कृष्टि से भी विशेष अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को सूक्ष्म-कृष्टि कहते हैं।

प्रश्न ६८- अनुकृष्टि रचना किसे कहते हैं?

उत्तर- ऊपर-नीचे के परिणामों में अनुकर्षण (क्रमश· हीनता) को दिखानेवाली रचना विशेष को अनुकृष्टि रचना कहते हैं।

प्रश्न ६९- मार्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- किन्हीं विशिष्ट पर्यायो; अर्थात्, भावों के आधार पर जीवों के अन्वेषण (खोज) को मार्गणा कहते हैं।

प्रश्न ७०- मार्गणा के कितने भेद हैं?

उत्तर- मार्गणा के १४ भेद हैं- (१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) ज्ञान, (८) संयम, (९) दर्शन, (१०) लेश्या, (११) भव्यत्व, (१२) सम्यक्त्व, (१३) संज्ञा, और (१४) आहार।

प्रश्न ७१- सम्यक्त्वमार्गणा किसे कहते हैं?

उत्तर- सम्यग्दर्शन की मुख्यता से जीवो के अन्वेषण को सम्यक्त्व मार्गणा कहते हैं।

प्रश्न ७२- सम्यक्त्व मार्गणा के कितने भेद हैं?

उत्तर- छ: भेद हैं- (१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) औपशमिकसम्यक्त्व, (५) क्षायोपशमिकसम्यक्त्व, और (६) क्षायिकसम्यक्त्व।

[इन छहों का विस्तृत विवरण 'गुणस्थान' व 'सम्यग्दर्शन' के प्रकरण में देखें]

प्रश्न ७३- प्रदेश किसे कहते हैं?

उत्तर- एक परमाणु से व्याप्त आकाशक्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

प्रश्न ७४- आवली किसे कहते हैं?

उत्तर- 'वर्तमान समय से लेकर एक आवली मात्र काल को आवली कहते हैं, तथा उतने काल सम्बन्धी निषेकों को भी आवली या उदयावली कहते हैं। असंख्यात समय की एक आवली होती है।'

(श्रीलब्धिसार, पृष्ठ २८, आधार-धवलासार, पृष्ठ २७६)

प्रश्न ७५- समय किसे कहते हैं?

उत्तर- परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर आकाशप्रदेश में मन्दगति से जाने में जो समय लगे, उसे समय कहते हैं।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ७६- निमेष किसे कहते हैं?

उत्तर- निमेष आँख मिचने से प्रगट होता है; अर्थात्, खुली आँख के मिचने (बन्द होने) में जो समय लगे उसे निमेष कहते हैं। असंख्यात समयों का एक निमेष होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ७७- काष्ठा किसे कहते हैं?

उत्तर- पन्द्रह निमेष की एक काष्ठा होती है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ७८- कला किसे कहते हैं?

उत्तर- तीस काष्ठा की एक कला होती है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ७९- घड़ी किसे कहते हैं?

उत्तर- बीस से कुछ अधिक कला की एक घड़ी होती है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ८०- मुहूर्त किसे कहते हैं?

उत्तर- दो घड़ी (अड़तालीस मिनट) का एक मुहूर्त होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ८१- भिन्न मुहूर्त किसे कहते हैं?

उत्तर- मुहूर्त में से एक समय कम शेष काल-प्रमाण को भिन्न मुहूर्त कहते हैं।

प्रश्न ८२- अन्तर्मुहूर्त किसे कहते हैं?

उत्तर- भिन्न-मुहूर्त में से भी एक समय कम शेष काल-प्रमाण को अथवा जो मुहूर्त के समीप हो, उसे अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में आवली से अधिक मुहूर्त से कम काल

होता है।

प्रश्न ८३- अहोरात्र किसे कहते हैं?

उत्तर- अहोरात्र अर्थात् दिवस। अहोरात्र सूर्य के गमन से प्रगट होता है। तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ८४- मास किसे कहते हैं?

उत्तर- तीस अहोरात्र का एक मास होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ८५- ऋतु किसे कहते हैं?

उत्तर- दो मास की एक ऋतु होती है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ८६- अयन किसे कहते हैं?

उत्तर- तीन ऋतुओं का एक अयन होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ८७- वर्ष किसे कहते हैं?

उत्तर- दो अयन का एक वर्ष होता है।

(श्रीपञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा २५ का भावार्थ, पृष्ठ ५१)

प्रश्न ८८- पूर्व किसे कहते हैं?

उत्तर- सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष को पूर्व कहते हैं।

प्रश्न ८९- व्यवहारपल्य किसे कहते हैं?

उत्तर- दो हजार कोस गहरे तथा इतने ही चौड़े गोलाकार गड्ढे को, एक से सात दिन तक की उम्र के उत्तम भोगभूमि के मेढ़े के बालों को कैंची से इतना छोटा-छोटा काटकर कि जिसके दो टुकड़े न हो सकें से भर दिया जाये; फिर उस गड्ढे से सौ-सौ वर्ष के अन्तराल से एक-एक बाल निकाला जाये। जितने काल में सभी बालों को निकाल दिया जाये, उसे (उतने काल को) व्यवहारपल्य कहते हैं।

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २७)

[**विशेष- श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, पर्याप्ति प्ररूपणा नामक तीसरे अधिकार की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका के पृष्ठ २५७** पर गड्ढे का प्रमाण-एक योजन प्रमाण चौड़ा व एक योजन प्रमाण औंडा कहा है। एक योजन में चार कोस होते हैं।]

प्रश्न ९०- उद्धारपल्य किसे कहते हैं?

उत्तर- व्यवहारपल्य से असंख्यातगुणे समय को उद्धारपल्य कहते हैं।

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २७)

प्रश्न ९१- अद्धापल्य किसे कहते हैं?

उत्तर- उद्धारपल्य से असंख्यातगुणे काल को अद्धापल्य कहते हैं।

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २७)

[**विशेष**- व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य के प्रमाण के लिये **श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, पर्याप्ति प्ररूपणा नामक तीसरे अधिकार की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका के पृष्ठ २५६-२५९** का अध्ययन करें।]

प्रश्न ९२- सागर किसे कहते हैं?

उत्तर- दस कोड़ाकोड़ी (१० करोड़ x १० करोड़) अद्धापल्यों का एक सागर होता है।

(छहढाला, पहली ढाल का लक्षण-संग्रह, पृष्ठ २७)

प्रश्न ९३- सख्यात किसे कहते है?

उत्तर- जो संख्या पाँचों इन्द्रियो का (मति-श्रुतज्ञान का) विषय है, वह संख्यात है।

प्रश्न ९४- असंख्यात किसे कहते हैं?

उत्तर- (क) अवधिज्ञानगम्य संख्या को असख्यात कहते हैं।

(ख) जिनकी गिनती न हो सके; अर्थात्, जो सख्या गिनती की सीमा को पार कर गयी हो, ऐसे संख्यातीत को असंख्यात कहते हैं।

(ग) संख्यातीत कल्पित राशि मे से एक-एक संख्या घटाते जानेपर समाप्त हो जानेवाली राशि को भी असंख्यात कहते हैं।

[असंख्यात के अनेक भेद हैं जिनमे लोकप्रमाण असख्यात भी एक है।]

प्रश्न ९५- अनन्त किसे कहते हैं?

उत्तर- असंख्यात से अधिक केवलज्ञानगम्य संख्या को अनन्त कहते हैं। कितना भी घटाते जानेपर जिस संख्या का अन्त न आये, उसे अनन्त कहते हैं।

प्रश्न ९६- असंख्यात और अनन्त मे क्या भेद है?

उत्तर- एक-एक संख्या घटाते जानेपर जो राशि समाप्त हो जाती है, वह राशि असंख्यात हैं और जो राशि समाप्त नहीं होती, वह राशि अनन्त हैं। अथवा जो राशि अवधिज्ञान का विषय है, वह असंख्यात है और उससे ऊपर जो राशि केवलज्ञान का विषय हैं, वह अनन्त हैं।

(श्रीधवला पुस्तक ३, पृष्ठ २६७, आधार-धवलासार, शङ्का संख्या १२५, पृष्ठ ३१)

[संख्यात, असंख्यात, अनन्त, और अनन्तानन्त के भेद-प्रभेदों की जानकारी के लिये **श्रीत्रिलोकसार, पृष्ठ २३ से ४८, अथवा धवलासार, पृष्ठ ३२ से ३६** देखें]

प्रश्न ९७- समुद्घात किसे कहते हैं?

उत्तर- मूल शरीर को छोड़े बिना जीव के प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

-'मूल शरीर कों तौ छोड़ै नाहीं, बहुरि कार्माण, तैजसरूप उत्तर शरीर सहित जीव के प्रदेश समूह का मूल शरीर तैं बाह्य निकसना, सो समुद्घात असा नाम जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६६८ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका, पृष्ठ ७२७)

प्रश्न ९८- समुद्घात कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर- समुद्घात के सात प्रकार हैं- (१) तेदना, (२) कषाय, (३) विक्रिया, (४) मारणान्तिक, (५) तैजस, (६) आहारक, और (७) केवलीसमुद्घात।

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३१, एवम् श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६६७ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका, पृष्ठ ७२७)

प्रश्न ९९- केवलीसमुद्घात किसे कहते हैं?

उत्तर- अपने मूल (परमऔदारिक) शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेशों के पूर्ण लोकाकाश में फैलने को केवलीसमुद्घात कहते हैं।

-'केवलियो के दण्ड-कपाट-प्रतर-लोकपूरणरूप होते हैं, वह सातवाँ केवलीसमुद्घात है।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३२)

प्रश्न १००- केवलीभगवान के समुद्घात क्यों होता है?

उत्तर- आयुकर्म की स्थिति अल्प और शेष तीन अघातिया कर्मों (वेदनीय, नाम, एवं गोत्र) की स्थिति अधिक (आयु की अपेक्षा) होनेपर, समान स्थिति करने के लिये, केवलीभगवान के समुद्घात होता है।

प्रश्न १०१- मारणान्तिक समुद्घात किसे कहते हैं?

उत्तर- मरण के अन्तर्मुहूर्त पूर्व नवीन पर्याय धारण करने के क्षेत्र पर्यन्त आत्मप्रदेशों के बाहर निकलने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

-'मृत्यु के समय, मूल शरीर को छोड़े बिना, जब इस आत्मा ने कहीं आगामी आयुष्य बाँधा हो, उस प्रदेश को स्पर्श करने के लिये आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना- उसे मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।'

(श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३१)

-'आगामी पर्याय के उपजने का स्थान पर्यन्त आत्मप्रदेशनि का फैलना, सो मारणान्तिक-समुद्घात जानना।'

समुद्घात जानना।'

(श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९९ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका, पृष्ठ ३३८)

प्रश्न १०२- मारणान्तिक समुद्घात किन जीवों का होता है?

उत्तर- जिन जीवों ने परभव की आयु बाँध ली है, ऐसे जीवों के ही मारणान्तिक समुद्घात होता है।

प्रश्न १०३- योग किसे कहते हैं?

उत्तर- आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना योग है।

-'नामकर्म के उदय से शरीर, वचन, और मन उत्पन्न होते हैं; उनकी चेष्टा के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का चञ्चलपना होता है; उससे आत्मा को पुद्गलवर्गणा से एक बन्धान होने की शक्ति होती है, उसका नाम योग है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २६-२७)

-'**कायवाङ्मनः कर्मयोगः॥ १॥**' -**अर्थ-** शरीर, वचन, और मन के अवलम्बन से आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना सो योग है।

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६, सूत्र १ व अर्थ, पृष्ठ ४०६)

-'योग के निमित्त से कर्मों का आगमन होता है; इसलिये योग है, वह आस्रव है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २७)

प्रश्न १०४- योग क्या है?

उत्तर- आत्मा के अनन्त गुणों में से एक योगगुण है। योग जीव का अनुजीवी गुण है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ६, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ४०७)

प्रश्न १०५- योगगुण की कितनी पर्यायें हैं?

उत्तर- योगगुण की दो तरह की पर्यायें हैं- (१) परिस्पन्दरूप; अर्थात्, आत्मप्रदेशो में कम्पनरूप पर्याय योगगुण की अशुद्धपर्याय है, और (२) आत्मप्रदेशों की निश्चलतारूप; अर्थात्, निष्कम्परूप पर्याय योगगुण की शुद्धपर्याय है। यहाँ (श्रीतत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६, सूत्र १ में) योगगुण की कम्पनरूप अशुद्धपर्याय को 'योग' कहा है।

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ६, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ४०७)

प्रश्न १०६- योग के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) भावयोग, और (२) द्रव्ययोग।

प्रश्न १०७- भावयोग किसे कहते हैं?

उत्तर- कर्म-नोकर्म के ग्रहण करने में निमित्तरूप आत्मा की शक्ति विशेष को भावयोग कहते हैं।

उत्तर- भावयोग के कारण से आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना सो द्रव्ययोग है।

प्रश्न १०९- द्रव्ययोग के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) शुभयोग, और (२) अशुभयोग।

प्रश्न ११०- शुभयोग किसे कहते हैं?

उत्तर- धर्म के अङ्गों में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होनेपर शुभयोग होता है। अघातिकर्मों की प्रकृतियों में शुभयोग होनेपर सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २७)

प्रश्न १११- अशुभयोग किसे कहते हैं?

उत्तर- अधर्म के अङ्गों में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होनेपर असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २७)

प्रश्न ११२- भावयोग के कितने भेद हैं?

उत्तर- यद्यपि भावयोग एक ही प्रकार का है, तो भी निमित्त की अपेक्षा से उसके १५ भेद हैं। उनमें मनोयोग के चार, वचनयोग के चार, और काययोग के सात भेद हैं।

[जब यह योग मन की ओर झुकता है, तब इसमें मन निमित्त होता है। इस प्रकार मन और योग का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शाने के लिये उस योग को मनोयोग कहा जाता है। इसी प्रकार जब योग का वचन की ओर झुकाव होता है, तब उसे वचनयोग और जब काय की ओर झुकाव होता है, तब उसे काययोग कहा जाता है।]

(श्रीमोक्षशास्त्र, अध्याय ६, सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ४०७)

प्रश्न ११३- योग के निमित्त से कौनसा बन्ध होता है?

उत्तर- योगगुण की कम्पनरूप अशुद्धदशा प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध में निमित्त होती है।
-'योगों द्वारा प्रदेशबन्ध तथा प्रकृतिबन्ध का होना जानना।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २७)

प्रश्न ११४- योग के निमित्त से घातिया और अघातियाकर्मों की किन प्रवृत्तियों का बन्ध होता है?

उत्तर- 'शुभयोग हो या अशुभयोग हो; सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना घातियाकर्मों की तो सर्व प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध होता ही रहता है। किसी समय किसी भी प्रकृति का बन्ध हुए बिना नहीं रहता। इतना विशेष है कि मोहनीय के हास्य-शोक युगल में, रति-अरति युगल में, तीनों वेदों (पुरुषवेद, स्त्रीवेद, और नपुंसकवेद) में, एक काल में एक-एक ही प्रकृति का बन्ध होता है।

तथा अघातियाकर्मों की प्रकृतियों में शुभयोग होनेपर सातावेदनीय आदि पुण्यप्रकृतियों का

बन्ध होता है; अशुभयोग होनेपर असातावेदनीय आदि पापप्रकृतियों का बन्ध होता है; मिश्र योग होनेपर कितनी ही पुण्यप्रकृतियों का तथा कितनी ही पापप्रकृतियों का बन्ध होता है।'

(श्रीमोक्षमार्गप्रकाश, दूसरा अधिकार, पृष्ठ २७)

[सामान्य प्रश्नोत्तरी प्रकरण के उक्त जिन प्रश्नोत्तरों के नीचे शास्त्राधार नहीं दिया गया है वे सभी प्रश्न ब्र० यशपाल जैन द्वारा सम्पादित 'गुणस्थान-प्रवेशिका' के दूसरे अध्याय से लिये गये हैं।]

प्रश्न ११५- श्वासोच्छ्वासकाल किसे कहते हैं?

उत्तर- निरोगी पुरुष की नाड़ी के एकबार चलने को श्वासोच्छ्वासकाल कहते हैं।

प्रश्न ११६- एक मुहूर्त में कितने श्वासोच्छ्वास होते हैं?

उत्तर- एक मुहूर्त में तीन हजार सात सौ तिहत्तर (३७७३) श्वासोच्छ्वास होते हैं।

प्रश्न ११७- समयप्रबद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर- एक समय में जितने कर्म और नोकर्म परमाणु बँधें, उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।

प्रश्न ११८- आङ्गोपाङ्ग नामकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से हाथ-पैर आदि अङ्ग और नासिका, कर्ण आदि उपाङ्ग बने, उसे आङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न ११९- संघात नामकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से औदारिकादिक शरीरों के परमाणु छिद्ररहित एकता को प्राप्त हो, उसे संघात नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२०- संस्थान नामकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से शरीर की आकृति बने, उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२१- समचतुरस्त्रसंस्थानकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से शरीर की आकृति ऊपर, नीचे, तथा बीच में समभाग बने, उसे समचतुरस्त्रसंस्थानकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२२- न्यग्रोधपरिमण्डलकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर-जिस कर्म के उदय के निमित्त से शरीर बड़ के वृक्ष की भाँति हो; अर्थात्, नाभि से नीचे के अङ्ग छोटे और ऊपर के अङ्ग बड़े हों, उसे न्यग्रोधपरिमण्डलकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२३- स्वातिसंस्थानकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से नाभि से नीचे के अङ्ग बड़े हों और ऊपर के अङ्ग

छोटे हों- उसे स्वातिसंस्थानकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२४- कुब्जकसंस्थानकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से शरीर कुबड़ा हो, उसे कुब्जकसंस्थानकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२५- वामनसंस्थानकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से शरीर बौना हो, उसे वामनसंस्थानकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२६- हुण्डकसंस्थानकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से शरीर के अङ्गोपाङ्ग विकृत आकृति के हों, उसे हुण्डकसंस्थानकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२७- संहनननामकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से हाड़ों (हड्डियों) का बन्धन विशेष हो, उसे संहनननामकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२८- वज्रवृषभनाराचसंहननकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से हाड़ (हड्डियाँ), बेठन (जोड़) व कीलियाँ वज्र की हों, उसे वज्रवृषभनाराचसंहननकर्म कहते हैं।

प्रश्न १२९- वज्रनाराचसंहननकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से हाड़ और कीलियाँ तो वज्र की हों, लेकिन बेठन (जोड़; सन्धि) वज्र की न हों, उसे वज्रनाराचसंहननकर्म कहते हैं।

प्रश्न १३०- नाराचसंहननकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से हाड़ बेठन और कीलियाँसहित हो, उसे नाराचसंहननकर्म कहते हैं।

प्रश्न १३१- अर्द्धनाराचसंहननकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से हाड़ों की सन्धि अर्द्धकीलित हो, उसे अर्द्धनाराच-संहननकर्म कहते हैं।

प्रश्न १३२- कीलकसंहननकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से हाड़ परस्पर कीलित हों, उसे कीलकसंहननकर्म कहते हैं।

प्रश्न १३३- काय किसे कहते हैं?

उत्तर- त्रसस्थावर नामकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले आत्मा के प्रदेश-प्रचय को काय कहते हैं।

प्रश्न १३४- त्रस किसे कहते हैं?

उत्तर- त्रसनामा नामकर्म के उदय के निमित्त से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रियों में जन्म लेनेवाले जीवों को त्रस कहते हैं।

प्रश्न १३५- स्थावर किसे कहते हैं?

उत्तर- स्थावरनामा कर्म के उदय के निमित्त से पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, और वनस्पति में जन्म लेनेवाले जीवों को स्थावर कहते हैं।

प्रश्न १३६- बादर किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पृथ्वी आदि से रुक जाये व दूसरों को रोके, उसे बादर कहते हैं।

प्रश्न १३७- सूक्ष्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पृथ्वी आदि से न रुकें, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं।

प्रश्न १३८- बादर कौनसे जीव कहलाते हैं?

उत्तर- पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, इतरनिगोद व नित्यनिगोद- ये छ: प्रकार के एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं; शेष सभी जीव बादर ही होते हैं।

प्रश्न १३९- सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर- सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सर्वलोक में (लोकाकाश में) पाये जाते हैं।

प्रश्न १४०- बादर एकेन्द्रिय जीव कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर- बादर एकेन्द्रिय जीव किसी भी आधार का निमित्त पाकर निवास करते हैं।

प्रश्न १४१- त्रस जीव कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर- त्रस जीव त्रसनाली में ही रहते हैं।

प्रश्न १४२- वनस्पति के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) प्रत्येक, और (२) साधारण।

प्रश्न १४३- प्रत्येक वनस्पति किसे कहते हैं?

उत्तर- जिन वनस्पति में एक शरीर का एक ही (जीव) स्वामी हो, उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

प्रश्न १४४- साधारण वनस्पति किसे कहते हैं?

उत्तर- जिन वनस्पतियों में पाये जानेवाले जीवों के आहार, श्वासोच्छ्वास, और काय साधारण; अर्थात्, एक हों, उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं। यह वनस्पति निगोदिया जीवों का शरीर है।

प्रश्न १४५- प्रत्येक वनस्पति के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) सप्रतिष्ठित प्रत्येक, और (२) अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति।

प्रश्न १४६- सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय से अनेक साधारण वनस्पति शरीर हों, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

प्रश्न १४७- अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय से अनेक साधारण वनस्पति (निगोदिया शरीर) न हों, उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

प्रश्न १४८- साधारण वनस्पति अर्थात् निगोदिया शरीर कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर- पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, केवलीभगवान, आहारकशरीर, देव और नारकी- इन आठ स्थानों के अतिरिक्त सभी संसारी जीवों के शरीर साधारण अर्थात् निगोद के आश्रय हैं।

प्रश्न १४९- निगोद के कितने भेद हैं?

उत्तर- दो भेद हैं- (१) नित्यनिगोद, और (२) इतरनिगोद।

प्रश्न १५०- नित्यनिगोद किसे कहते हैं?

उत्तर- जो जीव अनादिकाल से निगोद में ही है; अर्थात्, जिसने आजतक निगोद से निकलकर दूसरी कोई पर्याय ही प्राप्त नहीं की, उसे नित्यनिगोद कहते हैं।

प्रश्न १५१- इतरनिगोद किसे कहते हैं?

उत्तर- जो जीव निगोद से निकलकर दूसरी कोई पर्याय प्राप्त करने के बाद पुन: निगोद में उत्पन्न हो, उसे इतरनिगोद कहते हैं।

प्रश्न १५२- विग्रहगति किसे कहते हैं?

उत्तर- जीव के एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर के लिये गमन के बीच के काल को विग्रहगति कहते हैं।

प्रश्न १५३- क्षेत्रविपाकीकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस कर्म के उदय के निमित्त से विग्रहगति में जीव का आकार पहले जैसा बना रहता है, उसे क्षेत्रविपाकीकर्म कहते हैं।

प्रश्न १५४- विग्रहगति के कितने भेद हैं?

उत्तर- चार भेद हैं- (१) ऋजुगति, (२) पाणिमुक्तागति, (३) लाङ्गलिकागति, और (४) गोमूत्रिकागति।

प्रश्न १५५- विग्रहगति में जीव को कितना समय लगता है?

उत्तर- विग्रहगति में जीव को कम से कम एक और अधिक से अधिक चार समय लगते हैं।

विवरण इस प्रकार है-

ऋजुगति में एक समय, पाणिमुक्ता; अर्थात्, एक मोड़वालीगति में दो समय, लाङ्गलिकागति में तीन समय, और गोमूत्रिकागति में चार समय लगते हैं।

प्रश्न १५६- मोक्ष जानेवाले जीव के कौनसी गति होती है?

उत्तर- जीव मोक्ष ऋजुगति से जाता है।

प्रश्न १५७- जन्म कितने प्रकार का होता है?

उत्तर- जन्म तीन प्रकार का होता है- (१) उपपादजन्म, (२) गर्भजन्म, और (३) सम्मूर्च्छनजन्म।

प्रश्न १५८- उपपादजन्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जो जीव देवों की उपपादशय्या तथा नारकियों के योनिस्थान में पहुँचते ही अन्तर्मुहूर्त में युवावस्था को प्राप्त हो जाये, ऐसे देवों और नारकियों के जन्म को उपपादजन्म कहते हैं।

प्रश्न १५९- गर्भजन्म किसे कहते हैं?

उत्तर- माता-पिता के शोणित-शुक्र से जिनका शरीर बने, उनके जन्म को गर्भजन्म कहते हैं।

प्रश्न १६०- सम्मूर्च्छनजन्म किसे कहते हैं?

उत्तर- जो माता-पिता की अपेक्षारहित, इधर-उधर के परमाणुओं को शरीररूप परिणमावे, उनके जन्म को सम्मूर्च्छनजन्म कहते हैं।

प्रश्न १६१-* लोक किसे कहते हैं?

उत्तर- जहाँ जीवादि छहों द्रव्य रहते हैं, उसे लोक (लोकाकाश) कहते हैं।

प्रश्न १६२- लोक के कितने भेद हैं?

उत्तर- तीन भेद हैं- (१) ऊर्ध्वलोक, (२) मध्यलोक, और (३) अधोलोक।

प्रश्न १६३- ऊर्ध्वलोक किसे कहते हैं?

उत्तर- मेरु के ऊपर लोक के अन्तपर्यन्त लोक को ऊर्ध्वलोक कहते हैं।

प्रश्न १६४- मध्यलोक किसे कहते हैं?

उत्तर- अधोलोक के ऊपर एक लाख चालीस योजन; अर्थात्, मेरु की ऊँचाई के बराबर लोक को मध्यलोक कहते हैं।

प्रश्न १६५- अधोलोक किसे कहते हैं?

उत्तर- मेरु के नीचे सात राजू अधोलोक है।

[उक्त सभी प्रश्नोत्तर स्व० पं० गोपालदासजी बरैया रचित 'जैनसिद्धान्तप्रवेशिका' के अध्याय दो एवं तीन से लिये गये हैं।]

एक ओर राम और दूसरी ओर ग्राम

अलुब्धज्ञानियों को तो जैसे नमक से अन्य शाकादि द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल नमक का ही अनुभव करने पर सर्व ओर से एक क्षाररस को लेकर क्षाररसपने से नमक ही स्वाद में आता है; उसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव करने में आता हुआ सर्व ओर से एक विज्ञानघनपने से मात्र ज्ञानरूप से स्वाद में आता है। तथा जैसे नमक की डली में अन्य द्रव्य के संयोग का निषेध करके केवल नमक की डली का अनुभव करने में आवे, तो सर्वत्र क्षारपने से ही स्वाद आता है। नमक की डली सीधी नमक के द्वारा स्वाद में आती है, यह यथार्थ है। उसी प्रकार अलुब्धज्ञानियों को अर्थात् जिन को इन्द्रियों के समस्त विषयों की, परज्ञेयों की आसक्ति-रुचि छूट गई है, उन ज्ञानियों को अपने सिवाय अन्य समस्त परद्रव्य व परभावों का लक्ष्य छोड़कर एक ज्ञायकमात्र चिद्घनस्वरूप का अनुभव करने पर सब ओर से एक विज्ञानघनपने को लेकर मात्र ज्ञान ही स्वाद में आता है। अकेला ज्ञान सीधा ज्ञान के स्वाद में आता है। यह आनन्द का वेदन है; यह जैन शासन है। इसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान की अनुभूति है।

एक ओर स्वद्रव्य है और दूसरी ओर समस्त परद्रव्य हैं। 'एक ओर राम और दूसरी ओर ग्राम'। ग्राम अर्थात् (परद्रव्यों का) समूह। अपने सिवाय जितने परद्रव्य हैं, वे ग्राम में शामिल होते हैं। परज्ञेय-पञ्चेन्द्रियों के विषय अर्थात् साक्षात् भगवान व भगवान की वाणी, देव, गुरु, शास्त्र, और शुभाशुभ राग- ये सब ग्राम में अर्थात् परद्रव्य के समूह में आ जाते हैं। इनकी ओर लक्ष्य जाने पर राग ही उत्पन्न होता है। समवशरण में साक्षात् अरिहन्त विराजमान हों, उनका लक्ष्य करने पर भी राग ही उत्पन्न होता है। यह अधर्म है। यह कोई चैतन्य की गति नहीं है, यह तो विपरीत गति है। मोक्षपाहुड में कहा है कि 'परद्रव्वाओ दुग्गई'। अतः परद्रव्य से उदासीन होकर एक त्रिकाली ज्ञायकभाव, जो सर्वतः ज्ञानघन है, उस एक का ही अनुभव करने पर अकेले (निर्मल) ज्ञान का स्वाद आता है। यह जैनदर्शन है। इन्द्रियों के विषयों में राग द्वारा जो ज्ञान का अनुभव (ज्ञेयाकार ज्ञान), वह आत्मा का स्वाद- अनुभव नहीं है; यह जैनशासन नहीं है। आत्मा में भेद के लक्ष्य से जो राग उत्पन्न हो, वह राग का ज्ञान है- ऐसा मानना अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है। एक ज्ञान द्वारा ज्ञान का वेदन ही सम्यक् है, यथार्थ है। अहो! समयसार विश्व का एक अजोड़ चक्षु है। यह वाणी तो देखो! सीधी आत्मा की ओर ले जाती है।

(पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीसमयसार गाथा १५ पर प्रवचन, आधार-प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पृष्ठ २६६-२६७)

सन्दर्भ

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	रचयिता/टीकाकार/भाषावचनिकाकार
१.	श्रीसमयसार	श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव/श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेव
२.	श्रीप्रवचनसार	श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव/श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेव
३.	श्रीनियमसार	श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव/श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव
४.	श्रीपञ्चास्तिकाय-संग्रह	श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव/श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेव
५.	श्रीअष्टपाहुड	श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव/पंडितप्रवरश्री जयचन्द्रजी छावड़ा
६.	श्रीपद्मनन्दि-पञ्चविंशति:	आचार्यपद्मनन्दि/पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री (हिन्दी अनुवाद)
७.	श्रीभगवतीआराधना	श्रीशिवकोटि आचार्य/पं० सदासुखजी जैन कासलीवाल
८.	श्रीमोक्षशास्त्र अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य उमास्वामी/श्रीरामजी माणेकचन्द दोशी
९.	श्रीपुरुषार्थसिद्धि-उपाय	श्रीमद्अमृतचन्द्राचार्यदेव/आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी
१०.	श्रीसमयसार-कलश	श्रीमद्अमृतचन्द्राचार्यदेव/पाण्डे राजमल जी
११.	श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा	श्रीमद् स्वामी कार्तिकेय/पण्डित जयचन्दजी छावड़ा
१२.	श्रीपरमात्मप्रकाश	श्रीमद्योगीन्दुदेव/श्रीब्रह्मदेव (संस्कृत टीका), पण्डित दौलतरामजी (हिन्दी टीका)
१३.	श्रीवृहद्-द्रव्यसंग्रह	श्रीमद्नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव/श्रीब्रह्मदेव/पं० राजकिशोरजी जैन
१४.	श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार	स्वामी समन्तभद्राचार्य/पं० सदासुखदासजी काशलीवाल
१५.	श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक	आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी
१६.	श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड/ स०च० भाषा टीका (प्रथम खण्ड)	आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती/आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी
१७.	श्रीगोम्मटसार, कर्मकाण्ड/स०च० भाषा टीका (द्वितीय खण्ड)	आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती/आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी
१८.	श्रीलब्धिसार-क्षवणासार/ स०च० भाषा टीका (तृतीय खण्ड)	आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती/आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी
१९.	श्रीज्ञानार्णव:	आचार्य श्री शुभचन्द्राचार्य/श्री पन्नालाल बाकलीवाल
२०.	श्रीपञ्चाध्यायी	कविवर पण्डित राजमलजी/पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री
२१.	श्रीपञ्चाध्यायी-सुबोधिनी टीका	टीकाकार पण्डित मक्खनलाल जी शास्त्री
२२.	श्रीपञ्चाध्यायी (अध्यात्मचन्द्रिका टीका सहित)	श्रीअमृतचन्द्राचार्य/स्व० पण्डित श्री सरनाराम जी जैन

ग्रन्थ सूची

प्रकाशक	संस्करण
श्रीदिगम्बरजैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	पञ्चमावृत्ति/वीर नि०सं० २५०१
श्रीकुन्दकुन्द कहान सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर	षष्टम संस्करण/३० मार्च १९९२
श्रीसेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	प्रथम संस्करण/वीर नि०सं० २४८७/सन् १९६०
श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	पञ्चम संस्करण/वि०सं० २०४६
श्रीसेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	प्रथमावृत्ति/वीर नि०सं० २४९७
श्रीप्रकाशचन्द्र शीलचन्द जैन चैरीटेबिल ट्रस्ट, दिल्ली	१९९४
श्रीप्रकाशचन्द्र शीलचन्द्र जैन जौहरी, देहली	वि०सं० २०४९/वीर नि०सं० २४१८
श्रीकुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर	पञ्चमावृत्ति/२० अक्टूबर १९८५
श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	प्रथमावृत्ति/वि०सं० २०२९, वीर नि०सं० २४९९
श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	दूसरीआवृत्ति/वीर नि०सं० २४९२, सन् १९६६
श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	तृतीय आवृत्ति/वीर नि०सं० २५०५
श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	पञ्चम संस्करण/वीर नि०सं २५१४, सन् १९८८
श्रीवीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर	प्रथमावृत्ति/वि०सं० २०३३, वीर नि०सं० २५०३
अखिल भारतवर्षीय केन्द्रीय श्रीदि०जैन महासमिति, दिल्ली	द्वितीयावृत्ति/वीर नि०सं० २४७७, जनवरी १९५१
श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	चतुर्थावृत्ति/वि०सं० २०३५, मई १९७८
श्रीकुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर	प्रथम संस्करण/मई १९८९
श्रीकुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर	प्रथम संस्करण/जनवरी १९९४
श्रीकुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर	प्रथम संस्करण/अप्रैल १९९०
श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	पञ्चम संस्करण/वीर नि०सं० २५०७, सन् १९८१
श्रीगणेशप्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला, बनारस	प्रथम संस्करण/वीर निर्वाण सम्वत् २४७६
ग्रन्थप्रकाश कार्यालय, इन्दौर	प्रथमावृत्ति/वीर निर्वाण सम्वत् २४४४
श्री दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अलवर-३१० ००१	प्रथम आवृत्ति/जून १९९६

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	रचयिता/टीकाकार/भाषावचनिकाकार
२३.	श्रीसमयसार-नाटक	कविवर पण्डित बनारसीदास जी/ पण्डित बुद्धिलाल श्रावक
२४.	श्रीआत्मानुशासन	श्रीगणभद्रसूरी/आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी
२५.	श्रीउपदेश सिद्धान्त रत्नमाला	श्रीनेमिचन्द्र भण्डारी/कविवर पण्डित भागचन्द जी छाजेड़
२६.	छहढाला (सचित्र)	कविवर पण्डित दौलतराम जी
२७.	श्रीपाहुड दोहा	मुनि श्री रामसिंह/अनुवादक-ब्र० हरिलाल जैन
२८.	द्रव्य-संग्रह	श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव/श्रीरामजी माणिकचन्द दोशी, एडवोकेट
२९.	अनुभवप्रकाश	पण्डित दीपचन्द जी शाह कासलीवाल
३०.	आत्मावलोकन	पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल/पण्डित राजकिशोर जैन
३१.	भावदीपिका	पण्डित दीपचन्द जी शाह कासलीवाल
३२.	त्रिभङ्गीसार, चौबीस ठाणा टीका	श्रीतारणतरणस्वामी/ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी
३३.	श्रीधवलासार	ब्र० विमला जैन (सङ्कलन व सम्पादन)
३४.	आत्मप्रसिद्धि	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के ४७ शक्तियों पर प्रवचन
३५.	भरतैश-वैभव, प्रथम भाग, भोगविजय	श्रीरत्नाकर कवि/हिन्दी अनुवाद-श्रीदेशभूषण मुनि
३६.	इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है	सङ्कलन-कु० संध्या बहन जैन
३७.	श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला,भाग-१	अनुवादक-श्री मगनलाल जैन
३८.	श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला,भाग-२	अनुवादक-श्री मगनलाल जैन
३९.	श्रीजैनसिद्धान्तप्रश्नोत्तरमाला,भाग-३	अनुवादक-श्री मगनलाल जैन
४०.	श्रीनियमसारप्रवचन (तीसराअध्याय) शुद्धभाव अधिकार-गुजराती	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रीनियमसारगाथा ३८ से ४२ पर प्रवचन
४१.	गुरुदेवश्री के वचनामृत	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों से सङ्कलित
४२.	बहिनश्री के वचनामृत	पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के प्रवचनों से सङ्कलित
४३.	वचनामृत प्रवचन (प्रथम भाग)	बहनश्री के वचनामृत पर पू०गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
४४.	सम्यग्दर्शन (प्रथम भाग)	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में से सम्यग्दर्शन-सम्बन्धी लेखों का संग्रह

प्रकाशक	संस्करण
श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	चतुर्थावृत्ति/विक्रम सम्वत् २०३५
दरियागंज शास्त्र सभा, नई दिल्ली	प्रथम संस्करण
श्रीमध्यक्षेत्रीय दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल संघ, सागर	प्रथम आवृत्ति/वीर नि०सं० २५१०, वि०सं० २०४०, सन् १९८४
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	द्वादशावृत्ति/वीर सम्वत् २५१५
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़; श्रीकहान स्मृति प्रकाशन, सोनगढ़	प्रथमावृत्ति/फरवरी १९९२
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़	प्रथवावृत्ति/वि०सं० २०२०, वीर नि०सं० २४९०
श्रीवीतराग सत् साहित्य-प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर	द्वितीयावृत्ति/वीर नि०सं० २५१७
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	प्रथमावृत्ति/वि०नि०सं० २५१४
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	प्रथमावृत्ति/९ अगस्त १९८७
श्री दिगम्बर जैन अनाथालय ट्रस्ट, सागर	द्वितीयावृत्ति/विक्रम सम्वत् २०५०
दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल ट्रस्ट, उदयपुर	प्रथम संस्करण/अप्रैल १९९४
श्रीकुन्दकुन्द कहान ग्रन्थमाला, आगरा	द्वितीय संस्करण
श्री दि० जैन समाज, टिकैतनगर, बाराबंकी	प्रथम संस्करण/वीर नि०सं० २६१६/ वि०सं० २००८
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, गांधी नगर, दिल्ली-३१	प्रथमावृत्ति-हिन्दी/वीर वि० सं० २५१७/१९९१
श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	पञ्चम संस्करण/वीर नि०सं० २४९३
श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	तीसरा संस्करण/वीर नि०सं० २४८८
श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	चतुर्थ संस्करण/वीर नि०सं० २४९२
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	प्रथम आवृत्ति/वी०सं० २००७, वीर नि०सं० २४७७, सन् १९५१
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	प्रथम आवृत्ति/वी०सं० २०४९, वीर नि०सं० २५१८, सन् १९९२
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	पाँचवीं आवृत्ति/वी०सं० २०४६, वीर नि०सं० २५१५
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़-३६४२५०	प्रथमावृत्ति वीर सं० २५२२/सन् १९९६
श्रीकुन्दकुन्दकहान ग्रन्थमाला, आगरा	पुष्प संख्या-६ (छह)

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	रचयिता/टीकाकार/भाषावचनिकाकार
४५.	ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रीसमयसार गाथा ३०८ से ३११ पर प्रवचन
४६.	वस्तुविज्ञानसार	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के खास प्रवचनों का संग्रह
४७.	योगसार प्रवचन	आचार्यश्री योगीन्दुदेव द्वारा रचित श्रीयोगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
४८.	निमित्तोपादान विवेचन	'निमित्त-उपादान' विषय पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का सङ्कलन
४९.	मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें भाग-१	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक पर प्रवचन
५०.	मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें भाग-२	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, सातवें अधिकार पर प्रवचन
५१.	आध्यात्म-संदेश	आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी विरचित 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
५२.	आत्मभावना-गुजराती	श्रीपूज्यपादआचार्य रचित समाधिशतक पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
५३.	परमार्थवचनिका प्रवचन	कविवर पण्डित बनारसीदास रचित परमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
५४.	भेदविज्ञानसार	श्रीसमयसार, गाथा ३९० से ४०४ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
५५.	प्रवचनरत्नाकर, भाग-१	श्रीसमयसार, गाथा १ से २५ तक पर पू० गुरुदेवश्री के प्रवचन
५६.	प्रवचनरत्नाकर, भाग-२	श्रीसमयसार, गाथा २६ से ६८ तक पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
५७.	प्रवचनरत्नाकर, भाग-३	श्रीसमयसार, गाथा ६९ से ९१ तक पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
५८.	प्रवचनरत्नाकर, भाग-४ (गुजराती)	श्रीसमयसार, कर्ता-कर्म अधिकार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन
५९.	प्रवचनरत्नाकर, भाग-८	श्रीसमयसार, गाथा २३७ से ३०७ तक पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

प्रकाशक	संस्करण
श्रीकुन्दकुन्दकहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर	पञ्चम संस्करण/दिसम्बर १९८८
श्रीवीतराग सत् साहित्यप्रसारक ट्रस्ट, भावनगर	प्रथमावृत्ति/वी० नि० सं० २५१८
जिनश्रुत प्रकाशन समिति, बनी पार्क, जयपुर	प्रथमावृत्ति/९ नवम्बर १९९१
श्री दि० जैन कुन्दकुन्द स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा	प्रथमावृत्ति/३० नवम्बर १९९४
श्रीकुन्दकुन्द कहान ग्रन्थमाला, आगरा	पुष्प संख्या ९ (नो)
श्रीकुन्दकुन्द कहान ग्रन्थमाला, आगरा	तृतीय संस्करण/१९९३-९४
साहित्य प्रकाशन समिति, अशोकनगर (गुना)	द्वितीयावृत्ति/वीर सम्वत् २५११, मार्च १९८६
मुद्रक-श्री प्रवीण प्रिन्टर्स, सोनगढ़	प्रथम आवृत्ति/जनवरी १९७२
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर	प्रथमावृत्ति/जनवरी १९८३
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	द्वितीयावृत्ति/वीर निर्वाण सम्वत् २४९८
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	तृतीयावृत्ति/अगस्त १९८१
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	प्रथमावृत्ति/जून १९८२
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	प्रथमावृत्ति/जुलाई १९८३
श्रीकुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट, बम्बई	विक्रम सं० २०३७/वीर० नि० सं० २५०७
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	प्रथम संस्करण/जुलाई १९९५

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	रचयिता/टीकाकार/भाषावचनिकाकार
६०.	श्रीपरमागमसार	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के विविध आगमों पर हुए प्रवचनों में से चुने हुए १००८ रत्न
६१.	लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका	पण्डित गोपालदासजी बरैयाजी
६२.	जैनसिद्धान्तप्रवेशिका	पण्डित गोपालदासजी बरैयाजी
६३.	जिणसासणं सव्वं	सम्पादक शशिकान्त म० सेठ
६४.	धर्म की क्रिया	श्रीरामजी माणिकचन्द दोशी, एडवोकेट
६५.	ज्ञानगोष्ठी	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा दिये गये आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर
६६.	परमभावप्रकाशकनयचक्र	डा० हुकुमचन्द भारिल्ल
६७.	द्रव्यदृष्टिजिनेश्वर (गुजराती)	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन और तत्त्वचर्चा से चुने हुए वचनामृत
६८.	स्वानुभूतिदर्शन (गुजराती)	बहिनश्री चम्पाबेन की तत्त्वचर्चा/सङ्कलन-श्रीप्राणभाई पुरुषोत्तम दास कामदार
६९.	जिनधर्मप्रवेशिका	सम्पादक-ब्र० यशपाल जैन
७०.	क्रमबद्धपर्याय	डा० हुकुमचन्द भारिल्ल
७१.	चरणानुयोग-प्रवेशिका	पण्डित कैलाश चन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
७२.	करणानुयोग-प्रवेशिका	पण्डित कैलाश चन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
७३.	द्रव्यानुयोग-प्रवेशिका	पण्डित कैलाश चन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
७४.	गुणस्थान-प्रवेशिका	सम्पादक-ब्र० यशपाल जैन
७५.	लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका (प्रथम भाग)	मुद्रक-पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ, ललितपुर
७६.	जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला (भाग १)	संग्रहकर्ता-पण्डित कैलाश चन्द्र जैन
७७.	जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला (भाग २)	संग्रहकर्ता-पण्डित कैलाश चन्द्र जैन
७८.	जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला (भाग ३)	संग्रहकर्ता-पण्डित कैलाश चन्द्र जैन
७९.	जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला (भाग ४)	संग्रहकर्ता-पण्डित कैलाश चन्द्र जैन
८०.	जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला (भाग ५)	संग्रहकर्ता-पण्डित कैलाश चन्द्र जैन
८१.	जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला (भाग ६)	संग्रहकर्ता-पण्डित कैलाश चन्द्र जैन
८२.	जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला (भाग ७)	संग्रहकर्ता-पण्डित कैलाश चन्द्र जैन
८३.	जैनसिद्धान्तप्रवेशरत्नमाला (भाग ८)	संग्रहकर्ता-पण्डित कैलाश चन्द्र जैन

प्रकाशक	संस्करण
श्रीवीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर	प्रथम आवृत्ति/वीर निर्वाण सम्वत् २५११
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	तेरहवीं आवृत्ति/वीर सं० २५०७
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	द्वितीयावृत्ति/वी०सं० २०४५, वीर नि०सं० २५१५
श्रीवीतराग सत् साहित्य-प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर	प्रथमावृत्ति/वीर नि० सं० २५१६
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर	प्रथमावृत्ति/वीर निर्वाण सम्वत् २४९७
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	द्वितीय संस्करण/नवम्बर १९८६
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	तृतीय संस्करण/अप्रैल १९९४
शारदा बेन शान्तिलाल शाह परिवार, मुंबई	वीर निर्वाण सम्वत् २५२१, सन् १९९५
दोशी जगजीवन खाबचन्द परिवार, सोनगढ़	प्रथम संस्करण/१९९६/वी० नि० सं० २५२२
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	द्वितीय संस्करण/अक्टूबर १९९४
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	चतुर्थावृत्ति/नवम्बर १९८६
वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी	द्वितीय संस्करण/दिसम्बर १९८६
वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी	द्वितीय संस्करण/अगस्त १९८७
वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी	द्वितीय संस्करण/फरवरी १९८७
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	तृतीय संस्करण/मार्च १९९१
भगवान कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला	पुष्प संख्या ६४
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून	चतुर्थ संस्करण
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून	चतुर्थ संस्करण
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून	चतुर्थ संस्करण
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून	चतुर्थ संस्करण
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून	चतुर्थ संस्करण
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून	चतुर्थ संस्करण
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून	पुष्प संख्या-७
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून	----

अध्येताओं के उपयोग के लिये—

शुद्धिपत्र

क्रम संख्या	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२४	सत्रहवीं	शारीरिक	शरीरादिक
२	२७	पन्द्रहवीं	मोक्ष संसार	मोक्ष मंझार
३	२७	नीचे से चौथी	अन्य चेतन	अन्य अचेतन
४	४३	नीचे से आठवीं	विभागज्ञानोपयोग	विभावज्ञानोपयोग
५	५२	पाँचवीं	गाथा ९१	गाथा ९०
६	५४	नीचे से सातवीं	आठ कर्मों, शरीरादि नोकर्मों	आठ कर्म, शरीरादि नोकर्म
७	८९	सारणी ६ नीचे से दूसरी	सभी वनस्पति (एकेन्द्रिय) बादर और सूक्ष्म दोनो होती हैं।	सभी एकेन्द्रिय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, व साधारण वनस्पति) बादर और सूक्ष्म दोनों होते हैं।
८	९८	नीचे से तीसरी	अतीकाल	अतीतकाल
९	१३०	पादटिप्पणी की तेरहवीं	तीव्रतर, तीव्र, मंदतर –ये चार;	तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर –ये चार;
१०	१३१	आठवीं	की स्वभाव	की क्षणिक स्वभाव
११	१३१	सत्रहवीं	कर्म की सत्ता	कर्म भी सत्ता
१२	१४४	नवीं	क्षायोपशमलब्धि	क्षयोपशमलब्धि
१३	१४८	दूसरी–तीसरी	नारकीभव में अविनाभावीरूप	नारकीभव में कुअवधि भी होता है। जहाँ जहाँ मिथ्यादर्शन होता है, वहाँ वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अविनाभावीरूप
१४	१८६	चौदहवीं	किंचित	किँचित
१५	२९१	नीचे से दसवीं	पहचान समस्त	पहचान कर, समस्त
१६	२९६	नीचे से छठी	महाद्रव्यों से	महारत्नों से
१७	२९८	बारहवीं	गाथा १०	गाथा ९०
१८	३०७	नीचे से सातवीं	पृथकपना	पृथक्पना
१९	३४८	नीचे से नवीं	षटद्रव्य	षट्द्रव्य
२०	३५१	नीचे से तीसरी	त्स्यास्ति	तस्यास्ति
२१	३५१	अन्तिम पंक्ति	उज्जवल	उज्ज्वल
२२	४२३	नीचे से तीसरी व चौथी	पैट्रोल	पेट्रोल
२३	४२७	नीचे से चौथी	होती है	होता है

अतिरिक्त शुद्धिपत्र

क्रम संख्या	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(१)	५८	नीचे से १५वीं	मननमात्रत्व से 'गति' है;	मननमात्रत्व से 'मति' है,
(२)	१४९	१५वीं	(४+४+३+१+१+१+६=२१)	(४+४+३+१+१+१+१+६ =२१)
(३)	१९९	नीचे से तीसरी	अवगाहन, अव्याबाध	अवगाहन, अगुरुलघुत्व, अव्याबाध
(४)	२०१	१५वीं पंक्ति	नामकर्म घातै है/अगुरुलघु कौं	नामकर्म घातै है। आयुकर्म अवगाहन गुण कौं घातै है। अगुरुलघु कौं